हिन्दी-साहित्य : युग और धारा

कृष्ण नारायण प्रसाद 'मागध', एम०ए०
(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पुरस्कार-विजेता)
गोपालगंज कालेज (सारन)

भारती भवन
पटना-४

प्राक्कथन

श्री मागधजी की 'हिन्दी-साहित्य : युग और धारा' शीर्षक पुस्तक के लगभग बीस निबन्धों को मैं देख गया हूँ। इस पुस्तक में लेखक ने साहित्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए हिन्दी-साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। निबन्धों को इस क्रम मे रखा गया है कि उनका सम्मिलित रूप हिन्दी-साहित्य का इतिहास बन गया है।

यों तो हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं, फिर भी नवीन शोधों से प्राप्त सामग्रियों के आधार पर हिन्दी-साहित्य के इतिहास के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता का अनुभव हिन्दी का प्रत्येक विद्यार्थी करता है। अत: हिन्दी-साहित्य के स्वरूप से सम्बद्ध किसी भी ग्रन्थ का हमें स्वागत करना चाहिए और यह देखने का प्रयास करना चाहिए कि उसमें लेखक का दृष्टिकोण क्या है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने समस्त उपलब्ध सामग्रियों का बड़े परिश्रम से संकलन किया है तथा तर्कपूर्ण ढंग से उनकी समीक्षा करते हुए एक स्वस्थ दृष्टिकोण सामने रखने का प्रयास किया है। आदिकाल से लेकर आज तक के हिन्दी-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का तार्किक विश्लेषण ही उनका उद्देश्य है। इस उद्देश्य में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है। शैली में व्यक्तिगत निबन्धों की सरसता और विश्लेषण की सूक्ष्मता सर्वत्र वर्त्तमान है; इसलिए पाठक विषय की गम्भीरता को बड़ी सरलता से हृदयंगम कर सकता है।

हमारे विश्वविद्यालयों की कक्षाओं में हिन्दी-साहित्य का जितना ज्ञान अपेक्षित है, उस दृष्टि से इस पुस्तक की सामग्री पर्याप्त ही नहीं, पूर्ण सन्तोषजनक भी है। हिन्दी-साहित्य की एक सुन्दर झाँकी प्रस्तुत करने के लिए लेखक सबके बधाई के पात्र हैं। भविष्य में हम इनसे और भी आशाएँ रखते हैं।

डॉ० मंगल बिहारी शरण सिन्हा
एम०ए०, डी०लिट्०
मगध विश्वविद्यालय, गया

पौष, अमावास्या, २०२१
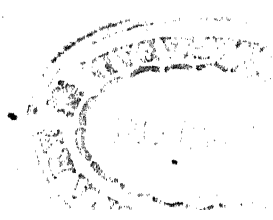
आमुख

पुस्तक आपके हाथ में है। कैसी है, इसका निर्णय आप स्वयं करें। जहाँ तक मेरी बात है—भला, अपने दही को कोई खट्टा कहता है? मैं इतना अवश्य कहूँगा कि इसकी प्रेरणा न तो मात्र अर्थकरी रही है और न इसमें मात्र पिष्टपेषण ही हुआ है। मौलिकता, तथ्यों की नवीनता, स्थिरता आदि पर सर्वत्र ध्यान दिया गया है। वैचारिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हिन्दी-साहित्य के अतीत और वर्त्तमान का अन्तर स्पष्ट है। प्राचीन और नवीन का अन्तर मात्र भावधारा को लेकर ही नहीं, अपितु भाषा, काव्यसंपत्ति, काव्यरूप आदि को लेकर भी है। इसी से संतकाव्य का कृष्णकाव्य से अथवा ब्रजी का मागधी से तुक नहीं मिलता है। तभी तो अनेक इतिहासकार हिन्दी-साहित्य के काल-प्रवाह को स्थान-स्थान पर खंडित कर देखने-परखने के लिए विवश हो उठे हैं और कुछ लोग हिन्दी-काव्य का अर्थ 'हिन्दी की विभिन्न बोलियों का काव्य' करते दीखते हैं। इस बिखराव के पश्चात् भी इसमें ऐक्य स्थापित करने के कतिपय ऐसे सूत्र वर्त्तमान हैं जिनका विच्छेद असम्भव है। इन सारी बातों को समझने-बूझने के लिए हिन्दी-साहित्य का 'युग और धारा' के रूप में अध्ययन अनिवार्य है। हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार के प्रयत्न नहीं के बराबर हुए हैं। प्रस्तुत प्रयास उसी अभाव का पूरक है। इसमें हिन्दी-साहित्य के विभिन्न युगों और उसकी अनेक धाराओं का आवर्त्त-परिवर्त्त तो स्पष्ट किया ही गया है, कालप्रवाह को भी अखंडित रूप में देखने का प्रयास किया गया है। इससे साहित्यिक वत्स [बी०ए०, बी०ए० (ऑनर्स), एम०ए० आदि के छात्र] तो लाभान्वित होंगे ही, साहित्यिक दिग्गजों के लिए भी यह पुस्तक बड़े काम की होगी—ऐसा मेरा विश्वास है। श्रद्धालु पाठक यदि थोड़ा भी लाभान्वित हुए तो मैं अपना परिश्रम सार्थक समझूँगा।

पुस्तक-लेखन में जिन विद्वानों की कृतियों से मुझे थोड़ी भी सहायता मिली है, उन सबों के प्रति मैं अत्यन्त विनम्र भाव से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। साथ ही, जिन पूज्य व्यक्तियों ने इसके प्रणयन की प्रेरणा दी है उनके प्रेम एवं स्नेह से मुझे कभी वंचित होना न पड़े, मेरी यही कामना है।

भारती भवन, पटना के मैनेजिंग पार्टनर श्री मोहित बाबू का आभार प्रकट किये बिना इसकी चर्चा अधूरी ही रहेगी। उन्होंने इस कार्य के लिए प्रेरित तो

किया ही, उन्हीं की तत्परता का यह परिणाम है कि अल्प अवधि में ही यह पुस्तक मुद्रित होकर आप तक आ सकी है। अपेक्षित सावधानी बरतने के पश्चात् भी कतिपय अशुद्धियों का रह जाना असम्भव नहीं है, जिसके लिए लेखक को खेद है। उनका परिष्कार पुनर्मुद्रण में ही सम्भव है।

श्रावण, शुक्लपक्ष, २०२२
मागध-मन्दिर, गोपालगंज (सारन)

कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध'

विषय-सूची

१

वंदे वाणीविनायकौ

[वाणीविनायक में पूर्वापरत्व—काव्य की परिभाषा—सरस्वती : कथा—गणेश : प्रसिद्धि—दोनों की तुलनात्मकता—माहात्म्य और यथार्थ]

गोसाईंजी के 'मानस'* के अध्ययन-आलोड़न ने कितने को रामायणी बनाया और कितने को डॉक्टर, कितने को बैरागी बनाया और कितने को रागी, पर आज तक अनुसन्धित्सु उसके समुचित अवगाहन में अक्षम ही प्रतीत हो रहे हैं। यदि ऐसी बात नहीं, तो तथाकथित साहित्यिक दिग्गज ऐसा भ्रम क्यों फैला रहे हैं कि 'मानस' के तुलसी मात्र भक्त थे। मैं तो कहूँगा कि वे पक्के रीतिवादी थे। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि उन्होंने रीतिवाद का कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है। यदि आप ऊब न सकें तो मैं एक बात और कहूँगा—बाबा तुलसी वस्तुतः बाबा थे, इसी से मानस में वे पहले थे सारस्वत, पुनः सामाजिक और अन्त में थे रामोपासक, भक्त। मैं सच ही तो कह रहा हूँ, इसमें कान खड़ा करने की क्या बात है। आइए, प्रमाण-स्वरूप देखिए 'मानस' की ये प्रारम्भिक पंक्तियाँ—

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मंगलानां च कर्त्तारौ वंदे वाणीविनायकौ॥

यदि अब भी नहीं समझे, तो खुलासा ही सुन लीजिए—बाबा तुलसी ने यहाँ अपना मानदण्ड वही रखा है जो साहित्य की परम्परा में स्वीकृत है। तुलसी पहले वन्दना करते हैं वाणी की और तब विनायक की (वंदे वाणीविनायकौ)। आप कहेंगे, यह तो कोई प्रमाण नहीं हो सकता। यहाँ मात्र छन्दोऽनुरोध है—यदि 'वंदे वाणीविणायकौ' को 'वंदे विनायकवाण्यौ' किया जाता तो छन्द का प्रवाह ही नष्ट हो जाता। ठीक, बिल्कुल ठीक, आपकी बात से मैं भी सहमत हूँ कि यहाँ प्रवाह के नष्ट होने से छन्द-दोष हो जाता; पर 'वंदे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ' में 'कवीश्वर' के स्थान पर 'कपीश्वर' और 'कपीश्वर' के स्थान पर 'कवीश्वर' लिखने में तो कोई बाधा नहीं थी। यहाँ तो छन्द-प्रवाह बिल्कुल वैसा ही रहता, जैसा है। आखिर, यहाँ क्या बात थी? ....तो अब विश्वास हो गया होगा मेरी बातों का कि वे पक्के रीतिवादी थे—वे पहले सारस्वत ही थे। इसपर भी यदि आप उन्हें मागध-बन्दीजनों, सूत-पौराणिकों का भाई-बन्धु ही मानें तो आपकी बुद्धि!

लगे हाथ उनके मंगलाचरण से ली गयी उपर्युक्त पंक्तियों पर भी विचार कर लें। वहाँ भक्ति का नहीं, कविता का अनुबन्ध ही है। भारतीय साहित्य-शास्त्र में काव्य की उत्कृष्ट परिभाषा 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' ही मान ली गयी है। यहाँ तुलसी इस परिभाषा का भी परिष्कार-संस्कार करते दीखते हैं। इन्होंने 'वाक्यं' (शब्द और अर्थ) के लिए 'वर्णानां' के साथ 'अर्थानां' ही नहीं, अपितु 'अर्थसंघानां' एवं 'रसात्मकं' के लिए 'रसानां' देकर ही सन्तोष नहीं किया, बल्कि काव्य के मंगलमयत्व (शिव) के लिए 'मंगलानां' की योजना भी अनिवार्य रूप से स्वीकार की है। आज जब नयी आलोचना छन्दों की निरर्थकता के सम्बन्ध में कुछ कहती है तो तथाकथित परम्परावादी नाक-भौं सिकोड़ते हैं; लेकिन उनका ध्यान तुलसी की इस उक्ति की ओर क्यों नहीं जाता जिसमें 'छन्दसां' के साथ 'अपि' जोड़कर काव्य में छन्द की अनावश्यकता की ओर बहुत दूर तक संकेत किया गया है। तुलसी ने काव्य के चार सोपान बताये हैं— वर्ण, अर्थसंघ, रस और संसार का मंगल। छन्द इनके अनुसार काव्य का आवश्यक अंग नहीं, बाह्य विधान समझिए। अब जरा ठण्डे दिमाग से सोचिए, काव्य के सम्बन्ध में ऐसी नवीन मान्यता लेकर काव्य रचने वाला, 'गिरा' और 'अर्थ' के अभिन्नत्व को बताने वाला वाल्मीकि, माघ, कालिदास आदि की परम्परा में पड़ता है कि तुमड़ी-चिमटा वाले बैरागी नारद आदि भक्तों की परम्परा में? हाँ, यदि सामाजिक तुलसी को खोजना ही है तो 'गाइए गणपति जगवंदन' से प्रारम्भ होने वाली 'विनयपत्रिका' को उलटिए और रामोपासक तुलसी को ही देखना चाहें तो पलटिए 'रामगीतावली' के पृष्ठ, जहाँ भक्तप्रवर तुलसी राह चलते लोगों को बाँह पकड़कर, रोककर बता रहा है—

> आजु सुदिन सुभ घरी सुहाई।
> रूप-शील-गुण-धाम राम नृप-भवन प्रकट भए आई॥

निस्सन्देह तुलसी द्वारा चलायी गयी लीक आज भी चल रही है। प्रत्येक भारतीय में यह संस्कार इतना प्रबल हो गया है कि आज भी मेधावी विद्यार्थी अपनी उत्तर-पुस्तिकाओं के सिरे पर 'श्रीसरस्वत्यै नमः' लिखना नहीं भूलता, कोई भी सामाजिक व्यक्ति किसी भी शुभ कार्य करने के पूर्व 'श्रीगणेशाय नमः' कहने से नहीं चूकता और अचानक अविचारित स्थिति आ जाने पर, अच्छे कार्य की कौन कहे, बुरे कार्य में भी अनायास 'हे राम' अथवा 'राम-राम' कहता ही है। यह विचारने की बात तो है ही कि आखिर ऐसा क्यों होता है?

वाग्देवी सरस्वती सृष्टि की आदिदेवी हैं (कठोपनिषद्, शतपथब्राह्मण) और गणेश आदिदेव (सुनि यह संसय करिय कोउ, सुर अनादि जिय जानि— तुलसी)। आदिशक्ति दुर्गा संसार का नियमन भले ही करें, महालक्ष्मी की कृपा से रंक कुबेर भले हो जायँ; पर सारस्वतों के लिए सरस्वती ही प्रथम प्रणम्य हैं। दूसरी

और, शंकर भले ही देवाधिदेव महादेव हों, इन्द्र भले ही सुरेश हों; पर सामाजिकों के लिए सर्वप्रथम नमस्य हैं गणेश ही। यह किसे पता नहीं कि तानाशाहों की जब भी बन आयी है, तब पक्वकेश वृद्ध और श्वेतश्मश्रु प्रजापति जैसे देव भी सुन्दरी, कृशोदरी, हंसासीना वागीश्वरी जैसी पुत्री पर कामासक्त हो जाते रहे हैं और आशुतोष शंकर जैसे पिता भी गणेश जैसे कोमल और अबोध शिशु का सिर काटते रहे हैं। बेचारे गणेश बच्चे थे। तभी यह सब झेलना पड़ा। इतना ही नहीं, कटे सिर की जगह शंकर ने गजमस्तक रखकर जले पर नमक भी छिड़क दिया। यह तो सोचने की बात है कि कितना क्लेश हुआ होगा शिशु गणेश को अपनी मृदुल देह पर भारी-भरकम गजमस्तक पाकर! और, उधर? ब्रह्मा के सुकृत्य पर सरस्वती को भी कम ग्लानि हुई होगी क्या? वाग्देवी हरिसरस्वान् से सम्बन्धित होने के कारण हुईं सरस्वती। आरम्भ में गंगा, लक्ष्मी और सरस्वती तीनों हरि की पत्नियाँ ही थीं। ऐसी स्थिति में विवाद स्वाभाविक ही था। फिर क्या था, विष्णु ने सरस्वती को ब्रह्मा की सेवा में एवं गंगा को शिव की सेवा में भेजकर लक्ष्मी को स्वयं स्वीकार कर लिया। आखिर ऐसा क्यों नहीं होता— तानाशाही जो थी! जब भी तानाशाही जोर पकड़ती है, नारी के भोग्य रूपों का बंदर-बाँट आरम्भ होता ही है और गणेश जैसे शान्तिवादियों के सिर कटते ही हैं। इसी से तो आज का संसार तानाशाही की जड़ खोद डालने के लिए चाणक्य-प्रयत्न कर रहा है।

ऋषियों में दुर्वासा शाप और क्रोध के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। जो देवता, गण अथवा नरेश उनके शाप के भागी नहीं बने हैं, वे कम भाग्यशाली नहीं हैं। कहा जाता है कि दुर्वासा ऋषि के शाप के कारण ही सरस्वती को भारत में अवतरित होना पड़ा था। इसी से वे भारती बनी हैं एवं गन्धमादन पर वर्षों की तपस्या के परिणामस्वरूप लोकपूजित हुईं। ब्रह्मा की पुत्री और पत्नी होने के कारण ही ब्राह्मी और ब्रह्माणी कही गयी हैं। वाग्देवी का स्वरूप ही आदिवर्णमाला में उद्भूत हुआ, इसी से आदिवर्णमाला ब्राह्मी के नाम से विख्यात हो सकी थी। खैर, कुछ हद तक वाग्देवी को भारत में अवतरित होने का शाप देकर दुर्वासा ने भारतीयों का भला ही किया था। कौन जाने, सरस्वती के अभाव में भारतीय इतने शीघ्र सभ्य और संस्कृत होते अथवा नहीं— भारत विश्वगुरु बनता अथवा नहीं! हो सकता है, उस युग में उत्कोच की पद्धति रही हो और भारतीयों ने उत्कोच के सहारे दुर्वासा से यह सब कर-करा लिया हो। देखते नहीं, आज भी चाँदी के जूते लगाकर हम कौन-सा काम नहीं करा लेते हैं! हो सकता है, उत्कोच में कुछ कोर-कसर रह गयी हो, तभी तो उन्होंने मात्र सरस्वती को ही शाप दिया, गणेश को नहीं। इसे तो गणेश का सौभाग्य समझिए कि उन्हें दुर्वासा से पाला न पड़ा, अन्यथा उनकी

तो मिट्टी ही पलीद हो जाती।

स्वरूप के विचार से सरस्वती और गणेश में कोई समता ही नहीं हो सकती। सरस्वती नारिरूपा हैं और गणेश पुरुष। गणेश को त्रिदेव में स्थान नहीं मिला है; पर सरस्वती शक्तित्रय में महत्त्वपूर्ण पद की अधिकारिणी हैं। वाग्देवी कुन्द-इन्दु-तुषारहार-धवल-श्वेत-वस्त्रावृता एवं श्वेतपद्मासीना हैं। हाथों में वीणा, पुस्तक, अक्षमाला एवं किसी-किसी रूप में कमल तथा पात्र से अलंकृत हैं। कहीं ये द्विभुज हैं, तो कहीं चतुर्भुज। इनके वाहनों का भी वैविध्य मिलता है। कुरंग, तुरंग, मृगेन्द्र, गरुड़, मराल, गज, महोक्षादि तो इनके वाहन बताये ही जाते हैं, नीरक्षीर-विवेकप्रदायिनी हंसासनासीना एवं आपत्निवारिणी मयूरवाहिनी भी हैं। त्रिदेव सदा इनकी स्तुति करते रहते हैं। विद्याप्रदायिनी वीणापाणि सुन्दरी, कृशोदरी, श्वेतकमलवत् मंजुल मुख वाली, कमलाक्षी ज्ञानस्वरूपा ही नहीं, अभयदात्री, भक्तार्त्तिनाशिनी और 'जाड्यान्धकारापहा' भी हैं। सत्प्रेरणा और ज्ञानप्राप्ति के लिए ज्ञानोद्बोधिनी, सुखदात्री, धनरक्षिणी, अग्निरूपिणी सरस्वती सभी दिशाओं में पुंजीभूत हैं। ये अपनी देहलता की आभा से क्षीरसमुद्र को भी तिरस्कृत कर देती हैं। तभी तो प्रत्येक दिग्गज और वत्स (साहित्यिक) अपने कार्यारम्भ के पूर्व लक्ष्मी, मेधा, धरा, पुष्टि, गौरी, तुष्टि, प्रभा और धृति— इन आठ मूर्त्तियों से युक्त विरंचिहरीशवन्द्या वाग्देवी को 'विद्यां देहि नमोऽस्तु ते' कहता हुआ—

'यदक्षरं पदं भ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत्।
तत्सर्वं क्षम्यतां देवि, प्रसीद परमेश्वरि।।'

की पुकार लगाता है। इसी से भारतीय देवतत्त्व के जिज्ञासु पाश्चात्य विद्वान् भी 'सरह' को सरस्वती के निकट बिठाने का प्रशंसनीय दुस्साहस करते हैं। और, गणेश? ये 'श्वेतांगं श्वेतवस्त्रं सितकुसुमगणैः पूजितं श्वेतगन्धैः' होकर भी 'क्षीराब्धौ रत्नदीपैः सुरवरतिलकं रत्नसिंहासनस्थम्' हैं। स्वयं हैं वक्रतुण्ड और एकदन्त, कृष्ण-पिंगाक्ष और गजवक्त्र, लम्बोदर और विकट, नाटे और मोटे; पर कहाते हैं विघ्न-राजेन्द्र, ऋद्धेश, सिद्धेश और अमंगलवारक। तभी तो त्रिपुरासुर को जीतने के पहले शिव ने, बलि को बाँधते समय विष्णु ने, सृष्टि करते समय ब्रह्मा ने, पृथ्वीधारण करते समय शेषनाग ने, महिषासुरमर्दन के पूर्व दुर्गा ने, सिद्धिप्राप्तिहेतु विभिन्न साधकों ने और संसार को जीतने के पूर्व कामदेव ने इनकी वन्दना की थी। आज भी ये देवताओं में प्रथम ही पूज्य हैं। यह तो लोकविश्रुत है कि गणाधिप की वन्दना-अर्चना से—

'विद्यार्थी लभते विद्यां, धनार्थी लभते धनम्।
पुत्रार्थी लभते पुत्रान्मोक्षार्थी लभते गतिम्।।'

निश्चय ही 'दन्ताघातविदारितारिरुधिरैः सिन्दूरशोभाकरं' शिशु गणेश की

स्वरूपकल्पना विलक्षण है— ऊपर स्थूल गजमस्तक और मध्य में फैला पेट, लम्बोदर! इस गुरुभार से शिशु गणेश का कचूमर कैसे नहीं निकला, यह आठवें आश्चर्य से कम नहीं— देवताओं ने तो इसके लिए कुछ कोर-कसर नहीं रख छोड़ी थी। आश्चर्य तो तब होता है जब हम सुनते हैं कि इतने पर भी उनका वाहन है चूहा। जब वक्रतुण्ड गजवक्त्र लम्बोदर चूहे पर निकलते होंगे, तो अप्सराओं और देवांगनाओं के ओठों पर बरबस फूट पड़ने वाली हँसी को भला कौन रोक सकता होगा? इसी से तो आज तक यह जिज्ञासा का विषय ही बना है कि गणेश की पत्नी कौन थीं। शंकर के साथ पार्वती, विष्णु के साथ लक्ष्मी, इन्द्र के साथ शची, कृष्ण के साथ राधा और राम के साथ सीता की ख्याति तो हुई; पर गणेश के साथ उनकी पत्नी ख्यात क्यों नहीं हुईं। बेचारे के इस भव्य और आकर्षक स्वरूप से आप अन्दाज लगा सकते हैं कि उनका ब्याह ही न हुआ होगा। पर यह कैसे मान लिया जाय? जब भाँग-धतूरे के मद से मस्त रहने वाले, मरखाहे साँड़ की सवारी करने वाले, सर्पाविष्ट रहने वाले, दिगम्बर और गलाकाटू शंकर के लिए पार्वती अपर्णा तक बन सकती थीं, तो क्या उन्हीं के सुपुत्र गजवक्त्र लम्बोदर का कोई वरण भी नहीं कर सकती थी? फिर, रूप-रंग ही तो सब कुछ है नहीं। जरा दुनिया को खुली आँख से देखिए तो पता चलेगा— धन-प्रतिष्ठा, ऊँचा पद और महान् व्यक्तित्व भी तो कुछ है। ये सब तो गणेश के पास थे ही, फिर यह शंका कैसी कि उनका विवाह ही न हुआ होगा। नारदजी की कृपा से वे ही कैसे वंचित रह सकते थे! हाँ, ऐसी अटकलबाजी भिड़ायी जा सकती है कि व्यक्तित्वहीनता के कारण ही उनकी पत्नी अज्ञात और अख्यात रही होंगी। सुन ही लीजिए, औरों की तो एक-एक पत्नी ही हैं; पर गणेश की एक नहीं, दो-दो पत्नियाँ हैं— ऋद्धि और सिद्धि। इसपर भी जीवन सुखमय नहीं, दूभर ही रहा— सम्भवतः दाम्पत्य-सुख का आनन्द वे नहीं प्राप्त कर सके। कारण? एक तो शरीर से मोटे, दूसरे मोदकप्रिय—वही हुआ, जो अपेक्षित था। बेचारे मधुमेह से पीड़ित हो गये। तब मिष्टान्न को छोड़ कपित्थ और जामुन पर भिड़ गये। गोली मारिये गणेश को, वे तो पुराने पड़ गये हैं। जरा मोटे तुन्द वाले द्विपत्नीकों को ही देखिए न, क्या उनका जीवन सुखमय है? निस्सन्देह हमारी सरकार ने कानून बनाकर द्विपत्नीकों को सरकारी नौकरी से वंचित रखने का फैसला कर प्रगतिशीलता दिखायी है। चाहे जो भी हो, आज गणेश जहाँ कहीं भी स्मरण किये जाते हैं, वे या तो अपत्नीक ही स्मरण किये जाते हैं या अपनी माता गौरी के साथ। इसी क्रम में मैं यह भी बता दूँ कि सरस्वती का स्मरण भी प्रायः अकेले ही किया जाता है। इनके पतिदेव भी उसी श्रद्धा के साथ पूजनीय और स्मरणीय नहीं हो सके हैं। यदि पुराणों पर अविश्वास न किया जाय, तो कहा जायगा कि ये ब्राह्मी और ब्रह्माणी के अतिरिक्त दक्ष की पुत्री, कश्यप की पत्नी और

गन्धर्वों एवं अप्सराओं की माता (पद्मपुराण) भी मानी गयी हैं।

वागीश्वरी सरस्वती प्रख्यात हैं अपनी सदसद्विवेकिनी प्रतिभा और नीरक्षीर-विवेकिनी बुद्धि के लिए और गणेश विख्यात हैं विघ्ननिवारण और सिद्धिदातृत्व के लिए। जड़तानिवारण, वाग्मिता, बुद्धि, विवेक, मंगल, कीर्त्ति, मनोरथ, वेद-वेदार्थ इत्यादि के दान के लिए सरस्वती से किसी की समता नहीं की जा सकती। और, गणेश? करुणायतन, संकटमोचन, सिद्धिप्रदान, चतुराई और त्वरालेखन में अद्वितीय हैं। इनकी चतुराई की कथा तो अद्वितीय है। देवों में प्रथम पूजित होने की होड़ लगी। उस समय आज के समान मतदान तो थे नहीं; चतुराई (पुरुषार्थ?) ही निर्णय का आधार बनी। शर्त्त बदी गयी कि जो ब्रह्माण्ड की सर्वप्रथम परिक्रमा करे, वही गणपति होगा। सभी अपने-अपने वाहन पर दौड़ पड़े। गणेश का वाहन था चूहा। देवताओं की इस रेस में शायद आज की तरह किराये पर तेज दौड़ने वाले घोड़े नहीं मिलते थे। बेचारे गणेश करते तो क्या? डर था, रेस में कहीं चूहा कुचल न जाय। आड़े अवसर पर काम आयी बुद्धि— चट से लिखा राम का नाम और पट से घूम गये उसके चारों ओर। पसीने से लथपथ हो जब अलर्क कुत्ते पर भैरव, भुमना बैल पर शंकर, उल्लू पर लक्ष्मी, गरुड़ पर विष्णु इत्यादि देव ब्रह्माण्ड की परिक्रमा कर लौटे, तो विजेता (गणाधीश) के आसन पर लम्बोदर को देखकर सभी सन्न रह गये। देखा न, गणेश की चतुराई का नमूना! आखिर, राम की कृपा जो थी! तभी तो पंगु गणेश गिरिराज को भी लाँघ सके थे। इसपर भी आज के रॉकेट-निक्षेपक मोदक-प्रिय प्रबुद्ध गणेश को गोबरगणेश ही समझें तो यह निश्चय जानिए कि वैसे लोगों के मस्तिष्क में गोबर ही भरा है।

आज के युग में सरस्वती के मन्दिर नहीं मिलते, गणेश के मन्दिर भी नहीं मिलते हैं। आखिर, ये लोग हिरण्यकशिपु के भाई-बन्धु तो थे नहीं कि मन्दिरों से रामादि देवों की मूर्त्तियों के स्थान पर अपनी मूर्त्तियाँ स्थापित कराते! अरे हाँ, मैं तो भूल ही गया था— क्या तथाकथित प्रत्येक साहित्यकार अपने को सरस्वती का वरद पुत्र और अपने मन्दिर को सरस्वती का मन्दिर नहीं समझता? क्या प्रत्येक तुन्दधारी मारवाड़ी गणेश का प्रतिरूप नहीं, क्या इन्द्रपुरी को भी मात करने वाली उसकी हर अट्टालिका गणेश का मन्दिर नहीं?

देवों में सरस्वती और गणेश सदा शान्तिवादी रहे हैं। भारतीय देवशास्त्र उलट जाइए, प्रायः सभी देव आपको युद्धप्रिय ही मिलेंगे। प्रत्येक ने किसी-न-किसी से युद्ध किया ही है; पर सरस्वती और गणेश मानो अपवाद हैं। हाँ, सरस्वती और गणेश में एक बार हल्की प्रतियोगिता अवश्य हुई है। भला, एक शान्तिवादी दूसरे शान्तिवादी का प्रतियोगी न होगा, तो किसका होगा? चारो वेदों का निचोड़ लेकर पाँचवें वेद (महाभारत) की रचना की बात थी। इसके लिए उपयुक्त कवि का चुनाव

किया गया। कवि चुने गये व्यास, जिनकी जिह्वा पर साक्षात् वागीश्वरी ने आसन जमाया। आखिर, वेद लिखने की जो बात थी! लेखक का चुनाव बाकी था। इसके लिए चुने गये गणेश। ध्यान दीजिए, कैसा विशेषीकरण का युग था वह— कवि तो कविता की रचना भर करता था, पर लिखता था उसे लेखक। व्यास (सरस्वती ?) कविता रचते थे और गणेश उसे लिखते थे। शर्त्त थी कि जहाँ वाणी रुक जायगी, गणेश लिखना छोड़ देंगे और गणेश जो भी लिखेंगे, सो समझ-बूझ कर। हँसी दोनों पर आती है। व्यास (सरस्वती ?) का यह समझना ही गलत था कि प्रबुद्ध गणेश बिना सोचे-समझे लिख देंगे और गणेश के लिए भी यह मूर्खता ही कही जायगी जो उन्होंने यह समझा कि वागीश्वरी भी कुछ ऐसा कहेंगी जिसका औचित्य ही न हो। इस होड़ में सरस्वती और गणेश की खूब निभी, तभी तो 'महाभारत' 'यन्न भारते तन्न भारते' का उद्‌घोष करता हुआ सामने आया। इस कथा की ऐतिहासिक चीर-फाड़ में हमें भले ही कुछ न मिले; पर इससे इतना तो संकेत मिलता ही है कि वाक्‌शक्ति की प्राप्ति के पश्चात् ही लेखन की समस्या सामने आयी है एवं कलम-लेखन के पश्चात् ही गणेश भी अस्तित्व में आये हैं। अपने को पूर्णतः निर्वेद रखते हुए भी गणेश ने वेदों के लेखन में (रचना में नहीं) संयमशीलता का जो परिचय दिया है, वह स्तुत्य है। इसी से, कुछ लोग गणेश को हस्ताक्षर का चमत्कार भर दिखाने वाला ही मानते हैं। हस्ताक्षर का चमत्कार दिखाने वाले गणेश के गोतियों (गोत्रजों) का कम-से-कम आज अभाव नहीं है। हाँ, तो निश्चय हो गया कि नवनवोन्मेषशाली भावों और विचारों की प्रसविणी हैं सरस्वती और कलम के सिपाही हैं गणेश। ये त्वरालेखन के लिए सदा स्मरणीय रहेंगे। सभ्यता और संस्कृति की प्रगति के लिए प्रबुद्ध भाव, विचार तथा लेखनी का कितना महत्त्व है, इसे सब नहीं समझते। लेखनी ललित साहित्य भी लिखती है और उपयोगी साहित्य भी। ललित साहित्य के लेखक हैं गणेश और उपयोगी साहित्य के लेखक हैं चित्रगुप्त। श्रम-विभाजन हो, तो ऐसा हो। ललित साहित्य होता है अविचारित रमणीय और उपयोगी साहित्य विचारित सुस्थ। गणेश की लेखनी को स्वभावतः रमणीयता प्राप्त है और चित्रगुप्त की लेखनी को नैयायिक औचित्य।

देवीभागवत के अनुसार कहा जाता है कि सदसद्विवेकग्राहिणी बुद्धिदात्री; ज्ञान, स्मृति, विद्या, साहित्य, कला, विज्ञान, संगीत इत्यादि की जननी; मन्त्रमुग्धकारिणी वाग्मिताप्रदात्री; अदृश्य, अमूर्तानिस्यन्दिनी, सहृदय-हृदय संवेद्य सारस्वत वैभव-प्रदायिनी; मोहान्धकारनाशिनी; वागीश्वरी सरस्वती की श्वेत पुष्पाक्षत, वस्त्र, चन्दन, सुरभित पदार्थ, नवनीत, घृत, दधि, इक्षुरस, कदलीफल इत्यादि पदार्थों, विश्वजित् कवच से कुलधर्मानुसार सर्वप्रथम उन्हीं की आज्ञा से श्रीकृष्ण ने वृन्दावन में माघ शुक्ल पंचमी को मध्याह्न के पूर्व पूजा की थी। ऋतुराज वसन्त के आगमन

के उल्लासमय वातावरण में, जब धरित्री रंग-बिरंगे पुष्पों से आच्छादित हो नववधू को भी लजाती रहती है, सरस्वती की पूजा विशेष युक्तिसंगत प्रतीत होती है। तान्त्रिक-परम्परा के अनुसार भी माघ बुद्धिप्रद माना गया है। यद्यपि चतुःफल-प्राप्ति-हेतु लक्ष्मी और दुर्गा का पूजन ही अधिक लोकप्रख्यात है; पर आज विद्या, बुद्धि, विवेक, यश इत्यादि के हेतु सरस्वती की पूजा को ही विशेष महत्त्व मिल रहा है। शिक्षालयों में, जहाँ कला, साहित्य, विज्ञानादि की शिक्षाएँ दी जाती हैं, देवी वागीश्वरी की पूजा का आयोजन भावात्मक, कलात्मक, सात्त्विक और आकर्षक ढंग से किया जाता है। कवि, लेखक, विद्यार्थी इत्यादि सभी पुष्पांजलि के मिस अपनी आन्तरिक श्रद्धा भावमयी भाषा में अर्पित करते हैं।

गणेश की पूजा के साक्ष्य वेदों में भी मिलते हैं। पौराणिक कथा के अनुसार सम्भवतः पार्वती ने ही सर्वप्रथम गणेश की पूजा और चतुर्थी-व्रत का अनुष्ठान किया था। तभी से भादो शुक्ल चौथ को गणेश की पूजा का प्रचलन हुआ। चौथ को चन्द्रमा देखना अनिष्टकारक माना जाता है। उस पर भी भादो शुक्ल चौथ के चाँद का देखना तो और भी अमंगलकारक है। हो सकता है, इस अमंगल के निवारणार्थ ही इस दिन विघ्नेश की पूजा का विधान हो। इसकी पुष्टि के लिए एक बात और सामने आती है— हरिशयण से देवोत्थान तक सारे मांगलिक कार्य प्रायः बन्द-से ही रहते हैं। गणेश की पूजा इसी समय होती है— आखिर विघ्न-राज जो हैं! प्रत्येक सामाजिक जीव 'जय गणेश' की आवाज दिये बिना किसी भी उत्तम कार्य का आरम्भ ही नहीं करता है। यह तो संस्कारबद्ध-सा हो गया है। इस संस्कार में सामाजिकों की श्रद्धा और विश्वास की अखण्डता ही दीखती है।

गोसाईं तुलसीदास के सूत्रवाक्य 'गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई' पर सोलह आने नहीं, यदि सवा सोलह आने भी विश्वास किया जाय, तो प्रश्न है कि आज वैसे गुरु मिलते कहाँ हैं? हाँ, 'हरइ शिष्य-धन सोक न हरई' की कसौटी पर खरे उतरने वाले गुरुओं की कमी नहीं है, जिन्होंने प्राइवेट ट्यूशन के मिस स्वतन्त्र व्यवसाय ही खड़ा कर लिया है। आचार्यों और दिग्गजों की चिलम भरने से डॉक्टरेट की उपाधियाँ भले ही मिल जायँ; पर बिना माता सरस्वती की कृपा के सारस्वत वैभव की उपलब्धि कहाँ से सम्भव है! हेममण्डित स्वार्थरथ के रथी राजनीतिज्ञ और तानाशाह कालान्तर में उपहास्य हो सकते हैं, मृत्युंजयी वीर की शक्ति निःशेष हो सकती है; किन्तु वीणापाणि वागीश्वरी की कृपा से सारस्वत वैभव-प्राप्त व्यक्ति की कीर्त्तिरश्मियाँ संसार में ज्योतिपुंजवत् अक्षय्य ही रहती हैं। वाल्मीकि–व्यास, कालिदास–बाण, सूर–तुलसी, मीरा–महादेवी, प्रसाद–निराला, द्विवेदी–शुक्ल इत्यादि सरस्वती के प्रसादस्वरूप ही अमल–धवल बन सके हैं। इसी

प्रकार, किसी भी मांगलिक अनुष्ठान के पूर्व गणाधिपति गणेश की कृपा भी आवश्यक है। राजा हो या रंक, विदग्ध पंडित हो या निरक्षरभट्टाचार्य, शोषक हो या शोषित, ब्राह्मण हो या शूद्र—सभी हर अनुष्ठान के पूर्व 'श्रीगणेशाय नमः' का उद्घोष करते ही हैं। इसी से विघ्नों का नाश होता है और सिद्धि मिलती है।

अस्तु, कहना चाहिए कि 'श्रीसरस्वत्यै नमः' और 'श्रीगणेशाय नमः' (वंदे वाणीविनायकौ) का उद्घोष न अकारण है और न अज्ञानवश। इसका एक निश्चित इतिहास है और है इसकी एक सुदीर्घ परम्परा। सेक्युलरिज्म और प्रगतिशीलता का दम भरने वाले भी विपन्नावस्था में धर्म की दुहाई ही देते हुए दीखते हैं। राजनीति, ज्ञान, विज्ञानादि से धर्म को अलग रखने की माँग अब निस्सार ही समझिए, चूँकि विज्ञान के बढ़ते चरण ने पिण्ड से ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड से पिण्ड को एक करने की ठान-सा लिया है। अस्तु, समस्त संसार में सहृदय-हृदय-संवेद्य, सर्वकामप्रद सुबुद्धि की प्राप्ति एवं प्रत्येक मांगलिक अनुष्ठान की निर्विघ्न समाप्ति के लिए हम एक बार समवेत रूप में श्रद्धा-संवलित हृदय से उद्घोष करें—'वंदे वाणीविनायकौ'।

●

२

समाज और साहित्य

[सामन्तवादी साहित्य-दृष्टि—समाज का विरोध—दोनों में सम्बन्ध—विषय और रूप-विधान—भाषा—लिपि : सामाजिक रिक्थ—नाटक : समाज—सहज आवेग—जीवन की आलोचना]

आज का प्रत्येक आलोचक, चाहे टुटपुँजिया हो या वरिष्ठ, साहित्य की चर्चा में समाज को अवश्य घसीटता है। इसी प्रकार, समाज की चर्चा करने वाला भी साहित्य पर अपने विचारों की छौंक अवश्य देता है। समाज और साहित्य के सम्बन्धों की चर्चा पर विचारने से यह पता लगता है कि यह चर्चा अपेक्षाकृत नवीन है। प्राचीन भारतीय आलोचना में ऐसी चर्चा का प्रायः अभाव ही कहा जायगा। प्रत्येक समय बीते युग के भग्नावशेषों पर नवीन विचारों की भव्य अट्टालिका बनती रही है। नये युग के साथ-साथ विचारों में भी नवीनता आती जाती है। आज की आलोचना में समाज और साहित्य के सम्बन्धों की चर्चा आवश्यक हो गयी है। हमें सोचना यह है कि आखिर ऐसा क्यों हुआ? बात यह है कि हमारी साहित्यिक मान्यताएँ भी बदलती रहती हैं। प्राचीन हिन्दी-साहित्य के पृष्ठों को उलट जाइए, वहाँ मिलेंगे चन्द, नरपति नाल्ह, जायसी, कबीर, सूर, तुलसी इत्यादि। इसके पश्चात् आते हैं आचार्य केशव, बिहारी, मतिराम, भूषण, देव, पद्माकर इत्यादि। हाँ, तो विचार कर जाइए तौलनिक पद्धति पर— क्या प्रसाद की मान्यताएँ ही तुलसी की मान्यताएँ थीं? क्या पंत और बिहारी के काव्य-विषय एक ही हैं? नहीं, दोनों की परिस्थितियों और मान्यताओं में छत्तीस का सम्बन्ध है। आखिर, ऐसा क्यों? हाँ, इसके भी कारण हैं और अवश्य हैं। उस समय समाज सामन्तवादी था। साहित्यकार राजाश्रित थे अथवा धर्माश्रित। उनकी रचनाएँ राजाश्रय अथवा धर्माश्रय में ही पनप रही थीं। उनमें संस्कार भी वैसे ही थे। शृंगार-कालीन साहित्यकारों ने धर्माश्रय की ओट में राजाश्रय का ही पल्लवन किया है। वे 'राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है' के नाम पर तथाकथित सामन्तों के निमित्त 'मकरध्वजरस' तैयार कर रहे थे। साहित्य एक वर्गविशेष के लिए ही रह गया था। उसने जनता की तनिक भी चिन्ता करनी छोड़ दी थी। तात्पर्य यह कि उस समय साहित्य समाज के एक वर्गविशेष के राग-द्वेष को ही प्रतिफलित कर रहा था, सारा समाज उसके लिए उपेक्षित था।

किन्तु, उस समय भी कतिपय ऐसे साहित्यकार थे जो भाड़े के टट्टू न थे। यद्यपि अधिकांश साहित्यकार मुहरों और जागीरों के सौदे पर ही कवित्व को बेच रहे थे, तथापि कुछ ऐसे अवश्य थे जो सरकस के पालतू शेर नहीं बनना चाहते थे। इसी से उस युग में भी फूहड़ और फुटपाथी रचना के बीच कहीं-कहीं हीरे की डली अवश्य मिल जाती है। धीरे-धीरे युग बदलता गया। साहित्यकार बदलते गये। वे तत्कालीन सामन्ती शासन से विद्रोह करते गये और कविता अथवा साहित्य को आत्मपरक बनाते गये। वर्ग विशेष की व्यवस्था से पलायन के कारण ही साहित्य में 'स्वान्तःसुखाय' अथवा 'कला कला के लिए' अथवा 'प्रकृति की ओर लौटो' आदि के नारे लगे। इस प्रकार, साहित्य धीरे-धीरे समाज से दूर होता गया और एक दिन ऐसा भी आया जब साहित्यकारों का पूरा वर्ग समाज को छोड़कर स्वच्छन्द हो गया। भला, साहित्यकारों का वर्ग समाज को छोड़ दे, एक अपना वर्ग बना ले, अपनी अलग दुनिया कायम कर ले— यह समाज क्यों मानने लगा। समाज को इससे आघात हुआ। इसने साहित्यकारों को पलायनवादी आदि कह कर धिक्कारा तथा पुनः समाज की ओर लौटने के लिए आग्रह करना प्रारम्भ किया। जरा सोचिए, ठंढे दिल से सोचिए—बेचारा साहित्यकार इस समाज में लौटे तो कैसे? यहाँ दलीय राजनीति के नक्कारखाने में साहित्यकारों की तुरही मौन जो हो जाती है! रिक्शेवालों की हड़ताल पर समाज ध्यान दे सकता है, धोबियों और भंगियों की बातें भी समाज में सुनी जा सकती हैं; पर साहित्यकारों की आवाज पर कौन ध्यान दे? इसके लिए किसे अवकाश है? अब समझ गये होंगे कि साहित्यकारों ने समाज से अपना सम्बन्ध-विच्छेद क्यों किया।

पर, समाज को साहित्यकारों की आवश्यकता थी। साहित्य में साहित्यकारों की वैयक्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति को रोककर समाज अपनी अभिव्यक्ति देना चाहता था। अस्तु, उसने एक नयी चाल चली। समाज कर उठा व्याख्या समाज और साहित्य के सम्बन्धों की। कहने लगा—'बड़े वो हो जी, हमीं से खाद्य और पानी लेकर हमीं को दुतकारते हो! यह तो भलमनसी नहीं है। हमने तो तुम्हें इसीलिए खाद्य और पानी दिया कि तुम हमारे बुढ़ापे की लकड़ी बनो।' बेचारा साहित्य क्या करता। साहित्य ने साहित्यकारों को कुरेदा—'यों समाज को मत छोड़ो। आखिर, ये हैं तो अपने लोग ही। इन्हें कन्धा देकर लेते चलो। और, इस प्रकार मिट-सा गया दोनों का विवाद। समाज ने साहित्य का पल्ला पकड़ा और साहित्य ने समाज का—दोनों हो चले अटूट।

तो, अब हो गया होगा स्पष्ट। समाज से ही खाद्य और पानी लेकर साहित्य पनपता है और बूढ़े समाज की लकड़ी बन जाता है साहित्य। वस्तुतः समाज और साहित्य में अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है। दोनों को एक-दूसरे से अलग कर नहीं

देखा जा सकता है। आप साहित्य को चाहे समाज का प्रतिबिम्ब कहें या दर्पण, चाहे रूप कहें या दर्शन—एक ही बात है। दोनों के सम्बन्धों को निरूपित करते हुए कहा जायगा कि समाज और साहित्य में सम्बन्ध है आधार-आधेय का या कारण-कार्य का। यदि समाज आधार है तो साहित्य आधेय, अथवा यदि समाज कारण है तो साहित्य कार्य। कभी-कभी इस सम्बन्ध में व्यतिक्रम भी हो जाता है। अर्थात्, साहित्य ही आधार हो जाता है और समाज आधेय, अथवा साहित्य ही कारण होता है और समाज कार्य। हाँ, कभी गाड़ी पर नाव, तो कभी नाव पर गाड़ी! दोनों में आदान-प्रदान का कार्य इतना गहरा है कि उसे कतिपय शब्दों द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। दोनों के सम्बन्ध में चाहे जितनी भी बातें बतायी जायँ, कम ही होंगी। समाज साहित्य को विषय (Matter) और रूप-विधान (Manner) दोनों ही वस्तुएँ देता है। वह मात्र विषय और रूप-विधान ही नहीं देता, अपितु प्रेरणा भी देता है। साहित्यकार को साहित्य-सर्जन की भावभूमि पर लाने का कार्य भी समाज ही करता है। व्यक्तिगत जीवन की इकाइयों का एकत्र रूप ही समाज है। व्यक्ति के जीवन में जितनी भी प्रेरणाएँ मिलती हैं, सभी समाज की होती हैं। साहित्य-सर्जन की समस्त प्रेरणाएँ भी जीवन से ही मिलती हैं। यहाँ जीवन से तात्पर्य, समाज के जीवन से ही है। यदि ईर्ष्या, अमर्ष, राग, द्वेष, अभाव इत्यादि ही व्यक्ति के जीवन में प्रेरक तत्त्व के रूप में मान्य हों, तो साहित्य की प्रेरणा के रूप में भी इन्हें ग्रहण करना ही होगा। इसी प्रकार अन्य की भी स्थिति है।

आइए, पहले साहित्य के रूप-विधान की ही बात की जाय। साहित्य के वाह्य रूप-विधान पर विचारने से भाषा, लिपि, अलंकार-विधान, प्रतीक-विधान, छन्द-विधान इत्यादि पर हमारी दृष्टि जमती है। साहित्य भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। प्रत्येक साहित्य एक विशेष प्रकार की भाषा में ही आबद्ध और अभिव्यक्त है। भाषा किसी एक व्यक्ति की धरोहर नहीं है। यह सामाजिक सम्पत्ति है। साहित्यकार समाज से ही भाषा सीखता है। यह मनुष्य को पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में नहीं, समाज से अर्जित सम्पत्ति के रूप में प्राप्त होती है। अब जरा सोचिए, क्या भाषा के अभाव में किसी साहित्य-विशेष की कल्पना हो सकती है? कोई साहित्यकार बिना किसी भाषा के साहित्य को रूप दे सकता है? नहीं। तो स्पष्ट है कि साहित्य की आधारभूमि समाज ही है। समाज से अर्जित भाषा के माध्यम से साहित्यकार भावनाओं को वाणी देता है। यदि भाषा का शब्द-भाण्डार विस्तृत होता है, तो साहित्यकार को प्रत्येक प्रकार की भावना को वाणी देने में सरलता होती है। तात्पर्य यह कि सबल और सफल साहित्य के लिए सबल और सफल भाषा का होना भी अनिवार्य है। भाषा की सफाई, लोच और बंदिश सामाजिक ढाँचे पर ही निर्भर है।

साहित्य को लिपिबद्ध करने के लिए कतिपय संकेत-चिह्नों की आवश्यकता होती है। प्रत्येक भाषा के अपने संकेत-चिह्न होते हैं। ये संकेत-चिह्न ही लिपि हैं। लिपि एक व्यक्ति द्वारा निर्धारित भले ही कभी हुई होगी; पर आज है वह पूर्णतः समाज की वस्तु। साहित्यकार जब साहित्य-लेखन के निमित्त किसी भी लिपि का व्यवहार करता है, तो वह सामाजिक रिक्थ का ही व्यवहार है। तात्पर्य यह कि साहित्यकार को लिपि समाज से ही मिलती है। बिना सामाजिक सहायता के साहित्यकार पंगु है। उसमें साहित्य-सर्जन की क्षमता होने पर भी वह उसे प्रकट करने में समर्थ नहीं है। साहित्यकार अपने रचनात्मक कार्य को तभी सफल बनाता है, जब समाज उसे सहायता देता है।

भाषा और लिपि के समान ही अन्य रूप-विधान भी साहित्य में समाज से ही आते हैं। गद्य, पद्य, प्रबन्ध, मुक्तक इत्यादि के साथ अलंकार-विधान, प्रतीक-विधान, छन्द-विधान, बिम्ब-विधान इत्यादि जितने भी तत्त्व हैं, सभी समाज से उत्पन्न होते हैं। विश्वास न हो तो आइए और उलट जाइए समस्त मुसलमानी साहित्य—वहाँ आप खोज जाइए नाटक। नहीं मिलेंगे। आखिर क्यों? भारतीय साहित्य में तो नाटकों की परम्परा वेदों में भी वर्त्तमान है। ग्रीक-साहित्य में नाटक मिलते हैं; पर इस मुसलमानी साहित्य में नाटक क्यों नहीं मिलते? इसका उत्तर यही होगा कि यह साहित्यिक विधा उनके समाज के प्रतिकूल थी, इसी से वहाँ नाटकों का अभाव है। वे मूर्त्तिपूजा के विरोधी थे। इस मूर्त्तिपूजा के विरोध ने ही उन्हें नाटकों से वंचित रखा। इसी को कहते हैं, समाज और साहित्य पर सामाजिक प्रभाव। आखिर जादू क्या, जो सिर पर चढ़कर न बोले। समाज जादू है, जादू जो साहित्य के माथे पर चढ़कर बोलता है। प्रत्येक साहित्यकार एक समाज में जीता है। वह समाजविशेष की इकाई होता है। वह शून्य में निवास नहीं करता। वह समाज को देखता है। उसपर विचार करता है। उसके राग-द्वेष को अपनाता है; न चाहने पर भी अपनाता है। चेतन न सही, अचेतन रूप में ही समाज के राग-द्वेष उसकी चित्तवृत्ति को प्रभावित करते रहते हैं। जब कभी वह अपनी भावनाओं को वाणी देता है, तो भाषा के माध्यम से उसकी सामाजिक भावनाएँ ही अभिव्यक्त होती हैं। अपनी निकटस्थ वस्तुओं को ही वह उपमा आदि के लिए ग्रहण करता है। आवेष्टन की वस्तुएँ ही प्रतीक के रूप में उसे सामने दीखती हैं। इसी से साहित्यकार अपने आवेष्टन की वस्तुओं को ही कभी अलंकार-रूप में, कभी प्रतीक-रूप में और कभी बिम्ब के रूप में ग्रहण करता चलता है। आज प्रायः शिक्षा की चर्चा में लोग सैद्धान्तिक शिक्षा की जगह व्यावहारिक शिक्षा पर बल देते देखे जाते हैं। ऐसा क्यों? इसीलिए न कि व्यावहारिक शिक्षा से कार्यदक्षता अधिक आयगी। तो बस, आप भी यही मानिए कि समाज

साहित्यकारों के लिए वही व्यावहारिक भूमि तैयार करता है। भले ही वह टेकनिकल स्कूल न हो, पर ट्रेनिंग स्कूल तो है ही। समाज की विस्तृत और खुली प्रयोगशाला में ही साहित्यकार अपनी कलात्मकता का प्रयोग करता है, शिक्षित होता है और तब साहित्य-सर्जन में साफल्य प्राप्त करता है। हाँ, इसे तो मैं भी मानता हूँ कि समाज साहित्यकारों का वर्ग नहीं आयोजित करता; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह अव्यक्त रूप से ही साहित्यकारों की रुचि को परिष्कृत अवश्य करता रहता है। इसी परिष्कृत रुचि के अनुसार साहित्यकार अपनी प्रतिभा का परिचय देता है।

भारतीय मनीषियों ने 'कवयः किं न पश्यन्ति' अथवा 'कविरेव प्रजापतिः' कहकर साहित्यसर्जना की प्रतिभा को नैसर्गिकी माना है। पश्चिमी विचारकों ने इसी को सहज उद्‌गार (Spontaneous outburst) कहा है। अब विचारना यह है कि यदि साहित्य आवेग आदि का सहज उद्‌गार मात्र ही है, तो समाज की कोई आवश्यकता नहीं है। पर ठहरिए, जरा इधर भी देखिए। क्या आ० शुक्ल ने यह यों ही लिख दिया कि 'प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है।' हो सकता है, यह गलत ही हो; पर जरा देखिए प्रसादजी को, ये क्या कह रहे हैं—'काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है।' और, प्रेमचन्द की बात मत पूछिए, ये तो साहित्य को 'जीवन की आलोचना' ही कह रहे हैं। यही बात तो मैथ्यू ऑर्नल्ड ने कही है न, हेनरी हडसन भी तो कुछ ऐसा ही कह रहे हैं—'साहित्य भाषा के माध्यम से जीवन के अनुभवों को ही अभिव्यक्त करता है' (It is fundamentally an expression of life through the medium of language)। तो, ये विरोधी बातें क्यों? अरे भाई, ये बातें विरोधी नहीं हैं। विरोध है समझने में, बातें तो एक ही हैं। वस्तुतः साहित्यकार को आवश्यकता होती है, भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अनुभवों की। ये अनुभव भी उसे समाज से ही प्राप्त होते हैं। इन अनुभवों के मूल उपादान समाज में ही वर्त्तमान होते हैं। सामाजिक रीतियाँ, आचार आदि ही इन अनुभवों के मूल में काम करते हैं। तभी तो भारतीय साहित्यकार भाई-बहन के प्यार को सात्त्विक और पवित्र ही बनाये रखता है, उसमें कलुषता की छाया तक नहीं आने देता है; जब कि कतिपय अन्य समाजों में भाई-बहन के दाम्पत्य प्रेम की चर्चा की जाती है। भारतीय साहित्यकार के लिए काली आँखें, काली केशराशि और मेघवर्ण ही सौन्दर्य के प्रतीयमान हैं; किन्तु पश्चिमी देशों के साहित्य को उलट जाइए, वहाँ सुनहले बाल और गौर वर्ण ही सफल सौन्दर्य के मान समझे जाते हैं। भारतीय साहित्यकार जब भी कोई अच्छी बात कहता है, तो ठंढे दिल से ही; पर जरा अँगरेजी साहित्यकारों की बात लीजिए, वे आपका स्वागत सदा तपाक से ही

(Warmly) करेंगे। ऐसा क्यों? यही है समाज का प्रभाव। यह निश्चय जानिए कि तुलसी के साहित्य में शेक्सपीयर की भावनाएँ कभी नहीं मिलेंगी। इसी प्रकार जो आनन्द मिल्टन के साहित्य में है वही सूर के साहित्य में नहीं। दोनों के अनुभव अपने-अपने समाज के हैं। दोनों ने अपने-अपने समाज को अपने ढंग से देखा है। अपने ढंग से अनुभव प्राप्त किये हैं। अस्तु, यही कहना श्रेयस्कर है कि साहित्यकार समाज ही से अपने अनुभवों का विस्तार करता है और इनकी ही वह अभिव्यक्ति कर चलता है। यदि साहित्य में किसी प्रकार के जीवन की आलोचना या अभिव्यक्ति होती है, तो वह जीवन व्यक्ति का नहीं, समाज का ही होता है। रही बात सहजोद्गार अथवा क्रान्तदर्शिता की। वस्तुतः इससे इतना ही तात्पर्य है कि कवि अथवा साहित्यकार किस हद तक समाज की मौलिक परख कर सका है। अधिक से अधिक गहरे प्रवेश कर समाज के छिपे रहस्यों को रागात्मक अथवा विचारात्मक रूप देना ही, उसे प्रकट करना ही नैसर्गिकी प्रतिभा या क्रान्तदर्शिता है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि साहित्यकार समाज से अलग रहकर भी समाज की रूपरेखा खींच देगा अथवा अपनी रचनात्मक प्रतिभा का प्रकाशन कर सकेगा। समाज तो रत्नाकर है। इसका अवगाहन एक कठिन कार्य है। सभी गोताखोर मोती पाएँ ही, यह तो असम्भव कल्पना है। सामान्य जन भी समाजरूपी रत्नाकर में गोते लगाते हैं; पर उन्हें खाली हाथ ही रहना पड़ता है। पर, क्रान्तिदर्शी (साहित्यकार) जब भी गोता लगाता है, सामाजिक सीपी से मोती अवश्य प्राप्त करता है। तात्पर्य यह कि साहित्य वह जगमगाता मोती है जो समाज की सीपी में ही तैयार होता है।

आलोचना में कतिपय सिर-फिरे लोगों ने यह भी भ्रम फैलाया कि वास्तव में साहित्य साहित्य के लिए (कला कला के लिए) ही रचा जाता है। इनका तर्क है कि साहित्य कल्पनाजन्य खिलवाड़ है। बिना कल्पना के साहित्य असम्भव है। अरे भाई, इससे कौन अस्वीकार करता है कि साहित्य में कल्पना नहीं है। है, और जरूर है। पर 'स्वान्तःसुखाय' का शंख फूँकने वाले बाबा तुलसी ने भी तो यह स्वीकार किया ही कि—'कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कहँ हित होई।' इतना नहीं, इन्होंने कुछ और भी कहा है—'जे प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं, सो श्रम बादि बाल कवि करहीं।' तो क्या बैरागी बाबा भी सिर-फिरे ही थे? नहीं, वे सिर-फिरे नहीं, पूरे समझदार थे। इसीलिए तो उन्होंने 'सब कहँ हित होई' का पूरा ध्यान रखा है और उनके 'प्रबन्ध' का बुधाजन आज भी आदर कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि 'कल्पना' को साथ लेकर चलने वाला कोई भी साहित्यकार 'वास्तव' की उपेक्षा नहीं कर सकता। यह 'वास्तव' किसका? स्पष्टतः समाज का। समाज के सत्य का उद्घाटन जिस दिन साहित्य छोड़ देगा, उसी दिन साहित्य मर

जायगा। हिन्दी में छायावादी कविता न टिकी, इसका एकमात्र कारण यही था कि उसने अपने पैर समाज में नहीं जमाए। सदा वह वायवी वातावरण में उलझी रही। इससे वह मर गयी और उसके ही क्रोड़ से प्रगतिवाद की समाजव्यापी धारा आयी। हाँ, तो निष्कर्ष यह कि साहित्य साहित्य के लिए नहीं, समाज के लिए ही रचा जाता है। यह समाज के सत्य का ही उद्घाटन करता है। सत्य का उद्घाटन दो रूपों में सम्भव है—यथार्थ रूप में और आदर्श रूप में। 'राम बीड़ी पीता है' और 'राम को बीड़ी नहीं पीनी चाहिए' में सत्य दोनों हैं, पर प्रथम वाक्य में है सत्य का रूप और दूसरे वाक्य में आदर्श रूप। कुछ साहित्य ऐसे होते हैं, जिनमें सत्य का मात्र प्रथम रूप ही अभिव्यक्त होकर रह जाता है, पर कुछ साहित्यकार ऐसे भी होते हैं जो सत्य के द्वितीय रूप को ही—आदर्श रूप को ही—अभिव्यक्त करते हैं। तुलसी का सत्य अथवा प्रेमचन्द का सत्य ऐसा ही है। इनलोगों ने सत्य के आदर्श रूप को ही ग्रहण किया है, पर हैं ये सत्य ही। अस्तु, ऐसा कहा जायगा कि जिस साहित्य में समाज के यथार्थ रूप से अधिक आदर्श रूप की प्रतिष्ठा होती है, वही साहित्य अधिक महान् होता है।

कतिपय विचारक ऐसा कहते हैं कि समाज के चित्रण का कार्य साहित्य नहीं, इतिहास करता है। किसी देश की अथवा समाज की सामाजिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों का आकलन ही इतिहास का कार्य है। मैं इससे अपनी असहमति नहीं प्रकट करता, किन्तु एक बात मैं भी कहता हूँ अवश्य। इतिहास समाज का सच्चा चित्र नहीं प्रस्तुत करता है। ऐसी बात नहीं कि उसमें इसकी क्षमता नहीं है। क्षमता है, पर कतिपय राजनीतिक दाँव-पेंच के कारण इतिहास रंगीन बन जाता है, सच्ची बात को छिपा लेता है। पर, ऐसी बात सच्चे साहित्य में नहीं मिलती। सच्चा साहित्यकार न तो राजाश्रित मात्र होता है और न धर्माश्रित मात्र। वह समाज का सजग प्रहरी होता है और सच्ची भावना से समाज का सही चित्रांकन प्रस्तुत करता चलता है। विश्वास न हो तो आइए, एक उदाहरण दूँ। आप जानते हैं कि तुलसी धर्माश्रय की ओट में साहित्य-रचना कर रहा था। उसे समाज से अधिक अपनी भक्ति-भावना की ही चिन्ता होगी। पर, फिर भी उसने समाज का चित्रांकन किया है। देखिए, यह चित्र—

'खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि, बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविकाविहीन लोग सीधमान सोच बस, कहैं एक एकन सों कहाँ जाइ का करी ॥'

है न समाज का चित्र! और, अब उलट जाइए उस समय के इतिहास को। अकबरी दरबार के इतिहास-लेखकों द्वारा लिखित तत्कालीन इतिहास-ग्रन्थों में तत्कालीन शासन की सभी बातें तो मिलेंगी, पर ऐसे चित्र न मिलेंगे। अब जरा सोचिए, क्या समाज का सच्चा चितेरा इतिहास है? नहीं। समाज का

सच्चा चित्रांकन करने वाला साहित्य ही होता है। इतिहास में ही नहीं, साहित्य में भी। रावण, युद्धिष्ठिर, नल इत्यादि के समय के सामाजिक चित्र अब हमें कहाँ मिलते हैं? अब तो हो गया होगा विश्वास आपको कि समाज का खाद्य-पानी साहित्य के लिए बेकार नहीं जाता है। साहित्य समाज का नमक ही नहीं खाता, नमक खाने का मूल्य भी चुकाता चलता है, भले इतिहास 'नमकहराम' निकल जाय। इसी प्रसंग में एक और बात विचारणीय है। तुलसी द्वारा अंकित तत्कालीन समाज के चित्र से आज की सामाजिक स्थिति की तुलना कर जाइए। दोनों में एक अजीब समता मिलेगी। हाँ, यदि अन्तर होगा भी तो मात्र मात्रा का। तात्पर्य यह कि साहित्य ही हमें एक समाज की विभिन्नकालीन स्थितियों में तुलना करने के लिए सामग्री प्रदान करता है। ऐसे तौलनिक अध्ययनों के द्वारा ही समाज-सुधार के लिए बनने वाली योजनाओं में हम ऐसे सूत्र पकड़ सकेंगे जिनसे हमारी समस्याएँ दूर हो सकें।

जहाँ समाज की आधारशिला पर साहित्य अपना महल खड़ा करता है, वहीं यह अपने महल में समाज को सुरक्षित रूप से रखने का दावा भी करता है। संसार में साहित्य के अलावा ऐसा कोई दूसरा साधन नहीं है, जिसके द्वारा समाज का पूरा-पूरा आकलन सम्भव हो। प्रत्येक युग में कतिपय मान्यताएँ पिछली मान्यताओं से बिल्कुल भिन्न होती हैं। युगविशेष की मान्यताओं, प्रवृत्तियों, धारणाओं का सही अंकन तत्कालीन साहित्य ही करता है। इस प्रकार, युग-युग के रक्षित और संचित साहित्य में समाज के युग-युग का इतिहास ही छिपा होता है। जब जिसे आवश्यकता होती है, जिस युग की आवश्यकता होती है, उस युग की रचना का वह अध्ययन कर चलता है। इस प्रकार, पाठक किसी भी युग का सच्चा ज्ञान प्राप्त कर लेता है। अस्तु, युगों की रीति-नीतियों के संरक्षण का कार्य साहित्य द्वारा ही होता है। यह कार्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। साहित्य के अन्य महत्त्वों में यह महान् महत्त्व ही माना जायगा। इसी के आधार पर लोग साहित्य को समाज का दर्पण भी कहते हैं। साहित्य समाज के दर्पण का काम तो करता अवश्य है, पर दर्पण है नहीं। दर्पण में वस्तु बिल्कुल उसी रूप में प्रतिबिम्बित होती है। पर, जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है, साहित्य में समाज का बिल्कुल वही रूप—यथार्थ रूप ही चित्रित नहीं होता है, अपितु समाज कुछ फूले-पिचके रूप में ही—आदर्श रूप में चित्रित होता है। यदि साहित्य में समाज का मात्र यथार्थ चित्रांकन ही प्रारम्भ हो जाय तो सम्भवतः वह सामयिकता के भार से ही आक्रान्त हो जायगा। सामयिकता का आग्रह तो साहित्य में होना चाहिए, पर दुराग्रह नहीं। यदि साहित्यकार सामयिकता के साथ साहित्य में दुराग्रह करता है, तो वह साहित्य बाजारू और फूहड़ हो जाता है, स्थायित्व नहीं

प्राप्त करता है। इसी से साहित्य में स्थायित्व लाने के निमित्त साहित्यकार यथार्थ के साथ आदर्श को भी अवश्य ग्रहण कर चलता है।

साहित्य सामाजिक विचारों, भावों और संकल्पों का वाङ्मय है। चूँकि इसमें समाज की गतिविधियों का पूर्ण चित्रण होता है, इसी से साहित्य के अध्ययन मात्र से ही हमें किसी भी समाज का पूर्ण परिचय मिल जाता है। साहित्य चाहे अपना हो या पराया, देश का हो या विदेश का—यह अपने में सामाजिक चित्रों से ही पूर्ण होता है।

आज के भौतिकतावादी युग में विज्ञान के बढ़ते चरण को देखकर कतिपय आलोचक ऐसा भी कहने लगे हैं कि समाज में अब साहित्य का स्थान नहीं रहा। साहित्य का युग बीत गया है। साहित्य की जगह अब विज्ञान प्रतिष्ठित हो चुका है। इस युग में साहित्य की चर्चा छेड़ना समाज को शताब्दियों पीछे कर देना है। वस्तुतः यह कथन निस्सार है। साहित्य का युग सदा से रहा है और सदा रहेगा भी। विज्ञान ने हमें तलवार, तोप, बन्दूकें दी हैं। इसने हमें वायुयान-भेदी अस्त्र दिये हैं। राकेट आदि भी इसी की देन हैं। पर, क्या इन अस्त्र-शस्त्रों की शक्ति के आगे साहित्य की शक्ति कमजोर हो गयी है? मैं तो कहूँगा कि इन अस्त्र-शस्त्रों के आविष्कार के पूर्व साहित्य जितना शक्तिमान् था, उतना ही शक्तिमान् आज भी बना हुआ है। इसकी शक्ति में तनिक भी परिवर्त्तन नहीं हुआ है। जरा, भौतिक अस्त्र-शस्त्रों की शक्ति से साहित्य की शक्ति की तुलना कर जाइए। इससे सबसे पहली बात हमारे सामने यही आती है कि प्रथम प्रकार की वस्तुओं की शक्ति अस्थायी विजय लाती है, पर दूसरी शक्ति विजय में स्थायित्व तो लाती ही है, स्थायी विजय भी प्राप्त करती है। तोप, तलवार और बन्दूकों से हम किसी के ऊपर मात्र शारीरिक विजय ही प्राप्त करते हैं, उसके हृदय पर हमारा आधिपत्य नहीं हो पाता है। विजय उस समय तक स्थायित्व नहीं प्राप्त करती, जब तक विजित का हृदय न जीत लिया जाय। साहित्य द्वारा हम ऐसी ही विजय पाते हैं। इससे हम किसी व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र का हृदय ही जीतते हैं। एक बार हृदय पर प्रभाव डाल लेने के पश्चात् पुनः हार खाने की बात सोची भी नहीं जा सकती। अस्तु, यहाँ स्पष्ट रूप से कहा जायगा कि साहित्य ही हमें ऐसी शक्ति देता है जिसके बल पर हम दूसरों के हृदय को अपना बना लेते हैं।

साहित्यकार क्रान्तिदर्शी होते हैं। युग की अनुभूतियों का चित्रण इनका प्रमुख कर्म होता है। पर, प्रत्येक युग में सभी साहित्यकारों में समान क्षमता नहीं होती है। प्रत्येक युग में एक महान् साहित्यकार होता है, जो युगस्रष्टा के साथ ही भविष्यद्रष्टा होता है। वह भविष्य की कल्पना करता है और उसी के आधार पर अपनी रचनाओं में समाज के लिए एक आदर्श स्थापित करता है, जिस पर लोग

चल पड़ते हैं। भारत में वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी इत्यादि ऐसे ही साहित्यकार हुए हैं। आर्य-अनार्य-सभ्यताओं में टकराहट के कारण जो गत्यवरोध सामने आया, उसे ध्यान में रखकर आदिकवि वाल्मीकि ने रामायण की रचना कर भारतीय जीवन में कर्मठता प्रदान की। यही कर्मठता जब धीरे-धीरे अति की ओर उन्मुख होती गयी तो महाकवि कालिदास ने अपनी रचनाओं द्वारा समाज को रससिक्त किया। इस रससिक्तता की अतिशययिता के कारण धीरे-धीरे भारतीय जीवन विलासी होता गया। परिणामतः हम यवनों से आक्रान्त हुए। भारत में मुसलमानी शासन का सूत्रपात हुआ। इस्लामी संस्कृति का भारत की रससिक्त कर्मठ संस्कृति के साथ द्वन्द्व प्रारम्भ हुआ। इसी समय तुलसी ने भारतीय जनता की रससिक्त कर्मठता को भावना देकर प्रसरणशील बनाया। आधुनिक काल तक आते-आते हमारा सम्पर्क पश्चिमी सभ्यता से हुआ। इस सम्पर्क में हमारे तीनों प्राकृतिक तत्त्व बिखर गये। हमारा जीवन एक बार पुनः विशृंखल हो उठा। ऐसी स्थिति में हमारा सामाजिक जीवन आवश्यक हो उठा था। तभी आए प्रसादजी और इन्होंने अपनी 'कामायनी' में इच्छा, क्रिया और ज्ञान के रूप में प्रायः उन्हीं तीनों तत्त्वों को एकत्र कर मानव-विकास को मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने का भार सँभाला। तात्पर्य यह कि महान् साहित्यकार अपनी रचना द्वारा समाज के बिखरे सूत्रों को एकत्र कर पुनः नयी गति प्रदान करता है, जिससे समाज उचित रूप में आगे चलता रहता है। इस प्रकार का नियमन साधारण साहित्यकार नहीं करता। सामान्य साहित्यकार के वश की बात यह है भी नहीं। यह काम प्रत्येक समय होता भी नहीं है। ऐसे साहित्यकारों की अपेक्षा समाज कभी-कभी करता है।

सामान्य रूप से कहा जायगा कि साहित्य समाज के हितों की रक्षा करता है। जब समाज किसी अत्याचारी अथवा विदेशी शासक द्वारा पदाक्रान्त होता है, तो वैसी स्थिति में केवल साहित्य ही ऐसा साधन बच जाता है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी भावनाओं को प्रसरणशील बनाता है तथा पुनः समाज का उद्धार करने में समर्थ होता है। यदि भारतीय समाज की सभी वस्तुएँ नष्ट हो जायँ, कुछ भी शेष न बचे, पर वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसी, सूर इत्यादि बचे रह जायँ तो समाज को पुनः संघटित कर लिया जायगा। इसका एकमात्र कारण यही है कि इन्हीं कवियों में भारतीय आत्मा का साक्षात्कार होता है। भारत की समस्त रीति-नीति इनकी रचनाओं में उपलब्ध है। औरंगजेबी शासन के अत्याचारों के विपरीत शिवाजी को तलवार सँभालने के लिए किसने उद्‌बुद्ध किया? भूषण के गीतों ही ने न! आधुनिक युग में भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम के लिए किसने आह्वान किया? राष्ट्रकवियों ही ने न! भारतेन्दु ने राष्ट्रीय गीतों की जो परम्परा प्रारम्भ की, उसका पल्लवन किया माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा

'नवीन', रामनरेश त्रिपाठी, सुभद्राकुमारी चौहान और रामधारी सिंह 'दिनकर' ने। इनके गीतों ने ही भारतीय समाज को जगाया। राष्ट्र की आजादी के निमित्त भारतीयों को इन्होंने ही आगे बढ़ाया। औरों की बात छोड़िए, पड़ोसी पाकिस्तान को देखिए। पाकिस्तान जैसा राष्ट्र किसने बनाया? स्पष्ट है कि साहित्यकारों ने ही पाकिस्तान जैसे राष्ट्र का निर्माण किया है। अस्तु, यह निर्विवाद रूप से कहना पड़ता है कि साहित्य राष्ट्र का नियामक है। यह समाज का सजग प्रहरी है। विपत्तिग्रस्त समाज को ऊपर उठाने का कार्य साहित्य सदा से करता आया है। इसमें ऐसी शक्ति निहित है कि यह सोये सिंह को जगाकर उसकी शक्ति को उद्बुद्ध कर देता है।

साहित्य शब्द की व्याख्या करते हुए विचारकों ने 'हितं सन्निहितं तत् साहित्यम्', 'सहितं रसेन युक्तम् तस्य भावः साहित्यम्', 'अभिहितं मनसा महर्षिभिः तत् साहित्यम्' इत्यादि वाक्यों को दुहराया है। इससे हित-साधन, मानव-मनोवृत्तियों की तृप्ति अथवा मानव-मनोवृत्तियों का उन्नयन आदि ही अर्थ लिया जाता रहा है। 'केवल मनोरंजन कवि का कर्म नहीं होना चाहिए' कहकर भी प्रकारान्तर से इसी बात की पुष्टि की गयी है। यहाँ स्पष्ट है कि साहित्य का हित-साधन समाज के लिए ही होता है। हित-साधन के निमित्त अन्य प्रकार के विधान भी समाज में मिलते हैं; पर साहित्य सर्वोपरि माना जाता रहा है। इसका कारण यही है कि साहित्य द्वारा हित-साधन की एक विशेष पद्धति काम में लायी जाती है। आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रयोजनों की चर्चा करते हुए 'शिवेतरक्षतये' के साथ 'कान्तासम्मितयोपदेशयुगे' की भी बात कही है। यदि समाज के अमंगल का नाश न हो, तो समाज ही नष्ट हो जायगा। अमंगल के नाश के लिए नीति और शास्त्र उपदेश और ताड़ना को ही अपनाते हैं। ये पद्धतियाँ कभी-कभी असफल भी हो जाती हैं। पर, साहित्य की पद्धति इन सबों से भिन्न है। यह मधुरता और कोमलता से सामाजिकों पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ जाता है। तीती दवा कोई नहीं पीना चाहता। इसी से शर्करावेष्टित गोलियाँ लोगों को दी जाती हैं। साहित्य भी हमपर शर्करावेष्टित गोलियों (Sugar-coated pills) की तरह अपना प्रभाव डालने में समर्थ है। इस दृष्टि से भी साहित्य समाज का हित-साधन कर चलता है।

समाज और साहित्य के सम्बन्धों की चर्चा करते समय प्रायः आज यह भा विचारणीय है कि इन दोनों का आपसी सम्बन्ध कैसा हो। जब तक इस प्रश्न पर विचार नहीं हो जाता, तब तक यह भी नहीं कहा जा सकता कि साहित्य में बिम्ब-ग्रहण किस प्रकार का होगा। साहित्य का आधार कल्पना है। अस्तु, यही कहना उत्तम होगा कि समाज से साहित्य का सम्बन्ध रागात्मक ही अधिक होना चाहिए, राग के अभाव में संघटन के सूत्र बिखर जायँगे। समाज में भी रागतत्त्व की प्रधानता

प्रारम्भ से ही लक्षित होती है। आदिम समाज में प्रकृति की निकटता राग की सूचिका ही है। साहित्य में इसकी अभिव्यक्ति वैदिक युग से ही होती आयी है। वेदों में उषा, संध्या आदि के सूक्त इसी के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। हाँ, इतना तो निश्चय है कि सर्वत्र राग की एकतानता एक रूप में नहीं मिल सकती है। इसका कारण यही है कि समाज का जीवन जितना सरल होता है, साहित्य में भी उतने ही सरल भावों की रागात्मक अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार, सामाजिक जीवन के जटिल हो जाने पर साहित्य में भी जटिल अभिव्यक्ति पनप जाती है। इसी से जितने प्रकार के भाव समाज में आते हैं, उतने ही प्रकार की व्यापक अनुभूतियों का बिम्बग्रहण साहित्य में होता चलता है।

साहित्य में सामाजिक रूपों की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में भी मतभेद दीखता है। मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अनुयायी, तथाकथित प्रगतिवादी आलोचक आज समाज के यथार्थ रूप की अभिव्यक्ति पर ही जोर दे रहे हैं। ये किसी दूसरी छाया का स्पर्श भी नहीं चाहते हैं। ये आर्थिक व्यवस्था को ध्यान में रखकर ही साहित्य की व्याख्या करते दिखते हैं। पर, वस्तुतः अर्थमात्र ही जीवन का सत्य नहीं है। ऐसी अवस्था में साहित्य में सामायिकता का रूप इतना प्रबल हो उठता है कि वह बाजारू और फुटपाथ का साहित्य मात्र होकर रह जाता है। वैसी रचनाओं में स्थायित्व नाम की वस्तु बिलकुल नहीं होती है, सम्पूर्ण रचना पाण्डु रह जाती है। इसी से, इस मत के विरोधी साहित्य में सौन्दर्यशास्त्र और रचनाविन्यास को ही प्रमुखता देते हैं। ये साहित्य को ललित साहित्य अथवा शक्ति-वाङ्मय के रूप में ही स्वीकार करते हैं।

साहित्य आत्म-अभिव्यक्ति का सफल माध्यम है। मनोवैज्ञानिकता पर ध्यान देते हुए इतना कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रत्येक साहित्यकार अपने मानस-पुत्र को—साहित्य को – संसार और समाज के सम्मुख रखकर उसकी प्रशंसा-अभिशंसा सुनना-जानना चाहता है। ऐसी स्थिति में भी साहित्यकार समाज को छोड़ता नहीं, उसे साथ ही ले चलता है। अस्तु, साहित्य और समाज के सम्बन्धों पर विचार करते हुए यही कहना उत्तम होगा कि दोनों के उचित सामंजस्य में ही साहित्य की सफलता निहित है। आज हममें कुछ ऐसी भी विचारधारा पनप रही है कि समाज एक हौआ है। वस्तुतः, समाज को हौआ समझने की भावना अनुचित है। कोई भी साहित्य समाज को छोड़कर नहीं जी सकता। स्वस्थ साहित्य के निर्माण के लिए समाज की आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक इत्यादि भावनाओं का ग्रहण आवश्यक है। इसे किस रूप में किस हद तक ग्रहण किया जाय, इसका औचित्य-निर्वाह साहित्यकार के दायित्व पर ही निर्भर करता है। इनका ग्रहण जब औचित्य की सीमा पार कर जाता है, तभी साहित्य प्रचार की वस्तु हो जाता है।

उपर्युक्त वस्तुओं का साहित्य में ग्रहण समाज की गतिविधियों से अनुप्राणित होता है। समाज का सत्य गत्यात्मक सत्य होता है। यह युगविशेष में परिवर्त्तित होता रहता है। साहित्य भी सदा गत्यात्मक सत्य को ही अपनाता है।

निष्कर्षरूप से कहा जायगा कि समाज ही वह आधारभूमि है जिस पर साहित्य का भवन निर्मित होता है, साहित्यरूपी वृक्ष अपने शाखामय विस्तार के लिए समाज से खाद्य और पानी ग्रहण करता है। दोनों के सम्बन्ध अटूट हैं।

३

सत्यं शिवं सुन्दरम्

[मान्यता—काव्य का सत्य—शिव : हित—सुन्दर और सत्य—सुन्दर : वस्तु या द्रष्टा]

भारतीय जीवन में तीन की संख्या महत्त्वपूर्ण है। इसी से हमारे यहाँ त्रिदेव के साथ प्रस्थानत्रयी का विशेष महत्त्व है। साहित्य-जगत् में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' त्रिदेव की तरह ही हैं। प्रत्येक साहित्यकार इस त्रिदेव पर अर्घ्य चढ़ाता ही है। बिना इन पर अर्घ्य चढ़ाए कोई सहित्यकार नहीं रहता है। आधुनिक आलोचना-साहित्य में इन तीनों शब्दों को लेकर विविध प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हैं। कभी-कभी इन तीनों गुणों को शास्वत बतलाकर चिरन्तन सत्य अथवा शास्वत सौन्दर्य की खोज की जाती है और सामान्यतः यह माना जाता है कि साहित्य में हम सत्य, शिव और सुन्दर नामक जिन तीन गुणों की अपेक्षा करते हैं, वे जीवन से भिन्न किसी अन्य धरातल की वस्तु हैं। प्रायः इसे साहित्यशास्त्र का सूत्रवाक्य भी मान लेने की बात की जाती है। वस्तुतः, यह सूत्रवाक्य यूनानी दार्शनिक अरस्तू के 'The truth, the good, the beautiful' का अनुवाद है। सर्वप्रथम इसका प्रयोग महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने बंग-साहित्य में किया था। हिन्दी में यह वहीं का आयात है। है तो यह सूत्र अभारतीय, पर अभारतीय होना ही सब-कुछ नहीं है। असल बात है अभिप्राय। यदि अभिप्राय उत्तम है तो इसे ग्रहण करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिए। आज यह वाक्य हिन्दी-साहित्यशास्त्र में इस प्रकार घुल-मिल गया है कि यह पूर्णतः अपना हो गया है। इसकी व्यापकता बढ़ती ही जा रही है। इन शब्दों के साथ कौन-सी मान्यताएँ जुड़ी हैं, यह अब तक प्रायः अस्पष्ट-सा ही है। कभी कीट्स की इस पंक्ति को—'A thing of beauty is joy for ever' उद्धृत कर, सुन्दर को आनन्द का पर्याय मान लिया जाता है और कभी सत्य को यथार्थ का पर्याय मानकर काव्य में यथार्थवाद की अपेक्षा की जाने लगती है। कभी 'The good' अथवा शिव को इतनी दूर तक खींचा जाता है कि उसे आधुनिक प्रगतिशील साहित्य में सामान्य जनता के कल्याण की भावना तक ले जाया जाता है। वस्तुतः, ऐसे विवेचन एकांगी दृष्टिकोण के ही परिणाम कहे जायँगे।

यद्यपि इन मान्यताओं की अलग-अलग स्थापना प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र में नहीं की गयी है, फिर भी रस के अन्तर्गत ये तीनों गुण अवश्य वर्तमान हैं। काव्य

के लोकोत्तरत्त्व और इसकी आनन्दस्वरूपता में ही तीनों गुण अन्तर्भुक्त हैं। चूँकि उदात्तता प्राचीन साहित्य का लक्ष्य था, इस कारण ये गुण उसके अन्तर्गत स्वभावतः आ जाते हैं। कुछ विचारकों का मत है कि सत्य और आनन्द का समन्वय 'सच्चिदानन्द' के रूप में ही भारत में हुआ है। पुनः शिवम् और सुन्दरम् का स्पष्टीकरण 'किरातार्जुनीयम्' में हुआ ही है। 'हितं मनोहारि लच दुर्लभं वचः' में यही भाव है। इसी प्रकार, गीता के वाक्य— 'अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियं हितं च यत्' में भी वाणी के लिए सत्य, प्रिय और हितकर होना कथित है। तात्पर्य यह कि सत्यं शिवं और सुन्दरम् की भावना का विवेचन यद्यपि भारतीय साहित्य-शास्त्र में सूत्रवाक्य के रूप नहीं हुआ है, फिर भी ये गुण हमारे यहाँ अपरिचित नहीं रहे हैं। आधुनिक साहित्य में इन तीनों गुणों का इतना अधिक विवेचन हो रहा है कि इन्हें अलग-अलग निरूपित करने की आवश्यकता हो गयी है।

तो आइए, पहले काव्य के सत्य पर विचार करें। कुछ विचारक प्रायः यही स्वीकार नहीं करते हैं कि काव्य में सत्य भी होता है। ऐसे लोगों में अर्थवादी विचारक कॉडवेल का नाम लिया जायगा। ये कविता को मधुर भ्रम से अधिक मानते ही नहीं हैं। कलावादी विचारक क्रोचे, ब्रेडले आदि काव्य के सत्य को यथार्थ से च्युत नहीं, तो पूर्णतः भिन्न ही मानते रहे हैं। और, वैज्ञानिकों की मत पूछिए। ये लोग तो काव्य को कल्पनाविलास से अधिक मानते ही नहीं हैं। तात्पर्य यह कि आज स्वयंसिद्ध रूप में यह भी अमान्य ही है कि काव्य में सत्य होता है।

पर, काव्य में सत्य का अभाव मानना भी एक भ्रम ही है। काव्य में सत्य होता तो अवश्य है, पर उसका स्वरूप-निर्धारण थोड़ा कठिन अवश्य है। वस्तुतः इस संसार में सत्य के विभिन्न रूप प्रचलित हैं। लोकमत यथार्थ को ही सत्य मानने का पक्षपाती है। वैज्ञानिकों के अनुसार सत्य का अर्थ है ध्रुव, अटल, निश्चित और शास्वत। विज्ञान तथ्यपूजक होने के कारण 'सत्यं ब्रूयात्' का ही प्रतिपादन करता है, 'प्रियं ब्रूयात्' को वह छोड़ देता है। शिव और सुन्दर की उपेक्षा विज्ञान सदा से करता आया है। वह ठोस सत्य का ही प्रतिपादक है। इसी से उसका सत्य स्थूल और भौतिक होता है। वह तार्किक अन्वेषण और नग्न सत्य का उपासक है। भले ही इस प्रकार का सत्य संसार के लिए संहारक हो; किन्तु इसकी चिन्ता वह नहीं करता है।

दर्शन के क्षेत्र में सत्य का अर्थ इससे भी कुछ भिन्न है। दर्शन का सत्य भी हमारी आत्मा का स्पर्श नहीं करता, मात्र बौद्धिक जगत् को प्रभावित करता है। दार्शनिक चिरसत्य का खोजी है। इसी प्रकार, सामान्य जनता का सत्य लोक-परम्परा पर निर्भर करता है और इतिहास का सत्य घटनाओं, तिथियों आदि के सही-सही अंकन में ही सीमित रहता है। आज तक का इतिहास सामान्य जनता का इतिहास

नहीं कहा जा सकता। वह मात्र एक वर्ग-विशेष के जीवन की प्रमुख घटनाओं का ही वर्णन प्रस्तुत करता है। अस्तु, उसका सत्य सीमित होता है। धर्म में सत्य से अधिक शिव को ही महत्त्व दिया जाता है। यहाँ सत्य शिव में ही प्रतिष्ठित होता है। सामान्य रूप से कहना चाहें तो कह सकते हैं कि इस संसार में सत्य की व्याख्या करने वाले चार वर्ग के लोग होते हैं—वैज्ञानिक, दार्शनिक, इतिहासकार और साहित्यकार। इनमें साहित्यकार का सत्य सबसे भिन्न होता है। वैज्ञानिक का सम्बन्ध भौतिक सत्य की उपलब्धि से है और दार्शनिक का सम्बन्ध मूलतः पारलौकिक सत्य अथवा मस्तिष्क से है। सत्य के नाम पर इतिहासकार मात्र अतीत के गड़े मुर्दों का पोस्टमार्टम कर चलता है, किन्तु साहित्यकार के सत्य का क्षेत्र इनसब से अधिक विस्तृत है। साहित्यकार लोक के साथ परलोक, भौतिक के साथ आध्यात्मिक, अतीत के साथ वर्त्तमान, वर्त्तमान ही नहीं, भविष्य की व्याख्या भी सम्भाव्य सत्य के रूप में कर चलता है। यह हममें संवेदनशीलता और प्रेषणीयता प्रदान करता है।

साहित्य में सत्य का विवेचन कल्पनाजन्य होता है। कल्पना और सत्य दो विरोधी वस्तुएँ हैं। साहित्यकार की यही तो सबसे बड़ी सफलता है कि वह दो विरोधी तत्त्वों को एक साथ उपस्थित कर सामंजस्य उत्पन्न कर देता है। यहाँ कल्पना सत्य का गला नहीं दबाती, अपितु सत्य को प्रेषणीय बनाती है। सम्भवतः इसी से तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहा करते थे कि "सत्य की पूजा सौन्दर्य में है। विष्णु की पूजा नारद की वीणा में है।" भारतीय जीवन में साहित्य की अधिष्ठात्री देवी हैं सरस्वती। हंस उनका वाहन है। हंस नीर-क्षीर-विवेकी माना गया है। वस्तुतः यह नीर-क्षीर-विवेक ही साहित्य के सत्य का प्रतिपाद्य है जिसकी प्रतिष्ठा सुन्दर के साथ—सरस्वती की वीणा के साथ—हुई है। वस्तुतः साहित्य का सत्य कल्पना-तत्त्व अथवा सुन्दरतत्त्व को छोड़कर चल ही नहीं सकता। इसी से यहाँ 'सत्यं ब्रूयात्' के साथ 'प्रियं ब्रूयात्' तो है ही, 'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' कहकर इसकी अनिवार्यता की ओर भी संकेत किया गया है।

साहित्य का सत्य किसी तथ्यविशेष का रागात्मक प्रेषण है। इसमें सम्भावना पर अधिक ध्यान दिया जाता है। विज्ञान में दो और दो चार होंगे ही, साहित्य में दो और दो एक भी हो सकते हैं, दो भी हो सकते हैं और कुछ अन्य भी। वहाँ अंक के दायें शून्य की वृद्धि से दसगुनी शोभा ही बढ़ती है, पर साहित्य में तिय-लिलार की बिन्दी अगणित शोभाकारक होती है। तभी तो वर्ड्सवर्थ कहा करता था— "To me the meanest flower that blows can give thoughts that do often lie too deep for tears"। चन्द्रमा होता है एक ही, पर कोई इसे अच्छा कहते हैं और कोई बुरा। कभी यह द्विजराज होकर भी कसाई का कार्य करता है, तो कभी कलंकी होकर भी शीतलता, सौम्यता और

सान्त्वना प्रदान करता है। ये दोनों प्रकार के वर्णन यहाँ सत्य ही होते हैं।

भारतीय शास्त्रों में 'कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू' तथा 'कविरेव प्रजापतिः' कहकर कवि को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। ऐसी अवस्था में यह कैसे आशा की जाय कि कवि असत्य-भाषण करेगा। यहाँ तो स्पष्ट रूप से घोषणा की गयी है कि 'न कवेः वर्णनं मिथ्या कविः सृष्टिकरः परः।' तात्पर्य यह कि कविकर्म को मिथ्या समझना भूल है। वस्तुतः काव्य जीवन की अभिव्यक्ति है; परन्तु साथ ही वह पुनः सृष्टि भी है। अतः काव्य अथवा साहित्य के सत्य का जीवन के सत्य से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। हाँ, जीवन के सत्य को यहाँ जीवन का यथार्थ समझना भ्रामक होगा। यथार्थ अथवा वास्तविक किसी एक काल अथवा देश की एक ही परिस्थिति में उपलब्ध होने वाले जीवन का स्वरूप है। किन्तु, जीवन का सत्य वस्तुतः काल, देश और परिस्थिति से प्रभावित होते हुए भी उससे परे रहता है। वह सार्वकालिक विश्वजनीन और व्यापक मानवता की सामान्य प्रवृत्तियों और भावनाओं का संकलन है, जिसके आधार पर मानवता टिकी रहती है और विकसित होती है। जीवन का यह सत्य व्यापक और सार्वकालिक होते हुए भी नितान्त आवश्यक स्थिर वस्तु नहीं है। चूँकि जीवन गतिपूर्ण है और परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए हम अपनी जीवन-यात्रा में अग्रसर होते है, इसलिए जीवन का सत्य भी सम्भावित और गत्यात्मक हुआ करता है। जब कभी यह गत्यात्मक सत्य जड़ अथवा शिथिल होने लगता है, तभी जीवन में विकृति आने लगती है। तब इस विकृतिपूर्ण जीवन को फिर से सन्तुलित कर निर्मित करने का दायित्व साहित्य पर है। इसीलिए, जीवन की गतिहीन स्थितियों में उसके गत्यात्मक सत्य का उद्‌घाटन करके साहित्य जीवन की पुनः सृष्टि किया करता है। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि साहित्य का सत्य वह उदात्त वस्तु है, जो जीवन के गत्यात्मक सत्य के आधार पर कलात्मक रचनाओं में जीवन की पुनः सृष्टि प्रस्तुत करता है।

अनुभूति की पकड़ में आने वाली कोई भी वस्तु साहित्य का विषय बन सकती है। वस्तु के एक होने पर भी व्यक्तिभेद के कारण अनुभूतिभेद सम्भव है। इसी लिए हम पाते हैं कि एक ही वस्तु को आधार रूप में स्वीकार कर लेने पर भी अनुभूतिभेद के कारण विभिन्न कलाकारों ने विभिन्न प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास और गुप्तजी के राम एक होकर भी इसीलिए एक ही नहीं हैं; क्योंकि इन कवियों की अनुभूति के स्वरूप में हम भिन्नता पाते हैं। इसी से नाम, कथानक, घटना इत्यादि के साम्य के बावजूद प्रत्येक के राम का अपना व्यक्तित्व है, जो अपने विशिष्ट युग के उपकरणों से निर्मित है। काव्य के सत्य और जीवन के सत्य का यह महत्त्वपूर्ण भेद द्रष्टव्य है। कई बार इसकी उपेक्षा किये जाने पर भी विवरण की वर्णनात्मक पुस्तकों की रचना की गयी, जिसमें तथ्यनिरूपण तो

मिलता है, परन्तु अनुभूति के रूप में काव्य की आत्मा का अस्तित्व नहीं मिलता है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए अरस्तू ने भी काव्य में सामान्य सत्य पर ही विश्वास किया है,—"कवि का कर्त्तव्य कर्म जो कुछ हो चुका है, उसका वर्णन करना नहीं है; वरन् जो हो सकता है, जो सम्भाव्यता या आवश्यकता के नियम के अधीन सम्भव है, उसका वर्णन करना है।" (—काव्यशास्त्र, अनु० डॉ० नगेन्द्र)। सम्भाव्यता का तात्पर्य यह नहीं कि साहित्यकार असम्भव को भी सम्भव बना चले। नहीं, यहाँ तो विधान है कि 'असम्भाव्यं न वक्तव्यं प्रत्यक्षमपि दृश्यते।'

सत्य के चित्रण में साहित्यकार को छूट है—इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह चन्द्रगुप्त को औरंगजेब का बेटा मान ले। वस्तुतः यहाँ छूट का तात्पर्य मात्र कवि-रूढ़ि तक ही सीमित समझना चाहिए। नारी के पदाघात से अशोक को फूलते किसी ने न देखा है और न यह यथार्थ ही है; फिर भी यह कवि-रूढ़ि है, जिसे साहित्य के सत्य में माना ही जायगा। इसी प्रकार निम्नांकित छन्द की परीक्षा—

> 'न्हात जमुना में जलजात एक देख्यौ जात, जाको अध-उरध अधिक मुरझायो है।
> कहै रतनाकर उमहि गति स्याम ताहि, बास-बासना सौं नैकुं नासिका लगायो है।
> त्यौंहि कछु घूमि झूमि बेसुध भये के हाय, पाथ परे उखरि अभाय मुख छायो है।
> पाए घरी द्वैक में जगाइ ल्याइ ऊधौ तीर, राधा नाम कीर जब औचक सुनायो है।

इतिहास के आधार पर नहीं की जा सकती है; किन्तु इसमें काव्य का सत्य है। मुरझाए पद्म को सूँघने से पद्ममुखी पद्मिनी राधा की स्मृति, सुप्त प्रेम की जाग्रति, असमर्थ कृष्ण का अकस्मात् उत्पन्न प्रेमावेग को सहन न करने के कारण मूर्च्छित हो जाना, कीर द्वारा राधा के नामोच्चारण आदि की सम्भाव्यता है। वस्तुतः यहाँ 'आए थे हरिभजन को, ओटन लगे कपास' की स्थिति सम्भावित सत्य के रूप में ही है। गो० तुलसी के 'निज जननी के एक कुमारा', 'मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता', 'पिता वचन मनतेउँ नहिं ओहू' इत्यादि की भी यही स्थिति है। नागमती की विरह-व्यथा को सुनकर पक्षी का सहानुभूति प्रकट करना यथार्थ भले ही न हो, पर उससे विरह की तीव्रता का मार्मिक चित्रांकन तो हुआ ही है। तात्पर्य यह कि काव्य के वर्ण्य प्रत्यक्ष रूप में अविश्वसनीय होकर भी असद् नहीं होते हैं। यहाँ काव्यगत सत्य औचित्य की सीमा में अवश्य रहता है। औचित्य के अभाव में काव्य रसहीन हो जायगा। यही काव्य का सत्य मिथ्या रूप धारण कर भी सुन्दरम् को साथ लिये चलता है। अस्तु, हम कहेंगे कि साहित्य का सत्य वह उदात्त वस्तु है जो देश, काल और परिस्थिति के आधार पर— जीवन के गत्यात्मक सत्य के आधार पर— कला की रचनाओं में जीवन की पुनः सृष्टि प्रस्तुत करता है।

सत्य के पश्चात् विचारणीय है शिव। साहित्य में शिवत्त्व का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय पौराणिक कल्पना कहती है कि शिव संहारक भी

हैं और स्रष्टा भी। वे आशुतोष हैं, नीलकंठ हैं और आनन्दस्वरूप भी हैं। वे नरमुंडों आदि के कारण कुरूप हैं, सर्प आदि के कारण अमंगल भी हैं, साथ ही अमृतमय चन्द्रमा और कलुषता को धोने वाली गंगा को धारण करने के कारण मंगलमय भी हैं। वस्तुतः शिव की कल्पना भारतीय तत्त्वचिन्तन की सबसे विलक्षण, मधुर और मंगलमय कल्पना है। रूपकों और प्रतीकों के माध्यम से शिव की जिस कल्पना को हमने कभी नटराज के रूप में, कभी अर्धनारीश्वर के रूप में और कभी मदनारि के रूप में अंकित किया है, वही लोककल्याणकारी मंगलमय आनन्दस्वरूप शिव भावना के रूप में साहित्य में अंकित किया जाता है। अतः शिवतत्त्व का अभिप्राय है मंगल, कल्याणभावना और आनन्द की सृष्टि। किन्तु, यह मंगल, कल्याण और आनन्द किसका ?। स्पष्टतः जीवन का, जीवन जो व्यष्टि और समष्टि के अविच्छिन्न ताने-बाने से बुना हुआ हमारा भौतिक स्वरूप है।

साहित्य का शिवतत्त्व ही गीता में 'हिततत्त्व' के नाम से कथित है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने निष्काम कर्म द्वारा लोक-संग्रह को ही प्रश्रय दिया है। भारतीय ग्रन्थों में शिवतत्त्व अथवा हिततत्त्व की महत्ता बारम्बार दुहरायी गयी है। स्वयं गोस्वामी तुलसी ने भी 'कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कहँ हित होई' अथवा 'कलिमलहरनि मंगलकरनि तुलसी कथा रघुनाथ की' कहकर साहित्य में शिवतत्त्व की महत्ता स्पष्ट की है। साहित्यशास्त्रियों में आचार्य मम्मट ने साहित्य के प्रयोजन में 'शिवेतरक्षतये' और 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' को स्थान देकर जो कुछ कहना चाहा है, उसका भी तात्पर्य यही है कि काव्य में मंगल की भावना आवश्यक है। यह मंगल अथवा शिव-भावना साहित्य के सत्य से अलग कर नहीं देखी जायगी।

साहित्य में शिव-भावना को लेकर आज कई प्रकार की भ्रांतियाँ भी देखने को मिल रही हैं। मंगल का अर्थ कान्तासम्मित उपदेश तो लिया जायगा, किन्तु कोरा उपदेश नहीं। वस्तुतः अतिवादिता यहाँ त्याज्य है। काव्य यदि नीतिशास्त्र अथवा आचार-शास्त्र हो जाता है, तो वह मर जायगा। माधुर्य और लालित्य के अभाव में साहित्य प्रचार की वस्तु हो जायगा। वस्तुतः कलाकार किसी विशिष्ट रीति, नीति का प्रचारक नहीं होता, वह सत्य और शिव का संवाहक होता है।

आज के युग में 'कला के लिए कला' का नया सिद्धान्त चल पड़ा है। इसी के आधार पर कुछ लोग साहित्य में सत्य के साथ शिव की अवहेलना करना चाहते हैं। वस्तुतः यह दृष्टिकोण भी अतिवादी है। ऐसी स्थिति में संसार की श्रेष्ठतम कृतियों से हमें हाथ धोने पड़ जायँगे। अस्तु, कहा जायगा कि कला सत्य और शिव की छोड़ नहीं सकती, इसका तात्पर्य यह नहीं वह सुन्दर का गला दबा देगी। वस्तुतः सत्य और शिव, जिन्हें कुछ हद तक नैतिकता ही कहें, साहित्य के लिए

कसौटी हैं; फिर भी साहित्य को कलात्मक होना अनिवार्य है।

साहित्य में शिवतत्त्व है तो महत्त्वपूर्ण, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह भी सत्य की तरह ही एक परिवर्त्तनशील धारणा है। यह सही है कि शिव से हमारा तात्पर्य मानव-कल्याण ही रहा है; परन्तु मानव-कल्याण की धारणा में परिवर्त्तन होते रहे हैं। प्रत्येक युग ने अपनी धारणा और आवश्यकता के अनुरूप जीवन का परमपुरुषार्थ भिन्न माना है। कभी धर्म काम्य रहा है और कभी अर्थ। कभी काम को ही प्रमुखता मिली है और कभी मोक्ष ही सब कुछ समझा गया है। इसके साथ यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि सम्पूर्ण मानव-समाज का समतोल विकास न हो सकने के कारण श्रेणिगत तथा स्तरीय भिन्नता भी सर्वदा वर्त्तमान रही है और प्रत्येक श्रेणी एवं स्तर ने अपने आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न लक्ष्य घोषित किये हैं। वर्त्तमान युग में वैयक्तिक के बदले सामूहिक कल्याण की भावना जोर पकड़ रही है। ऐसी स्थिति में शिव की भावना में आमूल परिवर्त्तन भी सम्भव है। आज का साहित्यकार उपयोगितावाद पर अधिक जोर देना चाहता है—

'तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार।
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार॥'

साहित्य में शिव की प्रतिष्ठा साहित्यकार के विश्वास पर भी कुछ हद तक आधारित है। साहित्यकार की वैयक्तिक और सामाजिक भावना के द्वन्द्व को बिलकुल भुलाया नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में साहित्य क्या करे? क्या वह समाज का पिछलगुआ हो जाय? क्या अपनी विवेकबुद्धि को अलग कर दे? नहीं, यह तो उसकी आत्मप्रवंचना होगी। उसे नटराज बनना होगा, 'सत्यमेव जयते नानृतम्' का मन्त्र सामने रखना होगा। वह सत्य का गला घोंटकर शिव की प्रतिष्ठा नहीं कर सकता। सत्यानुभूति को साथ लेकर कुरूपता और अमंगल को सौन्दर्य और मंगल में बदल देना ही उसका कर्त्तव्य होगा।

नयी आलोचना में सत्य और शिव के पश्चात् सुन्दर को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वस्तुतः सुन्दर को सत्य और शिव से अलग कर देखना एक कष्ट-कल्पना है। इसीसे श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर कहा करते थे, 'मैं सुन्दर और सत्य को एक मानता हूँ।' तात्पर्य यह कि साहित्यगत सौन्दर्य सत्य और शिव को साथ लेकर चलता है। कीट्स के शब्दों में कहा जायगा कि सत्य ही सुन्दर है और सुन्दर ही सत्य है, "Truth is beauty and beauty is truth, that is all, ye ought to know." गेटे ने तो साहित्य के सौन्दर्य-बोध को मंगल में ही सन्निविष्ट कर दिया है, "The beautiful is higher than the good; the beautiful includes in it the good."

सामान्यतः साहित्यशास्त्री और साहित्य के विद्यार्थी सौन्दर्य को साहित्य

के प्राण के रूप में स्वीकार करते हैं। उनका तर्क है कि समाजसेवक का शिवं की भावना से और दार्शनिक का सत्यं से जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध साहित्य का सुन्दरं से है। यह मान लेने पर भी सौन्दर्य के स्वरूप एवं स्थानभेद की जटिलता को लेकर मतभेद रह ही जाता है। कई प्रकार के प्रश्न सामने आते हैं। क्या सौन्दर्य सर्वथा बाह्य तत्त्व है? क्या सौन्दर्य प्रेमतत्त्व है? क्या सौन्दर्य का नीति से कोई सम्बन्ध नहीं है? ऐसे प्रश्न सौन्दर्य को साहित्य के प्राण के रूप में स्वीकार करने में बाधक होते हैं। सौन्दर्य को सर्वथा समाजनिरपेक्ष स्वीकार करने वाले कलावादी आन्दोलन का खोखलापन अब स्पष्ट हो चुका है। अतः उसकी चर्चा बेकार है।

इसमें सन्देह नहीं कि सौन्दर्य की भूख मानव की मूल प्रवृत्तियों में से एक है। जिस वस्तु की ओर हमारा मन सहसा आकृष्ट हो जाता है अथवा काफी सोच-विचार के पश्चात् भी हम जिसपर मुग्ध हो उठते हैं, उसे हम सुन्दर के नाम से अभिहित करते हैं। यदि इस रूप में सौन्दर्य-चेतना को साहित्य का आधार मान लिया जाय, तो भी उसे देश-काल-निरपेक्ष तत्त्व नहीं माना जायगा। मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना विकासमान एवं परिवर्त्तनशील रही है। एक देश अथवा एक काल में सौन्दर्य का जो मानदण्ड होता है, वही मानदण्ड दूसरे के लिए स्वीकृत नहीं होता। तभी तो कभी सौन्दर्य-चेतना के नाम पर रूप-शिल्प पर आवश्यक रूप से ध्यान दिया जाता था, आज प्रयोगवादी कविता ने रूप-शिल्प के उस मुखौटे को उतार फेंका है। हो सकता है, कभी बाणभट्ट को 'शुष्कौ वृक्षः तिष्ठत्यग्रे' के बदले 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः' सुन्दर जँचा हो, किन्तु आज निराला की 'भिक्षुक' शीर्षक कविता ही सुन्दर जँचती है, जिसमें रूप-शिल्प का प्रायः अभाव ही है। यह ठीक है कि आज भी बहुधा एक-से प्रतीत होने वाले शब्द इस प्रसंग में व्यवहृत होते हैं; परन्तु उनके प्रेरक भाव एवं विचार वही नहीं रहते।

सौन्दर्य वस्तु में है अथवा द्रष्टा में, यह प्रश्न भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आध्यात्मिक विवेचक सौन्दर्य को व्यक्तिनिष्ठ ही मानते हैं, किन्तु भौतिकवादी विवेचक इसे वस्तुनिष्ठ मानते हैं। वस्तुतः बुद्धिमानों का मार्ग मध्यम ही होता है। अस्तु, कहा जायगा कि सौन्दर्य न तो सर्वथा व्यक्तिनिष्ठ है और न वस्तुनिष्ठ। कभी व्यक्ति का महत्त्व होता है तो कभी वस्तु का। एक ही वस्तु को देखकर व्यक्ति में उत्पन्न होने वाले भाव समान रूप में तीव्र नहीं होते। इससे द्रष्टाभेद के कारण सौन्दर्य के वस्तुनिष्ठ के साथ व्यक्तिनिष्ठ होने की बात स्पष्ट हो जाती है; किन्तु वस्तु के अभाव में सामान्यतः सौन्दर्य-चेतना का स्फुरण सम्भव नहीं है।

इसके साथ ही दृश्यजगत् और भावजगत् दोनों के सौन्दर्य का विवेचन साहित्य-शास्त्र में समान महत्त्व रखता है। बल्कि, संसार के महानतम साहित्यकारों ने दृश्य-सौन्दर्य की अपेक्षा भावसौन्दर्य—बाह्य की अपेक्षा आन्तर सौन्दर्य के उद्घाटन को ही

अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी की शृंगारकालीन कविता में दृश्यसौन्दर्य और भक्तिकालीन कविता में भावसौन्दर्य का ही अधिक अंकन हुआ है। वाशिंगटन इरविन के अनुसार कहना पड़ता है कि—"आन्तरिक सौन्दर्य ही वाह्य सौन्दर्य का विधायक होता है।" यही प्रज्ञा का सत्य-स्वरूप हृदय में स्थान पाकर प्रणयरूप में परिणत हो जाता है—

"यही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप, हृदय में बनता प्रणय अपार।
लोचनों में लावण्य अनूप, लोकसेवा में शिव अविकार॥"

भारतीय सौन्दर्य-बोध के अनुसार सौन्दर्य में क्षण-प्रतिक्षण नवीनता का होना कहा गया है— 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयतायाः'। मतिराम ने भी 'ज्यौं-ज्यौं निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यौं-त्यौं खरी निकसै-सी निकाई' कह कर इसी की पुष्टि की है। पं० जगन्नाथ ने सौन्दर्य का अर्थ प्रायः रमणीय अर्थ से लिया है। यह रमणीय अर्थ बड़ा ही सापेक्ष शब्द है। परिवर्त्तित स्थितियों के अनुसार इसकी व्याख्या में भी परिवर्त्तन-सा होता गया है। अस्तु, सौन्दर्य की सही व्याख्या कष्टकर है।

सामान्य दृष्टि से विचारने पर ऐसा लगता है कि मनुष्य की प्रगति समतुल नहीं हो पाती। समता के लिए मानव सदा प्रयत्नशील रहता है। यद्यपि सौन्दर्य जब-तब सत्य और शिव की सीमा पार कर जाता है, किन्तु उसमें उद्दीप्तता दोनों के उचित समावेश से ही सम्भव है। यह ठीक है कि साहित्यकार आवश्यकता पड़ने पर नीति के रूढ़ि-विधान का खण्डन करता है और इस रूप में मानव-जीवन के एक नये क्षितिज की ओर संकेत करता है, परन्तु उसकी यह सौन्दर्य-व्यंजना भी बाद में चल कर नीति का निर्धारक तत्त्व बन जाती है। इस रूप में इन तत्त्वों का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट है।

यह पहले ही स्पष्ट किया गया है कि सौन्दर्य-पिपासा मानव की मूल वृत्तियों में है। इसलिए सत्यम् और शिवम् भी सुन्दरम् के लिबास में आने पर अधिक ग्राह्य प्रतीत होते हैं। सौन्दर्य जितना ही सत्य और मंगल से सिक्त होता है, उतना ही वह महत्त्वपूर्ण होता है। साहित्य में सौन्दर्य-अंकन का अभिप्राय यथार्थ का चित्रण नहीं, सत्य का मूर्त्तिकरण ही होना चाहिए। तभी साहित्य में सौन्दर्य की व्याप्ति का औचित्य प्रतीत होगा।

हाँ, तो साहित्य में ज्ञान, संकल्प और भावना; सत्, चित् और आनन्द; इच्छा, क्रिया और ज्ञान के समान ही सत्य, शिव और सुन्दर की त्रिमूर्ति स्थापित है। इसके सम्यक् निर्वाह के लिए आवश्यक है संतुलन का कायम होना। थोड़ी-सी सतर्कता के अभाव में भी यह सूत्र बिखर जायगा। यदि सँभलकर प्रयोग चला, तो काव्य की रससिद्धता सदा बनी रहेगी और कवि भी प्रजापति के पद पर आसीन रहेगा।

४

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में काल-विभाजन की समस्या

[आदि—मध्य—आधुनिक—वीरगाथा—सन्धि—आधुनिक—अपभ्रंश—भक्तिकाल नामकरण—आदिकाल : प्रवृत्ति—गद्य-काल : उत्थानश्रेणी—आधुनिक काल : प्रवृत्ति-क्रम]

साहित्य मनोदशा का मुक्त उद्‌गार है। परिस्थितियों में परिवर्त्तन होने के कारण मानव-मनोदशा परिवर्त्तित होती रहती है। अस्तु, साहित्य भी उसी के अनुरूप परिवर्त्तित होता है। इन्हीं परिवर्त्तित मनोदशाओं के साथ साहित्य-परम्परा का सामंजस्य स्थापित करना साहित्य का इतिहास है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास की एक सुदीर्घ परम्परा बन चुकी है। अध्ययन-अध्यापन की सुविधा के निमित्त अनेक इतिहास लिखे गये हैं। इस दीर्घ परम्परा को इतिहास-लेखकों ने मूलतः आदि, मध्य और आधुनिक—इन तीन विभागों में विवेचित किया है। सर्वप्रथम शुद्ध इतिहास-ग्रन्थ के रूप में आचार्य शुक्ल की पुस्तक है; इसके पूर्व कवि-वृत्त-संग्रह मात्र ही थे। आचार्य शुक्ल का कालविभाजन इस प्रकार है—
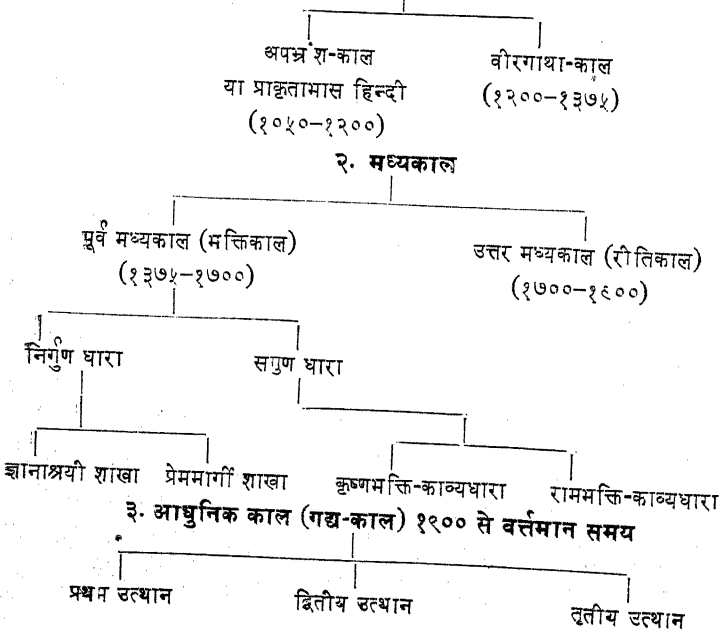
साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन में प्रायः कृति, कर्त्ता, पद्धति और विषय पर ध्यान दिया जाता है। आचार्य शुक्ल ने भी इन बातों को ध्यान में रखा है। विशद परीक्षण-हेतु हमें प्रत्येक काल के नामकरण पर विचार करना आवश्यक है।

सर्वप्रथम मिश्र-बन्धुओं ने हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक काल को **'आदिकाल'** कहकर अभिहित किया, किन्तु आचार्य शुक्ल ने आदिकाल को लगभग स्वीकार करते हुए 'वीरगाथा-काल' कहा है। वीरगाथात्मक रचनाओं की प्रचुरता, जैन-साहित्य की धार्मिकता के कारण उनका रचनात्मक साहित्य से निष्कासन, नाथों और सिद्धों की रचनाओं में साहित्यिक तत्त्वों के अभाव और फुटकर रचनाओं में किसी विशिष्ट प्रवृत्ति का अभाव ही आचार्य शुक्ल के **'वीरगाथा-काल'** नामकरण का आधार है। आचार्य शुक्ल ने विवेच्य काल की परिधि में बारह रचनाओं (विजय पाल रासो १३५५, हम्मीर रासो १३५७, कीर्त्तिलता १४६०, कीर्त्तिपताका १४६०, खुमान रासो ११८०-१२०५, बीसलदेव रासो १२७२; पृथ्वीराज रासो १२२५-१२४६, जयचन्द प्रकाश १२२५, जयमयंक जस चन्द्रिका १२४०, परमाल रासो १२३०, खुसरो की पहेलियाँ १२३० और विद्यापति की पदावली १४६०) को स्थान दिया है।

आज आचार्य शुक्ल का नामकरण (वीरगाथा-काल) असंगत प्रमाणित हो चुका है। जिन बारह रचनाओं के आधार पर उन्होंने नामकरण किया था, उनमें कुछ रचनाएँ नोटिस मात्र हैं, कुछ अप्रामाणिक हैं और कुछ आलोच्य काल की परिधि के बाहर की हैं। नवीन शोधों ने यह प्रमाणित किया है कि इनमें से कोई भी रचना आलोच्य अवधि की नहीं है। वस्तुतः इन रचनाओं की सन्दिग्धता का आभास आचार्य शुक्ल को भी था; किन्तु वे लाचार थे—"इसी सन्दिग्ध सामग्री को लेकर जो थोड़ा-बहुत विचार हो सकता है, उसी पर हमें सन्तोष करना पड़ता है।"

आचार्य शुक्ल के विवेचन से ही प्रेरणा पाकर डॉ० रामकुमार वर्मा ने आलोच्य काल की पूर्ववर्त्ती सीमा ७५० निर्धारित की तथा ७५०–१२०० तक की अवधि को **सन्धिकाल** और १०००-१२०० तक को **चारण-काल** कहा। पुनः सन्धि-काल में भी ७५०-१००० तक को **सन्धिकाल** और १०००-१२०० तक को **जैन-साहित्य-काल** के नाम से अभिहित किया। आश्चर्य इस बात का है कि आदरणीय वर्माजी इस अवधि की किसी एक भी प्रामाणिक रचना का नाम नहीं ले सके हैं। अस्तु, इनके नामकरण के गुण स्वयं स्पष्ट हैं।

इधर 'वर्ण्य विषय की व्याप्ति' के आधार पर विचार करते हुए श्रद्धेय आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी इसे वीरगाथा-काल न कहकर **'वीररस-काल'** या संक्षेप में **'वीर-काल'** कहना हानिकर नहीं मानते हैं। उधर विषय-वस्तु और साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर इसे **'सिद्ध-सामन्त-काल'** के नाम से श्री राहुल

सांकृत्यायन जी पुकारते रहे हैं। पूर्ववर्ती नामों की अपेक्षा राहुलजी का नामकरण कहीं सटीक बैठता है।

'हिन्दी प्रेमाख्यात्मक काव्य' नामक अपने शोध-ग्रन्थ में डॉ० पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेष्ठ ने आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल के लिए क्रमशः **अन्धकार-काल, कलात्मक उत्कर्ष-काल, सहित्यशास्त्रीय काल** और **साहित्यिक काल नाम** सुझाये हैं। अन्धकार-काल साहित्यिक स्थिति का सूचक तो है अवश्य, किन्तु प्रवृत्ति-निरूपक बिल्कुल नहीं। अस्तु, इसकी भी वही गति है।

आचार्य डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी हिन्दी के सुधी आलोचक हैं। इन्होंने हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की विशद चर्चा की है। इस काल का नामकरण आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने **बीजवपन-काल** किया था। इसे ही आचार्य डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी कतिपय तर्कों के बाद **आदिकाल** ही कहना चाहते हैं।

जिस प्रकार आचार्य शुक्ल को सामग्री की सन्दिग्धता का आभास हो गया था, आचार्य द्विवेदी जी को भी 'आदिकाल' नाम की अनुपयुक्तता का पता है— "वस्तुतः 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल आदिम मनोभावापन्न, परम्पराविनिर्मुक्त काव्य-रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्पराप्रेमी, रूढ़िग्रस्त, सजग, सचेत कवियों का काल है।....यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है।"

विचारना यह है कि इस नाम में इतनी भ्रान्तियाँ क्यों हैं? इसका सबल सटीक उत्तर यही है कि लोगों ने विवेच्य काल पर विचार करते हुए अपभ्रंश और हिन्दी को एक नहीं तो एक-सा अवश्य मान लिया है। मिश्रबन्धुओं से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तक यही बात लक्षित होती है। यदि आचार्य शुक्ल अपभ्रंश को **'प्राकृताभास हिन्दी'** मानते हैं, तो गुलेरीजी उसे **'पुरानी हिन्दी'** ही कहते हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक ओर अपभ्रंश पर तटस्थतापूर्ण विचार किया है तो शीघ्र ही दूसरी ओर हिन्दी का मोह अपभ्रंश को पुनः हिन्दी के पेट में ले आता है। यदि ऐसी बात न होती तो श्री राहुलजी अपभ्रंश को आधुनिक आर्यभाषाओं की 'सम्मिलित निधि' मानकर भी हिन्दी की पूर्ववर्ती सीमा ७०० क्यों मानते? आदिकालीन हिन्दी को 'सिद्ध-सामन्त-युग' क्यों कहते? इसी प्रकार, आचार्य द्विवेदीजी एक ओर यह कहते हैं कि "अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कहने का विचार भाषाशास्त्रीय और वैज्ञानिक नहीं है। भाषाशास्त्र के अर्थ में जिसे हम हिन्दी कहते हैं वह इस साहित्यिक अपभ्रंश से सीधे विकसित नहीं हुई है। अपभ्रंश को अब कोई भी पुरानी हिन्दी नहीं कहता"—किन्तु दूसरी ओर ये हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की अट्टालिका अपभ्रंश-साहित्य पर ही

निर्मित करते हैं।

कतिपय विचारों के पश्चात् डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त जी इसे **प्रारंभिक काल** कहना चाहते हैं। इनका विचार है कि इस नाम से भ्रान्त धारणा के फैलने की आशंका ही न रहेगी। प्रत्येक प्रकार का साहित्य अपनी प्रथमावस्था में अपरिपक्व रहता है। भाषा की दृष्टि से विवेच्य काल की यह अवस्था तो है ही।

अस्तु, हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—जिसे बीजवपन-काल, वीरगाथा-काल, चारण-काल, सिद्ध-सामन्त-काल, रासो-काल, वीररस-काल या वीर-काल, अन्धकार-काल, प्रारम्भिक काल इत्यादि अनेक नामों से अभिहित किया गया है—सर्वाधिक उलझनपूर्ण काल है। वस्तुतः इस काल के लेखकों ने अपभ्रंश का हिन्दी के साथ घाल-मेल कर दिया है। अब यह भी स्पष्ट है कि अपभ्रंश हिन्दी नहीं है। अनेक भाषा-वैज्ञानिकों के अनुसार लगभग १४वीं शती तक अपभ्रंश भाषा का ही होना प्रमाणित है। अस्तु, हिन्दी का समय इसके बाद ही माना जायगा। तात्पर्य यह कि १४वीं शती के बाद का जो हिन्दी-साहित्य (भक्ति-काल) है, उसे ही हिन्दी की निधि मानना चाहिए। हाँ, भक्ति-काल की सीमा को सं० १३७५ से थोड़ा पीछे ले जाकर सं० १३५० माना जा सकता है। इस प्रकार, **हिन्दी-साहित्य का आदि-काल, जो 'आदि-काल' के नाम से रूढ़-सा हो गया है, 'आदि-काल' के नाम से ही पुकारा जाय, किन्तु प्रवृत्तियों की दृष्टि से इसे भक्ति-काल ही कहना अधिक श्रेयस्कर है। फिर, सं० १३५० के पूर्व हिन्दी की कोई प्रामाणिक रचना है भी तो नहीं।**

आदि-काल के पश्चात् है मध्य-काल। आचार्य शुक्ल, डॉ० श्यामसुन्दर दास आदि ने मध्य-काल के दो विभाग किये हैं—पूर्व मध्य-काल और उत्तर मध्य-काल। मिश्रबन्धुओं ने इसके तीन विभाग किये हैं—पूर्व, प्रौढ़ और अलंकृत। पूर्व मध्य-काल ही भक्ति-काल है तथा उत्तर मध्य-काल रीति-काल, जिसे मिश्र-बन्धुओं ने अलंकृत-काल कहा है।

भक्ति-काल की सामान्य सीमा आ० शुक्ल ने सं० १३७५-१७०० स्वीकार की है। आ० शुक्ल ने भक्ति-काल को '**निर्गुण भक्ति-काव्य**' तथा '**सगुण भक्ति-काव्य**' एवं निर्गुण भक्ति-काव्य को पुनः '**ज्ञानाश्रयी शाखा**' और '**प्रेममार्गी शाखा**' एवं सगुण भक्ति-काव्य को '**कृष्ण-भक्ति-काव्य**' और '**राम-भक्ति-काव्य**' में विभाजित किया है। इसके बाद भी इन्हें फुटकर खाता खोलना पड़ा। आ० चतुरसेन शास्त्री ने कर्त्ता को दृष्टि-पथ में रखकर '**सौर-काल**', '**तुलसी-काल**' आदि जैसा उपविभाग किया है। कर्त्ता के आधार पर नामकरण की प्रवृत्ति अँगरेजी-साहित्य (पूर्व शेक्सपीयर-युग, उत्तर शेक्सपीयर-युग), संस्कृत-साहित्य (पूर्व कालिदास-युग, पर कालिदास-युग), हिन्दी-साहित्य (भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग) इत्यादि में है। कतिपय इतिहासज्ञों ने शासकों के नाम पर एलिजाबेथन या विक्टोरियन पीरिएड के अनुसार 'अकबर-काल', 'दयानन्द-

काल' आदि जैसा भी वर्गीकरण किया है, पर साहित्य के इतिहास में राजाओं के नाम पर कालविभाजन का कोई महत्त्व नहीं होता और न इनसे किसी प्रकार की प्रवृत्ति का संकेत ही मिलता है। अस्तु, मूलतः आचार्य शुक्ल का विभाजन ही विचारणीय रह जाता है। विचारने से यह स्पष्ट होता है कि भक्तिकाल के अन्तर्गत किये गये उपविभाग भी कतिपय असंगतियों से पूर्ण हैं। भक्ति की सीमा सगुण उपासना तक ही होती है। अस्तु, तथाकथित निर्गुणवादियों को भी भक्तिकाव्य के अन्तर्गत ही रखा जाय—यह असंगत ही तो है। दूसरी बात यह कि निर्गुणवादियों में श्रेष्ठ कबीर जैसा जीव भी जब 'प्रेम के ढाई अक्षरों' में ही मस्त रहा है, तो उसकी रचना को 'ज्ञानमार्गी' या 'ज्ञानाश्रयी' कहना कहाँ तक उचित है। सम्भवतः ऐसी ही विलक्षणता के कारण, कुछ विचारक इस शाखा को 'ज्ञानाभासाश्रयी' कहना ही श्रेयस्कर मानते हैं। तात्पर्य यह कि स्वयं भक्ति-काल नाम भी एकपक्षीय ही है।

एक बात और। पूर्व चर्चा में ऐसा स्पष्ट किया गया है कि तत्कालीन रचनाएँ रचना-काल की दृष्टि से भक्ति-काल की सीमा में ही पड़ती हैं। पहले वीरगाथात्मक रचनाओं को वीरगाथा के पेटे में रखकर सन्तोष कर लिया जाता था। अब ये रचनाएँ समसामयिक बन गयी हैं। इन्हें रखा कहाँ जाय? अस्तु, भक्तिकाल के पुनःपरीक्षण की आवश्यकता हो गयी है। एक बात स्पष्ट-सी होती आ रही है कि भक्ति-काल में हिन्दी में दो धाराएँ वर्त्तमान थीं—राजाश्रय की धारा और धर्माश्रय की धारा। राजाश्रय की धारा में ही वीरगाथात्मक रचनाएँ तथा खुसरो, विद्यापति, छीहल इत्यादि की जन-रचनाएँ भी आयेंगी। धर्माश्रय की धारा में तथाकथित निर्गुण एवं सगुण काव्यों की चर्चा होगी। यद्यपि आचार्य शुक्ल का विभाजन कतिपय असंगतियों से युक्त है, किन्तु चूँकि वह रूढ़ हो चुका है, उसी में थोड़ा जोड़-जाड़कर अपना काम निकाला जा सकता है। वह इस प्रकार कि आदिकाल की पूर्ववर्त्ती सीमा सं० १३५० मान ली जाय तथा उत्तरवर्त्ती सीमा सं० १७००, जो भक्ति-काल की उत्तरवर्त्ती सीमा है। साथ ही, मध्य-काल से केवल रीति-काल का ही अर्थ लिया जाय—पूर्व मध्य-काल और उत्तर मध्य-काल जैसे विभाग मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। पुनः आदि-काल (प्रवृत्ति की दृष्टि से भक्ति-काल) की निम्नांकित धाराएँ अन्तर्विभाग के रूप में मान ली जायँ—

आदिकाल-भक्तिकाल

सं० १३५०-१३००

(क) राजाश्रित काव्य—

१. वीरगाथात्मक।

२. जनगाथात्मक—खुसरो, विद्यापति, राठौरराज पृथ्वीराज, हरराज, नरपति नाल्ह, छीहल इत्यादि।

(ख) धर्माश्रित काव्य—

१. सन्त-काव्य।

२. प्रेमाख्यान-काव्य।

३. कृष्ण-भक्ति-काव्य।

४. राम-भक्ति-काव्य।

(ग) लक्षण-काव्य।

रीति-काल की सामान्य सीमा सं० १७००-१९०० तक मानी जाती है। यह काल भी पूर्ववत् विवादग्रस्त ही है। इसे अलंकृत काल (मिश्रबन्धु-आ० चतुरसेन), शृंगार-काल (आ० विश्वनाथ प्र० मिश्र), रीति-शृंगार-युग (कतिपय समन्वयवादी) इत्यादि अनेक नामों से अभिहित किया गया है। आचार्य शुक्ल ने इसके नामकरण में बहिरंग-विधान पर ज़ोर दिया है, यद्यपि उनके द्वारा प्रदत्त अन्य कालों के नाम में अन्तरंग-पक्ष ही प्रबल रहा है। यदि बहिरंग-विधान को ही ध्यान में रखा जाय तो रीति-काल की अपेक्षा 'अलंकृत काल' नाम ही अधिक सटीक लगता है। अन्तरंग पर विचार करने से 'शृंगार-काल' नाम की श्रेष्ठता सामने आ जाती है। रीति-काल और अलंकृत जैसा नामकरण करने पर इस काल के अन्तर्विभाजन में बाधाएँ उपस्थित हो गयी हैं। इसी से 'बिहारी-काल', 'पद्माकार-काल' अथवा 'रीतिग्रन्थकार कवि' आदि नामों से काम चलाना पड़ा है। इसके बाद भी अनेक महत्त्वपूर्ण कवियों को फुटकर खाते में फेंकना पड़ा है। वस्तुतः नामकरण में सर्वाधिक व्यापक प्रवृत्ति को आधार मानना ही उत्तम होता है। यदि शृंगार का रसमूलक अर्थ मात्र लिया जाय तो भी यही प्रवृत्ति इस पूरी अवधि में रचित साहित्य में उपलब्ध होती है। यों, शृंगार का पेटा थोड़ा विस्तृत करके सोचने पर रीति और अलंकरण की प्रवृत्ति भी इसी में आ जाती है। इससे तो कोई इनकार नहीं कर सकता कि 'शृङ्गार-काल' जैसा नामकरण भी आचार्य शुक्ल ने ही सुझाया था। इसे नूतन तर्क और अन्वय द्वारा स्थापित किया श्रद्धेय आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी ने। इससे आ० शुक्ल का अनादर नहीं होता है, उनकी महत्ता ही बढ़ती है कि उनकी लीक पर चलकर साहित्य-सेवी श्रद्धेय मिश्रजी ने अनेक झाड़-झंखाड़ों को दूर कर 'शृङ्गार-काल' नाम को स्थापित किया। आज लोग इस नाम को मानना चाहकर भी नहीं मान रहे हैं, इसमें एक दुराग्रह-सा ही लगता है। अस्तु, रीति-काल नाम को 'शृङ्गार-काल' के नाम से विभूषित करना ही अधिक उत्तम है। इसमें उपविभाजन के लिए मार्ग प्रशस्त है। श्रद्धेय मिश्रजी का विभाजन इस प्रकार है—

शृङ्गार-काल

(क) रीतिबद्ध काव्य-धारा—

१. लक्षणबद्ध काव्य।

२. लक्ष्यमात्र काव्य ।

(ख) रीतिमुक्त काव्य-धारा—

१. रहस्योन्मुख काव्य ।

२. शुद्ध प्रेम-काव्य ।

अन्त में विचारणीय है आधुनिक काल । इसे लोग आधुनिक काल या नवयुग कहते हैं । इस युग में हिन्दी-साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग विकसित होता है—यह है गद्य-साहित्य । इस युग के पूर्व गद्य का लगभग अभाव-सा ही है । इसके पूर्व टीका-ग्रन्थ, वार्त्ता ग्रन्थों आदि में ही गद्य का रूप मिलता था । किन्तु इस काल में यह अपना स्वतन्त्र विकास करता है । वस्तुतः, आधुनिक युग में गद्य का बहुमुखी विकास होता है । नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समालोचना, पत्रकारिता इत्यादि अनेक रूपों में गद्य विकसित हो चलता है । समस्त गद्य-साहित्य की तुलना में पद्य-साहित्य नहीं टिक पाता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि पद्य-साहित्य लिखा ही नहीं गया । नहीं, ऐसा कहना भूल होगी । पद्य-साहित्य में भी महान् परिवर्त्तन हुआ है । वस्तुतः, मात्रा की दृष्टि से गद्य की प्रचुरता अवश्य है । सम्भवतः इसी से आचार्य शुक्ल ने आधुनिक युग को 'गद्यकाल' कहा है । डॉ० श्यामसुन्दर दास इस युग को 'नवीन विकास का युग' कहते हैं । डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने भी इसे लगभग 'गद्य-काल' ही कहना चाहा है, किन्तु जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है, इस युग में पद्य-साहित्य का अभाव नहीं है । अस्तु, 'गद्य-काल' नामकरण से एक भ्रामक धारणा उत्पन्न होती है कि इस युग में पद्य-साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है । तात्पर्य यह है कि 'गद्य-काल' नामकरण सटीक नहीं है । इससे बचने के लिए इसे सीधे 'आधुनिक काल' कहना ही श्रेयस्कर है ।

विचारकों ने इस काल को मूलतः दो भागों में विभक्त किया है—गद्य-साहित्य और पद्य-साहित्य । वस्तुतः इसी की अपेक्षा भी है, महत्त्व दोनों का समान ही है । यह काल अनेक प्रवृत्तियों से पूर्ण है, जिसका विवेचन एक पृथक् क्रमबद्ध इतिहास की अपेक्षा करता है । इसकी भी पूर्त्ति अनेक विद्वानों द्वारा समय-समय पर होती रही है ।

विवेचन की सुविधा के निमित्त आ० शुक्ल ने 'गद्यकाल' को तीन उत्थानों में बाँट दिया है—प्रथम उत्थान, द्वितीय उत्थान और तृतीय उत्थान । अधिकांश विद्वानों द्वारा यह विभाग भी अमान्य ही है । इसमें भी कई भ्रान्तियों के लिए स्थान रह ही गया है । इन्हीं उत्थानों को कतिपय विचारक क्रमशः 'भारतेन्दु-युग', 'द्विवेदी-युग' और 'छायावाद का युग' कहना चाहते हैं । निश्चय ही यह नामकरण आचार्य शुक्ल के 'उत्थानों' की अपेक्षा अधिक सटीक है और युगविशेष की प्रवृत्तियों को सूचित करने में समर्थ भी है, किन्तु यहाँ भी कतिपय दोष रह ही जाते हैं ।

आचार्य चतुरसेन ने अपने इतिहास में इस काल की चर्चा के निमित्त पाँच विभाग किये— आंग्ल-प्रभाव-युग, भारतेन्दु-युग, त्रिविध-प्रभाव-युग, द्विवेदी-युग और नवयुग। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन्हें निम्नांकित बिभागों में वर्णित किया है—गद्य-युग का प्रारम्भ, भारतेन्दु का उदय और प्रभाव, बहुमुखी उन्नति-काल, छायावाद और प्रगतिवाद। श्री शम्भुनाथ सिंह ने अपनी पुस्तक 'छायावाद-युग' में इन उपविभागों को क्रमशः संक्रान्ति युग, पुनरुत्थान-युग और विद्रोह-युग कहना ही उत्तम समझा है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि जितने विचारक आये, सबने अपने-अपने ढंग से आधुनिक युग का वर्णन किया है। उपविभाजन में मतैक्य प्रायः नहीं-सा है।

वस्तुतः आधुनिक युग के विकास पर ध्यान दिया जाय, तो एक बात सर्वाधिक स्पष्ट है कि द्विवेदी-युग तक साहित्य-धारा प्रायः सीधी ही है; किन्तु छायावाद के जन्म के पश्चात् अनेक वादों और प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हो जाता है। आधुनिक युग का विकास इतनी तेजी से हो रहा है कि इसे किसी विशिष्ट वाद या संकीर्ण क्षेत्र में रखना दुष्कर है, फिर भी विवेचन की सुविधा के लिए वर्ण्य विषय की व्याप्ति पर ही ध्यान देना होगा। साथ ही, किसी विशेष समय में किसी विशेष साहित्यकार की बहुमुखी प्रतिभा, जिससे सम्पूर्ण युग प्रभावित हो रहा हो, उसे भी न भूलना होगा।

इधर काशी की नागरी प्रचारिणी सभा ने हिन्दी-साहित्य के वृहद् इतिहास की योजना तैयार की है। इस कार्य के अन्तर्गत इतिहास के कई भाग प्रकाशित हो चुके हैं। इस आयोजना के अनुसार, आधुनिक काल को चार भागों में विभाजित किया गया है—अभ्युत्थान-काल (भारतेन्दु-काल), परिष्कार-काल (द्विवेदी-काल), उत्कर्ष-काल और अद्यतन-काल।

अस्तु, सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर विवेच्य काल का विभाजन निम्नांकित प्रकार से संभव है—

आधुनिक काल

(सं० १६०० से आज तक)

गद्य-साहित्य पद्य-साहित्य

(अ) गद्य-साहित्य

(सं० १६०० से आज तक)

(गद्य-साहित्य के विविध रूपों का उद्भव और विकास)

(क) अभ्युत्थान-काल (भारतेन्दु-काल) सं० १६००-१६५०।

(ख) परिष्कार-काल (द्विवेदी-काल) सं० १६५०-१६७५।

(ग) उत्कर्ष-काल (छायावाद-काल) सं० १९७५-१९९५।
(घ) अद्यतन काल (सं० १९९५-आज तक)।

(आ) पद्य-साहित्य
(सं० १९०० से आज तक)
(पद्य-साहित्य के विविध रूपों का उद्भव और विकास)

(क) भारतेन्दु-युग (सं० १९००-१९५०)—
१. पूर्ववर्त्ती धारा।
२. राष्ट्रीय धारा।

(ख) द्विवेदी-युग (सं० १९५०-७५)—
१. राष्ट्रीय धारा।
२. मिश्रित धारा।

(ग) छायावाद-युग (सं० १९७५-१९९५)—
१. पूर्ववर्त्ती धारा।
२. छायावादी काव्य।
३. रहस्यवादी काव्य।

(घ) छायावादोत्तर-युग (सं० १९९५-आज तक)—
१. पूर्ववर्त्ती धारा।
२. प्रगतिवादी धारा।
३. हालावादी काव्य।
४. नकेनवादी काव्य।
५. प्रयोगवादी धारा।
६. नयी कविता।

चाहें तो छायावादोत्तर-युग को भी क्रमशः प्रगतिशील-युग (प्रगतिवाद-युग नहीं) और प्रयोगवाद-युग में विभाजित कर सकते हैं।

विवेच्य काल का उपर्युक्त वर्गीकरण भी पूर्णतः सटीक है, मैं ऐसा नहीं कहता। साथ ही, इसमें मेरी कोई नयी सूझ हो, यह भी नहीं है। हाँ, विचारकों के विभिन्न विचारों को सम्यक् रूप से अध्ययन-अध्यापन की सुविधा के हेतु यदि उपर्युक्त रूप में रखा जाय, तो ज्यादा सुधरा हुआ रूप सामने आता है अवश्य।

इस विश्लेषण के पश्चात् ऐसा निष्कर्ष मिलता है कि वस्तु, विषय, पद्धति और कलाकार को दृष्टि-पथ में रखकर ही साहित्य के इतिहास का समय-विभाजन और नामकरण उचित रूप में किया जा सकता है। श्रद्धेय आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी के अनुसार—"साहित्य के इतिहासों में विभाजन और नामकरण का सर्वोत्कृष्ट ढंग वर्ण्य विषय की व्याप्ति के अनुसंधान से सम्बद्ध है।"

चाहे जो हो, इस विश्लेषण से ऐसा लगता है कि पूज्यपाद आ० शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन कर जो नामकरण किया था, आज उससे अधिकांश विद्वान् असहमत हैं। यह असहमति ही उसकी अपूर्णता और अव्याप्ति का सूचक है। इससे पूज्यपाद के महान् कार्य का महत्त्व घटता नहीं, अक्षुण्ण ही रहता है। उस युग की प्राप्त सामग्री के आधार पर उनका यह पुण्य कार्य हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन में भी मील का पत्थर बन चुका है। आज भी उसे बिना साथ लिये हम नहीं बढ़ सकते; किन्तु इसे भी भुलाया नहीं जा सकता है कि **आज हिन्दी-साहित्य के नूतन इतिहास की आवश्यकता है, जो नवीन शोधों से पूर्ण हो।** निश्चय ही आज ऐसे स्तुत्य प्रयोग की आवश्यकता है, जिससे नवीन दृष्टि से काल-विभाजन और नामकरण किया जाय और सारे पूर्व दुराग्रह छोड़ दिये जायँ।

५

अपभ्रंश-साहित्य

[अपभ्रंश—पिंगल—डिंगल—पूर्वी अपभ्रंश—सिद्ध-साहित्य—नाथ-साहित्य—जैन-साहित्य—दरबारी साहित्य—स्वच्छन्द साहित्य—अपभ्रंश या हिन्दी—अपभ्रंश के बन्ध—हिन्दी को अपभ्रंश की देन—उपसंहार]

भाषा-विज्ञान के विद्वानों ने सामान्यतः ६०० ई० से १३०० ई० के समय को अपभ्रंश-भाषा और उसके साहित्य का काल स्थिर किया है। संस्कृत के आचार्यों ने मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा को 'अपभ्रंश', 'अपभ्रष्ट', 'अपशब्द', 'अवहट्ट', 'अवहंस' इत्यादि तिरस्कारसूचक शब्दों द्वारा अभिहित किया है। इस प्रकार के नाम की कल्पना सम्भवतः सर्वप्रथम महाभाष्यकार पतंजलि ने की थी। व्यापक अर्थ में अपभ्रंश के अन्तर्गत प्राकृतें भी ग्रहीत हैं; पर आज प्राकृत और आधुनिक भारतीय आर्यभाषा के मध्य की कड़ी के रूप में ही अपभ्रंश मान्य है। हिन्दी, मराठी, गुजराती, बँगला, उड़िया इत्यादि विभिन्न आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाएँ अपभ्रंश के विभिन्न रूपों से ही विकसित हैं। भामह, दण्डी आदि के प्रमाण से इस बात की पुष्टि होती है कि अपभ्रंश एक समय साहित्यिक भाषा के पद पर आसीन थी। चण्ड, पुरुषोत्तमदेव, क्रमदीश्वर, हेमचन्द्र, सिंहराज, लक्ष्मीधर, रामशर्म तर्कवागीश इत्यादि वैयाकरणों ने अपभ्रंश के व्याकरणिक रूपों के विवेचन किये हैं। इन लोगों ने अपभ्रंश के अनेक प्रकारों की चर्चा की है; पर मूलरूप से नागर, उपनागर, आभीरी और ग्राम्य—अपभ्रंश के ये चार रूप ही अधिक प्रमुख रहे हैं। नागर अपभ्रंश ही शौरसेनी अथवा पश्चिमी अपभ्रंश भी कहा गया है। विद्वानों ने आभीरों को ही व्रात्य (व्राच्—स्वार्थे 'ट') भी बताया है। इसी से आभीरी और व्राचड को लोग एक ही प्रकार का अपभ्रंश मानने के पक्ष में हैं। अनेक विद्वानों और खासकर क्रमदीश्वर के प्रमाण पर नागर और व्राचड दोनों पश्चिमी अपभ्रंश ही सिद्ध होते हैं। उपनागर शब्द सम्भवतः नागर से अन्तर प्रकट करने के लिए प्रयुक्त हुआ होगा। हेमचन्द्र के अनुसार, अपभ्रंश का बोलचाल वाला रूप ही ग्राम्य अपभ्रंश रहा है। कालान्तर में सम्भवतः ग्राम्य अपभ्रंश से पूर्वी अपभ्रंश (अर्द्धमागधी या जैन अपभ्रंश आदि) का बोध होने लगा था। इस प्रकार, स्थूल रूप से अपभ्रंश के दो ही रूप ठहरते हैं—नागर और ग्राम्य, चाहें तो इन्हें क्रमशः पश्चिमी अपभ्रंश और पूर्वी अपभ्रंश भी कह सकते हैं।

पूर्वी और पश्चिमी का यह भेद प्रायः संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं में भी लक्षित होता है। पश्चिमी अपभ्रंश से पश्चिमी हिन्दी की विभिन्न बोलियाँ विकसित हुईं और पूर्वी अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी की विभिन्न बोलियाँ। अपभ्रंश का प्रभूत साहित्य पश्चिमी अपभ्रंश और पूर्वी अपभ्रंश दोनों में मिलता है। यह वाङ्मय मूलतः जैन-भाण्डारों और धर्मायतनों में ही प्राप्त होता है।

पश्चिमी अपभ्रंश के 'नागर', 'पिंगल', 'शौरसेनी', 'नागभाषा', 'ब्रजभाषा' इत्यादि अनेक नाम मिलते हैं। 'नागर' अपभ्रंश से ही विकसित होने के कारण हिन्दी 'नागरी' कही गयी है। कुछ विद्वान् इसका सम्बन्ध 'नागर जाति' से भी जोड़ते हैं; पर असल बात है इसके परिष्कार और संस्कृत से मेल की। इसी को प्राचीन वैयाकरणों ने 'प्रकृतिः संस्कृतम्' कहकर लक्षित किया है। काव्य-भाषा के रूप में सर्वसामान्य रूप से व्यवहृत होने वाला पश्चिमी अपभ्रंश का परवर्त्ती परिनिष्ठित रूप ही पिंगल-भाषा के नाम से प्रख्यात हो गया था। पिंगल तत्कालीन समय की केन्द्रीय भाषा थी। इसका व्याकरण अपना था और अपना था छन्दः-शास्त्र। समस्त राजस्थान, ब्रजप्रदेश एवं अन्य पश्चिमी क्षेत्रों में यही काव्य-भाषा के रूप में प्रयुक्त होती थी। इस नाम का सम्बन्ध छन्दःशास्त्र के आदि-आचार्य पिंगलाचार्य से है। 'प्राकृतपैंगलम्' जैसे छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थ से भी इस नाम का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। देशी भाषा में 'पिंगल' नाम चल पड़ने के ये ही रहस्य हैं। छन्दःशास्त्र अपेक्षाकृत क्लिष्ट विषय है। इसमें अनेक प्रकार के बखेड़े होते हैं। आज भी हिन्दी में 'पिंगल पढ़ना' मुहावरा किसी प्रकार के कार्य में बखेड़ा, विस्तार, उलझन इत्यादि के लिए ही प्रयुक्त होता है। अस्तु, यह निश्चय है कि उपर्युक्त सारे अर्थों को ध्वनित करने के अर्थ में ही सर्वसामान्य परिनिष्ठित पश्चिमी अपभ्रंश का परवर्त्ती रूप 'पिंगल' के नाम से जाना गया। जिस प्रकार वैदिक भाषा को छन्दस्, प्राकृत को गाथा या गाहा, अपभ्रंश को दूहा आदि के नाम से जाना जाता है, कदाचित् यह नाम (पिंगल) भी उसी प्रकार चल पड़ा है। असल बात है, नाम के चल पड़ने की। पिंगलाचार्य शेषनाग के अवतार माने गये हैं। इसी से 'पिंगल' का दूसरा नाम 'नागभाषा' भी है। भाषा में 'पिंगल' शब्द कब प्रयुक्त हुआ, इसका कथन निश्चयपूर्वक नहीं किया जा सकता। आगे चल कर यही ब्रजभाषा के नाम से जानी गयी है। शौरसेनी के नाम से भी यह प्रसिद्ध रही है। 'पिंगल' के लिए 'ब्रजभाषा' का प्रयोग लगभग १४६३ ई० तक चल पड़ा था। 'नागभाषा' भी ब्रजी ही थी; पर सामान्य ब्रजी से थोड़ी भिन्न भाषा यह अवश्य रही है। काव्य-भाषा के रूप में 'पिंगल' ब्रजी की पूर्ववर्त्तिनी और अपभ्रंश (पश्चिमी) की उत्तराधिकारिणी रही है। आठवीं–नवमीं शती में जब अपभ्रंश काव्य-भाषा पूर्ण प्रतिष्ठा पर थी, 'पिंगल' मध्यदेशीय जन-भाषा ही

थी। काव्य-भाषा के रूप में इसकी प्रतिष्ठा इसके पश्चात् ही हुई है। इस काव्यभाषा में अपभ्रंश के सभी पुट वर्त्तमान थे, इसी से इसमें राजस्थानी का भी घाल-मेल कम नहीं हुआ है। काव्यभाषा के रूप में 'पिंगल' दसवीं से लेकर चौदहवीं शती तक आसीन रही है। इसके पश्चात् ही ब्रजी, अवधी, राजस्थानी, मैथिली इत्यादि आधुनिक बोलियों में साहित्य का निर्माण अबाध रूप में हो चलता है।

पिंगल के समानान्तर ही काव्यभाषा के रूप में 'डिंगल' भी प्रयुक्त होती थी। पिंगल थी सर्वसामान्य काव्यभाषा और डिंगल प्रान्त-विशेष अथवा क्षेत्र-विशेष की काव्यभाषा (मातृभाषा नहीं)। डिंगल-क्षेत्र में पिंगल और डिंगल की रचनाओं के अतिरिक्त लोकभाषा अथवा मातृभाषा (ग्राम्य राजस्थानी) की रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं। तात्पर्य यह कि राजस्थान में एक ही साथ तीन-तीन भाषाओं— पिंगल, डिंगल और लोकभाषा (ढोलामारू रा दूहा आदि) में काव्य रचे जा रहे थे। जिस प्रकार आज केन्द्रीय भाषा (खड़ी बोली हिन्दी) के साथ-साथ ब्रजी, अवधी, मैथिली, भोजपुरी इत्यादि में भी रचनाएँ होती हैं, उसी प्रकार तत्कालीन समय में केन्द्रीय भाषा थी पिंगल; 'पिंगल' में तो रचनाएँ होती ही थीं, राजस्थान की क्षेत्रीय काव्यभाषा 'डिंगल' में भी रचनाएँ होती थीं। कई दृष्टियों से पिंगल और डिंगल में साम्य तो था; पर व्याकरण, छन्दःशास्त्र, प्रयोग इत्यादि के विचार से उनमें वैषम्य भी कम न था। पिंगल और डिंगल में कतिपय अद्भुत साम्य होने के कारण ही आज भी बड़े-बड़े साहित्यिक दिग्गज दोनों का समुचित अन्तर स्पष्ट कर पाने में— पिंगल और डिंगल की मिश्रित रचनाओं में से डिंगल को छाँटकर अलग खतिया लेने में— असफल रह जाते हैं। तभी तो टुटपुँजिए लोग पिंगल को डिंगल और डिंगल को पिंगल कह कर साहित्यिक वत्सों और जिज्ञासुओं को समालोचना के नाम पर अन्धकार में भरमाते रहते हैं। वस्तुतः, पिंगल से डिंगल का स्पष्ट भेद है। 'डिंगल' छन्दःशास्त्र के अनुसार, प्राचीन समय से ही बारहठ कवियों ने ऐसा नियम बना लिया था कि प्रत्येक पद्य में 'बैणसगाई' नामक अलंकार की योजना आवश्यक है। श्री अर्जुन दास जी केडिया के अनुसार, "पद्य के प्रत्येक चरण का प्रथम शब्द जिस अक्षर के आदि का हो, उसी अक्षर के आदि का कम-से-कम एक और शब्द उसी चरण में रखने का नियम इसमें (बैणसगाई में) अनिवार्य है।" जैसे—

> आवै वस्तु अनेक, हद नाणों गाँठै हुवै।
> अकल न आवै एक, कोड़ रुपैया किसनियाँ॥

अस्तु, जहाँ 'बैणसगाई' की योजना अनिवार्य रूप से होगी, वह 'डिंगल' की रचना होगी। इसी प्रकार, 'डिंगल' में 'परजाऊ दूहा' और 'रंग रा दूहा' की योजना भी आवश्यक है। उपर्युक्त मान्यता के आधार पर 'डिंगल' की समस्त रचनाएँ अलग खतिया ली जा सकती हैं।

'डिंगल' शब्द 'पिंगल' के ध्वनिसाम्य पर गढ़ा गया है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर सर्वप्रथम बाँकीदास ने इस शब्द का प्रयोग 'कुकवि बत्तीसी' में किया है। बाँकीदास, बुधाजी आदि ने 'डींगल' शब्द दिया है। 'डींगल' ही शुद्ध शब्द है जो 'पिंगल' के जोड़-तोड़ पर 'डिंगल' हो गया है। इसकी निरुक्ति के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की गयी हैं—

१. " 'डिंगल' अनियमित और गँवारू अर्थ में चला है। इसमें व्याकरण की नियमबद्धता नहीं थी"— डॉ० एल० पी० तेसीतरी।

२. " 'डिंगल' शब्द से ही 'पिंगल' के साम्य पर 'डिंगल' बना है"—श्री हर-प्रसाद शास्त्री।

३. " 'ड' वर्ण के बाहुल्य के कारण ही 'डिंगल' हुआ है"—श्री गजराज ओझा।

४. " 'डिम' = डमरू + गल = गला (डमरू की ध्वनि = ओजपूर्ण कविता की वाणी) से 'डिंगल' बना है"—श्री पुरुषोत्तम शास्त्री।

५. " 'डिंगर' का अर्थ दूषित, दुष्ट या नीच है, इसी से 'डिंगल' बना"—हिन्दी शब्दसागर।

६. " 'डिम' = बालक + गल = ध्वनि से, बालकों की-सी अव्यवस्थित बोली के अर्थ में 'डिंगल' हुआ"—कतिपय अनेक राजस्थानी विचारक।

७. " 'डंगि' धातु से 'डिंगल' बना"—श्री रामकर्ण आसोपा।

८. " 'डीङ्' धातु से 'डिंगल' बना"—ठाकुर किशोरी सिंह बारहठ।

९. " 'डींग' (दर्पोक्ति) से युक्त भाषा ही प्रथम 'डींगल' और पुनः 'पिंगल' (Pingala) के वजन पर 'डिंगल' (Dingala) कही गयी। बोझ से बोझल (हिन्दी बोझिल), धूल से धूमल (हिन्दी धूमिल), दाग से दागल आदि की तरह यहाँ भी 'ल' प्रत्यय युक्त है। 'डींगल' को 'डिंगल' बनाने में डॉ० ग्रियर्सन आदि द्वारा प्रयुक्त वर्त्तनी का भी बहुत हद तक हाथ है"—श्री मोतीलाल मेनारिया।

इसी प्रकार और भी अनेक कल्पनाएँ मिलती हैं। उपर्युक्त मतों में आज अधिकांश विद्वानों को श्री मोतीलाल मेनारिया जी का मत ही मान्य है। मैं उसका प्रतिवाद तो नहीं करता, किन्तु अतिशिष्टतापूर्वक एक बात कहना अवश्य चाहता हूँ। भाषा के विकास पर विचारने से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक युग में एक सर्वमान्य शिष्ट साहित्यिक भाषा रहती है और उसी के समानान्तर एक दूसरी भाषा—बोल-चाल की भाषा-भी चलती रहती है। अतीत में भी जब साहित्य की भाषा 'संस्कृत' थी, तो बोल-चाल की भाषा 'प्राकृत'। 'अपभ्रंश' की कल्पना भी तो ऐसी ही है। इसका भी जब 'नागर' रूप सामने आया तो 'ग्राम्य' (गँवारू) का भेद करना ही पड़ा। आज भी 'खड़ी' के साथ 'पड़ी' अथवा 'खरी' (पुष्ट) के साथ 'खोटी' का संकेत मिलता ही है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक युग में पुष्ट और

अपुष्ट, उत्तम और अधम दो प्रकार की भाषाएँ चला करती हैं। तत्कालीन समय में 'पिंगल' यदि पुष्ट भाषा (सर्वसामान्य काव्य-भाषा) थी, तो 'डिंगल' अपेक्षाकृत अपुष्ट भाषा रही ही होगी। ऐसी स्थिति में 'डिंगल' की निरुक्ति के लिए 'डिंगर' शब्द ही सर्वाधिक स्पष्ट और सुकर प्रतीत होता है। 'डिंगर' से ही विकसित विभिन्न बोलियों में धींग, धींगर, धींगड़ा, धागड़ इत्यादि शब्द आज भी प्रायः मोटी बुद्धि के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। अस्तु, कहना चाहिए कि 'डिंगल' शब्द का विकास 'डिंगर' से ही हुआ है। डिंगल भाषा में अनेक सुन्दर रचनाएँ मिलती हैं। इसकी अपनी पृथक् परम्परा मिलती है। राजस्थान के चारण, भाट, राव, मोतीसर इत्यादि जाति-विशेष के लोगों ने इस भाषा में विशेष प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। काव्यरूप, व्याकरण, छुन्द इत्यादि की दृष्टि से इसकी अपनी विशेषता है।

पश्चिमी अपभ्रंश संस्कृतस्थ था, इसीलिए वह 'नागर' बना और कालक्रम से धीरे-धीरे वही 'पिंगल' और 'डिंगल' में परिणत हो गया। पर, पूर्वी अपभ्रंश ग्राम्य ही बना रहा। इसमें जनप्रचलित शब्दों की, ठेठ रूपों की प्रवृत्ति अधिक थी। विद्यापति ने 'कीर्त्तिलता' में जिस अपभ्रंश का प्रयोग किया उसमें पश्चिमी प्रवृत्ति तो थी, पर 'देसिल बअन' के साथ। अर्द्धमागधी में प्राकृत की प्रवृत्ति अधिक थी। जायसी आदि की भाषा इसी से विकसित है। जायसी आदि ने जनता की भाषा ज्यों-की-त्यों ले ली है। अवधी आदि पूर्वी भाषा को ब्रजी या शौरसेनी की प्रति-द्वन्द्विता में खड़ा कर सके तुलसीदासजी, जिन्होंने इसकी प्रकृति संस्कृतस्थ की। जैनियों की रचनाएँ पूर्वी अपभ्रंश में ही अधिक हैं। इनमें जनभाषा का ही प्रयोग अधिक हुआ। सिद्धों की रचनाओं में भी पूर्वी अपभ्रंश ही अधिक है। मागधी के प्रयोग में इन्होंने कमाल हासिल किया है। अपभ्रंश-साहित्य-निर्माण के समस्त काल को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—पूर्वकालिक और उत्तरकालिक। पूर्वकालिक रूप में अपभ्रंश की सामान्य प्रवृत्तियाँ सर्वत्र मिलती हैं; किन्तु उत्तरकालिक रूप में प्रान्तीय प्रवृत्तियाँ पनप चुकी थीं। कुछ विद्वान् अपभ्रंश के उत्तरकालिक रूप को 'अबहट्ट' कहना चाहते हैं। 'प्राकृतपैंगलम्' में यह नाम मिल जाता है। विद्यापति की 'कीर्त्तिलता' इसी भाषा में लिखी गयी है।

अपभ्रंश की समस्त रचना को स्थूलतः पाँच खातों में खतिया सकते हैं—सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य, जैन-साहित्य, दरबारी साहित्य और स्वच्छन्द साहित्य। सर्वप्रथम विचारणीय है सिद्ध-साहित्य। सिद्ध-साहित्य पर विचारते समय यह भी जान लेना आवश्यक है कि ये सिद्ध कौन थे। सिद्धों से तात्पर्य वज्रयानी परम्परा के सिद्धाचार्यों से है। ये विभिन्न प्रकार की साधनाओं में निष्णात, अलौकिक सिद्धियों से सम्पन्न और चमत्कारपूर्ण अतिप्राकृतिक शक्ति से

पूर्ण थे। अनुश्रुति के अनुसार ये देवों, यक्षों, डाकिनियों इत्यादि के स्वामी और अजर-अमर थे। इनकी साधना कृच्छ्राचार की साधना थी। इनकी संख्या चौरासी कही जाती है; पर यह संख्या इतिहास-सम्मत नहीं प्रतीत होती है। इनका साधना-क्षेत्र पूर्वी भारत ही अधिक रहा है। नालन्दा और विक्रमशिला के विश्वविद्यालय सम्भवतः इनके गढ़ रहे हैं। ओडियान, कामरूप, जालन्धर, पूर्णगिरि, अर्बुद, श्रीहट्ट इत्यादि स्थान इनके सिद्धपीठ थे। पाल-राजवंश का इन्हें आश्रय भी प्राप्त था। इनका समय आठवीं से बारहवीं शती तक स्वीकार किया जाता है। इनके नामों के अन्त में उपाधिसूचक 'पा' जुटा हुआ मिलता है। राहुल सांकृत्यायन के प्रमाण पर कहा जाता है कि अठारह सिद्धों की–सरहपा (नालन्दा), सबरपा (विक्रमशिला), भूसुकपा (नालन्दा), लुईपा (मगध), विरूपा (मगध), डोंबिपा (मगध), दारिकपा (उड़ीसा), गुंडरीपा (डिसुनगर), कुक्कुरीपा (कपिलवस्तु), कमरिपा (उड़ीसा), कण्हपा (बिहार-बंगाल), गोरक्षपा (गोरखपुर), तन्तिपा (मगध), महीपा (मगध), भादेपा (श्रावस्ती), धामपा (विक्रमशिला), तिलोपा (मगध) और शान्तिपा (मगध) की रचनाएँ मिलती हैं।

सिद्ध-साहित्य से तात्पर्य सिद्धों द्वारा रचित साहित्य से ही है। इस साहित्य का सर्वप्रथम पता सन् १९०७ ई० में श्री हरप्रसाद शास्त्री को नेपाल में मिला था। इसके पश्चात् श्री राखाल दास, श्री प्रबोध चन्द्र बागची, श्री विधुशेखर शास्त्री, श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री सुकुमार सेन, श्री धर्मवीर भारती इत्यादि ने सिद्ध-साहित्य पर महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। सिद्ध-साहित्य मूलतः दो काव्य-रूपों में उपलब्ध है—'दोहा-कोश' और 'चर्यापद'। प्रथम में दोहों से युक्त चतुष्पदियों की कड़वक-शैली मिलती है और द्वितीय में तान्त्रिक चर्या के समय गाये जाने वाले पद प्राप्त होते हैं। सरहपा, कण्हपा, तिलोपा इत्यादि के 'दोहाकोश' प्राप्त हैं। चर्या-पदों का संग्रह एकत्र रूप में प्राप्त है। इसमें विभिन्न सिद्धाचार्यों की रचनाएँ संग्रहीत हैं। चर्यापदों का संकलन मुनिदत्त ने किया था, इसकी पुष्टि तिब्बती अनुवाद से भी होती है। सिद्ध-साहित्य में सामान्य रूप से महासुख, सहजामृत, स्वकसंविति इत्यादि के साम्प्रदायिक उपदेश ही अधिक दिये गये हैं। इनलोगों ने प्रज्ञा और उपाय के योग से ही महासुख की प्राप्ति स्वीकृत की है। इसी से निर्वाण के शून्य, विज्ञान और महासुख—ये तीन विभाग ठहराये गये हैं। इन्होंने निर्वाण-सुख को सहवास-सुख के ही समानान्तर बताया है। इन्होंने शक्तिसहित देवताओं के 'युगनद्ध' की कल्पना की। यत्र-तत्र अश्लील मुद्राओं की मूर्त्तियों की स्थिति आज भी मिलती है। रहस्यात्मक प्रवृत्ति की वृद्धि होने कारण साधकों का समाज 'श्रीसमाज' कहा गया और भैरवीचक्र की 'श्रीवृद्धि'-साधना चल पड़ी। इस सिद्धि के लिए किसी नीच शक्ति (स्त्री) का सहवास आवश्यक मान लिया गया।

इस प्रकार, धर्म के नाम पर दुराचार पनपने लगा। ये लोग रहस्यमयी प्रवृत्ति के अनुसार 'काआ तरुवर पंच बिडाल। चंचल चीए पइट्ठा काल' और 'गंगा जउँना माझे वहइ रे नाई' का कथन कर चले। शून्य और विज्ञान के भी वचन इन्होंने कहे हैं—

> शून्य—कूल लई खरें सोतें उजाअ। सरहा भनइ गअणे समाअ।
> विज्ञान—भाव ण होइ अभाव ण जाइ। अइस सँबोहें को पतिआइ। — सरहपा।
> लुई भणइ बढ़ दुलख बिणाणा, तिधातुए विलइ ऊह लागेणा। — लुईपा।

इस साहित्य में मूलतः शान्त और शृंगार रस की रचना ही मिलती है। काव्य की कसौटी पर कसने से निराशा ही हाथ आती है। सर्वत्र उपदेश ही प्रमुख है। हिन्दी का सन्त-साहित्य इस साहित्य से अधिक प्रभावित हुआ है। सन्तों की तरह ही ये सिद्ध भी शास्त्रागम की निंदा करते थे और शास्त्रज्ञानियों को मूर्ख बताते थे—

> सत्यागम बहु पढ़इ सुण बढ किं पिण जाणइ। —कण्हपा।

वस्तुतः सिद्धों के अधिकांश उपदेश जीवन की सामान्य सरणियों, मार्ग की ऋजुता के विरोधी हैं। इसी से ये साहित्य के अन्तर्गत ग्रहीत नहीं हैं। हाँ, भाषा की दृष्टि से इस साहित्य का महत्त्व अवश्य है। भाव की तरह ही इस साहित्य की भाषा भी कुतूहलजनक और चाकचिक्य उत्पन्न करने वाली है। सीधी जनता पर प्रभाव जमाने के लिए इन्होंने अटपटी भाषा का सहारा लिया है। यह भाषा मन्त्रस्वभाव-वाली, गुह्य और प्रतीकात्मक थी। यह सन्धा भाषा के नाम से प्रख्यात है। प्रारम्भ में यह भी विवादग्रस्त ही था कि यह भाषा 'सन्धा भाषा' है अथवा 'सन्ध्या भाषा'। श्री हरप्रसाद शास्त्री और श्री विनयतोष भट्टाचार्य ने इसे 'सन्ध्या भाषा' मानकर इसका अर्थ, सन्ध्या के समान अस्पष्ट भाषा (आलो-आँधारी भाषा) किया। इस प्रकार, इसे अन्धकार और प्रकाश के बीच थोड़ा स्पष्ट और थोड़ा अस्पष्ट बताने का काम बहुत दिनों तक चलता रहा। इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने संधिदेश की भाषा (बिहार और बंगाल की सीमा की भाषा) तथा संधिकाल की भाषा (अपभ्रंश और हिन्दी के मध्य की भाषा) बताने की भी विलक्षण कल्पनाएँ की। आगे चलकर श्री विधुशेखर शास्त्री और श्री प्रबोधचन्द्र बागची ने कतिपय प्रमाणों के आधार पर इसे 'सन्धा भाषा' ही शुद्ध बताया। इनलोगों ने 'सन्धा' शब्द को संस्कृत 'सन्धाय' (अभिप्रेत) का अपभ्रंश रूप स्वीकार किया और 'सन्धा भाषा' का अर्थ अभिसन्धियुक्त या अभिप्राययुक्त भाषा किया। यह भाषा मन्त्र-स्वभाव वाली, गुह्य प्रकृति से युक्त और प्रतीकों के माध्यम से आगे बढ़ने वाली थी। इसमें प्रतीक विभिन्न स्रोतों से आयात किये गये हैं। ये प्रतीक मूलतः अर्थसाम्यगत, साधर्म्यमूलक और चर्यागत होते हैं। औपम्यमूलक प्रतीकों से विभिन्न रूपकों की योजना होती है और विरोधमूलक

प्रतीकों का पर्यवसान उलटबाँसियों में मिलता है। सन्त-साहित्य में उलटबाँसियाँ खूब मिलती हैं।

वज्रयानी सिद्धाचार्यों की तरह नाथों की भी अपनी विशिष्ट परम्परा रही है। वज्रयान की सहज साधना और शैवों की साधना का सम्मिलित पल्लवन ही नाथ-सम्प्रदाय के रूप में प्रख्यात हुआ है। सिद्धों और नाथों का सामान्य अन्तर यों समझा जा सकता है कि बौद्ध तान्त्रिकों के लिए 'सिद्ध' और शैव योगियों के लिए 'नाथ' शब्द रूढ़ हो गया था। नाथ-योगियों की इस शाखा को हिन्दू-शाखा ही मानना चाहिए। इस शाखा में सिद्धों के अश्लील विधान और बीभत्स कार्य वर्जित ही रहे हैं। शिव-शक्ति की भावना के कारण शृंगार की अभिव्यक्ति यहाँ भी हुई है, पर इसकी मात्रा लगभग मर्यादित ही है। 'नाथ' शब्द के प्रयोग वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थ, महाभारत इत्यादि में मिलते हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों में 'नाथ' के अर्थ 'रक्षक', 'शरणदाता', 'स्वामी', 'पति' इत्यादि मिलते हैं। 'बोधिचर्यावतार' में यह शब्द 'बुद्ध' के लिए प्रयुक्त हुआ है। परवर्ती युग में शैव मत के क्रोड़ से विकसित नाथ-सम्प्रदाय में 'नाथ' का अर्थ 'शिव' किया गया है। नाथ-सम्प्रदाय के सबसे बड़े पुरस्कर्त्ता थे मत्स्येन्द्र नाथ के शिष्य गोरखनाथ। गोरखनाथ इसके बारह सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। इस मत के साधक अपने नाम के आगे 'नाथ' शब्द जोड़ते हैं। इनकी संख्या भी चौरासी ही बतायी जाती है। इनमें से अनेक के नाम सिद्धों की सूची में भी मिल जाते हैं। इन्हें 'कनफटा' और 'दरशनी' साधु भी कहा जाता है। विभिन्न परम्पराओं के आधार पर मूल नाथ नौ ठहरते हैं—गोरक्षनाथ, जालन्धरनाथ, नागार्जुन, सहस्रार्जुन, दत्तात्रेय, देवदत्त, जड़भरत, आदिनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ। आदिनाथ साक्षात् शिव थे। मत्स्येन्द्रनाथ और जालन्धरनाथ आदिनाथ के ही शिष्य थे। विचारने पर मत्स्येन्द्रनाथ, जालन्धरनाथ, गोरक्षनाथ और कृष्णनाथ ऐतिहासिक ही ठहरते हैं। इनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की अनुश्रुतियाँ मिलती हैं। गोरखनाथ का समय ई० सन् की नवमीं शती का उत्तरार्द्ध ठहरता है। इस सम्प्रदाय के साहित्य और धर्म का जोर ई० सन् की १४वीं शती तक मिलता है। इस प्रकार, यह सिद्धों और सन्तों की मध्यम कड़ी मानी जा सकती है। इस सम्प्रदाय पर कौल-सम्प्रदाय का भी प्रभाव पड़ा था। इन्हें अष्टांग-योग की साधना सम्भवतः यहीं से मिली थी। दार्शनिक सिद्धान्त के विचार से यह मत शैव मत के अन्तर्गत है और व्यावहारिकता के विचार से इसका सम्बन्ध हठयोग से है। इसकी ईश्वर-सम्बन्धी भावना शून्यवाद के निकट है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में 'ह' का अर्थ सूर्य और 'ठ' का अर्थ चन्द्रमा किया गया है। ब्रह्मानन्द के अनुसार, इसे प्राणवायु और अपानवायु से सम्बद्ध कर सकते हैं। तात्पर्य यह कि प्राणायाम द्वारा इन दोनों प्रकार की वायुओं का निरोध ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या के अनुसार सूर्य (इडा) और चन्द्रमा (पिंगला)

को रोककर सुषुम्ना से प्राण को संचारित करना ही हठयोग है। नाथपन्थी साधकों के लिए हठयोग की क्रिया आवश्यक है। चूँकि यह साधना शून्यवाद (ईश्वरवाद) को लेकर चली, इसी से इसमें मुसलमानों के लिए भी आकर्षण था। गोरखनाथ ने हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए यह एक सामान्य साधना का मार्ग दिया था। आगे पनपने वाली सन्त परम्परा का मूल इसी सम्प्रदाय में मिल जाता है।

नाथ-साहित्य के अन्तर्गत नाथ-साधकों की कृतियाँ ही आती हैं। इनमें अधिक प्रसिद्ध रचना है गोरखनाथ की, जिसका एकत्र संकलन डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने 'गोरखबानी' के नाम से किया है। इसमें गोरखनाथ की चालीस रचनाएँ संकलित हैं। इनके कुछ पद कबीर, दादू आदि के नाम पर आज चलते हुए पाये जाते हैं। गोखरनाथ के अतिरिक्त अजयपाल, सती काणेरी आदि की रचनाएँ भी प्राप्त हैं। विभिन्न मूलों से गरीबनाथ, गोपीचन्द, घोड़ाचूली, चर्पटनाथ, चौरंगीनाथ, जलन्ध्रीपाद, प्रिथीनाथ, भरथरी, मच्छन्द्रनाथ इत्यादि की रचनाएँ भी प्राप्त हुई हैं। परवर्त्ती काल में इस पन्थ के साधकों ने राम, लक्ष्मण, हनुमान, दत्तात्रेय, महादेव, पार्वती इत्यादि के सम्बन्ध में भी रचनाएँ की हैं। गुरु नानक-रचित 'प्राणसंकली' भी इसी सम्प्रदाय की रचना ठहरती है। इस साहित्य में इन्द्रिय-निग्रह, प्राण-साधना, मनःसाधना, नाड़ी-साधन, सुरति-योग, षट्चक्र-अनहदनाद इत्यादि पर ही अधिक लिखा गया है। कायायोग, सहज जीवन, संयत आचरण के साथ रूढ़ि-विरोध आदि पर इन लोगों की उक्तियाँ खूब मिलती हैं। इस सम्प्रदाय ने थोड़ा-बहुत राजनीतिक गतिविधियों पर भी ध्यान दिया है—

हिन्दू-मुसलमान खुदाई के बन्दे, हम जोगी न कोई किसी के छन्दे।

सिद्धाचार्यों और नाथों के साहित्य पर विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से विचारने पर पूर्णतः निराशा होती है। आ० शुक्ल ने इनका साहित्यिक मूल्यांकन करते हुए निष्कर्ष दिया है कि—"उनकी रचनाएँ तान्त्रिक विधान, योग-साधना, आत्म-निग्रह, श्वास-निरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अन्तर्मुख साधना के महत्त्व इत्यादि की साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र है; जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। अतः, वे शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत नहीं आतीं।" यहाँ एक बात यह जान लेना आवश्यक है कि इस साहित्य का साहित्यिक मूल्य भले ही न हो; पर ऐतिहासिक और भाषावैज्ञानिक मूल्य अवश्य है। एक बात और; हिन्दी का सन्त-साहित्य इससे पूर्णतः प्रभावित है। अस्तु, सन्त-साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में इसके अध्ययन का महत्त्व अवश्य बना हुआ है। आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों में कहा जायगा कि—"इसने परवर्त्ती सन्तों के लिए श्रद्धा-चरणप्रधान धर्म की पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। जिन सन्तों की रचनाओं से हिन्दी-साहित्य गौरवान्वित है, उन्हें बहुत कुछ बनी-बनायी भूमि मिली थी।" इसकी

कमजोरियों का आकलन आ० द्विवेदी ने भी किया है; पर इसका महत्त्व वे नहीं भूल सके हैं। निस्सन्देह, यदि यह साहित्य गृहस्थों के प्रति अनादर का भाव न रखता; इतना अधिक रूखा न होता; नीरस, लोकविरोधी और क्षयिष्णु न होता, तो इसका महत्त्व और भी अधिक होता। फिर भी परवर्त्ती हिन्दी-साहित्य में चारित्रिक दृढ़ता, आचरण की शुद्धता आदि कायम करने में इसका महत्त्व भुलाया नहीं जा सकता।

सिद्धों और नाथों की कृतियों के पश्चात् जैनों की कृतियों का आलोड़न भी आवश्यक है। जैनों का कार्यक्षेत्र भारत का पश्चिमी अंचल रहा है। प्राचीन गुर्जर-काव्य और राजस्थानी साहित्य की खोज के क्रम में जैनों के प्रभूत साहित्य का भी पता चला है। विभिन्न जैन-भाण्डारों की सूचियों के प्रकाशन और विभिन्न ग्रन्थमालाओं की स्थापना से इस साहित्य के सम्बन्ध में अनेक बातें सामने आयी हैं। विषयवस्तु और प्रतिपादन-शैली की एकता होने के कारण इस साहित्य की भी एक विशाल परम्परा स्थापित होती है। जैन-साहित्य को मूलतः तीन विभागों में रखा जायगा—साम्प्रदायिक शिक्षा का साहित्य, तीर्थंकर आदि से सम्बन्धित चरित-साहित्य और काव्यात्मक आख्यान। प्रथम प्रकार के साहित्य के महत्त्व गौण हैं। वे भी सिद्धों और नाथों की कृतियों की तरह ही हैं। चरित-साहित्य के भी दो रूप मिलते हैं—अनेक पात्रों की कथा वाले ग्रन्थ और एक पात्र की कथा वाले ग्रन्थ। प्रथम की अपेक्षा इनका साहित्यिक महत्त्व अधिक है। तीसरी कोटि के ग्रन्थ विशुद्ध साहित्यिक ठहरते हैं।

जैन-साहित्य भी धार्मिक दृष्टिकोण के कारण ही रचा गया है; पर श्रमणमार्ग या साधुमार्ग का साहित्य होने पर भी इसमें सिद्धों और नाथों जैसी अहमन्यता का अभाव है। साथ ही, इनका मार्ग भी बंकिम नहीं था। कतिपय विचारकों ने इस साहित्य पर विचार करते हुए यहाँ तक कह डाला है कि यदि इस साहित्य को शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत नहीं रखा जाता है तो सूर, तुलसी, जायसी इत्यादि की कृतियाँ भी शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत नहीं रखी जा सकतीं। वस्तुतः, यह वकालत मिथ्या ज्ञान पर आधारित है। पुष्टिमार्ग, श्रीसम्प्रदाय और सूफीमत में दीक्षित होने पर भी क्रमशः सूर, तुलसी, जायसी प्रचारक नहीं प्रतीत होते। तीनों ने लिखा है अपने सम्प्रदाय के अनुकूल ही; पर इनकी रचनाओं में साम्प्रदायिक सिद्धान्त वाच्य होकर नहीं आये हैं। इनलोगों में लोकजीवन के प्रति इतनी गहरी रुचि है कि ये किसी सम्प्रदायविशेष में होकर भी मात्र उसी के प्रतीत नहीं होते। तभी तो इनके सम्प्रदाय और दर्शन पर विचार करते-करते अनेक लोग डॉक्टर हो गये, फिर भी वे समाधान न पा सके। अस्तु, कहा जायगा कि जैन चरित-काव्य साहित्य के अन्तर्गत ग्रहीत होकर भी साम्प्रदायिक ही अधिक हैं, शुद्ध साहित्य कम; पर सूर, तुलसी, जायसी इत्यादि की कृतियाँ शुद्ध साहित्य ही अधिक हैं, साम्प्रदायिक सिद्धान्तों

की व्याख्या करने वाली कम।

जैन-साहित्य की विपुल राशि अभी अप्रकाशित ही अधिक है। इसी से इसका आलोड़न अपेक्षाकृत कम हो सकता है। प्रमुख जैन कर्त्ता हैं—चतुर्मुख, स्वयम्भू, देवसेन, पद्मकीर्ति, पुष्पदन्त, हरिषेण, श्रीचन्द, नयनन्दि, योगीन्दु, धनपाल, रामसिंह, कनकामर, जिनदत्त सूरि, हेमचन्द सूरि, हरिभद्र सूरि, शालिभद्र सूरि, सोमप्रभ सूरि, विनयचन्द्र सूरि, अम्बदेव सूरि, राजशेखर सूरि इत्यादि। इनकी अधिकांश रचनाएँ चरित, चउपई, रास, दूहा इत्यादि नामों से मिलती हैं। आकार और शैली में अन्तर होने पर भी इनमें विषयवस्तु और धर्मोपदेशप्रधान स्वर की सर्वत्र समानता ही मिलती है। प्रमुख रचनाओं में 'पउमचरिउ', 'रिट्ठणेमिचरिउ', 'पंचमिचरिउ' (स्वयम्भू), 'महापुराण', 'णायकुमारचरिउ', 'जसधरचरिउ (पुष्पदन्त), 'सुदर्शनचरिउ', 'सकल विधिविधान' (नयनन्दि), 'भविष्यतकहा' (धनपाल), 'करिकंड चरिउ' (कनकामर), 'द्वयाश्रय काव्य' (हेमचन्द्र सूरि), 'कुमारपालप्रतिबोध' (सोमप्रभ सूरि), 'प्रबन्धचिन्तामणि' (मेरुतुंग) इत्यादि के नाम लिये जाते हैं। चतुर्भुज ने सम्भवतः 'महाभारत' की रचना की थी, जिसकी 'गोग्रहणकथा' सर्वाधिक मार्मिक और सुन्दर है। उपलब्ध रचनाओं में स्वयम्भू और पुष्पदन्त की कृतियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पुष्पदन्त को 'वागीश्वरीदेवीनिकेत', 'काव्यपिसल्ल', 'अभिमानमेरु', 'कविकुलतिलक' इत्यादि उपाधियाँ भी प्राप्त थीं। ये उपाधियाँ ही उनकी काव्यात्मक प्रतिभा की परिचायक हैं।

जैन-साहित्य मात्र अपभ्रंश में ही नहीं, अपितु हिन्दी में भी उपलब्ध है। हिन्दी जैन साहित्य का वास्तविक आरम्भ पन्द्रहवीं शती में होता है। इस प्रकार की रचनाएँ उन्नीसवीं शती तक मिलती हैं। हिन्दी जैन-कवियों में कवि साधारण, छीहल, ठाकुरसी, धर्मदास, मालदेव, दामोकवि, कविवर बनारसीदास, कुँवरपाल, नाहर जटमल, बुधजन इत्यादि अनेक नाम गिनाये जायँगे। विषयवस्तु की दृष्टि से इनकी रचनाएँ भी पिछले काँटे की ही ठहरती हैं। अन्तर मात्र भाषा-विधान और छन्द-विधान को लेकर ही समझिए। अधिकांश रचनाएँ भविष्यदत्त, गौतम स्वामी, यशोधर, जम्बूस्वामी इत्यादि धार्मिक व्यक्तियों को ही लेकर लिखी गयी हैं। एकरसता होने पर भी यत्र-तत्र नवीनता भी इनमें मिलती है। कहीं-कहीं समसामयिक समाज आदि पर इनकी दृष्टि जमी है।

दरबारों में प्रशस्ति-काव्य की रचना सदा होती रही है। इस प्रकार की कृतियों के कर्त्ता के रूप में विद्यापति का नाम लिया जायगा। इनकी दो कृतियाँ—'कीर्त्तिलता' और 'कीर्त्तिपताका' राजा कीर्त्तिसिंह के यशःप्रसार के लिए ही लिखी गयी हैं। प्रथम वीरकाव्य है और दूसरा प्रेमकाव्य। 'कीर्त्तिपताका' खण्डित रूप में उपलब्ध होती है। मध्य-काल में वृत्तान्त-कथन की तीन शैलियाँ थीं—

ऐतिहासिक काव्यों की शैली, कथा-काव्यों की शैली और मसनवी-शैली । 'कीर्त्तिलता' का सम्बन्ध प्रथम दो शैलियों से है । एक ओर यह ऐतिहासिक शैली में लिखे जाने वाले चरित-काव्य की विशेषता लिये हुए है और दूसरी ओर इसमें कथा-काव्यों की शैली भी है । इसकी पुष्टि स्वयं कवि के कथन से भी होती है—

१. 'राय चरित्त रसालयहु, णाह न राखइ गोइ ।'— कीर्त्तिलता ।
२. 'पुरिष कहाणी हञौ, कहञो जसु पत्थावै पुन्न'— कीर्त्तिलता ।

इसमें आत्मनम्रता, सज्जनप्रशंसा, दुर्जननिन्दा, युद्ध और राज्यलाभ का वर्णन किया गया है । अन्त में कवि ने माहात्म्य-वर्णन भी किया है । छोटी रचना होने के कारण ही कवि ने सम्भवतः इसे 'कहाणी' कहा है । इसकी कथा भृंग-भृंगी के संवादों द्वारा बढ़ी है; पर पुराणों की तरह यहाँ संवादों का गुम्फ नहीं है । छोटी रचना होने पर भी तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक स्थितियों, हाट-बाट, सेनाप्रस्थान, रैणरंग, वेश्याविलास आदि का जितना प्रामाणिक वर्णन इसमें उपलब्ध है, मध्यकालीन अन्य रचनाओं में उसका अभाव ही समझिए । लक्ष्मणाब्द २५८ में असलान द्वारा छलपूर्वक राजा गणेश्वर के मारे जाने पर तिरहुत में जिस अराजकता की स्थिति आ गयी थी, उसका वर्णन देखिए—

'ठाकुर ठक भए गेल चोरें चप्पर घरॅ लिज्झिअ ।
दास गोसाञुनि गहिअ धम्म गए धन्ध निमज्जिअ ।
खले सज्जन परिभविअ कोई नहीं होइ विचारक ।
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम काँ पारक ।
अक्खर रस बुझनिहार नहिं कइ कुल भमि भिक्खारि भउँ ।
तिरहुत्ति तिरोहित सब्ब गुणे रा गणेश जबे सग्ग गऊँ ।।'

जौनपुर नगर का वर्णन, वहाँ के हाट-बाजार का वर्णन कवि की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है । यह वर्णन तुलसी के जनकपुर-वर्णन से कहीं उत्तम हो गया है । हाट में बैठी वणिक स्त्रियों से लोग किस प्रकार सम्भाषण करते हैं, इसके निरूपण द्वारा कवि ने तत्कालीन सामाजिक और नैतिक स्थिति का तो संकेत किया है, अपनी अन्तर्दृष्टि का परिचय भी उसने दिया है—

'सब दिसँ पसरु पसार रूप जोब्बण गुणे आगरि ।
बानिनि बीथी माँड़ि बइस सए सहसहि नागरि ।।
सम्माषन किछु वेआज कई तासञो कहिणी सब्ब कह ।
विक्कणइ बेसाहइ अप्प सुखे डिठी कुतूहल लाभ रह ।।'

इसी प्रकार, मुसलमानों की गंदी आदतों का घृणात्मक वर्णन एवं उनके द्वारा हिन्दुओं पर किये जाने वाले अत्याचारों का भी दबी जबान से इन्होंने वर्णन किया है—

अबे बे भणन्ता सराबा पिअन्ता ।
× × ×

अति गइ सुभर सो दाए बाए लै माँगक गुन्डा।
बिनु कारणहि कोहाए बएन तातल तमकुन्डा ॥
तुरुक तोषार हीं चलल हाट भमि हेड़ा चाहइ।
आड़ी डीठि निहार दवलि दाढ़ी थुक बाहइ ॥
× × ×
धरि आनए बामन बटुआ, मथां चढ़ाबएँ गाइक चुड़ुआ।
फोट चाटि जनेउ तोर, ऊपर चढ़ावए चाह घोर ॥
धोआ उरिधाने मदिरा साँध, देउर माँग मसीद बाँध।
गोर गोमर पुरिल मही, पैरहुँ देनाइक ठाम नहीं ॥

नगर की विक्रयार्थ वस्तुएँ, वहाँ के जनसम्मर्द, मधुशाला, वेश्या, अट्टालिका का वर्णन कवि ने बड़े कटकीने के साथ किया है। पुनः युद्ध-वर्णन में भी इन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। वेश्या के धूमायित केश और नूपुरों की छमक के साथ युद्ध-भूमि के पटहतूर्य का सच्चा आकलन यहाँ हो गया है। यदि 'एक-देशानुसारित्व' के सन्दर्भ में विचार करें तो यह खण्डकाव्य ही ठहरता है। इसकी भाषा के सम्बन्ध में कवि ने 'देसिल बअना सब जन मिठ्ठा, तँ तैसन जम्पओं अवहट्टा' के साथ 'ई णिच्चइ नाअर मनमोहइ' भी कहा है। इसमें गद्य का प्रयोग भी हुआ है। गद्य संस्कृतगर्भित और सानुप्रासिक है — "तान्हि वेश्यान्हि करो सुखसार' मण्डन्ते, अलकतिलक पत्रावली खण्डन्ते, दिव्यांवर पिन्धन्ते, उभारि-उभारि केशपाश बन्धन्ते, सखिजन प्रेरन्ते, हसि हेरन्ते, सयानी, लासमी, पातरी, पतोहरी, तरुणी, तरही, वन्ही, विअक्खनी, परिहासपेसली, सुन्दरी साथ जबे देखिय तबे मन करे तेसरा लागि तीनू उपेक्खिआ।" सम्पूर्ण दृष्टि से यह काव्य घटना-चक्र, वर्णन-विस्तार, भावाभिव्यंजन इत्यादि के क्षेत्र में अद्वितीय है।

अपभ्रंश के स्वच्छन्द कवियों में अद्दहमाण (अब्दुर्रहमान या अब्धिमान ?) का नाम लिया जायगा। इनकी कृति है 'सन्देशरासक'। कालिदास के 'मेघदूत' के ढंग पर लिखा गया यह भी सन्देश-काव्य है। सन्देश-वहन का कार्य करता है यहाँ पथिक। प्रोषितभर्तृका नारी ने पथिक द्वारा सन्देश भेजा है। अनेक युक्तियों के पश्चात् आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसका रचना-काल ग्यारहवीं शती स्थिर किया है। यह एक विरह-काव्य है, जिसकी रचना तीन प्रक्रमों में की गयी है। इसमें कुल २२३ छन्द हैं। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से अपभ्रंश-साहित्य में इसका विशेष महत्त्व है। सन्देश-कथन में कवि ने नारी-हृदय की परवशता, आकुलता, विदग्धता इत्यादि के वर्णन में अपनी समस्त प्रतिभा लगा दी है। इसमें कवि ने षड्ऋतु का वर्णन सीधे-सादे किन्तु प्रभावुक ढंग से किया है। शरद ऋतु का वर्णन करते हुए नायिका का यह अनुमान करना कि 'क्या वहाँ शरद का राकाशशि अपनी ज्योत्स्ना नहीं बिखेरता ? क्या अरविन्दों के बीच कलहंस नहीं कूजते ? क्या वहाँ कोकिल

पंचम स्वर से नहीं गाती ? सूर्योदय के कारण खिले कुसुमों से क्या वातावरण मादक नहीं होता ? यदि यह सब होता ही है, तो उसका प्रिय इतना अरसिक क्यों हो गया जिसे घर की याद नहीं आती ?' इत्यादि बातें बड़ी प्रभावकारी हो गयी हैं—

> किं तहि देस णहु फुरइ जुन्ह निसि णिम्मल चन्द्रह ।
> अह कलरउ न कुणति हंस फल सेवि रविंदह ।
> अह पायउ णहु पढ़इ कोइ सुललिय पुण राइण ।
> अह पंचउ कुणई कोइ कावालिय माइण ।।

निश्चय ही यह विरह-काव्य अपनी मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए बेजोड़ है। कतिपय विचारकों ने 'ढोलामारू रा दोहा', 'वेलिक्रिसन रुक्मिणीरी' आदि को भी अपभ्रंश की कृतियों में ही मानकर उनकी आलोचनाएँ प्रस्तुत की हैं; पर वस्तुतः वे डिंगल और पुरानी राजस्थानी के ही निकट हैं। वे अपभ्रंश की कृतियाँ नहीं मानी जा सकतीं।

अपभ्रंश-साहित्य के विभिन्न स्रोतों और उसकी परम्पराओं की चर्चा के पश्चात् यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से सामने आ जाता है कि क्या अपभ्रंश को हिन्दी कहा जा सकता है ? विभिन्न इतिहासकार हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन के पूर्व अपभ्रंश-साहित्य को उसकी पूर्वपीठिका के रूप में ग्रहण करते रहे हैं। यह परम्परा मिश्रबन्धुओं से ही आरम्भ हुई है। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जी ने तो अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' ही कह दिया है। अपभ्रंश के सम्बन्ध में उनके सारे विचार-विमर्श आज 'पुरानी हिन्दी' (ना. प्र. सभा.) के नाम से प्रकाशित भी हैं। आ० शुक्ल ने भी अपभ्रंश को 'प्राकृताभास हिन्दी' अथवा 'प्राकृतरूढ़ियों से बहुत कुछ बद्ध'—हिन्दी ही कहा है। उनका यह कथन कि "अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तान्त्रिक और योगमार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लगता है।.... अतः **हिन्दी काव्य-भाषा के पुराने रूप** का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लगता है"— भी अपभ्रंश को 'प्राकृताभास हिन्दी' और 'हिन्दी काव्य-भाषा का पुराना रूप' ही मानने के पक्ष में पड़ता है। 'सिद्ध-सामन्त-युग' की सार्थकता बताते हुए श्री राहुलजी भी अपभ्रंश की पुरानी रचनाओं, बौद्ध सिद्धों के पदों और दोहों को हिन्दी ही बता गये हैं। इसका विरोध भी काफी हुआ था। बँगला के विद्वान् उसे बँगला और पश्चिमी अपभ्रंश को गुजराती के विद्वान् 'जूनी गुजराती' (पुरानी गुजराती) ही मानने के पक्ष में हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं कि अनेक विद्वान् इसी मत को प्रकारान्तर से मानने के पक्ष में हैं कि अपभ्रंश को हिन्दी कहा जा सकता है। किन्तु, इस प्रकार की धारणा मिथ्या ज्ञान और हिन्दी की जड़ को सातवीं शती तक बताने के स्वार्थ के कारण ही हुई है।

सच बात तो यह है कि अपभ्रंश और हिन्दी दो भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं। दोनों में पूर्णतः अन्तर है। इसकी पुष्टि के लिए अटकलबाजियों से काम लेना बेकार है। इसका समाधान भाषाशास्त्र और भाषाविज्ञान से ही निकालना उत्तम है। भाषावैज्ञानिकों ने अपभ्रंश और हिन्दी का विवेचन पूर्णतः विभिन्न भाषाओं के रूप में किया है। भाषाशास्त्रियों के अनुसार लगभग १३०० ई० तक अपभ्रंश-साहित्य का ही काल है। हिन्दी की रचनाएँ इसके पश्चात् की हैं। इस समय तक की रचनाओं को हिन्दी बताना दूर की सूझ है। इसके समर्थन में कतिपय भाषाशास्त्रियों के मत रखे जा सकते हैं—

१. सुनीतिकुमार चटर्जी— "यह मालूम नहीं पड़ता कि यह हिन्दी ठीक-ठीक कौन-सी बोली थी, परन्तु सम्भव है कि यह ब्रजभाषा या पश्चात्कालीन हिन्दुस्तानी के सदृश न होकर १३वीं शती में प्रचलित सर्वसाधारण की साहित्यिक अपभ्रंश ही रही हो; क्योंकि १३ वीं या १४ वीं शती ईसवी तक हमें हिन्दी या हिन्दुस्तानी का दर्शन नहीं होता।"— भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी।

२. उदयनारायण तिवारी— "आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् १३ वीं शती के प्रारम्भ और आधुनिक भारतीय भाषाओं के अभ्युदय के समय १५ वीं शती के पूर्व तक का काल संक्रान्ति-काल था, जिसमें भारतीय आर्यभाषाएँ धीरे-धीरे अपभ्रंश की स्थिति छोड़कर आधुनिक काल की विशेषताओं से युक्त होती जा रही थीं।"

—हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास।

३. बाबूराम सक्सेना—"विद्यापति के समय में आधुनिक भाषाओं का हिन्दी, मैथिली आदि नाम अभी प्रचलित नहीं हुआ था। भाषाएँ अभी अपभ्रंश ही कहलाती थीं। नहीं तो विद्यापति एक ही वस्तु को 'देसिल बअना' या 'अवहट्टा' नहीं कहते।" —कीर्त्तिलता की भूमिका।

उपर्युक्त मान्यताओं पर विचारने से स्पष्ट होगा कि १३ वीं-१४ वीं शती तक अपभ्रंश से अलग हिन्दी का रूप पूर्णतः निखर ही नहीं सका था। यह कार्य अभी हो ही रहा था। अस्तु, ऐसी स्थिति में सातवीं-आठवीं शती की रचनाओं को तो क्या, ग्यारहवीं-बारहवीं शती की रचनाओं को भी पुरानी हिन्दी या प्राकृताभास हिन्दी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः ये भाषाएँ पूर्णतः अपभ्रंश ही हैं। इसकी पुष्टि अन्य स्थल पर स्वयं राहुलजी भी करते हैं — "हम जब पुराने कवियों की भाषा को हिन्दी कहते हैं, तो इसपर मराठी, उड़िया, बँगला, असमिया, गोरखा, पंजाबी, गुजराती भाषाभाषियों को आपत्ति हो सकती है। उन्हें भी उसे अपना कहने का उतना ही अधिकार है, जितना हिन्दी भाषाभाषियों को। वस्तुतः वे सारी आधुनिक भाषाएँ बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंश से अलग होती दीख पड़ती हैं। वस्तुतः ये सिद्ध-सामन्तयुगीन कवियों की रचनाएँ उपर्युक्त सारी

भाषाओं की सम्मिलित निधि है।" इसी प्रकार, आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी भी मानते हैं कि— "यह विचार (अपभ्रंश को हिन्दी कहना) भाषाशास्त्रीय और वैज्ञानिक नहीं है।" अतः, अब निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि गुलेरीजी का यह विचार कि— "अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कहना अनुचित नहीं" पूर्णतः अनुचित ही है।

इसी के क्रम-भेद में एक बात और विचारणीय है। आदिकाल की चर्चा करते समय आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने मूल हिन्दीभाषी प्रदेश में हिन्दी की रचनाओं के अभाव की चर्चा करते हुए उसके लिए राजाश्रय का अभाव, धर्माश्रय का अभाव और लोक में मौखिक रूप में प्रचलन की ओर निर्देश किया है। अपनी तीनों बातों की पुष्टि के निमित्त इन्होंने बड़ी लम्बी विवेचना की है। यहाँ उसके विस्तार में न जाकर, हम यही कहना चाहते हैं कि इस प्रश्न का समाधान ऊपर के प्रश्न से ही हो जाता है। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि १४वीं शती तक अपभ्रंश भाषा और उसके साहित्य का समय था। अस्तु, उस समय हिन्दी की रचनाएँ मिलतीं कैसे? उस समय तक हिन्दी का स्वरूप भी तो स्थिर नहीं हुआ था। जिनलोगों ने अपभ्रंश-युग को बलात् हिन्दी का युग (आदिकाल, वीर-गाथा-काल आदि) मान लिया है, उन्हीं के सामने यह समस्या है। यह समस्या स्वाभाविक नहीं, कृत्रिम है। हिन्दी की रचनाओं के अभाव का कारण न तो मुसलमानी आक्रमण है, न अशान्ति, न राजाश्रय का अभाव, न धर्माश्रय की कमी, न शासकविशेष की अवज्ञा और न देश में मौखिक प्रचलन का अभाव; अपितु यह तो युग ही अपभ्रंश का है, हिन्दी का नहीं। इसी से इस युग में अपभ्रंश की कृतियाँ तो सर्वत्र मिलती हैं, पर हिन्दी की नहीं।

अपभ्रंश-साहित्य के बन्ध पर विचार किया जाय तो प्रतीत होता है कि इसमें तीन प्रकार के बन्ध प्रयुक्त हुए हैं— दोहाबन्ध, पद्धड़ियाबन्ध और गेय पदबन्ध। इनके अतिरिक्त छप्पय, कुंडलिया आदि के बन्ध भी मिलते हैं। दोहा या दूहा अपभ्रंश का लाड़ला छन्द रहा है। इसी से अपभ्रंश को कुछ लोगों ने 'दूहा विद्या' भी कहा है। दोहों में धार्मिक उपदेश, नीतिविषयक बातें, वीररसात्मक उद्‌गार और शृंगारपरक उक्तियाँ मिलती हैं। 'संगीतरत्नाकर' में दोहे का व्युत्पादन 'द्विपथ' से किया गया है। रासो के 'साटक गाह दुहत्थ' में प्रयुक्त 'दुहत्थ'-शब्द के 'हत्थ' का अर्थ यदि पंक्ति से लिया जाय तो ऐसी स्थिति में 'दुहत्थ' (द्विहस्त) से भी व्युत्पादन किया जा सकता है।

दोहाबन्ध के पश्चात् महत्त्वपूर्ण है पद्धड़ियाबन्ध। अधिकांश जैन चरित-काव्य इसी बन्ध में मिलते हैं। पद्धरी या पद्धड़िया छन्द की लगभग आठ-आठ पंक्तियों के बाद धत्ता देने की पद्धति मिलती है, जिसे 'कडवक' कहते हैं। पद्धरी १६

मात्राओं का छन्द है। इसी के नाम पद्धड़ियाबन्ध कहा जाता है। अलिल्लह आदि छन्दों में लिखे गये काव्य भी पद्धड़ियाबन्ध के अन्तर्गत ही ग्रहीत हुए हैं। पूर्वी अंचल में इसी बन्ध के समानान्तर चौपाई और दोहों की पद्धति मिलती है, जिसका प्रयोग सरहपा ने किया है। गेय पदबन्ध में गाने योग्य पद रखे जाते थे। इस बन्ध का साहित्य अपेक्षाकृत कम है। 'सन्देश रासक' में यही बन्ध है। सम्पूर्ण रूप से रासक-छन्द गेय पदबन्ध के अन्तर्गत ही आते हैं।

बन्ध के विचार से अपभ्रंश-साहित्य पर दूसरे ढंग से भी विचार किया जा सकता है। इस अर्थ में बन्ध को काव्य-रूप का पर्याय मान लेना होगा। काव्य-रूपों की दृष्टि से अपभ्रंश में प्रबन्धात्मक काव्य, खण्डकाव्य और मुक्तक काव्य मिलते हैं। जैन चरित-काव्य अधिकतर प्रबन्धात्मक ही हैं। इनमें भाषा, छन्द, अलंकार, भाव इत्यादि का रूप अधिक निखरा हुआ मिलता है। खण्डकाव्यों में दो के नाम ही महत्त्वपूर्ण हैं— 'संदेश रासक' और 'कीर्त्तिलता'। विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से इन दोनों काव्यों का सम्पूर्ण अपभ्रंश-साहित्य में सर्वाधिक महत्त्व है। यदि जीवन की सर्वाधिक स्वाभाविक सरणि कहीं आ सकी है, तो यहीं। मुक्तक रचनाएँ अधिकतर साम्प्रदायिक शिक्षा के लिए ही उपयोगी हैं। इनमें धर्मोपदेश आदि ही प्रमुख हैं।

अपभ्रंश-साहित्य और भाषा का हिन्दी-साहित्य और भाषा से गहरा सम्बन्ध है। हिन्दी को अपभ्रंश की देन पर विचार किया जाय तो यह एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय बन सकता है। यहाँ हम थोड़े में निर्देश मात्र कर सकेंगे। भाषा, भाव, छन्द-विधान, काव्य-रूप, काव्य-रूढ़ियाँ इत्यादि सभी दृष्टियों से हिन्दी अपभ्रंश की ऋणी है। अपभ्रंश के चरित-काव्यों का स्पष्ट रूप से हिन्दी रासो-काव्यों पर प्रभाव देखा जा सकता है। राजाओं के वैभव, बहुविवाह, युद्ध इत्यादि के वर्णन में अपभ्रंश के चरित-काव्यों की प्रवृत्ति पूर्णतः मिलती है। इसी प्रकार, सन्देश-रासक, भविस्यत कहा आदि काव्यों का प्रभाव हिन्दी के विरह-काव्यों पर पूर्णतः पड़ा है। कल्पनाप्रसूत आख्यान-काव्यों में उपयुक्त ग्रन्थों का ही प्रभाव मिलता है। भक्ति-काल में जो सन्त-काव्य लिखे गये, उनपर सिद्धों और नाथों का स्पष्ट प्रभाव है। सन्त-काव्य की भूमि वहीं तैयार हो गयी थी। इनकी खण्डनात्मक प्रवृत्ति, उलटबाँसियों, दृष्टकूटों का पूर्वरूप वहीं उपलब्ध है। सूफी-आख्यानों का धार्मिक रूप लगभग जैन-आख्यानों में मिलता ही है। शृंगारकालीन काव्य में नखशिख-वर्णन, षड्ऋतु-वर्णन, शृंगार-अतिरेक के चित्रण इत्यादि हैं। इसका पूर्वरूप पश्चिमी अपभ्रंश में मिलता है। तात्पर्य यह कि शृंगार-काल तक अपभ्रंश से काव्य-विषय तक लिये गये हैं। आदिकालीन साहित्य पर विचारते हुए आ० ह० प्र० द्विवेदी ने कहा है कि— "वस्तुतः छन्द, काव्यगत रूप,

वक्तव्य-वस्तु, कवि-रूढ़ियों और परम्पराओं की दृष्टि से यह साहित्य अपभ्रंश-साहित्य का बढ़ावा है।"

हिन्दी में जिन मात्रिक छन्दों का प्रचलन तेजी से होता है, उनके पूर्वरूप भी वहीं उपलब्ध होते हैं। पद्धरी, दोहा, चौपाई, सवैया, घनाक्षरी, छप्पय, कुंडलिया, रोला इत्यादि छन्द यहीं मिलते हैं। सवैया अपभ्रंश के त्रोटक का द्विगुणित रूप ही है। रोला का प्रयोग धनपाल ने किया है। अन्य छन्द तो बहुप्रचलित रहे ही हैं। काव्य-रूपों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जायगी। रासक-काव्य-रूप अपभ्रंश से ही हिन्दी में आया है। चरित-काव्यों की परम्परा तो शृंगारकालीन प्रशस्ति-काव्यों तक में मिलती है। कबीर, तुलसी, सूर, मीरा इत्यादि की पद-शैली का पूर्वरूप अपभ्रंश में ही वर्त्तमान है। प्रबन्धों में मंगलाचरण, आत्मनिवेदन, सज्जनप्रशंसा, दुर्जननिन्दा, संवाद के सहारे कथा का बढ़ना आदि काव्य-रूढ़ियाँ अपभ्रंश से ही ग्रहीत हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० नामवर सिंह की बातें ध्यान देने योग्य हैं— "भावधारा के विषय में अपभ्रंश से हिन्दी का जहाँ केवल ऐतिहासिक सम्बन्ध है, वहाँ काव्यरूपों और छन्दों के क्षेत्र में उसपर अपभ्रंश की गहरी छाप है। रूप-विधान विषयवस्तु की अपेक्षा धीरे-धीरे बदलता है। और, इस विषय में रूढ़ियों का पालन अधिक दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि हिन्दी ने अपभ्रंश की काव्यसम्बन्धी अनेक परिपाटियों को ज्यों-का-त्यों और कुछ थोड़ा सुधारकर स्वीकार कर लिया। इस तरह, हिन्दी ने अपभ्रंश की जीवन्त परम्परा के भाषा और साहित्य दोनों क्षेत्रों में ऐतिहासिक विकास किया।" अपभ्रंश-साहित्य के महत्त्वपूर्ण योगदान की चर्चा करते हुए आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है— "इस प्रकार, हिन्दी-साहित्य में प्रायः पूरी परम्पराएँ ज्यों-की-त्यों सुरक्षित हैं। शायद ही किसी प्रान्तीय साहित्य में ये सारी-की-सारी विशेषताएँ इतनी मात्रा में और इस रूप में सुरक्षित हों। यह सब देखकर यदि हिन्दी को अपभ्रंश-साहित्य से अभिन्न समझा जाता है, तो इसे बहुत अनुचित नहीं कहा जा सकता। इन ऊपरी साहित्य-रूपों को छोड़ भी दिया जाय, तो भी इस साहित्य की प्राणधारा निरवच्छिन्न रूप से परवर्त्ती हिन्दी साहित्य में प्रवाहित होती रही है।" अस्तु, यह निर्विवाद है कि अपभ्रंश-साहित्य ने हिन्दी-साहित्य को सब विधियों से प्रभावित किया है।

अपभ्रंश-साहित्य की चर्चा समाप्त करते हुए हम कह सकते हैं कि लगातार सात सौ वर्षों तक लिखा जाने वाला साहित्य निश्चय ही अपने पेटे में एक विपुल राशि लिये है। इसमें विषय का वैविध्य है। कुछ रचनाएँ तो धर्मोपदेश और साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं। वे भाषा की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण हैं; पर इस साहित्य का कुछ अंश निश्चय ही बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसने जीवन को ऋजु मार्ग से देखने का प्रयास किया है। इसमें जीवन की तिक्तता, मिठास आदि सब कुछ

हैं। साथ ही, परवर्त्ती साहित्य की प्रसविणी के रूप में भी इस साहित्य की कृतियों का अक्षय स्थान है। हिन्दी-साहित्य में कुछ ऐसी भी परम्पराएँ हैं, जिनके समुचित अध्ययन के लिए अपभ्रंश-साहित्य का आलोड़न आवश्यक है। अभी तक इस ओर बहुत कम लोगों का ध्यान गया है। हम लोग पिछलगुए ही अधिक रहे हैं। यदि जर्मन विद्वान् पिशेल और याकोबी इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट न कराते, तो शायद अब तक इस साहित्य का इतना भी अध्ययन होता या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। इसकी विपुल राशि के अध्ययन में सबसे बड़ी बाधा है इसका अप्रकाशित होना। अनेक उत्साही अनुसन्धित्सु इस ओर अग्रसर हैं तथा कई संस्थाओं की ओर से इन ग्रन्थों के प्रकाशन पर भी समुचित ध्यान दिया जा रहा है। निश्चय ही इसके अध्ययन और अवगाहन से हमें अभी नयी-नयी उपलब्धियाँ प्राप्त करनी हैं।

६

रासो काव्यधारा

[उपक्रम—रासो के लिए अनेक शब्द और उनकी व्युत्पत्ति—'रासक' विशिष्ट काव्य-रूप—दो धाराएँ—नृत्य-गीतपरक धारा—बीसलदेव रासो—छन्द वैविध्यपरक धारा—सन्देश रासक—पृथ्वीराज रासो (प्रामाणिकता, भाषा, काव्यसौष्ठव)—विशिष्टताएँ और महत्त्व—उपसंहार]

'रासो' शब्द एक विशिष्ट काव्य-पद्धति का सूचक है। चरित-काव्य, विलास-काव्य, मंगल-काव्य इत्यादि की तरह ही रासो-काव्य की अपनी सुदीर्घ परम्परा रही है। संस्कृत और प्राकृत में रासो-काव्य अपवादस्वरूप भी नहीं मिलते हैं। इस प्रकार के काव्य अपभ्रंश, हिन्दी (डिंगल और पिंगल) और गुजराती में मिलते हैं। 'रासो' नाम से अभिहित समस्त उपलब्ध रचनाओं को दो धाराओं में रखा जाता है— गीत-नृत्यपरक धारा में और छन्द-वैविध्यपरक धारा में। प्रथम प्रकार की रचनाएँ पश्चिमी राजस्थान और गुजरात में तथा द्वितीय प्रकार की रचनाएँ पूर्वी राजस्थान और शेष हिन्दी-प्रदेश में रची गयी हैं। प्रथम का आदर्श रूप उपस्थित करता है 'बीसलदेव रासो' और द्वितीय का 'पृथ्वीराज रासो'। 'पृथ्वीराज रासो' को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य होने का गौरव मिला है। निश्चय ही रासो-काव्यों का हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ महत्त्व है।

रासो-काव्यों में अभिरुचि रखने वाले अनेक विद्वान् समय-समय पर 'रासो' शब्द के अर्थ और व्युत्पादन पर विचार करते रहे हैं। अनेक प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप इसकी व्युत्पत्ति के लिए अब तक रहस्य (श्री काशी प्रसाद जायसवाल, कविराजा श्यामलदास, पं० रामनारायणजी दूगड़ आदि), रसायण (आ० शुक्ल), राजादेश, राजयश (डॉ० ग्रियर्सन), राजसूय (गार्सां द तासी), राजयज्ञ (विन्ध्येश्वरी प्रसाद पाठक) और रास या रासक (मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, डॉ० चन्द्रबली पाण्डेय, मुंशी देवीप्रसाद, पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, आ० द्विवेदी, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, डॉ० दशरथ शर्मा, पं० नरोत्तम स्वामी, आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इत्यादि) इत्यादि शब्द आये हैं। रासो के लिए प्रायः छह शब्द प्रचलित हैं—रास, रासा, रासो, रासौ, रायसा और रायसो। रासो और उसके लिए चलने वाले अनेक नामों (शब्दों) और इनके व्युत्पादन के लिए प्रस्तुत किये गये अनेक विचारों पर लोगों ने काफी चर्चा की है, जिसके विस्तार में न जाते हुए यहाँ इतना ही कहना अभीष्ट है

कि लोगों ने रासो-काव्य के इतिहास, उसकी परम्परा और भाषाशास्त्रीय ध्वनि-विकास को ध्यान में रखकर उसकी व्युत्पत्ति 'रास' या 'रासक' शब्द से ही स्वीकार की है।

प्रमाणों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जायगा कि 'रासक' शब्द 'काव्य' के अर्थ में भी व्यवहृत होता था। इसकी पुष्टि 'पृथ्वीराज रासो' के हस्तलेख की पुष्पिका और 'सन्देश रासक' में प्रयुक्त 'रासक' शब्द से भी होती है। अस्तु, 'रासो' शब्द का विकास 'रासक' से ही मानना उचित प्रतीत होता है। इसके ग्रहण करने में भाषाशास्त्रीय और वैयाकरण व्याख्याएँ भी पक्ष में पड़ती हैं। 'रासक' से 'रासो' के विभिन्न रूपों की निष्पति सुभीते से हो जाती है। जैसे, संस्कृत के 'घोटक' शब्द से घोड़ो (ब्रजभाषा), घोड़ा (खड़ी बोली) और घोड़ (अवधी) होते हैं, उसी प्रकार 'रासक' से रासो (ब्रजभाषा), रासा (खड़ी बोली) और रास (अवधी) हुए हैं। 'रासक' से प्राकृत में 'रासअ>रासओ, रासय' आदि रूप भी मिल जाते हैं। 'रासौ' रूप (रासक>रासकु>रासउ>रासौ) भी इसी से व्युत्पन्न है, चूँकि अपभ्रंश में अकारान्त पुलिंग शब्द के प्रथमा एकवचन का रूप उकारान्त होता था। रासक के 'रासय' रूप का वर्णव्यत्यय से 'रायस' रूप तो हो ही सकता है, जिससे 'रायसा' और 'रायसो' भी हुए हैं। यदि यह अग्राह्य हो तो 'रासो' के मध्य में 'अ' की कल्पना वर्णागम से की जा सकती है और 'अ' से 'य' (शौरसेनी) का होना भी सम्भव है। इस प्रकार भी 'रायसा' और 'रायसो' रूपों की सिद्धि हो जाती है। अस्तु, हम निर्भ्रान्त रूप से कह सकते हैं कि 'रासो' तथा इसके लिए चलने वाले विभिन्न रूपों (नामों) का विकास 'रासक' शब्द से हुआ है, जिसका खड़ी बोली में शुद्ध रूप है 'रासा'। 'रासो' शब्द के प्रचलित रहने के कारण ही 'रासा' शब्द ख्यात न हो सका है। 'रास' से रासो की व्युत्पत्ति मानने वाले ओझाजी भी 'रासा' को ही शुद्ध रूप मानते हैं। उनका विचार है कि—"हिन्दी में उसका शुद्ध रूप 'रासा' लिखना चाहिए।" पर, असल बात है शब्द के चल पड़ने की—'रासो' शब्द चल पड़ा है और इसे 'रासा' शब्द शीघ्र स्थानच्युत नहीं कर सकता है।

रास के ध्वनि, क्रीड़ा, विलास, गर्जन, नृत्य, कोलाहल इत्यादि रासक के काव्य अथवा दृश्य-काव्यादि अर्थ प्रसिद्ध रहे हैं। सन्धान और अनुसन्धान (Search & Research) के पश्चात् रासो के अन्य अर्थ भी मिलते हैं।—"हमने चौदै के गदर को एक 'रासौ' जोड़्यो है'—'मैं तो कल्ल एक रासै मैं फँस गयौ यासूँ तुमारे वहाँ नाँय आय सक्यौ"—पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या। रासो या रासा शब्द झगड़े के अर्थ में मेवाड़, मारवाड़ आदि में तो चलते ही हैं, हमारे मगध में भी 'रास' शब्द का प्रयोग झगड़े के अर्थ में होते देखा जाता है। दो-चार व्यक्तियों को झगड़ते देखकर 'ई का रास रचइले हे—हिंया रसलीला (रासलीला) हो रहल,

है' आदि वाक्य में प्रयुक्त 'रास', 'रसलीला' शब्द झगड़े के बोधक ही हैं। इसी प्रकार, 'रमायन पढ़ना' (रामायण पढ़ना) गाली देने के अर्थ में और महाभारत का प्रयोग झगड़े के अर्थ में भी मिलता है। सम्भवतः उपर्युक्त बातों पर ध्यान रखते हुए ही डॉ० दशरथ शर्मा ने ठोस प्रमाणों और तर्कों से यह प्रमाणित किया है कि रासो गानयुक्त नृत्य-विशेष के लिए ही प्रयुक्त होता था। कालक्रम से यही उपरूपक और पुनः उपरूपक से वीर-रस के पद्यात्मक प्रबन्धों के लिए रूढ़-सा हो गया था। हेमचन्द्र और वाग्भट ने गेय नाट्य के लिए 'रासक' के उल्लेख किये हैं। यहाँ ऐसी सम्भावना की जा सकती है कि इन्हीं गेय नाट्यों के गीत-भाग धीरे-धीरे पाठ्य-काव्य में परिणत हो गये होंगे और उनमें विभिन्न चरित-नायकों के अनुरूप युद्ध, विवाह आदि के वर्णन समाविष्ट हो गये होंगे।

तेरहवीं शती में लिखित 'शारदातनय' के 'भावप्रकाशन' में लास्य नृत्य के क्रमशः शृंखला, लता, पिण्डी तथा भेदक चार भेदों में 'लता' के पुनः तीन भेद दण्डरासक, मण्डलरासक और नाट्यरासक मिलते हैं। रासो की गीतनृत्यपरक धारा 'नाट्यरासक' से ही विकसित है। इसी प्रकार, अपभ्रंश-काव्यशास्त्रियों ने 'रासक' और 'रासा बन्ध' काव्यों के लक्षण भी निर्धारित किये हैं। ऐसे बन्ध में अड़िल्ल, दोहा, घत्ता, रड्डा, छप्पय, पद्धड़ी इत्यादि छन्द व्यवहृत हुए हैं। गेय नाट्यों के मसृण, उद्धत और मिश्र रूप में मिश्र रूप का ही सम्बन्ध रासक से अधिक दीखता है। आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी भी 'रासक' को 'मिश्र गेय रूपक' मानते हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि 'रासा बन्ध' के अन्तर्गत रासाप्रधान छन्दवैविध्य-परक काव्य ही आते थे। धीरे-धीरे सभी छन्दवैविध्यपरक काव्य 'रासक' कहे जाने लगे। आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी इन सारी बातों पर विचार करने के पश्चात् निष्कर्ष देते हैं कि—"जिस प्रकार 'विलास' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गये, 'रूपक' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गये, 'प्रकाश' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गये, उसी प्रकार 'रासो' या 'रासक' नाम देकर भी चरितकाव्य लिखे गये।"

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि 'रासो' या 'रासक' शब्द एक विशेष प्रकार की काव्य-पद्धति रही है। इस काव्य-पद्धति की दो धाराएँ प्रारम्भ से ही प्रचलित रही हैं—नृत्यगीतपरक रासो-धारा और छन्दवैविध्यपरक रासो-धारा। प्रथम धारा के अन्तर्गत कृतियों की रचना विभिन्न उत्सवों और अवसरों पर नृत्य, वाद्य आदि के साथ गाये जाने वाले गीतों से सम्बन्धित हैं। सम्भवतः ये कृतियाँ कभी-कभी अभिनीत भी होती थीं। इन कृतियों में प्रायः ग्रन्थान्त में उनके माहात्म्य भी वर्णित हैं। दूसरे प्रकार की धारा में पायी जाने वाली रचनाओं में छन्दों का वैविध्य है। ये अभिनेय बिलकुल नहीं होती थीं। ये पूर्णतः पाठ्य ही थीं। इसकी पुष्टि

'सन्देश रासक' की इस पंक्ति से—"कह बहु रूवि णिवद्धउ रासउ भावियउ" से भी होती है। प्रथम धारा की सर्वश्रेष्ठ कृति नरपति नाल्ह का 'बीसलदेव रासो' और द्वितीय धारा की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि 'पृथ्वीराज रासो' है। कतिपय विचारकों ने, रासो की उपर्युक्त दो धाराओं को ठीक से न समझने के कारण, आलोचना में कई प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न कर दी हैं। उदाहरणस्वरूप, पं० नरोत्तम स्वामी आदि विद्वान् 'रास' के अन्तर्गत प्रेमकाव्य को और 'रासो' के अन्तर्गत वीरकाव्य को मानते हैं। इनके उदाहरण क्रमशः 'सन्देश रासक' और 'पृथ्वीराज रासो' माने जा सकते हैं। पर, इसके प्रतिकूल प्रमाण भी मिलते हैं। 'भारतेश्वर बाहुवली रास' रास होकर भी वीरकाव्य है। अस्तु, उपर्युक्त मत ठीक प्रतीत नहीं होता है। सच बात तो यह है कि रासो काव्यों में विषय, भाव, शैली, छन्द इत्यादि का पूरा वैविध्य मिलता है। इनके विषय धार्मिक भी हैं और लौकिक भी। कहीं अंगी रस शान्त है, तो कहीं वीर और कहीं शृंगार। बहुत-सी रचनाओं में कथानक का पूरा विकास मिलता है, तो कहीं कथानक बिलकुल है ही नहीं। कुछ रचनाएँ १००-१२५ पंक्तियों तक ही सीमित हैं, तो कुछ रचनाओं का विस्तार ५०,००० पंक्तियों तक भी है। इसे जैन कवियों ने अपने ढंग से रूपायित किया है, तो चारण और भाटों ने अपनी पद्धति पर रचनाएँ की हैं। हाँ, रासो की दोनों धाराओं (नृत्यगीतपरक रासो-धारा और छन्दवैविध्यपरक रासो-धारा) को अलग-अलग समझकर उनके सम्बन्ध में अधिक बातें जानी अवश्य जा सकती हैं।

नृत्यगीतपरक रासो-धारा में सबसे पहली उपलब्ध रचना है जिनदत्त सूरि की 'उपदेशरसायन रास'। इसका रचना-काल है सन् ११४३ ई०। ३२ छन्दों की इस रचना में धर्मोपदेश ही मूल विषय है। सन् ११८४ ई० में शालिभद्र सूरि ने ऋषभदेव के दो पुत्रों—भरतेश्वर और बाहुवली के संघर्ष की कथा को लेकर २०३ छन्दों में 'भरतेश्वर बाहुवली रास' की रचना की है। इनकी दूसरी रचना 'बुद्धि रास' है, जिसका विषय भी धर्मोपदेश ही है। पुनः 'जीवदया रास' (आसगु, १२०० ई०), 'जम्बूस्वामी रास' (धर्मसूरि, १२०९ ई०), 'रेवन्तगिरि रास' (विजय-सेन सूरि, १२३१ ई०), 'आबू रास' (पाल्हण, १२३१ ई०), 'गयसुकुमार रास' (देल्हणि, १२४३ ई०), 'सप्तक्षेत्रि रासु' (१२७० ई०), 'पेथड़ रास' (मण्डलिक, १३०३ ई०), 'कच्छूलि रास' (१३०६ ई०), 'समरा रासु' (अम्बदेव सूरि, १३१४ ई०), 'बीसलदेव रास' (नरपति नाल्ह, १३४३ ई० के आस-पास) इत्यादि रचनाएँ मिलती हैं। इस धारा में रचनाओं की संख्या कई सौ के लगभग है। इनके रचयिता अधिकतर जैन कवि हैं। इनका मूल विषय है धर्मोपदेश। जैन धर्म के उपदेश को लेकर ही इन रचनाओं का निर्माण हुआ है। उपर्युक्त रचनाओं में अन्तिम रचना (बीसलदेव रास) को छोड़कर शेष रचनाओं की भाषा अपभ्रंश अथवा

अपभ्रंश-मिश्रित आधुनिक आर्यभाषा हिन्दी की विभिन्न शैलियाँ ही हैं। जिन रचनाओं का सम्बन्ध धर्मोपदेश से नहीं है, उनमें जैन महापुरुषों के चरित ही वर्णित हैं। इनका महत्त्व काव्यरूप को समझने के लिए एवं तत्कालीन भाषा के अध्ययन की दृष्टि से ही मानना चाहिए, काव्यत्व की दृष्टि से नहीं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि ये काव्यत्व से पूर्णतः शून्य हैं। धार्मिकता के आग्रह के कारण काव्यत्व प्रायः दबा हुआ ही है। मात्र 'बीसलदेव रासो' ही ऐसी रचना है जिसमें धार्मिकता का आग्रह बिलकुल नहीं है। यह शुद्ध साहित्यिक रचना ही है।

'बीसलदेव रासो' के रचयिता हैं नरपति नाल्ह। श्री अगरचन्द नाहटा जी ने 'जैन गुर्जर कवि' के प्रथम भाग में उल्लिखित नरपति को ही नरपति नाल्ह के रूप में स्वीकार करने की कल्पना की है। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय, तो 'बीसलदेव रासो' सोलहवीं शती की रचना मानी जायगी। इसके रचना-काल के सम्बन्ध में काफी विवाद है। रचना-काल के सम्बन्ध में निम्नांकित पदों को महत्त्व दिया जाता रहा है—

१. बारह सै बहोत्तरहाँ मझार, जेठ बदी नवमी बुधवार।
२. संवत सहस तिहत्तरई जाणि, सुकुल पक्ष पंचमी श्रावण मास।
३. संवत सह सतिहत्तरई जाणि, सुकुल पक्ष पंचमी श्रावण मास।
४. संवत तेर सतोत्तरई जाणि, सुक पंचमी नइ श्रावण मास।

इस प्रकार, संवत् १०७३ से लेकर १३७७ तक का समय आता है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने काफी छान-बीन के पश्चात् इसका रचना-काल १३४३ ई० के लगभग निश्चित किया है। ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से भी यह रचना महत्त्वपूर्ण नहीं प्रतीत होती है। ऐतिहासिक घटनाएँ प्रायः सुनी-सुनायी-सी वर्णित की गयी हैं। इसमें विग्रहराज चतुर्थ को ही चरितनायक के रूप में स्वीकार किया गया है। इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की ओर से (सत्यनवीन वर्मा के सम्पादन में) हुआ। पुनः हिन्दी-परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय की ओर से डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित होकर यह प्रकाशित हुआ है।

यह मूलतः विरह-काव्य है। इसे कवि ने नारी-काव्य (अस्त्री रसायण करूँ बखान) और अमृतकाव्य (अमृत रसायण नरपति व्यास) भी कहा है। इसमें अजमेर के राजा बीसलदेव चतुर्थ और जैसलमेर के राजा भोज की राजकुमारी राजमती की कथा है। बीसलदेव का विवाह राजमती से होता है। दान-दहेज में बीसलदेव को अनेक प्रदेश और प्रचुर रत्न-राशि मिलती है। गर्ववश बीसलदेव अपने को अद्वितीय राजा मान बैठता है। राजमती कह उठती है कि उसे अभिमान न करना चाहिए, चूँकि उसके समान अनेक राजे हैं। उड़ीसा का ही राजा ऐसा है जिसके यहाँ हीरे खान से उसी प्रकार निकलते हैं, जिस प्रकार बीसलदेव के यहाँ

और मेरुतुंग के 'प्रवन्ध-चिन्तामणि' में प्राप्त होते हैं। चन्द का 'पृथ्वीराज रासो' इस धारा की महत्त्वपूर्ण कृति है। इस धारा की अन्य रचनाओं में निम्नांकित रचनाएँ प्रमुख मानी जाती हैं—'हम्मीर रासो' (१२६३ ई० के आस-पास), 'बुद्धि रासो' (जल्ह कवि, चौदहवीं शती विक्रम), 'परमाल रासो' (जगनिक, सोलहवीं शती विक्रम), 'राउ जैतसी रासो' (१५४३ ई० के आस-पास), 'विजयपाल रासो' (नल्ह सिंह, १५४३ ई० के आस-पास), 'राम रासो' (माधवदास चारण, १६१८ ई०), 'राणा रासो' (दयाल कवि, १६१८ ई० के पूर्व), 'रतन रासो' (कुम्भकर्ण, १६२३ ई० के लगभग), 'कायम रासो' (न्यामत खाँ 'जान', १६३४-१६५३ ई०), 'छत्रसाल रासो' (राव डूँगरसी, १६५३ ई० के लगभग), 'माँकण रासो' (कीर्तिसुन्दर, १७०० ई०), 'संगतसिंह रासो' (गिरिधर चारण, १६६८ ई० के लगभग), 'हम्मीर रासो' (जोधराज १७२८ ई०), 'खुमाण रासो' (दलपति विजय, १८वीं शती विक्रम) इत्यादि। इस धारा में रचनाएँ बहुत पीछे तक होती रही हैं। इस धारा की अधिकांश रचनाएँ हिन्दी (डिंगल और पिंगल) में ही हैं। 'मुंज रास', 'सन्देश रासक' और 'हम्मीर रासो' की भाषा मूलतः अपभ्रंश अथवा अपभ्रंश-मिश्रित हिन्दी है। शेष रचनाओं में अपभ्रंश नहीं के बराबर है। इस धारा में मात्र ऐतिहासिक पुरुषों को ही चरितनायक नहीं बनाया गया है, अपितु एक ओर राम जैसे अवतारी पुरुष भी चरितनायक हैं (राम रासो, माधवदास चारण), तो दूसरी ओर खटमल जैसा तुच्छ जीव भी (माँकण रासो, कीर्ति सुन्दर)। ऐतिहासिक चरितनायकों को आधार मानकर लिखे गये ग्रन्थों में भी ऐतिहासिकता की अपेक्षा कल्पनाशीलता पर ही अधिक ध्यान दिया गया है। इन काव्यों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के अनुसार—"भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम भर लिया, शैली उनकी वही पुरानी रही जिसमें काव्य-निर्माण की ओर अधिक ध्यान था, विवरण-संग्रह की ओर कम; कल्पना-विलास का अधिक मान था, तथ्य-निरूपण का कम; सम्भावनाओं की ओर अधिक रुचि थी, घटनाओं की ओर कम; उल्लसित आनन्द की ओर अधिक झुकाव था, विलसित तथ्यावली की ओर कम। इस प्रकार, इतिहास को कल्पना के हाथों परास्त होना पड़ा।" इसी प्रकार, वे पुनः आगे लिखते हैं—"वस्तुतः इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया। बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथा-नायक जैसा बना देने की प्रवृत्ति रही है। × × × यही कारण है कि जब ऐतिहासिक व्यक्तियों का भी चरित्र लिखा जाने लगा, तब भी इतिहास का कार्य नहीं हुआ। अन्त तक ये रचनाएँ काव्य ही बन सकीं, इतिहास नहीं।" इसी से आ० द्विवेदीजी का विचार है कि इन रचनाओं से इतिहास के शोध की सामग्री संग्रहीत की जा सकती है, पर इन्हें इतिहास या ऐतिहासिक काव्य नहीं कहा जा सकता है। ये निजंधरी कथानकों

पर आधारित काव्यों से बहुत भिन्न नहीं हैं।

इस काव्यधारा की दूसरी प्रमुख विशेषता है छन्दों, का वैविध्य। छन्दों का वैविध्य यह स्पष्ट करता है कि इन काव्यों की रचना अभिनय आदि के लिए नहीं हुई है। अपभ्रंशपरक रचनाओं में सर्वाधिक महत्त्व है 'सन्देश रासक' का। इसमें २१६ से २२३ छन्द तक मिलते हैं। इसका रचना-काल लगभग ११४३ ई० माना गया है। कालिदास के 'मेघदूत' की तरह ही यह भी मूलतः सन्देश-काव्य है। इस में सन्देशवाहक है पथिक। इसका प्रथम सम्पादन मुनि जिनविजयजी ने किया था। आ० द्विवेदीजी ने इसे नवीन रूप में सम्पादित कर एक बड़ा कार्य किया है। इसके कवि के सम्बन्ध में भी भ्रान्ति है। अद्दहमाण मीर-सेन (समुद्र-सेन ?) का पुत्र है। कुछ लोग इसे अब्दुल रहमान मानते हैं और कुछ लोग अब्धिमान। इस काव्य का विषय है विप्रलम्भ-शृंगार। विरह-वर्णन में ऋतु-वर्णन का उत्कृष्ट रूप मिलता है। 'बीसलदेव रासो' की भाँति ही इस रचना का अन्त मंगलमयत्वसूचक है—

'जेम अचिंतिउ कज्जु तसु सिद्ध खणद्धि महंतु।
तेम पठंत सुणंत यह जयउ अणाई अणंतु॥'

काव्यत्व की दृष्टि से अन्य रचनाओं में महत्त्वपूर्ण रचना है 'पृथ्वीराज रासो'। ६६ सर्गों की यह विशाल रचना कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण होकर भी पूर्णतः विवादग्रस्त है। दुर्भाग्य से यह ग्रन्थ साहित्य-मर्मज्ञों के हाथ में न पड़कर इतिहास का तथ्यांकन करने वाले महारथियों के हाथ में पड़ गया। परिणामतः इसका साहित्यिक मूल्यांकन न होकर, लगा होने ऐतिहसिक पोस्टमार्टम। इसमें सम्राट् पृथ्वीराज का चरित्र वर्णित है। इसमें प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री मिलने की आशा थी। स्वयं ग्रियर्सन जैसे साहित्य-मर्मज्ञ और कर्नल टाड जैसे इतिहासकार ने इसका समर्थन किया था। ग्रियर्सन ने घोषणा की कि "वह (रासो) भाषा-विज्ञान के विद्यार्थियों के विशेष महत्त्व का है।" सन् १८८३ ई० में बंगाल की रायल एसियाटिक सोसायटी ने इसका प्रकाशन भी प्रारम्भ किया, पर बाद में डॉ० बूलर के पत्र के कारण इसका प्रकाशन बन्द हो गया। सन् १८७६ ई० में कश्मीर की यात्रा में डॉ० बूलर को 'पृथ्वीराजविजय' की एक खण्डित प्रति हाथ लगी। इससे 'रासो' का तौलनिक अध्ययन करने पर, सन् ९७६-११९८ ई० की तिथियों और घटनाओं में वैषम्य प्रतीत हुआ, जिससे उन्होंने सोसायटी को पत्र लिखा कि "वह ग्रन्थ (पृ० रा० रासो) जाली है, जैसा कि जोधपुर के मुरारीदीन और उदयपुर के श्यामलदास ने बहुत काल पहले प्रकट किया था। 'पृथ्वीराजविजय' के अनुसार पृथ्वीराज के बन्दीराज का अर्थात् मुख्य भाट का नाम पृथ्वी भट्ट था न कि चन्दबरदाई।"

रासो की प्रामाणिकता के विरोधियों में मुरारीदीन, कविराज श्यामलदास, डॉ० बूलर, म० म० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, मुंशी देवीप्रसाद, मोतीलाल मेनारिया, आ० शुक्ल इत्यादि के नाम लिये जाते हैं। सर्वाधिक चीर-फाड़ की गयी ओझाजी द्वारा, जिन्होंने निष्कर्ष दिया कि "पृथ्वीराज रासो बिलकुल अनैतिहासिक ग्रन्थ है। × × × भाषा की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ प्राचीन नहीं दिखता।" विरोधियों के अनुसार, पृथ्वीराज की माता का नाम कमलादेवी नहीं, अपितु कर्पूरदेवी था। उनके पिता थे सोमेश्वर और चन्द्रराज अथवा पृथ्वी भट्ट ही मुख्य बन्दीजन थे, जिनकी पुष्टि 'पृथ्वीराजविजय' से होती है। इसी प्रकार, आबू के राजा जेत और सलक की पुष्टि न होना आदि बातें भी हैं। रासो के अनुसार, गुजरात का राजा भीमसिंह पृथ्वीराज द्वारा मारा गया; पर वह बाद तक जीवित था। सहाबुद्दीन गोरी की मृत्यु १२०३ ई० में जक्करों द्वारा हुई है, जब कि रासो में उसे पृथ्वीराज द्वारा मारा जाना बताया गया है। पृथा और समरसेन के विवाह की पुष्टि भी नहीं हो पाती है। शिलालेखों के अनुसार चौहान, चालुक्य, पड़िहार और परमार सूर्यवंशी या चन्द्रवंशी बताये गये हैं; पर रासो में उन्हें अग्निवंशी माना गया है, जो परवर्त्ती कल्पना है। इसमें अधिकांश संवत् और सामन्तों के नाम जाली ही प्रतीत होते हैं। इन्हीं सब कारणों से आ० शुक्ल इसे 'भाटों का वाग्जाल' और आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी 'इतिहासविरुद्ध घटनाओं का भौजाल' कहते हैं तथा मानते हैं कि इसे 'इतिहास के अनुकूल नहीं सिद्ध किया जा सकता है।'

इसकी प्रामाणिकता का समर्थन करने वालों में मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, डॉ० श्यामसुन्दर दास, मिश्रबन्धु, मथुराप्रसाद दीक्षित, डॉ० दशरथ शर्मा इत्यादि हैं। इन लोगों ने भटायत संवत्, आनन्द संवत् आदि अनेक नवीन कल्पनाओं का सहारा लेकर इसे पूर्ण प्रामाणिक सिद्ध करना चाहा है। सबसे हास्यास्पद बात तो यह है कि इन विद्वानों का प्रयास यह सिद्ध करता है कि रासो किसी एक काल की और किसी एक ही व्यक्ति की रचना है, चाहे वह पृथ्वीराज का समसामयिक चन्द हो या १६वीं-१७वीं शती का कोई भाट; किन्तु वस्तुतः रासो है विकसनशील महाकाव्य।

पहले रासो का मात्र वृहद रूप ही सामने था। अतः, सारा विवाद केवल उसी को लेकर था। आज इसके चार रूपान्तर उपलब्ध हैं, इससे प्रामाणिकता के विवाद ने अब दूसरा मोड़ ले लिया है। आज इसके सम्बन्ध में मूलतः पाँच प्रश्न सामने आते हैं— रासो का मूल रूप क्या है ?, मूल रासो का रचना-काल क्या है ?, क्या इसका रचयिता चन्दबरदाई है ?, क्या चन्द पृथ्वीराज का समकालीन था ? और इसकी भाषा कौन-सी है ?

जहाँ तक मूल रूप की बात है, आज रासो के चार रूपान्तर उपलब्ध हैं। वृहद रूपान्तर की ३३ प्रतियाँ मिलती हैं, जिनमें ३०,०००-३६,००० तक पद हैं।

इस रूपान्तर को राव मोहन सिंह, डॉ० श्यामसुन्दर दास आदि विद्वानों का समर्थन प्राप्त है। मध्यम रूपान्तर की प्राप्त ग्यारह प्रतियों में नौ हजार से बारह हजार तक पद मिलते हैं। श्री मथुराप्रसाद दीक्षित जी इसी रूपान्तर की ओरियण्टल कालेज लाहौर वाली प्रति को— 'सत सहस नषसिष सरस, सकल आदि मुनि दिष्ष' वाले पद के अनुसार—मूल रासो मानते हैं, जिसमें आर्या छन्द से लगभग ७,००० श्लोक-संख्या बैठ भी जाती है। लघु रूपान्तर की प्राप्त पाँच प्रतियों में ३५०० पद तक हैं। इस रूपान्तर को डॉ० दशरथ शर्मा, मीनाराम रंगा, मूलचन्द जैन इत्यादि के समर्थन प्राप्त हैं। बीकानेर के विद्वान् गुजरात के धारपोज गाँव में प्राप्त रासो के लघुतम रूपान्तर को ही मूल रासो मानते हैं। इसमें १३०० श्लोक मिलते हैं। इसकी दो प्रतियाँ ही मिलती हैं। उदयपुर तथा उसके आस-पास वृहद, जैन भाण्डारों में मध्यम और बीकानेर और अजमेर के शेखावटी में लघु रूपान्तर उपलब्ध हुए हैं। मोटे तौर पर, विस्तार में वृहद रूपान्तर मध्यम का तिगुना, मध्यम रूपान्तर लघु रूपान्तर का तिगुना और लघु रूपान्तर लघुतम रूप का तिगुना है।

'सत सहष' वाले छन्द के आधार पर श्री दीक्षितजी ने रासो के मध्यम रूपान्तर को मूल रासो माना तो अवश्य, पर यह तर्क असन्दिग्ध नहीं माना जायगा, चूँकि वह छन्द रासो के प्रथम समय में ही आया है। शंका की जा सकती है कि चन्द को यह कैसे पता चल गया था कि रासो सात हजार छन्दों में ही पूरा होगा? क्या उन्होंने इतने ही छन्दों में रासो को पूरा कर लेने की प्रतिज्ञा कर ली थी? दूसरी बात यह कि 'सत सहस' का अर्थ एक लाख भी तो हो सकता है। स्वयं कवि चन्द के वंशज कवि यदुनाथजी ने 'वृत्तविलास' में रासो को एक लाख पाँच हजार श्लोकों वाला ग्रन्थ माना है—

'एक लाख रासो कियो, सहस पंच परिमान।
पृथ्वीराज नृप को सुजस, जाहर सकल जहान।' —(वृत्तविलास, ५६)

तात्पर्य यह कि 'सतसहस' का आधार भी सन्दिग्ध ही समझिए। कुछ विचारकों ने मूल रासो को खोजने के लिए निम्नांकित छन्द का सहारा लिया है—

'छंद प्रबंध कबित्त जति, साटक गाह दुहत्थ।
लघु गुरु मंडित खंडि यह, पिंगल अमर भरत्थ॥'

अर्थात् (मेरे (प्रबन्ध-काव्य रासो) में कवित्त (षट्पदी), साटक (शार्दूलवि-क्रीड़ित), गाहा (गाथा) और दुहत्थ (दोहा) नामक छन्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनमें मात्रादि-नियम पिंगलाचार्य के अनुसार हैं और अमरवाणी (संस्कृत) के छन्द भरत के मतानुकूल हैं।

पर यह कैसे स्वीकार कर लिया जाय कि परवर्त्ती लोगों ने इसमें प्रक्षेप नहीं किया होगा। इसमें भी प्रक्षेप की सम्भावना है ही। अस्तु, यह आधार भी सटीक नहीं माना जा सकता।

आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रासो के मूल रूप को पकड़ने के लिए एक नवीन विचार प्रतिपादित किया कि मूल रासो संवादों में लिखा गया होगा। जिस प्रकार 'कीर्तिलता' में भृंग-भृंगी के संवाद के सहारे कथा बढ़ती है, उसी प्रकार इसमें शुक-शुकी, दुज-दुजी (द्विज-द्विजी) आदि के माध्यम से कथा चली है। इसी सम्भावना के आधार पर उन्होंने आदिपर्व, इंछिनी-विवाह, शशिवृत्ता-विवाह, तोमर पहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना, संयोगिता का जन्म, विवाह तथा इंछिनी और संयोगिता की प्रतिद्वन्द्विता और समझौते वाले प्रसंग को ही मूल रासो के निकट का रूप माना है। इसका एक और कारण उन्होंने यह सुझाया है कि इन स्थलों में 'बेडौल और बेमेल ठूँस-ठाँस नहीं है और कवित्त का सहज प्रवाह है।' इन प्रसंगों के सम्बन्ध में उनका कथन है कि "यह दावा नहीं कि यह रासो का मूल रूप है। × × × पर मेरा विश्वास अवश्य है कि चन्द की मूल रचना कुछ इसी के आस-पास है।" यदि आ० द्विवेदी की मान्यताओं पर विचार करें तो यह स्पष्ट है कि उनका मत भी लचर ही प्रतीत होगा। वाक्पटु भाटों और चारणों से यह आशा कैसे नहीं की जाय कि उन्होंने शुक-शुकी के संवाद वाले अंशों में फेर-फार, तोड़-जोड़ की है। अटकलबाजी की ही तो बात ठहरी। डॉ० माताप्रसाद गुप्तजी ने अनुमान लगाया है कि "मंगलाचरण और कथा की एक संक्षिप्त भूमिका के अनन्तर जयचन्द के राजसूय और संयोगिता के पृथ्वीराज-सम्बन्धी प्रेमानुष्ठानविषयक विवरणों से रचना प्रारम्भ हुई होगी। तदन्तर उसमें मन्त्री कयमास के वध, पृथ्वीराज के कन्नौज-गमन में उसके प्राकट्य, संयोगिता-परिणय, पृथ्वीराज-जयचन्द-युद्ध और दिल्ली आकर पृथ्वीराज-संयोगिता के केलि-विलास की कथाएँ उसके पूर्वार्द्ध की सृष्टि करती रही होंगी और उत्तरार्द्ध में उस केलि-विलास से चन्द के द्वारा किये गये पृथ्वीराज के उद्बोधन, शहाबुद्दीन-पृथ्वीराज-युद्ध (द्वितीय) तथा शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज के अन्त की कथाएँ रही होंगी। इस मूल रूप का आकार लगभग ३६० रूपकों का रहा होगा।" इस प्रकार, थोड़े-बहुत फेर-फार से ये भी आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की बात की ही पुष्टि करते दीखते हैं; पर इनके अनुमान का भी कोई ठोस आधार नहीं है। डॉ० नामवर सिंह का विचार है कि "यदि इतिहास-समर्थित घटनाओं के आधार पर 'मूल पृथ्वीराज रासो' का विचार करें तो एक कैमास-वध को छोड़कर और कोई घटना मूल पृथ्वीराज रासो की नहीं हो सकती।" इसका समर्थन 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' में उपलब्ध छप्पयों और 'पृथ्वीराजविजय' में कदम्बवास के उल्लेख से हो जाता है। सामान्यतः यही कहना समीचीन है कि रासो के उपलब्ध सभी रूपान्तरों में से कोई भी रूपान्तर मूल रासो नहीं माना जा सकता। साथ ही, विभिन्न विचारकों द्वारा मूल रासो को खोज निकालने के लिए जो तर्क दिये गये हैं, वे भी लचर ही हैं। सच बात केवल इतनी ही है कि उपलब्ध

रूपान्तरों में लघुतम रूपान्तर का लिपि-काल सबसे प्राचीन अवश्य है। कल्पना-पटु और प्रसंग-निर्वाह-कुशल जाति में परम्परित रूप में प्रवहमान काव्य में कितने प्रक्षेप हुए हैं, इसका मूल रूप कौन-सा है, इन सारी बातों को खोज निकालना आसमान से तारे तोड़ लाना ही है।

मूल रूप के पश्चात् विचारणीय है इसका रचना-काल। रचना-काल के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की संगतियाँ बैठायी गयी हैं। अधिक विस्तार में न जाते हुए यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि इसकी रचना सं० १२९०-१५२८ वि० के मध्य में ही कभी हुई है। जिस 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' में रासो के चार छन्द उपलब्ध होते हैं, उसका रचना-काल लोगों ने सं० १५२८ वि० निश्चित किया है। उसमें उपलब्ध होने वाले छन्द ही इस बात के प्रमाण हैं कि रासो की रचना उसके पूर्व ही हो गयी थी। पुनः गंग-लिखित 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' (सं० १६२७), दलपति मिश्र-लिखित 'जसवन्तउद्योत' (सं० १७०५), पुहकर कवि-लिखित 'रसरतन' (सं० १६७३) और राजसिंह की प्रशस्ति (वि० १७३२) में इसके उल्लेख मिल जाते हैं। लोगों ने ऐसा निष्कर्ष दिया है कि रासो की रचना चाहे जब कभी हुई हो, पर इसकी लिपि-प्रतिलिपि सं० १७६७ के आस-पास तक होती रही है।

अब विचारणीय है, रासो का रचयिता चन्द ही है अथवा और कोई दूसरा। 'पृथ्वीराजविजय' के आधार पर चन्द की पुष्टि नहीं होती है, वहाँ चन्द्रक अथवा पृथ्वीभट्ट का उल्लेख हुआ है। सुदृढ़ जनश्रुति के बावजूद चन्द का पता अकबर के पहले नहीं लग सका था; किन्तु 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' के प्रकाश में आने से उसमें मिलने वाले छन्दों में 'चंद बलद्दिय' का उल्लेख मिलता है। बलद्दिय का अर्थ होता है 'वर देने वाला' या 'जिसे दुर्गा ने वर दिया हो'। अनुमान किया जा सकता है कि बलद्दिय ही घिसकर, शुद्ध होकर 'बरदायी' हो गया है। इसकी पुष्टि रासो के उस अंश से भी होती है, जहाँ जयचन्द ने चन्द से 'बलद्द' शब्द पर 'क्यों दूबरो बरद्द' कहकर व्यंग्य किया है। अस्तु, यह निश्चय है कि चन्द एक कवि था, जिसने रचना की है, भले ही वह रचना 'पृथ्वीराज रासो' न होकर दूसरी ही हो। पर, यह भी निश्चय है कि वह रचना पृथ्वीराज के सम्बन्ध में ही होगी।

जहाँ तक चन्द और पृथ्वीराज के समसामयिक होने की बात है, इसके सम्बन्ध में इतिहास का कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया जा सकता; पर रासो के अनुसार दोनों जन्म और मरण के साथी रहे हैं—

१. 'इक थान मरन जनमइ सु इक, चलहिं किति ससि लग्गि रबि।'

२. 'इक्क दीह उतपन्न, इक्क दीहे समाय क्रम।'

'पृथ्वीराजविजय' अथवा कोई अन्य पुस्तक भी इस बात की पुष्टि नहीं करती है; किन्तु चूँकि 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' में चन्द की रचना प्राप्त है, इसी से

डॉ० नामवर सिंह ने अनुमान भिड़ाया है कि "दो व्यक्तियों की जन्मकुण्डलियों का इस तरह मिलना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।" मेरा अनुमान भी यही है। जहाँ तक अन्य लोगों द्वारा इसके उल्लेख न किये जाने की बात है, केवल इतना ही कहा जायगा कि कभी-कभी लोग बड़ी-से-बड़ी घटना को भी भूल जाते हैं। विश्वास न हो तो एक उदाहरण ही ले लीजिए। सन् १८५७ ई० का प्रथम भारतीय स्वातंत्र्य-समर कम महत्त्वपूर्ण घटना नहीं है; पर उसके सम्बन्ध में नवयुग की चेतना से सम्पन्न होकर भी भारतेन्दु-युग के प्रायः समस्त साहित्यकार मौन ही हैं। वही बात यहाँ भी मानी जा सकती है।

उपर्युक्त विस्तृत समीक्षा के पश्चात् इसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में आ० द्विवेदीजी की बात से ही सहमति प्रकट करना अच्छा है कि "रासो एकदम जाली पुस्तक नहीं है।" इसमें चन्द की कुछ-न-कुछ प्रामाणिक रचनाएँ हैं अवश्य। आज उसकी मूल रचना खोज निकालना दुष्कर है। जब तुलसी जैसे समर्थ कवि की रचना में भी प्रक्षेप सम्भव है, तो फिर रासो की बात क्या की जाय। इसकी तो परम्परा ही मौखिक रही है। एक बात और, यह है चरितकाव्य। इसे इतिहास-काव्य समझना कोरी भूल है। आ० द्विवेदी के अनुसार, "वस्तुतः इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया। बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्तियों को पौराणिक या काल्पनिक कथानायक बना देने की प्रवृत्ति रही है। × × × जायसी के रतनसेन और रासो के पृथ्वीराज में तथ्य और कल्पना का—फैक्टस और फिक्शनस् का—अद्भुत योग है।" अस्तु, इसे इतिहास अथवा ऐतिहासिक ग्रन्थ कहा नहीं जा सकता, इससे इतिहास की सामग्री का शोध भर किया जा सकता है।

ऐतिहासिक काव्य कही जाने वाली रचनाओं की तीन कोटियाँ होती हैं—समसामयिक कवियों द्वारा लिखे गये ऐतिहासिक काव्य, परवर्त्ती कवियों द्वारा लिखे गये ऐतिहासिक काव्य और विकसनशील ऐतिहासिक काव्य। रासो को ऐतिहासिक काव्यों की तीसरी कोटि में ही स्थान मिलेगा। ऐसी रचनाओं में ऐतिहासिकता का निर्वाह सबसे कम हो पाता है। इनमें कल्पित घटनाएँ और निजंधरी कथाएँ ही अधिक प्रमुख हो जाती हैं। रासो के साथ भी यही बात है। फिर एक बात और है। डॉ० नामवर सिंह के शब्दों में मैं यह कहना चाहूँगा कि "केवल अनैतिहासिक घटनाओं के समावेश से ही 'पृथ्वीराज रासो' चन्द की कृति होने के गौरव से वंचित नहीं हो सकता। 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता पर विचार करते समय यह न भूलना चाहिए कि वह काव्य-ग्रन्थ है, इतिहास नहीं। यदि जायसी के 'पद्मावत' की अनैतिहासिक घटनाओं को लेकर इतना शोर-गुल नहीं हुआ, तो कोई आवश्यक नहीं कि पृथ्वीराज रासो पर ऐसा कोप किया जाय।" इसी

से आ० द्विवेदीजी का मत है कि "कथा की परीक्षा इतिहास की दृष्टि से नहीं, काव्य की दृष्टि से होनी चाहिए।"

रासो की प्रामाणिकता के पश्चात् है विचारणीय बात रासो की भाषा। इसकी भाषा के सम्बन्ध में भी अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार की बातें कही हैं। सम्पूर्ण रचना का अधिकांश भाग पद्यात्मक ही है; पर कतिपय विचारकों, खासकर आ० द्विवेदी का अनुमान है कि रासो के बीच-बीच में आने वाली बचनिकाएँ गद्य में ही हैं। गार्सां द तासी के अनुसार इसकी भाषा ब्रजी (कन्नौजी बोली), तेसी तोरी और ग्रियर्सन के अनुसार पश्चिमी हिन्दी (ब्रज), डॉ० दशरथ शर्मा और मीनाराम रंगा के अनुसार प्राचीन राजस्थानी, वीम्स और डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार सोलहवीं शती में प्रयुक्त ब्रजभाषा (शब्दसमूहों में डिंगल और अपभ्रंश का योग भी) और डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार पिंगल (लन्दन की रॉयल एसियाटिक सोसायटी वाली प्रति पर 'चन्दवरदाई-लिखित पिंगल भाषा में पृथुराज का इतिहास' लिखा होने के आधार पर) है। वीम्स के अनुसार, इसकी भाषा में छन्दोऽनुरोध और भाषा की संक्रमणशीलता के गुण प्राप्त हैं; पर आ० शुक्ल के अनुसार, रासो की भाषा इतिहास और साहित्य के जिज्ञासुओं के लिए कोई काम की है ही नहीं। आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, "पुरातन प्रबन्ध-संग्रह" में सुरक्षित छप्पयों की भाषा के आस-पास ही मूल रासो की भाषा रही होगी।" एक स्थल पर ये लिखते हैं कि "रासो भी कुछ उसी प्रकार के अपभ्रंश में लिखा गया था, जिस प्रकार के अपभ्रंश में ११वीं शती वाला, दमोह वाला शिलालेख लिखा गया था।" इसी से द्विवेदीजी का कथन है कि चन्द हिन्दी-परम्परा के आदिकवि की अपेक्षा अपभ्रंश-परम्परा के अन्तिम कवि थे।" आ० द्विवेदीजी की इस अपभ्रंश वाली मान्यता का खण्डन कई विचारकों ने किया है, जिनमें एक प्रमुख नाम है आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का। ये ऐसा मानने के लिए कतई तैयार नहीं हैं कि रासो अपभ्रंश के टकसाली रूप में लिखा गया होगा। विचारकों का एक वर्ग रासो को विकसनशील महाकाव्य स्वीकार कर, संकलन-ग्रन्थ स्वीकार कर पँचमेल की भाषा को ही स्वीकार करता है, जिसकी पुष्टि के लिए रासो में ही यह छन्द मिल जाता है—

'उक्ति धर्म विशालस्य राजनीतिं नवं रसाः।
षड्भाषा पुरानं च कुरानं कथितं मया॥'

भाषा के इस पँचमेल की बात डॉ० नामवर सिंह को स्वीकार नहीं है। वे इस मत की खिल्ली उड़ाते हुए लिखते हैं कि "रासो के उक्त छन्द में भाषावैविध्य की ओर संकेत नहीं है, बल्कि षड्भाषा में रचित साहित्य के सार-ग्रहण करने की घोषणा है। कुरान के उल्लेख का भी यही प्रयोजन है। यों भी यह बड़ी मोटी बात है कि कोई काव्य एक निश्चित भाषा में लिखा जाता है, उसे दुनिया भर का

अजायबघर नहीं बनाया जाता।" इधर 'हिन्दी-साहित्य का अतीत' में आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र षड्भाषा का ही मण्डन कर चलते हैं। षड्भाषा के निर्णय के लिए उन्होंने आ० भिखारीदास के 'काव्यनिर्णय' के काव्यभाषा वाले सूत्र को पकड़ा है और पुष्ट प्रमाणों के आधार पर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश (महाराष्ट्री, शौरसेनी और पैशाची) के साथ अरवी-फारसी या यवन-भाषा को स्वीकार किया है। इस प्रकार, इनके अनुसार, 'रासो की भाषा पँचमेल क्या, छमेल' ठहरती है। इसकी पुष्टि इन्होंने रासो में प्रयुक्त छन्दों के सम्बन्ध में रासो के ही इस छन्द से भी की है—

'छंद प्रबंध कवित्त जति, साटक गाह दुहत्थ।
लघु गुरु मंडित खंडि यह पिंगल अमर भरत्थ॥'

उपर्युक्त छन्द से आ० मिश्रजी ने साटक से संस्कृत, गाह से प्राकृत, दुहत्थ से अपभ्रंश (महाराष्ट्री, शौरसेनी और पैशाची) और कवित्त से तत्कालीन समय में प्रचलित (अरवी-फारसी) भाषा को सम्बद्ध किया है। समस्त रचना में प्रयुक्त उपर्युक्त चारो छन्दों की भाषा पर अलग-अलग विचारने से आ० मिश्रजी का मत भी क्लिष्टकल्पना पर आधृत नहीं प्रतीत होता है; पर भाषा के सम्बन्ध में डॉ० नामवर सिंह की यह बात भी महत्त्वपूर्ण ही है—"निःसंदेह, ऐतिहासिक दृष्टि से पृथ्वीराज रासो ऐसे युग की भाषा का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें तद्भव शब्दों का रूप स्थिर नहीं हो सका था; फलतः एक शब्द के अनेक रूप प्रचलित थे।" वस्तुतः आ० मिश्र और डॉ० नामवर सिंह की स्थापना-प्रणाली में अन्तर भले ही अधिक हो; पर दोनों के मत एक-दूसरे के अधिक निकट हैं। रासो में छन्दोऽनुरोध के कारण लघु को गुरु और गुरु को लघु (लघु गुरु मंडित खंडि यह) करने की प्रवृत्ति अधिक है। इसी से स्वरों का दीर्घीकरण, समासरचना में व्यंजनद्वित्व का प्रयोग, शब्दान्त में अनुस्वार की प्रवृत्ति, ह्रस्वीकरण, सरलीकरण, अनुस्वार का चन्द्रविन्दु में परिवर्त्तन, संयुक्तरेफ का स्थानविपर्यय, घोषीकरण, उदवृत्त स्वरों का संकोचन इत्यादि की प्रवृत्ति अधिक है। ऐसा लगता है कि चन्द ने शब्दों का प्रयोग करते समय उसे तराश-मठार के लिए खराद पर चढ़ाया नहीं है, जैसा बिहारी आदि कवियों ने किया है; अपितु मस्तमौला की तरह वे प्रत्येक शब्द का वेलाग प्रयोग कर चले हैं; इसी से अव्यवस्था जैसी वस्तु ही अधिक हो गयी है। सब मिलाकर, रासो की भाषा तत्कालीन केन्द्रीय हिन्दी (पिंगल) ही ठहरती है, जिसका आदर्श ही था 'छमेल'। यह छमेल की परम्परा शृंगार-काल तक चलती रही है। अतः 'छमेल' चौंकने की चीज नहीं है।

रासो के काव्यत्व अथवा उसकी साहित्यिकता पर विचारने से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें कवि ने अभिव्यक्ति का सुन्दर रूप प्रस्तुत किया है। यह रासक-शैली में लिखा गया एक चरित-काव्य है, जिसका नायक है पृथ्वीराज चौहान। संयोगिता

की प्राप्ति ही इस कथा का उद्देश्य प्रतीत होता है। परम्परित रूप में इसमें मंगलाचरण, पूर्ववर्त्ती कवियों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन, आत्म-निवेदन, सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा, ग्रन्थ-रचना के उद्देश्य इत्यादि का यथावसर कथन किया गया है। कथा का वीजारोपण पृथ्वीराज के जन्म और शैशव के वर्णन में होता है। वह विद्याभ्यास के समय से ही राजनीति में प्रवेश करता है। इंछिनी, शशिवृत्ता, संयोगिता इत्यादि के विवाह-वर्णन द्वारा कथा को गति मिलती है, साथ ही नायक की वीरता और उसके शृंगार के चित्रण का कवि अवसर प्राप्त करता है। गोरी की चढ़ाई से राजा के दुखद दिन प्रारम्भ होते हैं। राजा की हार होती है और अन्त में बाणबेध के प्रसंग में चन्द और पृथ्वीराज दोनों की मृत्यु हो जाती है। अन्तिम अंश चन्द द्वारा प्रणीत नहीं होता है। इसे कवि ने स्वयं स्वीकार भी किया है।

महाकाव्यों की परीक्षा के लिए आ० शुक्ल ने मार्मिक स्थलों की बात बतायी थी। उनके अनुसार, "कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं।" इसे ध्यान में रखकर विचारने से रासो में गर्भाधान-प्रसंग, शिशुक्रीड़ा-प्रसंग, संयोगिता-परिणय के लिए जाते समय विदाई का प्रसंग, गोरी से अन्तिम युद्ध के पूर्व का यात्रा-प्रसंग, कैद में पृथ्वीराज की स्मृति का प्रसंग इत्यादि मर्मस्पर्शी स्थल प्रतीत होते हैं। इन स्थलों पर कवि की भावुकता खूब उमड़ी है। इन स्थलों के अतिरिक्त, कवि ने व्यूह-वर्णन, नगर-वर्णन, पनघट-वर्णन, युद्धोत्साह और युद्ध-वर्णन, उत्सव-(नवरात्र, नवदुर्गा, विजयादशमी, दीपावली, होली इत्यादि) वर्णन, ज्योनार-वर्णन, षड्ऋतु और बारहमासा वर्णन, नखशिख-वर्णन इत्यादि में अपनी अभिव्यक्ति-कौशल का पूर्ण परिचय दिया है। वह शशिवृत्ता की वयःसन्धि का वर्णन करते हुए नवीन उपमा से काम लेता है—

राका अरु सूरज्ज बिच, उदय अस्त दुहुँ बेर।
बर ससिवृत्ता सोमई, मनो शृंगार सुमेर॥

इस उदात्त वर्णन से भी जब कवि को सन्तोष नहीं होता है, तब उसे बसन्त से उपमित कर चलता है—

पत्त पुरातन झरिग, पत्त अंकुरिय उट्ठ तुछ।
ज्यों सैसव उत्तरिय, चढ़िय बैसव किसोर कुछ॥
शीतल मंद सुगंध आइ रितुराज अचानं।
रोमराइ सँग कुचं नितंब तुच्छं सरसानं॥
बढ़्ढै न सीत कटि छीन ह्वै लज्ज मांन ढंकनि फिरै।
ढंकै न पत्त ढंकै कहै, बन बसंत मत्त जु करै॥

यौवनागम को वसन्तागम से उपमित कर कवि ने कितनी स्वाभाविकता से काम लिया है। नये-नये कोमल-कोमल पत्ते डाल को ढँकना चाहते हैं, पर ढँक

नहीं पाते और इधर शशिवृत्ता की कटि दिन-दिन क्षीण होती जाती, है; कुच, नितम्ब आदि की वृद्धि को लज्जा ढँक लेना चाहती है, पर ढँक नहीं पाती।

जहाँ भी कवि को थोड़ा अवसर मिला है, उसने षड्ऋतु या बारहमासे का वर्णन किया। संयोगिता से विवाह-हेतु यात्रा करने के पूर्व अपनी रानियों से राजा अनुमति लेता है। इस अवसर पर किया गया षड्ऋतु-वर्णन अधिक सुन्दर हुआ है। सर्वप्रथम कवि राजा को पटरानी इंछिनी के पास ले जाता है। संयोग ऐसा कि वह वसन्त का समय था। भला ऐसे समय में रानी यदि यह न कहती तो क्या कहती—

मवरि अंब फुल्लिग कदंब रमनी दिघ दीसं।
मवर माव मुल्लै भ्रमंत मकरन्दवै सीसं॥
बहतँ बति प्रज्जलति मौर अति विरह अगनि किय।
कुह कुहंत कलकंठ पत्र राषस रति अग्गिय॥
पय लग्गि प्रानपति बीनवों, नाह नेह मुभ चित्त धरहु।
दिन दिन अवधि जुब्बन घटय, कंत बसंत न गम करहु॥

'कंत बसंत न गम करहु' में कितनी मार्मिकता है, इसे हिय की आँखों से ही समझा जा सकता है। शृंगार आदि सरस प्रसंगों में कवि की अभिव्यक्ति जितनी मधुर है, वीरता के प्रसंगों में उतनी ही ओजपूर्ण। युद्धों के वर्णन में यह बात देखी जा सकती है। वस्तुतः मध्ययुगीन चरित-काव्यों की तरह ही इसमें कथा को गति भी है। हाँ, यह अवश्य स्वीकार किया जायगा कि कथा को झटके से मोड़ने की चमत्कारपूर्ण योजना नहीं है। वस्तुतः इसमें मानव-जीवन को अनेक परिस्थितियों और विभिन्न भावदशाओं में रखकर देखने का प्रयत्न किया गया है। इसमें तत्कालीन ह्रासोन्मुखी परिस्थिति का सफल चित्रण हो सका है। राजा के विलास-वर्णन और कैद में पड़ने पर पश्चात्ताप की स्थिति का वर्णन करते समय कवि ने ह्रासोन्मुखी भावना को ही उभाड़ने का प्रयत्न किया है। इसमें शृंगार भी है और शौर्य भी; किन्तु यह शृंगार कालिदास के शृंगार के समान स्वस्थ नहीं। शौर्य के लिए भी कुछ ऐसी ही बात कही जायगी। यहाँ भी महाभारत के शौर्य-सा ओज नहीं मिलता है। लगता है, मानो कवि मगज मारकर जबर्दस्ती लिख रहा है। फिर भी, इसमें सब-कुछ वैसा ही नहीं है। सच कहा जाय, तो कहा जायगा कि यह ऐतिहासिक, अनैतिहासिक, पौराणिक और काल्पनिक कथाओं का अक्षय तूणीर है, जिसमें तत्कालीन राजनीति, शासन-व्यवस्था, युद्ध-शैली, दूत, गुप्तचर, व्यापार-मार्ग इत्यादि के सम्बन्ध में अनेक बातें हैं। इसे प्राचीन कथाकाव्य-परम्परा का प्रतिपादक और नवीन काव्य-परम्परा का प्रेरक भी मान सकते हैं। इसे भौगोलिक वृत्तों की रहस्याच्छादित गुफा, हिन्दू-मुस्लिम योद्धाओं के पराक्रम का कोश;

प्राकृत, अपभ्रंश आदि के छन्दों का कोशग्रन्थ और तत्कालीन उत्तर भारत के मानव की चित्तवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और सांस्कृतिक चित्रण करने वाला अन्यतम ग्रन्थ कहा जा सकता है।

छन्दवैविध्यपरक रासो-काव्यधारा में बहुत बाद तक रचनाएँ होती रही हैं। इस धारा में शृंगार, वीर, हास्य इत्यादि अनेक रसों की रचनाओं के अतिरिक्त, नीति और धर्मपरक रचनाएँ भी हुई हैं। समस्त रासो-काव्यों की विशिष्टताओं और उसके महत्त्व पर विचारने से ऐसा पता लगता है कि यह काव्यधारा प्रबन्धपरक काव्यधारा है। मुक्तकों के लिए इस धारा में स्थान नहीं है। इन प्रबन्धों की दो स्पष्ट धाराएँ रही हैं—गीतनृत्यपरक और छन्दवैविध्यपरक। दोनों धाराओं को एक में मिलाया नहीं जा सकता है। दूसरी बात यह कि रास अथवा रासो में कोई अन्तर नहीं है। यह धारणा भ्रान्तिमूलक है कि 'रास' कोमल भावनाओं का परिचायक रहा है और 'रासो' ओजपूर्ण भावनाओं का। वस्तुतः रासो-धारा में विषय और उपादान का वैविध्य रहा है। गीतनृत्यपरक धारा की समस्त रचनाएँ आकार में प्रायः छोटी हैं और छन्दवैविध्यपरक रचनाएँ कुछ तो विस्तार में छोटी हैं, पर कुछ आवश्यकता से अधिक बड़ी। प्रथम काव्यधारा में मिलनेवाली अधिकांश रचनाएँ जैनधर्मावलम्बियों की हैं, जिनका उद्देश्य ही रहा है धर्मशिक्षा अथवा धर्मप्रचार। इन रचनाओं की भाषा प्रायः अन्त तक अपभ्रंशबहुला ही बनी रही है। इनका रचना-क्षेत्र मूलतः पश्चिमी राजस्थान और गुजरात ही रहा है। दूसरी काव्यधारा का उद्देश्य बहुमुखी रहा है। मूल रूप से शृंगार और वीर का चित्रण ही इसमें प्रमुख है। कुछ रचनाओं में हास्य, धर्म, नीति इत्यादि को भी काव्य-विषय के रूप में ग्रहण किया गया है। इनकी भाषा में अपभ्रंश का योग तो है अवश्य, पर अधिकांश रचनाओं की भाषा तत्कालीन केन्द्रीय हिन्दी ही रही है। स्थानीय प्रयोग बहुलता के साथ इनमें पाये जाते हैं। इनका रचना-क्षेत्र लगभग सम्पूर्ण हिन्दी-क्षेत्र रहा है। यह काव्यधारा अन्य काव्यधाराओं की तरह ही काफी समृद्ध काव्यधारा रही है। अभी तक इनका पर्याप्त रूप से अध्ययन नहीं हो सका है।

इस चर्चा को समाप्त करने के पूर्व इतना कहना आवश्यक है कि इस काव्यधारा की रचनाएँ मध्ययुग तक होती रही हैं। इनमें ह्रासोन्मुखी सामन्ती प्रवृत्ति का चित्रण खुलकर किया गया है। नाना प्रकार की कथानकरूढ़ियों, कविसमयों आदि के चित्रण द्वारा रासोकार प्राचीन भारतीय काव्य-परम्परा का पालन करते हुए नवीन काव्य-परम्परा प्रेरक रहे हैं। युद्धों और विवाहों के चित्रण द्वारा मिथ्याभिमान और विलास से जर्जर जीवन को उभार कर रासो के कर्त्ताओं ने समाज का सच्चा सांस्कृतिक और सामाजिक इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

इनमें इतिहास की तिथियाँ और घटनाएँ भले ही शुद्ध रूप में न प्राप्त हों, पर समाज की झाँकी—जीवन की आलोचना— तो मिल ही जाती है। तत्कालीन इतिहास के गवेषकों के लिए इस काव्य-धारा का विशेष महत्त्व है।

७

हिन्दी-भक्तिकाव्य

[उपक्रम—भक्ति—उद्भव और विकास—लोकदृष्टि—स्वर्णयुग का काव्य—सामान्य विश्वास—उपसंहार]

हिन्दी-साहित्य में भक्तिकाव्य का अन्यतम महत्त्व है। यह युग ही कुछ ऐसा रहा है कि असम में शंकरदेव, बंगाल में चण्डीदास और जयदेव, बिहार में विद्यापति, मध्यदेश में कबीर, सूर, तुलसी और जायसी, राजस्थान में मीरा, गुजरात में नरसी मेहता, महाराष्ट्र में तुकाराम इत्यादि अनेक सन्तों और भक्तों का आविर्भाव लगभग एक ही समय में होता है। इन सबों में सर्वाधिक गत्वर व्यक्तित्व और प्रतिभा से युक्त हैं तुलसीदास। उनका 'रामचरितमानस' हिन्दी का अद्वितीय ग्रन्थ तो है ही, विश्व-साहित्य में भी गौरवपूर्ण स्थान पाने का दावेदार है। हिन्दी-भक्तिकाव्य ने हमें तुलसी का 'मानस' और सूर का 'सागर' ही नहीं, निर्गुण की खँजड़ी भी दी है। भाषा, भाव, कला इत्यादि सभी दृष्टियों से यह काव्य समृद्ध है। यदि सम्प्रदायविशेष के प्रति आग्रह इस काव्य में न होता, तो निस्सन्देह यह काव्य समस्त हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ होता। कहना तो यह चाहिए कि सर्वप्रथम उन्मुक्त रूप में हिन्दी-काव्य यहीं प्रकट हुआ है।

भक्ति-काव्य का मूलाधार है भक्ति। कविता यहाँ साधन है, साध्य तो भक्ति ही है। अस्तु, इस काव्य को समझने के लिए भक्ति को समझ लेना आवश्यक है। भक्ति के लिए कोशों में 'अनुराग', 'पूजा', 'उपासना' इत्यादि पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं; पर इनसब में थोड़ी भिन्नता है। श्रीमद्भागवत्कार ने भक्ति का अर्थ किया है मन और बुद्धि से अपने को ईश्वर को अर्पित कर देना— 'मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।' पराशर ने 'पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः' कहकर भक्ति का अर्थ पूजादि में अनुराग ही लिया है। शाण्डिल्य और नारद ने क्रमशः 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (ईश्वर के प्रति परम अनुराग-रूपा) और 'सा त्वस्मिन् परमप्रेम-रूपा, अमृतस्वरूपा च' (भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेमरूपा और अमृतस्वरूपा है) कहकर भक्ति की व्याख्या की है। श्री वल्लभाचार्य ने भगवान् में माहात्म्य-पूर्वक सुदृढ़ और सतत स्नेह को ही भक्ति माना है। उनके अनुसार, मुक्ति का इससे सरल उपाय और कुछ नहीं है—'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः। स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा।' भक्ति के सम्बन्ध में कहे गये

उपर्युक्त सभी मतों पर यदि विचार करें तो ऐसा लगेगा कि हृदय और बुद्धि—अनुराग और ज्ञान की स्वीकृति प्रायः सभी आचार्यों ने दी है। आचार्य शुक्ल ने इन्हें ही क्रमशः प्रेम और श्रद्धा कहा है। आ० शुक्ल ने मानो उपर्युक्त सभी मतों का समाहार करते हुए कहा है कि "श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।" श्रद्धा और प्रेम में से किसी एक के अभाव में भक्ति नहीं हो सकती।

मध्यकाल में हिन्दी-साहित्य में ही नहीं अन्य साहित्यों में भी भक्ति-काव्य लिखे गये हैं। हिन्दी में भक्तिकाव्य की जो व्यापक भावना एक ही साथ दिखाई पड़ती है उसे समुचित रूप में न समझ सकने के कारण अनेक आलोचकों ने कई प्रकार की बातें कही हैं। एक ही भाव-धारा में सारे उत्तर-भारत को अनुप्राणित होते देखकर डॉ० ग्रियर्सन ने कहा कि—"हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है, यहाँ तक कि बौद्ध धर्म के आन्दोलन से भी अधिक विशाल है; क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्त्तमान है। इस युग में धर्म ज्ञान का नहीं, बल्कि भावावेश का विषय हो गया था। यहाँ से हम रहस्यवाद और प्रेमोल्लास के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं जो काशी के दिग्गज पंडितों की जाति के नहीं बल्कि जिनकी समता मध्ययुग के यूरोपियन भक्त बर्नार्ड ऑफ क्लेयर बॉक्स, थामस ए० केम्पिस और सेंट थेरेस से है।" डॉ० ग्रियर्सन के शब्दों में भक्ति का यह आन्दोलन 'बिजली के समान अचानक' कैसे हुआ, इसपर अनेक विद्वानों ने अपने विचार दिये हैं।

सर्वप्रथम बेवर, कीथ, ग्रियर्सन इत्यादि अँगरेज विचारकों ने इस आन्दोलन को ईसाईयत की देन माना है। इन विचारकों ने महाभारत के 'श्वेत द्वीप' को गोरी जातियों का निवासस्थान (यूरोप) बताते हुए, जयन्तियों की प्रथा को ईसाई देन स्वीकारते हुए भक्तिभावना को ईसाई धर्म से ही विकसित माना है। ग्रियर्सन के अनुसार कुछ ईसाई सन्त ईसवी सन् की दूसरी-तीसरी शती के आस-पास मद्रास में आकर बसे थे और उन्हीं के प्रभाव से भक्ति विकसित हुई है। इसी प्रकार, कुछ ने क्राइस्ट से ही कृष्ण का विकास बतलाते हुए भागवत धर्म को ही ईसाई धर्म का रूपान्तर कहा। किन्तु, उपर्युक्त मत मिथ्या ज्ञान पर आधारित हैं। श्री तिलक, श्रीकृष्ण स्वामी आयंगर, डॉ० एच० राय चौधरी इत्यादि विद्वानों ने उपर्युक्त मतों की समीक्षा कर उनके खोखलेपन को प्रमाणित किया है। ताराचन्द जी ने ऐसा मत प्रतिपादित किया था कि इसलाम के प्रारंभिक दिनों में ही कुछ इसलामी सन्त अरब से आकर पश्चिमी समुद्र-तट पर बसे थे और उन्हीं के कारण भारत में भक्ति पनपी। ताराचन्द जी के इस मत को कभी भी किसी ने स्वीकार नहीं किया।

भक्ति के उन्मेष के सम्बन्ध में तीसरा मत है आ० शुक्ल का, जिन्होंने इसे

पराजित मनोवृत्ति का परिणाम और मुस्लिम शासन की प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया माना है। इनका मत है कि "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू-जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही देव-मन्दिर गिराये जाते थे, देव-मूर्त्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। × × × अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?" आ० गुलाब राय ने भी संकेत किया है कि मनोवैज्ञानिक पद्धति पर हारी हुई जाति दो ही बात कर सकती थी— अतिशय धर्म-भावना में जुटना या विलासिता के पंक में डूबकर हार को भूल जाना। हारी हुई हिन्दू जाति ने पहले मार्ग का ही अवलम्बन किया।

आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने आचार्य शुक्ल के मत का खण्डन कर भक्ति को भारतीय चिन्ता-धारा का स्वाभाविक विकास स्वीकार किया है। इनका कथन है कि "यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर-भारत के मन्दिर तोड़ रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान् की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार से यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना ही था, तो पहले उसे सिन्ध में और फिर उसे उत्तर-भारत में प्रकट होना चाहिए था; पर हुई वह दक्षिण में।" द्विवेदीजी ने आगे यह भी तर्क दिया है कि यदि मुसलमानी अत्याचार की प्रतिक्रिया के कारण ही भक्ति उमड़ी, तो जहाँ-जहाँ मुसलमानों के अत्याचार हुए, वहाँ-वहाँ भक्ति उमड़नी चाहिए थी; पर ऐसा मात्र भारत में ही क्यों हुआ? दूसरी बात यह कि यदि भक्ति पराजित मनोवृत्ति का ही परिणाम थी, तो इसको अँगरेजों के प्रादुर्भाव-काल में भी उभड़ना चाहिए था; पर ऐसा हुआ नहीं। आपका मत है कि हिन्दू जाति सदा से आशावादी रही है। आशावादी दृष्टिकोण के कारण ही इसका साहित्य सुखान्त रहा है। इसकी जीवनशक्ति अद्‌भुत है। अस्तु, भक्ति के उन्मेष को न तो पराजित मनोवृत्ति का परिणाम और न मुस्लिम शासन की प्रतिक्रिया ही समझें। वस्तुतः, भक्ति की भाव-धारा का स्वाभाविक विकास हुआ है। आगे इन्होंने ऐसी घोषणा की है कि यदि भारत में मुसलमान न भी आते तो मध्यकालीन समस्त साहित्य का स्वर लगभग शत-प्रति-शत वैसा ही होता, जैसा कि है।

यह स्पष्ट है कि आ० शुक्ल और आ० द्विवेदीजी के मतों में पूर्णतः वैपरित्य है। वस्तुतः दोनों के मतों में कोई एक मत पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता। आंशिक सत्यता ही दोनों में है। आ० शुक्लजी की मुसलमानी शासन की प्रति-

क्रिया वाली धारणा में भी सत्यता है। आन्तरिक प्रभाव के रूप में इसने काम भले ही न किया हो, पर इसका बाहरी प्रभाव तो पड़ा ही था। यह सत्य है कि जब कोई जाति अपनी अधोगति की चरम सीमा पर आ जाती है, तो नवीन रूप से निर्माण के लिए उसी में से शक्तियाँ फूटती हैं। ऐसा देखा गया है कि किसी वस्तु में तनाव आने पर, वस्तु तनाव की स्थिति से दूर पर ही टूटती है। उत्तर-भारत में बौद्ध धर्म के व्यापक प्रभाव के कारण ही इसकी प्रतिक्रिया सुदूर दक्षिण में शंकराचार्य में हुई थी। आ० शुक्ल वाले मत की पुष्टि वल्लभाचार्य जी के 'कृष्णाश्रय' में लिखी बातों से भी होती है। उन्होंने 'कृष्णाश्रय' में लिखा है, "देश म्लेच्छाक्रान्त है, गंगादि तीर्थ दुष्टों द्वारा भ्रष्ट हो रहे हैं। अशिक्षा और अज्ञान के कारण वैदिक धर्म नष्ट हो रहा है। ऐसी स्थिति में एकमात्र कृष्णाश्रय में ही जीवन का कल्याण है।" यदि सच पूछा जाय तो मुस्लिम मात्र लुटेरे बनकर ही नहीं आये थे। वे लुटेरे और सैनिक तो थे ही, विशिष्ट धर्मावलम्बी भी थे। वे अल्लाह, कुरान और हलाली को साथ लेकर आये थे। अल्लाह को मानने वाले, कुरान में विश्वास करने वाले और हलाली रूपी झण्डे के नीचे झुकने वाले को ही वे देखना चाहते थे। वहाँ व्यक्तिगत रूप में एकान्तिक साधना के लिए जगह नहीं थी, इस्लामी धर्म-भावना समूहगत थी। "इस्लाम ने भारत के समस्त कुफ्र को तोड़ डालने की प्रतिज्ञा लेकर इस देश में पदार्पण किया था"—आ० द्विवेदी। इसी से जिस हिन्दू जाति ने शकों, सीरियनों, गुर्जरों, हूणों इत्यादि को पचा-गलाकर डकार लिया था, वही जाति इस्लाम को देखते ही अपने ही अखाड़े में चारों खाने चित हो पड़ी और भक्ति-आन्दोलन के रूप में, मूलतः सगुण भक्ति-आन्दोलन के रूप में समस्त गर्द-गुबार झाड़कर पुनः नये सिरे से संगठित होने का प्रयास कर रही थी। नये सिरे से होने वाले इसी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक संगठन का सबसे सफल नेतृत्व किया है तुलसी-दास ने।

एक बात और। आ० द्विवेदीजी का यह कहना कि मुसलमानों के न आने पर भी मध्यकालीन काव्य का स्वर लगभग शत-प्रति-शत वैसा ही होता—पूर्ण सत्य भले ही न हो, पर यह भी सर्वांशतः असत्य नहीं है। सिद्धों, नाथों आदि की रचनाओं में धार्मिक आडम्बरों, ढोंगों, अन्धविश्वासों इत्यादि पर प्रहार पहले से ही किये जा रहे थे। मुसलमानी आक्रमण से इसमें भी तीव्रता मिल जाती है। इस्लाम भी तो वेद-विरोधी ही था न ! मध्यकालीन सन्तों में सिद्धों, नाथों आदि की भावना का ही नवीन उन्मेष मिलता है। इनके स्वर में सिद्धों, नाथों आदि से अधिक भिन्नता नहीं है। अस्तु, आ० द्विवेदीजी वाली बात भी आंशिक सत्यता लिये हुए प्रतीत होती है। आ० शुक्ल और आ० द्विवेदीजी के मतों में विशेष अन्तर इस कारण भी दिखता है कि दोनों की दृष्टि भक्तिकाव्य के दो पक्षों पर केन्द्रित है। आ० शुक्ल का मत उत्तरवर्त्ती भक्तिकाव्य (सगुण भक्तिकाव्य) पर अधिक टिका है

और आ० द्विवेदीजी का मत प्रारम्भिक भक्तिकाव्य (निर्गुण भक्तिकाव्य) पर ही केन्द्रित है। हमें यहाँ यह न भूलना चाहिए कि भक्तिकाव्य के लगभग ये दोनों पक्ष स्पष्ट रूप से भिन्न हैं। दोनों की प्रेरणा और पृष्ठभूमि में पूर्णतः अन्तर है। इसी से ये दोनों पक्ष आपस में बहुत हद तक विरोधी ही हैं।

आ० द्विवेदीजी ने भक्ति की भावधारा को क्रमशः रूप में विकसित स्वीकार किया है। इन्होंने इसकी परम्परा दक्षिण के भक्तों में देखी है। पर, यहाँ भी तो शंका की जायगी कि दक्षिण में भक्ति की धारा का एकाएक विकास कैसे सम्भव हो सका। अस्तु, यहाँ भी द्विवेदीजी की भूल कुछ है ही। वस्तुतः वे कुछ कड़ियाँ छोड़ गये हैं। इधर नवीन गवेषकों ने भक्ति की अन्तःसलिला लगभग ऋग्वेद से ही स्थापित कर ली है। पर, सत्य तो यह है कि वेदों और उपनिषदों में कर्म और ज्ञान ही प्रधान हैं, वहाँ भावना का उन्मेष नहीं मिलता है। भक्ति परमोच्च साधना का आनुषंगिक परिणाम है। इसके लिए शान्त वातावरण की आवश्यकता होती है। सर्वप्रथम इस शांत वातावरण को कायम किया था पुरुषोत्तम राम ने, जब उन्होंने अनार्यों पर विजय प्राप्त कर अपनी यशःपताका समस्त भारत में फहरायी थी। इसी से धीरे-धीरे महाभारतकाल तक भक्ति का उन्मेष हो सका था। महाभारत के शान्तिपर्व, नारायणीयोपाख्यान आदि में सर्वप्रथम भक्ति का उल्लेख मिलता है। उस समय एकान्तिक, नारायण, पांचराम, सात्वत इत्यादि नामों से भागवत धर्म जाना जाता था। कालक्रम में वे ही भागवत धर्म में प्रतिष्ठित होते हैं जिनके प्रवर्त्तक नारायण और प्रचारक नारद बताये जाते हैं। इसी भागवत धर्म का सैद्धान्तिक निरूपण शाण्डिल्य और नारद-भक्ति-सूत्रों के माध्यम से हो चलता है और पुराण उसके व्यावहारिक रूप को स्थिर कर चलते हैं। आठवीं-नवमीं शती तक पौराणिक धर्म प्रख्यात हो चुका था। उत्तर भारत में तो श्रीकृष्णोपासना और रामोपासना के प्रमाण चौथी-पाँचवीं शताब्दी के मिल ही चुके हैं। यदि इस मत में हम विश्वास न भी करें कि भागवत पुराण की रचना दक्षिण-भारत में ही हुई थी (जैसा कि कुछ लोग मानते हैं), तोभी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि आठवीं-नवमीं शती तक दक्षिण-भारत में भागवत धर्म जोर पकड़ चुका था। यही भागवत धर्म धीरे-धीरे चार प्रमुख सम्प्रदायों द्वारा अपना विकास कर चलता है और इस प्रकार दक्षिण-भारत में पनपने वाली भक्ति का प्रचार क्रमशः उत्तर-भारत में भी हो जाता है।

श्री सम्प्रदाय (रामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्त्तित), ब्राह्म सम्प्रदाय (मध्वाचार्य द्वारा प्रवर्त्तित), रुद्र-सम्प्रदाय (विष्णुस्वामी द्वारा प्रवर्त्तित) और सनकादि सम्प्रदाय (निम्बार्क स्वामी द्वारा प्रवर्तित) में ब्राह्म सम्प्रदाय का सम्बन्ध हिन्दी से प्रत्यक्षतः नहीं है। रुद्र सम्प्रदाय मूलतः वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्त्तित सम्प्रदाय के रूप में ही

हिन्दी को प्रभावित कर सका। सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास (अष्टछाप के कवि) इसी सम्प्रदाय में हुए हैं। सनकादि सम्प्रदाय राधावल्लभी सम्प्रदाय के रूप में हिन्दी में पनपा। हितहरिवंश इसी में हुए हैं। सखी सम्प्रदाय भी इसी की उपशाखा रही है। भक्तिकाव्य पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा श्री सम्प्रदाय का। इसी सम्प्रदाय के थे श्री रामानन्द जी, जिन्हें उत्तर-भारत में भक्ति प्रचारित करने का श्रेय दिया जाता है। इनकी शिष्य-परम्परा में एक ओर कबीर आदि सन्त पड़ते हैं, तो दूसरी ओर सगुण-परम्परा के अक्षय ध्रुव हैं तुलसीदास। रामानन्द जी क्रान्तिदर्शी थे। इन्होंने रामानुज से भिन्न एक नये सम्प्रदाय की स्थापना की थी। रामानन्द के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप जो भक्ति प्रचलित हुई, उसमें कालक्रम में उनकी शिष्य-मण्डली ने भी अनेक सम्प्रदाय निर्मित किये और इस प्रकार भक्ति अनेक रूपों में विकसित हुई और भक्तिकाव्य रचे गये।

जिस प्रकार सगुण भक्ति की जड़ लम्बी है, निर्गुणोपासक सन्तों के काव्यों में मिलने वाली प्रवृत्तियों की परम्परा भी सुदीर्घ है। अथर्ववेद में व्रात्यों की चर्चा में जो बातें मिलती हैं, उनका सम्बन्ध सन्तों से स्थापित किया जा सकता है। जहाँ तक इनके व्यावहारिक पक्ष की बात है, ऊपर कहा गया है कि नाथों, सिद्धों आदि की रचनाओं में भी ऐसी ही प्रवृत्तियाँ हैं। आठवीं-नवमीं शती तक दक्षिण में आलवार सन्तों में यही भक्ति पनप रही थी। नामदेव का आविर्भाव दक्षिण-भारत में ही होता है। उन्होंने तो लक्ष्य ही कर लिया था कि "हिन्दू अन्धा, तुरकौ काना, दुही ते ज्ञानी सयाना।" जिस समय इस्लाम की हलाली का झंडा ऊँचा हुआ, उस समय ईश्वर और अल्लाह के बन्दों में तू-तू, मैं-मैं का बाजार गर्म था। स्वयं हिन्दू जाति में जाति और धर्म-भेद को लेकर काफी कट्टरता थी। हिन्दू जहाँ 'तुरुक' को 'आततायी' लिख रहे थे, वहाँ फारसी के कोशों में 'हिन्दू' का अर्थ 'गुलाम' भी समझाया जा रहा था। ऐसे समय में मध्यकालीन समस्त चिन्ता-धारा को आत्मसात् कर आते हैं धर्मगुरु रामानन्द, जिन्होंने सबकी आपसी कलुषता को मिटाने का सर्वप्रथम प्रयत्न किया। समन्वयवाद के इस सर्वप्रथम प्रयत्न का ही कायल है सन्तमत, जिसने कबीर का व्यक्तित्व उभारा। इसी से मूर्त्तिपूजा, सन्ध्या-गायत्री, तीर्थ-व्रत, छापा-तिलक, वेद-पुराण, तसबीह-इबादत, रोजा-नमाज, शेख-काजी, पुराण-कुरान इत्यादि की घोर निन्दा की है कबीर ने। इस समन्वयवाद पर यदि हम ध्यान दें, तो स्पष्ट है कि इसने सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों पर ही फफोले उगाये हैं, मुसलमानों की राजनीतिक सत्ता और उनके द्वारा किये जाने वाले धार्मिक अत्याचार के विरोध में इसने चूँ तक न की है। आखिर यह क्यों? इसीलिए न कि अधिकांश सन्त हिन्दू जाति द्वारा उपेक्षित निम्न वर्ग के हैं, जो धार्मिक

दृष्टि से मुसलमानों से मेल कर लेने की बात सोच रहे थे।

दूसरी ओर मुसलमानों का भी एक वर्ग हिन्दू-घरों के वातावरण, संस्कार, धर्म में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य, उच्च चारित्र्य आदि की ओर आकर्षित हो चुका था। वह इस्लाम की कट्टरता को ही नहीं, रीति-रिवाज, भाषा, आक्रामकों के अत्याचार इत्यादि को भी छोड़ चुका था। ऐसे ही मुसलमानों ने हिन्दुओं से मेल-जोल स्थापित करने का दूसरा प्रयास किया, जिसके कारण साहित्य में सूफी प्रेमाख्यानकों का निर्माण हो सका, जिसके कर्त्ताओं में अग्रणी हुए जायसी।

प्रारम्भिक भक्तिकाव्य में तथाकथित ज्ञानमार्गी सन्तों और प्रेममार्गी सूफियों का साहित्य, धर्म और समाज के क्षेत्र में समान रूप से समन्वय और समझौते के भाव का वाहक है। एक ओर समाज से उपेक्षित, प्रताड़ित और अशिक्षित लोग हैं, दूसरी ओर नासमझ मुसलमानों की टोली में से गिने-चुने और समझदार तथा शिक्षित लोग हैं। दोनों ने क्रमशः मुक्तक और प्रबन्धात्मक रचनारूपी अपने मानस-पुत्र को एक साथ ही सरस्वती की वेदिका पर अर्पित किया है। मानवता की देवी को कबीर और जायसी दोनों ने अपने एक-एक हाथों की मिलित अंजलि से पुष्पार्पण किया है।

मुसलमानी अत्याचार की तलवार हिन्दू सभ्यता और संस्कृति को नाश कर देने के लिए पूर्णतः प्रयत्नशील थी। अतः, हिन्दू सभ्यता और संस्कृति के रक्षार्थ धर्माचार्य आगे बढ़े और हिन्दू-समाज को नये सिरे से संगठित करने लगे। इस संगठन ने मुसलमानों का, धर्म और समाज की दृष्टि से, पूर्ण बहिष्कार किया। उन्हें म्लेच्छ, अस्पृश्य, यवन इत्यादि घोषित किया गया। सगुण भक्तिवाद ने धार्मिक दृष्टि से उदारता अपनाकर भी सामाजिक कट्टरता इसीलिए अपनायी। रामानुज ने भक्ति की एकान्तिक साधना पर जोर देकर भी भक्ति के क्षेत्र में जाति के बन्धन शिथिल कर दिये। इसी से भगवान के विविध अवतारों की चर्चा चल पड़ी। उन्हें भक्तवत्सल और करुणायतन घोषित किया गया। श्रीकृष्णभक्ति में श्रीकृष्ण सुदर्शनधारी न होकर नटनागर बने। इसके दो कारण हैं— प्रथम तो उसे चण्डीदास, जयदेव, विद्यापति इत्यादि का लीलागान मिला और दूसरे यह कि हिन्दू जाति जो निराश होकर जीवन से ऊब गयी थी, उसमें जीवन के प्रति राग उत्पन्न करना था। सूर आदि कृष्ण-भक्तों ने यही किया है—जीवन को रागात्मक बनाकर उसके प्रति मोह उत्पन्न किया है। इसके पश्चात् आये तुलसी, जिन्होंने रागात्मक जीवन को कर्मठता प्रदान की। नवीन सामाजिक पारिवारिक मर्यादा उत्पन्न कर देश को ऐहिक उत्थान की ओर प्रेरित किया। राममन्दिर के आगे मारुतिमन्दिर की स्थापना कराना, दोनों के बीच अखाड़े की व्यवस्था कराना, धनुर्धारी राम और वीर हनूमान की उपासना चलाना इत्यादि हिन्दू-समाज को शक्तिसम्बर्द्धित कराने के

उपाय ही तो थे। इस प्रकार, सगुण भक्तिकाव्य ने धर्म और समाज को तो संगठित किया ही, देश के ऐहिक उत्थान में भी पूर्णतः योग दिया है। जयदेव की ऊहात्मक, चण्डीदास की भावात्मक और विद्यापति की प्रगल्भ शैलियों का सामंजस्य कर सूर ने कृष्ण के वात्सल्य और शृंगार के चित्रण द्वारा इस्लाम और निर्गुणवाद की व्यर्थता प्रमाणित करके जीवन के प्रति आस्थाहीन हिन्दुओं को निराशा और दुःख की छाया से ऊपर उठाया और तुलसी ने राम के शील, शक्ति और सौन्दर्य का चित्रण कर— शक्तिसंवर्द्धित कर 'निशिचरहीन करौं मही' की प्रतिक्षा करने को प्रेरित किया।

अब विचारणीय है, भक्तिकाव्य में वर्णित लोकदृष्टि। यहाँ लोकदृष्टि का अर्थ लोकसम्बन्धी दृष्टि ही है। यह दो प्रकार की होती है—लोक के सम्बन्ध में दार्शनिक चिन्तन और लोक के सम्बन्ध में व्यावहारिक चिन्तन। प्रथम प्रकार के चिन्तन के अन्तर्गत—लोक क्या है, सत् है या असत् अथवा सदसत्; इसका निर्माता कौन है आदि-आदि अनेक प्रकार के प्रश्न सामने आयेंगे और दूसरे प्रकार के वर्णन में लोक में प्रचलित राजनीति, सामाजिक मान्यताएँ, आर्थिक मान्यताएँ एवं जीवन की विभिन्न आवश्यक बातों की चर्चा होगी। भक्तिकाव्य के अन्तर्गत हिन्दी में रचित समस्त सन्त-काव्य, प्रेमाख्यान और सगुण भक्तों की रचनाएँ आयेंगी। समस्त रचनाओं में वर्णित लोकदृष्टि पर विचारने से यह स्पष्ट है कि दार्शनिक पक्ष (लोक क्या है, आदि-आदि) में कबीर, जायसी और तुलसी में लगभग समता ही है। सूर का मत थोड़ा हटकर है। पर, इस समता के बाद भी मार्गोपदेश में भिन्नता है। कबीर ने उपदेश आदि के लिए पूर्णतः निवृत्ति-मार्ग को अपनाया है। भले ही इससे तात्कालिक समाज का कल्याण हो गया हो, पर यह मार्ग गत्यवरोध उत्पन्न करने वाला है, कल्याणकारी नहीं है। इसी से सूर आदि सगुण भक्तों ने निवृत्ति-मार्गोपदेश (निर्गुण पन्थ) का तगड़ा विरोध किया है। व्यवहार-पक्ष की दृष्टि से कबीर में लोकदृष्टि का सर्वथा अभाव रहा है। भारत में प्राचीन काल से ही ईश्वराराधन दो रूपों में विकसित हुआ है—प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक। बौद्ध, जैन, सिद्ध, नाथ इत्यादि निवृत्तिमूलक उपासक ही हुए हैं। कबीर भी ऐसे ही थे। अँगरेज आदि विदेशियों ने ऐसे ही लोगों को समाज-सुधारक कहकर पुकारा है। आज के भारतीय आलोचकों ने भी उनके मार्ग का अन्धानुकरण किया है। यहाँ हमें यह सोचना है कि जिसने समाज को छोड़ दिया, जो समाज को छोड़कर भाग गया, वह समाज-सुधारक कैसे हो सकता है! समाज-सुधारक के लिए पहली शर्त्त है सामाजिक होना। जो समाज को छोड़कर भाग जाय, समाज से पलायन कर जाय, वह समाज-सुधारक कैसे होगा! इन्हें समाज-सुधारक कहने की चाल विदेशी है। वस्तुतः ये समाज-सुधारक नहीं थे; क्योंकि इनके कथन व्यक्ति को समाज में प्रवृत्त कराने वाले नहीं

हैं। इन्होंने उपदेश सामाजिकों को नहीं, साधुओं को दिया है। इनकी साधना सामाजिक नहीं, वैयक्तिक थी। जिस समय समाज में मुसलमानों का दमनचक्र चल रहा था, इन्होंने तत्कालीन दमनचक्र के सम्बन्ध में एक बात भी नहीं कही है। राजनीति, समाज, लोकव्यवहार इत्यादि से इनका साहित्य पूर्णतः अछूता है। इनकी साधना वैयक्तिक होने के कारण जगत् को ये माया मानते थे। संसार से शीघ्र छुटकारा पाना ही इनका उद्देश्य था। अस्तु, इन्हें समाज-सुधारक कहना कोरी भूल है। इन्होंने हिन्दू और मुसलनान के आडम्बरों पर जो प्रहार किये हैं, उससे तत्कालीन समाज को नाममात्र के लिए लाभ भले ही हुआ हो, धार्मिक एकता की भूमि इन्होंने भले ही तैयार की हो; पर ये समन्वय की अट्टालिका तैयार नहीं कर सके (कर भी नहीं सकते थे)। व्यक्तिगत अहं को दूर कर सकने में, समन्वय का महल तैयार करने में सफल हुई है प्रवृत्तिमूलक उपासना ही। तभी तो रसखान, आलीखान और ताज इधर आ सके हैं—अनेक कन्हैया वन गये हैं और बहुतों ने कन्हैया को प्राप्त करने के लिए 'हिन्दुआनी' होना स्वीकार कर लिया है।

एक बात और। कबीर की आलोचना करते समय आ० शुक्ल ने ऐसी घोषणा की है कि कबीर को कविहृदय नहीं मिला था। इसके प्रतिकूल कई लोगों ने आपत्तियाँ उठायीं। आ० द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'कबीर' में ऐसा प्रतिपादित किया कि कबीर में एक सफल कवि की सम्पूर्ण वस्तुएँ वर्त्तमान हैं और इनकी भावुकता अद्वितीय है। यहाँ हम अधिक दूर तक चर्चा न करते हुए, मात्र यही कहना चाहेंगे कि विशुद्ध भारतीय विचारधारा में कबीर तत्त्वचिन्तक ही समझे जाते रहे हैं, कवि नहीं। तत्त्वचिन्तन में भी उन्हें तीसरा स्थान ही मिला है—

'तत्त्व तत्त्व सब कठवा कहिगा, अँधरै कही अनूठी।
बची खुची सो कबिरा कहिगा, और कहै सो जूठी॥'

इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि हिन्दी-साहित्य में कबीर की परम्परा चलती नहीं है। इनके निर्गुण की खँजड़ी जीवन के अंश को ही चकित कर रही है। जीवन के एक अंश को तो कम-से-कम प्रभावित भी किया है, पर साहित्य का सर्वांश अछूता ही रहा है। उत्तरवर्त्ती साहित्य पर कबीर का प्रभाव एकदम नहीं मिलता है। अस्तु, इस दृष्टि से कविकर्म असफल ही समझना चाहिए। साथ ही, यह भी कह देना आवश्यक है कि कबीर की रचनाएँ साहित्य के अन्तर्गत नहीं मानी जा सकतीं। जिन रचनाओं में भावुकता आदि का समावेश है, वे तो साहित्य के अन्तर्गत हैं, अन्यथा शेष रचनाएँ 'बानी' हैं, साहित्य नहीं। विज्ञ पाठक इसे स्वयं सोच सकते हैं कि हिन्दी-साहित्य की भूमिका 'सून्य महलिया' और 'दसवें दुआर' में है अथवा 'मानस' और 'सागर' में।

कबीर की अपेक्षा जायसी आदि प्रेममार्गी सन्तों के काव्यों में लोकदृष्टि की

पहचान अधिक है। साधना तो इनकी भी निवृत्तिमूलक ही है; पर मार्ग प्रवृत्ति-मूलक रहा है। इस मार्ग ने जीवन को तो प्रभावित नहीं किया है; पर साहित्य के एक अंश पर प्रभाव अवश्य डाला है। शृंगार-काल की स्वच्छन्द काव्यधारा पर इसका प्रभाव देखा जा सकता है। सूफी प्रेमाख्यान लोकदृष्टि से दुखान्त होकर भी साम्प्रदायिक दृष्टि से सुखान्त हैं। सगुण भक्तों के रसरूप (सौन्दर्यरूप) और ऐश्वर्यरूप की तरह ही इनकी ब्रह्मभावना भी जमाल और जलाल दो रूपों में व्यक्त हुई है। सन्तों की तरह ही इनके रहस्य-संकेत अनिश्चित नहीं हैं। यहाँ है तो माधुर्यभाव ही, पर कृष्णभक्ति के माधुर्यभाव से अन्तर है। जायसी ने जगत् के अणु-अणु में ईश्वर का आभास पाया है अवश्य; पर वे इसका सदा उपदेश ही करते रह जाते हैं, उसके लीलापुरुषोत्तमरूप को अवतरित नहीं करते हैं। यह काम पूरा होता है सूर आदि कृष्णभक्त कवियों द्वारा। राजनीति के चित्रण से उदासीनता तो प्रेममार्गी कवियों में भी है; पर समाज और लोकव्यवहार को इन्होंने अपने काव्य में पूर्ण स्थान दिया है। इस दृष्टि से कबीर से ये कवि बहुत आगे निकल आये हैं।

सूफियों से बढ़कर लोकदृष्टि मिली है कृष्णभक्त कवियों को। सूर आदि पुष्टिमार्गी थे। वहाँ महत्त्व था पुष्टि का, प्रवाह का नहीं—मर्यादा मध्यम मानी गयी थी। इसी से कुछ लोग कह सकते हैं कि पुष्टि को मानने वाले सूर में लोकदृष्टि कहाँ। वस्तुतः ऐसा कहना गलत है। आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार—"सूरदास ने लोकवृत्ति को तो ग्रहण किया है, पर लोकप्रवाह को नहीं।" कृष्ण-भक्ति-काव्य में अपेक्षाकृत सामाजिक मर्यादा की जो कमी मिलती है, उससे तत्कालीन समाज को मर्यादित करने का कार्य लिया गया था। निराश हिन्दू-जनता में जीवन के प्रति राग उत्पन्न करने के लिए वही आवश्यक था। अस्तु, कृष्णभक्ति-काव्य में सामाजिक स्वच्छन्दता मर्यादा तोड़ने के लिए नहीं, मर्यादा जोड़ने के लिए ही दी गयी थी। राधाकृष्ण के प्रेम ने तत्कालीन समाज में फैले व्यभिचार और बाजारू प्रेम पर अंकुश का काम किया। सूर की घोषणा ही है कि—

'पीत ध्वजा उनके पीताम्बर, लाल ध्वजा कुबिजा व्यभिचारी।
सत की ध्वजा सेत ब्रज ऊपर, अजस हेत, ऊधो पै प्यारी ॥'

श्रीकृष्ण का प्रेम रजस्-भाव का, कुब्जा का तमस् भाव का और गोपियों का प्रेम सात्विक भाव का है। यदि सात्विक प्रेम ही अयश का कारण बने, तो किया क्या जाय? यही कारण था कि राधाकृष्ण की उपासना का इतना अधिक प्रचार हो सका। यदि इसने लोकदृष्टि से इतना अधिक काम न लिया होता, तो यह भक्ति इतनी व्यापक न होती और सूर आदि के गीत जन-जन में प्रचारित भी न होते।

लोकदृष्टि की सर्वाधिक पहचान है तुलसी को। वह सोंटा-चिमटा अथवा तुमड़ी-कन्था लेकर समाज से अलग हो धूनी रमाने वाला वैरागी बाबा नहीं था,

बल्कि 'सियाराममय सब जग' जानकर 'निशिचरहीन करौं मही' का मन्त्र फूँकने वाला था। उसने 'भलि भारत भूमि' में जन्म लेकर इसकी भलाई की बात सोचने की ठान ली थी। वह तो कह रहा था, "भलि भारत भूमि भले कुल जन्म समाज शरीर भलो लहि कै।" यदि यह कहा जाय कि वह हिन्दी का ही नहीं, समस्त भारत का प्रथम राष्ट्रकवि था— संस्कृति और राष्ट्र के उत्थान के लिए सर्वप्रथम उसने ही बीजवपन किया, तो लोग अत्युक्ति मान लेंगे। पर, है यह सच बात। गाँव-गाँव में मारुति-पूजा और धनुर्धारी राम की उपासना का प्रचार करने वाला, रामलीला के द्वारा राम के 'दुर्गाकोटि अमिट अरिमर्दन' और 'विधि हरि शंभु नचावन हारे' राम की शक्ति का प्रचार करने वाला यदि देश के ऐहिक संगठन में योग दे रहा था, तो आश्चर्य कैसा। राम के दास हनूमान का बीजमन्त्र ग्रहण किया समर्थ रामदास ने, जिनके शिष्य शिवाजी ने मुसलमानी अत्याचार के विरोध में तलवार सँभाली। सन् १८५७ की प्रथम सशस्त्र क्रान्ति में भी यही संघटनात्मक मन्त्र काम कर रहा था। कुछ आलोचक तुलसी की आलोचना करते समय इन्हें ब्राह्मणों का वकील और सामन्तवाद का पिट्ठू मानते हैं; पर यह थोथा अर्थवाद ही है—

'प्रभु के बचन वेद बुध समनत मम मूरति महिदेव मई है।
तिन्ह की मति रिस राग मोह मद लोभ लालची लीलि लई है।'

वे दूसरी ओर सामन्तवाद पर भी प्रहार कर रहे थे—

'राज समाज कुसाज कोटि कटु कलपत कलुष कुचाल नई है।
नीति प्रनीति प्रीति पर मिति पति हेतुबाद हठि हेरि गई है।'

शोषक-वर्ग के तो वे साथी ही थे। देखिए, वे उनके कष्टों से कराह रहे हैं—

'खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि
बनिग को वनिज न चाकर को चाकरी।
जीविकाविहीन लोग सीधमान सोच बस
कहैं एक एकन सों कहाँ जाइ का करी।।'

जिस सुधारवाद का झंडा आर्यसमाज ने आज उठाया है, तुलसीदास ने उसका डंका पीटना भी न छोड़ा था। बहराइच के मेले में गाजी मियाँ क्या कर रहे हैं और महिपाल कैसे कराल दण्ड दे रहे हैं, उस ओर भी उनकी दृष्टि थी—

'लही आँख कब आँधरे, बाँझ पूत कब पाय।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाय।।'

ज्ञान का ककहरा भी न जानने वाले सन्त परम्परागत दिग्गजों से मुँहजोरी करने चले थे, इसका लक्ष्य सूर ने भी किया था; पर उन्होंने इसका प्रतिवाद प्रच्छन्न रूप में ही किया था। सूर के 'सागर' ने यह काम पूरा नहीं किया था, इसी से तुलसी ने 'मानस' लहराया। 'राम नाम का भरम है आना, दशरथ सुत तिहुँलोक

बखाना' का उत्तर तुलसी ने ही दिया। वस्तुतः तुलसी पूरे सामाजिक थे। तभी तो उन्होंने 'रूढ़ि तोड़ने के लिए रूढ़ि नहीं तोड़ी' और समाज को जिसकी आवश्यकता थी, उसे दिया भी। इनका सामाजिक विद्रोह भावभावित था, बुद्धिबोधित नहीं। इसी से ये भक्तिमार्ग में ही 'राजडगरो' निकाल सके, जिसपर सभी चल सके। इनका मार्ग 'साम्यवाद' का नहीं था; पर साम्यभाव का था अवश्य।

सच पूछा जाय तो जायसी भाववादी थे और सूर स्वच्छन्दतावादी; पर तुलसी थे मर्यादावादी। तुलसी का मर्यादावाद किसी में नहीं मिलता है। भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वय उनके मर्यादावादी दृष्टिकोण का ही परिचायक है। भक्ति में दो बातें होती हैं—प्रेम और श्रद्धा। जायसी ने प्रेम के वियोग-पक्ष को, सूर ने प्रेम के उभय-पक्ष को और तुलसी ने प्रेम के उभय-पक्ष को कम और श्रद्धा को ही अधिक ग्रहण किया है। इसी से तुलसी की लोकदृष्टि अधिक व्यापक हो सकी है। भक्त के विचार से कहें तो कहा जायगा कि जायसी, सूर और तुलसी ने क्रमशः भगवान् के भावरूप, रसरूप और ऐश्वर्यरूप को ग्रहण किया है। कबीर ने भी ब्रह्म का ऐश्वर्यरूप ही लिया है; पर दोनों में पर्याप्त अन्तर है। कबीर पूर्णतः निवृत्तिमार्गी हैं। जायसी सूफी होने के कारण हैं तो निवृत्तिमार्गी ही, पर प्रवृत्तिमार्ग की ओर भी झुकाव है। सूरदास पूरे प्रवृत्तिमार्गी हैं और तुलसी में निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों का समुचित समन्वय है—

'घर कीन्हे घर जात हैं, घर राखे घर जाय।
तुलसी घर बन बीच ही रामप्रेमपुर छाय॥'

एक बात और, सूर और तुलसी दोनों सगुणोपासक हैं। सूर बालमनोविज्ञानवेत्ता हैं तो तुलसी समाजमनोविज्ञान के पंडित। सूर सगुण को सुलभ और निर्गुण को दुर्लभ मानते हैं—

'निरगुन अगम विचारहि तातें सूर सगुण लीला पद गावै।'

और तुलसी इसके विपरीत घोषणा करते हैं—

'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन न जानै कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥'

आखिर, बात क्या है? निर्गुण ब्रह्म ऐश्वर्यरूप है और सगुण ब्रह्म रसरूप। ऐश्वर्यरूप में ईश्वर को पहचानना सुलभ है और रसरूप में जहाँ वह नरलीला करता हो, उसे पहचानना मुश्किल हो जाता है। भगवान के रसरूप को देखकर ही पार्वती और गरुड़ जैसों को भी मोह उत्पन्न हो गया था। सगुण रूप में ईश्वर रसरूप और ऐश्वर्यरूप—दोनों में ही लीलाएँ करता है। इसी से सगुण दुर्लभ है। अस्तु, कहा जायगा कि "सूरदास का पक्ष ब्रह्म की रिरंसा का परितोष है। तुलसीदास का पक्ष सगुण ब्रह्म की जिज्ञासा का परितोष है। इसीलिए सूरदास

लीलापदगान को सुगम या सुलभ कहते हैं और तुलसीदास उसे असुलभ बताते हैं।"

अस्तु, लोकदृष्टि के सम्बन्ध में निष्कर्षरूप से हम कह सकते हैं कि भक्तिकाल के कर्त्ताओं में, कबीर आदि की कृतियों में लोकदृष्टि का सर्वथा अभाव है। काव्य का प्रधान प्रयोजन 'कान्तासम्मित उपदेश' प्रायः उपेक्षित ही रह गया है, इससे इनमें काव्यत्व के अवयव भी पूर्णतः नहीं आ पाये हैं। जायसी का प्रयत्न कबीर से अधिक महत्त्वपूर्ण है। सूर ने समाज को 'सागर' से सिक्त किया है और अन्त में तुलसी ने अपना 'मानस' लहराया, जिसके पीछे 'सुरसरि सम सब कहँ हित होई' की भावना ही रही है। 'मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा' की भावना से साखी, सबदी, दोहरा और किहनी-उपखान कहने वाले की लोकदृष्टि सुरसरि सम हित-कर कहाँ से हो पाती ?

हिन्दी के कतिपय विद्वानों ने भक्तिकाव्य के युग को 'स्वर्णयुग' और 'सर्वश्रेष्ठ युग' कहा है। यदि आलोचकों की इस मान्यता पर विचार करते हैं, तो ऐसा प्रमाणित हो जाता है कि उपर्युक्त विचार निराधार नहीं है। इस काव्य में ऐसी अनेक खूबियाँ मिलती हैं, जिनके कारण इसे यह गौरव प्राप्त हो सका है। यदि कारणों पर विचार करें तो काव्यरचना के लिए महत् प्रेरणास्रोत, काव्य-रचना का महान् उद्देश्य, उत्कृष्ट विचार, भावों का माधुर्य, काव्यशैलियों के वैविध्य, भाषा की प्रौढ़ता, कलापक्ष की प्रौढ़ता और भावों का दार्शनिक चिन्तन के साथ अपूर्व समन्वय आदि ऐसे कारण दीखते हैं, जो इसे स्वर्णकाव्य का गौरव दिलाने के लिए सचेष्ट हैं। प्रेरणास्रोत को ही लीजिए। कवि किसी वाद के चक्कर में नहीं है। इन्हें राजाश्रय भी नहीं मिला है। यह काव्य धर्माश्रय में पनपा है। सन्तों और भक्तों ने आत्मा की पवित्रता और शुद्धता से प्रेरित हो जनकल्याणार्थ ही रचनाएँ की हैं। तुलसी ने तो 'स्वान्तःसुखाय' की घोषणा की है।

महत् कार्य से महत् उद्देश्य पूर्ण होते हैं। इसके लिए साधन भी महत्त्व-पूर्ण चाहिए। भक्तिकाव्य का उद्देश्य ही रहा है 'सुरसरि सम सब कहँ हित' करना। कलिमल को हरने के लिए, संसार का मंगल करने के लिए ही भक्तिकाव्य लिखा गया था। यहाँ कविता का उद्देश्य न तो कलाबाजी है और न मनोरंजन। कविता का सम्बन्ध जीवन से होने के कारण, इसके उद्देश्य भी जीवन के उद्देश्य के समान ही हैं। इसी से तो स्वर्ग के सन्देश को ही मानो कवियों ने काव्य में उतारने की चेष्टा की है। यों जायसी आदि सूफी कवियों ने 'मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा' कहकर उद्देश्य को 'यशसे' से मिला दिया है।

विचारों की जो उत्कृष्टता यहाँ मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। बाह्या-डम्बरों के खण्डन के द्वारा, खोखली नैतिकता पर गहरा प्रहार भी इसी काव्य ने किया है। दूसरी ओर, विशृंखलित हिन्दू-समाज को संगठित करने का प्रयास भी

यहीं हुआ है। धर्म, समाज और दर्शन के क्षेत्र में जितनी भी विरोधी बातें थीं, तुलसी ने सबको समन्वित कर एक नवीन स्थापना की है। इस दृष्टि से तुलसी का प्रयास विचारों की उत्कृष्टता और रचनात्मक कार्य को लेकर स्तुत्य है।

यह सही है कि 'सून्य महलिया' और 'अखरावट' ही काव्य नहीं हैं; पर कबीर और जायसी की सभी बातें साहित्यचिन्तन से दूर हों, ऐसा भी नहीं कहा जायगा। ज्ञान के हाथी पर हठयोगी आसन मारने वाले कबीर ने कतिपय स्थलों पर अपनी पूर्ण भावुकता का परिचय दिया है। घर-फूँक मस्ती और अक्खड़पन को कबीर जब भूल जाते हैं, तो उनकी भावुकता भी अपनी समता नहीं रखती है—

'अंखड़ियाँ झाला पड्या, पंथ निहार निहार।
जीभड़ियाँ छाला पड्या, राम पुकार पुकार।

जायसी तो भावुक जीव ही हैं। तभी तो नागमती का विरह, मनुष्यों की कौन कहे, पशु-पक्षी तक को द्रवित कर देता है। वात्सल्य और श्रृंगार के क्षेत्र में सूर का टक्कर लेने वाले आज तक कम ही देखे गये हैं। रही बात तुलसी की, जिसकी प्रबन्धात्मकता और काव्य-सम्भार के आगे नामी-गिरामी दिग्गजों के भी पैर उखड़ जाते हैं। भक्तिकाव्य में राजस्थान की कोकिला मीरा के दर्द भरे गीत आज भी अलग से झलक मारते हैं। अस्तु, कहा जायगा कि भावों का जितना उन्मेष, माधुर्य और रस-परिपाक यहाँ मिलता है, अन्यत्र सुलभ नहीं है।

काव्यरूपों और शैलियों की दृष्टि से भी इस काव्य का विशिष्ट महत्त्व है। मुक्तक और प्रबन्ध की दो धाराएँ समानान्तर रूप से प्रवाहित होती हैं। मुक्तकों के साथ ही नहछू और मंगलकाव्यों में मुक्तक-प्रबन्ध के रूप भी मिलते हैं। 'मानस' अपनी प्रबन्धात्मक गरिमा के लिए इतना अधिक प्रख्यात हुआ कि उसके पश्चात् 'कामायनी' को ही दूसरा स्थान दिया जाता है, शेष तो दोनों रचनाओं के मध्य में महाकाव्य नामधारी ही अधिक हैं, उनकी महाकाव्यता तो सन्दिग्ध-सी ही है।

भावपक्ष की तरह ही इस काव्य का कलापक्ष भी प्रौढ़ है। आलंकारिकता ने भावों के विकास में सहयोग ही दिया है। भाषा की दृष्टि से तुलसी को सुकवियों का सरदार ही घोषित किया जाता है। परवर्ती कवि तुलसी की भाषा को ही टकसाली मान लेते हैं और उसका अनुसरण करते हैं। अस्तु, सब प्रकार से विचार करने पर भक्तिकाव्य की श्रेष्ठता सिद्ध है। इसी से कतिपय विद्वानों ने इस काव्यकाल को 'स्वर्णयुग' और 'सर्वश्रेष्ठ युग' भी कह डाला है।

भक्तिकाव्य में मूलतः दो प्रकार की भक्ति के ही प्रतिपादन मिलते हैं—निर्गुण और सगुण। निर्गुणोपासना में सन्तों और सूफियों के काव्य आते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त, नानक की उपासना भी इसी प्रकार की मानी जायगी। नानकपन्थी सन्तों ने अपेक्षाकृत कम रचनाएँ की हैं। गुरुग्रन्थ साहब में नानकपन्थी

सन्तों के अतिरिक्त अन्य सन्तों की रचनाएँ भी मिलती हैं। नानक की रचनाओं में पंजाबी का मिश्रण अधिक है। नानक के अतिरिक्त अन्य गुरुओं की रचनाएँ भी मिलती हैं। अन्तिम गुरु गोविन्द सिंह की रचनाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

यों तो सन्तों और भक्तों की रचनाओं में वैषम्य ही अधिक दीखता है; पर कतिपय ऐसी बातें भी भक्तिकाव्य में मिलती हैं जिनका प्रतिपादन सबों ने समान रूप से किया है। भक्त का भगवान् से व्यक्तिगत सम्बन्ध, भक्त (गुरु) और भगवान् को समान समझना, प्रेम को परम पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार करना, नाममहिमा इत्यादि अनेक ऐसी बातें हैं जिनपर सबके विचार लगभग एक ही हैं। तुलसी यदि 'जनम जनम रघुपति-भगति' की कामना करते हैं, तो रसखान 'लकुटी अरु काम-रिया पर' तीनों लोकों का साम्राज्य ही न्योछावर करते हैं। इधर दादूदयाल भी घोषणा करते हैं "दादू तुम बिन और न जानै दरसन माँगों गोविन्दा।" ये सामान्य विश्वास ऐसे हैं जो पन्थ और सम्प्रदाय की दूरी को मिटाते हुए सबको एकसूत्र में गुम्फित करते हैं।

अन्त में इतना कहना आवश्यक है कि भक्तिकाव्य में जिन बातों का प्रतिपादन हुआ है, वे परमोच्च साधना के परिणाम हैं। मानव-जीवन में जब तक धर्म और भक्ति की आवश्यकता रहेगी, तब तक तो ये काव्य रहेंगे ही; साथ ही इनमें जीवन के कतिपय ऐसे शाश्वत मूल्यों पर भी विचार मिलते हैं जिनकी आवश्यकता मानव को सदा रहेगी। इनका उद्देश्य मूलतः जीवन के उद्देश्य से ही सम्बद्ध है। जिसने जीवन को जितनी अधिक गहराई से देखा है, उसका काव्य उतना ही महान् और शाश्वत है। हाँ, निर्गुण की खँजड़ी का प्रभाव सगुण की बाँसुरी के आगे व्यर्थ अवश्य प्रतीत होता है। प्रेम की पीर उत्पन्न करने वाले भी जीवन को मर्यादित करने वाले के सामने टिक नहीं पाते हैं; पर सबका अपना-अपना मूल्य है। भक्तिकाव्य-गंगा जीवन-सागर तक आयी है अवश्य; पर अकेले नहीं, इसने अपने साथ अनेक नदियों-नालों को समेट भी लिया है। निश्चय ही, हिन्दी-भक्तिकाव्य के स्तम्भ हैं चार ही—कबीर, जायसी, सूर और तुलसी; पर इनके साथ छोटे-बड़े अनेक सन्त-भक्त संग दे सके हैं, जिनका भी विशिष्ट महत्त्व है।

८

हिन्दी-सन्तकाव्य

[पृष्ठभूमि उत्तर-दक्षिण भारत—परम्परा—सम्प्रदाय—प्रवृत्तियाँ—छन्द—भाषा—अर्थ-पक्ष—प्रभाव]

हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल में एक विशिष्ट काव्यधारा चली थी। विभिन्न विचारकों ने इसे विभिन्न नाम दिये हैं। आ० शुक्ल ने इसे 'निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा', आ० ह० प्र० द्विवेदी जी ने इसे 'निर्गुण भक्ति-साहित्य' और डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसे 'सन्तकाव्य-परम्परा' कहा है। 'ज्ञानाश्रयी' शब्द में अनेक भ्रान्तियों के लिए स्थान है। ऐसा लगता है, मानो इस धारा के कवियों ने 'ज्ञानतत्त्व' को अधिक महत्त्व दिया है, जब कि 'प्रेम के ढाई अक्षरों' के सम्मुख इस धारा के कवियों ने 'पोथी के ज्ञान' को तुच्छ बताया है। इसी से डॉ० श्रीकृष्ण लाल इसे 'निर्गुण ज्ञानाश्रयी' के बदले 'निर्गुण ज्ञानाभासाश्रयी' कहना संगत समझते हैं। भक्ति का आलम्बन सगुण ईश्वर ही उपयुक्त है। अस्तु, 'निर्गुण भक्ति-साहित्य' भी अपने-आप में असंगत प्रतीत होता है। वस्तुनः इस धारा के कवियों का एक विशेष दृष्टिकोण है, जो 'सन्त' शब्द द्वारा ही ध्वनित है। अस्तु, इसे 'सन्तकाव्य' कहना ही श्रेयस्कर है।

'सन्त' शब्द की व्याख्या अनेक रूपों से की गयी है। डॉ० बड़थ्वालजी ने इसे 'शान्त' से व्युत्पन्न माना है। श्री परशुराम चतुर्वेदी जी के अनुसार "सन्त शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने सत्-रूपी परम तत्त्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो, जो सत्त स्वरूप, नित्यसिद्ध वस्तु का साक्षात् कर चुका हो अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखंड सत्य से प्रतिष्ठित हो गया हो, वही सन्त है।" श्री विनयमोहन शर्मा के अनुसार, सन्त वही है "जो आत्मोन्नति-सहित परमात्मा के मिलनभाव को साध्य मानकर लोकमंगल की कामना करता है।" कुछ लोग 'सन्त' को 'सत्' से विकृत मानते हैं। व्यापक रूप में ईश्वरोन्मुख सज्जन पुरुष ही सन्त कहे जायँगे। तुलसी को भी 'सन्त' का व्यापक अर्थ ही मान्य है, 'संत-समागम हरि-भजन, तुलसी दुर्लभ दोय' अथवा 'संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि विकारि।' संकुचित अर्थ में निर्गुण उपासक ही सन्त कहे जाते हैं। सन्त काव्य की ऐतिहासिक स्थिति विक्रम की पन्द्रहवीं शती में मानी जाती है, जब कि इसकी रचना का आरम्भ ईसवी सन् की बारहवीं शती में ही हुआ होगा। भक्तकवि जयदेव ही सन्त-परम्परा

के प्रथम पथदर्शक ठहरते हैं। हिन्दी में 'सन्तमत' अथवा 'सन्तकाव्य-परम्परा' से प्रायः कबीर आदि सन्तों की रचनाओं का ही अभिप्राय लिया जाता रहा है।

सन्तकाव्य की पृष्ठभूमि के रूप में राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, धार्मिक इत्यादि परिस्थितियों का विवेचन किया जाता है। राजनीति के विचार से यह काल अव्यवस्थित था। जनता तैमूरी तलवार का सामना कर चुकी थी। इस्लाम का प्रचार भी बढ़ रहा था। जनता राजनीति से उदास हो गयी थी। कारण था, पराजय। धन के लोभ में लोग 'गाजी' और 'मुजाहिद' बन रहे थे। हिन्दू-धर्मसंस्थान नष्ट हो रहे थे। आ० शुक्ल के शब्दों में, "अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान के अतिरिक्त और दूसरा मार्ग क्या था?" जनता पराजित मनोवृत्ति का शिकार थी। इस मत का विरोध करते हुए आ० द्विवेदी का कथन है, "यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मन्दिर तोड़ रहे थे, उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण के भक्त लोगों ने भगवान् की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार से यदि भक्ति की भाव-धारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई दक्षिण में।" इनका तो दावा है कि यदि मुसलमानों का आगमन न भी होता तो हमारा साहित्य नब्बे प्रतिशत वैसा ही होता। खैर, बात चाहे जो हो, किन्तु इस धार्मिक परिस्थिति और राजनीतिक उथल-पुथल की प्रतिक्रिया आगे भी मिलती है—

'गोंड गँवार नृपाल महि, यवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कहुँ, केवल दण्ड कराल।'

दक्षिण-भारत की अपेक्षा उत्तर-भारत की परिस्थितियाँ अधिक भयावह थीं। अस्तु, आ० द्विवेदीजी के कथन में आंशिक सत्यता ही मानी जायगी। श्री परशुराम चतुर्वेदी भी ऐसा ही मानते हैं। अस्तु, यह निश्चित है कि सन्त सम्प्रदाय के विकास में राजनीतिक परिस्थितियों का बड़ा योग है। कबीर के स्वर की उग्रता की पृष्ठभूमि पहले से वर्त्तमान तो है, पर तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से उसे बिल्कुल अछूता मानना भी भूल ही है।

समाज का सम्बन्ध राजनीति और धर्म दोनों से है। राजनीति और धर्म के विकृत हो जाने पर समाज में भी विकृति आवश्यक है। पहले कंचन और कामिनी का प्रभुत्व था। कबीर इन सबों को छोड़कर 'हरि को भजै सो हरि का होई' का सिद्धान्त चलाना चाहते हैं। उन्होंने कई स्थलों पर पिछली मान्यताओं का विरोध भी किया है—

'राम बिसारियो है अभिमान।
कनक कामिनी महासुन्दरी, पेखि-पेखि सचु मान।'

ब्राह्मणों, पंडों, जुलाहों, पीरों को ललकारने के ये ही कारण हैं। वे चाहते थे, ब्राह्मणों और शूद्रों को एक कर देना। हिन्दू और मुसलमान के बीच के द्वेष को वे भी चाहते थे तोड़ देना। चाहे तो कह सकते हैं कि गाँधी-भावना की जड़ यहीं है। वस्तुतः वे साम्यवादी कॉमरेड की तरह नजर आते हैं।

सन्तकाव्य-परम्परा की भव्य अट्टालिका 'कागद लेखी' पर नहीं, 'आँखिन देखी' पर आधारित है। अनुभव-ज्ञान और प्रत्यक्ष-दर्शन ही इसके विविध उपकरण हैं। प्राचीन परम्पराओं और पुराणों का इसमें सर्वथा बहिष्कार है। कबीर की घोषणा है—

"कबीर संसा दूरि करि, पुस्तक देइ बहाय।'

इसी से तुलसी को लिखना पड़ा था—

''साखी सबदी दोहरा, कहि कि किहिनि उपखान।
भगति निरूपहिं भगति कलि, निन्दहिं वेद-पुरान।"

सन्तकाव्य बौद्ध धर्म के परवर्त्ती रूपों से भी अनुप्राणित है। बौद्ध धर्म से वैपुल्यवाद या महायान, महायान से मन्त्रयान, मन्त्रयान से वज्रयान या तान्त्रिक बौद्ध और इसी तान्त्रिक बौद्ध से विकसित नाथमत के प्रेरणामूलक तत्त्वों को ग्रहण कर सन्तमत पनपा। बौद्धों का शून्यवाद, नाथों की योग और अवधूत भावना, वज्रयानियों की सन्ध्या की उलटबाँसियों का समाहार सन्तमत में कर लिया गया है। इसीलिए अवतार, मूर्त्ति, तीर्थ, व्रत, माला इत्यादि यहाँ अग्राह्य हैं। इनलोगों का मन शून्य, सहजसमाधि और कायातीर्थ में रमा है।

वैष्णव धर्म का दक्षिणी प्रवाह छठी शती में आलवारों से होकर उत्तर की ओर बढ़ चला। इसमें कुमारिल से पर्याप्त बाधा हुई। यह सन्त ज्ञानेश्वर से भी प्रभावित हुआ। इसी समय नामदेव ने बिट्ठल की उपासना की। इस प्रकार, इसपर आत्म-चिन्तन का भी प्रभाव पड़ा, जिससे रहस्यवाद की अनुभूति जगी। इसमें वर्णभेद नहीं था। इस प्रकार, इसमें कर्मकाण्ड के बदले हृदय की पवित्रता, आचरण की शुद्धता और नामस्मरण को महत्त्व मिला। मुसलमानी प्रभाव के कारण मूर्त्तिपूजा का अभाव भी आया। अस्तु, जिस सन्तकाव्य का प्रणयन उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति को लेकर हुआ, उसका पूर्वार्द्ध बिट्ठल-सम्प्रदाय द्वारा ही प्रस्तुत हो चुका था। उत्तर में रामानन्दी भक्ति के नवीन प्रयोग तथा मुस्लिम धर्म की हिंसा एवं प्रेममयी प्रवृत्तियाँ इसकी भूमिकाएँ प्रस्तुत कर सकीं। नवोदित सूफीमत भी मूलतः शंकर के अद्वैत के निकट ही था। इसमें प्रेम की खुमार अधिक थी। इससे भी सन्तमत प्रभावित हुआ। सामान्य रूप से कहा जायगा कि सन्तमत में (क) बौद्ध धर्म से विकसित कर्म-काण्ड के निषेध की प्रवृत्ति लिये हुए नाथ-सम्प्रदाय की अनुभूति तथा योग-परम्परा, (ख) बिट्ठल-सम्प्रदाय की प्रेमासक्ति, रहस्यमयता और नामस्मरण, (ग) रामानन्दी प्रभाव से उत्पन्न अद्वैत की और विशिष्टाद्वैत सम्मिलित विचारधारा में भक्ति की साधना

और (घ) सूफी प्रेम और माया के मानवीकरण का उचित सामंजस्य हुआ।

सन्तकाव्य-परम्परा के लिए साहित्यिक पीठिका भी पहले से ही वर्त्तमान थी। वज्रयानियों ने सहजानुभूतियों को प्रधानता दी थी। ये वैदिक कर्मकाण्डियों की खिल्ली पहले ही उड़ा चुके थे। अस्तु, ये सारी बातें सन्तमत को विरासत में मिलीं।

पूर्ववर्त्ती साहित्य का प्रभाव मूलतः किसी पर तीन रूपों में पड़ सकता है— अन्धानुकरण द्वारा, प्रतिक्रिया द्वारा और संशोधन द्वारा। इन्हीं बातों पर ध्यान रखकर यदि सन्तों की रचनाओं पर विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि इसकी एक लम्बी परम्परा रही है। सन्तों ने मूलतः (क) अपभ्रंश के सिद्ध और जैन मुनियों, (ख) नाथमत के शैवों, (ग) बिट्ठल-मतानुयायी महाराष्ट्रीय सन्तों, (घ) वैष्णव भक्ति-आन्दोलन और (ग) इस्लाम धर्म से साहित्यिक प्रभाव ग्रहण किया है। उपर्युक्त सारी वस्तुओं से सार ग्रहण कर सन्तों ने अपनी खिचड़ी अलग पकायी है और नयी खँजड़ी पर जनता को रिझाने का अपना प्रयत्न किया है।

सन्तकाव्य की परिस्थितियाँ और प्रेरणास्रोत जान लेने के पश्चात् इसकी कतिपय विशेषताओं को भी जान लेना चाहिए। यह काव्य किसी राजप्रासाद की वाटिका नहीं है। यहाँ फूलों का साज-सँवार नहीं है। यहाँ तो प्रकृति का मुक्त वातावरण है। इसका सौन्दर्य अक्षय और अकृत्रिम है। निःसन्देह, ये जीवन की सच्ची सरणियाँ भी नहीं कही जायँगी। इन्हें धार्मिक और आध्यात्मिक अभिव्यक्ति ही अधिक कहेंगे, पर जन-जीवन से पूर्णतः अछूता भी तो इन्हें नहीं कहेंगे। भले ही इनमें काव्यानन्द की सरसता का थोड़ा अभाव हो; किन्तु इनकी उपयोगिता और आवश्यकता है ही। इस साहित्य में कोरा वाग्जाल और शब्दाडम्बर नहीं, प्रदर्शन और चमत्कार नहीं, शास्त्रीय व्याख्या नहीं; किन्तु सामान्य भाषा में (१) जन-जीवन की पहचान तो है ही। भले ही इसका काव्य-पक्ष थोड़ा हल्का है; किन्तु लोक-पक्ष मजबूत है। न इसमें दर्शन की शुष्कता है और न कोमल उद्‌गार; किन्तु वैसे लोगों की निजी अनुभूतियों पर आधृत विचार-सरणियाँ अवश्य हैं जिन्होंने समाज के गत्य-वरोध को देखा था। यहाँ ऐसे लोगों के विचार अंकित हैं, जिन्होंने 'कागद मसि' छूआ तक न था; फिर भी उनके अनुभवों की आवश्यकता समाज को थी। इनकी सामान्य प्रवृत्तियों को निम्नांकित रूप में रख सकते हैं—

(क) निर्गुण ईश्वर में विश्वास— इनमें सगुण ईश्वर के प्रति विरोध और निर्गुण ईश्वर के प्रति सर्वत्र विश्वास का आग्रह है— 'राम नाम तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।' इनके राम को वेद, पुराण, स्मृतियों इत्यादि में नहीं खोजा जा सकता। इनका आग्रह है कि 'निर्गुण राम जपहु रे भाई, अविगत की गति लखी न जाई।' राम ही इनका प्रियतम है। वह घट-घट में निवास करता है। उसे बाहर खोजना बेकार है।

(ख) अवतारवाद और बहुदेववाद का विरोध— यह इनमें सर्वत्र मिलता है। इस विरोध के दो कारण कहे जा सकते हैं—शांकर अद्वैत का प्रभाव और तत्कालीन शासन की माँग। मुसलमान शासक भी तो एकेश्वरवादी ही थे न !

(ग) गुरु का महत्त्व— इनके लिए गुरु ईश्वर से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। कबीर के अनुसार—

"गुरु गोबिन्द दोनों खड़े, काकों लागू पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोबिन्द दियो दिखाय ॥"

गुरु का महत्त्व सगुण भक्तिधारा में भी है; पर इससे कम।

(घ) जाति-पाँति का विरोध— ये जाति-पाँति के विरोधी थे। इनकी एक ही जाति थी— हरिजन। इनकी घोषणा थी— 'जाति न पूछो साधु की, पूछि लीजिए ज्ञान।' प्रायः अधिकांश सन्त निम्न जाति के ही थे; किन्तु ये भक्ति में जाति को बाधक नहीं मानते थे। इनका कथन था— 'जाति-पाँति पूछे ना कोई, हरि को भजे सो हरि को होई।'

(ङ) रूढ़ियों और आडम्बरों का विरोध— ये मूर्त्तिपूजा, तीर्थाटन, हिंसा, व्रत, रोजा, नमाज इत्यादि बाह्याडम्बर के विरोधी थे। ये रूढ़ियों को तोड़ने वाले थे। एक ओर ये हिन्दुओं को कहते थे 'पाहन पूजै हरि मिलै, तो मैं पूजूँ पहार' और दूसरी ओर मुसलमानों को कहते थे—

'काँकर पाथर जोरि कै, मसजिद लई चुनाई।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दै, क्या बहरा हुआ खुदाई ॥'

सम्भवतः इसी खण्डनात्मक प्रवृत्ति के कारण कबीर को सिकन्दर लोदी की यातना सहनी पड़ी थी।

(च) रहस्यवाद— इनकी प्रवृत्ति रहस्यवादी रही है। प्रणयानुभूति के क्षेत्र में ये खण्डनात्मक प्रवृत्ति भूल जाते थे, इनका हृदय तरलायित हो उठता था। खासकर दाम्पत्य प्रतीकों के प्रयोग में विरहोक्तियाँ काफी उत्तम बन पड़ी हैं—

'आई सकौं न तुज्झ पै, सकौं न तुज्झ बुलाइ।
जियरा यौंही लेहुगे, बिरह तपाइ, तपाइ ॥'

इनका रहस्यवाद शांकर अद्वैत से भी प्रभावित है—

'जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, भीतर बाहर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तथ कथौ गयानी।'

(छ) सहज भजन तथा नामस्मरण— इनकी भक्ति सहज के नाम से प्रसिद्ध है। 'सहज सुमिरण' और 'सहज साधना' के साथ इन्होंने नामस्मरण पर विशेष बल दिया है। नामस्मरण के कारण ही ये प्रेम के ढाई अक्षरों पर ही अधिक बल देते हैं।

(ज) लोकसंग्रह का भाव— ये सन्त गृहस्थ थे, योगी नहीं। कुछ लोगों के

अनुसार, जीवन का इन्हें सर्वांगीण अनुभव था। इसी से ये वैयक्तिकता के स्थान पर सामाजिकता पर बल देते हैं। सन्तों की आत्मशुद्धि सामाजिकता को ही लेकर चली है। ये भक्ति के उन्नायक भी हैं और समाज-सुधारक भी। कबीर को अपने युग का गाँधी कहा जाय तो शायद अत्युक्ति नहीं होगी। पर वस्तुतः बात उल्टी ही अधिक जँचती है। इनकी साधना वैयक्तिक ही अधिक थी।

(झ) नारी और माया का बहिष्कार— सन्तों ने नारी और माया को अपनी साधना का बाधक माना है। इनहोंने नारियों को दुर्गम घाटियों के रूप में स्वीकार किया है, जिसे पार करना आसान नहीं है। कबीर का मत है—

'नारी की झाँई परत, अंधा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी कौन गति, जिन नारी नित संग॥'

आश्चर्य तो तब होता है, जब हम देखते हैं कि नारी की इतनी निन्दा के पश्चात् पतिव्रता के लिए इनके यहाँ स्थान बना है—

'पतिव्रता मैली भली, काली कुचित कुरूप।
पतिव्रता के रूप पर, बारौं कोटि सरूप॥'

इसी प्रकार-इन्होंने माया को भी नारी रूप में ही स्वीकार करते हुए यह घोषित किया है कि यह महाठगिनी है—

'माया महाठगनि हम जानी।'

(ञ) शैली-पक्ष— सन्तों ने खँजड़ी तो बजायी है निर्गुण की, पर इनमें सगुण भक्ति की अनुभूति-प्रवणता भी है। ये सिद्धान्त-निरूपण का आग्रह तो नहीं करते हैं, कथनी से अधिक करनी को ही महत्त्व देते है; किन्तु जाने-अनजाने में बहुत-कुछ कह देते हैं। इनकी शैलीगत विशेषताओं में मूलतः रस, अलंकार, छन्द और भाषा विचारणीय हैं। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि इन्होंने रस को कोई महत्त्व नहीं दिया है। फिर भी, यत्र-तत्र रसों के तो नहीं, साधारणीकरण के उदाहरण मिल जाते हैं; विशेषतः रहस्यवाद के दाम्पत्य प्रतीकों में। इन दाम्पत्य प्रतीकों में श्रृंगार-रस, चेतावनी और उपदेश में शान्ति-रस, ब्रह्म की विराट् कल्पना में अदभुत्-रस, प्रेतादि के वर्णनों और शरीर के विनाश के वर्णनों में बीभत्स-रस और कर्मकाण्ड तथा परम्परा के परिहास में हास्य-रस के उदाहरण खोजे जा सकते हैं। सर्वत्र आदर्शवादी दृष्टिकोण की ही प्रधानता है। प्रधानता की दृष्टि से श्रृंगार और शान्त रस ही सन्तकाव्य में अधिक हैं।

चूँकि सन्तकाव्य साभिप्राय रचना नहीं है, इसी से अलंकार भी साभिप्राय प्रयुक्त नहीं हुए हैं। जहाँ-तहाँ स्वाभाविक रूप से अलंकारों द्वारा भावों का स्पष्टीकरण हुआ है। प्रतीकों का प्रयोग सर्वत्र हुआ है। ये प्रतीक अर्थरूपकों के रूप में प्रयुक्त हैं। उलटबाँसियों को भी प्रतीक ही कहा जायगा। हाँ, ये अर्थरूपकों से

कुछ भिन्न पड़ेंगे। उलटबाँसियाँ धर्मविपर्यय-रूपक हैं। इस शैली का उद्देश्य है, प्राकृतिक परिस्थितियों को उलटकर विपरीत निरूपण करना। इनकी अस्पष्टता शैली की ही अस्पष्टता है, वर्ण्य विषय की नहीं। इन्हें विपरीत अर्थपरक कथन भी कहा जा सकता है। इसका सम्बन्ध 'सन्ध्याभाषा' से है। इसका विशिष्ट आधार हठयोग के विविध अंगों— संयम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि— से सम्बन्धित है।

छन्दों की दृष्टि से सन्तों ने 'साखी' और 'सबद' का प्रयोग अधिक किया है। साखी दोहा ही है, जो कथन की सत्यता का साक्षी है। साखियों के अन्तर्गत सार, हरिपद, चौपाई, चौपई, दोही, सरसी, गीता, मुक्तमणि, श्याम-उल्लास या छप्पय आदि छन्द भी आ जाते हैं। दोहा ही 'दोहरा' भी कहा गया है। सन्तों की 'रमैणियाँ' चौपाई छन्द ही हैं। 'सबद' अथवा पद में गेयता निहित है। इसे ही लोग 'बानी' भी कहते हैं। लोकगीतों के अवशेष के रूप में चाँचर, बिरहुली, बसन्त, फाग, हिंडोला, बेलि, ककहरा, बणजारा, ब्याहलो इत्यादि छन्द भी चलते रहे हैं।

भाषा की दृष्टि से इसे जनता की भाषा कहा जायगा। कुछ लोग इसे 'सधुक्कड़ी' भाषा भी कहना चाहते हैं। उलटबाँसियों की भाषा सन्ध्याभाषा कही जाती है। पर्यटनशील होने के कारण इनकी भाषा में प्रान्तीयता का मेल होता रहा है। सामान्यतः परिनिष्ठित भाषा व्रजी के अलावे इनमें अवधी, भोजपुरी, राजस्थानी, पंजाबी इत्यादि के भी शब्द मिलते हैं।

ऊपर सन्तकाव्य की जितनी भी विशेषताएँ बतायी गयी हैं, उसमें से प्रथम नौ विशेषताओं का सम्बन्ध भाव-पक्ष से है और शेष विशेषता का सम्बन्ध है शैली-पक्ष से। भाव-पक्ष की सभी विशेषताओं को खतियाना चाहें तो कह सकते हैं कि उन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है—धार्मिक, दार्शनिक और सामाजिक।

सन्तों के धार्मिक पक्ष पर विचारने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने कई प्रकार के मतों को आत्मसात् कर लिया है। यह सर्वधर्मसमन्वय के रूप में विश्वधर्म बन गया है। इसके तत्त्व निर्माणकारी ही अधिक हैं। आचरण की शुद्धता, जीवन की पवित्रता और वासना से मुक्ति तो मोक्ष का सोपान ही है। बिना गुरुरूपी रँगरेज के मनरूपी चुनरी रँगी ही नहीं जा सकती है। इनलोगों ने विधि-निषेध पर पूरा बल दिया है। ग्राह्य वस्तुएँ ही विधि और वर्ज्य वस्तुएँ ही निषेध के अन्तर्गत हैं। औदार्य, शील, क्षमा, दया, सन्तोष, विवेक, विनम्रता इत्यादि ग्राह्य हैं और काम, क्रोध, लोभ, माया इत्यादि वर्ज्य। इस विधि-निषेध के सम्यक् ज्ञान के लिए गुरु का विधान आवश्यक रूप से किया गया है। कह सकते हैं कि सन्तों में भक्ति का मानसिक रूप ही अधिक प्रबल है, नाममहिमा और सत्संग का ही विशेष महत्त्व है, कर्मकाण्ड का नहीं।

दार्शनिक दृष्टिकोण से विचारने पर पता चलता है कि सन्त बहुश्रुत थे। इनमें शास्त्रों के प्रति अनास्था थी। अनुभवज्ञान और 'आँखिन देखी' का ही इन्हें भरोसा था। उपनिषद, भारतीय षड्दर्शन, बौद्ध, सूफी, सिद्ध, नाथ इत्यादि के अनुभूत तत्त्वों को मिलाकर ही इनका दर्शन संगठित हुआ है। इनके दर्शन में ब्रह्म, जीव, माया और जगत् पर विचार हो सकते हैं। सन्तों का ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों से परे है। वह अलख और अरूप है। उसे मन्दिर, मस्जिद और गिरजों में नहीं, घट-घट में ही खोजना चाहिए। वह शून्य, निरंजन, राम, घट-घटवासी, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सर्वगुणसम्पन्न है। उसकी प्राप्ति सहज साधना, प्रेमानुभूति, नामस्मरण इत्यादि द्वारा ही सम्भव है। इसकी प्राप्ति का मार्गदर्शक गुरु ही है।

ब्रह्म और जीव में तात्त्विक अन्तर नहीं है। अन्तर माया के कारण ही भासित होता है। ब्रह्म और जीव की स्थिति सागर और लहर के समान है। जीव मायाग्रस्त होने के कारण अविद्या और अज्ञान के वशीभूत रहता है। माया को गुरु ही दूर कर सकता है। जीव के लिए आत्मबोध कठिन है। इसी से ब्रह्म और जीव के बीच नाना प्रकार के प्रतीकों की योजना होती है। सभी सम्बन्धों में दामपत्य सम्बन्ध ही श्रेष्ठ है। यहीं आत्मसमर्पण होने से भावात्मक रहस्यवाद की सृष्टि होती है। रहस्यवाद में भी जीव की सत्ता ब्रह्म में स्थित होते हुए भी अलग है। जीव की यह स्थिति विशिष्टाद्वैत के अन्तर्गत भक्ति की चरमशुद्धि के अनुरूप ही है—

'लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ॥'

माया महाठगिनी है। यह साधक को सत्पथ से हटाने वाली है। नारीरूप में इसी का मानवीकरण हुआ है। सूफियों का शैतान इसी कोटि का है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने माया के मानवीकरण को पाँच प्रकार का बताया है। इस माया का प्रतिकार ब्रह्म के विरह में तपकर उसकी प्राप्ति की सतत साधना द्वारा किया जा सकता है। माया का विनाश सत्संग और भक्ति द्वारा सम्भव है। जगत् के सम्बन्ध में सन्तों का मत है कि जो दृष्टिगत है, वही जगत् है। यह अस्थिर, नश्वर, चंचल, और गतिशील है। इसका निर्माण माया से हुआ है। इसे चार दिन की चाँदनी कहा जा सकता है। धन, वैभव, आडम्बर, विलास, सुख, दुःख इत्यादि ही इसके विविध रूप हैं। कबीर ने जगत् को दिन की हाट भी कहा है, जो शाम को उठ जाती है।

सन्तों के साधना-पक्ष में दो बातें आती हैं—भक्ति और योग। भक्ति के अन्तर्गत ही रहस्यवाद आता है। भक्ति निष्काम और निश्छल होनी चाहिए। इसमें क्रमिक विकास होता है। विधि-निषेध द्वारा आत्मशुद्धि, नामस्मरण, श्रवण

और कीर्त्तन से उन्मुखता, प्रेम, प्रेम में मादकता, प्रतीक (दाम्पत्य), आत्मसमर्पण और अन्त में रहस्यवाद की स्थिति आती है। विधि-निषेध से शुद्ध, नामस्मरण, श्रवण, कीर्त्तन इत्यादि से पवित्र और प्रेम एवं उसकी मादकता से पुष्ट होकर दाम्पत्य आदि प्रतीकों के कारण सन्तों में मिलनेच्छा की विह्वलता होती है। तब वे आत्म-समर्पण कर देते हैं। आत्मसमर्पण द्वारा अपनी सत्ता खो देने पर ही वे रहस्यवाद की पूर्णता को प्राप्त करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस रहस्यवाद में वैष्णवों के प्रेम का उत्कर्ष और सूफियों की 'इश्क हकीकी' का योग है। डॉ० गणपति-चन्द्र गुप्त सूफियों के प्रेम को नहीं मानने के पक्ष में ही हैं।

योगसाधना में एक ओर नाड़ीसाधन और षट्चक्र है तथा दूसरी ओर सहज समाधि जो अन्ततः रहस्यवाद तक ही ले जाती है। चूँकि सन्तसम्प्रदाय नाथों का बहुत दूर तक ऋणी है, इससे उसका भी प्रभाव आवश्यक था। इसमें इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी, षट्चक्र, त्रिकुटी, सहस्रदलकमल, ब्रह्मरन्ध्र, अमृतरस इत्यादि की चर्चा है। सहज समाधि अजपा जाप का ही विकसित रूप है। श्री परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार, यह परकीया प्रेमवत् है। बौद्धों का महासुख और वैष्णव सहजिया में राधाकृष्ण का प्रेम ही इस सहज का आधार है।

सामाजिक दृष्टि पर विचारिए तो ऐसा लगता है कि यहाँ भी सन्तों ने आध्यात्मिक दृष्टि को ही प्रश्रय दिया है। समाज की शुद्धि व्यक्ति की शुद्धि पर ही निर्भर है जिसके लिए नैतिकता से गठबन्धन आवश्यक है। इन्होंने निवृत्ति-मूलक और प्रवृत्तिमूलक दोनों प्रवृत्तियों पर विचार किया है। इसी से रूढ़ियों के प्रति खण्डनात्मक दृष्टिकोण को अपनाते हुए जाति-पाँति का सबल विरोध किया है। समाज के क्षेत्र में भी इन्हें 'जाति-पाँति पूछे ना कोई' वाला सिद्धान्त ही मान्य है।

सन्तमत के विविध पक्षों के वर्णन के पश्चात् इस परम्परा के प्रवर्त्तन और विकास की चर्चा भी आवश्यक है। अधिकांश विद्वानों ने इसके प्रवर्त्तन का श्रेय कबीर को दिया है; किन्तु यह मत निर्भ्रान्त नहीं है। सन्तों में सर्वप्रथम नाम नामदेव का लिया जाता है। ऊपर बिठ्ठल-मत की थोड़ी चर्चा हुई है। सन्तमत का बीज-वपन उसी मत में हुआ है। सोमेश्वर, चक्रधर महाराज, ज्ञानेश्वर, मुक्ताबाई इत्यादि के पद भी इसी क्रम में मिलते हैं। अस्तु, कुछ विचारक सन्तमत के प्रवर्त्तन का श्रेय कबीर को न देकर नामदेव को देते हैं। बात तो जँचती है ठीक, पर सूक्ष्म पर्या-लोचन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि आगे के सन्तों पर जितना प्रभाव कबीर के अक्खड़पन, फक्कड़ाना वृत्ति आदि का पड़ा, उतना नामदेव की मृदुता आदि का नहीं। अस्तु, प्रवर्त्तन का श्रेय कबीर को ही मिलना चाहिए। कुछ लोगों का तर्क है कि यद्यपि अकबर ने मुगल-साम्राज्य को प्रतिष्ठित किया, किन्तु प्रवर्त्तन का

अब आलोक की जगह कालिमा ही अधिक उगल रहे हैं।

यदि सन्तमत के प्रमुख सन्तकवियों की चर्चा की जाय तो पहला नाम नामदेव का ही आता है। इनका जन्म सन् १२७० ई० में हुआ था। ये पहले भक्त थे पुनः विट्ठल-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये थे। सम्भवतः इनका गुरु नाथपन्थी सन्त था। इनका यह उदाहरण द्रष्टव्य है—

'नामा वहीं सेविए, जहाँ देहरा न मसीत।'

सन्तमत के तथाकथित प्रवर्त्तक कबीर का जीवनवृत्त असन्दिग्ध नहीं है। ऐतिहासिक मत के अनुसार, ये सिकन्दर लोदी के समकालीन थे। डॉ० माता प्रसाद गुप्त के अनुसार आपका जन्म सं० १४५५, किन्तु आ० द्विवेदी के अनुसार सं० १४५६ है। व्यक्ति की दृष्टि से कबीर उदार, सन्तोषी, स्वतन्त्रचेता, निर्भीक, अहिंसा और प्रेम के समर्थक, आडम्बरों के तीव्र विरोधी और क्रान्तिकारी थे। ये मस्तमौला के साथ फक्कड़ फकीर थे। आ० द्विवेदी के अनुसार, "वे सिर से पैर तक मस्तमौला, स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़, भक्त के समान निरीह, वेषधारी के आगे प्रचण्ड, दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त, भीतर से कोमल, बाहर से कठोर, जन्म से अस्पृश्य और कर्म से वन्दनीय थे। युगावतार की शक्ति और विश्वास लेकर पैदा हुए थे और युगप्रवर्त्तक की दृढ़ता उनमें वर्त्तमान थी। इसीलिए वे युगपरिवर्त्तन कर सके।" सरलपन तो उनका मूल था। वे अपना परिचय राम के कुत्ते के रूप में देते हैं, जिसका नाम मुतिया है—

'कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाम।
गले राम की जेबड़ी, जित खैंचे तित जाऊँ॥'

यहाँ सरलपन और आत्मसमर्पण की भावना उच्च कोटि की है। इसी से आ० द्विवेदीजी ने लिखा है—"कबीर 'ज्ञान' के हाथी पर चढ़े थे, पर 'सहज' का दुलीचा डाले बिना नहीं; भक्ति के मन्दिर में प्रविष्ट हुए थे, पर 'खाला का घर' समझकर नहीं; बाह्याचार का खण्डन किया था पर निरुद्देश्य आक्रमण की मंशा से नहीं; भगवत-विरह की आँच में तपे थे, पर आँखों में आँसू भर कर नहीं; राम को आग्रहपूर्वक पुकारा था, पर बालकोचित मचलन के साथ नहीं। सर्वत्र उन्होंने समता रखी थी।" इनमें गलदश्रु भावुकता, अंध श्रद्धा और हिस्टीरिक प्रेमोन्माद का अभाव है। ये कुसुमादपि कोमल और वज्रादपि कठोर थे।

आज की आलोचना में कबीर को धर्म-सुधारक मानने की चाल चल पड़ी है। इस प्रकार का विचार अँगरेजों के द्वारा ही मिला है। यहाँ जरा नये ढंग से सोचने की बात है। भारत में पुरातन काल से ही दो प्रकार के लोग चले आ रहे हैं—वेदानुयायी और वेदविरोधी। ऐसा देखा गया है कि जितने भी वेदविरोधी हुए हैं, वे समाजविरोधी भी रहे हैं। प्रश्न है कि क्या वेदविरोधी समाज-सुधारक हो

सकते हैं ? क्या समाज से घृणा करने वाला, समाज से दूर भागने वाला समाज-सुधारक हो अकता है ? इसका स्पष्ट उत्तर नकारात्मक ही होगा। इस सम्बन्ध में आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का यह कथन दर्शनीय है, "इन सन्तों (कबीर आदि) के वचन जगत् में प्रवृत्त करने वाले नहीं हैं। इसलिए ये समाज-सुधारक नहीं कहे जा सकते। इनका लक्ष्य ही यह नहीं था। ····· जो अपने जीवन को शीघ्र-से-शीघ्र समाप्त कर देने की याचना करता हो, वह कहाँ का सामाजिक और कहाँ का धर्म-सुधारक।" आचार्य द्विवेदीजी का मत भी ऐसा ही है— "वे कभी सुधार करने के फेर में नहीं पड़े। शायद वे अनुभव कर चुके थे कि जो स्वयं सुधरना नहीं चाहता, उसे जबर्दस्ती सुधारने का व्रत बेकार है।" इसी से उन्होंने जनता को नहीं, साधुओं को उपदेश दिया है। अपने पदों में वे साधुओं को ही सम्बोधित करते हैं। यदि वे भी न सुनना चाहें, तो कोई बात नहीं—

'अपनी राह तू चले कबीरा।'

तात्पर्य यह कि इन्हें समाज-सुधारक कहना भूल है। वस्तुतः कबीर धर्मगुरु तो माने जा सकते हैं; किन्तु समन्वयवादी नहीं। जो समन्वयवादी नहीं हो सकता, वह सुधारक भी नहीं हो सकता। इनकी साधना वैयक्तिक साधना थी, सामाजिक नहीं। ये तो ऐसे सन्धिस्थल पर थे जहाँ न मुसलमानत्व था, न हिन्दुत्व। इनका मत था— 'हृदय सरोवर है अविनासी' और इनकी जाति थी— 'हरि को भजै सो हरि को होई।' इनकी प्रेम-साधना को आ० शुक्ल ने इस्लामिक और डॉ० त्रिगुणायत ने औपनिषदिक अद्वैत से प्रभावित माना है। आ० शुक्ल इनके रहस्यवाद को साधनात्मक, किन्तु डॉ० श्यामसुन्दर दास भावात्मक मानते हैं। डॉ० त्रिगुणायत ने दोनों का समाहार करते हुए भी भावात्मक रहस्यवाद के पक्ष में ही समर्थन दिया है—"कबीर के काव्य में प्रेममूलक भावनाप्रधान रहस्यवाद का अनुभूतिमय प्रकाशन है।" तौलनिक दृष्टि से विचार करने पर साधनात्मक रहस्य की अभिव्यक्ति ही अधिक मिलती है। यों दाम्पत्य प्रतीकों में इनका हृदय उमड़ पड़ा है—

'अँखड़ियाँ झाईं पड्या, पंथ निहार-निहार।
जीभड़ियाँ छाला पड्या, राम पुकार-पुकार॥'

पर ऐसी अभिव्यक्ति कम ही है। जहाँ तक इनकी भाषा का प्रश्न है, लोग इसे सधुक्कड़ी ही कहते हैं। इनकी भाषा में अवधी और भोजपुरी के पुट पूर्णतः मिलते हैं। भाषाधिकार के सम्बन्ध में आ० द्विवेदी का मत है कि "भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है। बन गया है तो सीधे, नहीं तो दरेरा देकर।" इनके फक्कड़पन और अक्खड़वृत्ति के कारण ही आ० शुक्ल ने इनमें कविहृदय का अभाव पाया है। आ० द्विवेदी ने इसका विरोध प्रकट

करते हुए कहा है— "ऐसे आकर्षक वक्ता को कवि न कहा जाय तो क्या कहा जाय ?" वस्तुतः यहाँ आचार्य द्विवेदीजी भी कवि होने की बात प्रभाव और प्रवाह में आकर कह रहे हैं। इससे तो इन्कार नहीं है कि वे 'आकर्षक वक्ता' थे; किन्तु आकर्षक वक्ता सफल कवि हो ही, इसमें सन्देह है। कबीर की डफली इसी से तो जीवनांश को ही मुग्ध कर सकी। वस्तुतः वे कवि नहीं तत्त्वचिन्तक ही थे। आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार कहा जायगा कि "हिन्दी की परम्परा उन्हें तत्त्व-चिन्तक के रूप में ही स्वीकार करती है, साहित्यचिन्तक के रूप में नहीं, और तत्त्वचिन्तक में भी उन्हें तीसरा स्थान देती है—

"तत्त्व तत्त्व सब कठवा कहिगा, अँधरै कहै अनूठि।
बची खुची सो जुलहा कहिगा, और कहै सो जूठि।"

सन्तों में तीसरे प्रमुख सन्त कवि हैं रैदासजी। ये कबीर के गुरुभाई थे। इनकी रचनाओं में फारसी का बाहुल्य है। निरीहता और आत्मसमर्पण के क्षेत्र में अन्य सन्तकवि इनसे घटिया ही प्रमाणित होते हैं। रैदासी पन्थ इन्हीं के नाम पर चल रहा है।

सिक्ख पन्थ के प्रवर्त्तक गुरु नानक में डाँट-फटकार और अटपटी बानियों का अभाव है। यहाँ भक्तों की सरलता ही मिलती है। इनके उपदेश भी शक्ति-शाली हैं। भाषा खिचड़ी ही कही जायगी।

सन्त दादू ने दादू पन्थ चलाया था। इनकी रचना में भी कबीर की तीव्रता का अभाव है। इनके तर्क बुद्धि पर आधृत नहीं, हृदयप्रेरित हैं। आ० द्विवेदीजी के शब्दों में कहा जायगा कि "दादू को मैदान बहुत कुछ साफ मिला था और उसने उसके मीठे स्वभाव में आश्चर्यजनक असर पैदा किया। यही कारण है कि दादू को कबीर की अपेक्षा अधिक शिष्य और सम्मानदाता मिले।"

सन्त कवियों में सुन्दरदास, रज्जबदास, यारी साहब, दरिया साहब, पलटू साहब, मलूकदास तथा प्रसिद्ध कवयित्रियों— सहजोबाई, दयाबाई—ने अच्छी रचनाएँ की हैं। सन्तों में एकमात्र सुन्दरदास ही ऐसे थे जो शास्त्रज्ञान से सम्पन्न थे। सन्त होकर भी उन्होंने लोकधर्म की मर्यादा कायम रखी है। मलूकदास के विश्वासा-नुसार, आत्मज्ञान ही मुक्ति है। इनका निम्नांकित दोहा आलसियों पर कोड़ा बन गया है—

'अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गए, सबके दाता राम॥'

सन्तमत की चर्चा समाप्त करने के पूर्व एक-दो बातें और विचारणीय हैं। आज कुछ ऐसे विचारक हैं जो सन्तमत को भारतीय अद्वैत के साथ ही सूफियों से भी प्रभावित मानते हैं। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्तजी ने ऐसे विचारकों से विरोध प्रकट

करते हुए यह सुझाने की चेष्टा की है कि सन्तों पर सूफियों का प्रभाव बिल्कुल नहीं था। इस सम्बन्ध में उनका तर्क है कि यदि कबीर आदि सन्त सूफियों से प्रभावित होते, तो कहीं-न-कहीं उनके प्रति ये कृतज्ञता अवश्य दिखाते। इन्होंने वैष्णवों से जो सम्पदा ली है, उसी के कारण ये वैष्णवों की बार-बार बड़ाई करते हैं, उनके प्रति श्रद्धा दिखाते हैं। साथ ही सन्तों ने सूफियों की बंदगी, निवाज, हज्ज (सूफियों की शरीअत), शेख इत्यादि का विरोध ही किया है। एक बात और है कि सन्तों ने खण्डन के क्षेत्र में अल्लाह, खुदा आदि के नाम तो लिये हैं, पर प्रेम के क्षेत्र में नहीं। प्रेम के क्षेत्र में वे राम, गोविन्द, हरि इत्यादि को ही पुकारते हैं। अस्तु, ऐसा लगता है कि सन्तों पर सूफियों का प्रभाव है ही नहीं; इन्होंने सारी सम्पत्ति नाथों, सिद्धों और वैष्णवों से ही ली है।

एक बात और। आलोचक सन्तमत पर विचार करते समय प्रायः 'सम्प्रदाय' भी कहते हैं। वस्तुतः इसे पन्थ ही कहना चाहिए, सम्प्रदाय नहीं। सम्प्रदाय तो उसे ही कहा जायगा जिसका कोई-न-कोई स्वतन्त्र दर्शन अवश्य रहे। वस्तुतः इनका कोई अपना स्वतन्त्र दर्शन नहीं है। इन्होंने सिद्धान्त-पक्ष का तो निरूपण ही नहीं किया है। थोड़ा-थोड़ा माल दो-चार स्थलों से इन्होंने उड़ाया अवश्य है। अस्तु, इस मत को 'सम्प्रदाय' के स्थान पर 'पन्थ' के नाम से ही अभिहित करना उत्तम है। कबीर आदि 'पन्थ' के ही प्रवर्त्तक माने जायँ, सम्प्रदाय के नहीं।

अन्त में यही कहना उत्तम होगा कि सन्तकाव्य-परम्परा का हिन्दी-साहित्य में ऐतिहासिक महत्त्व भर है। इससे सर्वधर्मसमन्वय की बात उठाकर विश्वधर्म की बात की गयी है; पर बन गया है यह व्यक्तिधर्म। यह हमारे जीवन को पूर्ण रूप में नहीं, आंशिक रूप में ही प्रभावित कर सका है। इसका विषय अन्तःकरण का विषय है, इन्द्रियों का विषय नहीं। हाँ, यह बात अवश्य है कि इस काव्य ने निम्नवर्ग की हीन भावना को वाणी दी है, जिसका प्रभाव उच्च वर्ग पर भी पड़े बिना नहीं रह सका है। इनमें सत्य की अभिव्यक्ति है; पर कोण सत्य होने के कारण, कटु सत्य होने के कारण यह अग्राह्य ही अधिक बना रहा है। 'भाषा कैसी भी हो, भाव मीठे हों' के आधार पर इनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध ही है।

१

हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य

[धारा— पृष्ठभूमि— वेद-पुराण-बौद्ध-जैन—सूफी प्रवृत्ति]

हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य का तात्पर्य सूफी प्रेमाख्यानक काव्य से समझा जाता रहा है। अनेक विद्वानों ने सूफी काव्यधारा को इस्लामी धारा के रूप में मान्यता दी है। इसे इस्लाम का लघु संस्करण समझा जाता रहा है। इसमें इस्लामी कट्टरपन की जगह प्रेम को मिली है। सूफी सन्तों ने हिन्दी में फारसी की मसनवी के आधार पर प्रेमकथाएँ लिखने की परम्परा कायम की है। ऐसी बात नहीं है कि इसके पूर्व भारत में प्रेमकथाएँ नहीं लिखी गयी थीं। भारत में प्रेमाख्यानों की एक लम्बी परम्परा रही है।

प्रेमाख्यान का 'आख्यान' शब्द आख्यायिका का रूपान्तर प्रतीत होता है। आख्यायिका में नायक द्वारा गद्य में ही वर्णन होते थे, यहाँ किसी भी पात्र द्वारा या कर्त्ता द्वारा गद्य या पद्य किसी में भी वर्णन की छूट है। इसके लिए 'उपाख्यान' शब्द भी मिलता है। इसका कथानक काल्पनिक भी हो सकता है और वृत्तान्तपरक भी। प्रेम से यहाँ पुरुष और स्त्री के प्रेम का ही बोध होता है।

प्रेम सहज प्रवृत्ति है। इसका विकास आत्मीयता का आश्रय पाकर होता है। यहाँ छिपाव-दुराव के लिए स्थान नहीं होता। यह प्रसार चाहता हैं। प्रेमाभिव्यक्ति में रस की अनिर्वचनीयता होती है। इसे सुनने वाला भी अवश्य प्रभावित होता है। उपाख्यानों, गाथाओं, कथाओं में प्रेम के अंश अधिक होते हैं। इसी से प्रेमाख्यानों का सर्वत्र बाहुल्य है। मूलतः ये वर्णनात्मक ही होते हैं। कभी-कभी इनके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की कलाओं, विभिन्न प्रकार के तन्त्र, मन्त्र, योग इत्यादि चामत्कारिक साधनों के प्रयोग भी होते हैं। इनका मूल विषय होता है प्रेम। भारतीय साहित्य में प्रेम चित्रदर्शन, स्वप्नदर्शन गुणश्रवण और प्रत्यक्ष दर्शन से विकसित होना मान्य रहा है। इसमें विरह के आधिक्य का वर्णन मिलता है। विशुद्ध प्रेमाख्यानों में प्रेमभाव का निर्वाह प्रारम्भ से अन्त तक समान रूप में मिलता है।

भारत में प्रेमाख्यानों की परम्परा प्राचीन है। विकास की दृष्टि से भारतीय प्रेमाख्यानों को वैदिक प्रेमाख्यान, पौराणिक प्रेमाख्यान, बौद्ध एवं जैन प्रेमाख्यान, कथासाहित्य और काव्यों में प्रेमाख्यान, लोकगाथात्मक प्रेमाख्यान, सूफी प्रेमाख्यान

इत्यादि श्रेणियों में रख सकते हैं। वैदिक प्रेमाख्यानों में पुरूरवा-उर्वशी, यम-यमी-संवाद, श्यावास्वाख्यान इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं। पुरूरवा-उर्वशी-आख्यान पर विचारते हुए एन० एम० पेंजर ने उसे संसार का प्राचीनतम आख्यान माना है—"It is the first Indo-European love story known and may even be the oldest love story in the world."—N. M. Penzer. आगे चलकर पुरूरवा-उर्वशी को लेकर एक-से-एक सुन्दर रचनाएँ हुई हैं। यम-यमी की कथा चूँकि भाई-बहन की प्रेमगाथा है, इसलिए उसे आगेमहत्त्व नहीं मिला है।

वैदिक आख्यानों के स्रोत का कुछ पता नहीं चलता; पर पौराणिक आख्यानों का स्रोत बहुत-कुछ वेद ही है। उर्वशी की कथा विष्णुपुराण, महाभारत आदि में तो आती ही है, इसका पूर्ण विकास कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' में होता है। हिन्दी में दिनकर की 'उर्वशी' में इसी का विस्तार है। पौराणिक आख्यानों में 'नलोपाख्यानम्' और 'शंकुतलोपाख्यानम्' अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। 'शकुन्तलोपाख्यानम्' का भी समुचित परिष्कार कालिदास ने ही किया है। इसी प्रकार, उषा-अनिरुद्ध के प्रेमाख्यान, रुक्मिणीहरण की कथा, प्रद्युम्न-मायावती-कथा, अर्जुन-सुभद्रा की प्रेमकथा, भीम-हिडिम्बा की कथा, अर्जुन-उलूपी की कथा इत्यादि पौराणिक आख्यानों में अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

पौराणिक आख्यानों में वैदिक आख्यानों से अन्तर स्पष्ट है। वैदिक आख्यानों का वातावरण वायवी है; पर पौराणिक आख्यान अधिक स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। यहाँ स्वप्नदर्शन, चित्रदर्शन, गुणश्रवण इत्यादि के साथ हंस जैसे पक्षियों को भी स्वीकार किया गया है। यहाँ कामुकता ही अधिक भले हो, स्वयंवर और सुन्दरीहरण ही भले प्रयोज्य हो, पर विरह के भी अनूठे दृष्टान्त उपलब्ध हैं। विरह की पीड़ा नारियों तक ही सीमित नहीं है, इसने पुरुषों को भी बेचैन किया है।

पुराणों के समानान्तर ही बौद्ध और जैन-साहित्य की भी रचना होती रही है। यहाँ भी धार्मिकता, उपदेशात्मकता, प्रचारात्मकता इत्यादि के निमित्त प्रेमाख्यानों का सहारा लिया गया है। जातकों में 'कठ्ठहारी जातक', 'मणिचोर जातक, 'शुभा की कथा' इत्यादि प्रेमाख्यान के ही उदाहरण हैं। इसी प्रकार, जैन-साहित्य में 'नाया धम्म कहाओ' में 'मल्ली की कथा' प्रेमाख्यान ही है। प्राचीनतम जैन-कथा 'तरंगवती' भी प्रेमाख्यान ही है। इसी प्रकार, 'लीलावई कहा', 'पउम सिरी', 'भविष्यत कहा' इत्यादि जैन-प्रेमाख्यान के उदाहरण हैं। इन आख्यानों के सम्बन्ध में इतना ही कहा जायगा कि ये रचनाएँ प्रासंगिक ही हैं। मूल रूप से इन्हें स्वतन्त्र नहीं कहना चाहिए। साथ ही, यहाँ प्रेम को बिल्कुल गौण स्थान मिला है। संयम, तपस्या, ब्रह्मचर्य इत्यादि की शिक्षा ही यहाँ अधिक मिलती है। हाँ, वर्णन का

वैविध्य अवश्य प्राप्त है।

पुराण और श्रमण साहित्य के ही समानान्तर भारत में विशुद्ध कथाकारों के भी प्रयत्न चल रहे थे। गुणाढ्य, क्षेमेन्द्र, सोमदेव इत्यादि कथाकार लौकिक कथाओं को तो एकत्र कर ही रहे थे, साथ ही ये वैदिक कथाओं की विशुद्ध धारा को भी लोक-सुलभ सरलता और स्वाभाविकता प्रदान करने का प्रयत्न कर रहे थे। गुणाढ्य की 'वृहतकथा', क्षेमेन्द्र की 'वृहतकथामंजरी', सोमदेव का 'कथा सरित्सागर', हरिषेण का 'वृहतकथा कोश' इत्यादि रचनाएँ ऐसे ही प्रयत्नों की देन हैं। इनमें अनेक प्रेमाख्यान मिलते हैं। इनमें अहल्या और इन्द्र, सीता और राम, वासवदत्ता, देवसेना, उन्मादिनी, धर्मदत्त, मदन सेना, रत्नावलि इत्यादि के आख्यान महत्त्वपूर्ण हैं। इन आख्यानों में पूर्वागत आख्यान भी सम्मिलित हैं। यहाँ ऐतिहासिक के साथ ही जनसाधारण— मछुए और चाण्डालों एवं अन्य कल्पित कथानायकों— की कथाएँ मिलती हैं। इन कथाओं का विकास आगे संस्कृत नाटक साहित्य में भी होता दिखता है। 'स्वप्नवासवदत्तम्' ऐसी ही रचना है। बाण की 'कादम्बरी' वासवदत्तत की कथा से अधिक गुम्फित है। महाकाव्यों, नाटकों, और चम्पू ग्रंथों से भी प्रेमाख्यान धीरे-धीरे विकसित हो चलते हैं।

भारतीय प्रेमाख्यान जहाँ एक ओर संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं में साहित्यिक रूप में पनप रहे थे, वहीं दूसरी ओर प्रेमाख्यानों का विकास लौकिक गाथाओं में भी हो रहा था। इन लोकगाथात्मक कृतियों को जहाँ-तहाँ रूपायित भी किया जाने लगा था। इनमें 'ढोला मारूरा दोहा', 'लोरिक चन्दानी' या 'लोरिक मैनावती' या 'लोरिकायन', 'सदैवत्साव लिंग', 'माधवानलकामकन्दला', 'सुरंगा-सदावृक्ष' इत्यादि के नाम लिये जायँगे। इनके विभिन्न रूप विभिन्न भागों में प्रचलित थे। 'हीर-रांझा' भी ऐसा ही प्रेमाख्यान है। हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल के प्रारम्भ तक इस प्रकार के अनेक प्रेमाख्यान लिखे जा चुके थे। इस बात की पुष्टि 'अर्द्ध-कथानक' से भी होती है। सूफी प्रेमाख्यानों में 'मधुमालती' और 'मिरगावती' का प्रचार उस समय खूब हो चुका था। इनका पठन भी खूब हो रहा था—

> 'अब घर में बैठे रहे, नाहिन हाट बजार।
> मधुमालती मिरगावती, पोथी दोयू चार॥'—अर्द्धकथानक

मौखिक रूपों में—ढोला-मारू, हीर-रांझा, लोरिकायन, सारंगा-सदावृक्ष इत्यादि निजन्धरी नायक-नायिकाओं की प्रेम-कहानियाँ अशिक्षित जनता में खूब प्रचलित थीं।

ठीक इसी समय हिन्दी में सूफियों का आगमन होता है। वे साहित्य के अन्य रूपों को छोड़कर इसी रूप को ग्रहण करते हैं। वे जिस समय प्रेमाख्यानों की रचना प्रारम्भ करते हैं, उस समय तक ऐतिहासिक, अर्द्ध ऐतिहासिक और विशुद्ध काल्पनिक आख्यानों की परम्परा लग चुकी थी।

सूफी प्रेमाख्यान में सूफी शब्द एक मत-विशेष के अनुयायियों का सूचक है। इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के मत सामने आये हैं। कुछ लोग इसे 'सूफ' से व्युत्पन्न मानते हैं, जिनका अर्थ है अग्रिम पंक्ति। कतिपय विद्वान् मदीना की मसजिद के समक्ष 'सूफ्फा'— चबूतरे पर बैठने वाले फकीरों को सूफी कहते हैं। कुछ लोग इसे 'सफा' (पवित्रता) से जोड़ते हैं। अन्य विद्वान इसे 'सूफा' (अरब की एक जाति) या 'सूफ्फाह' (भक्त-विशेष) का ही रूपान्तर मानते हैं। ये सब अर्थ अटकलपच्चू पर ही आधारित हैं। आज सर्वाधिक मान्यता यह है कि 'सूफ' का सम्बन्ध 'ऊन' से है। अस्तु, सूफी से तात्पर्य अरब या इराक के कुछ वैसे व्यक्तियों से है जो मोटे ऊनी वस्त्रों को पहना करते थे। ये संन्यासियों का जीवन व्यतीत करते थे। अपनी महत्त्वपूर्ण साधना के कारण ही ये मुसलमानों में अगली पंक्ति में खड़ा होने का दावा रखते हैं। आठवीं शती तक सूफी साधना आचरण-प्रधान थी। बाद में इसमें दार्शनिकता आयी। ग्यारहवीं शती में इस्लामी विचारधारा से भिन्न कर इसे स्वाभाविक रूप देने का प्रयत्न किया गया जिसमें अल-हुज्विरी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी शाखा में आगे चलकर जायसी हुए।

सूफी धर्म इस्लाम की शरीअत (कर्मकांड) की प्रतिक्रिया है। इसमें इस्लाम की गुह्यविद्या, भारतीय अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैत, नव अफलातूनी मत एवं विचारस्वातंत्र्य है। कुछ लोगों के अनुसार सूफी मत का आदम में बीजवपन, नूह में अंकुरण, इब्राहिम में कली-विकास, मूसा में विकास, मसीह में परिपाक और मुहम्मद में फलागम हुआ है। इसमें ऐतिहासिक विकास की दृष्टि है। इस मत ने भारत में यूनानियों के व्यापारिक सम्बन्ध के साथ ही प्रवेश किया। लगभग बारहवीं शती में यह मत भारत में फैल चुका था। 'आइने अकबरी' में इसके चौदह पंथों का उल्लेख हुआ है जिनमें कादरी, सुहरावर्दी, नक्शबन्दी और चिस्ती पंथ अधिक प्रसिद्ध हैं। चिस्ती सम्प्रदाय की सातवीं पीढ़ी में ख्वाजा मुईउद्दीन हुए हैं। इन्होंने ही भारत में सूफी मत का प्रचार किया था।

सूफी प्रेमाख्यान सोद्देश्य रचना है। कुछ विद्वान् इसे धर्म कथा के अन्तर्गत स्थान देते हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने प्रेमाख्यानों का वर्गीकरण करते हुए इतिवृत्तात्मक, मनोरंजनात्मक और प्रचारात्मक नामक तीन भेद किये हैं तथा बौद्धों और जैनों के प्रेमाख्यान को पूर्णतः प्रचारात्मक कहा है। सूफी प्रेमाख्यान भी कुछ हद तक प्रचारात्मक हैं, पर इन्हें मनोरंजनात्मक कहना ही अधिक ठीक प्रतीत होता है। भारतीय सूफियों ने प्रेमाख्यानों की रचना मसनवी शैली में ही की है। इनमें जहाँ-तहाँ धार्मिक मतों की स्थापना के प्रयास भी मिलते हैं। इन लोगों के विभिन्न पंथों में ईश्वर की अलग-अलग मान्यताएँ हैं। इजादिया पंथ एकेश्वरवाद और सुदूदिया पंथ मात्र ईश्वर को ही मानता है। अन्य वस्तुओं में वे

ईश्वर की झलक पाते हैं।

कुछ लोग ईश्वर को जगत् से परे मानते हैं। कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि वह बाहर भी है और अन्दर भी। ये सृष्टि में मानव को सर्वोत्तम मानते हैं। इनके अनुसार, वली या पीर ही पूर्ण मानव है। ये 'फ़ना' और 'बक़ा' को भी मानते हैं। इनके यहाँ साधना की सात सीढ़ियाँ मान्य हैं—अनुताप, आत्मसंयम, वैराग्य, दारिद्र्य, धैर्य, विश्वास, सन्तोष और प्रेम। चार उच्चतर सोपान (मोकामात) हैं—शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारिफत। ये नासूत में शरीअत, मलकूत में तरीकत, जबरूत में मारिफत और लाहूत में हकीकत की उपलब्धि करते हैं। ये चार दशाएँ हाल की अवस्थाएँ कही जाती हैं। शैतान को इन्होंने बाधक रूप में स्वीकार किया है। इसे हटाने वाला ही गुरु या पीर है। अस्तु, यहाँ गुरु का विशेष महत्त्व है। साधना की सीढ़ियों में सर्वाधिक महत्त्व मिला है प्रेम को। इश्क मजाजी से इश्क हकीकी की उपलब्धि ही इनका ध्येय है।

प्रेमाख्यानों के कथानकों के कई आधार हैं। इनमें कुछ तो वैदिक और पौराणिक आधार पर लिखे गये हैं, कुछ अर्द्ध-ऐतिहासिक आधारों पर निर्मित हैं। कुछ के लिए कल्पनाप्रसूत आधार ही श्रेयस्कर ठहराये गये हैं। जहाँ तक सूफी प्रेमाख्यानों की बात है, इनके आधार के सम्बन्ध में आ० शुक्ल का अनुमान है कि "वे सब हिन्दुओं के घरों में चली आती हुई कहानियाँ हैं जिनमें आवश्यकतानुसार इन्होंने कुछ हेर-फेर किया है। कहानियों का मार्मिक आधार हिन्दू है।" आ० द्विवेदी का मत भी कुछ ऐसा ही है— "वे लोकप्रचलित कथा में नये अर्थ को भरते हैं।" ये कथानक कहाँ तक ऐतिहासिक हैं, यह तो स्पष्ट ही हो गया; यदि नहीं, तो आ० द्विवेदीजी की यह मान्यता दर्शनीय है— "जायसी के रतनसेन और रासो के पृथ्वीराज में इतिहास और कल्पना—Facts और fictions का अद्भुत योग है।" इन सब प्रेमाख्यानों से इतिहास का शोध तो किया जा सकता है, पर इन्हें इतिहास नहीं कहा जा सकता। इसकी पुष्टि अन्तस्साक्ष्य के आधार पर भी होती है। कुतबन ने 'मृगावती' में लिखा है, "यह कथा पहले से चली आ रही थी। इसमें संयोग, शृंगार और विरह रस वर्त्तमान था। मैंने दुबारा फिर उसी को लिपिबद्ध किया है।" 'पुनि हम खोलि अरथ सब कहा' वाली कुतबन की उक्ति मात्र 'मृगावती' पर ही नहीं, समस्त सूफी प्रेमाख्यानों पर लागू होती है। और की बात तो छोड़िए, सबसे समृद्ध 'पद्मावत' जैसे सफल सूफी प्रेमाख्यान का भी यही हाल है। पद्मावती की कथा भी लोकगाथात्मक ही रही है। इसके अनेक रूप आज भी उपलब्ध हैं। अस्तु, सूफी प्रेमाख्यानों के कथानकों को ऐतिहासिक अथवा अर्द्ध-ऐतिहासिक बताना मूर्खता और अज्ञान का परिचायक है।

प्रेमाख्यानों में निजन्धरी कथाओं के स्थान तो हैं ही, कथानकरूढ़ियों और

अभिप्रायों का भी उनमें अक्षुण्ण स्थान है। जायसी ने 'पद्मावत' में कुछ प्रेमाख्यानों का उल्लेख किया है। उसी में 'मधुमालती' का भी उल्लेख है। कुछ लोग इसी के आधार पर फारसी में रचित 'किस्सह कुँवर मनोहर मालती', 'मेहर व माह' तथा 'हुस्न व इश्क' की रचना मानते हैं। चतुर्भुजदास की 'मधुमालती' भिन्न रचना ठहरती है। यह रचना भी पूर्णतः प्रकाश में नहीं आयी है। इसी प्रकार, उसमान की 'चित्रावली', शेख नबी का 'ज्ञानदीपक', नूर मुहम्मद की 'इन्द्रावती', कासिम साह का 'हंस जवाहर', ख्वाजा अहमद की 'नूरजहाँ', नूर मुहम्मद की 'अनुराग बाँसुरी' इत्यादि रचनाएँ हैं। इनमें विशुद्ध काल्पनिक कथानकों के प्रयोग ही मिलते हैं।

यद्यपि 'पद्मावत', 'मृगावती', 'मधुमालती' इत्यादि के कुछ पात्र राजन्यवर्ग के ठहरते हैं, पर कथानक काल्पनिक ही है। 'पद्मावत' के गोरा, बादल आदि में थोड़ी ऐतिहासिकता खोजी अवश्य जा सकती है; किन्तु मात्र एकाध पात्रों के ऐतिहासिक हो जाने से ही काव्य ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता। अस्तु, निष्कर्षरूप से यही कहना चाहिए कि सूफी प्रेमाख्यानों का आधार कल्पना है। कल्पना के आधार पर ही सूफियों ने निजन्धरी कहानियों को कथानक का रूप दे डाला है। यत्र-तत्र इनमें ऐतिहासिकता की छौंक भर दी गयी है; पर ये वास्तव में इतिहास हैं नहीं।

सूफी प्रेमाख्यानों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि इनमें इस्लाम के संशोधित रूप की, सूफी सिद्धान्त की भी थोड़ी चर्चा अवश्य हुई है। असल में सूफियों ने प्रेम को ही सर्वोपरि मान लिया है। हिन्दू-मुसलमान के बाह्य भेदों के भीतर तात्त्विक एकता की ओर निर्देश करते हुए इन्होंने कहा है—'बिधना के मारग है तेते, सरग नखत तन रोआँ जेते।' इनकी सामान्य प्रवृत्तियों को निम्नांकित रूप में रखा जा सकता है—

सूफी प्रेमाख्यानों की पहली प्रवृत्ति है प्रबन्धात्मकता। इनके प्रेमाख्यान प्रबन्ध की कोटि में आते हैं। इनका उद्देश्य मात्र प्रेम-कहानी न होकर तत्त्वनिरूपण भी है। इनकी प्रेमिकाएँ ज्योतिःपुंज के रूप में चित्रित हैं। ये प्रेम-कहानियाँ प्रायः एक ही ढाँचे में ढली हैं। यहाँ यांत्रिकता अधिक है, मौलिकता कम। घटनाएँ कहीं-कहीं अस्वाभाविक भी हो गयी हैं। इनमें काव्योचित प्रवाह और गति का अभाव-सा भी है। प्रबन्धरूढ़ियों का वर्णन समान ही है। सर्वत्र एक ही प्रकार के तूफान, वन, प्रान्त, मकान, वाटिका इत्यादि के वर्णन मिलते हैं। प्रारम्भ में निर्गुण ईश्वर का वर्णन, हजरत मुहम्मद और उनके सहयोगियों की प्रशंसा, शाहे वक्त का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन, गुरुपरम्परा का निर्देश इत्यादि सर्वत्र मिलते हैं। भारतीय कथानकरूढ़ियाँ—चित्रदर्शन, स्वप्नदर्शन, गुणश्रवण इत्यादि से आसक्ति,

पशु-पक्षियों आदि के संवाद से भावी घटना की सूचना मिलना आदि भी वर्णित हैं। मन्दिर, चित्रशाला, खंडहर, वनप्रान्तर इत्यादि में प्रेमी-प्रेमिकाओं का मिलना आदि भी एक ही समान हैं। इस प्रबन्धकल्पना में फारसी साहित्य का प्रभाव तो है, पर अन्धानुकरण नहीं। सर्गों का विभाजन 'मसनवी' के समान ही है। कहीं-कहीं फारसी के 'बहरों' का प्रयोग हुआ है।

इनकी दूसरी मुख्य प्रवृत्ति है भावव्यंजना। इनका मुख्य प्रतिपाद्य है प्रेम। संयोग से अधिक वियोग की ही यहाँ महत्ता है। वियोगवर्णन के निमित्त बारहमासे का प्रयोग हुआ है। पद्धति सर्वत्र भारतीय ही ठहरती है। कहीं-कहीं ऊहात्मक अंश भी हैं। ऊहात्मक वर्णन बीभत्स और अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं। संयोग-वर्णन में यत्र-तत्र अश्लीलता का भी समावेश हुआ है। मिलनपरक आनन्दानुभूति का सबल और उत्कृष्ट चित्र प्रायः नहीं मिलता है। नख-शिख के बदले शिख-नख की परम्परा है। जिन कवियों ने जीवन को खुली आँखों से देखा है, उन्होंने उत्साह, ईर्ष्या, द्वेष, वैर, कपट इत्यादि का चित्रण सुन्दर रूप से किया है। सौन्दर्य की व्याख्या करते-करते कहीं-कहीं ये साम्प्रदायिक भी बन गये हैं। षड्ऋतुवर्णन की परम्परा पूर्णतः भारतीय रूप में उपलब्ध है।

इन प्रेमाख्यानों की तीसरी प्रवृत्ति में चरित्रचित्रण को स्थान मिलना चाहिए। इन्होंने नायक-नायिका के जीवन के उतने ही अंशों को चित्रित किया है, जितना प्रेम-तत्त्व के लिए अनिवार्य रहा है। जीवन के वैविध्य का यहाँ अभाव ही मानना होगा। चरित्रों का विकास नाक की सीध में, सरल रूप में—flat—ही हुआ है। गत्यवरोध के लिए यहाँ परम्परित रीति का अवलम्बन है। इनकी नायिकाएँ ह्रासोन्मुख संस्कृत-साहित्य की नायिकाओं के समकक्ष हैं। यहाँ एक ही साँचा है। घात-प्रतिघात के लिए कोई स्थान नहीं है। कहीं-कहीं तो ये पूर्णतः काल्पनिक प्रतीत होती हैं। नायकों का वातावरण सामन्तीय ही मानना चाहिए। इनका अथ और इनकी इति प्रेम ही है। चरित्र की दृष्टि से ये प्रेमाख्यानहीन काव्य ही ठहरते हैं।

सूफी प्रेमाख्यानों की चौथी प्रवृत्ति में लोकपक्ष और हिन्दू-संस्कृति की अभिव्यक्ति की चर्चा की जायगी। इनकी परिधि सन्तों से बड़ी है। सन्तों का प्रेम वैयक्तिक सीमा में ही आबद्ध रहा है। उनकी अपेक्षा इनका प्रेम समष्टिगत रहा है। इसी से इन आख्यानों में लोकजीवन के चित्र अधिक मिलते हैं। इनमें अन्ध-विश्वास, मनौती, जादू-टोना, मन्त्र-तन्त्र, डाइनों की करतूत, विभिन्न लोकोत्सव, तीर्थ-व्यवहार, व्रत इत्यादि के भी चित्र मिलते हैं। हिन्दू-घरों के वातावरण की अभि-व्यक्ति में ये पूर्णतः समर्थ हैं। हाँ, यत्र-तत्र अज्ञानतावश भूलें भी हो गयी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सूफी कवि भारतीय पुराणों से भी थोड़े परिचित अवश्य थे।

जायसी ने सैरन्ध्री, गांगेय, पार्थ, कुबेर इत्यादि का भी उल्लेख किया है; पर उनका यह ज्ञान पक्का नहीं था।

अपनी भावव्यंजना की अभिव्यक्ति के लिए इन्होंने प्रतीकों से काम लिया है। इनका लौकिक प्रेम विश्वात्मा के प्रेम का प्रतीक माना जा रहा है; यद्यपि इस पर आज अनेक प्रकार की आपत्तियाँ की जा रही हैं। प्रतीकपद्धति उसमान की रचना से ही प्रारम्भ हो जाती है। उन्होंने नायक का नाम सुजान, नायिका के निवासस्थान का नाम रूपनगर रखा है। रास्ते के पड़ावों के नाम भी भोगपुर, गोरखपुर और नेहनगर रखे गये हैं। अस्तु, प्रतीकों के प्रचुर प्रयोग का पता यहीं से चलता है। जायसी के 'पद्मावत' में प्रतीकपद्धति का निर्वाह हुआ है। यह प्रतीक 'गुरू सुआ जेहि पंथ देखावा' वाले पद से स्पष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि प्रतीकपद्धति सूफी प्रेमाख्यानों की पाँचवीं प्रवृत्ति के रूप में मान्य होनी चाहिए।

छठी प्रवृत्ति में शृंगार रस की व्याप्ति आती है। शृंगार में वियोग-पक्ष अधिक है। वियोग का उभयपक्षीय रूप ही अधिक उभरा है। पूर्वराग की जाग्रति के लिए प्रत्यक्षदर्शन, चित्रदर्शन, स्वप्नदर्शन, गुणश्रवणादिक का प्रयोग किया गया है। पूर्वराग में तीव्रता के लिए बाधाओं का भी वर्णन मिलता है। प्रधान पात्रों में अनुभावों के वर्णन का निर्वाह किया गया है। प्रायः सभी ने सखा-सखी, वन-उपवन, ऋतुपरिवर्त्तन इत्यादि को चित्रित किया है। वीर-रस का वर्णन नायक द्वारा साहसी कार्यों को कर दिखाने में ही मिलता है। वीर-रस के उल्लेखनीय प्रसंग 'पद्मावत' और मुल्ला दाऊद की 'चन्दायन' में मिलते हैं। 'हंस जवाहर' और 'इन्द्रावती' में भी थोड़ा वर्णन हुआ है। इन आख्यानों में अलंकारविधान के अनुकरणीय उदाहरण नहीं मिलते हैं। अधिकांश उपमानादि भारतीय साहित्य से ही ग्रहीत हैं। बाह्य उपकरणों का सर्वाधिक उपयोग नूर मुहम्मद ने किया है। कुछ लोग सूफी प्रेमाख्यानों को रूपात्मक रचनाओं में स्थान देते हैं। इनमें समासोक्ति का निर्वाह सफल रूप में मिलता है। उत्प्रेक्षामूलक उक्तियाँ भी अधिक मिलती हैं।

सातवीं प्रवृत्ति में शैतान को मान सकते हैं। शैतान की स्थिति माया के समान है। यह साधक को मार्ग से हटाने वाला है।

आठवीं प्रवृत्ति में मण्डनात्मक वृत्ति आयेगी। धार्मिक एकता का श्रीगणेश तो पहले से ही हो चुका था। सन्त कवियों ने भी इसमें योगदान किया था; पर खण्डनात्मक प्रवृत्ति की अधिकता के कारण उनकी बातें समाज में कर्कश ही बनी रहीं। सूफियों को इसमें अधिक सफलता मिली है। इसका कारण यही माना जायगा कि इनकी प्रवृत्ति वैज्ञानिक अधिक थी। आचार्य शुक्ल के अनुसार, ''कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह

जायसी द्वारा पूरी हुई।"

नारी-चित्रण भी सूफी प्रेमाख्यानों की एक विशिष्ट प्रवृत्ति रही है। इनके काव्यों में नारी को ज्योतिःपुंज के रूप में, परमात्मशक्ति के रूप में, चित्रित किया गया है। नारी वह नूर है जिसके बिना समस्त काव्य ही सूना है। इनकी नारियाँ सामान्यतः परकीया ही हैं; पर स्वकीया के भी चित्र मिलते हैं। इनमें कामुकता का जो चित्रांकन हुआ है, उससे इस बात पर विश्वास किये बिना नहीं रहा जाता कि ये पात्र ईश्वर के प्रतिरूप नहीं हैं।

भाषा की दृष्टि से सूफी प्रेमाख्यानों में सर्वत्र अवधी ही प्रयुक्त है। उसमान और नासीर में भोजपुरी की स्पष्ट छाप मिलती है। नूर मुहम्मद में ब्रजी के प्रयोग मिलते हैं। अरबी और फारसी के शब्द सबमें मिलते हैं। जायसी के पद्मावत में अवधी का ठेठ रूप ही अधिक है।

छन्दों पर विचारने से पता चलता है कि सूफी प्रेमाख्यानों के मूल छन्द दोहा और चौपाई हैं। घत्ता देने के लिए दोहे और अरिल्ल प्रयुक्त हुए हैं। सोरठे, सवैये, प्लवंगम, बरवै इत्यादि भी यत्र-तत्र मिलते हैं। कहीं-कहीं फारसी के 'बहर' भी उपलब्ध हैं।

हिन्दी-प्रेमाख्यानों में सूफी प्रेमाख्यानों का बाहुल्य है। प्राप्त सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि सूफी प्रेमाख्यानों की रचना चौदहवीं शती में प्रारम्भ हो चुकी थी। सम्भवतः प्रथम रचना मुल्ला दाऊद की 'चन्दायन' या 'नूरक-चन्दा' है। उस समय तक असूफी प्रेमाख्यानों का पता नहीं चलता है; किन्तु यह कहना भी असंगत ही है कि असूफी प्रेमाख्यानों के आदर्श सूफी प्रेमाख्यान ही रहे हैं। वस्तुतः इनके प्रेरणास्रोत अपभ्रंश तथा अन्य पूर्ववर्ती भाषाओं के प्रेमाख्यान ही रहे हैं। सूफी प्रेमाख्यानों में काल्पनिकता अधिक है; पर असूफी प्रेमाख्यानों में कम। असूफी प्रेमाख्यानों में वियोगवर्णन पर सूफी प्रेमाख्यानों से कम ध्यान दिया गया है। प्रकृति एवं नख-शिख के वर्णन में दोनों में भारतीयता ही है। सूफियों में यत्र-तत्र साम्प्रदायिकता का आग्रह भी है; पर असूफियों में नहीं। सूफियों का झुकाव अवधी की ओर अधिक है; पर असूफियों में ऐसी बात नहीं है। 'ढोला मारू रा दूहा', 'छिताई वार्ता', 'माधवानलकामकन्दला' में राजस्थानी के प्रयोग हैं। बोधा के 'विरह वारीस', नन्ददास की 'रसमंजरी' में ब्रजी का प्रयोग है। 'रसरतन', 'नलदमयन्ती', 'पुहुपावती' और 'मधुमालती' की अवधी में एकरूपता का अभाव है।

सूफी कवियों से सन्त कवियों की तुलना करने पर अनेक प्रकार के साम्य-वैषम्य सामने आते हैं। दोनों में पूर्वापर के सम्बन्ध का अभाव है। सूफी कवि अरब और ईरान के उपकरणों को लेता हुआ भारतीय वातावरण, धर्म, संस्कृति और साहित्य से प्रभावित हुए हैं। दूसरी ओर, सन्त-पन्थ का प्रादुर्भाव भक्ति-आन्दोलन

की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप है। यह मत पूर्णतः भारतीय ठहरता है। हाँ, एक से दूसरे ने थोड़ा-थोड़ा प्रभाव अवश्य ग्रहण किया है। गुरु की महत्ता, प्रेम की महत्ता, साधना-पक्ष में विश्वास, माया अथवा शैतान की कल्पना, रहस्य की प्रवृत्ति, विरह का वर्णन इत्यादि दोनों पन्थों में समान रूप से पाये जाते हैं। इतने साम्य के बावजूद दोनों में वैषम्य ही अधिक दीखता है। सन्तों की प्रणय-भावना भारतीय है; पर सूफियों में उल्टी बात है। सूफियों में जीवात्मा ही पुरुष और परमात्मा ही नायिका है। सन्तों ने धार्मिक एकता पर ही बल दिया है; पर सूफियों ने सांस्कृतिक एकता को भी समेटने का प्रयत्न किया है। एक की पद्धति खण्डनात्मक है; पर दूसरे की मण्डनात्मक। एक में व्यक्तित्व की फक्कड़ता और अक्खड़ता है, तो दूसरे में विनम्रता। एक की काव्यशैली पूर्णतः मुक्तक और गीतात्मक है; पर दूसरे की शैली है प्रबन्धात्मक। इसी प्रकार भाषा, साधना, निराकार ईश्वर इत्यादि में भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। सामान्य रूप से कहा जायगा कि सन्तों की अपेक्षा सूफियों में लोकरंजक तत्त्व अधिक हैं। सूफी सन्तों की तरह मात्र साधक ही नहीं हैं, प्रेम के पीर भी हैं। इसी से इन्होंने मात्र 'आँखिन देखी' पर ही भरोसा न कर 'कागज लेखी' शास्त्रीय ज्ञान—को भी महत्त्वपूर्ण माना है। इनके यहाँ बुद्धि की अपेक्षा हृदय को ही अधिक स्थान मिला है।

हिन्दी-प्रेमाख्यान के कवियों पर विचारने पर मुल्ला दाऊद ही प्रथम प्रेमाख्यानक कवि ठहरते हैं। इनकी रचना है 'चन्दायन' अथवा 'नूरकचन्दा'। ये अलाउद्दीन के समकालीन थे। इन्होंने चन्दा और लोरिक की कहानी कही है। इनके पात्र राजन्यवर्ग के नहीं, साधारण ही हैं। इन्होंने घटनाओं का वर्णन अधिक किया है।

दूसरे सूफी कवि हैं कुतबन। इनका समय १५वीं शती का अन्तिम और १६वीं शती का प्रथम भाग है। इनकी रचना है 'मृगावती'। कौतूहलवर्द्धन के लिए इसमें घटनाओं पर अधिक बल दिया गया है। कवि शैली के प्रति अधिक सजग दीखता है। पुनः, मंझन की 'मधुमालती' का नाम आता है। इसमें प्रेमसम्बन्ध परियों के द्वारा होना कथित है। इसमें प्रायः कुतबन के आदर्श का ही पालन मिलता है। उसमान की 'चित्रावली' में घटनाविस्तार अधिक है। नायक-नायिका-मिलन में दूतों का सहारा लिया गया है। प्रायः 'पद्मावत' के आदर्श का ही यहाँ पालन मिलता है। इसमें एक नयी बात यह है कि योगी अँगरेजों को देखने आये हैं। इसी के समानान्तर जलालुद्दीन की 'जमालपच्चीसी' मिलती है। उसमान के समसामयिक कवि जॉन ने अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थों की रचना की है। 'रत्नावली' विशेष उल्लेखनीय है। अन्य रचनाएँ 'मधुकर-मालती', 'नल-दमयन्ती', 'लैला-मजनू' तथा 'कथा खिजर खाँ शाहजादे' इत्यादि हैं।

इधर हिन्दवी या दक्षिणी हिन्दी के इतिहास से पता चलता है कि उसमें भी प्रेमाख्यानों की रचनाएँ हुई हैं। गबासी, बजही, तबय और हासमी ने सामी कथाओं को लेकर अथवा उनके आदर्शों पर अनेक मसनवियों की रचना की है। इस कार्य में मुकीमी, मुसरनी, गुलाम अली ने भी सहयोग दिया है। इस धारा का प्रभाव उत्तर भारत के सूफियों पर भी पड़ा है। उदाहरणार्थ, 'हंस-जवाहर', 'अनुराग-बाँसुरी' आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

उन्नीसवीं और बीसवीं शती की अवधी में सूफी रचनाएँ ठंढी पड़ जाती हैं। इस समय न तो किसी में जायसी की प्रतिभा थी, न मंझन और उसमान की सहृदयता और न जॉन की योग्यता। नवी का पाण्डित्य भी यहाँ नहीं मिलता है। इस काल में 'नूरजहाँ', 'भाषा प्रेमरस', 'प्रेमदर्पण' इत्यादि रचनाएँ ही सामने आती हैं। इस प्रकार, सूफी काव्य की परम्परा चौदहवीं शती से आज तक किसी-न-किसी रूप में चलती ही रही है।

सूफी कवियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं जायसी। इनका क्रम मंझन के बाद आता है। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर १०वीं सदी हिजरी इनका काव्यकाल है। कुछ विद्वान् ६२७ हिजरी के स्थान पर ६४७ को ही उपयुक्त मानते हैं। 'जायस नगर मोर असथानू' के अनुसार, इनका जन्म रायबरेली के जायस नगर में माना जाता है। ये निजामुद्दीन औलिया की शिष्यपरम्परा में पड़ते हैं। 'आखरी कलाम', 'अखरावट' और 'पद्मावत' इनकी तीन रचनाएँ मिलती हैं। 'पद्मावत' विशुद्ध साहित्यिक कृति ठहरती है। रतनसेन और पद्मावती की कथा द्वारा कवि ने लौकिक प्रेम में अलौकिक प्रेम की व्यंजना की है। पद्मावती लोकगाथाओं की परिचित नायिका है। सम्पूर्ण कथा काल्पनिक ही है, मात्र दो-चार ऐतिहासिक नाम भर हैं।

'पद्मावत' कल्पनाप्रसूत काव्य है। हाँ, इसमें बाबर के शासन-काल की सहानुभूतिशीलता और उदारता का परिचय अवश्य मिलता है। कुछ विद्वान् इसे अन्योक्ति-काव्य मानते हैं और कुछ लोग समासोक्ति। पद्मावती में पारस-रूप की चर्चा की गयी है। पद्मावती में कवि ने परमात्मरूप को स्थिर करना चाहा है। मुझे यह प्रतीक-काव्य और प्रेम-काव्य ही अधिक जँचता है, साम्प्रदायिक और सिद्धान्त-ग्रन्थ कम। जायसी ने कबीर की अपेक्षा लोकपक्ष को अधिक उन्नत रूप में चित्रित किया है। इन्होंने बड़े सीधे भाव से सहानुभूतिपूर्ण वातावरण द्वारा हिन्दू-मुस्लिम-एकता का आदेश किया है। इनके लोकपक्ष की पहचान तो इसी से है कि अपनी रचनाओं में इन्होंने लोकप्रचलित धारणाओं, अन्धविश्वासों, तथा चमत्कृत कर देने वाली घटनाओं को स्थान दिया है। इन्होंने हठयोग का भी वर्णन किया है। यह सन्तों से प्रभावित है। इनकी रचना से पता लगता है कि ये सूफी मुसलमान होकर

भी हिन्दू अनुयायी थे। ये शरीर से अभारतीय होकर भी हृदय से पूरे भारतीय थे। कुछ विद्वान् ऐसा भी कहते हैं कि जायसी एवं अन्य सूफी कवि प्रेमाख्यानों के व्याज से प्रछन्न रूप में इसलाम का प्रचार चाहते थे। यह प्रश्न भी कम विचारणीय नहीं है।

सूफी प्रेमाख्यानों की एक बड़ी देन यह भी है कि जहाँ पहले साहित्य राजन्यवर्ग का प्रतिनिधि था, वहाँ अब इसमें ठेठ जीवन के प्रसंगों को भी स्थान मिलने लगा। राजन्यवर्ग भी विरह में अपने राजापन को भूलने लगे थे। हिन्दी-साहित्य में इन प्रेमाख्यानों के प्रारम्भ होने से रासो-ग्रन्थों का महत्त्व क्षीण हो गया और उनके स्थान पर नवीन प्रवृत्तियों ने जन्म लिया।

सूफी प्रेमाख्यानों की रचना केवल हिन्दी में ही नहीं, अपितु अन्य भाषाओं में भी हुई है। बँगला में दौलत काजी की 'लोरचन्द्राणी', अलाओल की 'पद्मावती', अमीर हमजा की 'मनोहर-मालती', मुहम्मद खाँ की 'मृगावती' और 'लैला-मजनू' प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इसी प्रकार, पंजावी में 'शशि-पुणु', 'हीर-राँझा', 'सोहनी-महिवाल' इत्यादि के आधार पर रचनाएँ मिलती हैं। इससे स्पष्ट है कि मध्य युग में सूफी प्रेमाख्यानों की शैली अधिक प्रसिद्ध हो चुकी थी।

अन्त में एक बात और विचारणीय है। विचारकों का एक वर्ग सूफी प्रेमाख्यानों में रहस्यवाद और अलौकिक प्रणय की अभिव्यक्ति मानता है। दूसरे वर्ग के लोग इस मान्यता पर प्रश्नचिह्न लगा देते हैं। अलौकिक प्रेम की व्यंजना मानने वाले विद्वानों ने प्रायः निम्नांकित बातें कही हैं—

(क) आ० ह० प्र० द्विवेदी जी के अनुसार इन, प्रेमाख्यानों की रचना सूफी धर्म के प्रचारार्थ हुई है।

(ख) इन काव्यों में आत्मा और परमात्मा के प्रेम का रूपक माना गया है। आ० शुक्ल के अनुसार, "रतनसेन को पद्मावती तक पहुँचाने वाला, प्रेम-पंथ जीवात्मा को परमात्मा में ले जाकर मिलाने वाला प्रेम-पन्थ का स्थूल रूप है।"

(ग) इन काव्यों में स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक सिद्धान्तों एवं साधना-पद्धतियों का निरूपण है।

(घ) इन काव्यों में नायिका (जो परमात्मा का प्रतीक है) के चित्रण में 'अनन्त सौन्दर्य-सत्ता' का आभास मिलता है।

(ङ) इनके प्रेम और विरह के वर्णन में आध्यात्मिक स्वरूप का परिचय मिलता है।

उपर्युक्त बातों पर विचारने से डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त जी को अधिकतर निराशा ही हाथ लगी है। सूक्ष्म विश्लेषण के पश्चात् वे इस मत पर आते हैं कि

सूफियों की प्रेमव्यंजना लौकिक ही है, अलौकिक नहीं। इन बातों पर उन्होंने अपनी पुस्तक 'हिन्दी-साहित्य: समस्याएँ और समाधान' में विस्तार से विचार करते हुए निम्नांकित तर्क दिये हैं—

डॉ० गुप्त का प्रथम तर्क यह है कि प्रेमाख्यान केवल सूफियों ने ही नहीं, हिन्दुओं ने भी लिखे हैं। ईश्वरदास (सत्यवती), पुष्कर (रसरतन), सूरदास लखनवी (नलदमन), मेघराज साहा (मृगावती), दुखहरणदास (पुहुपावती), हेमरत्न सूरि (पद्मिनी), नंददास (रूपमंजरी), काशीराम (कनकमंजरी) इत्यादि के नाम इस क्रम में लिये जा सकते हैं। यदि सूफियों का आदर्श धर्म-प्रचार होता, तो ये हिन्दू कवि उनके आदर्श पर नहीं चलते; बल्कि विरोध करते। अस्तु, धर्म-प्रचार वाली बात गलत होनी चाहिए। दूसरी बात यह कि इनलोगों ने अपनी रचना का उद्देश्य स्वयं स्पष्ट कर दिया है—

जायसी—(क) 'औ मैं जानि कवित अस कीन्हा, मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।'
(ख) 'जो यह पढ़ै कहानी, इन्ह सँवरै दुइ बोल।'

उसमान—(क) 'जाकी बुद्धि होइ अधिकाई, आन कथा एक कहै बनाई।'
(ख) 'बालक सुनत काम रसलावा, तरुनन्ह के मन काम बढ़ावा।'
और—'भोगी कहँ सुख भोग बढ़ावा।'

आलम—'प्रीतिवन्त ह्वै सुनै सो कोई, बाढ़ै प्रीति हिए सुख होई।
कामी पुरिष रसिक जे सुनहीं, ते या कथा रैन दिन सुनहीं।'

इनसे भी स्पष्ट है कि इन रचनाओं का उद्देश्य धर्म-प्रचार नहीं है।

जहाँ तक कथा की रूपात्मकता की बात है, वह पुनः विचारणीय है। जायसी का रूपक इस प्रकार है—

"तन चित उर मन राजा कीन्हा, हिय सिंघल बुधि पद्मिनि कीन्हा।
गुरू सुआ जेइ पंथ दिखावा, बिन गुरु जगत को निरगुन पावा।
नागमती यह दुनिया धन्धा, बाँचा सोइ न एहि चित बन्धा।
राघव दूत सोइ शैतानू, माया अलाउदीं सुलतानू।
प्रेमकथा एहि भाँति विचारहु, बूझि लेउ जो बूझै पारहु॥"

ऊपर की पंक्तियों में चौदह भुवन, घट, तन, हिय, बुद्धि, गुरु, निर्गुण, माया इत्यादि पारिभाषिक शब्द (शैतान को छोड़कर) भारतीय अद्वैत साधना से सम्बन्धित हैं। सूफी साधना से की जाने वाली व्याख्या पूर्णतः मेल नहीं खाती है। इसी से कुछ विद्वानों ने इस पद को ही प्रक्षिप्त मान लिया है; पर अंतिम अर्द्धाली में जो गर्वोक्ति है, वह कवि के अलावा और किसी की हो ही नहीं सकती है। डॉ० गुप्त ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है— "पद्मावत के आरम्भ में रतनसेन (मन) चित्तौड़ (शरीर) का उपभोग करता हुआ नागमती (सांसारिक कार्यों) में लिप्त है। शुक (गुरु) के उपदेश एवं मार्गदर्शन से मन (रतनसेन) सांसारिक कार्यों (नागमती) से विरक्त होकर सात्त्विक बुद्धि (पद्मिनी) को प्राप्त करना चाहता है। इसके अनन्तर

साधक मन (रतनसेन) को गर्व हो जाता है (देखि गरब राजा गरबाना, दृष्टि माँह कोई और न आना)। परिणामस्वरूप उसका पतन होता है (जहाज का समुद्र में डूबना)। उसका सारा ज्ञान, सारी सिद्धि गर्व के समुद्र में बह जाती है। वह अपनी प्रारम्भिक अवस्था पुनः प्राप्त करता है— शारीरिकता (चित्तौड़) को प्राप्त करता है तथा सांसारिकता (नागमती) की ओर उन्मुख होता है; किन्तु गर्व के शमन से खोई हुई सात्त्विक बुद्धि (पद्मिनी) पुनः प्राप्त हो जाती है। सांसारिक कर्मों के बीच रहते हुए वह धीरे-धीरे ज्ञान-साधना का प्रयास करता है। परिणामतः उसकी सांसारिक (नागमती) और बौद्धिक (पद्मिनी) वृत्तियों में संघर्ष होता है। ऐसी द्वन्द्वात्मक स्थिति में मन (रतनसेन) आसुरी वृत्तियों (राघव-चेतन) के माया-जाल (अलाउद्दीन) में उलझ जाता है।

आसुरी वृत्तियों के बन्धन में पड़कर मन (रतनसेन) दुखी होता है (रतनसेन बन्धनखंड)। अस्तु, साधक की सात्त्विक बुद्धि (पद्मिनी) पुनः उग आती है। उसकी सहायता से वह आसुरी वृत्तियों (राघव-चेतन) के मायाजाल (अलाउद्दीन) को— आकर्षण को काटकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है और उसकी सांसारिक एवं आध्यात्मिक वृत्तियाँ (नागमती और पद्मिनी) भी विलीन (सती) हो जाती हैं।"

इस रूपक का कामायनी के रूपक के साथ अद्भुत साम्य दीखता है। इसी के द्वारा अन्य सूफी कवियों के रूपकों का स्पष्टीकरण किया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि इन प्रेमाख्यानों में रूपक के माध्यम से सूफी सिद्धान्तों की व्यंजना नहीं हुई है, अपितु ये भारतीय पद्धति के ठहरते हैं।

बीच-बीच में यत्र-तत्र जो दार्शनिक बातें आयी हैं, वे धर्म-प्रचार अथवा सिद्धान्त-प्रतिपादन के निमित्त नहीं, अपितु हृदय के उद्‌गार हैं। इनके पीछे कोई छिपा हुआ उद्देश्य भी नहीं है। यदि कोई छिपी बात होती तो ये हिन्दू-दर्शन और नाथ-पन्थियों की बातें नहीं करते।

जहाँ तक नायिका के व्यक्तित्व में 'अलौकिक सौन्दर्य-सत्ता' के चित्रण की बात है, उसके सम्बन्ध में इतना ही कहा जायगा कि ये बातें भ्रम पर आधारित हैं। इनकी नायिकाओं में गर्व, ईर्ष्या, द्वेष, कामुकता इत्यादि कई खटकने वाली बातें दीखती हैं, जिससे उनके व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। कामुकताग्रसित वर्णनों का इतना आधिक्य है कि कभी भी इन्हें 'अलौकिक सौन्दर्य-सत्ता' के रूप में स्वीकार नहीं किया जायगा। जहाँ तक इनके अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन की बात है, हमें यह न भूलना चाहिए कि इन कवियों ने केवल नायिका का ही नहीं, अन्य पात्रों का भी अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। 'पद्मावत' में दिल्ली-सुलतान शेरशाह, बादल की नववधू, सिंहल की वेश्याओं और निर्जीव तोपों के वर्णन में भी कवि ने चमत्कार दिखाया है। अतः यह उक्ति भी ठीक नहीं प्रतीत होती।

विरह के व्यापक वर्णन की जो बात की जाती है, उससे ऐसा लगता है कि इतना व्यापक विरह भारतीय साहित्य में है ही नहीं। किन्तु, ऐसी बात है नहीं। प्रेमाख्यान 'कादम्बरी' का विरह इससे तनिक भी कम व्यापक नहीं है। अस्तु, इस आधार पर भी आध्यात्मिक व्यंजना मानना कोरा भ्रम है। डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त की पुष्टि इस बात से भी होती है कि डॉ० विमल कुमार जैन-जैसे सूफी काव्य के मर्मज्ञ को भी लिखना पड़ा है कि—"पद्मावत की कथा में जो नख-शिख, प्रेमावेश तथा ऐसी ही अन्य बातों का वर्णन है उसमें आध्यात्मिक पक्ष को कुछ धक्का-सा लगता प्रतीत होता है......इन सभी काव्यों में योगी-भावना काम कर रही है। ऐसा ही दीख पड़ता है कि इन साधकों पर योगियों का अपार प्रभाव था। सभी में नायक योगी होकर ही निकलते हैं तथा योग-साधना से ही उन्होंने सिद्धि प्राप्त की है। गोरखनाथ, गोपीनाथ और भर्तृहरि के नाम तो प्रायः देखने में सर्वत्र आते हैं।" इससे स्पष्ट है कि डॉ० जैन भी ऊहापोह में ही रह गये हैं। इन्हें भी सूफियों की रचनाओं में सूफियाना वृत्ति से अधिक साधुपन दीखता है।

उपर्युक्त बातों पर ध्यान रखते हुए यही मानना समीचीन प्रतीत होता है कि सूफियों का प्रेम लौकिक रूप में ही निरूपित है, अलौकिक रूप में नहीं। साथ ही, ये रचनाएँ धर्म-प्रचारार्थ नहीं तैयार की गयी थीं। वस्तुतः इनका उद्देश्य मनोरंजनात्मक ही था। पर डॉ० गुप्त का मत भी भ्रमपूर्ण है अवश्य। सूफियों ने अपनी रचनाओं में अलौकिक प्रेम के उद्‌गार व्यक्त ही नहीं किये हैं, ऐसा मानना असंगत है। निश्चय ही बीच-बीच में यत्र-तत्र रहस्यवाद की प्रवृत्ति और अभिव्यक्ति मिलती है। हाँ, लौकिकता की मात्रा अधिक है। पर, हमें यह न भूलना चाहिए कि वे लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम का माध्यम मानते थे।

निस्सन्देह सूफी प्रेमाख्यानों से हिन्दी को एक नयी दिशा मिली थी। इसी का परिणाम था कि अवधी को साहित्यक महत्त्व मिला, जिसमें आगे चलकर मानस के रूप में भारतीयों का मानस तैयार हुआ। दूसरी बात यह कि इन प्रेमाख्यानों ने हिन्दू-मुस्लिम-एकता की जो रीति चलायी थी, यदि उसका मनोवैज्ञानिक विकास हो पाता तो शायद आज हिन्दुस्तान में पाकिस्तान की कल्पना न हो पाती।

●

१०

हिन्दी-कृष्णकाव्य

[कृष्ण-आख्यान की प्राचीनता—भक्ति का विकास—दार्शनिक आधार—साम्प्रदायिकता—सामान्य प्रवृत्तियाँ—कवि और काव्य—कुछ समस्याएँ—उपसंहार]

'यन्न भारते तन्न भारते' के अनुसार कहा जाता है कि जो महाभारत में नहीं है, वह भारत में भी नहीं है। कृष्ण-आख्यान भी महाभारत में पूर्ण रूप में उपलब्ध है। भारतीय धर्म और संस्कृति में कृष्ण का व्यक्तित्व विलक्षण है। ऋग्वेद के कृष्ण (आंगिरस) स्तोता हैं। वे अश्वनीकुमारों का सोमपान के लिए आह्वान करते हैं। छान्दोग्य में देवकीपुत्र कृष्ण का उल्लेख घोर आंगिरस के शिष्य एवं वैदिक ऋषि के रूप में होता है। महाभारत के कृष्ण पाण्डवों के सखा एवं सफल राजनीतिज्ञ हैं। यहाँ वे विष्णु के अंश के रूप में भी चित्रित हैं। शिशुपाल के कुछ शब्दों के अलावा कृष्ण के गोप-जीवन का यहाँ कोई उल्लेख नहीं मिलता है। परवर्त्ती पुराणों—हरिवंश, ब्रह्म, विष्णु, भागवत और ब्रह्मवैवर्त्त इत्यादि—में उनके बाल-जीवन के आख्यान मिलते हैं। भागवत में कृष्ण की एक विशेष आराधिका (गोप-बाला) का भी उल्लेख मिलता है। यही ब्रह्मवैवर्त्त पुराण की राधा है। सम्भवतः महाभारत में चित्रित कृष्ण का व्यक्तित्व ऐतिहासिक रूप में है, जो परवर्त्ती साहित्य में विकसित और विकृत होता गया है। वासुदेव कृष्ण का उल्लेख 'घत जातक' में है। यहाँ श्रीमद्भागवत से साम्य है। 'महाउमग्ग जातक' में कृष्ण कामासक्त रूप में चित्रित हैं।

गोपाल कृष्ण की कथा सम्भवतः पीछे की है। यह मूल कथा का विकृत रूप भी हो सकता है। पाश्चात्य विचारक ग्रियर्सन, केनेडी, बेवर इत्यादि ने अनुमान किया है कि गोपाल कृष्ण का बालचरित क्राइस्ट के बालचरित का अनुकरण है। यह मत पूर्णतः निरर्थक सिद्ध हो चुका है। पूतना को 'वर्जिल' और प्रासाद को 'लवफिस्ट' मानने का विचार भी खोखला प्रमाणित हो चुका है। सम्भावना यह है कि गोपाल कृष्ण मूलतः शूरसेन-प्रदेश के शाश्वत वृष्णिवंशी क्षत्रियों के कुलदेव थे। उनके बचपन की कहानियाँ मौखिक रूप में लोकप्रचलित थीं। परवर्त्ती युग में इसी को वैदिक और महाभारत के कृष्ण से मिला दिया गया है। इसकी प्राचीनता इस बात से प्रमाणित है कि आर्कियोलौजिकल रिपोर्ट (१९२६-२७) में प्रकाशित पूर्व-बंगाल के पहाड़पुर में मिली धेनुकासुरवध, यमलार्जुन-उद्धार,

मुष्टिकचाणूर के साथ मल्लयुद्ध और राधा के साथ प्रसिद्ध मुद्रा में खड़े कृष्ण की मूर्त्तियाँ छठी शती के पूर्व की मानी जाती हैं। राजस्थान में मंडोर नामक स्थान में द्वारपाटों पर गोवर्द्धनधारण, नवनीतचौर्य, सकट भंजन इत्यादि के चौथी शती के उत्कीर्ण चित्र मिलते हैं। मथुरा में भी इस समय की कुछ मूर्त्तियाँ मिली हैं। मेगास्थनीज के वर्णन से भी यह प्रमाणित है कि चौथी शती के पूर्व मथुरा के आस-पास कृष्ण की पूजा प्रचलित थी। डॉ० भंडारकर ने भी गोपाल कृष्ण को वासुदेव कृष्ण से भिन्न माना है। डॉ० ए० डी० पुशालकर ने दोनों को एक ही माना है। इनका कथन है कि वासुदेव कृष्ण ने ही गोकुल में गोपियों के साथ नृत्य-गीतादि में भाग लिया था, जो उनकी कलाप्रियता का सूचक है; पर आज उसे ही शृंगारी रूप दे दिया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारत में कृष्ण-आख्यान प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। मूलतः कृष्ण तीन रूपों में उपलब्ध होते हैं— (क) वैदिक ऋषि और धर्मोपदेशक के रूप में, (ख) नीतिकुशल क्षत्रिय नरेश के रूप में और (ग) बाल और किशोर की स्थिति में लीला दिखाने वाले अवतारी पुरुष के रूप में। कृष्ण का प्रथम रूप गीता में, द्वितीय रूप महाभारत में और तृतीय रूप पुराणों में उपलब्ध है। कृष्ण के ये तीनों रूप भागवत धर्म की तीन विभिन्न अवस्थाओं के सूचक हैं। प्रारम्भ में भागवत धर्म सरल, पवित्र और भावपूर्ण था, जिसकी अभिव्यक्ति गीता और छान्दोग्य उपनिषद् में है। महाभारत में भागवत धर्म की कर्मशीलता चित्रित है और सम्भवतः कृष्ण का यही रूप ऐतिहासिक भी है। पुराणों के कृष्ण परिवर्द्धित रूप में ही हैं। गोकुल के कृष्ण के चरित्र में ऐसा कोई दोष नहीं मिलता जिससे उनकी सत्ता महाभारतीय कृष्ण या गीताकार कृष्ण से भिन्न मानी जाय।

भारतीय इतिहास के विशेषज्ञ डॉ० डी० एस० त्रिवेदी (इण्डियन क्रोनोलौजी) के अनुसार, महाभारत की सफल क्रान्ति इसवी सन् से ३१३७ वर्ष पूर्व हुई थी। अपने समाज के लोगों से वासुदेव कृष्ण उसी समय से पूजे जाने लगे थे। युधिष्ठिर और अर्जुन की श्रद्धा तो उन पर है ही, स्वयं वेदव्यास भी कृष्ण को अपने से अधिक धर्मधुरन्धर मानते हैं। इस समय वे अवतार भले ही नहीं घोषित हुए हैं, पर धर्म और राजनीति के संचालक तो हैं ही। अवतारवाद की प्रतिष्ठा होने पर वे अवतारों में गिने जाने लगे। चौथी शती के आस-पास मथुरा-प्रदेश में इनकी पूजा का उल्लेख मेगास्थनीज के यात्रा-विवरण से मिलता है। बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण हो जाने पर उत्तर-भारत में पुनः इनकी पूजा का उल्लेख तो नहीं मिलता, पर दक्षिण-भारत में इनकी पूजा और भक्ति का प्रचार सातवीं-आठवीं शती तक जोरों से हो जाता है। आलवारों में यही भक्ति पनपती है।

हिन्दी के कुछ विचारक भक्ति के उदय को पराजित मनोवृत्ति का परिणाम

तथा मुस्लिम राज्य की प्रतिक्रिया मानते हैं। आ० शुक्ल के अनुसार, "अपने पौरुष से हताश हिन्दू जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।" आ० गुलाबराय के अनुसार, हार की मनोवृत्ति में दो बातें सम्भव हैं— "अपनी अतीत की श्रेष्ठता दिखाना या भोग-विलास में पड़कर दुःख को भूल जाना।" उनके अनुसार, भक्ति-काल में प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति मिलती है। नवीन विचारों के आगे ये मत भ्रामक साबित हो चुके हैं।

इधर पाश्चात्य विचारक बेबर, कीथ, ग्रियर्सन, विल्सन इत्यादि ने भक्ति को ईसाई धर्म की देन के रूप में स्वीकार किया है। बेबर के अनुसार, महाभारत में वर्णित श्वेत द्वीप यूरप है तथा जयन्तियाँ मनाने की प्रथा भी पाश्चात्य है। डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार, "बिजली की चमक के समान अचानक इन समस्त पुराने धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नयी बात दिखाई दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आयी। कोई भी इसके प्रादुर्भाव का कारण निश्चित नहीं कर सकता।" ये इसका प्रचलन नेस्टोरियन ईसाइयों से मानते हैं। बालगंगाधर तिलक, श्रीकृष्णस्वामी आयंगर, डॉ० एच० रायचौधरी इत्यादि विद्वानों ने इस मत का युक्तियुक्त खण्डन करते हुए इसका उदय भारतीय स्रोतों से प्रमाणित किया है। आ० द्विवेदीजी ने भी उपर्युक्त मतों को दुरभिसन्धि माना है। उनके अनुसार, इसके मेघखण्ड सैकड़ों वर्षों से एकत्र हो रहे थे। उनका विचार है कि "यह बात अत्यन्त हास्यास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर-भारत के मन्दिर तोड़ रहे थे, उसी समय निरापद दक्षिण-भारत में भक्तों ने भगवान् की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना ही था तो पहले उसे सिन्ध में और फिर उत्तर-भारत में प्रकट होना चाहिए था; पर हुई यह दक्षिण में। असल बात यह है कि जिस बात को ग्रियर्सन ने 'अचानक बिजली के समान फैल जाना' लिखा है, वह ऐसा नहीं है। उसके लिए सैकड़ों वर्ष से मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे।" हिन्दू जाति जीवन्त और आशावादी रही है। यह अपनी जीवन-शक्ति के लिए प्रसिद्ध रही है। शंकर, रामानुज, मध्व, विष्णुस्वामी, निम्बार्क, रामानन्द, चैतन्य इत्यादि आचार्य मुस्लिम युग की उपज हैं; फिर भी ये राजनीतिक गत्यवरोध से निवृत्त हैं। अतः, भक्ति न तो मुस्लिम आक्रमण की प्रतिक्रिया है और न ईसाइयत की देन।

भक्ति परमोच्च साधना का आनुषंगिक परिणाम है। यह संघर्षमय वातावरण की नहीं, शान्त वातावरण की उपज है। यदि संघर्ष के कारण भक्ति उपजती, तो इसे अँगरेजों के आक्रमण के समय भी प्रस्फुटित होना चाहिए था। वस्तुतः भक्ति-काल का साहित्य प्राचीन दार्शनिक प्रवाह का एक अविच्छिन्न विकास है।

जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया, मथुरा के आस-पास कृष्णभक्ति का प्रचार चौथी शती में हो चुका था। बौद्ध धर्म के प्रचलन के कारण इसकी धारा मन्द अवश्य थी, पर मिटी नहीं थी। पुनः, दक्षिण-भारत में भक्ति का प्रचार तेजी से हो रहा था, जहाँ न तो बौद्ध धर्म की प्रमुखता थी और न मुस्लिम आक्रमण का भय। इसी का विकसित स्रोत मध्यकालीन आचार्यों द्वारा उत्तर-भारत की भक्ति से मिला दिया जाता है। हाँ, मुस्लिम आक्रमण के समय हमारी जातिगत कठोरता और धार्मिक संकीर्णता की प्रतिक्रिया कुछ अंशों में इस भक्ति-आन्दोलन में अवश्य हुई है। जिस समय मुसलमानों से हमारा सम्पर्क हुआ, इसकी पाचन-शक्ति का ह्रास अवश्य हो चुका था, यह अधिकाधिक संकीर्ण होती जा रही थी। इस स्थिति का वर्णन आ० द्विवेदी इस प्रकार करते हैं, "इस कसाव का परिणाम यह हुआ कि किनारे पर पड़ी हुई बहुत सारी जातियाँ छूँट गयी और वहुत दिनों तक ना-हिन्दू, ना-मुसलमान बनी रहीं। बहुत-सी जातियाँ पाशुपत्य मत को मानने लगीं और संन्यासी से गृहस्थ बनी जातियाँ धीरे-धीरे मुसलमान होने लगीं।"

इस समय तक अवतारवाद की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इसमें एक ओर भावना प्रमुख हो गयी और दूसरी ओर नारद भक्तिसूत्र, शाण्डिल्य भक्तिसूत्र आदि ग्रन्थों में भक्ति का विवेचन हुआ, साथ ही इसमें ऐसे तत्त्वों का समावेश हुआ जिससे ये बौद्ध आदि की स्पर्द्धा में टिक सकें। भक्ति के आचार्य भी इसी समय उत्पन्न हुए। आलवारों की भक्ति तो पनप ही रही थी। आचार्यों ने परम्परागत भक्ति को लेकर भक्तिविरोधी सिद्धान्तों का खण्डन भी किया और फिर भक्ति के विभिन्न सम्प्रदाय खड़े हुए। इस प्रकार, १२वीं से १७वीं शती तक अनेक सम्प्रदायों का निर्माण हुआ। कृष्णभक्ति भी इन्हीं दिनों पुनरुज्जीवित हुई।

मध्ययुग की नव्य वैष्णवभक्ति के प्रणेता चार आचार्य हैं— रामानुज, निम्बार्क, मध्व और विष्णुस्वामी। यों तो चौथी शती से ही मथुरा के आस-पास कृष्णभक्ति प्रचलित थी, पर मध्ययुग में १६वीं शती के आस-पास मध्वाचार्य द्वारा इसे पुनरुज्जीवन मिला। निम्बार्क और विष्णुस्वामी ने भी इसमें योगदान किया। इस समय बल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग, चैतन्य के गौड़ीय सम्प्रदाय, हितहरिवंश के राधाबल्लभी सम्प्रदाय और स्वामी हरिदास के सखी अथवा टट्टी सम्प्रदाय विशेष महत्त्व के हैं। बल्लभ का मत शुद्धाद्वैत पर आधारित है। भागवत के 'पोषणम् तदनुग्रहः' के आधार पर यहाँ 'पुष्टि' की कल्पना हुई है। इस मत के अनुसार, भक्त का पोषण या विकास ईश्वरीय अनुकम्पा से ही सम्भव है। अस्तु, ईश्वर के अनुग्रह में विश्वास आवश्यक है। अनुग्रह ही लीला है। इन्होंने पुष्टि-पुष्टि, मर्यादा-पुष्टि और प्रवाह-पुष्टि नामक पुष्टि के तीन भेद किये। पुष्टिजीव ही ईश्वरीय अनुकम्पा द्वारा प्रेमलक्षणा भक्ति की प्राप्ति में समर्थ होता है। इसमें रागानुगा भक्ति का

विशेष महत्त्व है। बाल कृष्ण की उपासना ही यहाँ प्रमुख है। आगे चलकर इसमें बाल कृष्ण की जगह राधाकृष्ण की प्रतिष्ठा होने से मधुरा भक्ति का श्रीगणेश हुआ। वल्लभ ने अपने मत के प्रचारार्थ गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथजी की मूर्त्ति स्थापित की और मन्दिर का निर्माण कराया, जिसके अधिकारी कृष्णदासजी हुए। वल्लभ के तिरोधान के पश्चात् मन्दिर की वैभव-वृद्धि में चार चाँद लगे। इसकी रंगीनी और साज-सज्जा के आगे धनपतियों का राग-रंग भी फीका हो गया। ठाकुरजी के निमित्त रूपवती वेश्याओं का आमन्त्रित किया जाना, रासबिहारी को कामकला और कोककला के सम्यक् ज्ञान के लिए 'साहित्यलहरी', 'रस-मंजरी', 'शृंगाररसमंडन' इत्यादि ग्रन्थ लिखा जाना प्रारम्भ हुआ। अधिकारी कृष्णदास ने अपने को कृष्ण का प्रतिनिधि घोषित किया और भक्त पुरुषों और महिलाओं को गोप-गोपियों के अभिनय की शिक्षा मिली। गोचारण और रास-लीलाएँ प्रारम्भ की गयीं। अस्तु, पुष्टिमार्गीय भक्ति का पुनीत दीपक विलासिता का काजल उलीचने लगा, जिससे उसका भक्तितत्त्व विकृत हो गया।

हितहरिवंश जी ने सन् १५६० ई० के लगभग राधावल्लभी सम्प्रदाय की स्थापना की। इसके प्रमाणित ग्रन्थ 'हितचौरासी' और 'राधासुधानिधि' हैं। इसमें केवल संयोग-सुख की ही लीला स्वीकृत हुई। इस मत से सम्बन्धित कवियों ने राधा-कृष्ण की कुंज-क्रीड़ा और मधुर विलास के ही चित्रण किये। इसमें 'हित' शब्द की व्याख्या 'मांगलिक प्रेम' की गयी है। इनके विचार से राधा-कृष्ण अभिन्न तत्त्व हैं, वे प्रेमरूप हैं।

चैतन्य का मत अचिन्त्य भेदाभेदवाद पर आधारित है। इसकी व्याख्या शुद्धाद्वैत से साम्य ही अधिक रखती है, वैषम्य कम।

स्वामी हरिदास के टट्टी या सखी सम्प्रदाय वाले लोग अपने को निम्बार्क-मत के अन्तर्गत बताते हैं; पर विश्लेषण से अन्तर प्रतीत होता है। दार्शनिक पक्ष का इसमें भी अभाव-सा ही है। फिर भी कहा जायगा कि इनका मत अद्वैत के ऐसे संशोधित मतवाद पर टिकाया जाना चाहिए, जिसमें आंशिक द्वैतता अथवा भिन्नता की स्वीकृति है। हिन्दी का कृष्णभक्ति-साहित्य मूलतः पुष्टिमार्ग और राधावल्लभी मत पर ही स्थित है।

कृष्णभक्ति-साहित्य ब्रह्म की सगुणता का प्रतिपादन करता है। ब्रह्म, रस या परम-आनन्दमय रूप में ही है। यही साक्षात् कृष्ण भी है। यह सच्चिदानन्द है। जीव और जगत् इसी के सत् हैं। यह मत शुद्धाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है। चैतन्य के अनुसार, परम तत्त्व एक है। उसकी शक्तियाँ अचिन्त्य हैं। वह सगुण और रसमय कृष्ण ही है। उसका धाम गोलोक है। राधावल्लभी मत में पार्थिव वृन्दावनधाम ही नित्यधाम माना गया है। राधा, कृष्ण और सहचरी सभी

अभिन्न हैं।

कृष्णभक्ति-साहित्य में सिद्धान्ततः माया अस्वीकृत है। वल्लभ-मत में माया विद्या और अविद्या दो रूपों में मान्य है। माया ईश्वर की शक्ति ही है।

कृष्णभक्ति का आधारग्रन्थ है श्रीमद्भागवत। प्रस्थानत्रयी—ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता—में भागवत को जोड़कर प्रस्थानचतुष्टय की परम्परा चलायी गयी है। प्रत्येक सम्प्रदाय ने भागवत की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। सभी कृष्णभक्त राधा और कृष्ण को इष्टदेव मानते हैं। विभिन्न सम्प्रदायों में दोनों के महत्त्व में अन्तर है। राधा की महत्ता राधावल्लभी सम्प्रदाय में सर्वाधिक है। यहाँ राधा कृष्ण की आराधिका नहीं, आराध्या है।

कृष्णभक्ति-साहित्य में प्रेम का अधिक महत्त्व है। प्रेम ही भक्ति का मूलाधार है। इसके आगे कर्मकाण्ड का विधिनिषेध उपेक्षणीय ही नहीं अतिक्रमणीय है। कृष्णभक्ति में दैन्य का स्थान सबसे कम है। स्वभावभेदानुसार प्रेम वात्सल्य, सख्य और माधुर्य में ही व्याप्त है। प्रेम का चरम रूप है माधुर्यभक्ति। माधुर्यभाव थोड़े अन्तर के साथ सबों में वर्त्तमान है। निम्बार्क-मत में माधुर्यभाव स्वकीया तक ही सीमित है। चैतन्य ने परकीया में ही माधुर्य की परिणति मानी है। राधावल्लभी मत में लौकिक भाव से देखने पर स्वकीयाभाव ही दृष्टिगोचर होता है, चूँकि यहाँ परकीया-प्रेम आदर्श प्रेम मात्र है। इस मत में आलम्बन है राधा और आश्रय हैं कृष्ण। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के अनुसार— "प्रेम का यह स्वरूप सर्वथा अतीन्द्रिय तथा अलौकिक है। लौकिक अर्थ में वह जितना निकृष्ट और गर्हित है, भक्ति के सन्दर्भ में उतना ही परिष्कृत और उदात्त।" कृष्णभक्तों ने कर्मकाण्डों और बाह्याचारों की उपेक्षा कर प्रेम पर ही अधिक जोर दिया है। पर, कालान्तर में कृष्णभक्ति में भी अनेक कर्मकाण्ड विकसित हो गये थे।

कृष्णभक्ति-साहित्य को आलोचकों का एक वर्ग साम्प्रदायिक साहित्य मानता है। वास्तविकता इसमें आंशिक ही मानी जा सकती है अथवा वह भी नहीं। इतना अवश्य कहना पड़ता है कि इसके मूल में कुछ धर्मभावना रही अवश्य है। वस्तुतः इस वर्ग के कवियों का उद्देश्य था— 'रस, आनन्द और प्रेम की मूर्त्ति श्रीकृष्ण और राधाकृष्ण की लीला का गान।' राधाकृष्ण की विभिन्न लीलाओं के गायन से ही यदि यह साहित्य साम्प्रदायिक मान लिया जाय, तब तो कुछ कहना रह ही नहीं जाता। ऐसी स्थिति में तो सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य ही साम्प्रदायिक कहा जायगा; फिर हिन्दी ही क्यों, अन्य भाषा के साहित्य का भी तो यही हाल होगा। हिन्दी-साहित्य में तो कहीं सन्तों की वाणियाँ हैं, कहीं सूफियों के प्रेम की पीर। कहीं लीलागायन है, तो कहीं राम की शरणागति में विश्राम की खोज। कहीं सामन्तों और राजाओं के विलास के निमित्त कोककला की शिक्षा है, तो कहीं उर्दू

और अँगरेजी के साथ संघर्ष। अस्तु, साम्प्रदायिक कहने की बात भ्रामक ही है।

अष्टछाप के कवियों में सूर के अलावा अन्य में साम्प्रदायिक व्याख्याएँ अधिक हैं; पर इससे रसास्वाद में कहीं बाधा नहीं आती है। वस्तुतः कृष्णभक्ति-काव्य को, विशेषतः परवर्त्ती काव्य को किसी सम्प्रदायविशेष की परिधि में नहीं रखा जा सकता। रसखान, मीरा आदि के पदों को देख जाइए, यहाँ केवल सच्ची भावप्रवणता ही है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से भी इसकी पुष्टि होती है कि सच्चे कवियों की वाग्धारा बँधी नालियों में प्रवाहित नहीं होती। वह अपना मुक्त विकास करती है। इस सम्बन्ध में डॉ० व्रजेश्वर वर्मा का मत दर्शनीय है—"वे सभी कृष्णभक्त कवि जो वस्तुतः कवि कहलाने के अधिकारी हैं, सम्प्रदायों की संकीर्ण परिधियों के भीतर रहते हुए भी कृष्ण और राधाकृष्ण की उस भक्ति के व्यापक और सम्मिलित सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उन सब का समान रूप से एक ही उद्देश्य था—"रस, आनन्द और प्रेम की मूर्त्ति श्रीकृष्ण और राधाकृष्ण का गायन।"

सम्पूर्ण कृष्णभक्ति-काव्य के पर्यालोचन से कई प्रकार की सामान्य प्रवृत्तियाँ सामने आती हैं। इन सभी प्रवृत्तियों को यदि खतियाना चाहें तो इस प्रकार रख सकते हैं—

(क) लीलावर्णन— कृष्णभक्ति-काव्य में कृष्ण की लीलाओं का गायन मुख्य विषय है। सूर की प्रणयलीला में निश्चित विवेक, सूक्ष्म अध्यात्म, मानसिक वीतरागत्त्व और स्वस्थ संयम है। परवर्त्ती कवियों में धीरे-धीरे इसका अभाव हो गया है। उनमें स्थूलता और लौकिकता आ गयी है। परिणामतः उज्ज्वल आभा कालिमा बन गयी है। आध्यात्मिकता ने शृंगारिकता का जामा धारण कर लिया है।

(ख) मौलिक उद्भावना— कृष्णभक्ति-साहित्य का विस्तार संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में भी है। सब का उपजीव्य श्रीमद्भागवत ही रहा है। हिन्दी-कवियों ने उन्हीं को मौलिक ढंग से वर्णित किया है, जिससे वे पिष्टपेषण-जैसे नहीं प्रतीत होते हैं। सूर अपनी मौलिक उद्भावना के लिए प्रसिद्ध ही हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार— "सूर की बड़ी भारी विशेषता है नवीन प्रसंगों की उद्भावना। प्रसंगोद्भावना करने वाली ऐसी प्रतिभा तुलसी में नहीं है।" हिन्दी-कवियों ने जयदेव तथा विद्यापति का आधार ग्रहण करते हुए यथेष्ट कल्पना से काम लिया है। सच पूछा जाय तो मौलिक उद्भावना ही कृष्णभक्ति-काव्य के प्राण हैं।

(ग) रस-चित्रण— रस-चित्रण की दृष्टि से समस्त काव्यों में एक ही रस है—व्रजरस या भक्तिरस। इसे अंगीरस कहा जायगा। इसका स्थायी भाव है भगवत्प्रेम। इसकी काव्यशास्त्रीय व्याख्या 'उज्ज्वल नीलमणि' और 'भक्ति-

रसामृत-सिन्धु' में हुई है। शास्त्रीय शब्दावली में इसे वात्सल्य, शान्त और शृंगार भी कह सकते हैं। वात्सल्य में सूर अद्वितीय हैं। सख्य पर भी उनका वैसा ही अधिकार है। निर्वेद की भावना का कृष्णभक्ति-काव्य में लगभग अभाव ही है। वीर, अद्भुत आदि अन्य रसों की योजना प्रासंगिक ही है।

(घ) भक्ति-भावना—इसप्रकार के काव्य में मूलतः कृष्णभक्ति ही है। भगवत् रति ही स्वभावानुसार वात्सल्य, सख्य, कान्ता इत्यादि रति में परिणत है। यहाँ वैधी भक्ति से भिन्न प्रेमलक्षणा भक्ति ही मिलती है। रागानुगाभक्ति कान्ता भाव में निहित है। निम्बार्कमतवादियों ने स्वकीया और चैतन्यमतवादियों ने परकीया भाव पर जोर दिया है। राधावल्लभी मत ने परकीया-भाव अस्वीकृत किया है। कहीं-कहीं दास्यभाव तथा नवधाभक्ति के अन्य अंगों का भी पोषण हुआ है।

(ङ) पात्र और जीवन-चित्रण—रामकाव्य में राम का सम्पूर्ण जीवन चित्रित है। यहाँ ऐसी बात नहीं है। सूर के काव्य पर विचारते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है— "यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्यक्षेत्र उतना व्यापक नहीं कि उसमें जीवन की भिन्न दशाओं का समावेश हो; पर जिस परिमित पुण्यभूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया, उसका कोई कोना अछूता न छूटा। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में इनकी दृष्टि जहाँ तक पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं।" इन कवियों ने कृष्ण के बालगोपाल और छलिया रूप को ही काव्य में चित्रित किया है। कृष्ण के बाद दूसरा चित्र है राधा का। जिस प्रकार उपदेशक, नीतिकुशल और योद्धा कृष्ण के चित्रों का अभाव है, उसी प्रकार राधा के वैयक्तिक और प्रेम-पक्ष के ही चित्र उभरे हैं, सामाजिक और लोकपक्षीय चित्र नहीं। सूर की राधा अपेक्षाकृत कोमल, भोली और स्वकीया है। यह कृष्ण के साथ विविध लीलाएँ तो करती है, पर यह आज जैसी 'रोमांटिक गर्ल' नहीं है। कृष्ण और राधा के साथ इनके माता-पिता, सखा-सखी तथा निकट के लोगों के ही चित्र मिलते हैं। कृष्णमित्रों में उद्धव का चित्र अधिक मार्मिक बन पड़ा है। उद्धव के माध्यम से बुद्धि और तर्क पर भाव की, मस्तिष्क पर हृदय की, ज्ञान पर भक्ति की और निर्गुण पर सगुण की विजय दिखायी गयी है।

(च) पात्रों की प्रतीकात्मकता—कृष्णकाव्य की विशेषता है पात्रचित्रण की प्रतीकात्मकता। राधा मधुरा भक्ति की मूर्त्ति है। वह कृष्ण से अभिन्न उन्हीं की आह्लादिनी शक्ति है। गोपियाँ भी कृष्ण से अभिन्न ही हैं। श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं। गोपियाँ जीवात्मा हैं। वृन्दावन लीलाधाम है। चीरहरण ही माया के आवरण का विनाश है। इस प्रकार, समस्त लीलाएँ ही नहीं, समस्त कृष्णकाव्य ही प्रतीकात्मक है।

(छ) **सगुण की मंडनात्मकता**— उद्धव के दूतकर्म द्वारा इन कवियों ने सगुणपक्ष की पुष्टि का प्रयत्न किया है। यहाँ निर्गुण का खंडन और सगुण का मंडन सर्वत्र एक समान पद्धति पर मिलता है। भ्रमरगीत-प्रसंग की अवतारणा के पीछे यही भावना रही है।

(ज) **रीति की प्रवृत्ति**— कृष्णभक्ति-काव्य में रीति की भी प्रमुख प्रवृत्ति रही है। 'साहित्यलहरी' और 'रसमंजरी' जैसे ग्रन्थों के प्रणयन इसी समय होते हैं। इन ग्रन्थों में रीति की प्रवृत्ति की नींव पड़ चलती है। साथ ही, कृष्ण-भक्ति की मधुरा रति से भी इसे प्रोत्साहन मिलता है, जिससे ही आगे श्रृंगार-काल की अट्टालिका हिन्दी में खड़ी होती है।

(झ) **प्रकृति-चित्रण**— सम्पूर्ण कृष्णकाव्य भावात्मक होने के कारण उद्दीपक प्रकृति के चित्रणों से भरा पड़ा है। प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण नहीं के बराबर ही हुआ है। चित्रांकन-कौशल कवियों में अधिक रहा अवश्य है। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के अनुसार— "दृश्यमान् जगत् का कोई भी सौन्दर्य उनकी आँखों से छूट न सका। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश, जलाशय, वन-प्रान्त, यमुना-कूल तथा कुंज-भवन की सम्पूर्ण शोभा इन कवियों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में निःशेष कर दी है।" इतना होते हुए भी प्रकृति के संवेदनात्मक चित्रों का इनमें प्रायः अभाव ही है। ये अनुपात की दृष्टि से कम ही हैं।

(ञ) **लोकदृष्टि**— कृष्णभक्ति-काव्य लीलावादी है। लीला लीला के लिए है। इसका लोकमंगल से विशेष सरोकार नहीं है; फिर भी उस काल के यत्र-तत्र वर्णन मिल अवश्य जाते हैं। तत्कालीन जीवन की उद्देश्यहीनता, ऐन्द्रिकता आदि की आलोचना भी यहाँ मिलती है। कलियुग-वर्णन में सामाजिक चित्र अधिक उभरे हैं। यह काव्य वैयक्तिक होकर भी लोकमंगल की भावना से पूर्णतः शून्य नहीं है। इतना तो निर्विवाद कहा जायगा कि जिस युग में मुस्लिम दमन से आक्रान्त होकर लोग जीवन से निराश हो रहे थे, उस समय इस काव्य ने जीवन में रससिक्तता प्रदान कर सरसता उत्पन्न कर दी है।

(ट) **काव्यरूप**— काव्यरूप की दृष्टि से सम्पूर्ण कृष्णकाव्य मुक्तक में है। मुक्तक के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल की मान्यता है कि वह गुलदस्ता है। तात्पर्य यह कि इसमें सौन्दर्य का कसाव अधिक होता है। मुक्तक के क्षेत्र में कृष्णभक्त कवियों ने कमाल दिखाया है। कृष्ण की सम्पूर्ण कथा, सम्पूर्ण रूप से ब्रजविलास 'सागर' में ही सम्भव हो सका है। इस काव्य में थोड़ा-बहुत गद्य भी प्रयुक्त हुआ है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' आदि इसके प्रमाण हैं। इनके अलावे, अनन्य अली (स्वप्नप्रसंग), ध्रुवदास (सिद्धान्तविचार), प्रियादास (राधा नेह) इत्यादि की रचनाएँ गद्य में हैं।

(ठ) **शैली**— शैली की दृष्टि से सम्पूर्ण कृष्णकाव्य गीतात्मक है। इसमें गीतिशैली के सभी तत्त्व—भावात्मकता, संगीतात्मकता, वैयक्तिकता, संक्षिप्तता, भाषा की कोमलता इत्यादि—प्राप्त हैं। गीतिशैली के सुन्दर निर्वाह के कारण ही आचार्य शुक्ल को लिखना पड़ा कि—"सूरसागर किसी चली आती हुई गीतिकाव्य-परम्परा का, चाहे वह मौखिक ही रहा हो, पूर्ण विकास प्रतीत होता है।"

(ड) **छन्द**— भावात्मक काव्य होने के कारण इसमें ज्यादातर गेय पद ही प्रयुक्त हैं। कथात्मक प्रसंगों में चौपाई, चौबोला, सार और सरसी छन्द प्रयुक्त दीखते हैं। कहीं-कहीं दोहा-रोला और रोला-दोहा के मिश्रित रूप भी मिलते हैं। अधिकतर कवित्त, सवैया, छप्पय, कुंडलिया, गीतिका, हरिगीतिका, अरिल्ल इत्यादि छन्द ही व्यवहृत हैं।

(ढ) **भाषा**— समस्त काव्यों की भाषा ब्रजी है। सूर और नन्ददास के हाथों ब्रजी का रूप खिल उठा है। आधुनिक काल में कृष्णकाव्य की रचना खड़ी बोली में भी हुई है। भाषा के प्रयोग में सबसे अधिक महत्त्व नन्ददास को दिया जाता रहा है। ये 'जड़िया' के नाम से विख्यात रहे हैं।

मूलतः कृष्णभक्ति-काव्य में उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ ही मिलती हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों में से कुछ अन्य प्रवृत्तियाँ अलग कर भी देखी जा सकती हैं। उदाहरण-स्वरूप, वात्सल्यवर्णन आदि को ले सकते हैं; पर इनका समावेश ऊपर की प्रवृत्तियों में ही हो जाता है। वस्तुतः कृष्णभक्ति-काव्य आनन्द और उल्लास का काव्य है। कला की दृष्टि से यह काव्य अनुपमेय है। आचार्य द्विवेदी के अनुसार, यह काव्य "मनुष्य की रसिकता को उद्‌बुद्ध करता है, उसकी अन्तर्निहित लालसा को ऊर्ध्वमुखी करता है और उसे निरन्तर रससिक्त बनाता रहता है।" पुनः इनका कथन है कि—"यह प्रेमसाधना एकांतिक है। यह अपनी भक्ति को जातिगत द्वन्द्व और कर्त्तव्यगत संघर्ष से हटाकर भगवान् के अनन्यगामी प्रेम की शरण में ले जाती है। यही इसका दोष है, क्योंकि जीवन केवल प्रेमनिष्ठा तक ही सीमित नहीं। यह केवल उसका एक पक्ष है।"

इस वर्ग के कवि और काव्य की परम्परा पर विचार करने से पता लगता है कि इसका प्रारम्भ मध्ययुग में होता है। हिन्दी के पूर्व कृष्णकाव्य संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में पनप चुका था। कृष्णलीला का वर्णन सर्वप्रथम अश्वघोष (बुद्धचरित) ने किया है। हाल की 'गाहा सत्तसई' में इससे सम्बन्धित कुछ दोहे मिल जाते हैं। आलवार सन्तों के 'प्रबन्धम्' नामक संग्रह में भी कृष्णलीला के वर्णन उपलब्ध होते हैं। पुनः 'वेणिसंहार', 'ध्वन्यालोक', 'सदुक्तिकर्णामृत', 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय', 'कंदर्पमंजरी' इत्यादि में इसकी चर्चा हो चलती है।

कृष्णकाव्य का लेखन १२वीं शती में जोर से प्रारम्भ होता है। इस समय से

आगे अनेक पुस्तकें कृष्णलीला के सम्बन्ध में लिखी जाती हैं। 'कृष्णकरणामृत', 'श्रीकृष्णलीलामृत', 'गीतगोविन्द', 'संगीतमाधव', 'गीतगोपाल', 'अभिनव गीतगोविन्द', 'हरिलीला', 'यादवाभ्युदय', 'ब्रजविहारी', 'हरिचरित्र काव्य', 'हरिविलास काव्य', 'गोपालचरित' इत्यादि अनेक पुस्तकें संस्कृत में कृष्णलीला से सम्बन्धित हैं। डॉ० सुकुमार सेन ने ब्रजबुली साहित्य के इतिहास में ऐसी अनेक पुस्तकों का उल्लेख किया है।

हिन्दी में कृष्ण से सम्बन्धित सर्वप्रथम विद्यापति के पद ही उपलब्ध होते हैं। इनके पदों में राधा और कृष्ण के नाम बार-बार आये हैं; फिर भी आज काफी विश्लेषण के पश्चात् आलोचक इसे निर्विवाद रूप से स्वीकार कर चुके हैं कि विद्यापति के पद भक्ति के नहीं, शुद्ध शृंगार के हैं। आचार्य शुक्ल ने वैसे विचारकों पर तो गहरा कटाक्ष किया है जो विद्यापति के पदों में भक्ति की धारा ढूँढ़ते हैं। फिर भी यह मानने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए कि कृष्णभक्त कवियों को काव्यविषय देने का काम किया है विद्यापति ने ही।

उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर सूरदास को हिन्दी का प्रथम कृष्णभक्त कवि कहा जाता है। अनुमानतः इनका जन्म सं० १४८३ के आस-पास है। इनकी मृत्यु १५८५ सं० के लगभग स्वीकार की जाती है। अष्टछाप के कवियों—सूरदास, कुंभनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, गोविन्दस्वामी, छितस्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास—में सूरदास ही सर्वश्रेष्ठ कवि स्वीकार किये गये हैं। ये कलाकार, संगीतज्ञ और कीर्तनकार—तीनों एक ही साथ थे। इनके सम्बन्ध में अक्सर कहा जाता है—न भूतो न भविष्यति। नन्ददास आधुनिक कवि पंत के समान शब्दशिल्पी माने जाते हैं। परमानन्ददास अपने सौरस्य और गोविन्दस्वामी अपने संगीत की मधुरता के लिए प्रसिद्ध हैं।

सूर-साहित्य के अध्ययन से ऐसा विश्वास नहीं होता कि 'सूरसागर' किसी अंधे के द्वारा लिखा गया साहित्य है। 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी' भी इन्हीं की रचनाएँ हैं। इनका क्षेत्र वात्सल्य और शृंगार रहा है। सूर की रचना "इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठन-सी जान पड़ती हैं।" इन्होंने दृष्टिकूट के पदों की भी रचना की है। प्रसंगोद्भावना की शक्ति इनमें बेजोड़ है। "सूर-सागर का सबसे मर्मस्पर्शी वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश भ्रमरगीत है, जिसमें गोपियों की वचनवक्रता अत्यन्त मनोहारिणी है। ऐसा सुन्दर उपालम्भकाव्य और कहीं नहीं मिलता।" आचार्य द्विवेदी के अनुसार, सूरसागर "महाकाव्यात्मक शिल्प है जिसका मूल मनोराग लिरिकल या गीतात्मक है।" सूर की एक ही अभिलाषा है—कृष्णलीला का गान। ये भक्तों में उद्धव के अवतार माने जाते हैं।

सूर वात्सल्य हैं और वात्सल्य सूर। इन्होंने वात्सल्य का प्रत्येक कोना देख लिया है। कृष्णकाव्य में राधा जिस प्रकार प्रेमरसरूपिणी है, उसी प्रकार यशोदा वात्सल्यरूपधारिणी। सूरकाव्य की यह अपनी विशेषता है कि पुनरुक्तियों वाला होते हुए भी वह हृदय पर दुगुना प्रभाव डालता है।

सूर का संयोग जितना सुखद और उल्लासमय है, वियोग उतना ही करुण, मर्मस्पर्शी और हृदयग्राही। "सूर का प्रेम संयोग के समय सोलह आने संयोगमय है और वियोग के समय सोलह आने वियोगमय; क्योंकि उनका हृदय बालक का था, जो अपने प्रिय के क्षणिक वियोग में अधीर हो उठता है और क्षणिक सम्मिलन में सब कुछ भूलकर किलकारियाँ मारने लगता है।" इनका वियोग-वर्णन अधिक सटीक, संयत और मनोवैज्ञानिक है। यशोदा की उक्ति— 'नन्द ब्रज लीजै ठोक बजाय' अथवा 'सँदेसो देवकी सों कहियो'—में जो व्यंजना है, वह तुलसी की कौसल्या की बातों में नहीं। आ० शुक्ल ने सूर के वियोग-वर्णन पर आक्षेप लगाते हुए लिखा है— "सूर का वियोग वियोग-वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा करते-करते किसी कुंज या झाड़ी में जा छिपते हैं या यों कहिए कि थोड़ी देर के लिए अन्तर्धान हो जाते हैं, बस गोपियाँ मूर्च्छित होकर गिर पड़ती हैं। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा उमड़ पड़ती है। पूर्ण वियोग-दशा उन्हें आ घेरती है। यदि परिस्थिति का विचार करें तो ऐसा वर्णन असंगत-सा प्रतीत होता है।" वे पुनः लिखते हैं—"सूर की गोपियों का विरह बैठे-ठाले का-सा कार्य दिखाई देता है। उनके विरह में गम्भीरता नहीं है। चार कोस पर बैठे मथुरा में कृष्ण से क्यों नहीं मिल आतीं?" दूसरे आलोचकों के अनुसार, आ० शुक्ल का यह आक्षेप मात्र आक्षेप के लिए ही है। शायद यह आक्षेप सूर से तुलसी को ऊपर उठाने के लिए है। सच देखा जाय तो विरहिणी गोपियों के हृदय में नारिसुलभ मान है। वे अपनी जिद पर अड़ी हैं— हम क्यों जायँ, वे क्यों नहीं आ सकते? गुप्तजी की 'यशोधरा' के अनुसार, 'भक्त कहीं जाते नहीं, आते हैं भगवान" वाली उक्ति ही यहाँ है। सूर के विरह में 'इन्तहाए लागरी' और बिहारी की 'पेण्डुलम' जैसी नायिका वाली अतिरंजना नहीं है। यह वियोग गम्भीर है, चूँकि इसका संयोग एकाध दिन का नहीं, क्रमिक विकास का है— 'लरिकाई कौ प्रेम कहौ अलि कैसे छूटै।' जहाँ तुलसी का मानस भक्तों और साहित्यसेवियों के लिए ही है, वहाँ सूर का 'सागर' भक्त, साहित्यसेवी, सहृदयों, संगीतरसिकों इत्यादि सबके लिए है। विशुद्ध काव्यात्मक दृष्टि से सूर अन्यतम हैं।

सूर के पश्चात् महत्त्वपूर्ण कवि हैं नन्ददास। इनका जीवनवृत्त भी अन्धकार-मय ही है। शैली के क्षेत्र में ये सूर से आगे हैं, किन्तु अन्य बातों में इन्हें पीछे ही रखना चाहिए। प्रसिद्ध रचनाएँ 'भँवरगीत', 'रास पंचाध्यायी' और 'रसमंजरी' हैं।

इन्होंने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का विवेचन सूर से अधिक किया है। इनकी गोपियाँ तार्किक हैं। आप प्रकांड पंडित, रीतिविशेषज्ञ और शैलीकार के रूप में सदा स्मरणीय रहेंगे।

अष्टछाप के पश्चात् कृष्णभक्त कवियों में हितहरिवंश उल्लेखनीय हैं। पहले ये मध्वानुयायी ही थे; पर बाद में इन्होंने राधावल्लभी सम्प्रदाय स्थापित किया। स्फुट रचनाओं के अतिरिक्त इनका ग्रन्थ 'हित चौरासी' उपलब्ध है। 'हित चौरासी' उत्तम रचना है।

कृष्णभक्त कवियों में काव्यकोकिला मीरा महत्त्वपूर्ण रही है। इसकी जीवनी भी असंदिग्ध नहीं है। इसने लोक-लाज, वंश-मर्यादा आदि को भक्ति के आगे त्याग दिया था। गीतिकाव्य की दृष्टि से इसकी रचनाएँ आदर्श हैं। मीरा गिरिधर गोपाल की प्रेमयोगिनी है। इसकी रचनाओं में दो प्रकार के दृष्टिकोण मिलते हैं। प्रथम प्रकार के पदों में माधुर्यभाव की उपासना है। दूसरे प्रकार के गीतों में सन्तों के प्रभाव लक्षित होते हैं। इसकी भाषा राजस्थानीमिश्रित ब्रजी है।

मुसलमान कवि रसखान साक्षात् रस की खान ही हैं। ये गोस्वामी विठ्ठलनाथ के शिष्य थे। इनके काव्य में सूफियों का प्रभाव भी मिलता है। इनके अलावा चाचा हित वृन्दावनदास, ध्रुवदास, नरोत्तमदास, गंग, बलभद्र मिश्र, सेनापति, रहीम इत्यादि हुए जिनकी रचनाएँ कृष्णभक्ति-काव्य के अन्तर्गत आती हैं। इन कवियों में शृंगार, भक्ति और नीति की त्रिवेणी-सी मिलती है। नरोत्तमदास-कृत 'सुदामा-चरित' मार्मिक रचना है। रहीम अकबरी दरबार के कवि थे। इनका सांसारिक अनुभव विशद था। इसी से इनकी नीति के दोहे ही अधिक प्रचलित हुए।

शृंगार-काल में हितहरिवंश की परम्परा में ध्रुवदास ने चालीस ग्रन्थों की रचना की है। घनानन्द ने भी कृष्णभक्ति के पद लिखे हैं। श्री हठीजी में भक्ति-भाव का सुन्दर निरूपण हुआ है। शृंगार-काल के अनेक कवियों ने फुटकर तौर पर अपनी वृद्धावस्था में अथवा काव्य की रसिकता को छिपाने के लिए भक्ति के पद लिखे हैं। ये शृंगारसंवलित भक्ति के ही उदाहरण हैं। इस समय अलौकिक शृंगार पूर्णतः लौकिक बन चुका था। भक्तिकाल के राधा और कृष्ण सामान्य नायिका और नायक बन चुके थे। कविता राधा और कृष्ण के स्मरण का बहाना बन गयी थी। कन्हैया, साँवरिया, लला इत्यादि शब्द के अर्थ परिवर्त्तित हो चुके थे। 'रुक्मिणी-परिणय' में महाराज रघुराज सिंह ने भागवत को आधार बनाकर कृष्ण-रुक्मिणी विलास प्रसंग में कमरे का वर्णन शाही शयनागार-जैसा कर दिया है।

और, तब आते हैं नवयुग के चेता भारतेन्दु। इन्होंने अपने को 'सखा प्यारे कृष्ण के' और 'गुलाम राधारानी के' घोषित किया। इनके राधा-कृष्ण सम्बन्धी पदों में सच्चे भक्त हृदय का प्रतिफलन हुआ है।

खड़ी बोली के युग में रत्नाकर और कविरत्न सत्यनारायण जी ने ब्रजी में रचनाएँ कीं। 'उद्धवशतक' और 'भ्रमरदूत' इस कड़ी की अन्यतम रचनाएँ हैं। सत्यनारायण ने राधा को आधुनिक देशसेविका के रूप में चित्रित किया तथा यशोदा को भारत-माता का रूप दे डाला है। रत्नाकरजी में सूर की स्वाभाविकता, नन्ददास की तार्किकता और सत्यनारायण की आधुनिकता के एकत्र दर्शन होते हैं। इनकी कुछ उक्तियाँ सूर की उक्तियों को भी मात करती हैं। इन्होंने भावों के सबल चित्रांकन में भी गीततत्त्व का अनूठा निर्वाह किया है।

यद्यपि गुप्तजी रामभक्त हैं, फिर भी कृष्णकाव्य की परम्परा में इन्होंने 'द्वापर' की एक कड़ी जोड़ दी है। इनका भ्रमरगीत-प्रसंग सुन्दर बन पड़ा है।

बीसवीं शती में विषयों का प्रतिपादन किस नवीन प्रकार से हुआ, इसका सफल उदाहरण हरिऔध के 'प्रियप्रवास' में मिलता है। यह एक युगप्रवर्त्तक काव्य है। 'प्रियप्रवास' का कृष्ण मात्र माखन चुराने वाला और गोपियों को छकाने वाला ही नहीं, वह दुखियों का त्राता और लोकनायक भी है। राधा वियोगाश्रु टपकाने वाली साधारण नारी नहीं, बल्कि जनहित में संलग्न सफल महिला है।

छायावाद-युग में कृष्णकाव्य की धारा लुप्त-सी हो गयी है। फिर भी पं० द्वारिका प्रसाद मिश्र ने अवधी में 'कृष्णायण' की रचना कर कृष्णभक्ति-काव्य में एक नयी कड़ी जोड़ने का प्रयत्न किया है। इससे पता चलता है कि कृष्णभक्ति-काव्य की धारा हिन्दी में विद्यापति से जो प्रवाहित होती है, वह बढ़ती-रुकती आज तक चली आती है। आज प्रयोगवाद और नयी कविता के युग में इस धारा का विकास अवरुद्ध हो गया है।

समग्र रूप से कृष्णभक्ति-काव्य पर विचारने के पश्चात् कुछ विद्वानों ने इस काव्य में निहित कतिपय समस्याओं की ओर संकेत किया है। इनमें तीन समस्याएँ प्रधान हैं—भक्ति और शृंगार का सम्बन्ध, रस की दृष्टि से भक्तिरस अथवा शृंगाररस की व्याप्ति और समाजदृष्टि।

भक्ति और शृंगार के सम्बन्ध पर विचारने के पूर्व भक्ति पर विचार कर लेना आवश्यक है। शाण्डिल्य के अनुसार, भक्ति 'परानुरक्तिरीश्वरे' और नारद के अनुसार 'प्रेमस्वरूपा' है। वल्लभाचार्य ने 'स्नेहो भक्तिरिति' लिखकर सतत स्नेह को ही भक्ति के रूप में स्वीकार किया है। आ० शुक्ल ऊपर की सभी मान्यताओं का समाहार करते हुए लिखते हैं— "श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।"

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भक्ति एक जटिल भावना (Complex sentiment) है। इसमें आत्मदैन्य और प्रेम—दो भावों का सम्मिश्रण आवश्यक है। मैक्डूगल द्वारा गिनायी गयी तेरह प्रवृत्तियों में भक्ति में आत्मसमर्पण की प्रवृत्ति

(Instinct of submisson) होती है। अस्तु, मनोविज्ञान के अनुसार भक्ति का क्षेत्र शृंगार से भिन्न होना चाहिए; किन्तु वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के आचार्यों द्वारा अन्य सम्प्रदायों का अनुकरण करते हुए भक्ति के भेद-प्रभेद किये गये हैं तथा उनमें कुछ ऐसे स्वरूप भी स्थिर किये गये हैं जिनमें शृंगारिकता का पूरा समन्वय हो सके।

भक्ति के दो भेद— वैधी और रागानुगा— मुख्य हैं। भक्त के भावनानुसार रागानुगा भक्ति के— शान्त, दास्य, सरल, वात्सल्य और मधुर— पाँच भेद किये गये हैं। विभिन्न सम्प्रदायों ने इसे अलग-अलग ग्रहण किया है।

अब विचारणीय यह है कि क्या भक्ति के उपर्युक्त भेद उचित हैं? गम्भीर विवेचन के पश्चात् यह विभाजन महत्त्वशून्य प्रतीत होता है। यदि भक्ति स्वयं श्रद्धामिश्रित प्रेम का पर्याय है, तो फिर 'रागानुगा', 'प्रेमलक्षणा' आदि विशेषणों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। इसी प्रकार, जिस उपासना में शुष्क कर्म-काण्ड या मात्र विधि-निषेध ही है, तो वह भी भक्ति नहीं कही जायगी, तपस्या अथवा और कुछ भले ही कही जाय। अस्तु, 'वैधी' जैसा वर्गीकरण भी बेकार लगता है। भक्ति मात्र एक ही प्रकार हो सकती है जिसमें श्रद्धामिश्रित प्रेम अनिवार्य रूप से हो। अतः 'वैधी' और 'रागानुगा' आदि भेद बेकार हैं।

पुनः रागानुगा भक्ति के भेदों पर विचार करने से पता चलता है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सख्य, वात्सल्य और माधुर्य आदि भावों की भक्ति हो ही नहीं सकती; चूँकि भक्ति में श्रद्धामिश्रित प्रेम होता है और वात्सल्य में कृपामिश्रित स्नेह। भक्ति सदा अपने से उच्च एवं पूज्य के प्रति सम्भव होती है और वात्सल्य अपने से छोटों के प्रति। अस्तु, वात्सल्य और भक्ति के आलम्बन एक नहीं हो सकते। नारद-भक्तिसूत्रादि में वात्सल्य से तात्पर्य अपने को ईश्वर का शिशु मानना ही है, जब कि मध्यकालीन आचार्यों ने इसे उलट दिया है। वे ईश्वर को ही शिशु मानने लगे हैं, जो असंगत है। दूसरी बात यह कि सूर आदि के पदों में बाललीला के चित्रों में नन्द-यशोदा का वात्सल्य है, न कि सूर आदि भक्तों का। यही बात सख्य और माधुर्य के बारे में भी कही जायगी।

अस्तु, भक्त और उसके आराध्य के सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए मात्र भक्ति शब्द ही पर्याप्त है। भक्ति के भेद-प्रभेद बेकार हैं। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त जी के अनुसार कहा जायगा कि "शान्त और दास्य में भावावेग का अभाव होता है, सख्य और वात्सल्य में पूज्य बुद्धि का और दाम्पत्य में सम्बन्ध की सूक्ष्मता— मानसिकता और पवित्रता का लोप हो जाता है, अतः हम भक्ति के सभी उपभेदों— शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और दाम्पत्य—को भ्रामक समझते हैं। हमारी दृष्टि में सूरदास और तुलसीदास के वर्ण्य विषयों में एवं आराध्यों के स्वरूप में अन्तर है,

किन्तु भक्तिभावना दोनों की एक जैसी है।"

कृष्णभक्ति-काव्य के साथ दूसरी प्रमुख समस्या है रस की। कुछ विचारक राधा-कृष्ण की मधुर क्रीड़ा के चित्रण को भक्तिरस या व्रजरस के अन्तर्गत रखते हैं और कुछ दूसरे विचारक इसमें विशुद्ध रस की अनुभूति पाते हैं। 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' और 'उज्ज्वल नीलमणि' के रचयिता रूप गोस्वामी ने 'मधुरा रति' को स्थायी भाव मानकर 'उज्ज्वल-रस' की कल्पना की है। उज्ज्वल-रस के विवेचन केअन्य अंगों पर विचारने से स्पष्ट है कि इसका शृंगार-रस से तात्त्विक अन्तर नहीं है, स्वयं आचार्य भरत ने ही शृंगार के लिए 'उज्ज्वल' शब्द प्रयुक्त किया है। अस्तु, दोनों में नाम का अन्तर होने पर भी उज्ज्वल-रस में शृंगार के ही सारे स्थूल कार्य—संयोग, आलिंगन, चुम्बन इत्यादि ही वर्णित हैं। आ० द्विवेदीजी शृंगार-रस का विरोध दूसरी रीति से करते हैं— "पर यह न समझना चाहिए कि आलंकारिकों के शृंगार और शान्त रस वही हैं जो भक्तों के। दोनों में तात्त्विक भेद है। पहले जडोन्मुख होते हैं, दूसरे चिन्मुख।" पर वस्तुतः कृष्णकाव्य के पर्यालोचन से यह कथन भ्रम-सा प्रतीत होता है। अस्तु, यह भी उलझन ही है। इसी से कुछ विचारक कृष्णकाव्य में विशुद्ध शृंगार-रस ही मानना चाहते हैं।

तीसरी समस्या है लोकदृष्टि की। कुछ लोग इसे हिन्दू-समाज के लिए हितकर और कुछ लोग अहितकर मानते हैं। सूक्ष्म पर्यालोचन से पता चलता है कि कृष्णभक्तों ने जहाँ भक्ति की रागिनी फूँकी, वहाँ शृंगार-चित्रण द्वारा रीति तत्त्वों का खुलकर प्रयोग किया। 'साहित्यलहरी', 'रसमंजरी', 'शृंगाररस-मंडन' इत्यादि ग्रन्थों में नायिकाभेद और रति के सांगोपांग विवेचन हुए। 'उज्ज्वल नीलमणि' द्वारा इन्हें प्रामाणिकता भी मिल गयी। सोचना यह है कि साधु-सन्तों द्वारा ही जब ऐसे विषयों को पनपाया गया, तो सामान्य जनता की क्या बात की जाय। इसी का विकास है शृंगार-काल।

दूसरी बात यह है कि भक्तिकाव्य के मधुर प्रवाह के बीच रति, विपरीत-रति आदि के नग्न दृश्य भी चित्रित हुए। सूर-जैसे भक्त ने भी 'रूपे संग्राम रति खेत नीके' तथा 'भुज पकरत मोरी अँगिया टटोवत छूवत छतियाँ पराई' जब इस प्रकार की उक्तियाँ कहीं, तो दूसरों की बात क्या की जाय। अन्तस्साक्ष्य से भी ऐसा पता मिलता है कि महाप्रभु बल्लभ के तिरोधान के पश्चात् मन्दिर का वातावरण परिवर्त्तित हो गया था। श्रीनाथजी के मनोरंजन के निमित्त आगरे से वेश्याएँ बुलायी जाती थीं। बेचारे विठ्ठलनाथ ने जब कृष्णदास अधिकारी और महिला गंगा-बाई के गुप्त सम्बन्धों का विरोध किया, तो उन्हें मन्दिर से बाहर निकाल दिया गया। वल्लभ सम्प्रदाय में गोसाइंयों को श्रीकृष्ण का रूप समझा गया तथा ऐसी घोषणा की गयी कि इनके प्रति भी आत्मसमर्पण किया जा सकता है। आ० शुक्ल के अनुसार,

"मन्दिरों की प्रशंसा केसर की चक्कियाँ चलें—कहकर होने लगी।" इन सबों का समाज पर बुरा प्रभाव पड़ा। इसी की देखादेखी रामभक्ति में मधुरोपासना प्रारम्भ हो गयी और परवर्त्ती रामकाव्य में भी 'नीवी करसत बरजत प्यारी' जैसे पद लिखे जाने लगे। इससे समाज का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया। अस्तु, यह विचारणीय है कि कृष्णभक्ति-काव्य ने भारतीय समाज के विकास में योगदान किया अथवा इसने उसे तेजी से पतन की ओर उन्मुख किया। इसके समाधान में कुछ न कहते हुए भी मात्र इतना ही कहा जायगा कि भक्ति और शृंगार विरोधी हैं। पुनः, जीवन में शृंगार की भी एक आवश्यकता है, किन्तु······।

इस पर्यालोचन के पश्चात् हिन्दी कृष्णभक्ति-काव्य के सम्बन्ध में कुछ कहना नहीं रह जाता है। इस काव्य का महत्त्व तो स्पष्ट ही है कि घर से दूर मन्दिरों में घर बनाकर ही नहीं, मन्दिर को राजमहल में परिणत कर रहने वाले संन्यासी काव्य साधना में किस प्रकार तत्पर थे। इस काव्य में न तो अधिक उलझनमयी दार्शनिक गुत्थियाँ हैं और न शुष्क उपदेशों का प्रतिपादन, सर्वत्र भावात्मकता ही मिलती है। तत्कालीन लोकजीवन का प्रतिबिम्ब राधा-कृष्ण के वर्णन में मिल जाता है। नैतिकता, मर्यादा एवं लोकमंगल की उपेक्षा के कारण इसका प्रभाव जनता पर उत्तम नहीं हुआ। इस काव्य की उज्ज्वलता तो नष्ट हो ही गयी, साथ ही अश्लीलता का काजल भी समाज को काला बनाने लगा। निश्चय ही आधुनिक युग में कृष्ण-काव्य-कर्त्ताओं ने उन कमियों को पूर्ण करने का सतत प्रयास किया है, जिनका इसमें अभाव रह गया था।

११

हिन्दी-काव्य में भ्रमरगीत-परम्परा

[अर्थ—वर्गीकरण—रूप—पद्य—उद्देश्य—उत्स—कथा—भक्तिकाल—रीतिकाल—आधुनिक युग]

अन्य काव्य-रूपों और काव्य-परम्पराओं की तरह ही 'भ्रमरगीत'-काव्य का भी हिन्दी-काव्य में अपना वैशिष्ट्य है। 'भ्रमरगीत' का शाब्दिक अर्थ निम्नांकित रूपों में समझा जा सकता है—(१) भ्रमर के गीत अर्थात् भ्रमर के प्रति लिखे गये गीत और (२) भ्रमर से सम्बन्धित गीत अर्थात् वैसे गीत जो भ्रमर को लक्ष्य कर लिखे तो जायँ किन्तु उनके द्वारा संकेत किसी अन्य का किया जाय। हिन्दी-काव्य में जब 'भ्रमरगीत' का प्रसंग आता है, तो द्वितीय अर्थ का ही द्योतन होता है। यह काव्य एक विशिष्ट प्रसंग से सम्बद्ध है। मथुरेश कृष्ण ने उद्धव के द्वारा व्रजवासियों को संदेश भेजा। व्रजवासियों, मूलतः गोपियों ने उद्धव के समक्ष भ्रमर को लक्ष्य कर उपालम्भ दिये, जिनका अप्रत्यक्ष सम्बन्ध मथुरेश कृष्ण से है। इसी प्रसंग की गीतात्मक अभिव्यक्ति 'भ्रमरगीत' के नाम से विख्यात है। अस्तु, 'भ्रमरगीत' गोपी-उद्धव-संवाद का सूचक है। संवाद में उपालम्भ के आधिक्य के कारण इसे लोग उपालम्भ-काव्य भी कहते हैं। कतिपय विद्वानों और शोधकों ने समस्त उपालम्भ-काव्य को 'भ्रमरगीत'-काव्य कहा है। वस्तुतः यह भ्रम है, सत्य नहीं। समस्त 'भ्रमरगीत'-काव्य उपालम्भ-काव्य कहे जा सकते हैं; किन्तु समस्त उपालम्भ-काव्य 'भ्रमरगीत'-काव्य नहीं कहे जा सकते।

वर्ण्य विषय की व्याप्ति के आधार पर इसे विप्रलम्भ-काव्य कहा जायगा। इस गीतिमाला में गोपियों की तीव्र विरह-वेदना व्यंजित है। वियोग-वर्णन के निमित्त, उपालम्भ के निमित्त भ्रमर का चुनाव भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। फूल खिलते हैं। उनपर भौंरे मँडराते हैं। उनका रस चूसकर ये उड़ जाते हैं और पुनः लौटकर ताकते भी नहीं हैं। अस्तु, भ्रमर रसिकवृत्ति के प्रतीक हैं। कृष्ण के लिए भी यही बात कही जायगी। कृष्ण और गोपियों का सम्बन्ध भ्रमर-पुष्प-सम्बन्ध के समान ही है। भ्रमर की कई अन्य विशेषताएँ भी कृष्ण में मिल जाती हैं। अस्तु, इस प्रसंगविशेष के लिए भ्रमर का चुनाव निश्चय ही सटीक ठहरता है।

उपलब्ध भ्रमरगीतों का वर्गीकरण तीन रूपों में सम्भव है। अधिकांश

है। डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने इस सम्बन्ध में एक अन्य मत भी दिया है कि भागवतकार के 'भ्रमरगीत' का उद्देश्य यह भी है कि उपेक्षित निम्न जाति की नारियों के भगवत्प्रेम को किसी भी प्रकार 'धर्म के ठेकेदार' स्वीकार कर लें। इसकी पुष्टि के निमित्त उन्होंने एक श्लोक भी उद्धृत किया है। अस्तु, ज्ञान पर प्रेम की विजय, निर्गुण पर सगुण की स्थापना मात्र समसामयिक उद्देश्य ही है। आधुनिक काल में लिखे गये कतिपय 'भ्रमरगीत' भी इसी बात की पुष्टि करते हैं। वस्तुतः 'भ्रमरगीत' का जो उद्देश्य सूरदास आदि के समक्ष था, वही उद्देश्य सत्यनारायण कविरत्न आदि के समक्ष नहीं था।

हिन्दी-'भ्रमरगीत'-काव्यपरम्परा की चर्चा के पूर्व संक्षेप में इसके मूल उत्स की चर्चा भी अनिवार्य है। इसके मूल उत्स की चर्चा करते समय लोग श्रीमद्भागवत पुराण के दशम स्कन्ध के ४६-४७ अध्याय में वर्णित गोपी-उद्धव-संवाद की चर्चा करते हैं। यहाँ 'भ्रमरगीत'-सम्बन्धी दस श्लोक उपलब्ध होते हैं। इनमें विरहवेदना, दैन्य, उपालम्भ इत्यादि का मार्मिक रूप उपलब्ध है। पर, भारतीय साहित्य में प्रेम के क्षेत्र में भ्रमर का उल्लेख इससे पूर्व कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में उपलब्ध है। यहाँ शकुन्तला के शरीर पर बैठे भ्रमर को देख दुष्यन्त में स्वाभाविक ईर्ष्या जगती है। शकुन्तला से विवाह कर लेने के पश्चात् दुष्यन्त को पहली रानी का उपालम्भ सुनने को मिलता है। यहाँ भी उपालम्भ भ्रमर के व्याज से ही दिया गया है। ऐसा ही उपालम्भ 'गाहा सत्तसई' में भी उपलब्ध है—

तइआ क अच्छ महुअर न रमसि अण्णासु पुप्फ जाईस।
बद्ध भार कुरई मालई एंह्रि परिच्छ असि॥ १-९२।

इससे स्पष्ट है कि उपालम्भ के निमित्त भ्रमर हिन्दी में परम्परित रूप में ही ग्रहीत है। भागवत का भ्रमर भी रसिक प्रेमी ही है। हाँ, यहाँ एक बात और द्रष्टव्य है कि भागवतकार ने भ्रमर को कृष्ण का प्रतिरूप नहीं, उद्धव का ही प्रतिरूप माना है। यहाँ भ्रमर को गोपियाँ कृष्ण के कपटी सखा के रूप में मानती हैं। यहाँ गोपियों के व्यंग्य का लक्ष्य उद्धव ही बनते हैं। इस प्रसंग पर विचार करने के पश्चात् भागवतकार को पौराणिक कहना श्रेयस्कर नहीं जँचता, कवि कहना ही उत्तम प्रतीत होता है।

हिन्दी में 'भ्रमरगीत' की परम्परा के प्रवर्त्तन का श्रेय सूरदास को प्राप्त है। सूर से यह परम्परा प्रारम्भ होकर आगे अबाध रूप में चल पड़ती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस प्रसंग को लेकर इसके पूर्व हिन्दी में कुछ लिखा ही नहीं गया है। बात ऐसी नहीं है। मागधी काव्य के प्रणेता मैथिलकोकिल विद्यापति ने भ्रमर और कली की चर्चा अनेक स्थलों पर की है; किन्तु जिस विशिष्ट अर्थ में 'भ्रमरगीत' चल पड़ा, निश्चय ही उस अर्थ में विद्यापति का स्थान गौण ही है।

यद्यपि भ्रमर का उल्लेख इन्होंने भी रसिक प्रेमी के अर्थ में ही किया है; किन्तु गोपी-उद्धव-संवाद से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अस्तु, अनुसन्धायक विद्यापति को 'भ्रमरगीत'-परम्परा में स्थान नहीं देते हैं।

सूर ने 'भ्रमरगीत' के रूप में जिस परम्परा का प्रवर्त्तन किया, वह भक्ति-काल से शुरू होकर आधुनिक युग में अद्यतन काल तक चलती ही रहती है। भक्ति-युग में अष्टछाप के कवियों ने तो 'भ्रमरगीत' की रचना की ही, रामभक्त तुलसी और निर्गुण सन्त बाबा मलूकदास भी इसे न छोड़ सके। इस क्रम में हरिराम, परमानन्ददास, हित वृन्दावनदास, रसखान, मुकुन्ददास, घासीराम, रहीम इत्यादि की भी स्फुट रचनाएँ मिलती हैं। पर, प्रमुखता मिली है केवल सूरदास और नन्ददास को ही। दोनों की रचनाओं का अपना अलग-अलग वैशिष्ट्य है। इनमें 'को बड़ छोट कहत अपराधू' की बात ही है।

सूर के 'सागर' में तीन 'भ्रमरगीत' मिलते हैं। प्रथम दो रचनाएँ संक्षिप्त हैं और अन्तिम विस्तृत। प्रथम रचना चौपाई छन्द में है। यह भागवत के 'भ्रमर-गीत' के अनुवदन का अनुधावन कहा जायगा। द्वितीय 'भ्रमरगीत' पदों में रचित है। इसमें भ्रमर के आने का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। इन दोनों भ्रमरगीतों में नन्ददास की-सी तार्किकता स्पष्ट है। तीसरे 'भ्रमरगीत' में लगभग चार सौ पद हैं।

सूर के 'भ्रमरगीत' की प्रेरणा का मूल स्रोत है भागवत पुराण। कृष्ण मथुरा चले गये हैं। वे मथुरेश बन चुके हैं। यशोदा का वात्सल्य और गोपियों का प्रेम भूल चुके हैं। विरहिणी गोपियाँ विरह में जल रही हैं। वे संदेश प्रेषित करती हैं। इसी से उस राह पर पथिकों ने चलना बन्द कर दिया है। पर, कृष्ण मथुरेश जो ठहरे, उनके कानों पर जूँ भी नहीं रेंगती। आखिर गोपियों के संदेशों से मधुवन के कूप भर गये, तब कहीं जाकर कृष्ण को उनकी याद हो आयी। वे उद्धव को ज्ञान की गठरी देकर गोपियों को समझाने के निमित्त भेजते हैं। ज्ञान के मार्त्तण्ड उद्धव बुद्धि की गठरी में तर्क-जाल लेकर गोकुल आये। कृष्ण-मित्र को देखते ही गोपियाँ दौड़ पड़ीं। कुशल-क्षेम से वार्त्ता प्रारम्भ हुई। उद्धव लगे विष-बुझे तीर छोड़ने, ज्ञान बघारने। गोपियों का हृदय जला हुआ तो था ही, ऊपर से नमक के इस छिड़काव ने वेदना को और भी तीव्र कर दिया। और लो, भ्रमर भी आ पहुँचा। फिर बाकी क्या रहा? गोपियाँ उपालम्भ के रूप में अपना आक्रोश व्यक्त कर चलीं। यही 'भ्रमरगीत' का मूल विषय है। पहले गोपियाँ सरल किन्तु सशक्त ढंग से उद्धव की बातों का विरोध करती हैं—

> ऊधौ जोग बिसरि जनि जाहु।
> बाँधउ गाँठि कहूँ जनि छूटै, फिर पाछे पछिताहु।

भोली गोपियों के लिए ब्रह्म का निर्गुण रूप समझ पाना असम्भव है। वे समझ

नहीं पातीं। इसी से पूछती हैं—

निर्गुन कौन देस को बासी।
मधुकर हँसि समुझाई सौंह दै बूझति साँच न हाँसी।

ऐसे प्रश्नों का उत्तर उद्धव दें तो क्या दें। वे निरुत्तर रह जाना ही उत्तम समझते हैं। ठहरे ज्ञानी और पड़े पाले गँवारिनों के। सारा ज्ञान हेठ हो चला। गोपियाँ व्यंग्य कर चलतीं हैं। आज भले ही मँगनी के बैल लेने वाले उनके दाँत न देखें, किन्तु सूर की गोपियाँ ऐसी नहीं। वे मुफ्त का सौदा—योग नहीं चाहतीं। फिर मुफ्त है कहाँ? यहाँ तो कृष्ण को देना और योग को लेना है। कृष्ण के बदले योग? भला, यह भी कहीं हुआ है— 'हाटक' (अच्छी वस्तु— कृष्ण) देकर कोई 'फाटक' (निकृष्ट वस्तु—योग) क्यों लेना चाहेगा? अस्तु, विनिमय हो तो कैसे?—

आयौ घोष बड़ो व्यापारी।
लादि खेपि गुन ग्यान जोग की ब्रज में आय उतारी।
फाटक देकर हाटक माँगे भोरे निपट सुधारी।

इसी से वे उद्धव से प्रार्थना करतीं हैं— 'ऊधोजी हमहिं न जोग सिखैये', क्योंकि उनकी 'अँखियाँ हरि दरसन की भूखी' हैं। इसी से वे पुनः कहतीं हैं— 'कैसे रहें रूप रस राँची, ये बतियाँ सुनि रूखी'। मात्र आँखों की ही समस्या तो है नहीं। निर्गुण की आराधना के लिए मन भी रहे तब तो। मन 'दस-बीस' तो है नहीं, है तो वह एक ही; सो भी कृष्ण के साथ ही चला गया है—

ऊधौ मन नाहीं दस बीस।
एक हुतौ सो गयौ स्याम सँग को आराधै ईस।

बात इतनी ही नहीं है। गोपियाँ हैं गँवारिन। योग समझें तो कैसे? दूसरी बात यह कि वे युवती भी हैं। योग युवतियों के लिए तो है नहीं। इसी प्रकार की अनेक बातें गोपियाँ कह चलती हैं। जब इस पर भी उद्धव का ज्ञानचक्र चलता ही जाता है, तब वे थोड़ा चिढ़ जाती हैं—

ऊधौ मन माने की बात।
दाख छुहाड़ा छाँड़ि करि बिस कीरा बिस खात।

पर शीघ्र ही गोपियाँ अपनी भूल समझ लेतीं हैं और वे पुनः विनम्र हो जातीं हैं, पूछतीं हैं—

रेख न बरन नहिं जाके ताको हमें बतावत।
अपनी कहौ दरस ऐसे को तुम कबहूँ हौ पावत।

इन भोली उक्तियों से उद्धव भी प्रभावित हो जाते हैं और ज्ञान को भूलकर कृष्णमय हो जाते हैं।

काव्यत्व की दृष्टि से सूर का 'भ्रमरगीत' अधिक स्वाभाविक बन पड़ा है।

इसमें सर्वत्र व्यंग्य, उपहास, मनुहार, क्रोधपूर्ण तिरस्कार और शोकाश्रु की अभि-व्यक्ति के कारण भावों की विविधता मिलती है। सूर की वचनवक्रता का यह उत्तम उदाहरण है।

सूर के पश्चात् इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है नन्ददास की। नन्ददास के 'भँवरगीत' में तर्क और बुद्धि का सहारा अधिक लिया गया है। लोग ऐसा भी कहने लगे हैं कि इन्होंने सूर की कमी को पूरा किया है। ज्ञान के खण्डन के निमित्त सूर ने भावात्मक दृष्टिकोण से काम लिया है, पर नन्ददास ने गोपियों को इसके लिए तर्क-कर्कश बना दिया है। इसी से इसमें काव्यत्व का अवयव कुछ मर-सा गया है। नन्द की गोपियाँ पूर्वार्द्ध में अधिक तार्किक हैं; किन्तु उत्तरार्द्ध में सूर की गोपियों के समान ही वे भी भावुक हो गयी हैं। नन्ददास के उद्धव की बानगी देखिए—

यह सब सगुन उपाधि रूप निरगुन है उनको।
निर्विकार निरलेप लगत नहिं तीनों गुन को।

और यह है गोपियों का तर्क—

जो मुख नाहिन हुतौ कहौ किन माखन खायौ।
पायन बिन गो संग कहौ बन बन को धायौ॥

उद्धव का तर्क आगे बढ़ता है—'जो उनके गुन होय वेद क्यों नेति बखानै', तो गोपियाँ नहले पर दहला फेंकती हैं—

जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते।
बीज बिना तरु जमै मोहिं तुम कहौ कहाँ ते॥

इससे स्पष्ट है कि जहाँ सूर की गोपियाँ गाँव की भोली-भाली नारियाँ है, वहाँ नन्ददास की गोपियाँ तर्क-कर्कश आधुनिका। वे भावुक हैं, ये तार्किक। उनकी पुकार 'मौन मधि' है, इनकी मुखर। वे प्रेमिका तो हैं पर मूक; किन्तु ये वाचाल ही नहीं चाचाट हैं। इसी से उनका आक्रोश उपालम्भ तक ही सीमित है, किन्तु ये 'षट्पद पिसुन', 'मरत कै बोल' आदि भी कहती हैं। निश्चय ही नन्ददास की काव्यकला सूर की अपेक्षा निस्तेज है; किन्तु जहाँ तक बौद्धिकता, तार्किकता, आलंकारिकता और भाषा की चुस्ती आदि का प्रश्न है, नन्ददास सूरदास को पीछे छोड़ जाते हैं। इसी से तो प्रचलित है कि 'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया।'

रामभक्त तुलसी-रचित कृष्णगीतावली में 'भ्रमरगीत' के पद मर्यादावादी अधिक हैं। तुलसी की गोपियों में सर्वत्र एक झिझक मिलती है। वे लज्जाशीला हैं; किन्तु विश्वासमयी भक्तनारियाँ होने के कारण अपने सिद्धान्त पर अडिग हैं। वे 'मुक्ति' और 'युक्ति' को प्रेम पर न्योछावर करने को सदा तत्पर हैं।

भक्तिकाल के पश्चात् रीतिकालीन कवियों ने भी 'भ्रमरगीत' का प्रसंग

उठाया है। यहाँ इसका पोस्टमार्टम भर मिलता है। ऐसे कवियों में चाचा वृन्दावन, ब्रजनिधि, रसनायक, पद्माकर इत्यादि की गणना की जा सकती है। अक्षरअनन्य, बरकत उल्ला, प्रेमी, आलम, नागरीदास, ब्रजवासीदास इत्यादि के पद भी इस सम्बन्ध में मिलते हैं। इनकी उक्तियों में वैचित्र्य तो है पर गहनता नहीं। निर्गुण पर सगुण की विजय यहाँ भी होती है; पर यह पाठकों को अभिभूत नहीं करता, चमत्कृत भर करता है। वस्तुतः रीतिकालीन 'भ्रमरगीत' काव्य आत्मा के अभाव में आत्म-हीन काव्य हो गया है।

अब आता है आधुनिक युग। इस समय तक परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। साहित्य धर्माश्रय और राजाश्रय को छोड़ जनाश्रय प्राप्त करता है। जनता के दुःख-दर्द का चित्रण साहित्य में हो चलता है। अस्तु, 'भ्रमरगीत' भी अपना पुराना चोगा उतारकर नवीन भूल पहनता है। आधुनिक युग के जनक भारतेन्दु ने 'भ्रमरगीत' के पदों की योजना तो की, किन्तु वह उक्ति की नवीनता के अलावे और कुछ नहीं है। प्रेमघन के कुछ पद भी ऐसे ही हैं। इस युग में 'भ्रमरगीत' को सर्वथा नवीन रूप देने का काम किया है सत्यनारायण कविरत्न ने। इन्होंने अपने 'भ्रमरदूत' में बिल्कुल मौलिक प्रयत्न किया है। इसमें नवीनता-ही-नवीनता है। न यहाँ उद्धव हैं, न गोपियाँ; न ज्ञान है, न योग और न प्रेम। यशोदा ही कृष्ण के पास भ्रमर-दूत भेजती है। सारी परम्परा ही उलट जाती है। यशोदा का चित्रण भारत-माता के रूप में किया गया है। इसमें नवीन समस्याओं का समावेश हुआ है; तत्कालीन राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था इत्यादि के सुन्दर चित्र मिलते हैं।

हरिऔधजी ने 'भ्रमरगीत' प्रसंग को लेकर 'प्रियप्रवास' जैसे प्रबन्ध की ही रचना की है। नवीनता की दूसरी कड़ी में इसे स्थान दिया जायगा। इसके कृष्ण माखनचोर नहीं, पूर्णतः समाज-सुधारक हैं। कवि ने सुधारवादी दृष्टिकोण से विश्वप्रेम और लोकहित की भावनाओं का ही निरूपण अधिक किया है। वियोग-वर्णन ने ही मानो लोकसेवा का रूप ले रखा है। इसी क्रम में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जी की रचना 'द्वापर' है। यहाँ मौलिकता का एक और रूप मिलता है। यहाँ भ्रमर की जगह विहंग ने ले ली है। इसमें विहंग को लक्ष्य कर ही उपालम्भ दिये गये हैं। तुलसी की परम्परा में होने के कारण गुप्तजी का दृष्टिकोण भी मर्यादावादी ही अधिक है।

रत्नाकर के 'उद्धवशतक' में सारी प्राचीन परम्पराएँ नवीन परम्परा से मिल जाती हैं। इसमें भक्तिकाल की गहनता और तन्मयता, रीतिकालीन आलंकारिकता और वाग्वैचित्र्य के साथ आधुनिक काल का भाषा-प्रयोग भी मिलता है। इसमें 'भ्रमरगीत' काव्य की सारी विशेषताएँ एक साथ समेटने की कोशिश मिलती है। सूर की भावुकता और नन्ददास की तर्कपद्धति का एकत्र दर्शन यहीं सम्भव है।

इसकी सबसे बड़ी विशेषता है गोपियों और कृष्ण में तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा। गोपियों की विह्वलता, अभिव्यक्ति की अक्षमता और मार्मिक स्थिति दर्शनीय है—

नेकु कहि बैननि अनेकु कहि नैननि सों
रहि सहि सोउ कहि दीनि हिचकीनि सों।

गोपियों की इस तन्मयता के आगे उद्धव की एक नहीं चलती। उनकी भी अजीब स्थिति हो गयी है—

सूखे से श्रमे से सकबके से सके थके,
भूले से भ्रमे से भमरे से भकुबाने से।

रत्नाकरजी में अलंकरणप्रवृत्ति और ऊहात्मक वेदना को उभारकर रखने की चेष्टा अधिक है। कथा में मौलिकता के हेतु आकस्मिक संयोग से अधिक काम लिया गया है। ये आकस्मिक संयोग दोष ही कहे जायँगे।

आधुनिक युग में मुकुन्दीलाल (मुकुन्दविलास), जगन्नाथ सहाय (कृष्ण-सागर), चन्द्रभानु (नेहनिकुंज), डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' (उद्धवशतक), द्वारका प्रसाद मिश्र (कृष्णायण), लाला हरदेव प्रसाद (ऊधौ पच्चीसी), श्यामसुन्दर लाल दीक्षित (श्याम सन्देश) इत्यादि की रचनाएँ इसी परम्परा में हैं। इन सबों का महत्त्व अपने ढंग का है। रसाल का 'उद्धवशतक' और मिश्र का 'कृष्णायण' प्रमुख स्थान के भागी हैं।

'भ्रमरगीत' काव्य की भाषा पर विचार करने पर समग्र रूप से यही कहना पड़ता है कि अधिकांश ग्रन्थों की भाषा व्रजी है। सूर से रत्नाकर तक यही परम्परा मिलती है। खड़ी बोली के युग में भी इनमें अधिक परिष्कार नहीं हुआ। निश्चय ही हरिऔधजी ने खड़ी बोली का प्रथम प्रबन्ध काव्य (प्रियप्रवास) इसी मधुर प्रसंग को लेकर लिखा है। दो-एक और छोटे-मोटे ग्रन्थों में खड़ी बोली का प्रयोग हुआ है; पर शेष की भाषा व्रजी है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हिन्दी-काव्य में 'भ्रमरगीत' की एक सुदृढ़ परम्परा रही है। इसका प्रारम्भ संघात-मुक्तक के रूप में ही होता है; पर आगे चलकर अन्य काव्यरूपों की भी उपलब्धि होती है। यह काव्य रोचकता, कलात्मकता एवं मार्मिकता के लिए बेजोड़ है। इसकी हृदयस्पर्शिता अपने ढंग की है। इस काव्य ने हमें 'हाटक' और 'फाटक' दोनों प्रकार की वस्तुएँ दी हैं। इनमें बहुतेरों की कलाबाजियाँ हैं तो दर्शनीय पर सूर की व्यंग्योक्तियाँ अपना सानी नहीं रखतीं। सूर के काव्य का एक बार रसास्वादन कर लेने के पश्चात् किसी अन्य 'भ्रमरगीत' को पढ़ने के लिए पाठक आज भी जब अपने में किसी और मन की टोह लगाता है, तो बरबश सूर के ही शब्दों में कह उठता है— 'मन नाहीं दस बीस।'

●

१२

हिन्दी-रामकाव्य

[रामाख्यान का विकास—रामाख्यान का विस्तार—रामभक्ति का विस्तार—हिन्दी-रामकाव्य के दार्शनिक सिद्धान्त—हिन्दी-रामकाव्य की विशेषताएँ—हिन्दी-रामकाव्य की परम्परा और प्रमुख कवि]

हिन्दी-रामकाव्य की परिधि बहुत व्यापक है। इसके अन्तर्गत मात्र मौलिक रचनाएँ ही नहीं, अनुवादित रचनाओं का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुनः इस-काव्यप्रवाह में एक ओर लोकरक्षण की भावना से उद्भूत शीलपरक रचनाओं की वृहद् राशि है, तो दूसरी ओर मधुरोपासना से रंजित शृंगारपरक रचनाएँ भी। कुछ रचनाएँ भक्तिपरक हैं, तो कुछ रचनाएँ विशुद्ध साहित्यिक। 'रामचरितमानस' के रूप में तुलसी का मानस भी यहीं अपना विकास कर सका है और छन्दों के बन्धन खोलने वाले निराला के राम ने 'शक्तिपूजा' भी यहीं की है। अस्तु, रामकाव्य की व्यापकता स्पष्ट है।

रामकाव्य का आधार है रामकथा। तुलसी ने राम की स्तुति वेदों से करायी है; पर वेदों में रामकथा नहीं पायी जाती है। वेदों के राम दाशरथी नहीं; भार्गवेय, औपतस्विनि या क्रातुजातेय हैं। सीता भी सिरौर (हल से जोतने पर बनी हुई रेखा) के लिए ही प्रयुक्त है, विदेहतनया के लिए नहीं। हाँ, अश्वपति कैकेय और जनक वैदेह की चर्चा अवश्य मिलती है। अस्तु, वैदिक आर्यों को रामकथा पूर्णतः अज्ञात थी, ऐसा निश्चयात्मक रूप में नहीं कहा जा सकता। परिस्थितिगत भिन्नता आदि के कारण, हो सकता है, रामकथा को महत्त्व न मिला हो। रामकथा के विद्वान् अनुसन्धायक डॉ० कामिल बुल्के ने अनुमान लगाया है कि इक्ष्वाकुवंश के सूत्रों द्वारा ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर रामकथाविषयक गाथाएँ सम्भवतः छठी शती ई० पू० तक भारत में फैल चुकी थीं। चौथी शती ई० पू० तक अनेक आख्यान भी रचे जा चुके थे। वाल्मीकि ने अपना काव्य इसी समय रचा था। वाल्मीकिरामायण नर-काव्य के रूप में ही प्रकट हुआ था। रामकथा के विकास का यह प्रथम सोपान था। अवतारवाद की प्रतिष्ठा होने पर राम को अवतार मान लिया गया। ईसवी सन् के प्रारम्भ के आस-पास ही राम ईश्वर के रूप में स्वीकृत कर लिये गये। इस समय से रामकथा के विकास का दूसरा सोपान प्रारम्भ होता है। इससे रामकथा में अनेक प्रकार के परिवर्त्तन उपस्थित किये जाते

हैं। विकास की तीसरी अवस्था में राम केवल ईश्वर ही नहीं भक्तवत्सल भी बन जाते हैं। यह अवस्था चौदहवीं शती के पश्चात् ही आरम्भ होती है। इस समय तक रामकथा का विकास और प्रसार लगभग समस्त एशियाई देशों में हो चुका था। इसमें लोकसंग्रह की भावना का भी पूर्ण विकास हो चुका था। हिन्दी में रामकथा का यही स्वरूप प्रारम्भ से ही ग्रहण किया जाता है।

हिन्दी में रामकाव्य से सम्बन्धित जितनी रचनाएँ मिलती हैं, संस्कृत में इससे कई गुना अधिक रचनाएँ मिलती हैं। हिन्दी में रामकाव्य का प्रचलन होने के पूर्व इसकी रचना भारत की लगभग सभी भाषाओं में हो चुकी थी। भारत ही नहीं, भारत के बाहर भी प्रचुर मात्रा में रामकाव्य रचे जा चुके थे। डॉ॰ बुल्के के अनुसार, वाल्मीकिरामायण की रचना ई॰ पू॰ चौथी शताब्दी तक अवश्य हो चुकी थी। इसके पश्चात् रामकाव्य बौद्धों के यहाँ जातकसाहित्य (दशरथजातक, अनामजातकम्, दशरथकथानम्) में पल्लवित होता है। बौद्धों की भाँति जैनियों ने भी रामकाव्य की रचना की है। विमलसूरि ने प्राकृत में 'पउमचरिउ' में इसी कथा को जैन धर्म के साँचे में ढाला। पुनः 'जैनरामायण' (हेमचन्द्र), 'रामपुराण' (जिनदास), 'रामचरित' (पद्मदेव विजयगणि), 'पउमचरिउ' (स्वयम्भू), 'उत्तरपुराण' (गुणभद्र) इत्यादि रचनाएँ रामकथा को लेकर ही सामने आयीं।

संस्कृत में रामसाहित्य का पल्लवन भक्तिसाहित्य के रूप में लगभग नहीं के बराबर हुआ है। वहाँ यह ललित साहित्य के रूप में ही विकसित हुआ है। रामकथा का विषय वहाँ महाकाव्य अथवा नाटक तक ही सीमित नहीं है। इसके आधार पर अनेक श्लेषकाव्य, विलोमकाव्य, चित्रकाव्य, दूतकाव्य और श्रृंगारिक काव्य रचे गये हैं। महाकाव्यों का आधार वाल्मीकिरामायण ही रहा है। महाकाव्यों में 'सेतुबन्ध', 'भट्टिकाव्य' और 'जानकीहरण' प्रमुख हैं। 'जानकीहरण' के श्रृंगारवर्णन का आधार 'कुमारसम्भव' ही प्रतीत होता है। नाटकों में भास के दो नाटक 'प्रतिमा' और 'अभिषेक' भी रामकथा से ही सम्बन्धित हैं। पुनः 'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित', 'कुन्दमाला', 'अनर्घराघव', 'बालरामायण', 'उदात्त राघव', 'प्रसन्नराघव' इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार, अन्य काव्यरूपों में भी रामकथा का पर्याप्त विकास हुआ है, जिनके अनेक नाम गिनाये जा सकते हैं।

संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं में तथा एशियाई भाषाओं में रामकाव्य का पर्याप्त विकास हुआ है। उदाहरणस्वरूप, तमिल का 'कम्बन रामायण', तेलुगु का 'रंगनाथ रामायण', मलयालम का 'रामचरित', कन्नड़ का 'तोखे रामायण', बँगला का 'कृत्तिवासीय रामायण', गुजराती का 'गिरधर रामायण', मराठी का 'भावार्थ रामायण', उड़िया का 'जगमोहन रामायण', नेपाली का 'अपना रामायण' इत्यादि प्रसिद्ध हैं। विदेशी रामायणों में 'तिब्बती रामायण', पूर्वी तुर्किस्तान का

'खोतानी रामायण', कम्बोडिया का 'रामकेर्ति' इत्यादि महत्त्वपूर्ण हैं। इससे रामाख्यान का विस्तार स्पष्ट है। इन सब में बौद्ध-साहित्य को छोड़कर शेष पर 'वाल्मीकिरामायण' का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव अवश्य रहा है। उपर्युक्त सभी रामकाव्यों से हिन्दी-रामकाव्य में स्पष्ट अन्तर है। हिन्दी में रामकाव्य का प्रारम्भ मूलतः भक्तिकाव्य के रूप में होता है; किन्तु उपर्युक्त रचनाओं में अधिकांश विशुद्ध रूप से ललित साहित्य की रचनाएँ ही हैं।

रामाख्यान के विस्तार के पश्चात् रामभक्ति के विकास की चर्चा भी आवश्यक है। हिन्दी का रामकाव्य रामभक्ति से अलग कर नहीं आँका जा सकता। राम-भक्ति का विकास आकस्मिक नहीं है। इसके पीछे सबल परम्परा, सुदृढ़ परि-स्थितियाँ और अनुकूल प्रेरणास्रोत वर्त्तमान रहे हैं। भारत का प्राचीनतम धर्म वैदिक धर्म था। वैदिक धर्म और संस्कृति में यज्ञ की प्रधानता रही है। कर्मकाण्ड भी खूब प्रचलित रहे हैं। इस यज्ञप्रधान संस्कृति और कर्मकाण्डप्रधान धर्म की प्रति-क्रिया से ही दो धर्म विकसित हुए हैं—बौद्ध धर्म और भागवत धर्म। बौद्ध धर्म कालक्रमानुसार नास्तिक धर्म के नाम से जाना गया। भागवत धर्म में ही पहली बार भक्ति पनपी। वासुदेव कृष्ण को विष्णु का अवतार घोषित किया गया। आगे चलकर भागवत धर्म और ब्राह्मण धर्म (वैदिक धर्म) के समन्वय से ही वैष्णव धर्म का विकास हो सका। वासुदेव कृष्ण की पूजा चौथी शती तक प्रारम्भ हो चुकी थी। इसके बाद और ईसवी सन् के प्रारम्भ होने के समय तक राम भी विष्णु के अवतारों में मान्य हो गये। यद्यपि रामभक्ति प्रचलित तो हुई, पर इसकी गति बड़ी धीमी थी। सम्भवतः इन्हीं कारणों से गोपाल भण्डारकर भक्ति के क्षेत्र में राम की प्रतिष्ठा ग्यारहवीं शताब्दी से मानते हैं। हाँ, इतना तो निश्चय है कि राम की अभिव्यक्ति प्रथमतः काव्य में हुई तब भक्ति में। भक्ति के क्षेत्र में राम का सर्वप्रथम उल्लेख आलवारों के 'नालियरप्रबन्ध' में मिलता है। रामभक्ति के क्षेत्र में ग्यारहवीं शती के पश्चात् अधिक रचनाएँ मिलती हैं। इस समय से पन्द्रहवीं शती तक अनेक स्तोत्रों की रचनाएँ होती हैं।

दक्षिण-भारत में पनपने वाले भक्ति के चार सम्प्रदायों में श्रीसम्प्रदाय ने रामभक्ति का पूर्ण प्रचार किया। श्रीसम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री रामानुजाचार्य की भक्ति नारायण में केन्द्रीभूत थी; फिर भी इनके श्रीभाष्य में राम को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। पुनः इसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत राम को परमपुरुष परमेश्वर तथा सीता को मूल प्रकृति के रूप में दास्यभक्ति के प्रतिपादन के लिए स्वीकार किया गया। रामभक्ति के प्रतिपादन के लिए 'अगस्त्यसंहिता', 'राघवीय संहिता' आदि के साथ तीन उपनिषदों—'रामपूर्वतापनीय', 'रामोत्तरतापनीय' और 'रामरहस्योपनिषद्'— की रचना भी की गयी।

रामभक्ति के प्रचार का श्रेय रामानन्दजी को दिया जाता है। ये श्रीसम्प्रदाय में अवश्य दीक्षित हुए थे; पर इन्होंने स्वतंत्र सम्प्रदाय चलाया। रामानन्द के पूर्व दक्षिण भारत में रामभक्ति नामदेव और त्रिलोचन के द्वारा पनप चुकी थी। उत्तर-भारत में भी सदन और बेनीराम ने रामानन्द के पूर्व ही रामभक्ति का प्रचार किया था; पर रामानन्द के प्रयत्नों के आगे वे प्रयत्न छिप गये। रामानन्द ने 'श्रीवैष्णवमताब्धभास्कर' और 'श्रीरामार्चनपद्धति' जैसे सिद्धान्तग्रन्थों की रचना भी की है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सन्त-कबि कबीर और भक्त-कवि तुलसी रामानन्द की शिष्यपरम्परा में हैं। पर कई विद्वानों ने रामानन्द को सगुण-रामभक्ति-प्रचारक की अपेक्षा निर्गुण-रामभक्ति-प्रचारक ही अधिक माना है। डॉ० राजपति दीक्षित ने अपने शोधप्रबन्ध में तो स्पष्ट घोषित किया है कि "मैं नहीं कह सकता कि वे (तुलसी) रामानन्द की शिष्यपरम्परा में थे।" डॉ० दीक्षित ने आ० शुक्ल को ही प्रमाण मानते हुए तुलसी को रामोपासक ही कहना अधिक ठीक समझा है, न कि रामानन्दी परम्परा का वैष्णव। इस विवाद में न पड़ते हुए, हमें यहाँ इतना ही कहना है कि रामानन्द के समय तक रामभक्ति की लहर देश में सर्वाधिक व्याप्त हो चुकी थी। 'अध्यात्मरामायण', 'भुशुण्डी-रामायण', 'आनन्दरामायण', 'अद्भुतरामायण' इत्यादि के रूप में साम्प्रदायिक रचनाएँ भी लिखी जा चुकीं थीं। रामावत सम्प्रदाय में 'अध्यात्मरामायण' का स्थान सर्वोपरि था। इस प्रकार, राम की वैधी भक्ति का स्वरूप सामने आ चुका था।

कृष्णभक्ति के प्रभाव के कारण रामभक्ति में मधुर उपासना का प्रारम्भ हो जाना अधिक आश्चर्य की बात नहीं है। स्वामी अग्रदासजी ने राम की परम्परागत वैधी भक्ति के प्रतिकूल मधुरा भक्ति का प्रचलन किया। इनका सम्प्रदाय 'सखीसम्प्रदाय' के नाम से जाना गया। ये अपने को जानकीजी की एक सखी के रूप में मानते थे। इस भक्ति के परिणामस्वरूप 'रामाष्टयाम' और 'रामध्यानमंजरी' का प्रणयन हुआ। प्रारम्भ में यह धारा तुलसी के प्रभाव के कारण नहीं पनप सकी; पर बाद में चलकर इसका विकास हुआ। इसी शाखा से थोड़ा भिन्न रूप लेकर चिरान (छपरा) के श्री जीवारामजी ने 'तत्सुखी-सम्प्रदाय' की स्थापना की। अयोध्या के श्री रामचरणदास जी ने भी 'स्वसुखी सम्प्रदाय' की स्थापना कर मधुरोपासना को ही महत्त्व दिया है। रसिक सम्प्रदायों में श्री कृपानिवास द्वारा स्थापित 'रामायत सखी-सम्प्रदाय' भी खूब प्रसिद्ध हुआ है। यद्यपि रामभक्ति में अनेक रसिक सम्प्रदायों की स्थापना हुई, पर ये सभी महत्त्वहीन ही हैं। वैधी भक्ति के आगे जनता इस भक्ति को अपना ही न सकी। साथ ही, साहित्य ने भी राम को कृष्ण के रूप में कभी न देखना चाहा है।

हिन्दी-रामकाव्य के दार्शनिक आधार की जहाँ तक बात है, वह मूलतः वैधी

पर ही चर्चित होना चाहिए। राम को लोकरक्षक-रूप में ही देखने की बात अधिक है। अस्तु, रामकाव्य के दर्शन की चर्चा करते समय मूलतः तुलसी पर ही हमारी दृष्टि केन्द्रित हो जाती है। वस्तुतः रामभक्ति में तुलसी का स्थान उस सुमेरु के समान है जिसके एक ओर चढ़ाई का उत्साह है तो दूसरी ओर उतराई की थकान। तात्पर्य यह कि रामकाव्य के दार्शनिक आधारों और दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या करते समय तुलसी के दृष्टिकोण को ही प्रमुखता मिलनी चाहिए। दर्शन पर विचारने से यह स्पष्ट है कि रामकाव्य के दर्शन का मूलाधार है 'अध्यात्मरामायण'। दर्शन के क्षेत्र में ब्रह्म, जीव, माया और जगत् ही विचारणीय हैं।

रामभक्तों ने ब्रह्म को सगुण तथा राम से अभिन्न माना है। मायाश्रित राम ही निर्गुण भी हैं और सगुण भी। वे नर होकर भी नारायण हैं। वे हैं तो विष्णु के अवतार, पर सच्चिदानन्द भी हैं। वे मायातीत तो हैं ही, 'विधि हरि सम्भु नचावन हारा' भी हैं। लक्ष्मणजी शेष हैं—विश्व के उपादान-कारण हैं। सीता ही योगमाया, परमशक्ति और मूल प्रकृति हैं। लक्ष्मी भी सीता ही हैं। माया संसार की मूल त्रिगुणात्मिका शक्ति है। इसकी व्याप्ति विश्व भर में है। स्वतः माया शक्तिहीन है। राम की प्रेरणा से ही यह सब कुछ करती है। इसके दो रूप हैं—विद्या और अविद्या। विद्यारूप भक्तों की सहायिका है। अविद्या माया अनेक रूपों में संसार में व्याप्त है।

जीव ईश्वर-अंश और अविनाशी है। यह नित्य है। माया से आलिप्त होने के कारण ही यह सुख, दुःख आदि की अनुभूति प्राप्त करता है। मायाधीश ईश्वर ही है। कर्म की गति के कारण ही जीव संसारचक्र में पड़ जाता है। जगत् फलते-फूलते वटवृक्ष के समान है। संसार से मुक्ति के लिए ज्ञान और भक्ति दोनों रास्ते समान हैं; पर भक्ति सर्वजनसुलभ है। भक्तिविमुख कभी भी मुक्त नहीं हो सकते हैं। भक्ति नौ प्रकार की सम्भव है (नवधा भक्ति)। रामभक्ति के लिए शिव की भक्ति भी आवश्यक है।

दर्शन के क्षेत्र में रामकाव्य में मूलतः उपर्युक्त बातें ही मिलती हैं; पर रसिक सम्प्रदाय वालों ने इसमें थोड़ी भिन्नता उपस्थित की है। रसिक सम्प्रदाय वालों ने भक्तों को जानकी की सखी के रूप में ही अधिक देखा है। पुनः जनकपुर वाले भक्त जानकी जी को और अयोध्या के भक्त राम को प्रमुखता देते हुए भक्ति के क्षेत्र में आगे बढ़ते हैं। इस प्रकार, रसिक सम्प्रदाय में थोड़ी भिन्नता होने पर कहा जायगा कि मूलतः रामभक्ति में राम ही मूल इष्टदेव हैं। यहाँ राम के धनुर्धारी रूप को ही प्रधानता मिली है।

हिन्दी-रामकाव्य की प्रवृत्तिगत प्रमुख विशेषताओं की चर्चा के समय हमें यह न भूलना चाहिए कि आधुनिक काल को छोड़कर, प्रायः समस्त रामकाव्य

भक्तिभावना से ओतप्रोत हैं। साथ ही, इस काव्यधारा में तुलसी का स्थान इतना अधिक ज्योतित है कि अन्य कवि उनके आगे चमक नहीं सके हैं। सामान्य रूप से इस काव्य की निम्नांकित विशेषताएँ मानी जायँगी— राम का पुरुषोत्तम रूप, लोकसंग्रह की भावना, दास्यभक्ति, तुलसी का एकाधिकार, समन्वयात्मकता, कृष्ण-काव्य का प्रभाव, रचनाशैली की विविधता, छन्द की विविधता और भाषा की साहित्यिकता।

रामभक्तों के इष्टदेव विष्णु के अवतार होकर भी पूर्ण ब्रह्म और 'विधि हरि सम्भु नचावन हारे' हैं। धर्मोद्धार और पापशमन हेतु ये प्रत्येक युग में अवतरित होते हैं। ये शील, शक्ति और सौन्दर्य की प्रतिमूर्त्ति हैं। ये आदर्श के प्रतिष्ठापक और मर्यादापुरुषोत्तम हैं। रामभक्ति में कृष्णभक्ति की प्रतीकात्मकता का अभाव है। यों राम भक्ति में भी कृष्णभक्ति के अनुकरण पर रसिक-उपासना चली; पर जनता ने उसे अपनाया नहीं। विशुद्ध रामकाव्यों में राम युगपुरुष और दलितों के नेता आदि के ही रूप में चित्रित हुए हैं।

लोकसंग्रह की भावना का जितना उदात्त रूप रामकाव्य में चित्रित हुआ, उतना अन्यत्र नहीं। मध्यकालीन निवृत्तिमूलक हिन्दू-जीवन को इसी ने प्रवृत्तिमूलक बनाया है। तुलसी ने 'विधि हरि सम्भु नचावन हारे' और 'दुर्गा कोटि अमित अरिमर्दन' रूप की ओर आकृष्ट तो किया ही, राम के दास हनूमान की ओर भी आकृष्ट किया। धनुषधारी राम की भक्ति और उपासना को प्रचलित करने वाला तुलसी मात्र बैरागी बाबा ही नहीं था, बल्कि संसार को 'सियाराममय' समझकर जनता को सुख-दुःख में साथ देने वाला, जनता की विपन्नावस्था में नेतृत्त्व कर सही राह दिखाने वाला महात्मा भी था। इसी से तो उसने पारिवारिक कवि का रूप धारण किया— दशरथ के परिवार का सफल रूप उपस्थित कर हिन्दू-परिवार के आदर्श का स्थापन किया। कौसल्या आदर्श माता, सीता आदर्श पत्नी, लक्ष्मण और भरत आदर्श भाई, हनूमान सेवक, सुग्रीव मित्र आदि का रूप स्थिर करने वाला काव्य लोककल्याण की भावना से अछूता काव्य कैसे माना जाय। भारत में राष्ट्रीय चेतना का विकास स्थिर करने वाले और राजनीतिक इतिहास लिखने वाले प्रायः कह दिया करते हैं कि हमारे यहाँ यह भावना पश्चिम से आयी; पर उन्हें यह नहीं पता चलता कि अथर्ववेद में जिस ध्येयवाद का 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः' का विकास हुआ, वह यहीं की वस्तु थी। इसी के अनुरूप भारत का बैरागी बाबा तुलसी भी 'भलि भारतभूमि भले कुल जन्म समाज सरीर भलो लहि कै' कह रहा था। तभी तो वह अपनी लोकसंग्रही भावना से समाज के इस चित्र को देखकर व्यथित हो रहा था—

खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि, बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविकाबिहीन लोग सीधमान सोच बस, कहैं एक एकन सों कहाँ जाइ का करी॥

यदि अब भी विश्वास न जमा हो तो लीजिए, जरा यहाँ भी देखिए—

किसबी किसान कुल बनिक भिखारी भाट, चाकर चपल नट चोर चार चेटकी।
पेट को पढ़त गुन गढ़त चढ़त गिरि, अटत गहन बन अहन अखेटकी।।
ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि, पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी।
तुलसी बुझाइ एक राम घनस्याम ही ते, आगि बड़वागि तें बड़ी है आग पेट की।।

हाँ, तो विचार लीजिए, है न यह वर्त्तमान समाज का यथार्थ अंकन। आज के तथाकथित राष्ट्रीय और प्रगतिशील कवियों से भी जरा मिलाकर देखिए। क्या इसमें लोकचेतना की जाग्रति कम है? निश्चय ही रामकाव्य ने लोकभावना और देश की ऐहिकता के उत्थान में सबल योगदान किया है। जिसने 'साखी सब्दी दोहरा' और 'किहनी उपखान' कहने वालों की डटकर खबर ली है, यदि राम के रसिक-उपासकों का उसे पता होता तो उन्हें भी निबुआ-नोन अवश्य चटाता। लोकोत्थान के प्रयत्न में तुलसी ने अपना जीवन होम कर दिया था। भारत का उत्थान महात्माओं ने भी सोचा है। मोहनदास कर्मचन्द गाँधी के महात्मा गाँधी बन जाने का भी यही रहस्य है।

रामकाव्य की तीसरी विशेषता है दास्यभक्ति। तुलसी की स्पष्ट घोषणा है, 'सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि'। इष्टदेव के रूप में शील, शक्ति और सौन्दर्य के आगार राम ही हैं; पर अन्य देवताओं के प्रति भी यहाँ समान भावना ही है। शिव की भक्ति के बिना तो राम की भक्ति असम्भव ही है। सामान्य रूप से कहा जायगा कि समाज के प्रत्येक पूज्य और श्रद्धेय तत्त्व के प्रति पूज्य भावना ही इस भक्ति का आदर्श है। इसमें नवधा भक्ति का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। कृष्णभक्ति के प्रभाव के कारण रामभक्ति में भी मधुरोपासना को स्थान मिला। 'गीतावली' में हिंडोला-विहार और होली-वर्णन आदि के प्रसंगों को देखकर कुछ विचारक ऐसा भी मानते हैं कि मधुरा भक्ति का प्रभाव तुलसी पर भी पड़ा है। सखी-सम्प्रदाय की अनेक रचनाओं में मधुरोपासना के नाम पर अनेक अश्लील शृंगारी चेष्टाओं के भी वर्णन हुए हैं; पर इनका क्षेत्र सीमित ही समझना चाहिए।

समस्त रामकाव्य पर विचारने से एक बात सर्वाधिक स्पष्ट होती है कि इस काव्यधारा में तुलसी का एकाधिकार-सा है। इस सम्बन्ध में डॉ० माताप्रसाद गुप्त की यह मान्यता देखी जा सकती है, "हिन्दी-रामभक्तिधारा में अनेक कवि हुए, किन्तु रामभक्तिधारा का साहित्यिक महत्त्व अकेले तुलसीदास के कारण है। धारा के अन्य कवियों और तुलसीदास में अन्तर तारागण और चन्द्रमा का नहीं है, तारागण और सूर्य का है। तुलसी की अपूर्व आभा के सामने वे साहित्याकाश में रहते हुए भी चमक न सके।" इस कथन से तुलसी की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। भक्ति की परिधि छोड़कर समस्त रामकाव्य पर भी विचार करने पर प्रायः उपर्युक्त

निष्कर्ष ही अधिक संगत प्रतीत होता है।

यों तो भारतीय दृष्टि ही समन्वय पर विश्वास करती रही है; किन्तु साहित्य में समन्वयात्मकता की दृष्टि से रामकाव्य का अपूर्व स्थान है। तुलसी अपनी समन्वयात्मक दृष्टि के कारण ही लोकनेता और युगावतार के रूप में मान्य हो सके हैं। ज्ञान का भक्ति से, निर्गुण का सगुण से, शिव का राम से, प्रबन्ध का मुक्तक से, ब्राह्मण का शूद्र से, अवधी का व्रजी से, लोकमत का साधुमत से समन्वय कर रामकाव्य ने अपनी उदारता और विस्तृत परिधि का परिचय दिया है। इसी से तो भारतीयों के मन में राम का अमिट रूप अंकित हो सका है।

रामकाव्य मूलतः वैधी भक्ति का रूप लेकर ही विकसित हुआ; किन्तु उस समय कृष्णभक्ति का रंग गाढ़ा हो चुका था। कृष्णभक्ति की मधुरोपासना का प्रभाव रामकाव्य पर बिना पड़े नहीं रहा। सखी-सम्प्रदाय का विकास मूलतः इसी प्रभाव के कारण हो सका था। इससे रामकाव्य में विकृति तो आयी ही; आगे रामकाव्य जो न विकस सका, उसका एक कारण यह भी था।

रामकाव्य की एक अन्यतम विशेषता यह भी है कि इसमें रचनाशैलियों की विविधता पायी जाती है। कृष्णकाव्य में इतनी अधिक काव्यशैलियाँ नहीं प्रयुक्त हुई हैं। रामकाव्य मूलतः प्रबन्धात्मक है; पर मुक्तकों का भी कम उपयोग नहीं हुआ है। काव्यशैलियों की तरह छन्दों का वैविध्य भी उपलब्ध है। दोहा और चौपाई की मुख्यता होते हुए भी कवित्त, सवैया, सोहर, बरवै, कुंडलिया, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय, त्रिभंगी, विनय के पद इत्यादि अनेक छन्द प्रयुक्त हैं। तुलसी ने प्रायः सभी प्रचलित छन्दों का उपयोग किया है। कलाप्रदर्शन की दृष्टि से केशवदास के छन्द अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। भाषा के विचार से भी रामकाव्य में अनेक साहित्यिक भाषाएँ प्रयुक्त हुई हैं। तुलसीदास के रामचरितमानस की भाषा में अवधी का विशुद्ध साहित्यिक रूप मिलता है, ठेठ रूप नहीं। इन्होंने अवधी का व्रजी से मेल कर अद्‌भुत भाषाधिकार का परिचय दिया है। 'गीतावली' को छोड़कर अन्य रचनाओं में तुलसी ने अवधी का ही प्रयोग किया है। केशव के 'रामचन्द्रिका' की भाषा व्रजी है। स्वयं तुलसी तथा अन्य अनेक कवियों की रचनाओं में भोजपुरी आदि के प्रयोग भी मिलते हैं। आधुनिक काल में रचित रामकाव्यों की भाषा विशुद्ध खड़ी बोली है। उदाहरणस्वरूप, गुप्तजी का 'साकेत' और निराला की 'राम की शक्तिपूजा' देखे जा सकते हैं। तात्पर्य यह कि रचनाशैली, छन्दविधान और भाषाप्रयोग आदि की विविधता रामकाव्य में स्पष्ट रूप से लक्षित है।

रामकाव्य की प्रवृत्तिगत विशेषताओं को जान लेने के पश्चात्, इसके उद्‌भव, विकास तथा विस्तार का निरूपण एवं रामकाव्य के कर्त्ता कवियों का क्रमिक परिचय भी आवश्यक है। पूर्व के विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी में रामकाव्य की

परम्परा स्थापित होने के पूर्व भारतीय साहित्य में इसकी सुदृढ़ परम्परा लग चुकी थी। यदि ऐसा कहा जाय कि समस्त भारतीय संस्कृति ही राममय हो चली थी, तो अत्युक्ति न होगी। इसकी लोकप्रियता का अन्दाज तो इसी से लगाया जा सकता है कि सन्त-कवियों ने भी रामनाम को ही अपनी साधना का माध्यम बनाया था। निर्गुण उपासक रामनाम की साधना तक ही सीमित न रहकर रामकथा को भी निर्गुणवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत कर चले थे। उदाहरणस्वरूप, शृंगारकालीन सन्त-कवि दरियासाहब का 'ज्ञानरत्न', मलूकदास की 'रामअवतारलीला' और तुलसी साहब का 'घटरामायण' लिये जा सकते हैं। इन रचनाओं में रामकथा का निरूपण निर्गुणवादी दृष्टिकोण से हुआ है।

हिन्दी में रामकाव्य की कहानी का प्रारम्भ मूलतः रामानन्दजी के भक्ति-प्रचार के साथ होता है। यद्यपि रामानन्द के पूर्व भी उत्तर-भारत में राम की भक्ति प्रचलित हो चुकी थी, कतिपय रामकाव्य भी लिखे जा चुके थे; पर असल में रामकाव्य को महत्त्वपूर्ण रूप में उपस्थित करने वाले हैं तुलसी। तुलसी के पूर्व का राम-साहित्य प्रायः संक्षिप्त और अप्रकाशित है। उत्तर-भारत के रामभक्तों की सूची में प्रथम सदन और बेनीराम का नाम आता है। इनलोगों ने रामानन्द के पूर्व ही उत्तर-भारत में रामभक्ति के प्रचार का प्रयत्न किया था। यद्यपि इनकी रचनाएँ अनुपलब्ध हैं; पर यह अनुमान है कि इन्होंने ही रामकाव्य की रचना की परम्परा स्थापित की होगी।

उपलब्ध सामग्रियों के अनुसार, रामकाव्य के कर्त्ताओं में प्रथम नाम रामानन्द का ही लिया जायगा। 'रामरक्षास्तोत्र' इनकी प्रामाणिक रचना है। इसमें हनुमान-सीता, राम आदि की स्तुतियाँ हैं। साहित्यिक दृष्टि से इस रचना का विशेष महत्त्व नहीं है।

हिन्दी का तथाकथित प्रथम महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' एक प्रकार से कथाकोश कहा जाय, तो बड़ी बात नहीं। इसमें अनेक कथाएँ एक साथ संलग्न प्रतीत होती हैं। रासो के द्वितीय समय में दशावतारकथा के अन्तर्गत रामकथा का वर्णन लगभग एक सौ छन्दों में हुआ है। इस कथा का मुख्य कार्य है लंका-युद्ध।

हिन्दी-रामकाव्य के कर्त्ताओं में तीसरा स्थान सूरदास को मिलना चाहिए। 'सूरसागर' में लगभग डेढ़ सौ फुटकर पद ऐसे मिलते हैं, जिनमें रामकथा के मार्मिक प्रसंगों का उद्घाटन सूरदास ने किया है। रामकथा से सम्बन्धित पद 'सूरसागर' के दशम स्कन्ध में आये हैं। इन पदों में प्रथम बार रामकथा विशुद्ध काव्यात्मक रूप ग्रहण करती है। निश्चय ही, कृष्णभक्त सूर ने रामकथा के प्रसंगों पर पदों की रचना कर अपनी उदार भक्ति और विस्तृत रुचि का परिचय दिया है।

सूर के पश्चात् विष्णुदास का नाम महत्त्वपूर्ण है, जिन्होंने वाल्मीकिरामायण का रूपान्तर किया था। विष्णुदास नामक एक व्यक्ति महाभारत के संक्षिप्त रूपान्तर के भी कर्त्ता बताये गये हैं। हो सकता है, दोनों व्यक्ति एक ही हों। विष्णु-दास के पश्चात् और तुलसी के पूर्व रामकाव्य के कवियों में सबसे महत्त्वपूर्ण हैं ईश्वर-दासजी। रामकाव्य से सम्बन्धित इनकी दो रचनाएँ मिलती हैं—'भरतमिलाप' और 'अंगद पैज'। ये वही ईश्वरदासजी हैं जिन्होंने 'सत्यवतीकथा' की रचना की है। डॉ० बुल्के के अनुसार, "ईश्वरदास की रचना में 'रामचरित-मानस' का पूर्वाभास मिलता है।" 'रामजन्म' नामक रचना भी इन्हीं की बतायी जाती है। ईश्वरदास ने अयोध्याकाण्ड की कथा को लेकर 'भरतमिलाप' की रचना की है, जिसमें भरत आदर्श दास्यभक्त के रूप में चित्रित हैं। डॉ० बुल्के का अनुमान है कि ईश्वरदास की उपर्युक्त तीनों रचनाएँ किसी एक ही बड़ी रचना की अंश हैं।

उपर्युक्त सभी रचनाएँ मूलतः रामभक्ति-काव्य के अन्तर्गत ही रखी जायँगी। इन रचनाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी रचनाएँ हैं जो रामकाव्य तो हैं, पर रामभक्तिकाव्य नहीं। इस क्रम में जैन-रामकाव्यों के नाम गिनाय जायँगे। प्राचीनता की दृष्टि से मुनि लावण्य की 'रावण-मन्दोदरी-संवाद' नामक रचना सर्व-प्रथम ठहरेगी। इसमें सीताहरण की कथा कही गयी है। इसी नाम की एक दूसरी रचना जिनराज सूरि की भी मिलती है। भाषा के आधार पर इसका समय सत्रहवीं शती कूता गया है।

जैनियों की सूची में ब्रह्मदास का स्थान अधिक ऊँचा है। इन्होंने 'राम-रास' और 'हनुमंत-रास' नामक दो रचनाएँ की हैं। पुनः ब्रह्मराय मल्ल की 'हनुमंतगामी कथा' और सुन्दरदास का 'हनुमान-चरित' भी उल्लेखनीय है।

रामभक्ति में तुलसी के प्रवेश के समानान्तर ही अग्रदास का नाम लिया जायगा। अग्रदास में रामभक्ति एक नवीन विकास करती है। मधुरोपासना का श्रीगणेश यों तो पहले से ही हुआ था; पर अग्रदास ने उसे जीवन देने का काम किया है। इन्होंने अग्रअली के नाम से रचनाएँ की हैं। 'रामाष्टयाम', 'राम-ध्यानमंजरी' और 'रामज्योनार' इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इन्हीं के शिष्य हुए नाभादासजी। इन्होंने भी 'रामाष्टयाम' की रचना की है। दोनों की रचनाएँ भक्तिपूर्ण तो हैं; पर मधुरोपासना में ही इनका महत्त्व है।

आ० केशवदास की 'रामचन्द्रिका' की रचना भी इसी समय होती है। वाल्मीकिरामायण की तरह ही केशव के राम भी नर ही अधिक हैं, नारायण कम। इसमें तुलसी की भक्ति और प्रबन्धपटुता का अपेक्षाकृत अभाव है। संवादों की दृष्टि से यह अधिक महत्त्वपूर्ण बना है। रामलीलाओं में अधिकांशतः आ० केशव के

ही संवाद प्रयुक्त होते हैं। कहीं-कहीं इन्होंने विवेकहीनता का परिचय भी दिया है। अलंकार, उक्ति आदि के चमत्कार इसमें अधिक हैं।

तुलसी के समकालीन अन्य रामकाव्यों में 'रामप्रकाश' (सुतिलाल), 'आदि रामायण' (सोढ़ी मेहरवान), 'रामायण महानाटक' (प्राणचंद चौहान), 'हनुमन्नाटक' (हृदयराम), 'लक्ष्मणायन' (रामानन्द), 'राम-रासो' (माधौदास) इत्यादि हैं। भक्ति-काल में तुलसी के पश्चात् 'हनुमच्चरित' (रामल्ल पाण्डेय), 'अवधविलास' (लाल-दास)' 'अवतारचरित' (नरहरिदास) तथा सेनापति के 'कवित्तरत्नाकर' की चौथी (रामायणवर्णन) और पाँचवी (रामरसायनवर्णन) तरंग इत्यादि के नाम लिये जायँगे। ये सभी रचनाएँ उस उदात्त भावना के अभाव में अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकीं, जिसके कारण तुलसी की रचना ख्याति प्राप्त कर सकी।

हिन्दी-रामभक्तिकाव्य के कर्त्ताओं में सर्वाधिक गत्वर व्यक्तित्व है तुलसी का। इनका जीवनचरित अधिकतर अनुमानाश्रित ही है। इस सम्बन्ध में डॉ० माताप्रसाद गुप्त और डॉ० रामदत्त भारद्वाज ने बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। डॉ० भारद्वाज का मत नवीनतम एवं अधिक तार्किक है। इन्होंने निम्नांकित दोहे की प्रामाणिकता पर तथा उटकमंड के सरकारी कार्यालय के एपिग्रैफिस्ट की गणना पर तुलसी की जन्मतिथि एक अगस्त पन्द्रह सौ ग्यारह ई० (वि० १५६८) निर्धारित की है। दोहा इस प्रकार है—

> राम राम सागर मही, सक सित सावन मास।
> रबि तिथि भृगु दिन दुतिय पद नखत बिसाखा बास॥

मृत्यु की तिथि के लिए डॉ० गुप्त और डॉ० भारद्वाज दोनों ने इस दोहे को ही प्रामाणिक माना है—

> संवत सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
> श्रावण श्यामा तीज शनि, तुलसी तज्यौ सरीर॥'

खोज के अनुसार, तुलसी ने ३६ वर्ष की अवस्था में (वि० १६०४) गृह-त्याग किया और ६३ वर्ष की अवस्था में (वि० १६३१) रामायण की रचना प्रारम्भ की। इन्होंने टोडरमल का 'पंचायतनामा' ६६ वर्ष की अवस्था में (वि० १६६७) लिखा था। इनका जन्मस्थान सोरों है। इनका पितृगृह भी उसी के निकट तारी गाँव में था। इनकी माता का नाम हुलसी और पिता का नाम आत्माराम था। पत्नी रत्नावली बदरिया गाँव की थी। कृष्णभक्त नन्ददास इनके चचेरे भाई थे।

तुलसी रामानन्दजी की शिष्यपरम्परा में कहे जाते हैं; पर आज नवीन शोधों से रामानन्द निर्गुण राम की भक्ति के प्रचारक ही अधिक प्रमाणित हो रहे हैं। अन्तस्साक्ष्य के अधिकांश प्रमाण यही मानने को बाध्य करते हैं कि तुलसी के गुरु नरहर्यानन्द तो थे; पर स्वयं नरहर्यानन्द रामानन्द की शिष्यपरम्परा में नहीं थे।

डॉ० दीक्षित के विचार इस सम्बण्ध में अधिक पुष्ट हैं।

आज तुलसी के नाम पर अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं; पर विद्वानों ने मात्र बारह रचनाओं—रामललानहछू, रामाज्ञाप्रश्न, जानकीमंगल, रामचरितमानस, पार्वतीमंगल, गीताबली, कृष्णगीतावली, विनयपत्रिका, बरवै, दोहावली, कवितावली, और हणुमानबाहुक—को ही प्रामाणिक स्वीकार किया है। कुछ विद्वानों ने 'वैराग्यसंदीपनी' को भी प्रामाणिक स्वीकार किया है। उपर्युक्त रचनाओं में प्रबन्ध, निबद्ध और मुक्तक तीनों प्रकार के काव्य हैं। सबमें शीर्षस्थानीय है 'रामचरितमानस'।

निश्चय ही भारत की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है 'रामचरितमानस' का प्रणयन। यह हिन्दी-काव्यग्रन्थ की ही नहीं, समस्त भारतीय काव्यों की नैतिक धुरी है। इसकी लोकप्रियता ही इसकी शाश्वतता का प्रमाण है। कथायोजना, प्रसंगनिर्वाह, संवादयोजना, शीलनिरूपण, मर्यादित शृंगार, उचित मार्मिक स्थलों के चयन, भाषा और भावविधान आदि की चुस्ती, समन्वयात्मकता इत्यादि की दृष्टि से यह अपूर्व ग्रन्थ है। यदि हिन्दू-संस्कृति—भारतीय संस्कृति के सभी ग्रन्थों का लोप हो जाय और मात्र तुलसी का मानस बच जाय, तो भी हिन्दू-संस्कृति शत-प्रतिशत उसी रूप में अपना निर्माण कर ले सकती है—ऐसी अपूरणीय वस्तुस्थिति लेकर संयोजित है रामचरितमानस। उत्तर-भारत का नेतृत्त्व यदि किसी ने किया है तो एकमात्र तुलसी ने, जिसने मानस के रूप में भारतीयों का मानस ही तैयार कर दिया है। मानस भारतीयों के लिए एक ही साथ इतिहास, पुराण, शास्त्र, काव्य इत्यादि सब कुछ है।

रामकाव्य की रचना की दृष्टि से शृंगारकाल अधिक उर्वर रहा है। इस समय की प्रमुख रचनाओं में 'रामचरितरामायण' (भूपति), 'गोविन्दरामायण' (गुरु गोविन्द सिंह), 'दशरथराय' (सुखदेव मिश्र), 'बालिचरित' (केशवकवि), 'श्री रामायण' (झामदास), 'रामरसायन' (पद्माकर), 'सुप्रसिद्ध स्तोत्रम्' (रुद्रप्रताप सिंह), 'सीताहरण' (मैथिल कवि शिवदत), 'दशरावउत' (महाराज पृथ्वीराज), 'गुणरामरासो' (माधवदास चारण), 'सीताचरित' (रामचन्द) इत्यादि के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि राजस्थानी कवियों ने कृष्ण को ही काव्य के वर्ण्य के रूप में स्वीकृत किया, किन्तु मुरली, नागरीदास, सुन्दर कुँवरि, उम्मेद दास, सोमनाथ, मंछाराम, किशनजी इत्यादि कवियों ने रामकाव्य की ही रचना की है।

उपर्युक्त रचनाओं के आधार पर, शृंगारकालीन रामकाव्य के सम्बन्ध में निम्नांकित निष्कर्ष दिये जायँगे। प्रथम तो यह कि इस काल में रचित रामकाव्य संख्या की दृष्टि से भक्तिकाल और आधुनिक काल की अपेक्षा अधिक हैं। साहित्यिकता की दृष्टि से ये तुलसी से आगे नहीं जा सके हैं, इसी से इनका प्रचार जनता

तक न हो सका है। इनमें युग की पूर्ण छाप मिलती है। इनमें कुछ रचनाएँ तो संस्कृत रामकाव्य के अनुवदन पर रचित हैं और कुछ उनके अनुवादमात्र हैं। इनमें शृंगार की व्यापकता सर्वत्र मिलती है। 'गोविन्द रामायण' में वीर और शृंगार के अनेक उत्तम स्थल मिलते हैं। भूपति की शैली दोहा-चौपाई की ही शैली है। इस काल में रामकाव्य-सम्बन्धी दूसरे वर्ग की रचनाएँ मिलती हैं जिन पर कृष्णभक्ति के प्रभाव के कारण शृंगार का अधिक जोर है।

शृंगारकाल की कृष्णभक्तिप्रभावापन्न मधुरोपासना से ओतप्रोत रचनाओं में 'सीतायन' (रामप्रियाशरण), 'रामायण' (विश्वनाथ सिंह), 'अवधीसागर' (जानकीरसिकशरण), 'कवितावली रामायण', 'रामरहस्य', 'कौगजेरू रहस्य' (रामचरणदास), 'सत्योपाख्यान' (जनकदास), 'जुगल नखशिख' (प्रताप सिंह), 'राम-कलेवा रहस्य', 'राम होरी' (रामनाथ प्रधान), 'श्रीरामरहस्य', 'रामकण्ठाभरण' (भगवतदास), 'सीताराम नखशिख' (प्रेमसखी), 'राघवमिलन' (रामसखे) एवं जनकराज किशोरीशरण इत्यादि की रचनाएँ आयेंगी। इन रचनाओं में अष्टयाम, दम्पति की विलासक्रीड़ा, सीतासौभाग्य, नखशिख, प्रमोदवनविहार इत्यादि के ही वर्णन मिलते हैं। नखशिख में होलिकोत्सव के वर्णन तो हुए ही हैं, सीता आदि के नितम्ब, कटि, उरोज इत्यादि के वर्णन भी जम कर किये गये हैं। वस्तुतः इस धारा ने रामभक्ति की पवित्रता नष्ट कर दी है एवं ऐसा प्रतीत होता है मानों भक्ति की दीपशिखा वासना का कज्जल उगलने लगी है।

इस समय जैन रामकाव्य आदि के भी अनुवाद प्रस्तुत किये गये हैं। साथ ही, रामभक्ति में हनूमान् की उपासना को लेकर कई लोगों ने रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। हनुमद्भक्तिपरक रचनाओं की सृष्टि करने वालों में विश्वनाथ सिंह, केशव कवि, मणियार सिंह, भगवन्त सिंह खींची, गणेश खुमाण इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

आधुनिक युग में रामकाव्य की स्पष्टतः दो धाराएँ मिलती हैं—पूर्ववर्त्ती धारा जो परम्परा के रूप में विकसित होती है और खड़ी बोली की विशुद्ध काव्य-धारा। पूर्ववर्त्ती धारा में प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाएँ हो चलती हैं। इस धारा के प्रमुख प्रबन्धकाव्यों में हैं 'रामरसायन' (रसिकबिहारी), 'विश्राम सागर' (रघुनाथ दास), 'अवधविलास' (बाघेलि कुँवरि), 'कोशलकिशोर' (बलदेव प्रसाद मिश्र), 'मैथिली रामायण' (चन्दा झा), 'श्री रामावतार' (शिवरत्न शुक्ल 'सिरस'), 'राम मड़ैया' (वंशीधर शुक्ल), 'श्रीरामचन्द्रोदय' (रामनाथ ज्योतिषी)।

उपर्युक्त रचनाओं के पर्यालोचन से स्पष्ट है कि प्राचीन धारा लगभग सन् १६३७ ई० (श्री रामचन्द्रोदय) तक चलती रही है। इसमें कथा कहने की प्रवृत्ति और भाषा आदि की प्राचीनता है। अधिकांश रचनाएँ व्रजी से प्रभावापन्न हैं। चन्दा झा की रामायण मैथिली भाषा में है।

द्विवेदी-युग के उपरान्त—छायावाद-युग में रचित खड़ी बोली का राम-काव्य सुधरा हुआ रूप लेकर उपस्थित होता है। इसमें न तो भक्ति का आग्रह है और न असीम स्वच्छन्दता। एक बँधी सीमा और मर्यादा में ये रामकाव्य रचे गये हैं। इस समय की रचनाओं में छोटी और बड़ी दोनों प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। छोटी रचनाओं में 'राम की शक्तिपूजा' (निराला), 'प्रदक्षिणा' और 'पंचवटी' (गुप्तजी) खण्डकाव्य का रूप लिये हैं। महाकाव्यों के रूप में 'रामचरितचिन्तामणि' (रामचरित उपाध्याय), 'साकेत' (गुप्तजी), 'वैदेही-वनवास' (अयोध्यासिंह उपाध्याय), 'साकेतसन्त' (बलदेव प्रसाद मिश्र), 'कैकेयी' (केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'), 'उर्मिला' (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'—अप्रकाशित), 'विदेह' (पोद्दार रामावतार) इत्यादि हैं।

खड़ी बोली के रामकाव्यों के विश्लेषण से मूलतः चार बातें सामने आती हैं। सबसे पहली बात तो यही है कि इसने भक्ति का चोगा उतार फेंका है। इसका एकमात्र कारण है बुद्धिवाद का बढ़ता हुआ स्वरूप। आज के भौतिक युग में बुद्धिवादी मानव राम को पूर्ण मानव मानकर अवतारवाद की अवहेलना कर चुका है। इन काव्यों के राम अवतारी पुरुष नहीं, भारतीय महापुरुष मात्र हैं।

दूसरी बात यह है कि इन काव्यों में कवियों ने बदलते मानदण्ड के अनुसार अपनी भावना भी परिवर्त्तित कर ली है। भक्तिकाल में भक्ति और जीवन में विश्राम की कामना थी, शृंगारकाल में शृंगार ही काम्य हो गया था; पर आज सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक भावनाओं का प्रकाशन ही मुख्य हो गया है। प्रायः सभी महाकाव्यों में भारतीय परतंत्रता की छटपटाहट एवं इससे मुक्ति की चिन्ता अभिव्यक्त है ही। कथा की ऐतिहासिकता के निर्वाह के कारण कवि कहीं-कहीं प्राचीन मान्यताओं को भी जकड़ बैठा है, जो आज के युग के अनुरूप नहीं-सा लगता है। यहाँ एक उदाहरण पर्याप्त होगा। 'राम की शक्तिपूजा' में दुर्गा द्वारा अन्तिम नीलकमल चुपके से उठा लेने पर निराला ने राम की वेदना का चित्रण किया है। वहाँ वे तुलसी के राम की तरह ही कह उठते हैं—'जानकी! हाय उद्धार प्रिया का हो न सका।' जब निराला जैसे प्रगतिशील और विद्रोही कवि के राम का आदर्श भी मात्र 'प्रिया-उद्धार' ही है, तो दूसरे की बात क्या की जाय। यद्यपि ऐसे स्थल हैं, पर थोड़े, शेष में अधिकांशतः विचारों की नवीनता ही मिलती है।

आधुनिक रामकाव्य के सम्बन्ध में तीसरी बात यह है कि इन काव्यों में मूलतः पूर्ववर्त्ती रामकाव्य के उपेक्षित पात्रों को ही अधिक स्थान दिया गया है। 'साकेत', 'साकेतसन्त', 'कैकेयी', 'उर्मिला' इत्यादि महाकाव्यों में उपेक्षित पात्रों के साथ ही न्याय की भावना रही है। इससे एक लाभ अवश्य हुआ है कि कवियों ने अपनी-अपनी कल्पना और उसकी समाहारशक्ति का पूरा परिचय दिया है। इस

प्रकार के काव्यों की रचना की प्रेरणा रवीन्द्र बाबू के निबन्ध (काव्येर उपेक्षिता) से ही मिली थी।

चौथी बात यह है कि समस्त रूप से विचारने पर ऐसा लगता है कि विशुद्ध रूप में रामकाव्य इसी युग में अवतरित हुआ है। यद्यपि ये कवि तुलसी से आगे नहीं गये हैं और तुलसी के समान इनकी ख्याति भी नहीं हुई है, पर इनका महत्त्व अपने ढंग का है अवश्य। हाँ, यदि भक्ति को अलग कर देखें तो इन्हें तुलसी-साहित्य के पूरक रूप में ही ग्रहण करना अधिक संगत होगा।

हिन्दी में रामकथा का विस्तार काव्यों तक ही सीमित नहीं रहा है। नाटक-साहित्य में तो इसने प्रायः प्रारम्भ से ही स्थान बना लिया था। पीछे प्राणचन्द चौहान और हृदयराम के नाटकों के नाम गिनाये गये हैं। शृंगारकालीन नाटक-साहित्य में रामकथा ही अधिक प्रसिद्ध विषय रहा है। आधुनिक युग में पचासों नाटक रामकथा पर आधारित हैं। इधर रामकथा को उपजीव्य बनाकर उपन्यास तथा अनेक गद्यग्रन्थ लिखे गये हैं। गद्य में प्रमुखता की दृष्टि से राम-नाटक-साहित्य ही महत्त्वपूर्ण है।

हिन्दी-रामकाव्य पर विचार करते समय अक्सर ऐसा कहा जाता है कि इसका कृष्णकाव्य की तरह समुचित विकास नहीं हो सका। वस्तुतः इस कथन में आंशिक सत्य ही है। हाँ, एक बात है अवश्य कि तुलसी के मानस के समक्ष आगे का रामसाहित्य सदा फीका लगा, जिससे अन्य रचनाओं का न तो समादर हुआ और न पठन-पाठन। दूसरी बात यह कि रामकाव्य मूलतः प्रबन्धात्मक रहा है। सबमें प्रबन्धरचना की क्षमता होती भी नहीं है। फिर, शृंगारकाल तो प्रबन्ध की दृष्टि से प्रायः अक्षम ही रहा है। तत्कालीन परिस्थितियाँ भी रामकाव्य के प्रतिकूल ही रही हैं। रामकाव्य जिस मर्यादा और गम्भीरता को लिये चल रहा था, उसके सम्यक् निर्वाह की क्षमता का अभाव भी इसके विकास में बाधक बनता रहा है।

अन्त में, हिन्दी-रामकाव्य के सम्बन्ध में मात्र इतना ही कहा जायगा कि उत्तर भारत के निवासियों के लिए यदि नैतिक मेरुदण्ड का किसी ने काम किया है तो इस रामकाव्य ने ही। साथ ही इसने ऐहिक उत्थान के लिए भी हमें प्रेरित किया है। राष्ट्रीयता का मन्त्र वस्तुतः नये सिरे से तुलसी के मानस ने ही दिया था। इसी काव्य ने हमें 'जय महावीर', 'जय हनूमान्' आदि के नारे दिये तथा राम के धनुर्धर रूप को सामने लाकर हममें शक्ति का संचार किया। तभी तो गाँव-गाँव में हनूमान्-मन्दिर की स्थापना हुई और शक्तिसंवर्द्धन के निमित्त अखाड़े बने। वही संवर्द्धित शक्ति प्रथम भारतीय स्वातंत्र्य-समर के रूप में फूटी और पुनः नये रूप में आधुनिक राष्ट्रीयता का बाना धारण कर सकी। निश्चय ही रामकाव्य भारतीयों के लिए प्राणस्वरूप है। आज इसे बदलती परिस्थिति के अनुसार हमें युगानुरूप बनाना है।

१३

सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास

[आलोचनशैली— सूक्तिशैली— सूक्तिशैली की आलोचना : संस्कृत-हिन्दी की परम्परा—विषय, भाषा और शैली— तात्पर्य]

हिन्दी का शृंगारकालीन साहित्य संस्कृत-साहित्य के अनुवदन का पूर्णतः अनुधावन भले ही न हो, पर यह असन्दिग्ध रूप में मान्य है कि पूर्ववर्त्ती साहित्य (संस्कृत, प्राकृत आदि) से जितना अनुप्राणित यह काल है, उतना अनुप्राणित सम्भवतः हिन्दी-साहित्य का कोई अन्य काल नहीं है। लक्षण की बात तो जाने दीजिए, संस्कृत, प्राकृत आदि के सरस उदाहरणों के अनुवाद भी कर लिये गये हैं। क्या रस, क्या अलंकार— सभी विषयों पर संस्कृत के लक्षणग्रन्थों की पूरी छाप वर्त्तमान है। इसी से कहा जाता है कि शृंगारकालीन काव्यजीवियों की रचनाएँ स्वानुभूत नहीं, ग्रहीत हैं। पूर्ववर्त्ती साहित्य ने शृंगारकालीन काव्य को काव्यविषय ही नहीं, काव्य-शैलियाँ भी दी हैं। उन्हीं काव्यविषयों और शैलियों को अपनाकर उस युग के अधिकांश कवि राजाओं और सामन्तों के यहाँ धन्धा कर रहे थे। वे कलावन्त ही नहीं, पेशेवर भी बन चुके थे। वे राजाओं और सामन्तों के लिए सौन्दर्य की कठ-पुतलियाँ खरादा करते थे—सौन्दर्य चाहे वैभव-विलास का हो अथवा उन्मादक वातावरण का, सामन्तों की चाटुकारिता का हो अथवा हाव-भाव और रूप-गुण से सम्पन्न नायिकाओं का। हाँ, दरबारों के दम-घोंट वातावरण से उन्हें जब कभी अवकाश मिल जाता था, तो मनबहलाव के लिए ही सही, वे शुद्ध साहित्यिक की रुचि और प्रतिभा लेकर भी थोड़ा-बहुत विचार कर लेते थे।

पर यह तो सच है कि मात्र अतिपवित्रतावादी दृष्टिकोण अपनाने वाले आलोचक ही शृंगारकालीन काव्य में मात्र बुराई-ही-बुराई देखते हैं। वस्तुतः वहाँ सब कुछ 'नीति-गलीत' ही नहीं है। सच पूछा जाय तो हिन्दी में सर्वाधिक शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण यहीं मिलता है। इसके पूर्व का अधिकांश हिन्दी-साहित्य या तो साम्प्रदायिक है या शिक्षाप्रद। शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत कम ही रचनाएँ रखी जायँगी। जैनों, सिद्धों और सन्तों के साहित्य की कौन कहे, लोकनायक बाबा तुलसीदास की रचनाएँ भी शृंगारकाल तक मात्र भक्तों-रामायणियों के मध्य ही प्रचलित थीं। हाँ, उस समय तक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था सूर का 'सागर' (सूरसागर) जिसमें भक्त ही नहीं, रसिक जीव भी गोते लगा रहे थे। रही

बात आधुनिक काल की। अब जरा आप ही सोचें— क्या आधुनिक काल का समस्त साहित्य शुद्ध साहित्य है; क्या सभी साहित्यकार राजनीतिक दाव-पेचों से मुक्त हैं? यदि नहीं, तो समस्त साहित्य 'शुद्ध साहित्य' के अन्तर्गत कैसे आ सकेगा? अस्तु, हम कहेंगे कि शृंगारकालीन काव्यजीवियों को मात्र चाटुकार कह देने से काम नहीं चलेगा। वे शुद्ध साहित्यिक भी थे। इसका प्रमाण तो यही है कि आज भी उस कविता से हम चाहे जितना नाक-भौंह सिकोड़ें, पर शृंगार आदि के शुद्ध उदाहरण वहीं प्राप्त करते हैं। चाहे जो हो, विस्तार में न जाकर हमें इतना ही कहना है कि हिन्दी के तीन महान् कवियों के सम्बन्ध में निम्नांकित उक्ति शृंगारकालीन कवियों के स्वस्थ और साहित्यिक दृष्टिकोण का परिचायक है—

सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥

यहाँ 'अब के कवि' से तात्पर्य वर्त्तमान युग के कवियों से नहीं है, अपितु शृंगारकाल के कवियों से है। अक्सर लोग ऐसा कहते-सुनते देखे जाते हैं कि 'अब के कवि' से तात्पर्य अद्यतन युग के कवियों से ही है। पर यह कोरी भूल है। हिन्दी के एक विद्वान् प्रोफेसर का मत है कि 'यह मान्यता निश्चयात्मक रूप से उस युग की है, जिसमें काव्य का साध्य मनोरंजन ही माना जाता रहा होगा।' पर, मेरा ऐसा दृढ़ विश्वास है कि यह मान्यता उस युग की है जिसमें काव्य का साध्य मनोरंजन नहीं, काव्य ही था। यह मान्यता सूक्तिशैली में लिखी जाने वाली निर्णयात्मक आलोचना का परिचायक है, जिसमें कहने वाले ने हिन्दी-काव्यपरम्परा को प्रोज्ज्वल करने वाले प्रकाश के साथ तारतम्य स्थापित करने की चेष्टा की है। कहने वाला सीधे-सादे किन्तु स्पष्ट ढंग से यह बतला देना चाहता है कि हिन्दी-काव्य को सर्वाधिक प्रकाश मिला है सूरदास से, उससे कम तुलसीदास से और उससे अपेक्षाकृत कम प्रकाश मिला है आचार्य कवि केशवदास से। इन तीनों के अतिरिक्त अन्य कवियों से (शृंगारकाल के कवियों से) हिन्दी-काव्य को प्रकाश नाममात्र के लिए ही मिला है। विवेचन के क्रम में हमें यह स्पष्ट रूप से जानना है कि इन कवियों ने हिन्दी-काव्य को किन रूपों में प्रकाशित किया है।

जैसा कि मैंने ऊपर निर्देश किया है, उपर्युक्त छन्द सूत्रमयी शैली में निर्णयात्मक आलोचना का परिचायक है। आज की आलोचना में निर्णयात्मक पद्धति का महत्त्व गौण हो गया है। साथ ही, आज की आलोचना सूत्रकथन से अधिक तर्कयुक्त प्रमाण को महत्त्व देती है। जिस युग में उपर्युक्त छन्द चल पड़ा था, हिन्दी-आलोचना प्रायः जन्म ही ले रही थी। सैद्धान्तिक आलोचना की ओर आचार्य कवियों का ध्यान तो मुड़ चुका था, पर व्यावहारिक आलोचना का क्षेत्र रिक्त था। कभी-कभी छिट-पुट रूप में लोग इस प्रकार की बातें कहने लगे थे—

१. कबीर कानि रखी नहीं, बर्नास्रम षट दरसनी।
भक्ति बिमुख जो धरम, ताहि अधरम करि गायो ॥ —भक्तमाल

२. तुलसी गंग दोऊ भए, सुकबिन के सरदार।
इनकी काव्यनि में मिली, भाषा बिबिध प्रकार ॥ —भिखारीदास

श्रृंगारकालीन काव्य तक इस प्रकार की निर्णयात्मक आलोचना विकसित हो चुकी थी। इस प्रकार की आलोचना का विकास संस्कृत के प्रभाव के कारण ही हो सका था। संस्कृत में आलोचना कई शैलियों में विकसित हो चुकी थी—आचार्यशैली, टीकाशैली, शास्त्रार्थशैली, सूक्तिशैली, खण्डनशैली, लोचनशैली इत्यादि अनेक प्रकार की शैलियों में। निर्णयात्मक आलोचना के लिए लोग सूक्ति-शैली में इस प्रकार की बातें वहाँ भी लिख चुके थे—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

निर्णयात्मक आलोचना का उपर्युक्त छन्द (सूर सूर तुलसी ससी........) संस्कृत की इसी परम्परा का विकास है और हिन्दी-काव्यपरम्परा को प्रकाशित करने वाले तीन सर्वश्रेष्ठ कवियों में तारतम्य स्थापित करने का प्रयास है। कहने वाले ने सूर्य, चन्द्रमा और उडुगन से क्रमशः सूरदास, तुलसीदास और केशवदास को उपमित किया है।

जिस प्रकार भवननिर्माण के लिए ईंटे, गारे और निर्माणशैली की योजना आवश्यक है, उसी प्रकार काव्यरूपी अट्टालिका के निर्माण-हेतु काव्यविषय (ईंट), भाषा (गारा) और काव्यशैली (निर्माणशैली) का सुनियोजन आवश्यक है। इन तीनों में से किसी एक के अभाव में काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती। यहाँ उपर्युक्त उक्ति के माध्यम से कहने वाला स्पष्ट रूप में घोषणा कर रहा है कि श्रृंगार-कालीन काव्य को सूर ने काव्यविषय, तुलसी ने भाषा और केशवदास ने काव्यशैली प्रदान की है। काव्य में सर्वाधिक महत्त्व काव्यविषय का होता है। काव्यविषय के पश्चात् काव्य के लिए दूसरी महत्त्वपूर्ण वस्तु है भाषा। भाषा के माध्यम से ही काव्यविषय की अभिव्यक्ति सम्भव है। भाषा के पश्चात् महत्त्व है काव्यशैली का। श्रृंगारकालीन काव्य पर विचारने से स्पष्ट है कि इस युग के कवियों ने काव्यविषय के लिए सूर को, भाषा के लिए तुलसी को और काव्यशैलियों के लिए आचार्य केशव को आदर्शरूप में स्वीकार किया है।

सूर के काव्य के आलम्बन हैं राधाकृष्ण। राधाकृष्ण को आलम्बनरूप में ग्रहण कर सूर ने वात्सल्य और श्रृंगार के क्षेत्रों में कमाल दिखलाया है। वात्सल्य और श्रृंगार को जितनी व्यापकता और गम्भीरता इन्होंने दी, अन्यत्र दुर्लभ है। ये थे तो नेत्रहीन, पर वात्सल्य और श्रृंगार का कोना-कोना झाँक आये थे। इनके

शृंगारवर्णन की दाद देते हुए आचार्य शुक्ल को कहना पड़ा कि "हिन्दी-साहित्य में शृंगार का रसराजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया तो सूर ने।" काव्यविषय की दृष्टि से यदि शृंगारकालीन कविता पर विचार करें तो स्पष्ट है कि वहाँ भी आलम्बनरूप में राधा और कृष्ण ही ग्रहीत हैं। हाँ, यह सच है कि सूर के राधाकृष्ण अलौकिक हैं और शृंगारकाल के राधाकृष्ण पूर्णतः लौकिक—सामान्य नायिका-नायक मात्र। शृंगारी कवियों ने 'राधा-कृष्ण', 'साँवलिया', 'लाल', 'लला' इत्यादि शब्दों के अर्थ ही बदल दिये हैं। पर क्या यह सच नहीं है कि सूर ने भी राधाकृष्ण की शृंगारलीला के चित्रण में मर्यादा की लीक तोड़ दी है? जब भक्तप्रवर सूरदास ही ऐसा लिख सकते थे—

> ग्वालिन तैं मोरी गेन्द चुराई।
> खेलत आन परी पलका बिच अँगिया माँझ दुराई॥
> भुज पकरत मोरी अँगिया टटोवत छूवत छतियाँ पराई।
> सूरदास मोहिं यही अचम्भो एक गई द्वै पाई॥ —सूरसागर

तो शृंगारी कवियों की कौन कहे? उन्हें तो मानो नैतिक समर्थन ही प्राप्त हो गया था। फिर बहुत पहले विद्यापति ने तो परम्परा लगा ही दी थी। अस्तु, वही हुआ जो होना चाहिए था। सूर के पश्चात् के कृष्णभक्त और शृंगारकाल के कवियों ने अपनी काव्यसाधना में राधाकृष्ण को आलम्बन (काव्यविषय) के रूप में खुलकर ग्रहण किया। सूर को सूर्य से उपमित करने का यही रहस्य है।

आलम्बन (काव्यविषय) मिल जाने के पश्चात् प्रश्न था भाषा का। भक्तिकाल तक हिन्दी-काव्यभाषा का स्वरूप स्थिर न हो सका था। एक ही साथ कई भाषाएँ चल रही थीं। जहाँ कृष्णभक्त अपनी रचनाएँ ब्रजी में प्रस्तुत कर रहे थे, कृष्णकाव्य-कोकिला मीरा राजस्थानीमिश्रित ब्रजी में विरहनिवेदन कर रही थी। शील और मर्यादा के स्थापक तुलसी अवधी में छोटे-छोटे प्रबन्ध (नहछू, पार्वती-मंगल, जानकीमंगल आदि) लिख रहे थे। सूफी कवि जायसी ठेठ अवधी का पल्ला पकड़े थे और सन्तों ने तो मानो कई भाषाओं की बेमेल खिचड़ी तैयार करने का व्रत ही ले लिया था। पर, इसी समय काव्यभाषा अपनी स्थिरता प्राप्त करती जा रही थी। 'रामचरितमानस' में तुलसी भाषा के उस सम्भावित रूप को टकसाली बना रहे थे, जिसे परवर्त्ती कवियों ने आदर्शरूप में ग्रहण किया। तुलसी ने रामायण की भाषा गढ़ी है, खरादी है और उसे शक्ति भर सम्वर्द्धित करने की कोशिश की है। जो विद्वान् रामायण की भाषा को ठेठ अवधी अथवा मात्र अवधी मानते हैं, वे अन्धकार में हैं। अवधी तो जायसी की भाषा है, तुलसी की नहीं। तुलसी ने अवधी के शब्दों को साहित्यशास्त्रीय खराद पर चढ़ाकर शुद्ध किया है और प्रयोग में ब्रजी के क्रियापदों से उनका मेल किया है। असल बात है, वे सामंजस्य-

वादी थे—मात्र भाव में ही नहीं, भाषा में भी। ब्रजी और अवधी का मेल कर उन्होंने जो शुद्ध साहित्यिक भाषा तैयार की, परवर्त्ती युग में वही भाषा आदर्शतम काव्यभाषा के रूप में ग्रहीत हुई है। इस सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कथन देखा जा सकता है— "परवर्त्ती हिन्दी-साहित्य (शृंगारकालीन साहित्य) में जो भाषा सर्वमान्य हुई वह ब्रजी और अवधी से मिश्रित खिचड़ी है। ढाँचा ब्रजी का होने पर भी अवधी के केवल शब्द ही नहीं, प्रयोग भी उसमें बेखटके रखे जाने लगे। इन पश्चिमी (ब्रजी) और पूर्वी (अवधी) दोनों भाषाओं को मिश्रित किया तुलसीदास ने। इस प्रकार परवर्त्ती शृंगारकाल की भाषा उन्हीं की देखा-देखी उन्हीं के आदर्श पर मिश्रित हुई।" हाँ, तो अब हम बेखटके कहें कि शृंगारकाल की भाषा के आदर्श बने तुलसी, जिन्होंने अवधी का ब्रजी से सामंजस्य किया। शृंगार-काल की आदर्श काव्यभाषा के सम्बन्ध में आचार्य भिखारीदास का यह छन्द देखा जा सकता है—

> भाषा बृजभाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोइ।
> मिलै संस्कृत पारस्यौ, पै अति प्रगट जु होइ॥
> बृज मागधी मिलै अमर, नाग जमन भाषानि।
> सहज पारसी हूँ मिलै, षटबिधि कबित बखानि॥

इस भाषा के आदर्श कवि थे तुलसी और गंग—

> तुलसी गंग दोऊ भए, सुकबिन के सरदार।
> इनकी काव्यनि में मिली, भाषा बिबिधि प्रकार॥

तो अब स्पष्ट हो गया कि तुलसी को शशि से उपमित करने का क्या रहस्य है। एक बात और। यहाँ यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न हो जाता है कि शृंगार-कालीन कवियों ने भाषा के लिए ही तुलसी को आदर्श क्यों चुना; काव्यविषय के लिए ये आदर्श क्यों नहीं बने ? क्या सूर से तुलसी कविकर्म में हेठे पड़ते हैं ? इसी प्रकार के और भी प्रश्न उठ जाते हैं। इन प्रश्नों के समाधान के लिए मूल बात यही कही जायगी कि वस्तुतः तुलसी न तो सूर से हेठे हैं और न सूर तुलसी से ओछे—यहाँ तो 'को बड़ छोट कहत अपराधू' वाली उक्ति ही सामने आ जाती है। किन्तु ऐसा कहने से तो काम न चलेगा। अस्तु, इन प्रश्नों पर विचार करते हुए तत्कालीन मनोवृत्ति और साहित्यालोचन के मानदण्डों को ग्रहण करना होगा। वस्तुतः जिस समय 'सूर सूर तुलसी ससी' जैसा निष्कर्ष दिया गया, उस समय तक सूर और तुलसी कवि की अपेक्षा भक्त की कोटि में ही रखे जाते थे। तुलसी को कविरूप में सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण बताने वाले हैं ग्रियर्सन। ग्रियर्सन द्वारा जो आलोचना प्रारम्भ हुई, वह आचार्य शुक्ल द्वारा पूरी हुई। आचार्य शुक्ल ने तुलसी-साहित्य की आलोचना कर उन्हें पूर्ण साहित्यिक के रूप में प्रतिष्ठित किया। इसके पूर्व तुलसी-साहित्य का अध्ययन साहित्य के रूप में नहीं, धर्मशास्त्र के रूप में ही होता

आ रहा था। रामायण में नीति और शील की जो प्रतिष्ठा तुलसी ने की थी, परवर्त्ती युग में काव्यविषय में उसके ग्रहीत न होने का यही रहस्य है। परवर्त्ती कवि रसिक जीव थे। उनकी रसिकता के लिए रामकाव्य से विषय नहीं मिल सकते थे। दूसरी ओर सूर ने भक्तिप्रवण गीतों की रचना की, किन्तु वहाँ रसिकता के लिए पूरा स्थान था। इसी से उनकी रचनाएँ भक्तों और रसिकप्रवृत्ति के व्यक्तियों में समान रूप से प्रचलित थीं। इसी से परवर्त्ती काव्य में उन्हीं से लोगों ने आलम्बन लिये।

आचार्य शुक्ल ने अपनी आलोचना के क्रम में उपर्युक्त दोहे पर विचार करते हुए कहा है कि "किसी ने यमक के लोभ के कारण यह दोहा कहा है।" पर, जैसा कि मैंने ऊपर बतलाया है, वस्तुतः यह दोहा मात्र यमक के लोभ से नहीं कहा गया था। उस युग की वही मान्यता थी। आज की आलोचना का मानदण्ड बदल चुका है। आज तुलसी मात्र धर्मशास्त्र के ही प्रणेता नहीं माने जाते, अपितु वे सच्चे साहित्यकार का पद भी प्राप्त कर चुके हैं। उनका साहित्य धर्म और मंगल की ज्योति से पूर्ण है, जिसने अमंगलरूपी अन्धकार को नष्ट किया है। अमंगलरूपी अन्धकार को नष्ट करने में उनका साहित्य मंगलशशिवत् है। इस रूप में भी हम उन्हें शशि से उपमित कर सकते हैं। अमंगलरूपी अन्धकार को मंगलसूर्य भी नाश तो करता ही है, फिर उन्हें सूर्य ही क्यों न कहा जाय? यहाँ एक आपत्ति होगी। सूर्य में तिमिरविदारण क्षमता तो है, पर संसार को वह उत्ताप भी प्रदान करता है। यह किसे विदित नहीं है कि ग्रीष्म के उत्ताप से लोग घरों में छिपकर विश्राम करते रहते हैं। तात्पर्य यह कि सूर के काव्य ने अन्धकार को नष्ट तो किया, पर अतिशय रसिकता प्रदान कर संसारवासियों को लौकिक उत्ताप भी दिया—भक्ति के गीतों से नैतिकता जितनी बनी, शृंगारलीला के गीतों ने वासना के लिए उतना ही प्रेरित भी किया। अस्तु, सूर सूर्य ही रहे। दूसरी ओर राका-शशि अन्धकार को चीरता ही नहीं, शुभ्रता, शीतलता, पवित्रता इत्यादि भी प्रदान करता है। इसी प्रकार तुलसी के काव्य ने अमंगल का नाश ही नहीं किया, अपितु मंगल-पथ पर संसार चलता रहे इसके निमित्त सामाजिक और नैतिक विधान भी स्थापित किये। इसी से तुलसी शशि से उपमित हुए।

लगे हाथ यहाँ शुक्लजी की बात भी देख ली जाय। उन्होंने वैसे लोगों पर आक्रोश प्रकट किया है जो आचार्य भिखारीदास के 'तुलसी गंग दोऊ भए....' वाले पद का अर्थ 'काव्यों में विविध प्रकार की' मिली-जुली भाषा ग्रहण करते हैं। तात्पर्य यह कि वे तुलसी और गंग की भाषा को मिली-जुली मानने के पक्ष में नहीं हैं। बात है भी बहुत ठीक। कोई भी उत्तम कवि अपनी रचना में भाषा की खिचड़ी नहीं तैयार करना चाहता है। पँचमेल और छमेल की क्रिया से भाषा ही

बेमेल हो जाती है। वस्तुतः इस दोहे में जिस मेल की ओर संकेत किया गया है, वह मेल नहीं, सामंजस्य है। मेल और सामंजस्य में अन्तर हुआ करता है। तुलसी और गंग ने अपनी भाषा को टकसाली बनाने के लिए ही वैसा किया था। इसकी पुष्टि आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र वाले उद्धरण से भी की जा चुकी है। अस्तु, शंका की बात नहीं रह जाती कि शृंगारकालीन कवियों ने तुलसी की भाषा को ही आदर्शरूप में क्यों ग्रहण किया।

काव्यविषय और काव्यभाषा मिल जाने के पश्चात् समस्या थी काव्य-शैली की, जिसकी पूर्त्ति हुई आचार्य केशवदास से। शृंगारकाव्य में न तो सूर की काव्यशैली चली और न तुलसी की, अपितु केशव की काव्यशैली ही आदर्श बन गयी। समस्त शृंगारकाल में कवित्त-सवैयों की शैली प्रधान रही है, जिसका प्रतिपादन आचार्य केशव ने अपने रीतिग्रन्थों (कविप्रिया और रसिकप्रिया) में किया था। सूर की शैली पदों की शैली रही है, जिसे किसी कवि ने ग्रहण नहीं किया है। तुलसी ने अपने समय में चलने वाली सभी काव्यशैलियों में रचनाएँ की हैं; पर सबमें प्रमुख शैली रही है दोहा-चौपाई वाली। इसे रामायणी शैली भी कह सकते हैं। रामायणी शैली ही सन्तों में 'रमैनी' बन गयी है। शृंगारकाल में यह शैली भी नहीं चली। बात यह थी कि शृंगारकाल में वही शैली चल सकती थी जिसमें पठंत छन्द ही रखे जायँ। सभा-समाजों में पठंत छन्द ही महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं। राजदरबारों में कविता पाठ कर चमत्कार उत्पन्न करने वाले कवियों ने कवित्त-सवैयों को ही इसके लिए उपयुक्त समझा। इसके नियत आरोह-अवरोह, तुकान्तता, नादसौन्दर्य इत्यादि ने कवियों को आकर्षित कर लिया था, जिससे यही शैली खूब चली। यहाँ ऐसी शंका की जा सकती है कि कवित्त-सवैये लिखने वाले मात्र केशव ही नहीं थे, अपितु उनसे पूर्व तुलसी के अलावा नरोत्तमदास और रसखान भी तो थे; फिर क्या कारण था कि केशव की ही शैली चली? इसका सीधा उत्तर इतना ही है कि शृंगारकाल चमत्कारप्रधान युग था, इसकी आदर्श काव्यशैली चमत्कार-युक्त शैली ही हो सकती थी। चमत्कारयुक्त कवित्त-सवैयों की शैली का प्रतिपादन मात्र केशव ने ही किया था, अन्य ने नहीं। रसखान आदि के सवैयों में अनुभूति की प्रवणता तो है, पर केशव के समान चमत्कृति नहीं। इसी से शैली के लिए शृंगारकालीन कवियों ने आचार्य केशव को ही आदर्श माना है। चूँकि शैली का महत्त्व काव्य में सबसे घटकर है, इसी से उन्हें उडुगण से उपमित किया गया है। कविपुंगवों द्वारा कवि-दंगलों में कवित्त-सवैयों का प्रयोग खूब हुआ है। ये छन्द दंगली भी खूब थे—

> ठाकुर सो कबि भावत मोहिं जो राजसभा में बड़प्पन पावे।
> पंडित और प्रबीनन को जोइ चित्त हरै सो कबित्त कहावै।।

इस प्रकार 'सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास' की संगति पूर्णतः बैठ जाती है। चूँकि काव्यविषय, भाषा और शैली के बाद काव्य के लिए कोई अधिक नवीन बात शेष नहीं रह गयी थी और शृंगारकाल के कवियों ने इन क्षेत्रों में कोई नवीनता नहीं दिखायी, आगे किसी ने युग को प्रभावित नहीं किया, इसी से उन्हें 'खद्योत' कहकर अभिहित किया गया है।

अन्त में इतना कहा जायगा कि आज यह दोहा 'यमक के लोभ के कारण' प्रणीत भले ही प्रतीत हो, पर वस्तुतः उस समय मात्र 'यमक के लोभ के कारण' नहीं लिखा गया था। कहने वाले ने बड़ी सूझ-बूझ के साथ हिन्दी के तीन सर्वश्रेष्ठ कवियों —सूर, तुलसी और केशव—से हिन्दी-काव्यपरम्परा को मिलने वाले प्रकाश का तारतम्य स्थापित किया था। आज भी इसकी सचाई अधिक बदली नहीं है। आज जायसी के कारण केशव अपने स्थान से अपदस्थ भले ही हो गये हों, पर साहित्य-जगत् में उनका स्थान अग्रगण्य-सा माना जाता था।

●

१४

शृंगारकाल

[उपक्रम—नामकरण—सीमानिर्धारण—प्रवर्त्तक—परिस्थितियाँ—दो मत—प्रवृत्ति और परम्परा—उपसंहार]

हिन्दी-साहित्य का उत्तर-मध्यकाल दो सौ वर्षों का (विक्रमाब्द १७००-१६००) काल है। विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से यह काल सर्वथा नवीन साहित्य का काल है। हिन्दी-साहित्य में जीवन के प्रति भौतिक दृष्टिकोण सर्वप्रथम यहीं मिलता है। इस लम्बी अवधि के कवि सच्चे अर्थों में जीवन और यौवन के कवि हैं। यह लोकसाहित्य का काल भले ही न हो, पर भौतिकवादी साहित्य का काल अवश्य है। इस काल का साहित्य पांडित्यप्रदर्शन और कविकर्म को साथ-साथ लेकर चला है। इस लम्बी अवधि को राजनीति की दृष्टि से मुगलों का ह्रासकाल, समाज की दृष्टि से अनीति का काल, धर्म की दृष्टि से पतनोन्मुख काल, कला की दृष्टि से अलंकरणकाल और साहित्य की दृष्टि से अनारोपित काव्यकाल कहना चाहिए। कविता के अन्तरंग की दृष्टि से इसे शृंगारकाल और बहिरंग की दृष्टि से अलंकृत काल कहना ही श्रेयस्कर है। इस काल का महत्त्व इसी में है कि समस्त पूर्ववर्त्ती धारा को आत्मसात् कर इसने कविता में एक सर्वथा नवीन मार्ग दिया है। यह सच है कि यह नवीन मार्ग ही इसके अनुकूल और प्रतिकूल आलोचना का कारण बना है; पर इस नवीन मार्ग का विशिष्ट महत्त्व है अवश्य।

पूर्ववर्त्ती हिन्दी-साहित्य की तरह ही यह काल भी कतिपय विषयों को लेकर विवादग्रस्त काल ही है। इसके नामकरण, सीमानिर्धारण आदि में आज भी अनेक भ्रान्तियाँ हैं। इसे अलंकृत काल (मिश्रबन्धु, आचार्य चतुरसेन), रीतिकाल (आचार्य शुक्ल), शृंगारकाल (आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र), कलाकाल (डॉ० रसाल), रीति-शृंगार-युग (कतिपय समवन्यवादी) इत्यादि अनेक नामों से अभिहित किया गया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "यहाँ साहित्य को गति देने में अलंकारशास्त्र का ही जोर रहा है जिसे उस काल में 'रीति', 'कवित्त-रीति', 'सुकवि-रीति' कहने लगे थे। सम्भवतः इन शब्दों से प्रेरणा पाकर शुक्लजी ने इस श्रेणी की रचनाओं को 'रीति-काव्य' कहा है।" इससे स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने इसके नामकरण में बहिरंगविधान पर जोर दिया है, यद्यपि उनके द्वारा प्रदत्त अन्य कालों के नाम में अन्तरंग पक्ष ही प्रबल रहा है। संस्कृत में

'रीति' शब्द काव्यांगविशेष का बोधक रहा है। वहाँ 'विशिष्टा पदरचना रीतिः' संकेतित कर 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की घोषणा की गयी है। हिन्दी आचार्यों ने 'रीति' का प्रयोग कवित्त-रीति, कवि-रीति, काव्य-रीति, अलंकार-रीति, रस-रीति, मुक्तक-रीति, वर्णन-पन्थ, कवि-पन्थ इत्यादि के लिए किया है। सामान्य रूप से यह 'काव्य-रचना-पद्धति' के लिए प्रयुक्त है। किन्तु, इस काल में ऐसे अनेक कवि हुए हैं जिन्होंने इस पथ की अवहेलना कर काव्यरचना की है। अस्तु, रीतिकाल नाम चिन्तनीय है। यदि बहिरंगविधान को ही ध्यान में रखा जाय, तो 'रीतिकाल' की अपेक्षा 'अलंकृत काल' नाम ही अधिक सटीक लगता है। अन्तरंग पर विचार करने से 'शृंगारकाल' नाम की श्रेष्ठता सामने आ जाती है। रीतिकाल और अलंकृत काल जैसा नामकरण करने पर इस काल के अन्तर्विभाजन में बाधाएँ उपस्थित हो गयी हैं। इसी से 'बिहारीकाल', 'पद्माकरकाल', अथवा 'रीतिग्रन्थकार कवि' आदि नामों से काम चलाना पड़ा है। इसके बाद भी अनेक महत्त्वपूर्ण कवियों को फुटकल खाते में अलग फेंकना पड़ा है। वस्तुतः नामकरण में सर्वाधिक व्यापक प्रवृत्ति को ही आधार मानना उत्तम होता है। यदि शृंगार का रसमूलक अर्थमात्र लिया जाय, तो भी यही प्रवृत्ति इस पूरी अवधि में रचित साहित्य में उपलब्ध है। यों शृंगार का पेटा थोड़ा विस्तृत करके सोचने पर रीति और अलंकरण की प्रवृत्ति भी इसी में आ जाती है। इससे तो कोई इनकार ही नहीं कर सकता कि 'शृंगारकाल' जैसा नामकरण भी आचार्य शुक्ल ने ही सुझाया था; पर इसे नूतन तर्क और अन्वय द्वारा स्थापित किया है श्रद्धेय आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने। इससे आचार्य शुक्ल का अनादर नहीं होता, उनकी महत्ता ही बढ़ती है कि उनकी लीक पर चलकर साहित्यसेवी श्रद्धेय मिश्रजी ने अनेक झाड़-झंखाड़ों को दूर कर 'शृंगारकाल' को स्थापित किया। आज लोग इस नाम को मानना चाहकर भी जो नहीं मान रहे हैं, इसमें उनका दुराग्रह-सा ही लगता है। वस्तुतः, इस काल को 'शृंगारकाल' के नाम से ही अभिहित करना चाहिए। इसमें उपविभाजन की राह भी इन्होंने निकाल ली है— रीतिबद्ध काव्यधारा (लक्षणबद्ध काव्य और लक्ष्यमात्र काव्य) एवं रीतिमुक्त काव्यधारा (रहस्योन्मुख काव्य और शुद्ध प्रेमकाव्य)।

शृंगारकाल की दूसरी समस्या है सीमानिर्धारण को लेकर। वस्तुतः साहित्य के इतिहास में किसी भी कालविशेष की कोई निश्चित पार्थक्य-रेखा खींचकर विशेष प्रकार की प्रवृत्तियों को अलग नहीं किया जा सकता है। साहित्य में अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ एक ही साथ चलती रहती हैं। उन्हीं प्रवृत्तियों में से कोई एक अथवा दो प्रवृत्तियाँ किसी काल में तीव्र रूप धारण कर लेती हैं। कभी एक प्रवृत्ति प्रबल रहती है, तो कभी दूसरी। एक बार जो प्रवृत्ति जन्म ले लेती है, वह मरती कभी नहीं है, उसकी क्षीण धारा चलती अवश्य रहती है। एक प्रवृत्ति के प्रधान हो

जाने पर दूसरी प्रवृत्ति स्वतः दब जाती है। शृंगारकाल के पूर्व हिन्दी-साहित्य में भक्ति की प्रवृत्ति प्रधान थी; किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उस समय शृंगार की प्रवृत्ति थी ही नहीं। वस्तुतः शृंगार साहित्य में एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो सदा चलती रहती है। वस्तुतः इस प्रवृत्ति का प्रवाह संस्कृत-अपभ्रंश से आया और हिन्दी में भी निरन्तर चलता ही रहा है; पर इस कालविशेष में इसी की प्रधानता रही है।

शृंगार की शुद्ध अभिव्यक्ति साहित्य में भक्तिकाल में ही प्रारम्भ हो चुकी थी। सन्तों के अलौकिक प्रेम, सूफियों के प्रेम की पीर और कृष्णभक्तों की मधुरा भक्ति ने ही साहित्य में शुद्ध शृंगार की सबल प्रेरणा दी थी। भक्तिकाल के पिछले खेवे में रामभक्ति में भी मधुर उपासना चल पड़ी थी। कृष्णभक्ति का तो शृंगार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था ही। विक्रमाब्द १६०० के आस-पास से साहित्य में शुद्ध या पृथक् शृंगार की भावना जोर पकड़ रही थी। इस समय तक शृगार रस का स्वतंत्र निरूपण भी प्रारम्भ होने लगा था। दूसरी बात यह कि इसी समय से लक्षणग्रन्थ भी लिखे जाने लगे थे। रीतिग्रन्थकार के रूप में कृपाराम का प्रादुर्भाव हो चुका था। सूर (साहित्यलहरी) और नन्ददास (रसमंजरी) रीतिग्रन्थ भी रच रहे थे। इन ग्रन्थों में शृंगार और नायिकाभेद वर्ण्य के रूप ग्रहीत हो चुके थे। साथ ही संस्कृत की ह्रासोन्मुखी रचनाओं (चन्द्रालोक, कुवलयानन्द आदि) को आधार बनाकर अलंकारविवेचन की परिपाटी भी जम रही थी। तात्पर्य यह कि शृंगार और अलंकार के लक्षणग्रन्थों के प्रणयन का कार्य चालू हो चुका था। विक्रमाब्द १७०० के पूर्व तक कृपाराम (हिततरंगिणी), सूर (साहित्यलहरी), नन्ददास (रसमंजरी), गंग (फुटकल रचनाएँ), मोहनलाल (शृंगारसागर), मनोहर (फुटकल रचनाएँ), गंगाप्रसाद (?), करनेस (कर्णाभरण, श्रुतिभूषण, भूपभूषण), बलभद्र मिश्र (नखशिख), रहीम (बरवै-नायिकाभेद), केशवदास (रसिकप्रिया, कविप्रिया), मोहनदास (बारहमासा), हरिराम (छन्दरत्नावली), बालकृष्ण (रसचन्द्रिका), मुबारक (अलकशतक, तिलकशतक), लीलाधर (नखशिख), सुन्दर (सुन्दरशृंगार), गोप (अलंकारचन्द्रिका), ब्रजपति भट्ट (रंगभावमाधुरी), छेमराज (फतेहप्रकाश) और सेनापति (षड्ऋतुवर्णन) अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर चुके थे। उपर्युक्त सबमें ही आचार्य केशव जैसे रीति के अधिकारी आचार्य भी आ जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि भक्तिकाल के अन्तर्गत भी शृंगारकाल की प्रभूत सामग्री प्रस्तुत की जा चुकी थी। किन्तु, इतना होने पर भी, इसे शृंगार और रीति की प्रवृत्तियों के उदय और विकास का समय—प्रस्तावना का समय ही मानना पड़ता है। इसका एकमात्र कारण यही है कि "सत्रहवीं शती में रीतिकाव्य का उदय तो हुआ, किन्तु परिमाण और गुण में उस समय का रीतिकाव्य (शृंगारकाव्य ?) भक्तिकाव्य से श्रेष्ठतर और प्रचुरतर नहीं था।" वस्तुतः भक्ति के प्रबल स्वर के आगे इस समय शृंगार और

रीति की प्रवृत्ति दबी रह जाती है। इसी से विक्रम की सत्रहवीं शती को शृंगार-काल का प्रस्तावना-काल ही कहेंगे।

इसकी उत्तरवर्त्ती सीमा अधिक स्पष्ट है। नवयुग की चेतना लेकर साहित्य में प्रवेश करते हैं भारतेन्दुजी। इन्होंने प्राचीन काव्यधारा को अक्षुण्ण तो रखा, पर नूतन चेतना और भावना को ही प्रधानता दी है। दो-चार दरबारों (काशी, रीवाँ आदि) को छोड़कर साहित्य में शृंगार की प्रवृत्ति टूटने-सी लगी थी। शृंगार की रचना निर्बाधरूप में विक्रमाब्द १६०० तक ही होती है। उसके पश्चात् नवीन प्रवृत्तियाँ ही जोर पकड़ लेती हैं। छिट-फुट रूप में शृंगारपरक और रीतिपरक रचनाएँ विक्रमाब्द १६७५ तक चलती रहती हैं; किन्तु इन पचहत्तर वर्षों में प्रधानता नूतन काव्यचेतना की ही रही है। अस्तु, शृंगारकाल मूल रूप से विक्रमाब्द १७०० से १६०० तक ही माना जायगा और संवत् १६०० से १७०० तक को इसका प्रस्तावना-काल तथा संवत् १६०० से १६७५ तक को शृंगारकाल का उपसंहार-काल कहा जायगा।

तीसरी समस्या है प्रवर्त्तन को लेकर। आचार्य शुक्ल के अनुसार, आचार्य केशव प्रथम श्रेष्ठ आचार्य मात्र हैं, प्रवर्त्तक नहीं। उन्होंने शृंगारकाल के प्रवर्त्तन का श्रेय चिन्तामणि त्रिपाठी को दिया है। उनका कथन है कि "हिन्दी में रीतिग्रन्थों की अविरल और अखण्डित परम्परा का प्रवाह केशव की कविप्रिया के पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श पर नहीं। × × × हिन्दी-रीतिग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीतिकाव्य का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए।" आचार्य केशव को शृंगारकाल का प्रवर्त्तक न मानने के पक्ष में आचार्य शुक्ल ने तीन कारण दिये—रीति की अखण्ड परम्परा का केशव के पचास वर्ष बाद चलना, परवर्त्ती कवियों द्वारा भिन्न आदर्श को अपनाना और केशव का भक्तियुग में पड़ना। यहाँ स्वाभाविक रूप से दो-तीन प्रश्न सामने आते हैं—क्या 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' रीति-परम्परा के बाहर पड़ते हैं? क्या केशव ने सर्वांगनिरूपण नहीं किया? क्या केशव को प्रवर्त्तक का श्रेय इसलिए नहीं दिया जाय कि रीति और शृंगार की अखण्डित परम्परा उनसे पचास वर्ष पीछे चली? क्या प्रवर्त्तक मात्र से ही परवर्त्ती कवियों को प्रेरणा ग्रहण करना आवश्यक है?

उपर्युक्त प्रश्नों पर विचार करने के पश्चात् कतिपय निष्कर्ष इस प्रकार दिये जा सकते हैं—यह सच है कि केशव के ग्रन्थ (रसिकप्रिया और कविप्रिया) रीति-निरूपक हैं। यह भी सच है कि वे सर्वांगनिरूपक नहीं हैं। पर, संस्कृत में भी कतिपय आचार्य (वक्रोक्तिकार, रीतिकार आदि) सर्वांगनिरूपक न होकर भी प्रवर्त्तक माने गये हैं। जहाँ तक आदर्श-स्थापना की बात है, मौलिक प्रतिभा न तो केशव में

ही है, न चिन्तामणि में। दोनों ने संस्कृत के साहित्यशास्त्र का अनुकरण किया है। फिर केशव का महत्त्व इसलिए अधिक है कि इन्होंने सर्वप्रथम मार्ग दिया है और चिन्तामणि तक तो अनेक कवि अपना आचार्यत्व प्रदर्शित कर बहुत-कुछ झाड़-झंखाड़ दूर कर चुके थे। दूसरी बात यह है कि केशव के प्रति देव और दास जैसे आचार्यों ने श्रद्धा प्रकट की है; पर चिन्तामणि के प्रति किसी ने कुछ कहा भी नहीं है। परवर्त्ती कवियों ने न तो आदर्शरूप में केशव को ग्रहण किया है और न चिन्तामणि को। सभी के आदर्श संस्कृत के आचार्य ही रहे हैं। परम्परा अखण्डित रूप में प्रायः केशव से ही मिलती है, यद्यपि उस समय पर भक्तिकाल की छाप ही अधिक है। यदि परम्परा न मिलती, तो भी मात्र इतने से ही उन्हें प्रवर्त्तक के पद से वंचित नहीं किया जा सकता था। वस्तुतः केशवदास भक्तिकाव्य और रीति-काव्य के सन्धिस्थल पर पड़ते हैं। एक ओर उनमें पिछली प्रवृत्तियाँ सिमटकर नष्ट होती दीखती हैं और दूसरी ओर नवीन प्रवृत्तियाँ जन्म लेती हैं। उनका व्यक्तित्व भारतेन्दु की तरह है। इसी से एक ओर वे 'वीरसिंहदेवचरित' और 'जहाँगीर-जसचन्द्रिका' की रचना करते हैं, तो दूसरी ओर 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' की। अस्तु, चिन्तामणि को प्रवर्त्तक मानना असंगत-सा है। यह तो एक संयोग है कि अखण्डित परम्परा चिन्तामणि से ही चलती है। वस्तुतः रीतिकाव्य के प्रवर्त्तक आचार्य केशव ही हैं, जिन्होंने हिन्दी में नवीन प्रकार की रचना का मार्ग प्रशस्त किया है। हिन्दी-काव्य को ये एक ऐसे चौराहे पर लाकर खड़ा कर देते हैं, जहाँ से वह अपना मार्ग स्वयं चुन लेता है।

दो सौ वर्षों की अवधि में जो एक ही प्रकार का काव्य रचा जाता रहा, वह हमें सोचने पर बाध्य करता है कि इसके पीछे प्रबल प्रेरणास्रोत ही नहीं, अनुकूल परिस्थितियाँ भी रही होंगी। राजनीतिक दृष्टि से यह काल निरंकुश राजतंत्र का काल था। अकबर ने सहिष्णुता की नीति से जिस साम्राज्य का निर्माण किया था, वह साम्राज्य शाहजहाँ के समय तक कलागत उदारता, विलासिता आदि में चरम सीमा पर पहुँच चुका था। दिल्लीश्वर जगदीश्वर के नाम से पुकारे जाने लगे थे। किन्तु, औरंगजेब की कट्टर नीति, रागात्मक तत्त्वों के बहिष्कार आदि के कारण साम्राज्य की नींव हिलने लगी थी। औरंगजेब के पश्चात् आगरे में जाट, राजस्थान में राजपूत, पंजाब में बन्दा बैरागी और दक्षिण में मराठे विद्रोह कर रहे थे। हरमों में रक्षिताओं की भीड़ थी। जहाँदार शाह तो हाथ में शीशा और कंघी ही लिये रहता था। वह लालकुँवर वेश्या के हाथों की कठपुतली बना हुआ था। उस वेश्या ने राजकार्य में मनमाने हस्तक्षेप किये, जिससे इतिहासकार के शब्दों में कहा जायगा कि "गिद्धों के नीड़ों में उल्लू रहने लगे तथा बुलबुलों का स्थान कागों ने ले लिया।" मुहम्मद शाह रँगीले अपनी रंगीनियों के ही कायल थे।

यथा राजा तथा प्रजा के अनुसार, सामाजिक अवस्था भी पूर्णतः विकृत ही थी। राजा और अमीर-उमरा के महल रूप-बाजार बन गये थे। नारी भोग और विलास का उपकरण बन गयी थी। राजे और शाहजादे तहखानों और खसखानों में असूर्यम्पश्याओं को सिरहाने लिये रहते थे। अर्द्धनग्न युवतियों और हिजड़ों के बीच ही घिरे रहना, तीतर-बटेर लड़ाया-भिड़ाया करना आदि इनके काम थे। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में— "मुगल अन्तःपुर का वैभव इन्द्रभवन को मात करता था।" षड्ऋतुवर्णन, दरबारों की सजावट के बयान आदि से यह स्पष्ट है कि उस समय की बैठकें और दरबार आज के 'एयरकंडीशंड चैम्बर्स' को भी मात करते थे। ऐसे दरबारों में कवियों का कार्य विलासिता उभाड़ना ही रह गया था। आचार्य शुक्ल के शब्दों में, इन दरबारों में "एक प्रकार के कविराज रईसों के मुँह में मकरध्वज-रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज मकरध्वज (कामदेव) रस की पिचकारी देते थे।" मध्यवर्ग की भी स्थिति लगभग ऐसी ही हो रही थी। रईसों का अनुकरण वे भी कर रहे थे। वे अपनी छोटी-सी गृहस्थी को भी ऐसे ही साधनों से भरना चाह रहे थे। वे राजभवन की सुन्दरियों और सभा की वेश्याओं को अपने घरों में ही देखना चाहते थे। अस्तु, इस वर्ग की नारियों की स्थिति भी बाह्य प्रदर्शन की ओर ही हो गयी थी। श्री एस० के० बनर्जी ने 'Lures of India' में लिखा है— "She has to be attractive to her husband as any mistress would be, yet her faithfulness to the lord should never be questioned. She had to be proficient in all the sixtyfour erotic arts."

समाज के निम्नवर्ग में अपेक्षाकृत नैतिकता बची हुई थी। पर, आर्थिक दृष्टि से इनकी अवस्था बुरी थी। ये दुहरे शासन के शिकार थे। हाँ, इनकी आस्था तुलसी, सूर आदि की रचनाओं में थी और ये धार्मिक काव्य में ही रुचि रखते थे, विलासकाव्य में नहीं।

धार्मिक दृष्टि से यह काल पतनोन्मुख काल था। भक्ति शृंगारसंवलित हो चुकी थी। 'नीवी करषत बरजत प्यारी' जैसे पद रामभक्त कवि लिख रहे थे, तो फिर दूसरों की बात क्या कही जाय! मन्दिर विलास के अड्डे बन चुके थे। पंडे-पुजारी मन्दिरों में राजयोग कर रहे थे। देवदासियाँ और वेश्याएँ ठाकुरजी की सेवा में लगायी जा चुकी थीं। मन्दिरों में बसनेवाले भगवान् के विलास को देखकर तो, डॉ० ताराचन्द के अनुसार, "अवध के नवाब तक को उनसे ईर्ष्या हो सकती थी, या कुतुबशाह भी अन्तःपुर में उनका अनुकरण करना गर्व की बात समझ सकते थे।" भगवान् की आराधना के मात्र उतने ही रूप चुने गये थे, जिनसे लोगों की रसिकता को

बढ़ावा मिल सकता था। उस समय ठाकुरजी की 'कोककला', 'रतिरहस्य' की शिक्षा के लिए कामशास्त्रीय ग्रन्थों के प्रणयन भी होने लगे थे। मन्दिरों के महन्थ भगवान् के प्रतिनिधि होने के नाम पर विलास में रत थे। इस सम्बन्ध में सन् १८२० ई० में लिखे एक अँगरेज यात्री कप्तान मैकवुड की पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—"The Maharaj is the master of their property and disposes of it as he pleases; and such is the veneration in which he is held that the most respectful families consider themselves honoured by cohabiting with their wives and daughters." निम्नवर्ग अपेक्षाकृत अधिक अशिक्षित और अन्ध-विश्वासी था। उसमें धर्म के बाहरी और आडम्बरी रूप—व्रत-उपवास, तीर्थाटन आदि—ही प्रचलित थे। वह पंडे-पुजारियों और सन्तों-महन्थों की अवहेलना नहीं कर सकता था। डॉ० यदुनाथ सरकार के शब्दों में—"हिन्दुओं का विश्वास यहाँ तक बढ़ गया था कि वे प्रत्येक विशालबाहु व्यक्ति को हनूमान का अवतार समझकर पूजना शुरू कर देते थे।" फिर भी यह वर्ग भ्रष्ट नहीं था। इसे भ्रष्ट किया अवश्य जा रहा था। इसी के कारण तो दरबारों में जहाँ 'इन्दरसभा' पनपती है, वहाँ ऐसे लोगों की झोपड़ियाँ 'रासलीला' और 'रामलीला' का विकास करती हैं।

इस समय कला का विकास भी बँधी परिपाटी पर हो रहा था। सर्वत्र मीनाकारी, पच्चीकारी और प्रदर्शन की प्रधानता ही दीखती थी। इस समय व्यक्तिचित्रों की प्रतिकृतियाँ तैयार की जा रही थीं। सर्वत्र खण्डचित्र प्रधान हो उठे थे। वस्तुतः मुगलों का शासन विश्व-इतिहास का एक रंगीन पृष्ठ है, जिसमें ऐसे शासकों की परम्परा मिलती है जो रसिक कहलाने के ही अधिकारी हैं। आलीशान इमारतें, मकबरे, किले, मसजिद इत्यादि इस युग की भव्यता के आदर्श हैं। इस युग की चित्रकला और वास्तुकला की नक्काशी शृंगारयुग की कविता के सूक्ष्मतर विवरणों में जाने की रुचि को स्पष्ट करती है। इस समय की कला के सम्बन्ध में कहा जाता है—"They built like giants and finished like jewellers."

उपर्युक्त परिस्थितियों से साहित्यिक परिस्थिति पूर्णतः प्रभावित हो जाने के कारण साहित्य 'स्वान्तःसुखाय' न होकर 'स्वामिनः सुखाय' हो गया था। इस समय तक फारसी कविता की 'इश्क मिजाजी' का प्रभाव लोगों पर पड़ चुका था। लोग उसकी 'जबाँदानी' के कायल हो चुके थे। 'शुगुल बेहतर है इश्कबाजी का, क्या हकीकी क्या मजाजी का' की होड़ में 'गजक अंगूर की अंगूर से ऊँचो है कुच, आसव अंगूर की अंगूर की ही टाटी है' का लेखन प्रारम्भ हो चुका था। साथ ही 'मानसिक शरणभूमि' के रूप में शृंगारसंवलित भक्ति की रचनाएँ भी चल रही थीं। इसी से ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त शृंगारकालीन काव्य "उस दोमंजिले मकान के

सदृश दीखता है, जिसके निचले तल्ले में देवालय है और ऊपरी तल्ले में वेश्यालय। ऊषा की स्वर्णिम किरणों के उदय के साथ नीचे, मन्दिर के घंटे बज उठते हैं, और ऊपर, चन्द्रमा की सुकुमार स्निग्ध चाँदनी में नुपूर की झंकार बिछलने लगती है। मन्दिर का द्योतक महावीरी झंडा इतना ऊँचा उड़ रहा है कि उसके नीचे विलासी महन्थ परमभक्त-सा दीखता है और वारविलासिनी वेश्या देवदासी-सी। नीचे जो दीपक जलता है, उसे स्नेह ऊपर से मिलता है और ऊपर के विलास-कक्ष सजाने के लिए पत्र-पुष्प नीचे से भेज दिये जाते हैं।" इसी से तो कवि घोषणा कर रहा था कि—

रीझिहैं सुकवि जो तो जानौ कविताई,
न तो राधा-कन्हाई सुमिरन को बहानो है।

ग्वाल कवि तो क्षमा ही माँग रहे थे, उन्होंने 'रसाल'-कथन जो किया था—

श्रीराधा पद पदुम को, प्रनमि-प्रनमि कवि ग्वाल।
छमवत है अपराध को, कियो जु कथन रसाल॥

यह बात निर्भ्रान्त है कि साहित्य में इस सरस अभिव्यक्ति का कारण मात्र अनुकूल परिस्थितियाँ ही नहीं हैं। वस्तुतः इसकी प्रेरणा भी प्रभावशाली रही है और इसे परम्परा का बल भी मिला है। आचार्य शुक्ल ने इस काल को संस्कृत-साहित्य की उद्धरिणी कहकर भी इसकी प्रेरणा की ओर ही संकेत किया है। दूसरी ओर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने इस काल की सरस अभिव्यक्ति का मूल आभीरों से प्रभावापन्न 'ऐहिकतामूलक सरस कवित्व' में देखा है। ऐसी रचनाओं का सबसे पुराना संग्रह है हाल की 'गाथासप्तशती'। डॉ० भगीरथ मिश्र जैसे अधिकारी विद्वानों ने भी इसकी सरणि संस्कृत में ही खोजी है। पर, वस्तुतः सत्य तो यह है कि सरस अभिव्यक्ति की यह धारा संस्कृत को भी अपभ्रंश से ही मिली है। 'गाथासप्तशती' के अनुकरण पर ही 'आर्यासप्तशती', 'अमरुकशतक, भर्तृहरि के शतकत्रय, विल्हण की 'चौरपंचाशिका' इत्यादि रचनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। अस्तु, यह मानने में हमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि "रीतिकाल की कविता का कण्ठस्वर पश्चिमी अपभ्रंश से अधिक मिलता-जुलता है। बिहारी आदि की कविताओं में तो भाषा, भाव-भंगी सब कुछ उन्हीं से मिलते हैं"— (आ० ह० प्र० द्विवेदी)। आज शृंगार की चर्चा के समय नैतिकता के नाम पर हम चाहे जितना नाक-भौंह सिकोड़ लें, पर संस्कृत-साहित्य भी इसके प्रतिकूल प्रमाण प्रस्तुत करता है। यहाँ तक कि देवी-देवताओं के स्तवनमूलक श्लोकों में भी शृंगार का समन्वय मिलता है। यह प्रभाव भी अपभ्रंश का ही दीखता है। हिन्दी लक्षणग्रन्थों के आधार संस्कृत के लक्षणग्रन्थ ही हैं। इनके उपजीव्य ग्रन्थ मूलतः ह्रासोन्मुख काल में लिखे जाने वाले लक्षणग्रन्थ ही रहे हैं जिनमें लक्षणों के ही अनुवाद नहीं, अपितु जहाँ-तहाँ उदाहरणों के भी अनुवाद कर लिखे गये हैं। उदाहरणों में रसिकवृत्ति पर

साहित्य यहाँ कहाँ मिलता है? अस्तु, शृंगारकालीन साहित्य ही शुद्ध साहित्य के रूप में उपलब्ध होता है। एक बात और। यदि हम मान भी लें कि समस्त शृंगारकालीन साहित्य में मात्र शृंगार की ही अभिव्यक्ति हुई है, तो इसी से वह अनैतिक तो घोषित नहीं कर दिया जायगा। आखिर शृंगार की भी अपनी उपयोगिता है। क्या मात्र शृंगार की अभिव्यक्ति के कारण ही उसे गर्हित और हेय मान लिया जाय? कवि की परीक्षा इस दृष्टि से नहीं हो कि उसने यह क्यों लिखा, अपितु उसकी परीक्षा तो इस दृष्टि से होनी चाहिए कि उसने जो कुछ लिखा है, उसमें वह कहाँ तक सफल हो सका है, कितनी सच्चाई के साथ वह उसका अंकन कर सका है। फिर शृंगार कुछ ऐसा विषय ही है जिसमें अश्लीलता तो आयेगी ही। क्या यह सच नहीं है कि नैतिकता के नाम पर नाक-भौंह सिकोड़ने वाले भी शृंगारपरक सरस साहित्य को रामनामी पोथी की तरह एक बार पढ़ ही लेना चाहते हैं? आज भी जब हम स्वस्थ शृंगार का उदाहरण खोजते हैं तो हिन्दी-साहित्य के अन्य कालों को छोड़कर इसी काल की ओर मुड़ते हैं। आखिर यह क्यों? यदि यह अनैतिक ही है तो इसे छोड़िए! पर, ऐसा आप कर सकेंगे क्या? यहाँ एक बात यह भी जान लेनी चाहिए कि यदि घर में एक व्यक्ति को तीती तरकारी अच्छी न लगे, तो घर के सभी लोगों के लिए ही तरकारी तीती न बने, ऐसा हो नहीं सकता। शृंगार सन्तों, बूढ़ों और बच्चों के लिए वर्जित है; पर युवकों को तो ऐसा साहित्य चाहिए ही। अस्तु, इस साहित्य की भी अपनी उपयोगिता है और अपने विषय की अभिव्यक्ति में यह पूर्ण है। इसे किसी भी प्रकार से गर्हित कहना, हेय बताना हमारी भूल ही होगी। नैतिकता के प्रति एक भारी कसाव और मर्यादा आदि के बन्धन के कारण ही हिन्दी में आज भी ऐसे अनेक प्रकार के साहित्यरूपों का अभाव है, जिसके कारण ही हिन्दी रिक्तहस्ता कही जाती रही है। ऐतिहासिक साहित्य, भौगोलिक साहित्य, व्यापारिक साहित्य, युद्ध-साहित्य इत्यादि आज भी हिन्दी में नहीं लिखे गये हैं। हमें सोचना है कि क्या मात्र नैतिकता की काव्यात्मक अभिव्यक्ति से ही साहित्य का भाण्डार परिपूर्ण होता है?

शृंगारकालीन काव्यप्रवृत्तियाँ मोटे तौर पर दो भागों में रखी जाती हैं—रीतिमुक्त और रीतिबद्ध। रीतिबद्ध कविता में भी दो धाराएँ स्पष्ट हैं—लक्षण-लक्ष्य-निरूपक धारा (रीतिबद्ध) और लक्ष्यमात्र काव्यधारा (रीतिसिद्ध धारा)। रीतिबद्ध काव्यधारा का प्रारम्भ भक्तिकाल में ही हो चुका था। आचार्य केशवदास उसी युग की उपज हैं। बलभद्र मिश्र, रहीम, मुबारक इत्यादि भी उसी काल के ठहरते हैं। रीतिबद्ध कवियों को—लक्षणकारों को—मूलतः तीन वर्गों में रखा जा सकता है—अलंकारनिरूपक आचार्य, रस और नायिकाभेद के निरूपक आचार्य और

सर्वाङ्गनिरूपक आचार्य। चाहें तो पिंगलनिरूपक आचार्यों की भी एक अलग कोटि बनायी जा सकती है।

अलंकारनिरूपक आचार्यों ने अपने लक्षणग्रन्थों के निर्माण के लिए 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द' आदि उत्तरवर्त्ती ह्रासोन्मुख ग्रन्थों को ही आधार बनाया था। अलंकारनिरूपक आचार्यों में आचार्य केशव, जसवन्त सिंह, मतिराम, भूषण, गोप, रसिक, सुमति, गोविन्द, दूलह, बैरीसाल, गोकुलनाथ और पद्माकर के नाम लिये जायँगे। अलंकारनिरूपण की मूलतः दो प्रणालियाँ हैं-- संक्षिप्त और विस्तृत। संक्षिप्त शैली पर लिखा गया जसवन्त सिंह का 'भाषाभूषण' अधिक स्वस्थ ग्रन्थ है। यह पठन्त और रटन्त के लिए सर्वाधिक उपयोगी ग्रन्थ है। अन्तिम आचार्य पद्माकर का 'पद्माभरण' भी अपने लक्षणों की सरलता और उदाहरणों की स्पष्टता के लिए अधिक प्रख्यात हुआ है। भूषण का ग्रन्थ लक्षण और उदाहरण दोनों दृष्टियों से निराशाजनक ग्रन्थ ही अधिक प्रमाणित होता है।

रस और नायिकाभेदी परम्परा के आचार्यों की भी दो कोटियाँ हैं। कुछ आचार्यों ने मूल रूप से नायिकाभेद और मोटे रूप में शृंगार रस का निरूपण किया है। कुछ दूसरे आचार्य ऐसे हैं जिन्होंने सभी रसों पर विचार किया है। हाँ, यहाँ भी शृंगार रस पर दृष्टि अधिक जमी है। इस वर्ग के आचार्यों की परम्परा में तोष कवि (सुधानिधि), मतिराम (रसराज), देव (भावविलास और भवानीविलास), कालिदास, कृष्णभट्ट, श्रीपति, सोमनाथ, उदयनाथ, रसलीन, भिखारी दास, रूपसाहि, उजियारे, समनेस, रामसिंह, गोविन्द, बेनीप्रवीन, पद्माकर इत्यादि प्रमुख हैं। देव का रसविवेचन अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और थोड़ा मौलिक भी है। अन्य लोगों ने प्रायः विचारों का पिष्टपेषण ही किया है। मतिराम, पद्माकर आदि के लक्षण-उदाहरण काफी सरस बन पड़े हैं। वस्तुतः इस युग की रसिकता और सरसता के वास्तविक रूप में कायल ये लोग ही हैं।

सर्वाङ्गनिरूपक आचार्यों ने प्रायः थोड़ा-बहुत सभी विषयों पर ध्यान दिया है। इन लोगों में प्रायः चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, पदुमनदास, देव, सूरति मिश्र, कुमारमणि शास्त्री, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, जगत सिंह, रसिक गोविन्द, प्रतापसाहि, ग्वाल इत्यादि के नाम लिये जाते हैं। सभी आचार्यों में सर्वाधिक गत्वर दृष्टिकोण भिखारीदास जी का ही है। ये सब आचार्यों में शीर्षस्थानीय ही हैं। काव्यशास्त्र की दृष्टि से 'काव्यनिर्णय' सर्वाधिक प्रौढ़ ग्रन्थ है। इसमें ध्वनि, रस, अलंकार, गुण, दोष इत्यादि का विवेचन है। ध्वनि पर सर्वप्रथम विचार किया था कुलपति मिश्र ने। सच पूछा जाय तो आचार्यत्व-कर्म के लिए सर्वाङ्गनिरूपक आचार्य ही याद किये जायँगे। इनमें पाँच-छः का ही महत्त्व अधिक है।

रीति-ग्रन्थों के प्रस्तोता आचार्य हैं आचार्य केशव। हिन्दी-साहित्य में

आचार्य केशव का महत्त्व लुप्त होना और सूफी कवि जायसी का प्रकट होना एक साथ घटने वाली महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं। आचार्य शुक्ल ने इन्हें एक बार 'कठिन काव्य का प्रेत' क्या कह दिया, मानो परवर्त्ती आलोचकों पर उसका जादू चढ़ गया। आज जायसी का जोर ही सर्वत्र है, केशव को कोई नहीं पूछता। पर यह ध्यान देने की बात है कि हिन्दी-साहित्य की परम्परा ने आचार्य केशव को ही अधिक महत्त्व दिया है, जायसी को नहीं। 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' पर होने वाली दशाधिक टीकाओं से ही उनका महत्त्व आँका जा सकता है। 'कविप्रिया' तो इतना उत्तम ग्रन्थ समझा गया था कि उसकी टीका संस्कृत में भी की गयी थी। खैर, यह सोचने की बात है। यहाँ हमें इतना ही कहना है कि हिन्दी-आलोचक आज हीनभावना से ग्रस्त हैं—किसी की बुराई ही शीघ्र देखते हैं, गुणों पर तो उनकी दृष्टि मानो जाती ही नहीं। यह कोई नहीं कहता कि जिसके कुल के दास भी 'भाखा' नहीं जानते थे, उसने 'भाखा' में रचनाएँ कर कितना बड़ा कार्य किया था। 'केसव अर्थ गँभीर को' की चर्चा आज उठ-सी ही गयी है। सच बात तो यह है कि जिसने केशव के काव्य का अध्ययन नहीं किया, जिसने केशव के काव्य का अवगाहन नहीं किया, उसने मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य का अधूरा अध्ययन किया है।

जसवंत सिंह ने 'भाषाभूषण' की रचना कर अपने आचार्यरूप का पूर्ण परिचय दिया है। इन्होंने कुवलयानन्दीय चन्द्रालोक के अनुकरण पर अपना ग्रन्थ रचा है। दरबारी चाटुकारिता और प्रशस्ति का इनके साथ प्रश्न ही नहीं था। स्वानुभूतियों की प्रेरणा पर ही इन्होंने इसका प्रणयन किया है। संक्षिप्त शैली पर परवर्त्ती युग में प्रायः जितने भी अलंकारग्रन्थ लिखे गये हैं, उन पर 'भाषा भूषण' का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में अवश्य है।

भूषण का 'शिवभूषण' अलंकारनिरूपक ग्रन्थ ही है; पर इसमें सभी उदाहरण ओजपूर्ण हैं। लक्षण-उदाहरण की दृष्टि से इसे देखने पर काफी निराशा होती है; पर इस बात के लिए भूषण अवश्य महत्त्वपूर्ण कवि माने जायँगे कि उनकी उक्तियों में अन्य कवियों की तरह चाटुकारिता नहीं है। उनके वीररसात्मक छन्द हृदय की स्वाभाविक उपज हैं। मध्यकाल में सच्चे राष्ट्रीय कवि के रूप में इनका स्थान अक्षुण्ण है।

मतिराम का कविरूप आचार्यरूप से प्रबल है। इनके उदाहरण कोमल भाव और सरसता से पूर्ण हैं। उदाहरणों में पारिवारिक वातावरण की विश्वसनीयता और स्वस्थता वर्त्तमान है। परिवार के जितने सफल चित्र एवं विनोद इन्होंने विश्वसनीय रूप में उपस्थित किये, अन्य कवियों में उसका अभाव ही है।

देव के दोनों रूप (आचार्य और कवि) समान ही हैं। काव्यत्व के साथ

मौलिक चिन्तन का समावेश इनमें प्राप्त है। भावों की सूक्ष्मता, भाषा पर अधिकार, शब्दों की सगोत्रता, सरसता के साथ उक्तिवैचित्र्य पर आपने पूरा ध्यान दिया है। आचार्यत्व-कर्म में भी आपको पर्याप्त सफलता मिली है।

शृंगारकालीन आचार्यों में शीर्षस्थानीय हैं भिखारीदास जी। ध्वनि, रस, अलंकार, गुण, दोष इत्यादि सभी विषयों पर आपने लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। लक्षण इनके आचार्यरूप को और उदाहरण इनके कविरूप को उद्घाटित करने में पूर्ण समर्थ हैं। इनके समकालीन कवि रसलीन हुए, जिनके दोहे अपने चुटीलेपन के लिए सदा महत्त्वपूर्ण रहेंगे।

बेनीप्रबीन जी मतिराम और पद्माकर की कोटि के ही कवि और आचार्य हैं। वस्तुतः इनमें काव्यात्मक प्रतिभा ही अधिक है। व्यंग्य द्वारा भावों की अभिव्यक्ति में सर्वाधिक सफलता आपने ही प्राप्त की है। अन्तिम आचार्यों में पद्माकर सर्वाधिक प्रतिभाशाली रहे हैं। भावविवृति की क्षमता पद्माकर को विलक्षण रूप में प्राप्त है। इनके उदाहरण भी काफी सरस हैं। ये आचार्यरूप में नहीं, कविरूप में ही आहत रहे हैं। अनुप्रासों के प्रयोग में इन्हें कमाल हासिल है। 'गंगालहरी' में व्याजोक्तिशैली भी अपने ढंग की है। ग्वाल भी पद्माकर की परिपाटी के ही आचार्य हैं। हाँ, इनकी भाषा में बाजारूपन की प्रवृत्ति अधिक है।

उपर्युक्त रीतिग्रन्थकारों के अतिरिक्त ऐसे भी कवि हैं जिन्होंने किसी प्रकार के लक्षणग्रन्थ का निर्माण नहीं किया है, फिर भी उनकी रचना उसी बँधी परिपाटी पर अवश्य है। ऐसे रीतिसिद्ध कवि हैं विहारी। बिहारी के पूर्व सेनापति ने भी 'कवित्तरत्नाकर' की रचना इसी परिपाटी पर की थी। विहारीलाल की 'सतसई' में जितने भी दोहे संकलित हैं, उनमें रस, भाव, नायिकाभेद, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति इत्यादि के सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं। अनेक लोगों ने विहारी की 'सतसई' का संकलन भी पूर्णतः रीतिपद्धति पर किया है। इतनी कम रचना पर भी विहारी को इतना महत्त्व मिला, 'सतसई' का महत्त्व मात्र इसी से समझा जा सकता है। दोहे जैसे छोटे छन्द में अधिक से अधिक भावों को भर देने की जैसी अपूर्व शक्ति इन्होंने पायी थी, कम ही लोगों को मिलती है।

शृंगारकाल की दूसरी प्रमुख धारा है रीतिमुक्तता अथवा स्वच्छन्दता की। इस धारा के कवियों ने मगज मारकर कविता नहीं की है। यहाँ कविता की धारा स्वयं फूटी है। रीतिबद्ध काव्य था बुद्धिबोधित और यह काव्य है भाव-भावित। यहाँ प्रधानता भावों की है, बुद्धि तो भावों की दासी बन गयी है। इस काव्य को मस्तिष्क से नहीं, हृदय से ही समझा जा सकता है। इस धारा के कवियों में भी मूलतः दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। कुछ कवियों पर सूफियों के

प्रभाव भी मिलते हैं और कुछ कवियों ने शुद्ध प्रेमकाव्य की सर्जना की है। इस धारा के प्रमुख कवियों में रसखान, शेख आलम, घनानन्द, ठाकुर, बोधा, द्विजदेव इत्यादि के नाम लिये जायँगे। इन कवियों ने काव्य को साधनरूप में नहीं, साध्य-रूप में ग्रहण किया था। इसी से तो घनानन्द कहा करते थे—

लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत।

यह उक्ति मात्र घनानन्द पर ही नहीं, स्वच्छन्द धारा के सभी कवियों पर लागू होती है। घनानन्द की कविता के संकलयिता श्री व्रजनाथजी की उक्ति भी इस बात की पुष्टि करती है—

जग की कबिताई के धोखे रहै, ह्याँ प्रवीनन की मति जाति जकी।

घनानन्द की कविता के सम्बन्ध में तो यह कहा ही जाता है कि इसे नयनों की भाषा से ही—हृदय की भाषा से ही पढ़—समझ सकना सम्भव है।

श्रृंगारकालीन कवियों में कतिपय नीतिकारों और सूक्तिकारों के भी नाम जोड़े जाते हैं। कविता का नीति और सूक्ति से स्पष्ट अन्तर है। कोई भी कविता नीतिविहीन नहीं हो सकती है; पर सभी प्रकार की नीति की उक्तियाँ कविता के अन्तर्गत हों ही, यह आवश्यक नहीं है। सूक्तियों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की बात कही जायगी। नीति की सूक्तियों के कर्त्ताओं में रहीम, जमाल, वृन्द, बैताल, गिरिधर, दीनदयाल गिरि इत्यादि आते हैं। इनमें से सबने केवल नीति की कोरी उक्तियाँ ही कही हैं, ऐसी बात नहीं; कुछ लोगों में काव्यत्व भी मिलता है।

श्रृंगारकालीन साहित्य का यदि प्रवृत्तिगत रूप में बिलकुल स्थूल विभाजन किया जाय तो कहा जायगा कि इस युग में मात्र दो प्रवृत्तियाँ थीं—काव्यत्व और आचार्यत्व की। काव्यत्व ही सबका साध्य था। आचार्यत्व-कर्म परम्परा का पालन मात्र था। कुछ लोग आचार्यत्व को साधनरूप में ग्रहण कर काव्य की साधना कर रहे थे। आचार्यत्व की दृष्टि से इस काल ने संस्कृत-साहित्यशास्त्र का अनुवाद मात्र किया है। वह अनुवाद भी पूर्णरूप में शुद्ध और निर्भ्रान्त नहीं हो सका है। हाँ, जितने सुन्दर, कोमल, सरस उदाहरण इस युग ने प्रस्तुत किये, शायद संस्कृत में भी खोजने पर ही मिलें।

अन्त में यहाँ मैं एक बार पुनः कहूँगा कि इस काल के सम्बन्ध में लोगों ने जितना अधिक छीछालेदर किया है, उतना हेय यह काल नहीं है। विशुद्ध साहित्य-निर्माण की दृष्टि से समस्त हिन्दी-साहित्य में इस काल का महत्त्व सर्वाधिक है। इसने बँधी परिपाटी पर कविता भले ही की है, पर हिन्दी में कई प्रकार की विधाओं के लिए मार्ग इसी काल ने दिये हैं। यदि इस काल के लक्षण-ग्रन्थों को हटाकर देखा जाय तो हिन्दी से सैद्धान्तिक आलोचना प्रायः खत्म ही हो जाती

है। सैद्धान्तिक आलोचना की आधारशिला सर्वप्रथम यहीं रखी जाती है। कुछ अंगों पर जितनी पुष्ट आलोचना इस काल में की गयी है, आज भी अनुपलब्ध ही है।

जहाँ तक नयी साहित्यिक विधाओं के जन्म देने की बात है, हिन्दी में नाट्यकाव्य, हासकाव्य, जीवनीसाहित्य इत्यादि के प्रणयन का प्रारम्भ इसी युग में होता है। हिन्दी का तथाकथित प्रथम नाटक 'आनन्दरघुनन्दन' और रंगमंचीय नाटक 'इन्दरसभा' इसी युग में लिखे गये हैं। 'खटमल बाईसी' जैसा विशुद्ध हासकाव्य भी यहीं लिखा जाता है। बनारसीदास जैन 'अर्धकथानक' नामक पुस्तक लिखकर हिन्दी में आत्मचरितलेखन की नींव यहीं डालते हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं कि हिन्दी-साहित्य की कई विधाएँ यहीं पनपती हैं, जिनका समुचित विकास आधुनिक युग में होता है।

इस काल के काव्य में अश्लीलता, प्रशस्तियाँ, दरबारी खुशामद इत्यादि की सड़ाँध भी है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता; पर मात्र वे ही वस्तुएँ हैं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। शुद्ध साहित्य के ७५-८० कर्त्ता इस युग में मिलते हैं। वस्तुतः इतनी बड़ी संख्या में शुद्ध साहित्य के कर्त्ता हिन्दी-साहित्य के किसी भी काल में उपलब्ध नहीं होते। इस सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की यह उक्ति देखी जा सकती है, "सच पूछा जाय तो शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करने वाले कर्त्ता इस युग (शृंगारकाल) में जितने अधिक हुए हिन्दी-साहित्य के सहस्र वर्षों के दीर्घकालीन जीवन में उतने अधिक कर्त्ता शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करने वाले कभी नहीं हुए। × × × हिन्दी का सच्चा साहित्य-युग यदि कोई था तो वस्तुतः यही था।" मैं नहीं समझता कि आचार्य मिश्रजी के उपर्युक्त निष्कर्ष में अतिरंजन है।

●

१५

शृंगारकालीन काव्य-प्रवृत्तियाँ

[शृंगारिकता—आचार्यत्व—नीति और शृंगारसंवलित भक्ति—आलंकारिकता—प्रशस्तिपरक अथवा वीररसात्मक रचनाएँ—हासकाव्य—दृश्यकाव्य या नाट्यकाव्य—प्रकृतिचित्रण—नारिचित्रण—काव्यरूप— रीतिमुक्तता—अभिव्यंजना— चित्रयोजना—अलंकारयोजना—भाषा]

वेलीक चलने वाले ही शायर, सिंह और सपूत कहे जाते हैं। इसमें अतिरंजना नहीं कि काव्यविषय को औदात्य प्राप्त हुआ भक्तिकाल में, पर शिल्पविधान में चामत्कारिक प्रौढ़ता आयी शृंगारकाल में। भला ये वेलीक न चलते तो शायर कैसे कहे जाते! पर क्या सचमुच ये वेलीक चल सके; क्या ये सत्कवि बन सके? ये सत्कवि हों या न हों, काव्यजीवी थे अवश्य। काव्यरचना में ये सतर्क अवश्य थे। 'स्वान्तःसुखाय' को महत्त्वपूर्ण मानने वाले सन्तों को 'सीकरी' और 'गुणगान' से काम भले न रहा हो पर ये इन्हें छोड़कर वे नहीं चल सकते थे। आखिर उनकी जीविका का प्रश्न भी तो था; इसी से शृंगारकालीन काव्यजीवियों की रचनाएँ स्वानुभूत नहीं, ग्रहीत हैं। उनमें क्रान्तिदर्शी प्रतिभा और नये क्षितिज के संकेत नहीं, संस्कृत-साहित्यशास्त्र का दुर्बल प्रतिलेखन है। इस युग में छन्दों के वैविध्य में चटकीला ऐन्द्रिक चित्रण, अलंकारशास्त्रीय, कामशास्त्रीय और नायिकाभेदी परम्पराएँ ढालकर रख दी गयी हैं। साँचा एक ही है, चाहे स्वकीया का हो या परकीया का ('नारी एकै रूप'—देव), ढालने वाले अनेक हैं। ऋतुओं की अनुकूलता के अनुसार बरफ, शीतलपाटी, अंगूरी आसव और अंगूर की टाटी के साथ सुवाला के नुसखे पेश करने वाले काव्यजीवी काव्य की रचना नहीं करते थे, मगज मारकर—खराद पर चढ़ाकर कविता गढ़ते थे। कविता का क्षयिष्णु काल यह भले ही न हो, पर क्षयिष्णु कविता का काल (?) तो है ही। इस समय के अधिकांश काव्यजीवी राजाओं और सामन्तों के यहाँ धन्धा करते थे। वे कलावन्त ही नहीं, पेशेवर भी थे। वे सौन्दर्य की कठपुतलियाँ खरादा करते थे—सौन्दर्य चाहे वैभवविलास का हो अथवा उन्मादक वातावरण का; सामन्तों की चाटुकारिता का हो अथवा हाव-भाव और रूप-गुण से सम्पन्न नायिकाओं का। नायिकाभेद, नखशिख, अलंकार इत्यादि के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत करना तो एक परदा मात्र है, असल बात है शृंगार का प्रतिपादन। इसी प्रकार नीति, भक्ति, प्रशस्ति इत्यादि की उक्तियाँ

भी समझिए। इस युग की समस्त प्रवृत्तियों को निम्नांकित रूप में रखा जायगा—

१. शृंगारिकता— मात्रा की कमी-वेशी भले रही हो, पर शृंगारवर्णन प्रत्येक युग में हुआ है। इस युग की शृंगारिकता की प्रस्तावना भक्तिकाल में ही तैयार हो चुकी थी। भक्ति के पिछले खेवे में काव्यदृष्टि से शृंगारपरक रचनाएँ ही मिलती हैं; भले ही उनका स्वर अलौकिक रहा है। इस धारा का स्रोत लोक-धारा से नहीं, भक्तिधारा से फूटा है। इसी से यहाँ स्वकीया की अपेक्षा परकीया पर लोगों की दृष्टि अधिक रमी है। इसका दूसरा कारण फारसी कविता की प्रतिद्वन्द्विता भी है। साथ ही, सन्तों के 'रति इक तन में संचरे', सूफियों के अलौकिक प्रेम, कृष्णभक्तों की मधुरा भक्ति और रामभक्तों के रसिकसम्प्रदाय से इसे नैतिक बल; संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों से शास्त्रीय आधार; परवर्त्ती संस्कृत-ग्रन्थों एवं प्राकृत और अपभ्रंश के शृंगारी ग्रन्थों से परम्परा एवं अपने युग की मनोवृत्ति से स्थापना भी मिली। अस्तु, इस अवसर का लोगों ने खुलकर उपयोग किया है। कवियों ने पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ शृंगार का वर्णन किया है। इसमें किसी प्रकार का संकोच नहीं मिलता है। डॉ० नगेन्द्र का मत है कि इस युग की "शृंगारिकता में अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रन्थियाँ नहीं हैं, न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित-अनुचित प्रयत्न। जीवन की प्रवृत्तियाँ उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति से चाहे वंचित रही हों, परन्तु शृंगारिक कुंठाओं से मुक्त थीं। इसी कारण इस युग की शृंगारिकता में घुमड़न अथवा मानसिक छलना नहीं है।"

शृंगार के अन्तर्गत सबसे पहली बात है आलम्बनगत सौन्दर्य का चित्रण। नायिका होने के लिए सर्वप्रथम शर्त्त है सुन्दर होना—'मानो रची छबि मोहनी मूरति, श्रीधर ऐसी वखानत नायिका।' यौवन, शोभा, कान्ति, दीप्ति इत्यादि ही उसके आवश्यक गुण हैं। रूढ़िबद्ध लक्षणों के अनुसार नायिका का सौन्दर्यचित्रण जहाँ भी हुआ है, वहाँ ये चित्रण निष्प्रभ हो गये हैं; किन्तु जहाँ शोभा, कान्ति, दीप्ति इत्यादि सौन्दर्यचेतना के अभिन्न अंग हैं, वहाँ सौन्दर्यचित्रण उत्कर्ष पा सका है—

१. अंग अंग छबि की लपट उपटति जाति अछेह।
   खरी पातरीऊ तऊ लगै भरी-सी देह॥ —बिहारी

२. कुन्दन को रंगु फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गोराई।
   आँखिन में अलसानि चितौन में मंजु बिलासन की सरसाई॥
   को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लहै मुसुकानि मिठाई।
   ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरैसी निकाई॥—मतिराम

उपर्युक्त चित्रों में शोभा, कान्ति, दीप्ति इत्यादि की प्रधानता तो है पर ऐन्द्रिक चेतना की अनुभूति अपेक्षाकृत कम है। यहाँ संवेदनात्मकता की अपेक्षा

संवेगात्मकता (इन्द्रियोत्तेजन) कम है; पर इस युग में ऐसे चित्रों की कमी नहीं है—

१. घाँघरे भीन सों, सारी महीन सों, पीन नितंबन भार उठै सचि।
बास सुबास सिंगार सिंगारनि, बोझनि ऊपर बोझ उठै मचि ॥ — दास

२. जगमगे जोबन जराऊ तरिबन कान, ओठन अनूठो रस हाँसी उमड़ परत।
कंचुकी में कसे आवैं उकसे उरोज बिन्दु, बंदन लिलार बड़े बार घुमड़े परत ॥
गोरे मुख स्वेत सारी कंचन किनारीदार, देव मणि झुमका झमकि झुमड़े परत।
बड़े बड़े नैन कजरारे बड़े मोती नथ, बड़ो बरूनीन होड़ाहोड़ी भाड़े परत ॥ — देव

उपर्युक्त उदाहरणों में ऐन्द्रियता का भावनात्मक अनुकूलत्व (इमोशनल रेसपौंस) पूर्णतः स्पष्ट हो गया है। इसी प्रकार 'गदराने तन गोरही ऐपन आड़ लिलार' अथवा 'गोरी गदकारी परै हँसत कपोलन गाड़' में भी ऐन्द्रिय बुभुक्षा ही है। ऐसे चित्रों के माध्यम से वर्णित नायिका के रूपों में वासना का ही उभार है।

सौन्दर्यवर्णन के पश्चात् हैं संयोग और वियोग के वर्णन। संयोगसुख रूपासक्ति का ही परिणाम है। संयोगवर्णन में कवियों ने बहिरिन्द्रियसन्निकर्ष, हावादिजन्य चेष्टाओं, सुरत, विहार, मद्यपान इत्यादि के वर्णन किये हैं। दर्शन, स्पर्श, श्रवण, संलाप इत्यादि इसी के अन्तर्गत हैं। इनकी प्रतिक्रियाएँ हाव, अनुभाव आदि के रूप में अभिव्यक्त हुई हैं। हाव क्रीड़ापरक होता है और अनुभाव व्रीड़ापरक। प्रथम सचेष्ट व्यापार है और दूसरा सहज अनुभूतियों का बहिर्विकार। शृंगारकालीन कवियों ने इनका वर्णन खूब किया है। नारियों की शृंगारिक चेष्टाओं— भृकुटि, नेत्रादि के विलक्षण व्यापारों द्वारा सम्भोगेच्छाप्रकाशक भाव ही हाव के अन्तर्गत आते हैं। यहाँ किलकिंचित का वर्णन कितना सुन्दर है—

बतरस लालच लाल को, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहन हँसै, दैन कहै, नटि जाय ॥ —बिहारी

अनुभावों की अभिव्यक्ति अंगस्पर्श अथवा स्मृति से होती है। लुकाछुपी जैसे खेलों में कवियों ने कंप,स्वेद, रोमांच, अश्रु इत्यादि सात्त्विक भावों के वर्णन किये हैं—

१. एकहि भौन दुरै इक संग ही अंग सौं अंग छुवायो कन्हाई।
कंप छुट्यौ, घन स्वेद बढ़्यौ, तनु रोम उठ्यौ, अँखिया भरि आई ॥ —मतिराम

२. स्वेद बढ़्यौ तन, कंप उरोजनि, आँखिन आँसू, कपोलनि हाँसी ॥ —देव

उपर्युक्त उदाहरणों में खेल के अवसर पर स्पर्शसुख की आनन्दानुभूति का वर्णन है। यहाँ भावना की नहीं, वासना की ही प्रधानता है। संयोगसुख के अन्तर्गत सुरत का वर्णन बिहारी, देव, मतिराम, पद्माकर इत्यादि ने किया है। बिहारी की तो घोषणा ही है कि—'चमक, तमक, हाँसी, सिसक, मसक, झपट लपटानि' से युक्त रति ही 'मुकति' है। अस्तु, 'करति कोलाहल किंकिनी, गह्यौ मौन मंजीर' जैसी पंक्तियाँ क्यों न लिखी जातीं। कहीं-कहीं तो विपरीत रति के वर्णन भी बड़े भद्दे

रूप में मिलते हैं।

मिलन के प्रसंगों में हास-परिहास का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इससे वाणी में उत्पन्न भंगिमा के कारण आनन्द द्विगुणित तो होता ही है, आत्मसमर्पण, गर्व, प्रेमातिशय्य इत्यादि भी व्यक्त होते हैं। गोरस चाहनेवाले कृष्ण के साथ गोपिका का परिहास देखा जा सकता है, जहाँ गोपिका स्पष्ट रूप से कहती है—'तुम बड़े वो हो, कुछ तो शर्माओ, मुझे बेकार क्यों छेंके हुए हो, घर जाने दो। तुम तो गोरस (इन्द्रियरस) चाहते हो, गोरस (दही) नहीं।'—

लाज गहो बेकाज कत, घेरि रहे, घर जाँहि।
गोरस चाहत फिरत हौं, गोरस चाहत नाहिं॥ — बिहारी

निश्चय ही दधिदान का उपर्युक्त प्रसंग बड़ा उत्तम बन पड़ा है। और, गौने के दिन नायिका को बिछुवा पहराती हुई प्रिय सखी के द्वारा किया गया यह परिहास कि बिछुवा प्रियतम के कानों के पास सदा बजता रहे, बड़ा ही सटीक बैठा है—

गौने के द्यौस सिंगारन को 'मतिराम' सहेलिन कौ गनु आयौ।
कंचन के बिछुवा पहिरावत, प्यारी सखी परिहास बढ़ायौ॥
प्रीतम स्रौन समीप सदा बजै, यों कहिकै पहिले पहिरायौ।
कामिनी कौल चलावनि कौं, कर ऊँचौ कियौ पैचल्यौ न चलायौ॥ —मतिराम

उपर्युक्त परिहास में नायिका द्वारा सखि पर प्रहार के लिए हाथ उठाने और पुनः लजाकर वैसा नहीं करने में विश्वसनीयता तो है ही, पारिवारिक स्वस्थता भी है। राधा और कृष्ण का यह विनोद भी बड़ा ही सरस है—

कान्ह कह्यौ टेरिकै, कहाँ ते आई, को हौ तुम, लागती हमारे जान कोई पहचानती।
प्यारी कह्यो फेरि मुख, हरिजू चलेई जाहु, हमैं तुम जानत, तुम्हैं हूँ हम जानती॥—देव

संकीर्ण गली में राधा सखियों के साथ चली जा रही हैं, ऐसी सूचना पाते ही कृष्ण दौड़े हुए आये और दूर से ही पुकारकर कहने लगे—'जरा सुनिए तो, आप कहाँ से आ रही हैं? मुझे कुछ ऐसा लगता है कि मैं आपको पहचानता हूँ।' अब भला राधिका कैसे चुप रहतीं। मुँह फेरकर बोलीं— 'जी हाँ, आप चुपचाप लौट जाइए। आप तो मुझे पहचानते ही हैं, मैं भी तो आपको पहचानती ही हूँ।' है न मीठा और सरस विनोद! संयोगवर्णन में मतिराम आदि ने कतिपय ऐसे सुन्दर और स्वस्थ्य गार्हस्थ्य चित्र खींचे हैं जहाँ रोमानी वातावरण नहीं, पूर्णतः घरेलूपन मिलता है—

केलि कैं रात अघाने नहीं, दिनही में लला पुनि घात लगायौ।
प्यास लगी कोऊ पानी दे जाईओ, भीतर बैठि कै बात सुनायौ॥
जेठी पठाई गई दुलही, हेरि हरि 'मतिराम' बुलायौ।
कान्ह कै बोल पै कान न दीनौ, सुगेह की देहरि पै धरि आयौ॥ —मतिराम

यहाँ पारिवारिक वातावरण में विलासप्रियता का सफल चित्रांकन हुआ है। 'जेठी पठाई' में गहरी अभिव्यंजना है। भला देवर की इन चेष्टाओं को भाभी

न परखेंगी, तो और दूसरा कौन समझेगा !

वियोगवर्णन में पूर्वराग, मान, प्रवास और करुणा के वर्णन मिलते हैं। पूर्वराग में वियोग की तीव्रता तो होती है, पर प्रवासजन्य दुःख का गाम्भीर्य नहीं। पूर्वानुरागिणी सामान्यतः मुग्धाएँ ही होती हैं। वियोग की प्रायः सभी दशाएँ यहाँ भी चित्रित होती हैं, पर रूपासक्ति ही प्रमुख रहती है। मतिराम का यह उदाहरण देखा जा सकता है—

> क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन-पानिप पीजै।
> नेकु निहारें कलंक लगै इहि गाँव बसे कहो कैसे के जीजै।
> होत रहै मन यों 'मतिराम' कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
> ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरा रस पीजै॥ —मतिराम

पूर्वराग की उपर्युक्त वियोग-दशा में रूपासक्ति ही प्रमुख है। इसी प्रकार पद्माकर की 'घरी-घरी पल-पल छिन-छिन रैन-दिन, नैननि की आरति उतारि वोई करिए' में प्रिय के निरन्तर दर्शन की गहरी उत्कण्ठा है।

वियोग में स्मृति, गुणकथन आदि मानसिक दशाओं के वर्णन द्वारा अवचतेन मन का रहस्योद्घाटन भी खूब हुआ है। पद्माकर की नायिका 'छलिया छबीलो छैल छाती छ्वै चलौ गयो' में नायक का गुणकथन करती हुई अपनी स्थिति का प्रकाशन करती है। प्रणयमान और ईर्ष्यामान में प्रणयमान का ही वर्णन लोगों ने अधिक किया है। साथ ही, खंडिताओं का वर्णन भी खूब जमकर किया गया है।

इस युग के काव्यों में प्रवासवर्णन में गाम्भीर्य का अपेक्षाकृत अभाव है। प्रवत्स्यत्पतिका, प्रोषितपतिका, आगतपतिका के वर्णनों में सन्देशप्रेषण, पत्रलेखन, चित्रलेखन इत्यादि क्रियाएँ भी यहाँ समेटी गयी हैं। प्रवासजन्य अवसाद में ऊहा के वर्णन के लिए यह काल और खास तौर पर विहारी अधिक बदनाम हुए हैं। नायिका को घड़ी का पेंडुलम बना देना, विरहताप के कारण शीशी का गुलाबजल सूख जाना आदि आम बातें हैं। ऊहा का एक उदाहरण देखा जा सकता है—

> आड़े दै आले बसन, जाड़े हूँ की राति।
> साहस कै कै सनेह बस, सखी सबै ढिग जाति॥ — बिहारी

उपर्युक्त स्थिति जीवन में वस्तुतः अकल्पनीय है। जहाँ कवियों ने ऊहा को छोड़कर प्रवासजन्य अवसाद का चित्रण किया है, वहाँ स्वाभाविकता आ गयी है—

> अजौं न आए सहज रँग, बिरह दूबरे गात।
> अबही कहा चलाइयत, ललन चलन की बात॥ — बिहारी

पर समस्त युग में विरह के ऐसे वर्णन कम ही हैं जो शरीरी प्रतिक्रियाओं को छोड़कर संवेदनात्मक हो सके हैं।

२. आचार्यत्व— शृंगारकाल में रीतिनिरूपण अथवा आचार्यत्व-कर्म की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। लोगों ने लक्षण-लक्ष्य-समन्वय का कार्य किया है। लक्षण-

निरूपण के नाम पर संस्कृत के साहित्यशास्त्रों का, विशेषतः अलंकार, रस और नायक-नायिकाभेद आदि का अनुवादकार्य खूब हुआ है। आचार्यत्व-कर्म पर मूलतः चार प्रकार के दोष लगाये जाते हैं—सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन की कमी, काव्यांगों के विस्तृत विवेचन का अभाव, संस्कृत के उत्तरकालीन ह्रासोन्मुख शास्त्रीय ग्रन्थों को आधार मानना और लक्षणों की अपेक्षा उदाहरणों पर अधिक ध्यान देना। आचार्यत्व के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का मत प्रायः मान्य है कि "हिन्दी में लक्षणग्रन्थों की परिपाटी पर रचना करने वाले सैंकड़ों कवि हुए हैं, वे आचार्य की कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि थे। × × × इन रीतिग्रन्थों पर निर्भर रहने वाले का ज्ञान कच्चा और अधूरा ही समझिए। ××× इन रीतिग्रन्थों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना।" डॉ० श्यामसुन्दर दास का भी विचार है कि "आचार्यत्व और कवित्व के मिश्रण ने भी ऐसी खिचड़ी पकायी जो स्वादिष्ट होने पर भी हितकर न हुई। आचार्यत्व में संस्कृत की बहुत-कुछ नकल की गयी और वह भी एकांगी।" 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' में डॉ० भगीरथ मिश्र ने निष्कर्ष दिया है कि "इन हिन्दी लक्षणकारों या रीतिग्रन्थकारों के सामने कोई वास्तविक काव्यशास्त्रीय समस्या नहीं थी। इनका उद्देश्य विद्वानों के लिए काव्यशास्त्र के ग्रन्थों का निर्माण नहीं था, वरन् कवियों और साहित्यरसिकों को काव्यशास्त्र के विषयों से परिचित कराना था।" अस्तु, स्पष्ट है कि आचार्यत्व की दृष्टि से भी इस काल के काव्यजीवियों ने कोई नवीन उपलब्धि नहीं दी है। इनका उद्देश्य कविशिक्षा मात्र ही रहा है। फिर भी, इतना अवश्य स्वीकार किया जायगा कि हिन्दी में काव्यशास्त्र की परम्परा का प्रारम्भ यहीं से होता है।

३. नीति और शृंगारसंवलित भक्ति— 'भरी अनेक सँवाद' को आदर्श मान कर रचना करने वाले कवियों के युग में सच पूछा जाय तो नीति और भक्ति की विशुद्ध सूक्तियों और पदों के दर्शन असम्भव ही हैं। यद्यपि इन्होंने नीति की सूक्तियाँ भी कही हैं, राधा और कृष्ण के अनुकीर्तन भी किये हैं, फिर भी इन्हें न तो हम नीतिज्ञों की कोटि में रख सकते हैं और न भक्तों की कोटि में। सब प्रकार की उक्तियों में शृंगार की ही प्रधानता रही है। ये तो ऐसा सोचकर कविकर्म में प्रवृत्त होते थे कि "रीझिहैं सुकवि जो तो जानौ कविताई, न तो राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहानो है।" इसी प्रकार की परिस्थिति से सम्भवतः मजबूर होकर बेचारे ग्वाल कवि को राधा-कृष्ण से क्षमा माँगनी पड़ी है—

श्रीराधा पद पदम को, प्रनमि प्रनमि कवि ग्वाल।
छमवत है अपराध को, कियो जु कथन रसाल॥ —ग्वाल

तत्कालीन भक्ति के सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र के विचार सटीक हैं कि "यह

भक्ति भी उनकी श्रृंगारिकता का अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे तो राधाकृष्ण का यही अनुराग उनके धर्मभीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरणभूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी।" यों जहाँ-तहाँ केशव, देव, पद्माकर आदि ने भक्ति के शुद्ध उद्गार भी प्रकट किये हैं—

छोड़ हरिनाम नहिं पैहै बिसराम अरे,
निपट निकाम तन चाम ही को चोला है। —पद्माकर

ऐसी वैराग्यग्रस्त उक्तियाँ वृद्धावस्था, जीवन के अवसाद और थकान की उक्तियाँ हैं जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सटीक कही जायँगी। इसी प्रकार वृन्द, वैताल, जमाल, गिरिधर इत्यादि दो-चार विशुद्ध रूप से सूक्तिकार ही हैं, कवि कम। अस्तु, सामान्य रूप से कहा जायगा कि इस युग का मूल स्वर है श्रृंगार, नीति और भक्ति की उक्तियाँ प्रासंगिक ही कही जायँगी। साथ ही, ऐसी उक्तियों में जीर्ण नैतिकता की ही ध्वनि है।

४. आलंकारिकता— काव्यजीवियों में आलंकारिकता का आग्रह सर्वत्र है। कवि चाहे रीतिबद्ध हों या रीतिमुक्त—सबने चमत्कारप्रदर्शन और आलंकारिकता में विशेष रुचि दिखलायी है। समस्त काल में साधर्म्यमूलक और सम्भावनामूलक (उत्प्रेक्षा) अलंकारों की प्रमुखता रही है। शब्दालंकारों में अनुप्रास का प्रचलन अधिक रहा है। यों परिसंख्याशैली के लिए केशव, अनुप्रास और व्याजस्तुति की शैली ('गंगालहरी' में) के लिए पद्माकर और विरोधाभासशैली के लिए घनानन्द का महत्त्व सार्वकालिक-सा हो गया है। अलंकार और चमत्कारप्रियता ने ही कवियों को ऊहा के मजमून बाँधने को भी विवश किया है। आलंकारिकता के सम्बन्ध में निर्भ्रान्त रूप से कहा जायगा कि जहाँ-जहाँ कवियों को सफलता मिली है, निश्चय ही उन्होंने अलंकार का पल्ला ढीला कर लिया है। पर, जितनी विफलता काव्यजीवियों को मिली है, उसका एकमात्र कारण है आलंकारिकता। आलंकारिकता के पीछे दौड़ने से ही अधिकांश स्थलों पर कवि की अनुभूतियाँ विकृत हो गयी हैं।

५. प्रशस्तिपरक अथवा वीररसात्मक रचनाएँ— प्रशस्तिकाव्य अथवा वीरकाव्य का प्रथम उत्थान हिन्दी-साहित्य में आदिकालीन रासो-काव्यों को ही मानना चाहिए। इस दृष्टि से श्रृंगारकालीन उत्साह (स्थायी भाव) परक रचनाओं को वीरकाव्य के द्वितीय उत्थान की संज्ञा दी जायगी। इस समय वीरकाव्य की पाँच पद्धतियाँ मिलती हैं—(१) शुद्ध वीरकाव्य, (२) श्रृंगारमिश्रित वीरकाव्य, (३) भक्तिभावित वीरकाव्य, (४) अनूदित वीरकाव्य और (५) प्रकीर्ण वीरकाव्य। सामान्य रूप से वीरकाव्यों के रचयिता राजाश्रित ही रहे हैं। प्रमुख वीरकाव्यों में आचार्य

केशव के 'रतनबावनी', 'वीरचरित्र' और 'जहाँगीरजसचन्द्रिका'; भूषण के 'शिवराजभूषण', 'शिवाबावनी' और 'छत्रशालदशक'; दुरासाजी की 'प्रताप चौहत्तरी'; मानकवि का 'राजविलास'; सूर्यमल्ल की 'वीरसतसई'; श्रीधर का 'जंगनामा'; सूदन का 'सुजानचरित्र'; जोधराज का 'हम्मीररासो'; चन्द्रशेखर का 'हम्मीरहठ'; पद्माकर की 'हिम्मतबहादुरविरुदावली' आदि के नाम लिये जाते हैं। वीररस के छन्द जोड़ने वाले हुए तो अनेक; पर भूषण, लाल और सूर्यमल्ल मिश्रण ही अग्रणी हैं। दुरासाजी, सूदन आदि भी ख्यातिप्राप्त हैं। कतिपय आलोचकों ने भूषण की कविता को जातीयता से ओतप्रोत माना है; पर यहाँ लोग यह भूल जाते हैं कि जातीयता ही उस समय की राष्ट्रीयता थी। फिर भूषण को मात्र औरंगजेब की काली करतूतें ही उसके विरोध में लिखने को प्रेरित कर रही थीं। उसने खरी-खोटी मात्र औरंगजेब को ही सुनायी है, उसके बाप-दादों को नहीं—

१. दौलति दिल्ली की पाए कहाए आलमगीर, बब्बर अकब्बर के बिरद बिसारे तैं।
२. बब्बर अकब्बर हिमायूँ हद्द बाँधि गए, हिन्द औ तुरुक की कुरान-बेद ढबकी।

अस्तु, कहा जायगा कि भूषण की रचनाओं में राष्ट्रीयता का ही स्वर है। प्रथम स्वातन्त्र्य-समर का उद्घोष किया है सूर्यमल्ल ने अपनी 'वीरसतसई' में, जिसकी घोषणा है—'इला न देणी आपणी'। श्रीधर, सूदन, पद्माकर इत्यादि की प्रवृत्ति इतिवृत्तात्मक और प्रशंसात्मक रही है। इनकी रचनाएँ शुद्ध वीरकाव्य नहीं हैं।

शृंगारमिश्रित वीरकाव्यों में रासोपद्धति का ही विकास है। जोधराज, चन्द्रशेखर, सूर्यमल्ल इत्यादि की रचनाएँ ऐसी ही हैं। भक्तिभावित वीरकाव्यों में दुर्गा, कालिका, नृसिंह और हनूमान के यशोगान हैं। हनूमान को आलम्बन मानकर ही अधिकांश रचनाएँ हुई हैं। भगवन्तराय खीची (हनुमान-पचासा), मनियारसिंह (हनुमत-छब्बीसी) आदि की रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। अनूदित वीरकाव्यों में 'महाभारत' (सबलसिंह चौहान), 'द्रोणपर्व' (कुलपति), 'कर्णपर्व' (पद्मेश) इत्यादि प्रमुख हैं। प्रकीर्ण वीरकाव्य के कर्त्ताओं में भी अनेक के नाम गिनाये जायँगे। समस्त वीरकाव्यों को ध्यान में रखकर कहना पड़ता है कि अधिकांश रचनाएँ राजाश्रय से सम्बन्धित होने के कारण प्रशस्तिपरक ही हैं। शिवाजी, छत्रसाल आदि चरितनायकों को लेकर ही जो कुछ लिखे गये हैं, उन्हें उत्तम कोटि का माना जा सकता है।

प्रशस्तिपरक रचनाओं का एक दूसरा रूप भी मिलता है, जहाँ कवि आश्रय-दाताओं के नाम पर अन्य रसों से सम्बन्धित रचनाएँ करता था; पर दो-चार प्रशस्तिपरक छन्दों की योजना कर अपना काम चला लेता था। ऐसी ही रचनाओं में कवि "बख्त बुलंद महाराज तेरे चाहिए" के साथ "आपु ज्यों चहत मेरी कविता दराज, त्यों मैं उमरिदराज राज! रावरी चहत हौं" के नारे भी लगाता था।

६. **हासकाव्य**— हिन्दी-हासकाव्य पर विचार किया जाय तो कहा जायगा कि इसका स्वतन्त्र रूप से लेखन शृंगारकाल में ही प्रारम्भ हुआ है। आदिकालीन हिन्दी-काव्य में इसका सर्वथा अभाव ही है। यदि तुलसी के नारदप्रसंग और शंकरविवाह तथा विनयपत्रिका के एक-दो पदों को छोड़ दिया जाय, तो भक्तिकाल भी इससे रिक्त ही कहा जायगा। यद्यपि दरबारों में हास्यरस की उक्तियाँ और भड़ौआ आदि सुनाने का कार्य भाट ही करते थे, हास्यरस की कविता लिखना हीन-कर्म ही समझा जाता था; फिर भी इस काल के कुछ कवियों ने हास्यरस की सुन्दर रचनाएँ की हैं, यद्यपि अधिकांशतः वे प्रकीर्ण ही हैं। संस्कृत में हास्य के आलम्बन महादेवजी ही बनते आये हैं। शृंगारकालीन हास्यरस की रचनाओं के भी प्रमुख आलम्बन महादेव ही रहे हैं। राधाकृष्णविषयक परिहास भी मिलते हैं; पर उन्हें शृंगार के ही अन्तर्गत रखा जायगा। महादेवजी के अतिरिक्त कंजूस और नपुंसक भी हास्य के आलम्बन रहे हैं। खटमल को आलम्बन मान कर संस्कृत में भी हास्यरस की रचना हुई है—

कमले कमला शेते हरः शेते हिमालये।
क्षीराब्धौ च हरिः शेते मन्ये मत्कुणशंकया॥

खटमल को आलम्बन मानकर शृंगारकाल में प्रीतमजी (अलीमुहिब खाँ) ने 'खटमल-बाईसी' नामक बड़ी सुन्दर रचना की है। भले ही इसका काव्यत्व महत्त्वपूर्ण न हो, पर इसे कैसे भुलाया जायगा कि इन्होंने कविता में एक नवीन मार्ग दिखाया है—

बाघन पै गयो, देखि बनन में रहे छपि, साँपन पै गयो, ते पताल ठौर पाई है।
गजन पै गयो, धूल डारत हैं शीश पर, बैदन पै गयौ, काहू दारु ना बताई है।
जब हहराय हम हरि के निकट गए, हरि मोंसो कही तेरी मति भूल छाई है।
कोऊ ना उपाय, भटकत जनि डोलै, सुन, खाट के नगर खटमल की दुहाई है। —प्रीतम

७. **दृश्यकाव्य या नाट्यकाव्य**— नाट्यकाव्य की दृष्टि से यह काल अनुर्वर रहा है। अनुसन्धायकों ने इसके लिए अनेक कारण दिये हैं जिनमें गद्य का अभाव, रंगशाला का अभाव, मुसलमान शासकों में नाटकीय मनोवृत्ति का अभाव, फारसी साहित्य में नाट्यकाव्य का अभाव, भक्तिकाल में भक्ति की विशेष प्रवृत्ति इत्यादि प्रमुख हैं। इतना होने पर भी इस काल का एक विशेष महत्त्व है कि नाटकरचना का प्रारम्भ इसी युग में हो जाता है। हिन्दी के तथाकथित प्रथम नाटक 'आनन्द-रघुनन्दन' एवं 'नहुष' इसी युग की उपज हैं। कुछ लोग संवादकाव्यों को नाट्य-काव्य का ही एक रूप मानते हैं; पर यह मत गलत है। 'वाद' और 'चर्चा' नाम से ऐसे अनेक संवादात्मक ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें नाटकीयता तो है; पर वे नाट्यकाव्य नहीं हैं। इस युग में नाट्यकाव्य अनुवादों के रूप में ही अधिक पल्लवित हुआ है। ये अनुवाद मूलतः संस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय', 'हन्नुमन्नाटक' और 'अभिज्ञान-

शाकुन्तलम्' के ही हैं। 'प्रबोधचन्द्रोदय' से कई अनुवाद हुए हैं, जिनमें केशव की 'विज्ञानगीता' और देव कवि का 'देवमायाप्रपंच' अधिक प्रख्यात हैं। 'हनुमन्नाटक' के भी चार-पाँच अनुवाद मिलते हैं। इनके अतिरिक्त प्राणदास चौहान, लक्षीराम जैन, सदाराम इत्यादि की रचनाएँ प्रमुख हैं। इन सब रचनाओं में सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण रचना महाराज विश्वनाथसिंहजी का 'आनन्दरघुनन्दन' ही है। श्रृंगार के युग में मात्र ज्ञानपरक और भक्तिपरक नाट्यकाव्य ही लिखे जायँ, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है।

८. **प्रकृतिचित्रण**— सच पूछिए तो श्रृंगारकाल में प्रकृति का चित्रण नहीं, अपितु ऋतुओं का वर्णन ही हुआ है। ऋतुवर्णन में भी कवियों ने प्रकृति का बिम्बग्राही रूप अंकित नहीं किया है। यदि सेनापति के तथा प्रकीर्ण रूप से किये गये अन्य कवियों के कुछेक वर्णनों को हटा दिया जाय तो निरपेक्ष प्रकृतिवर्णन कहीं भी नहीं रह जायगा। प्रकृति के सापेक्ष वर्णनों में मूलतः होली (वसन्त) और वर्षा के ही वर्णन मिलते हैं। ग्रीष्म, हेमन्त और शरद के वर्णन अपेक्षाकृत कम हैं। होली के 'हुरदंग' का वर्णन पद्माकर ने सर्वाधिक किया है। कवियों ने प्रकृति का वर्णन मूलतः उद्दीपन के रूप में ही किया है। वसन्त के आते ही 'औरे मन, औरे तन, औरे बन' तो हो ही जाते हैं, उसकी छवि के फैलने के साथ ही नायिकाएँ छलिया, छबीले और छैल का चुनाव भी कर चलती हैं। होली के 'हुरदंग' का माधुर्य बिहारी, देव, मतिराम, बेनी प्रबीन, ग्वाल इत्यादि ने तो वर्णित किया ही है; पर पद्माकर का यह वर्णन अपने ढंग का है—

> फागु के भीर अभीरन तें गहि, गोविंदै लै गई भीतर गोरी।
> भाई करी मन की 'पद्माकर', ऊपर नाइ अबीर की झोरी।
> छीनि पीतम्बर कम्मर तें, सुबिदा दई मीड़ कपोलनि रोरी।
> नैन नचाइ कह्यौ मुसकाइ, लला फिरि आइयो खेलन होरी॥

वसन्त में पद्माकर जहाँ ऐसी हठीली नारियों की व्यवस्था करते हैं, वहाँ वे ग्रीष्म में खसखाने और तहखाने की ही मरम्मत नहीं कराते, अपितु बरफ, शीतलपाटी, अंगूरी आसव और अंगूर की टाटी भी जुटाते हैं। इतना होने पर भी उन्हें उस समय तक असन्तोष ही है जब तक वे 'अंगूर सों ऊँचौ है कुच' की व्यवस्था न कर लें। इसी प्रकार उनका दावा है कि जिसके पास गुलगुली गिलमे, गलीचा, गुणीजन, सुबाला, दुशाला और प्याला हैं उसका शीत क्या बिगाड़ सकता है? संयोगवर्णन में कवियों ने जहाँ ऋतुओं के सुखात्मक चित्र अंकित किये हैं, वियोग आने पर वे ठीक इसके प्रतिकूल कथन करते हैं—

१. एरे मतिमंद चंद ! आवत न तोहि लाज, ह्वै के द्विजराज काज करत कसाई के। —पद्माकर
२. बिरही दुखारे, तिनपर दई मारे, मानौं मेघ बरसत हैं अँगारे, आसमान तें। —करनेस

९. **नारिचित्रण**— श्रृंगारकालीन कवियों की रुचि नारिचित्रण पर विशेष

रमी है। इन्होंने नारी का मात्र विलासिनी रूप ही खड़ा किया है। गृहणी, जननी, देवी, भगिनी, देशसेविका इत्यादि रूपोंका सर्वत्र अभाव है। उनकी नारी-भावना मानो पूर्णतः रुग्ण हो गयी थी। इसी से वे नारी को उपकरण मात्र मान बैठे थे—

> कौन गनै पुर नगर वन, कामिनि एकै रीति।
> देखत हरै विवेक को, हरै चित्त कर प्रीति॥ —देव

नायिकाभेद का विस्तार स्पष्ट रूप से नारी के भोग्य रूपों का ही विस्तार है। स्वकीया के साथ रतिक्रीड़ा तो पुरुषों का जन्मसिद्ध अधिकार ही है। परकीया पर पुरुषों से प्रेम-सम्बन्ध रखने पर लांछन तो लगाये ही जा सकते हैं; पर उसका परकीयात्व भी तभी तक है जब तक पति को स्नेह-सम्बन्ध से वंचित रख कर मात्र एक ही पुरुष की वासना का शिकार बने, अन्यथा शास्त्र उसे कुलटा कहने लगेगा, भले ही पुरुष अनेक का उपभोक्ता क्यों न हो। पुरुषों के स्वार्थ से स्वकीया (सौत) भी वंचित नहीं है। वह ज्येष्ठा तभी होगी, जब अन्य सौतों की अपेक्षा उसे अधिक प्यार मिले; अन्यथा आयु, रूप, गुण इत्यादि में ज्येष्ठा होकर भी कनिष्ठा ही बनी रहेगी। बात यहीं नहीं रुकती। अज्ञातयौवना (मुग्धा) पुरुष के विलास का साधन और काव्य का सरस विषय बन सकती है; पर संकेतचेष्टाशून्य नायक (अनभिज्ञ) का वर्णन काव्य में रसाभास का ही विषय माना गया है। यहाँ आप पूछ सकते हैं, आखिर अज्ञातयौवना के यौवन के साथ ऐसी चुहलबाजी क्यों?

पुरुष की छूट का एक और नमूना यह है कि वह रात भर परनारी के साथ सम्भोगोपरान्त प्रातःकाल रात्रिजागरण और रति के चिह्नों को लेकर स्वकीया के सम्मुख ढीठ बनकर खड़ा हो सकता है, उसे चिढ़ा सकता है; पर उत्तमा को इतना भी अधिकार नहीं कि उसके अनिष्ट की तनिक भी कल्पना करे; क्योंकि मध्यमा अथवा अधमा जो उसे बन जाना पड़ेगा! इससे बढ़कर तानाशाही और क्या हो सकती है? 'असाध्यस्तु रसाभासः' के अनुसार, मानवती मानकर पुरुष को थोड़ी देर के लिए तड़पा भले ही ले; पर उसे मान की शान्ति करनी होगी। आवेशाधिक्य में क्रोधाभिभूत हो नायिका यदि पुरुष को घर से निकाल भी देती है, तो उसे कलहान्तरिता बनकर पश्चात्ताप करना ही पड़ेगा; पर बेचारे नायक के लिए ऐसा दुर्भाग्य (सौभाग्य?) कहाँ? अस्तु, यह निश्चयपूर्वक कहा जायगा कि लेखनी का धनी पुरुष (कवि) जब नायिकाभेदादि का सविस्तर निरूपण कर रहा था, तो उसकी दृष्टि स्वार्थसिद्धि की ओर टिकी थी। ऐसे अवसर पर यदि पुरुष अपने अनुकूल सिद्धान्त का निर्माण नहीं करता, तो यह भी उसका दुर्भाग्य ही होता। इस युग की नारी-भावना पर विचार करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने कहा था—"रीतिकालीन कवियों का नारी के प्रति दृष्टिकोण सर्वथा सामन्तीय है जिसके अनुसार वह समाज की एक चेतन इकाई न होकर बहुत-कुछ जीवन का

एक उपकरणमात्र है।" और, छायावादी कवि पन्त ने इस युग की नारी-भावना को ही ध्यान में रखकर घोषणा की थी—

जीवन के उपकरण सदृश नारी भी कर ली अधिकृत।

इस बात की पुष्टि श्री एस० के० बनर्जी के इस कथन से भी होती है—"She has to be attractive to her husband as any mistress would be, yet her faithfulness to the lord should never be questioned. She had to be proficient in all the sixty-four erotic wits."—Lures of India.

१०. काव्यरूप— शृंगारकालीन काव्यरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि सामान्यतः सबने मुक्तकशैली का प्रयोग किया है। कवि-दंगलों में कवि पुंगवों को मात्र चमत्कार के आधार पर ही ख्याति मिल सकती थी। चमत्कार-प्रदर्शन मुक्तकों द्वारा ही सम्भव था। अस्तु, मुक्तकशैली का प्रयोग सोद्देश्य है। 'मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्' में 'चमत्कारक्षम' से यह भ्रम न होना चाहिए कि इसमें रसोत्पादन की क्षमता नहीं है। अभिनवगुप्त ने मुक्तकों को रसचर्वणक्षम ही माना है। हाँ, इतना अवश्य है कि इसमें प्रबन्ध के समान रसधारा नहीं रहती है। आचार्य शुक्ल कहा करते थे—"इसमें (मुक्तक) रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्धकाव्य विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से यह सभा-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है।" मुक्तकों को ध्यान में रखते हुए कहा जायगा कि इस युग में मूलतः दोहा, सवैया और कवित्त छन्द ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं। दोहों के प्रयोग में बिहारी, मतिराम आदि की क्षमता बेजोड़ है। सवैया और कवित्त मूलतः पढ़न्त छन्द हैं। सवैये में ध्वन्यात्मकता, नादसौन्दर्य आदि खूब जमे हैं। इसमें शब्दालंकारों ने और भी अधिक चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। पद्माकर, मतिराम आदि सवैयों के लिए सदा स्मरणीय रहेंगे। कवित्त का बन्धन सवैये की अपेक्षा शिथिल होता है। वृत्यनुप्रासों की संख्या कवित्तों में अधिक है। इसे अलंकृत करने के लिए कवियों ने यमक, वीप्सा आदि से अधिक काम लिया है। इन छन्दों के अतिरिक्त कुछ अन्य छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं, पर वे नगण्य हैं। मुक्तकरचना के इस युग में प्रबन्ध के लिए स्थान नहीं रह गया था। राधा-कृष्ण की कथा प्रबन्ध के लिए आवश्यक घटनाचक्र नहीं दे सकती थी। सम्भवतः इसी से प्रबन्धों की धारा इस समय निःशेष हो जाती है। कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित अन्य घटनाओं को ही प्रबन्धों में ढाला जा सकता था। प्रबन्धों में नरोत्तमदास के अनुकरण पर लिखा गया आलम का 'सुदामाचरित' और रुक्मिणीपरिणय की कथा के आधार पर 'श्यामसनेही' जैसे खण्ड-काव्य लिखे गये। माधवानलकामकन्दला की

कथा पर कई रचनाएँ प्रस्तुत हुईं। बोधा का 'विरहवारीश' ऐसी ही रचना है। इस प्रकार, नाम के लिए ही सही, प्रबन्धों की रचनाएँ भी हुई हैं।

११. रीतिमुक्तता— शृंगारकाल में राजाश्रित कवि जहाँ रीतिबद्ध रचनाएँ कर रहे थे, वहाँ उसी के समानान्तर कुछ ऐसे भी कवि थे जो पूर्णतः स्वच्छन्द प्रवृत्ति पर अपनी रचना कर रहे थे। इनकी रचनाओं का प्रतिपाद्य भी शृंगार ही है; पर रीतिबद्ध रचनाओं से इनका अन्तर स्पष्ट है। रीतिबद्ध रचनाओं में माथे चढ़कर बोलती है बुद्धि, भाव तो दासी है; पर रीतिमुक्त रचनाओं में बात उलटी है। यहाँ हृदय की अनुभूति ही रानी है और बुद्धि उसकी दासी। ऐसी रचनाएँ बुद्धिबोधित नहीं, भावभावित हैं। इसके कर्त्ता प्रेम की पीर के गायक थे। प्रेम की संवेदना ही उनका मुख्य विषय था। ऐसे कवियों में रसखान, शेख, आलम, घनानन्द, ठाकुर, बोधा, द्विजदेव इत्यादि के नाम लिये जायँगे। इन कवियों पर सूफी काव्य का प्रचुर प्रभाव दीखता है। मुहावरों के विनियोग, विरोधाभास और लाक्षणिकता के लिए घनानन्द शृंगारकालीन कवियों में सबसे बढ़कर हैं। '**देखिए दसा अगाध अँखियाँ निपेटनि की भसमी बिथा पै नित लंघनि करति है**' जैसी पंक्तियाँ मात्र घनानन्द ही लिख सकते थे। तभी तो इनकी प्रेमसंवेदना को समझने में प्रवीणों की मति भी हार जाती है—

जग की कबिताई के धोखें रहै ह्याँ प्रबीनन की मति जाति जकी। —घनानन्द

आखिर ऐसा होता क्यों नहीं; इनका साध्य तो 'कवित्त' था ही साधन भी 'कबित्त' ही था—

लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत। —घनानन्द

१२. अभिव्यंजना— अभिव्यंजना का विषयवस्तु से गहरा सम्बन्ध होता है। वस्तुतः किसी भी कवि की परीक्षा करते समय मूल विचारणीय यही है कि जिस वस्तु को वह अभिव्यक्त करना चाहता है, उसमें उसे किस कोटि तक सफलता मिली है। इस दृष्टि से विचारने पर शृंगारकालीन कवि खरे उतरते हैं। इस काल के अभिव्यंजनाशिल्प पर विचारते समय सर्वप्रथम कतिपय वैसे शब्दों की ओर ध्यान देना आवश्यक है जिनका भाग्यविपर्यय ही नहीं हुआ है, अपितु उनमें नवीन अर्थ-वत्ता भी भरी गयी है। 'कन्हैया', 'साँवलिया', 'लाल', 'लला' इत्यादि ऐसे ही शब्द हैं। इन सबके प्रकृत अर्थ यहाँ बिल्कुल बदल गये हैं। यहाँ ये राधा-कृष्ण के वाचक न होकर सामान्य नायक-नायिका का अर्थ देते हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से इसे अर्थसंकोच कहें या अर्थविस्तार; पर है यह महत्त्वपूर्ण अवश्य। इसी प्रकार छलिया, छबीला, छैल इत्यादि शब्द भी हैं, जिनमें नवीन अर्थ है।

वातावरणनिर्माण और चित्रांकन के लिए ध्वन्यात्मक शब्द भी विचारणीय हैं। वातावरण को मादक बनाने के लिए रणनात्मक, अनुकरणात्मक और लक्षणात्मक

शब्द भी बहुलता से प्रयुक्त हुए हैं। ऐसे शब्दों का उपयोग मिलनप्रसंगों के वर्णन में ही अधिक हुआ है—

१. झाँझरिया झनकैंगी खरी, खनकैंगी चुरी तनकौ तन तोरै। —दास
२. फहर फहर होत पीतम को पीत पट, लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया। —देव

ऊपर क्रमशः आभूषणों के अनुरणन और हवा में वस्त्रों के फहराने के अनुकरण पर शब्द रखे गये हैं। इनमें उल्लासपूर्ण वातावरण ही व्यंजित है।

लक्षणात्मक शब्दों के प्रयोग बिहारी, देव, घनानन्द इत्यादि में पूर्णतः प्राप्त हैं। बिहारी के 'लहलहाति तन तरुणई' और देव के 'उमड़्यो परत रूप' में क्रमशः 'लहलहाति' और 'उमड़्यो' शब्द विचारणीय हैं। इनके लक्ष्यार्थ द्वारा इन्द्रियोत्तेजक चित्र उपस्थित करने में कवि को पूर्ण सफलता मिली है। इसी क्रम में विशेषण, मुहावरे, लोकोक्ति इत्यादि के प्रयोग भी देखे जा सकते हैं। घनानन्द ने तो कहीं-कहीं पदांशध्वनि से भी काम लिया है।

१३. चित्रयोजना— भावों और अनुभूतियों को रूपायित करने के लिए काव्य में चित्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शृंगारकालीन काव्यों में चित्रमयता मिलती है; पर यहाँ जीवन के समग्र चित्रों का अभाव-सा ही है। कवियों ने अपनी दृष्टि खण्डचित्रों पर ही केन्द्रित कर ली है। यद्यपि समग्र चित्रों की अपेक्षा खण्ड-चित्रों का महत्त्व कम होता है, फिर भी इन्हें महत्त्वशून्य नहीं कहा जायगा। शृंगारकालीन खण्डचित्रों में एकरूपता, रूढ़िबद्धता आदि ही अधिक हैं। अभिसारिका, खण्डिता आदि के चित्रों में ये बातें देखी जा सकती हैं। हाँ, अपनी सीमा के अन्तर्गत कवियों ने कुछ नयनाभिराम और अनुपम चित्रों की भी योजना की है।

'कुन्दन को रँगु फीकौ लगै' वाले पद में मतिराम द्वारा अंकित नायिका का रेखाचित्र लक्षित चित्रयोजना का बेजोड़ उदाहरण है। इस युग के काव्यों में लक्षित और उपलक्षित (डाइरेक्ट ऐण्ड फिगरेटिव इमैजरी) दोनों प्रकार के चित्र मिलते हैं। शब्द, स्पर्श, गन्ध इत्यादि से हीन चाक्षुप चित्रों (विज़ुअल इमैजरी) में इन्द्रियोत्तेजन की क्षमता सन्दिग्ध ही रह गयी है। चित्तवृत्ति, हाव, चेष्टा इत्यादि के अंकन में विधायक और गत्यात्मक (फंक्शनल ऐण्ड डायनमिक) चित्रों को महत्त्वपूर्ण माना जायगा। 'बतरस लालच लाल की' वाले दोहे में बिहारी ने ऐसा ही चित्र दिया है।

रेखाचित्रों के अतिरिक्त वर्णचित्रों की भी योजना इस काल में खूब की गयी है। ऐसे चित्रों का चुनाव कवि ने प्रकृति से, वस्त्राभूषणों से और पावक एवं दीपशिखा से किया है। वर्णचित्रों के अंकन की पाँच पद्धतियाँ मिलती हैं— नायिका के आंगिक वर्णचित्र, अनुरूप वर्णयोजना (मैचिंग कलर), वर्णों का मिश्रण

(काम्बिनेशन ऑफ कलर), विरोधी वर्णयोजना (कांट्रास्टिंग कलर) और वर्णपरिवर्त्तन (चेंज ऑफ कलर)। 'अंगन में चन्दन चढ़ाय घनसार सेत, सारी छीर फेन की सी आभा उफनति है' (मतिराम) में अनुरूप वर्णयोजना, बिहारी के 'अधर धरत हरि के परत ओठ दीठि पट जोति' और पद्माकर के 'पैरे जहाँ ही जहाँ वह बाल तहाँ-तहाँ ताल में होत त्रिवेणी' वाले पद में वर्णों का मिश्रण और बिहारी के 'छिप्यो छबीलो मुख लसै, नीले आँचर चीर' में विरोधी वर्णयोजना के अंकन देखे जा सकते हैं। मतिराम का निम्नांकित दोहा वर्णपरिवर्त्तन का सफल उदाहरण है—

ज्यों-ज्यों परसत लाल तन, त्यों-त्यों राखै गोय।
नवल बधू डर लाज तें, इन्द्रबधू-सी होय॥

उपलक्षित चित्रयोजना में अप्रस्तुतविधान का महत्त्व अधिक होता है। ऐसे चित्रों के लिए कवियों ने अप्रस्तुतों का ग्रहण तत्कालीन सामन्तीय वातावरण, प्रकृति, पशुपक्षी, शास्त्रज्ञान और घरेलू जीवन से किया है। बिहारी के अप्रस्तुत अधिकांशतः दरबारी वातावरण और पुस्तकों पर आधारित हैं। देव ने पशुपक्षी-जगत् एवं घरेलू जीवन को ही अप्रस्तुतों का क्षेत्र माना है। मतिराम और पद्माकर की स्थिति बिहारी और देव के मध्य की है।

१४. अलंकारयोजना— चित्रयोजना की तरह ही इस युग में अलंकार-योजना भी अपने ढंग की ही यान्त्रिकता से परिपूर्ण है। इस युग में सभी प्रकार के अलंकारों का प्रयोग हुआ है। रूपसादृश्य, धर्मसादृश्य और प्रभावसादृश्य के आधार पर अनेक अप्रस्तुतों की कल्पना की गयी है। सादृश्यमूलक अलंकारों की अपेक्षा सम्भावनामूलक अलंकारों का प्रयोग अधिक किया गया है। असल बात है, उत्प्रेक्षा में कल्पना की उड़ान और चमत्कारप्रदर्शन के लिए काफी जगह मिल गयी है। श्लेषमूलक चामत्कारिक अलंकारों की ओर भी लोगों की प्रवृत्ति अधिक गयी है जिससे भावतत्त्व में बाधा आ गयी है। ऐसे स्थल कम ही आये हैं जहाँ कवि ने चमत्कार और रसानुभूति को समन्वित रूप में अभिव्यक्त किया हो। नीचे के उदाहरणों में चमत्कार और रसानुभूति का समन्वय देखा जा सकता है—

१. दृग अरुझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिए, दई नई यह रीति॥ (असंगति)
२. लोचन लोल बिसोल बिलोकनि, को न बिलोकि भयो बस माई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं, मीठी लगै अँखियान लुनाई॥ (विभावना)

पर यह सच है कि ऐसे स्थल कम ही हैं। ऊहा का मजमून बाँधते समय लोगों की दृष्टि अतिशयमूलक अलंकारों पर ही अधिक रही है।

१५. भाषा— शृंगारकाल की काव्यभाषा ब्रजी है। ब्रजभाषा की विकास-परम्परा पर ध्यान रखते हुए इस युग की ब्रजी को तृतीय उत्थान की ब्रजी की संज्ञा दी जायगी। सूरपूर्व ब्रजभाषा पहली अवस्था में रही है और दूसरी अवस्था में ब्रजी

भक्तिकाल की भाषा रही है। इस युग तक आते-आते ब्रजी तीसरी अवस्था में आ गयी है। निश्चय ही सूर, बिहारी और घनानन्द के हाथों मँजकर यह भाषा अपने उत्कर्ष पर आ गयी है। ब्रजी प्रकृतितः मधुर भाषा है। यद्यपि आचार्य भिखारीदास ने काव्यभाषा का आदर्श मिली-जुली भाषा को ही माना है—

> भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोय।
> मिलै संस्कृत पारसिहुँ, पै अति प्रगट जु होय॥
>
> ब्रज मागधी मिलै अमर, नाग जमन भाषानि।
> सहज पारसीहू मिलै, षट बिध कवित बखानि॥

और इसके अनुसार तुलसी और गंग की भाषा को ही टकसाली माना है; पर वास्तविकता यह है कि ब्रजी काव्यभाषा के रूप में रूढ़ हो गयी थी। हाँ, उसमें अन्य भाषाओं का मेल—पँचमेल अथवा छमेल—चल रहा था। अवधी, बुन्देलखंडी, छत्तीसगढ़ी, मगही, भोजपुरी, फारसी इत्यादि के शब्द और कभी-कभी क्रियापद भी सोद्देश्य प्रयुक्त होते थे। इस काल में भाषा में विनोदन-गुणों के विस्तार के लिए वर्णमैत्री, अनुप्रासत्व, शब्दगति, शब्दशोधन, अनेकार्थता इत्यादि पर खूब ध्यान दिया गया है। मुहावरे, लोकोक्तियाँ, नादसौन्दर्य इत्यादि चमत्कार उत्पन्न करने के लिए सदा प्रयुक्त होते रहे हैं। डॉ० नगेन्द्र ने इस काल की भाषा पर विचार करते हुए कहा है— "भाषा के प्रयोग में इन कवियों ने एक खास नाजुक-मिजाजी बरती है। इनके काव्य में किसी भी ऐसे शब्द की गुंजाइश नहीं जिसमें माधुर्य नहीं है, जो माधुर्यगुण के अनुकूल न हो। संगीत के रेशमी तारों में इनके शब्दमाणिक्य मोती की तरह गुँथे हुए हैं। नागरिकता और मसृणता इस काल की भाषा के मुख्य तत्त्व हैं। ऐसी रंगोज्ज्वल शब्दावली अन्यत्र दुर्लभ है।" व्याकरण-विधानों के अभाव में इसमें त्रुटियाँ भी मिलती हैं; पर फिर भी सब मिलाकर भाषा का स्वस्थ रूप ही मिलता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के अनुसार— "भाषा के भी विश्रामदायक और विनोदन गुणों का इस काल में खूब मार्जन हुआ; परन्तु उसे इस योग्य बनाने का प्रयत्न किसी ने न किया कि वह गम्भीर विचार-प्रणाली का उपयुक्त वाहन बन सके।" निष्कर्षरूप से कहेंगे कि इस काल की भाषा कोमल और सरस भावों की सुन्दर वाहिका है, यह भावानुगामिनी है।

अन्त में एक बात और। इस युग की कविता पर यह आक्षेप है कि यह यथार्थ जीवन की कविता नहीं है। पर, सच पूछा जाय तो जितनी ईमानदारी से समाज का चित्रण इस युग के कवियों ने किया, शायद अन्यत्र दुर्लभ ही है। हाँ, इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि इसमें भोगवादी दर्शन और जीवन की यान्त्रिकता का ही चित्रण अधिक है। पर, क्या यह असत्य है कि समस्त हिन्दी-काव्य में मात्र शुद्ध साहित्यिक रचनाएँ यदि कहीं मिलती हैं तो शृंगारकाल में?

आदिकालीन काव्य में अधिकांश कृतियाँ साम्प्रदायिक ही हैं। कुछ बचती भी हैं तो वे अपभ्रंश के पेटे में ही चली जाती हैं। हिन्दी का रिक्थ उन्हें माना ही नहीं जा सकता। सिद्धों, जैनों, सन्तों में तत्त्वदर्शन ही अधिक है; काव्यदर्शन कम। सूफियों का संवेदन साम्प्रदायिक और साहित्यिक दोनों है। भक्तों की रचनाओं में साहित्य का सबल सन्दीपन तो मिलता है, पर कविता साध्य और साधन दोनों वहाँ भी नहीं ही है। आधुनिक काल की प्रत्येक रचना किसी-न-किसी राजनीतिक वाद से प्रभावित ही है। अस्तु, शुद्ध साहित्यिक सर्जना है कहाँ? ऐसी स्थिति में सर्वाधिक शुद्ध साहित्यिक कर्म के रूप में शृंगारकाल की कविता ही सामने आती है। भले ही लोग इसे ऊपरी तौर पर क्षयिष्णु कविता का काल कह लें; पर आज भी सर्वाधिक रससमन्वित रचना के उदाहरण इसी काल से खोजे जाते हैं। निश्चय ही "रीतिकविता के रचयिता यौवन और वसन्त के कवि हैं।" नैतिकता और लोक-संग्रह की भावना से विचार करने वाले आलोचकप्रवर आचार्य शुक्ल ने भी जब ऐसी घोषणा की—"ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षणग्रन्थों से चुन कर इकट्ठा करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी"—तो इसी से इस काल के काव्य की महत्ता स्पष्ट है।

१६

श्रृंगारकालीन कवियों का आचार्यत्व

[आचार्य का अर्थ—काव्यसिद्धान्त के सम्प्रदाय— लक्षणग्रन्थों की तीन शैलियाँ— रसमीमांसा और नायिकाभेदमीमांसा— अलंकारनिरूपण— विविधांगनिरूपण— रीतिनिरूपण की त्रुटियाँ—आचार्यत्व-कर्म में बाधा के कारण]

जिस प्रकार मुगलों का शासन भारतीय इतिहास का रंगीन पृष्ठ है, उसी प्रकार हिन्दी-कविता में शृंगारकाल रंगीन काल है। जहाँ मुगलों का शासनकाल आलीशान इमारत, मकबरा, मस्जिद इत्यादि के निर्माण और उसमें की जाने वाली मीनाकारी और पच्चीकारी के लिए याद किया जाता है, वहाँ शृंगारकाल काव्य और शास्त्र में मीनाकारी और पच्चीकारी के लिए प्रसिद्ध है। यह एक आश्चर्यजनक घटना है कि संस्कृत के अन्तिम प्रकाण्ड आचार्य पं० जगन्नाथ शाहजहाँ के सभापण्डित थे और हिन्दी के प्रथम प्रतिनिधि आचार्य चिन्तामणि शाहजहाँ द्वारा पुरस्कृत किये गये थे। तात्पर्य यह कि एक ओर संस्कृत में आचार्यत्व की परम्परा समाप्त हो रही थी और दूसरी ओर हिन्दी में यह परम्परा विकसित हो रही थी। इसके पूर्व सूरदास, नन्ददास, रहीम, मोहनलाल, सुन्दर, गोपा, करनेस और आचार्य केशवदास अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन कर चुके थे। आगे दो सौ वर्षों की लम्बी अवधि वाले शृंगारकाल में प्रमुख प्रवृत्तियाँ दो ही रही हैं—कवित्व और आचार्यत्व। इस काल के विश्लेषण में यह विवाद-सा रहा है कि प्रमुखता किसे दी जाय—कवित्व को अथवा आचार्यत्व को।

हिन्दी में 'आचार्य' शब्द संस्कृत से ग्रहीत है। इसकी व्युत्पत्ति दो धातुओं—'चर्' और 'चिन्' से की गयी है। इन धातुओं के अनुसार आचार्य शब्द की व्याख्या क्रमशः—(१) 'स्वयमाचरते शिष्यानाचारे स्थापयत्यपि' (जो स्वयं आचरण करे और शिष्यों से आचरण करावे) और (२) 'आचिनोति हि शास्त्रार्थमाचार्यस्तेन कथ्यते' (जो शास्त्रार्थ का संग्रह करे) से की गयी है। आज भी जब हम अपने अध्यापक को 'आचार्य' कहते हैं तो इसमें प्रथम अर्थ ही ध्वनित होता है। द्वितीय अर्थ 'आचार्य' को शास्त्रों से सम्बद्ध करता है। सारांश यह कि शास्त्र के किसी भी विद्वान् को आचार्य कहकर अभिहित किया जा सकता है। शृंगारकालीन कवियों के आचार्यत्व पर जब हम विचार करते हैं तो आचार्य से

हमारा तात्पर्य होता है काव्यशास्त्र का विद्वान् अथवा काव्यशास्त्र के किसी सिद्धान्त अथवा सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक। अस्तु, उनके आचार्यत्व की परीक्षा का तात्पर्य है उनके काव्यशास्त्रीय ज्ञान की परीक्षा।

शृंगारकालीन समस्त लक्षणग्रन्थ शास्त्रीय विवेचन के लिए संस्कृत-काव्यशास्त्र के ऋणी हैं। संस्कृत-काव्यशास्त्र के अन्तर्गत काव्यसिद्धान्त, नाट्यसिद्धान्त और कविशिक्षा—इन तीन अंगोंका विवेचन होता रहा है। शृंगारकालीन लक्षणग्रन्थों में प्रथम अंग का सविस्तर विवेचन तो हुआ है, पर अन्तिम दो विषय उपेक्षित ही रहे हैं। नाट्यसिद्धान्त पर एक ग्रन्थ नारायण-कृत 'नारायणदीपिका' और कविशिक्षा-सम्बन्धी भी एक ग्रन्थ केशव-कृत 'कविप्रिया' उपलब्ध है। संस्कृत में काव्य-सिद्धान्त को लेकर अनेक सम्प्रदायों के प्रचलन हुए—रससम्प्रदाय, अलंकारसम्प्रदाय, रीतिसम्प्रदाय, ध्वनिसम्प्रदाय, वक्रोक्तिसम्प्रदाय और औचित्यसम्प्रदाय। हिन्दी के आचार्य उपर्युक्त सभी पचड़ों में नहीं पड़े। ये मूलतः रस और अलंकार के इर्द-गिर्द ही चक्कर लगाते रहे हैं। फिर भी इनमें से किसी को भी रसवादी अथवा अलंकारवादी कहने में आलोचक हिचकते ही हैं। विविधांगनिरूपक ग्रन्थों के कर्त्ता भी सम्पूर्ण अंगों पर समुचित रीति से विचार करने में अक्षम ही रहे हैं। अस्तु, इस युग के आचार्यत्व पर विचार करने का अर्थ है काव्यसिद्धान्त के प्रतिपादन को ही ध्यान में रखकर विचारना।

शृंगारकालीन कवियों के आचार्यत्व की परीक्षा करते समय स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि ये आचार्य लक्षणनिरूपण की ओर आकृष्ट क्यों हुए। दो बातें हो सकती हैं—हिन्दी-साहित्य के लिए स्वतन्त्र रूप से काव्यसिद्धान्त का निर्माण अथवा संस्कृत-काव्यसिद्धान्तों का अनुवाद प्रस्तुत करना। यहाँ पिछली सम्भावना ही अधिक सटीक प्रतीत होती है। यदि काव्यसिद्धान्त का स्वतन्त्र रूप से निर्माण करना इनका साध्य होता, तो संस्कृत-आचार्यों की तरह ही इनकी प्रवृत्ति खण्डन-मण्डन और विषय के विमर्श में जमती, न कि ये पद्यशैली में लक्षण देकर उदाहरण में स्वरचित छन्दों से काम चलाते। एक बात और, संस्कृत में लक्षणग्रन्थों का निर्माण तीन शैलियों—पद्यात्मक शैली (भरत, भामह, दण्डी, जयदेव, अप्पय दीक्षित इत्यादि), सूत्रवृत्तिशैली (वामन, रुय्यक और कुछ हद तक भानुमिश्र, जगन्नाथ, अकबरसाहि इत्यादि) और कारिकावृत्तिशैली (आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ इत्यादि)—में हुआ है। हिन्दी के अधिकांश आचार्यों की शैली प्रथम ही रही है। सूत्रवृत्तिशैली में सम्भवतः हिन्दी का कोई लक्षणग्रन्थ नहीं लिखा गया है। चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ इत्यादि की शैली को कुछ हद तक कारिकावृत्तिशैली में परिगणित कर सकते हैं। अस्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी-आचार्यों का उद्देश्य संस्कृत-आचार्यों से भिन्न था। ये काव्यसिद्धान्त का

प्रतिपादन और निर्माण करना नहीं, अनुवाद प्रस्तुत करना चाहते थे। इसी से इनकी शैली में गुरु-गम्भीरता नहीं मिलती है। प्रतिपादनशैली की भिन्नता उद्देश्य की भिन्नता से सम्बद्ध है, जो इनके आचार्यत्व का बाधक है।

आचार्यत्व-कर्म के लिए एक और शब्द प्रचलित है—रीतिशास्त्रनिरूपण अथवा रीतिनिरूपण। 'रीति' शब्द का सामान्य अर्थ है तरीका, पद्धति अथवा मार्ग। शृंगारकालीन आचार्यों ने 'रीति' शब्द का प्रयोग संस्कृत के 'रीतिवाद' से भिन्न अर्थ में किया है। यहाँ 'विशिष्ट पदरचना' का अर्थ तो लगभग है, पर 'रीतिरात्मा काव्यस्य' का अर्थ नहीं है। यहाँ विशिष्ट पद्धति के अनुसार काव्य-रचना का अर्थ ही 'रीति' को मान्य है। अस्तु, रीतिशास्त्र लगभग सम्पूर्णरूप से काव्यशास्त्र का बोधक हो गया है। इस प्रकार, रीतिशास्त्रनिरूपण अथवा रीतिनिरूपण का अर्थ लक्षणग्रन्थों का निर्माण ही है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस काल के आचार्यों ने रीतिनिरूपण के नाम पर काव्यसिद्धान्तों के अनुवाद भर प्रस्तुत किये हैं। शृंगारकाल में निर्मित रीतिनिरूपक अथवा आचार्यत्व-निरूपक ग्रन्थों को विषयानुसार मोटे रूप में चार वर्गों में रख सकते हैं—रसविषयक और नायिकाभेदविषयक ग्रन्थ, अलंकारविषयक ग्रन्थ, पिंगलनिरूपक ग्रन्थ और विविधांगनिरूपक ग्रन्थ।

संख्या की दृष्टि से रसनिरूपक और नायिकाभेदनिरूपक ग्रन्थों का बाहुल्य है। अधिकांश ग्रन्थों में शृंगार और नायिकाभेदी परम्परा को ही स्थान मिला है। सर्वरसनिरूपक ग्रन्थ कम ही हैं। इस वर्ग के कतिपय प्रख्यात ग्रन्थ ये हैं—रसिकप्रिया (केशव), सुधानिधि (तोष), रसराज (मतिराम), रसविलास और सुख-सागरतरंग (देव), रससारांश और शृंगारनिर्णय (भिखारीदास), रसप्रबोध (रसलीन), जगद्विनोद (पद्माकर), नवरसतरंग (बेनी प्रबीन), व्यंग्यार्थकौमुदी (प्रताप साहि) इत्यादि। इन ग्रन्थों के मूल उपजीव्य ग्रन्थ रहे हैं 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' (भानुमिश्र)।

संस्कृत-आचार्यों ने नायिकाभेद को रस के अन्तर्गत ही रखा है। शृंगार-कालीन आचार्यों की प्रवृत्ति पर विचारने से यह स्पष्ट है कि यहाँ रसमीमांसा (विशेषतः शृंगार) और नायिकाभेदमीमांसा के दो अलग-अलग प्रवाह हैं। पं० भानुमिश्र का सम्बन्ध दोनों से है, पर रसमीमांसा का सम्बन्ध रुद्रट-रुद्रभट्ट से भी है। रसमीमांसा में किसी प्रकार की नवीनता नहीं मिलती है। सर्वाधिक महत्त्व शृंगार को मिला है। केशव ने तो शृंगार के साथ इसके सहकर्मी रसों के ही नहीं, विरोधी रसों के समाहार की भी चेष्टा की है। लक्षणों की कौन कहे, कहीं-कहीं उदाहरण भी अनूदित किये गये हैं। देव कवि का 'छल' तो 'अवहित्था' में ही अन्त-र्भुक्त हो जाता है। रसिकता के आग्रह के कारण नायिकाभेदमीमांसा पर इनकी दृष्टि

अधिक जमी है। पर, असल में यह भी अनुवादमात्र ही है। संख्याविस्तार की दृष्टि से यदि कहा जाय कि इन्होंने नायिकाओं की पलटनें खड़ी कर दी हैं, तो अत्युक्ति न होगी। कहा जाता है कि देव और दास ने सम्भवतः हिन्दी-काव्य की प्रकृति के अनुसार कतिपय नवीन नायिकाओं और दूतियों की चर्चा की है। 'जातिविलास' में देव की उद्भावना यथार्थ के घेरे में तो है, पर क्या उन्हें साहित्यिक उद्भावना भी मान लिया जाय? दास ने राजमहलों में रहने वाली पाणिग्रहीताओं के अतिरिक्त 'रक्षिताओं' अथवा 'परदायतों' को भी देखा था। शास्त्रानुसार उन्हें परकीया नहीं कहा जा सकता। अस्तु, उन्होंने उन्हें स्वकीया ही कहा—

श्रीमाननि के भौन में, योग्य भामिनी और।
तिनहूँ को सुकियाहु में, गनै सुकवि सिरमौर॥ —शृंगारनिर्णय

ऐसी उद्भावनाएँ मौलिक तो हैं, पर इस लम्बे विवेच्य काल में इनका स्थान सिन्धु में बिन्दुवत् ही समझें। उद्‌बुद्धा, उद्‌बोधिता आदि मौलिक कल्पना नहीं हैं, बल्कि अकबरशाह (शृंगारमंजरी) के अनुकरण पर ही हैं। फिर उद्‌बुद्धा, उद्‌बोधिता आदि को परकीया का भेद नहीं, नायक से मिलन का भिन्न स्थितिकथन मात्र मानना चाहिए—नायिका की ओर से प्रयत्न होने पर उद्‌बुद्धा और नायक की ओर से प्रयत्न होने पर उद्‌बोधिता। यहाँ उभय ओर से प्रयत्नों का वर्णन नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं कि उद्‌बोधिता अनूढ़ा ही हो। हिन्दी-काव्यद्रष्टाओं ने 'अष्टनायिका' के स्थान पर 'दशनायिका' का निरूपण किया है। इनमें सात उभयनिष्ठ हैं और प्रोषित-भर्तृका के ही अन्य भेद किये गये हैं—प्रोषितपतिका, प्रवत्सत्पतिका, प्रवत्स्यत्पतिका और आगतपतिका। पद्माकर ने प्रवत्सपतिका को छोड़ दिया है। अस्तु, निर्भ्रान्त रूप से कहा जायगा कि रस और नायिकाभेद की मीमांसा में तथाकथित आचार्यों ने कोई नवीनता लगभग नहीं दिखलायी है। यों छिटपुट रूप में कुछ लोगों ने स्वतन्त्र चिन्तन यदि किया भी है तो उसे महत्त्वशून्य ही समझना चाहिए। अन्य समस्त विषयों को छोड़कर यदि इतने साहित्यिक दिग्गजों ने अपने ज्ञान का अपव्यय कर नायिकाभेदी परम्परा में कुछ पा ही लिया, तो इसमें आश्चर्य कैसा? इतने पर ही तो इन्हें आचार्यपद दिया नहीं जा सकता। वस्तुतः इन्होंने रससिद्ध कवीश्वर होने के ही प्रभूत प्रमाण दिये हैं। इसी से तो डॉ० नगेन्द्र ने अपना मत व्यक्त किया है कि "इनका मुख्य उद्देश्य आचार्यत्वप्रदर्शन न होकर केवल कलासाधन ही था जिसमें रसात्मकता और कलात्मकता दोनों का संयोग आप-से-आप हो जाता था। इनका रीतिनिरूपण भी जो इतना स्वच्छ और प्रौढ़ है उसका कारण प्रायः इनकी प्रतिभा ही थी, आचार्यत्व का विशिष्ट साधन नहीं।"

रस और नायिकाभेद की मीमांसा के पश्चात् सर्वाधिक ध्यान दिया गया है

अलंकारनिरूपण पर। अलंकारविवेचन के मूल उपजीव्य रहे हैं 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द'। मधुग्राही आचार्यों की दृष्टि कभी-कभी 'साहित्यदर्पण' और 'काव्यप्रकाश' की ओर भी घूम पड़ी है। इस युग के प्रमुख अलंकारग्रन्थ हैं—कविप्रिया (केशव), भाषाभूषण (जसवन्तसिंह), ललितललाम और अलंकार-पंचाशिका (मतिराम), शिवराजभूषण (भूषण), भाषाभूषण (श्रीधर), अलंकारचन्द्रोदय (रसिक सुमति), रसिकमोहन (रघुनाथ), कर्णाभरण (गोविन्द), कविकुलकंठाभरण (दूलह), अलंकारमणिमंजरी (ऋषिनाथ), अलंकारदर्पण (रामसिंह), पद्माभरण (पद्माकर), भारतभूषण (गिरिधर) इत्यादि।

समस्त काल में अलंकारविवेचन की दो पद्धतियाँ दीखती हैं—संक्षिप्त पद्धति और विस्तृत पद्धति। संक्षिप्त पद्धति पर लिखा गया जसवन्तसिंह का 'भाषा-भूषण' उत्तम ग्रन्थ है। सूरति मिश्र की 'अलंकारमाला' भी इसी पद्धति पर लिखी गयी है। ऐसी रचनाओं में कुवलयानन्दीय चन्द्रालोक के आधार पर दोहे जैसे छोटे छन्द में ही लक्षण-लक्ष्य के समन्वय का विधान है। इस पद्धति की पुस्तकें पढ़न्त और रटन्त की दृष्टि से बड़े काम की हैं। लक्षण-उदाहरण भी अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हैं। पद्माकर के लक्षण-लक्ष्य अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और सटीक हैं।

विस्तृत पद्धति पर लिखे गये ग्रन्थों में उदाहरण कवित्त-सवैये आदि बड़े छन्दों में दिये गये हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों में रघुनाथ का 'रसिकमोहन' सुन्दर बन पड़ा है। इसी पद्धति पर निर्मित मतिराम के 'ललितललाम' में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ रह गयी हैं। 'शिवराजभूषण' जैसे ग्रन्थों से निराशा ही अधिक होती है। ग्वाल कवि का 'रसिकानन्द' सन्तुलित और उपयोगी हो सका है। इन ग्रन्थों में लक्षण की अपेक्षा उदाहरण पर कवियों की रुचि अधिक जमी है। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि ये ग्रन्थ उदाहरणों के विचार से प्रणीत हुए हैं, आचार्यत्व की दृष्टि से नहीं।

अलंकारविवेचन पर विचारने के पश्चात् सामान्य रूप से यह कहा जायगा कि इनलोगों ने अर्थालंकार पर ध्यान तो दिया है, पर शब्दालंकार प्रायः उपेक्षित-सा रहा है। लक्षण तो सब-के-सब अनूदित ही हैं, उदाहरणों के भी अनुवाद किये गये हैं। सरल पद्धति से काम लेने और गम्भीर विषयों को चलता कर देने के कारण कहीं-कहीं अनुवाद-कार्य में भी भयानक भूलें हुई हैं। लक्षणों के अतिरिक्त यत्र-तत्र उदाहरण भी भ्रामक बन गये हैं। जहाँ-कहीं एक लक्षण से काम नहीं चला है, तो दूसरे लक्षण भी दिये गये हैं। मौलिकता प्रायः कहीं नहीं दीखती है। हाँ, तुक (अन्त्या-नुप्रास) पर दासजी ने हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल मौलिक विवेचन अवश्य किया है। 'भाविक छवि' के रूप में भूषण ने जो नवीन कल्पना की है, वह 'भाविक' का ही प्रवर्द्धित रूप है। दासजी की पाँचवीं अतिशयोक्ति 'सम्भावनातिशयोक्ति'

वस्तुतः सम्बन्धातिशयोक्ति ही है। आचार्य केशव ने अद्भुत, विरुद्ध और रूपकातिरूपक की जो मान्यता स्थापित की है, वह रूपकालंकार के भेद के रूप की असंगत कल्पना ही है। 'भ्रम', 'सन्देह' और 'स्मरण' अलंकारों के लक्षण प्रायः सभी ने अस्पष्ट ही छोड़ दिये हैं। आचार्य शुक्ल के शब्दों में कहना चाहें तो कहेंगे कि "अपनी ओर से उन्होंने न तो अलंकारक्षेत्र में कुछ मौलिक विवेचन किया, न रस-क्षेत्र में।" इसी से वे कहा करते थे कि "इन रीतिग्रन्थों पर ही निर्भर रहने वाले व्यक्ति का साहित्यज्ञान कच्चा ही समझिए।" इसका एकमात्र कारण यह था कि "इन रीतिग्रन्थों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृंगाररस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिणाम में प्रस्तुत हुए।" यों राजा जसवन्तसिंह जैसे इक्के-दुक्के लोग ही हुए हैं जो काव्यशास्त्रीय प्रतिभा लेकर अलंकारनिरूपण (आचार्यत्व-कर्म) में प्रवृत्त हुए थे। इसी से तो 'भाषाभूषण' जैसे एक-दो ग्रन्थ ही विशुद्ध काव्यशास्त्रीय बन सके हैं।

सम्भवतः सबसे कम संख्या में पिंगलनिरूपक ग्रन्थों की ही रचना इस युग में हुई है। ऐसे ग्रन्थों में छन्दमाला (केशव), पिंगल (चिन्तामणि), छन्दसार (मतिराम), वृत्तविचार (सुखदेव मिश्र), छन्दोर्णव (भिखारीदास), छन्दसार (नारायणदास), पिंगलप्रकाश (नन्दकिशोर), वृत्ततरंगिणी (रामसहाय) इत्यादि ही प्रमुख हैं। अन्य विषयों की तरह यहाँ भी पिष्टपेषण ही अधिक है। यों केशव, सुखदेव मिश्र, भिखारीदास इत्यादि के ग्रन्थ अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ हैं। नवीनता और मौलिकता का यहाँ भी अभाव ही है।

विविधांगनिरूपक आचार्यों की संख्या पन्द्रह है। इनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं—कविकुलकल्पतरु (चिन्तामणि), रसरहस्य (कुलपति), काव्यरसायन अथवा शब्दरसायन (देव), काव्यसिद्धान्त (सूरति मिश्र), रसिकरसाल (कुमारमणि), काव्यसरोज (श्रीपति), रसपीयूषनिधि (सोमनाथ), काव्यनिर्णय (भिखारीदास), रूपविलास (रूप साहि), कवितारसविनोद (जनराज), साहित्यसुधानिधि (जगत सिंह), काव्यरत्नाकर (रणवीर सिंह), काव्यविलास (प्रताप साहि), दलेलप्रकाश (थान) और फतहप्रकाश (रतन कवि)। इनमें से अधिकांश ग्रन्थों के उपजीव्य रहे हैं मम्मट-कृत 'काव्यप्रकाश' और पं० विश्वनाथ-कृत 'साहित्यदर्पण'। ये ग्रन्थ कारिका-वृत्तिशैली में लिखे गये हैं। कुलपति आदि आचार्यों ने गद्य के प्रयोग भी किये हैं। इन ग्रन्थों में काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, रस, भाव, ध्वनि, अलंकार, नायक-नायिका, शब्दशक्ति, रीति, गुण इत्यादि सभी विषयों पर विचार किया गया है।

यह असंदिग्ध है कि ये ग्रन्थ भी अधिकांशतः अनुवाद ही हैं; पर एक बड़े अभाव के पूरक हैं अवश्य। लक्षणों और उदाहरणों में भ्रान्तियाँ यहाँ भी हैं। भ्रान्तियों का कारण वस्तुतः अज्ञान नहीं है। वस्तुतः इन ग्रन्थों के कर्त्ता पूरे शास्त्राभ्यासी थे। इनका अध्ययन गम्भीर था; पर गद्य के अभाव और दरबारीपन की रसिकता के कारण इनके विवेचन में गाम्भीर्य का अभाव रह गया है। इनकी गम्भीरता का अन्दाज तो इसी से लगाया जा सकता है कि इन्होंने काव्यांग के कतिपय वैसे स्थलों और विषयों पर भी लेखनी उठायी हैं, जिनके समुचित निरूपण में संस्कृत के काव्यशास्त्री भी झख मारते रहे हैं। उदाहरणस्वरूप, शब्दशक्तियों के विवेचन और अलंकारों के पार्थक्य-निरूपण देखे जा सकते हैं। निःसन्देह यहाँ मैं यह कहने का दावा नहीं करता कि इन्हें सर्वांशतः सफलता ही मिली है। वस्तुतः, ऐसी बात नहीं है। अनेक जगह इन्हें स्वस्थ अनुवाद करने में भी विफलता हाथ लगी है। विवेचन की दृष्टि से विचार करने पर मोटे तौर पर यहाँ निम्नांकित बातें खटकने वाली मिलती हैं—यों तो इन लोगों ने शब्दशक्तिप्रकरण प्रायः छोड़ ही दिया है, पर जिन्होंने इस पर विचार भी किया वे तात्पर्यवृत्ति के प्रसंग में अन्विताभिधानवादी और अभिहितान्वयवादी मतों को समझाने का साहस न कर सके। कुलपति ने इस प्रसंग को खड़ा कर और भी अधिक उलझा दिया है। व्यंजनास्थापन पर तो प्रायः लेखनी उठायी ही नहीं गयी है। भरतसूत्र के चारो व्याख्याकारों के मत भी समुचित रूप में समझाये नहीं गये हैं। इस सम्बन्ध में प्रतापसाहि ने कुछ दूर तक साहस भी किया है, पर वे भी विफल ही रहे हैं। गुण और दोष के प्रकरण के नाम भले हों गिनाये गये हों, पर शास्त्रार्थप्रसंगों पर किसी ने भी विचार नहीं किया है। शान्त रस के सम्बन्ध में कुलपति ने जो मान्यता स्थापित करने की चेष्टा की, वह भी अवैज्ञानिक ही है।

अस्तु, समग्र रूप से विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि इन विविधांग-निरूपक समस्त ग्रन्थों में से कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है, जो पूर्ण रूप में शुद्ध और परिष्कृत हो। आश्चर्य तो इस बात का है कि किसी भी एक ग्रन्थ को 'काव्य-प्रकाश' अथवा 'साहित्यदर्पण' का शुद्ध अनुवाद होने का अधिकार भी नहीं मिल सकता। फिर भी, इतना तो मानना ही पड़ता है कि इन लोगों का अध्ययन अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक गहरा था। भले ही इन्हें अपने प्रयास में पूर्ण सफलता न मिली हो, पर डॉ० नगेन्द्र के अनुसार, शृंगारकाल के वास्तविक आचार्य ये ही हैं। उनका कथन है कि "शताब्दियों तक विस्तृत रीतिकाल में यदि वास्तव में आचार्यत्व के अधिकारी कुछ कवि हुए तो वे छह-सात कवि थे।" आज यदि छह-सात नाम ही हमें चुनने हों तो वे इन्हीं आचार्यों (विविधांगनिरूपक) से चुने जायँगे।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि शृंगारकाल में काव्यसिद्धान्तनिरूपण

के लिए जितनी भी पद्धतियाँ अपनायी गयीं अथवा जिन-जिन प्रकरणों पर विचार किये गये, उनमें प्रौढ़ता के दर्शन कहीं भी नहीं मिलते हैं। हम ऐसा भी निर्देश कर चुके हैं कि इस काल में नाट्यसिद्धान्त और कविशिक्षा पर प्रायः नहीं के बराबर ही ध्यान दिया गया है। सम्भवतः इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए डॉ० श्यामसुन्दर दास ने इस युग के आचार्यत्व-कर्म को एकांगी और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने स्वाधीन चिन्तन के प्रति अवज्ञा कहकर अभिहित किया है। यहाँ दोनों विद्वानों के विचार पठनीय हैं—

१. "आचार्यत्व और कवित्व के मिश्रण ने भी ऐसी खिचड़ी पकाई जो स्वादिष्ट होने पर भी हितकर न हुई। आचार्यत्व में संस्कृत की बहुत-कुछ नकल की गयी और वह भी एकांगी।"—डॉ० श्यामसुन्दर दास।

२. "शास्त्रमत की प्रधानता ने इस काल के कवि को अपनी स्वतन्त्र उद्भावना-शक्ति के प्रति अति सावधान बना दिया। इन्होंने शास्त्रीय मत को श्रेष्ठ और अपने मत को गौण मान लिया। इसलिए स्वाधीन चिन्तन के प्रति एक अवज्ञा का भाव आ गया।" —आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी।

डॉ० श्यामसुन्दर दास और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के मतों में शृंगारकालीन आचार्यत्व की स्थिति को आँकने की सचाई तो है ही, साथ ही उनके ये निष्कर्ष सहानुभूतिपूर्ण भी हैं। किन्तु, आलोचकप्रवर आचार्य शुक्ल के निम्नांकित निष्कर्ष में अतिवादिता के साथ आक्रोश की भी झलक है—"हिन्दी में लक्षण-ग्रन्थ की परिपाटी पर रचना करने वाले जो सैकड़ों कवि हुए, वे आचार्य-कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि थे। उनमें आचार्यत्व के गुण नहीं थे। उनके अपर्याप्त लक्षण साहित्यशास्त्र का सम्यक् बोध कराने में असमर्थ हैं।" सच बात तो यह है कि वे लक्षणग्रन्थ का सफल रूप में निर्माण नहीं कर सकते थे। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं हो सकता कि वे संस्कृत के लक्षणग्रन्थों के विद्वान् भी नहीं थे। नहीं, वे संस्कृत काव्यशास्त्र के ज्ञाता और पण्डित थे, उनका अध्ययन विशाल था; किन्तु उद्देश्यभिन्नता आदि के कारण ही वे असफल दीखते हैं। मैंने ऊपर ऐसा निर्देश भी किया है कि आचार्य का एक अर्थ शिक्षक (अध्यापक) भी है। तात्पर्य यह कि वे मात्र संस्कृत-साहित्यशास्त्र के अनुवादक अथवा कवि ही नहीं थे, बल्कि काव्यशिक्षक भी थे। काव्यशिक्षक का यह पद भी उन्हें आचार्यत्व प्रदान करता दीखता है। थोड़े में कहा जायगा कि उन कवियों का उद्देश्य दुहरा था— वे कवि भी थे और शिक्षक भी। कवि होने के नाते किसी भी बात को शास्त्रीयता की लपेट में न कहकर भावनाप्रेरित रूप में उपस्थित करते थे— शास्त्रों की गुरु-गम्भीर बातों को भी ये सरस उक्तियों में ढाल देते थे। दूसरी ओर शिक्षक होने के कारण भी इनमें सरलीकरण की प्रवृत्ति आ गयी थी। शिक्षक के

सामने सबसे पहली समस्या होती है शिष्य के मस्तिष्क में गम्भीर-से-गम्भीर बात को भी बिठा देना। इसके लिए सामान्यतः वह सरल पद्धति से ही काम लेता है। अस्तु, इन्हीं कारणों से इन आचार्यों ने सरल और सरस पद्धति का अनुकरण करते हुए काव्यसिद्धान्तों का इस रूप में निर्माण किया है। अस्तु, इन आचार्यों को आचार्यत्व के गुण से सर्वथा हीन कहना असंगत-सा ही लगता है।

एक बात और। रीतिनिरूपण की त्रुटियों के लिए मात्र आचार्यों को ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता। इसके निमित्त तत्कालीन परिस्थितियों एवं कारणों को भी खोजना पड़ेगा। जहाँ तक अनुवाद का प्रश्न है, उसमें इन आचार्यों ने अपनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है; क्योंकि जहाँ-तहाँ मौलिकता भी तो मिलती ही है। अनुवादकार्य पर हम यदि ध्यान दें, तो ऐसा लगता है कि इन लोगों ने अनुवाद में मूल शब्दावली को भी अक्षत रखने के प्रयास किये हैं—

समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुते प्रस्तुतस्य चेत्। —चन्द्रालोक
समासोक्ति प्रस्तुत फुरै, प्रस्तुत वर्णन माँझ। — भाषाभूषण

जहाँ मूल शब्दावली फिट नहीं बैठ सकी है, वहाँ उसी के वजन पर ब्रजी के प्रचलित शब्द प्रयुक्त हुए हैं। साथ ही, दरबारों के सामन्तीय वातावरण और नागर-रसिकता के कारण शास्त्रीय शब्दों के बदले कभी-कभी वैसे ही शब्द दिये गये हैं, जिनसे रसिकता और सरसता को प्रोत्साहन मिला है। यहाँ एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा—

तत्रांकुरितयौवना मुग्धा। —रसमंजरी
अभिनव यौवन आगमन, जाके तन में होय।
तासों मुग्धा कहत हैं, कवि कोविद सब कोय॥ —रसराज

यहाँ अनुवाद होना चाहिए था 'अंकुरित यौवन', पर उसके लिए लिखा गया है 'अभिनव यौवन आगमन'। वस्तुतः 'अंकुरित' की सूक्ष्मता को 'अभिनव' वहन करने में असमर्थ है। पर मतिराम को शास्त्रीय सूक्ष्मता की अपेक्षा सम्भवतः रसिकता की ही आवश्यकता थी, जिसकी व्यंजना 'अभिनव' शब्द से ही सम्भव थी। क्या यह सच नहीं है कि 'अभिनव यौवन' की ध्वनि को रसिकसमुदाय जितनी तत्परता से ग्रहण कर 'मुग्धा' की सही स्थिति तक जा सकता है, उतना किसी अन्य शब्द से नहीं। यदि तत्कालीन आचार्य अपने लक्षणग्रन्थों को शास्त्रीय बना देते, तो रसिकसमाज उसे ग्रहण ही नहीं करता, जिससे उसकी उपादेयता ही नष्ट हो जाती। आज के पाठकों के लिए तो वे काव्यसिद्धान्त लिखे नहीं गये थे। जिस समाज के लिए उनका निर्माण हुआ था, सम्भवतः उस समाज के लिए वे पूर्ण थे। अस्तु, कहना चाहिए कि शृंगारकालीन लक्षणग्रन्थ जिस उद्देश्य को लेकर निर्मित हुए थे, उसकी पूर्त्ति में वे पूर्णतः सफल हुए हैं। कविशिक्षा में वे उस समय बेजोड़ थे। उनकी परीक्षा के लिए आज के मानदण्ड से हमें काम नहीं लेना चाहिए। आज का

आधारफलक वही नहीं है। निश्चय ही तत्कालीन आचार्य अपने आचार्यत्व-कर्म में पूर्णतः सफल रहे हैं। हाँ, उनमें जो थोड़ी त्रुटियाँ रह गयी हैं, उसके अनेक कारण हैं।

शृंगारकालीन आचार्यों में मौलिक विवेचन अथवा आचार्यत्व की कमी का सबसे सबल कारण रहा है—आचार्यत्व और कवित्व का सामंजस्य एवं आचार्यत्व के ऊपर कवित्व का छा जाना। यदि हम भारतीय आचार्यों की परम्परा पर ध्यान दें तो ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ आचार्यत्व और कवित्व दो अलग-अलग कर्म रहे हैं। आचार्य भरत से लेकर पं० जगन्नाथ तक के महान् आचार्य केवल खण्डन-मण्डन अथवा काव्यविमर्श में ही जुटे रहे हैं, कवित्व की ओर नहीं मुड़ सके हैं। ऐसा इसलिए हुआ है कि दोनों कर्म विरोधी माने जाते रहे हैं। यहाँ तो ऐसी उक्ति ही मान्य रही है कि 'शास्त्रेषु भ्रष्टाः कवयो भवन्ति'। कवि के लिए 'भावुक' होना आवश्यक है, पर आचार्य के लिए 'भावक'। यहाँ काव्य को 'अविचारितरमणीय' और शास्त्र को 'विचारित सुस्थ' की मान्यता मिली है। प्रथम भावभावित होता है और द्वितीय बुद्धिबोधित। इसी से दोनों प्रकार के कार्य दो प्रकार के लोगों द्वारा होते रहे हैं। शृंगारकाल में यह भारतीय मान्यता प्रायः समाप्त हो जाती है। यहाँ कवि को ही आचार्य भी बनना पड़ा है; वह कर्त्ता, ग्राहक और ग्रहीता तीनों है। कारयित्री और भावयित्री दोनों प्रकार की प्रतिभाएँ सबमें समान हों, यह आवश्यक नहीं है। इसी से ये आचार्य कवि न तो पूरा कवित्व ही दिखला सके और न पूरा आचार्यत्व ही। दोनों में उलझकर रह अवश्य गये हैं। इसी से आज के आलोचकों का यह आक्षेप है कि इनलोगों ने बेमेल खिचड़ी पकायी है। ऐसी बात नहीं है कि इनकी भूलों की पहचान हम आज ही करने लगे हैं। वस्तुतः इन्हें भी अपनी भूल का पता था; तभी तो इन्होंने सम्मिलित राय कर सं० १७६० विक्रमाब्द के आसपास आगरे में कवि-समाज एकत्र किया था। इस कवि-समाज में अनेक साहित्यिक दिग्गजों ने भी योग दिया था। सम्भवतः सूरति मिश्र के सभापतित्व में आयोजित इस कवि-समाज में हिन्दी की प्रकृति के अनुसार साहित्यशास्त्रप्रणयन पर विचार किया गया था। सम्भवतः इस समाज के निर्णय के आधार पर ही राय शिवदास ने 'सरस रस' नामक महत्त्वपूर्ण लक्षण-ग्रन्थ निर्मित किया था। लेखक ने इस ग्रन्थ के गुरुत्व और गम्भीरता का कारण अन्य रचनाओं के उद्धरणों को माना है—

एक समय मधि आगरे, कवि समाज को जोग।
मिल्यो आइ सुखदाइ हिय, जिनकी कविता जोग॥

तब सब ही मिलि मंत्र यह, कियौ कबिन बहु ग्यान।
रच्यौ सुग्रन्थ नवीन इक, नए भेद रस ठान॥

जिहि बिधि कवि मिलिकै कही, जथाजोग लहि रीति।
उनही मैं सब संभवै, कहै भेद जुत प्रीति॥
× × × ×
केतक धरे सुग्रन्थ में, बर कवित्त कविराय।
ताही सों गंभीरता, अरथ बरन दरसाय॥ —'सरस-रस'

इस लम्बे उद्धरण से हमें यहाँ मात्र इतना ही सिद्ध करना है कि इन कवियों ने संस्कृत के लक्षणग्रन्थों के किये जाने वाले अनुवादों की भूल पर ध्यान अवश्य दिया था। इसी से ये कवि-समाज द्वारा एक निर्णय पर आकर स्वतंत्र रूप से हिन्दी के साहित्यशास्त्र का निर्माण करना चाहते थे। यदि यह पद्धति पूर्णतः विकसित हो जाती तो आज कितना अच्छा होता। कम-से-कम आज की मनमानी और अटकलपच्ची पर आधारित बातें तो रुक ही जातीं। खैर, इससे स्पष्ट है कि इन कवियों में आचार्यत्व की क्षमता थी; पर आचार्यत्व और कवित्व के घालमेल ने सब चौपट कर रख दिया।

उपर्युक्त कारण के अतिरिक्त कई अन्य कारण भी हैं जिनसे आचार्यत्व-कर्म में बाधा पड़ी है। इन कारणों पर भी हमें विचार कर लेना चाहिए। सामान्य रूप से वे कारण इस प्रकार रखे जा सकते हैं—

१. सूक्ष्म पर्यालोचन और विवेचन की कमी— अधिकांश लक्षणकार— मूलतः काव्यांगनिरूपक लक्षणकार—काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ नहीं थे। उनका अध्ययन भी अपेक्षाकृत विशाल न था, अतः उनमें काव्यांगनिरूपण की पर्याप्त शक्ति नहीं थी।

२. जिस दरबारी वातावरण में ये लक्षणनिरूपण कर रहे थे, वहाँ विवेचन की सूक्ष्मता और शास्त्रीय गम्भीरता को समझने वालों का अभाव था। इनकी रचनाओं के ग्रहीता रसिक थे। अतः इन्हें भी अपनी उक्तियों में सूक्ष्मता और गम्भीरता की अपेक्षा रसिकता और सरलता पर ध्यान देना पड़ता था।

३. आधाररूप में संस्कृत के उत्तरकालीन ह्रासोन्मुख लक्षणग्रन्थों को ग्रहण करना। जिन ग्रन्थों में खण्डन-मण्डन की अपेक्षा सारसंग्रह पर ही अधिक ध्यान दिया गया था, सामान्यतः वे ही ग्रन्थ इनके उपजीव्य थे।

४. गद्य का अभाव। काव्यांग के तार्किक विवेचन के लिए व्यवस्थित गद्य की आवश्यकता होती है। उस समय गद्य प्रायः अविकसित और अव्यवस्थित रूप में ही था। इसीलिए इन्होंने विवेचन के लिए पद्य को ही चुना, जिसमें शुद्ध लक्षणनिरूपण प्रायः दुष्कर था। संस्कृत का शायद ही कोई प्रौढ़ ग्रन्थ हो जिसमें कारिकाएँ गद्य में नहीं लिखी गयी हैं। अस्तु, गद्य का अभाव भी स्पष्टीकरण का बाधक रहा है। दोहा अथवा सोरठा जैसे छोटे छन्द में लक्षणविवेचन की जो प्रक्रिया थी, वह भी अव्यवस्थित विवेचन का कारण रही है।

५. अन्ततः ये कवि ही नहीं, रससिद्ध कवीश्वर थे। इन्होंने आचार्यत्व को साध्यरूप में नहीं, साधनरूप में ग्रहण किया था। साध्य तो कविता ही है। आचार्यत्व तो एक परिपाटी ही बन गया था, जिस पर सबको जाने-अनजाने चलना ही पड़ता था। चाहें तो आचार्यत्व को परिस्थितिजन्य मोह कह सकते हैं, वास्तविकता तो काव्यत्व में ही है। इसी से इनका आचार्यत्व तर्कसिद्ध नहीं, रससिद्ध रहा है।

अस्तु, उपर्युक्त कारणों पर ध्यान रखते हुए हम कहेंगे कि इनके सामने समस्या आचार्यत्व की नहीं, रसिकता के ही प्रतिपादन की रही है। इसी से इनकी कृतियों में आचार्यरूप की अपेक्षा कविरूप ही अधिक स्फुट है। काव्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान डॉ० भगीरथ मिश्र ने ठीक ही तो कहा है कि "वास्तविक तथ्य तो यह है कि इन हिन्दी लक्षणकारों के सामने कोई वास्तविक काव्यशास्त्रीय समस्या नहीं थी। इनका उद्देश्य विद्वानों के लिए काव्यशास्त्र के ग्रन्थों का निर्माण नहीं था, वरन् कवियों और साहित्यरसिकों को काव्यशास्त्र के विषयों से परिचित कराना था। ········रीतिग्रन्थों के द्वारा भारतीय काव्यशास्त्र का कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हो पाया। फिर भी, इस प्रकार के काव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है।"

अन्ततः, संस्कृत के आचार्यों के साथ इन आचार्यों की तुलना करने पर यह निर्विवादरूप से कहा जायगा कि दोनों के उद्देश्य भिन्न थे। उद्देश्यभिन्नता के कारण ही निर्मिति में भी भिन्नता है। यह भिन्नता विषय की व्यापकता, विवेचना, शैली इत्यादि सभी दृष्टियों से है। संस्कृत-आचार्यों की तुलना में इन्हें हम असफल ही कहेंगे; पर तत्कालीन समय को ध्यान में रखकर विचारने पर इन्हें वैसा असफल नहीं कहा जा सकता। ये अपने प्रमुख उद्देश्य—लक्ष्य-(उदाहरण) निर्माण—में पूर्णतः सफल रहे हैं। लक्षणनिर्माण तो साधन रहा है। वस्तुतः ये कवि ही पहले थे और आचार्य बाद में। डॉ० नगेन्द्र के निष्कर्ष भी हमें ऐसा ही सोचने पर बाध्य करते हैं। उनका मत है कि "इस युग में काव्यमर्मज्ञ अनेक हुए। प्रकाण्ड विद्वानों की भी कमी नहीं थी। परन्तु, एक तो युग की रुचि गम्भीर नहीं रह गयी थी, लोग मीमांसा का नहीं, रसिकता का आदर करते थे; इसीलिए इनकी दृष्टि संस्कृत के उत्तरकालीन अधोगत साहित्यशास्त्र से ऊपर नहीं जा पाती थी। दूसरे, सबसे बड़ा अभाव गद्य का था, जिसके कारण सूक्ष्म विश्लेषण सम्भव ही नहीं था। परिणाम यह हुआ कि इनका रीतिनिरूपण वर्णनात्मक ही रह गया, विवेचनात्मक नहीं हो पाया।"

चिन्तन और भावुकता दो तत्त्व हैं। ये आपस में विरोधी भी हैं। इन कवियों ने चिन्तन और भावुकता दोनों का पल्ला पकड़ा है। शास्त्र और

काव्य जैसे दो विरोधी तत्त्वों को अपनाने के कारण ही ये आचार्यत्व-कर्म में लगभग विफल हुए हैं। आचार्यत्व में इन्हें यदि थोड़ी सफलता मिली भी है तो रससिद्धता के ही कारण, तर्कसिद्धता के कारण नहीं। वस्तुतः इनका स्मरण यदि होता रहेगा तो सरस और मनोहर उदाहरणों के कारण ही और यदि इनका विस्मरण होगा तो इनके लक्षणनिरूपण के कारण ही। अस्तु, इन्हें आचार्य की अपेक्षा कवि ही कहना श्रेयस्कर है। इनका कवित्व ही असली है, आचार्यत्व तो डालडा ही समझिए।

१७

हिन्दी की सतसई-काव्यपरम्परा

[मूल उत्स—विकास—मुक्तकों के रूप और भेद—संख्यापरकता—सतसई का प्रारम्भ—हिन्दी सतसई : विषय-विभाजन—शृंगार—वीर (डिंगल)—आधुनिक—भाषा-छन्द-दृष्टि]

सतसई हिन्दी-साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधा है। अन्य काव्यरूपों और काव्य-परम्पराओं की तरह हिन्दी में यह भी एक महत्त्वपूर्ण काव्यरूप है तथा इसकी भी एक सुदीर्घ परम्परा है। हिन्दी में विकसित काव्यरूपों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके प्रेरक स्रोत तीन हैं— संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश, फारसी। भारतीय शैली पर लिखे गये प्रबन्ध मूलतः संस्कृत के काव्यरूप से विकसित हुए हैं। हिन्दी-मुक्तकों की जड़ प्राकृत और अपभ्रंश में खोजी जा सकती है एवं सूफी प्रेमाख्यान फारसी साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करते रहे हैं। अस्तु, इस दृष्टि से यह निर्बाध रूप से कहा जायगा कि हिन्दी-सतसई की परम्परा का मूल उत्स संस्कृत-साहित्य में नहीं, अपितु प्राकृत और अपभ्रंश में खोजना चाहिए। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं हो सकता कि हिन्दी के सतसई-काव्यों पर संस्कृत और फारसी के साहित्य का प्रभाव है ही नहीं। हाँ, जहाँ तक सतसई के मूल उत्स की बात है, इसके निमित्त प्राकृत और अपभ्रंश का स्थान सदा गौरवान्वित रहेगा।

अपभ्रंश-साहित्य में मूलतः तीन प्रकार के बन्ध प्राप्त हैं— दोहाबन्ध, पद्धड़ियाबन्ध और गेयपदबन्ध। इसके अतिरिक्त छप्पय और कुंडलिया बन्ध आदि भी प्रचलित रहे हैं। इनमें से विवेच्य काव्यरूप का सम्बन्ध दोहाबन्ध से ही रहा है। दोहा अपभ्रंश का विशिष्ट छन्द रहा है। यह बन्ध इतना प्रचलित था कि कभी दोहाबन्ध का अर्थ ही था अपभ्रंशरचना। इसके पूर्व दोहा का पता नहीं मिलता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास' में दोहा का प्रयोग चार रूपों में स्थिर किया है— निर्गुण-प्रधान और धार्मिक उपदेशमूलक दोहे, शृंगारी दोहे, नीतिविषयक दोहे और वीर-रस के दोहे। परवर्त्ती हिन्दी-साहित्य में ये क्रमशः सन्तपरम्परा, शृंगारपरक सतसई, भक्ति और नीतिविषयक सतसई एवं वीरसतसई में विकसित होते हैं। यही नहीं, सतसई-परम्परा ने शैली के साथ-साथ आत्मा अथवा प्राणतत्त्व भी यहीं से ग्रहण

इत्यादि संख्यापरक मुक्तकों के विशिष्ट रूप हैं। उपर्युक्त संख्यापरक मुक्तक-काव्य-रूपों में 'सतसई' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रही है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय वाङ्मय में संख्यापरक मुक्तकों की रचना अतिप्राचीन काल से ही प्रारम्भ हो गयी थी। हिन्दी की यह कोई मौलिक उद्भावना नहीं है। परम्परा सुदीर्घ थी ही, काम था केवल इसके पल्लवन का; जिसे हिन्दी ने पूरा अवश्य किया है।

वस्तुतः प्रत्येक जाति के अपने संस्कार होते हैं, जिनकी अभिव्यक्ति उसके साहित्य में अवश्य होती है। भारतीय जाति ने भी कतिपय संख्याओं में अपने संस्कार को ही बद्धमूल किया है। हमारे यहाँ देवतात्रय (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) और शक्तित्रय (महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती) पूज्य रहे हैं। पूजनीय वेदों की संख्या भी चार ही है। अस्तु, यह कल्पना बिलकुल असंगत नहीं मानी जा सकती कि यही संस्कार इसके (सतसई) मूल में भी निहित है। जरा ठंढे दिल से विचारने की बात है कि गीता के श्लोकों की संख्या भी सात सौ है और चण्डीपाठ के श्लोकों की संख्या भी सात सौ ही बनाने का प्रयत्न है। निश्चय ही इस सात सौ की संख्या के साथ हमारे जातीय संस्कार जुड़े हैं। सतसई में भी सात सौ या इससे कुछ इधर-उधर संख्या में छन्द उपलब्ध होते हैं। हिन्दी का 'सतसई' शब्द तो स्पष्टतः 'सप्त-शतिका' या 'सप्तशती' का रूपान्तर ही है। उपलब्ध सतसइयों में छन्दों की संख्या मात्र सात सौ ही नहीं है, घट-बढ़ कर भी है; फिर भी इनका नाम 'सतसई' ही है— यह चिन्तनीय अवश्य है।

सतसई-परम्परा पर विचार करने से एक बात और स्पष्ट होती है कि प्रारम्भ में सम्भवतः किसी भी कवि ने सतसई की रचना 'सतसई' के रूप में ही नहीं की है। यद्यपि यह बात असम्भव नहीं है; किन्तु आज बिहारी के पूर्व किसी वैसी रचना का सन्धान नहीं मिलता है। जिस प्रकार हिन्दी में 'भ्रमरगीत' काव्य की परम्परा संकलन से ही प्रारम्भ होती है, निश्चय ही सतसई भी ऐसे प्रयत्नों का कायल रही होगी। डॉ० राजनाथ शर्मा का विचार है कि इस प्रकार के संग्रह प्रथम 'सुभाषितों' के संग्रह के रूप में हुए होंगे। सतसइयों में प्रथम उपलब्ध रचना 'गाहासत्तसई' तो निश्चय ही संकलन-ग्रन्थ ही है। गीता और चण्डीपाठ भी तो संकलित ग्रन्थ ही हैं। हिन्दी की तथाकथित प्रथम (?) सतसई 'तुलसीसतसई' भी तो संकलन-ग्रन्थ ही ठहरती है। विविध वर्णानुक्रमों में उपलब्ध 'बिहारी सतसई' की हस्तलिखित पोथियाँ भी इसे ही पुष्ट करती हैं। अस्तु, यह निश्चत है कि 'सतसई' सतसई के रूप में ही लिखित नहीं, अपितु संकलित ग्रन्थ है।

एक बात और। यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि ऐसे संग्रहों में प्रकार-विशेष की रचनाओं को ही प्रश्रय मिला है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी की

प्रारम्भिक रचनाओं पर विचारते हुए ऐसा संकेत किया है कि इनमें मूलतः दो ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं—(१) पूर्वी आर्यों में आध्यात्मिकता, भावप्रवणता और रूढ़ियुक्तता तथा (२) मध्यदेशीय आर्यों में शास्त्रप्रवणता, कर्मकाण्डिता और अपेक्षाकृत अधिक रूढ़िबद्धता। ईसवी सन् के बाद एक तीसरी धारा—ऐहिकतामूलक सरस काव्यधारा भी पनपती है। इसी तीसरी धारा का विकसनशील रूप हाल की 'गाहासत्तसई' में उपलब्ध है। हिन्दी की शृंगारपरक सतसइयाँ 'गाहासत्तसई' से कितनी प्रभावित हैं, इसे कहकर अनावश्यक विस्तार करना तो यहाँ बेकार ही होगा। हाँ, यथावसर इनका संकेत अवश्य किया जायगा।

हिन्दी-सतसई-परम्परा की चर्चा में यदि प्राकृत और संस्कृत की सतसइयों की चर्चा न की जाय तो यह विवेचन अधूरा ही रह जायगा। अस्तु, इस पर भी विचार अपेक्षित है। हिन्दी-सतसई-परम्परा के पूर्व दो सतसइयाँ प्रमुख रही हैं—'गाहासत्तसई' और 'आर्यासप्तशती'।

हिन्दी के लगभग प्रत्येक काव्यरूप की चर्चा का प्रारम्भ हम संस्कृत से करते हैं। किन्तु, यह नियम सतसई-परम्परा पर लागू नहीं होता है। इसकी चर्चा प्राकृत से ही प्रारम्भ होती है। ऐसे संग्रहों में सर्वप्रथम उपलब्ध संग्रह हाल की 'गाहासत्तसई' है। रचनाकाल की दृष्टि से यह गुप्तकाल की ठहरती है, किन्तु इसका संग्रह शालिवाहन नामक शैवमतावलम्बी राजा के संरक्षण में सन् ९७२-९७७ ई० के आसपास श्रीपालित द्वारा किया गया है। इसमें हाल की भी रचनाएँ हैं। इसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। इसमें मूलतः शृंगार ही वर्णित है। इसमें सरल ग्रामीण-जीवन चित्रित है। नीति, प्रकृतिचित्रण, सामाजिक प्रथाओं से सम्बद्ध उक्तियाँ भी इसमें मिलती हैं। तत्कालीन जीवन के सांस्कृतिक अध्ययन के निमित्त यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। एक गाथा है—

> अण्णमहिलापसङ्गं हे देव करेसु अह्म दइअस्स।
> पुरिसा एक्कन्तरसा ण हु दोषगुणे विआणन्ति ॥ १।४८—गाहासत्तसई

"हे देव, मेरे प्रियतम के लिए दूसरी महिला की प्रसक्ति का विधान करो, नहीं तो पुरुष एकरसास्वादी हो जायँगे एवं किसी के दोष तथा गुण को विशेष भाव से नहीं समझ पायँगे"—इसकी व्याख्या मात्र नृतत्त्वविशारद ही कर सकते हैं। 'धम्मपद' में पूर्णश्रेष्ठि की कन्या उत्तरा वाली कथा में भी कुछ ऐसा ही रूप उपलब्ध है।

'गाहासत्तसई' के पश्चात् प्राकृत एवं अपभ्रंश की ऐसी रचनाओं में 'वज्जालग्ग' और 'थेरीगाथाओं' की चर्चा की जा सकती है।

'गाहासत्तसई' से प्रेरणा पाकर संस्कृत में श्री गोवर्द्धनाचार्य ने 'आर्यासप्तशती' की रचना की। इसमें हाल का पर्याप्त अनुकरण किया गया है। इस बात को स्वयं कवि ने भी 'वाणी प्राकृतसमुचितरसा' कहकर स्वीकार किया है।

हिन्दी के पूर्व सतसइयाँ (श्रृंगारिक) तो दो ही हैं; किन्तु यदि इनके वर्ण्य-विषय का विस्तार किया जाय तो धार्मिक एवं भक्तिविषयक सतसइयों में मार्कण्डेय-पुराण की 'दुर्गासप्तशती' और बाण के समकालीन मयूर की 'सूर्यसप्तशती' भी उल्लेखनीय हैं। स्वयं श्रीमद्भगवद्गीता भी एक प्रकार की सतसई ही मानी जा सकती है। भावसाम्य के आधार पर कतिपय शतक भी उल्लेखनीय हैं; किन्तु शतकों की चर्चा अन्यत्र स्वतंत्र रूप से ही अपेक्षित है। हिन्दी की विभिन्न सतसइयों पर इन विभिन्न सतसइयों का प्रभाव भी भिन्न-भिन्न रूप में पड़ा है। ये सभी सत-सइयाँ, चाहे प्राकृत की हों या संस्कृत की अथवा हिन्दी की, भारतीय सभ्यता और संस्कृति का दर्पण ही हैं।

वर्ण्यविषय की व्याप्ति के आधार पर हिन्दी-सतसई-साहित्य को चार विभागों में रखा जा सकता है—सूक्तिसतसई, शृंगारसतसई, वीरसतसई और किसान-सतसई। भक्ति और नीतिविषयक सभी सतसइयाँ सूक्तिसतसई में रखी जायँगी। इसी प्रकार राष्ट्र और राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत प्रत्येक सतसई का अन्त-र्भाव वीरसतसई में ही हो जायगा।

हिन्दी में सतसई-परम्परा का प्रारम्भ सूक्तिसतसई के रूप में ही माना जायगा (यदि तुलसी और रहीम की सतसइयाँ प्रामाणिक हैं)। सूक्तिसतसइयों में तुलसीसतसई, रहीमसतसई, वृन्दसतसई, हरिऔधसतसई, बुधजनसतसई, सिरस-नीतिसतसई, ज्ञानसतसई इत्यादि प्रसिद्ध हैं। सूक्ति का अर्थ है सुन्दर कथन। सर्व-प्रथम सूक्तिसतसईकार गोस्वामी तुलसी ही माने जाते हैं; किन्तु इनकी सतसई की प्रामाणिकता असन्दिग्ध नहीं है। रहीमसतसई खंडित रूप में ही उपलब्ध है। तुलसी और रहीम दोनों की रचनाओं में भक्ति और नीति के दोहे हैं; पर रहीम में नीति की प्रमुखता है। 'तुलसीसतसई' की भाँति ही 'रहीमसतसई' भी सन्दिग्ध है। प्रथम की सन्दिग्धता का कारण है कूटपदों का बाहुल्य और द्वितीय का 'सतसई' के नाम से प्रतियों की अप्राप्ति। 'तुलसीसतसई' में वचनवक्रता और ध्वन्यात्मकता पर्याप्त रूप में है—

बरषत हरसत लोग सब, करषत लखै न कोइ।
तुलसी प्रजा सुभाग तें, भूप भानु सों होइ॥

रहीम की नीतियाँ लोक-पहचान और जीवन की मार्मिकता लिये हैं। इसी से इनके अधिकांश दोहे आज जनकंठ में विराजमान हैं।

सूक्तिकारों में वृन्द का अनुपम स्थान है। ये दो सतसइयों के कर्त्ता माने जाते हैं—'दृष्टान्तसतसई' और 'यमकसतसई'। आज केवल 'दृष्टान्तसतसई' ही उपलब्ध है। इनके छन्दों पर प्राकृत और अपभ्रंश की पर्याप्त छाप है। बुधजन जैन कवि थे। इन्होंने भी एक सतसई की रचना की है। इस सतसई की नीतियाँ जैन धर्म से

सम्बद्ध हैं। आधुनिक युग में हरिऔधजी और राजेन्द्र शर्मा जी ने इसमें नयी कड़ियाँ जोड़ी हैं। हरिऔधजी की भाषा खड़ी बोली है। इसमें भाषा के साथ भाव भी नये हैं।

इस परम्परा में सबसे नयी उपलब्धि है श्री राजेन्द्र शर्मा की 'ज्ञानसतसई'। इसकी रचना सन् १९५८ ई० में हुई है। यह पूरी पुस्तक मुण्डकोपनिषद् पर आधारित है। द्वितीय मुण्डक के प्रथम दस मन्त्रों को आधार बनाकर कवि ने अध्यात्म-प्रधान काव्य निर्मित किया है। चीज तो है नयी, पर शास्त्रीय ज्ञाताओं के लिए विशेष आकर्षक नहीं है।

सूक्तिसतसइयों की चर्चा समाप्त करने के पूर्व एक बात और विचारणीय है। आचार्य शुक्ल ने तथाकथित सूक्तिकारों को कवि मानने में आपत्ति प्रकट की है। उनके अनुसार, "नीति के फुटकल पद्य कहने वाले" ये सूक्तिकार 'कवि' की श्रेणी में नहीं आते हैं। क्या इसे इसी रूप में मान लिया जाय? विषय है तो विवादास्पद, पर यदि आचार्यपाद की अवहेलना न हो तो मैं इसका प्रतिवाद करता हूँ। वास्तव में इन्हें कविहृदय प्राप्त था और इन्हें कवि ही कहना चाहिए। इस विषय पर फिर कभी चर्चा होगी।

अब विचारणीय हैं शृंगारसतसइयाँ। इनमें मतिरामसतसई, बिहारीसतसई, रसनिधिसतसई, रामसतसई, विक्रमसतसई, चन्दनसतसई, भूपतिसतसई, दयारामसतसई, प्रेमसतसई इत्यादि प्रमुख हैं। संकलन की दृष्टि से बिहारीसतसई को ही हिन्दी की प्रथम शृंगारसतसई माना जाता है। किन्तु बिहारीसतसई ही हिन्दी की प्रथम शृंगारसतसई है—ऐसा मानने में दो आपत्तियाँ सामने आती हैं। प्रथम आपत्ति तो यही है कि 'बिहारीसतसई' की रचना सं० १६९१-९२ में प्रारम्भ ही हुई थी, पर इस समय तक मतिराम के 'रसराज' की रचना समाप्त हो चुकी थी। 'मतिरामसतसई' में 'रसराज' के ११२ (१२५?) उत्कृष्टतम दोहे संकलित हैं। इससे यह कहा जा सकता है कि जिस समय बिहारीसतसई की रचना का श्रीगणेश ही हो रहा था, उस समय मतिरामसतसई के कम-से-कम ११२ (१२५?) दोहे रचे जा चुके थे। दूसरी आपत्ति यह है कि बिहारी के दोहों में जिस भावगत प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह प्रौढ़ता एक निश्चित विकास की वस्तु है। "निश्चय ही बिहारी के दोहे मंजिल तक ले जाने वाली सीढ़ियाँ नहीं, बल्कि मंजिल हैं; जिसकी आधारभूमि कविता में पहले से अवश्य वर्त्तमान थी।" बिहारी द्वारा मतिराम के कतिपय दोहों का भावापहरण भी इसी बात की पुष्टि करता है। कुछ लोग ऐसा भी कहेंगे कि भावों का यह गुम्फन उन्हें 'गाहासत्तसई', 'अमरुशतक' और 'आर्यासप्तशती' से मिला है; पर 'गाहासत्तसई', 'मतिरामसतसई' और 'बिहारीसतसई'—तीनों का तुलनात्मक

अध्ययन करने वाले विद्वान् इसे अवश्य जान लेंगे कि 'गाहासत्तसई' की ताजगी और दीप्ति हमें 'मतिरामसतसई' में तो मिलती है, पर 'बिहारीसतसई' में नहीं। निश्चय ही, बिहारी चमत्कार के चक्कर में अधिक हैं। इसका कारण स्पष्ट है—'मतिरामसतसई' न तो परिस्थितिविशेष की रचना है और न है 'मुहरों' की प्राप्ति इसका उद्देश्य। इसी से 'मतिरामसतसई' में 'बिहारीसतसई' जैसी तराश-मठार और पच्चीकारी का अभाव है। अस्तु, मेरे विचार से रचनाकाल की दृष्टि से 'मतिरामसतसई' का स्थान प्रथम होना चाहिए। हाँ, यदि संकलनकाल के आधार पर विचार किया जाय तो प्रथम स्थान 'बिहारीसतसई' का ही मिलेगा।

मतिराम ने अपनी सतसई की निबन्धना महाराज भोगनाथ के लिए की है। डॉ० महेन्द्रकुमार के अनुसार, 'मतिरामसतसई' की निबन्धना सं० १७३८ वि० के आसपास हुई होगी। पं० भागीरथ प्रसाद दीक्षित के अनुसार, महाराज भोगनाथ जम्बू (जम्मू) के थे। डॉ० महेन्द्रकुमार ने इन्हें बुन्देलखंड अथवा कूर्माचल का विलासी शासक माना है। इसमें कुल ७०३ दोहे हैं। इसमें 'रसराज' और 'ललितललाम' के श्रेष्ठ दोहे भी संकलित हैं। इसके अन्तिम शतक में १६ दोहों में महाराज भोगनाथ की प्रशस्ति है। एक दोहा (३२४) शिवाजी की प्रशस्ति में भी लिखा गया है। इसका मूल विषय शृंगार है। इसमें भक्ति और नीति के भी दोहे हैं। शृंगारिक दोहों में परम्परानुकूल वर्णन ही है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है अभिधा द्वारा भावों का पूर्ण निर्वाह। बिहारी के 'अनेक संवाद' की प्रवृत्ति यहाँ भी मिलती है। 'मतिरामसतसई' 'बिहारीसतसई' के पूर्व लिखी जाने पर भी पाठकों को उतना आकर्षित नहीं कर सकी—इसका कारण 'बिहारी-सतसई' की प्रौढ़ता और कलाबाजी तो है ही, पर उससे भी बड़ा कारण है 'रस-राज' की प्रसिद्धि।

यहाँ 'बिहारीसतसई' के सम्बन्ध में अधिक न कहकर केवल इतना ही कहना अपेक्षित है कि यह हिन्दी की शृंगारसतसइयों का वह सुमेरु है जिसके दोनों ओर ढाल ही है—एक ओर चढ़ाई का उत्साह है तो दूसरी ओर उतराई का पिष्टपेषण। इसमें भाव और भाषा—दोनों का समुचित विकास मिलता है। 'बिहारीसतसई'-रूपी गंगा ही 'अनेक संवाद'-रूपी सभी पूर्ववर्ती परम्पराओं (सतसइयों) को अपने क्रोड़ में समेटकर 'शृंगार-सागर' तक जाती है।

हाँ, एक बात और। यदि मात्र नाम को ही महत्त्व न दिया जाय तो कृपाराम की 'हिततरंगिणी' भी सफल सतसई ही मानी जायगी।

मतिराम और बिहारी के पश्चात् इस क्रम में पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' आते हैं। 'रसनिधिसतसई' इनकी विशाल रचना 'रतनहजारा' का लघु संस्करण है। इसमें मुख्यतः प्रेम के चित्र हैं। इसमें अश्लीलता पग-पग पर झलक मारती है।

कतिपय दोहे उत्कृष्ट हैं—

दरदहि दै जानत लला, सुधि लै जानत नाहिं।
कहौ बिचारे नेहिया, तुव घाले किन जाहिं॥

इसमें बिहारी आदि पूर्ववर्त्ती कवियों का भावापहरण भी मिलता है। जैसे—

दृग उरझत टूटत कुटुँव, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हियैं, दई नई यह रीति॥ —बिहारी
उरझत दृग बँधि जात मन, कहौ कौन यह रीति।
प्रेमनगर में आइकैं, देखी बड़ी अनीति॥ —रसनिधि

इसमें कबीर, जायसी आदि के समान हिन्दू-मुस्लिम-एकता के दोहे भी मिलते हैं। भाषा में भी उर्दू और फारसी के शब्द खूब हैं।

इसी कड़ी में काशीनरेश महाराज उदितनारायण सिंह के आश्रित कवि रामसिंह की 'रामसतसई' आती है। 'मतिरामसतसई' की भाँति इसमें भी शृंगार-चेष्टाओं का सरल और स्वाभाविक वर्णन मिलता है। इसमें माधुर्य और प्रसाद-गुण सर्वत्र है। यत्र-तत्र बिहारी की भी छाप है।

चरवारी नरेश महाराज विक्रम साहि की रचना 'विक्रमसतसई' बिहारी-सतसई के ही आधार पर लिखी गयी है। इसके दोहे भी काफी सरस हैं; पर इसमें दोष प्रभूत मात्रा में हैं। उर्दू के शब्दों द्वारा कवि ने प्रेषणीयता लाने की पर्याप्त चेष्टा की है। शृंगारसतसई की परम्परा में आगे चलकर चन्दनसतसई, भूपति-सतसई, प्रेमसतसई, दयारामसतसई इत्यादि उल्लेखनीय हैं। दयारामसतसई में आधी रचनाएँ लगभग भक्ति और नीति की हैं और आधी शृंगार की। इन रचनाओं में मौलिकता कम, पिष्टपेषण ही अधिक है।

सतसई-परम्परा में वीरसतसइयों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका रचनाक्षेत्र है राजस्थान। वीरता में राजस्थान भारत का गौरव रहा है। अस्तु, चारणों ने वीर-सतसइयों की रचना कर अपनी परम्परा ही निबाही है। ऐसी रचनाओं में 'वीरसत-सई' (सूर्यमल्ल), 'वीरसतसई' (नाथूराम जी म्योहारिया), 'वीरसतसई' (मोड़जी म्योहारिया), 'वीरसतसई' (वियोगी हरि), 'स्वदेशसतसई' (महेशचन्द्रप्रसाद) आदि प्रसिद्ध हैं।

वीरसतसइयों में श्री सूर्यमल्ल जी की 'वीरसतसई' बड़ी महत्त्वपूर्ण रचना है। यह रचना अधूरी है। इसका रचनाकाल सं० १९१४ है। यह वर्ष भारतीय स्वातन्त्र्यसमर में अमर है। इस रचना की प्रेरणा कवि ने इस समर से भी ली है, जिसकी पुष्टि कवि द्वारा लिखे गये गदरकालीन अनेक पत्रों से होती है। 'समय पलट्टी सीस' भी यही व्यंजित करता है। पूरी रचना वीररसात्मक है। इसमें कवि ने एक आदर्श वीरसमाज की कल्पना की है, जिसकी प्रतिज्ञा है—'इला न देणी

आपणी' (अपनी पृथ्वी किसी को नहीं देनी चाहिए)। 'मुँइगा देसी भूँ पड़ा जे घर होसी नाह' में भी यही भाव व्यंजित है। 'वीरसतसई' में चित्रित नारियों की तुलना बिहारी की नायिका से बिलकुल नहीं हो सकती। वीरता ही इनका धर्म है, जौहर ही इनका व्रत है। इनमें पाखंड भरे सतीत्व का स्थान नहीं है। इनकी मनोवृत्ति न तो दब्बू है और न पराधीन। इनमें तत्कालीन झाँसी की रानी का ही चित्र सर्वत्र दीखता है। ये कदापि नहीं सह सकतीं कि इनके पति युद्ध से भाग निकलें। कायर पति से वैधव्य ही इन्हें अधिक पसन्द है—

पीव मुवा घर आविया, विधवां किसा वणाव।

इसमें तत्कालीन रीति-रिवाजों के सफल चित्रण के साथ-साथ राजपूतों की आपसी शत्रुता के भी चित्र मिलते हैं। डिंगल-रचना होने के कारण इसमें 'वैण सगाई' का निर्वाह आवश्यक रूप में मिलता है। 'परजाऊ दूहा' और 'रंग रा दूहा' के भी उत्कृष्ट उदाहरण यहाँ मिलते हैं। कवि की व्यंजनाशक्ति अभिधा से अधिक मुखर है। इसकी भाषा उत्तरकालीन डिंगल है।

सूर्यमल्ल की 'वीरसतसई' के अलावा राजस्थान में नाथूदानजी म्योहारिया और मोड़जी म्योहारिया की वीरसतसइयाँ अधिक प्रसिद्ध हैं। इसी क्रम में आधुनिक युग में श्री वियोगी हरि जी द्वारा लिखित 'वीरसतसई' की चर्चा भी अपेक्षित है। इसमें पूरे ७०० दोहे हैं। इसपर कवि को मंगलप्रसाद पारितोषिक भी मिल चुका है। इसके मंगलाचरण में भी ईश्वर के वीररूप की वन्दना की गयी है। इसमें कवि ने दयावीर, कर्मवीर, दानवीर इत्यादि के साथ 'विरहवीर' को भी स्वीकार किया है। विरहवीर के सम्बन्ध में स्वयं कवि भी सन्दिग्ध है। विद्वानों के लिए 'विरहवीर' भले विचारणीय हों, किन्तु आज विरहवीरों— मजनुओं— की टोलियों की कौन कमी है।

स्वदेशप्रेम पर आधारित राष्ट्रीय भावों का उन्मेष करने वाली रचना 'स्वदेशसतसई' भी इसी युग की देन है। श्री महेशचन्द्रप्रसाद ने इसकी रचना सन् १९३० ई० के आसपास की थी। इसमें तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण सफलता-पूर्वक हुआ है। यह अपने ढंग की अकेली रचना है।

अन्त में 'किसानसतसई' की भी थोड़ी चर्चा अपेक्षित है। इस प्रकार की रचनाएँ बीसवीं शती की उपज हैं। ऐसी रचनाओं में 'किसानसतसई' (उल्फतसिंह निर्भय), 'किसानसतसई' (जगनसिंह सेंगर) आदि प्रसिद्ध हैं। ऐसे सतसईकारों का अपना विशेष महत्त्व है। इन्होंने विषय की नवीनता तो दी ही है, इसे जनमानस का भी काव्य बनाया है। भारतीय स्वातन्त्र्य-समर तथा उसके निमित्त आयोजित आन्दोलनों की छाप इन पर स्पष्ट है। इनका सामयिक महत्त्व ही अधिक है।

इस चर्चा को समाप्त करने के पूर्व दो बातें और विचारणीय हैं—भाषा और छन्द। भाषा की दृष्टि से निम्नांकित रूप इनमें मिलते हैं—

(क) शुद्ध ब्रजी— मूलतः शृंगारसतसइयों की भाषा।

(ख) ब्रजी—गुजराती प्रभावापन्न—दयारामसतसई की भाषा।

(ग) ब्रजी—पंजाबी प्रभावापन्न—बृजविलाससतसई, वसन्तसतसई, आनन्द-सतसई आदि की भाषा।

(घ) राजस्थानी (डिंगल)— वीरसतसइयों की भाषा।

(ङ) खड़ी बोली— वीरसतसई (वियोगी हरि) की भाषा।

तात्पर्य यह कि भाषा की दृष्टि से ब्रजी का ही बाहुल्य है।

छन्द पर विचार करने से पता चलता है कि सतसई का लाड़ला छन्द है दोहा; यद्यपि गिनती के लिए सोरठा और बरवै छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं। दोहा हिन्दी को अपभ्रंश से परम्परागतरूप में मिला है। इसकी व्युत्पत्ति में दूहा, दूधा, गाथा, दुहत्थ, द्विपथ, द्विहस्त इत्यादि शब्दों की चर्चा की जाती है।

अस्तु, सतसई का मूल वर्ण्य विषय (व्याप्ति के आधार पर) है शृंगार। अन्य रसों का प्रतिपादन गौण रूप में ही होता रहा है। शृंगारेतर वर्णनों का महत्त्व स्वाद की त्रिविधता के रूप में ही माना जायगा। स्वयं बिहारी से ही सुनिए—

करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सँवाद।

आधुनिक कविता की धारा में इनके लिए स्थानाभाव है। सतसई-परम्परा मर चुकी है, फिर भी कभी-कभी लोग उस ओर ताक-झाँक करते दीखते हैं अवश्य। आज सतसई-ग्रन्थ स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध हैं। हो सकता है, इनका पूर्व-रूप यों न रहा हो। ये जीवन को मूलतः सरस रूप में ही सामने रखते हैं। जो इनके मूल गुण हैं, लोग आज उन्हीं से नाक सिकोड़ रहे हैं; पर स्वस्थ शृंगार के उदाहरण भी लोग इन्हीं में खोजते दीखते हैं। इसे दिनों का फेर ही कहेंगे। निश्चय ही सतसई-काव्य हिन्दी की अमूल्य निधि हैं।

●

टिप्पणी— बिहारी पर जितना विचार अपेक्षित था, उतना यहाँ नहीं हो सका है—विस्तारभय ही उसका कारण रहा है; फिर पाठक बिहारी से अधिक परिचित हैं, उनका आवश्यक योग वे स्वयं करेंगे।

१८

हिन्दी-गद्य : उद्भव और विकास

(भारतेन्दुपूर्व)

[प्रेरणा न मिलने का कारण—हिन्दी-गद्य के प्रारम्भिक रूप—आधुनिक रूप का प्रारम्भ—लल्लूलाल के पूर्व—अँगरेजों की देन—मिशन के कार्य—विकास के कारण—हिन्दी-उर्दू-संघर्ष]

हिन्दी पर संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। संस्कृत-साहित्य में यद्यपि गद्य का सर्वथा अभाव नहीं रहा है, फिर भी गद्य से अधिक पद्य का ही प्रचलन था। वैदिक काल में भी संहिताओं में, ब्राह्मणग्रन्थों में, स्तोत्रों में, उपनिषदों में गद्य के दर्शन होते हैं। उत्तर वैदिक काल में ऋचाएँ गद्य में ही लिखी जाती थीं, कथाएँ और आख्यायिकाएँ भी गद्य में ही लिखी जाती थीं; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत के लेखक गद्य की अपेक्षा पद्य को अभिव्यक्ति एवं विवेचन का सरल माध्यम मानते थे। इसी से कहा भी गया है—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' अर्थात् कवियों की परख गद्य की कसौटी पर ही होती है। इस बात का प्रमाण तो यही है कि संस्कृत में आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित, साहित्यशास्त्र इत्यादि गम्भीर विषयों के ग्रन्थ भी पद्यबद्ध ही हैं। संस्कृत का विकास सर्वांगीण रूप में हुआ था। उस विकास के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित था। उस युग में हमारी सांस्कृतिक और साहित्यिक चेतना इतनी उदार थी कि गद्य भी पूर्णतः उपेक्षित न रहा; किन्तु पिछले खेवे के संस्कृत-लेखकों ने गद्य का एक प्रकार से बहिष्कार ही कर दिया था। इनके प्रभाव के फलस्वरूप प्रारम्भिक हिन्दी में गद्य का विकास देर से होता है। अस्तु, हिन्दी में यदि गद्य का अभाव है तो इससे हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए। मुस्लिम आक्रमण के कारण देश का वातावरण अशान्त था। फलतः साहित्य का सर्वतोमुखी विकास असम्भव था। स्वयं मुसलमानों की भाषा और उनके साहित्य से भी हमें गद्य के लिए किसी प्रकार की प्रेरणा नहीं मिली, चूँकि अरबी और फारसी में भी गद्य का अभाव ही था। इसके अतिरिक्त, मुद्रण की असुविधा के कारण लेखक अपने भावों और विचारों को पद्यबद्ध करने में ही सुविधा देखते थे कि पद्य सरलतापूर्वक कंठस्थ हो जाता है। इन्हीं कारणों से हिन्दी में पद्य का एकाधिपत्य देखा जाता है और गद्य का आविर्भाव बहुत देर से होता है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य की महती विशेषता है गद्य की प्रचुरता। इसी से यह युग गद्ययुग कहा जाता है। पूर्ववर्त्ती हिन्दी में गद्य का प्रचलन कम था। प्रायः प्रत्येक भाषा के साहित्य में गद्य का प्रचार देर से प्रारम्भ हुआ है। आधुनिक युग के सुव्यवस्थित गद्य से पूर्व, हिन्दी की विभिन्न बोलियों में गद्यलेखन के थोड़े उदाहरण मिलते हैं। ये तीन रूपों में प्राप्त हैं—राजस्थानी गद्य, ब्रजी गद्य और खड़ीबोली गद्य।

ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक साहित्यिक क्रियाशीलता का केन्द्र राजस्थान रहा है। राजस्थानी लेखकों ने डिंगल, पिंगल और अपभ्रंश से प्रभावापन्न रचनाएँ की हैं। पद्य के साथ-साथ धर्म, राजनीति, इतिहास, छन्दशास्त्र, गणित, ज्योतिष इत्यादि की रचनाएँ यहाँ हुई हैं। प्राप्त सामग्री के आधार पर कहा जायगा कि राजस्थानी गद्य ब्रजी गद्य से अधिक समृद्ध और वैविध्यपूर्ण रहा है। राजस्थानी गद्य के उदाहरण दानपत्र, पट्टा-परवाना, वार्त्ता, जैन ग्रन्थ, इतिहास, धर्मशास्त्र, गणित, ज्योतिष, काव्यशास्त्र इत्यादि में उपलब्ध होते हैं। कुछ लोकप्रिय कहानियाँ भी राजस्थानी गद्य में मिलती हैं। सन् १८४७ ई० में लिखा गया 'पंचाख्यान' फतहराम बैरागी के सशक्त लेखन का उदाहरण प्रस्तुत करता है। राजस्थानी गद्य में संस्कृत की समासबहुला शैली मिलती है। उत्तरवर्त्ती उदाहरणों में ब्रजी का प्रभाव भी स्पष्ट दीखता है। आज हिन्दी-गद्य के सर्वाधिक प्राचीन उदाहरण राजस्थानी गद्य में ही उपलब्ध हैं। इसमें उन्नीसवीं शताब्दी तक के ग्रन्थ प्राप्य हैं। ऐसा लगता है कि नवीन भावनाओं के उन्मेष के लिए यह गद्य अनुपयुक्त प्रमाणित हो जाता है, जिस कारण इसकी धारा मर जाती है।

साहित्य-क्षेत्र में चौदहवीं शती के उत्तरार्द्ध से ब्रजी प्रतिष्ठित हो जाती है। इसके पश्चात् इसमें गद्य की अनेक रचनाएँ मिलती हैं। ब्रजी लगभग पाँच सौ वर्षों तक हिन्दी-प्रदेश की साहित्यिक भाषा रही है। इस बीच पद्य के साथ-साथ थोड़ी-बहुत गद्यात्मक रचनाएँ भी लिखी गयी हैं। ब्रजी गद्य के उदाहरण आज तीन रूपों में उपलब्ध हैं—(१) स्वतन्त्र रूप से लिखित, अनूदित या मौलिक रूप में रचित पुस्तकों में, (२) काव्य-टीकाओं में और (३) कवियों द्वारा दी गयी अपनी रचनाओं की टिप्पणियों में। ब्रजी गद्य के अन्तर्गत सर्वप्रथम गोरखपन्थी रचनाओं का उल्लेख किया जाता है। इस प्रकार की तीन पुस्तकें मिलती हैं— 'गोरख-गणेश-गोष्ठी', 'महादेव-गोरख-संवाद' और 'गोरखनाथजी की सोलह कला'। ये रचनाएँ चौदहवीं शताब्दी की मानी जाती हैं; किन्तु इनके सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी यह देखा जाता है कि इन पर राजस्थानी और खड़ीबोली का पर्याप्त प्रभाव है। इसी से कुछ विद्वान् इन्हें खड़ीबोली-गद्य के अन्तर्गत ही रखना स्वीकार करते हैं। वस्तुतः कुछ अंशों को छोड़कर

इनकी भाषा ब्रजी ही है। सन् १४०० ई० के आसपास के गद्य का यह नमूना देखा जा सकता है—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत् है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्दस्वरूप हैं सरीर जिन्हि को, जिन्हि के नित्य गाए तें सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है।"

सोलहवीं शताब्दी में गोसाईं विट्ठलनाथ द्वारा लिखित 'शृंगाररसमण्डन' का उदाहरण विचारणीय है—"प्रथम की सखी कहतु है। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करी जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मन्द हास्य ने जीते हैं।" इसके पश्चात् ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व की दो पुस्तकें—'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'—सम्भवतः गोकुलनाथ ने सत्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध में लिखी। इनकी भाषा अपेक्षाकृत व्यवस्थित है, यद्यपि अरबी और फारसी के शब्दों की इनमें कमी नहीं है। उदाहरण द्रष्टव्य है—"सो श्री नन्दगाम में रहतो हतो सो खण्डन ब्राह्मणशास्त्र पढ्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खण्डन करतो; ऐसो वाको नेम हतो।" इसी समय लिखित नाभादास का 'अष्टयाम' और एक अज्ञात लेखक की 'ज्ञानमंजरी' उपलब्ध हैं। सेवक कवि के 'वाग्विलास' नामक नायिकाभेद के ग्रन्थ में यत्र-तत्र गद्य के प्रयोग उपलब्ध होते हैं। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास के तीन गद्यग्रन्थों का पता चला है, किन्तु ये अभी तक अप्रकाशित हैं। इनके नाम हैं—'हितोपदेश', 'नासि-केतपुराण' और 'विज्ञानार्थप्रवेशिका'। इसी समय लिखी गयी 'भुवनदीपिका' के लेखक का पता नहीं चलता। सन् १६८० ई० के आसपास लिखित वैकुण्ठ-मणि शुक्ल की दो पुस्तकें मिलती हैं—'अगहनमाहात्म्य' और 'वैशाखमाहात्म्य'। किसी अज्ञात लेखक की रचना 'नासिकेतोपाख्यान' की भाषा अधिक व्यवस्थित है। उदाहरण देखें—"हे ऋषीश्वरो ! और सुनो, मैं देख्यो है सो कहूँ। कालें वर्ण महादुख के रूप जम, किंकर देखे। × × आगे और जीवन को त्रास देते देखे हैं। सु मेरो रोम रोम खरो होत है।" इसके पश्चात् सन् १७६७ ई० में सूरति मिश्र ने 'बैतालपचीसी' की रचना की। सन् १८५२ ई० में जयपुर-नरेश की आज्ञा से लाला हीरालाल ने 'आईने अकबरी की भाषा वचनिका' लिखी। इनके अतिरिक्त कुछ और भी पुस्तकें मिलती हैं जिनमें संस्कृत की शैली का ही व्यवहार मिलता है। इस समय केशवदास, बिहारी आदि के ग्रन्थों पर लिखी टीकाओं में ब्रजी गद्य के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। उन्नीसवीं शती में लल्लूलालजी की 'राजनीति' और 'माधोविलास' के पश्चात् ब्रजी गद्यधारा समाप्त हो जाती है।

ब्रजी गद्य के सम्बन्ध में मूलरूप से कहा जा सकता है कि इसका परिष्कृत और व्यवस्थित रूप वार्त्ताग्रन्थों तक ही सीमित है। यदि विकास होता तो निश्चय ही ब्रजी गद्य आगे बढ़ जाता। ये रचनाएँ मूलतः उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व की हैं।

इनमें मूलतः लेखन की सुव्यवस्थित प्रणाली का अभाव था। इनमें पण्डिताऊ शैली ही अधिक है। जो ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से लिखे गये हैं, उनकी भाषा साफ है। इनमें खड़ीबोली और तत्सम शब्दों का भी प्रयोग मिल जाता है। जिस समय नवीन भावनाओं का समावेश हुआ, ये गद्यरूप उसे समा और पचा लेने में असमर्थ थे; इसी से ब्रजी गद्य की धारा मर-मिट जाती है और खड़ीबोली गद्य विकसित हो चलता है।

गद्य-साहित्य में आज जिस परिनिष्ठित हिन्दी का व्यवहार धड़ल्ले से हो रहा है, यह पहले दिल्ली और मेरठ के आसपास की जनभाषा थी। गद्य की इस धारा को परिवर्त्तित करने वालों में सन्त कवियों का प्रथम श्रेय है। सन्तों ने एक ओर अपनी रहस्यानुभूति को, अपने सैद्धान्तिक विचारों को पदों में अभिव्यक्त किया है; किन्तु दूसरी ओर उन्होंने अपनी शिष्यमण्डली के सामने स्वाभाविक रूप में ऐसे प्रवचन भी किये हैं, जिनके अवशेष हिन्दी-गद्य के प्राचीनतम उदाहरण माने जा सकते हैं। दिल्ली पर मुसलमानी शासक आ चुके थे। राज्यकार्य में दिल्ली के आस-पास की बोली को प्रश्रय मिला था। यद्यपि यह जनभाषा राजभाषा न बनी, पर सामान्य आदान-प्रदान की भाषा तो यह थी ही। धीरे-धीरे मुसलमानी शासन भारत के अन्य प्रान्तों में स्थापित होने के कारण यह भाषा एक जगह से दूसरी जगह फैली। दूसरी बात यह कि मुस्लिम शासकों के साथ यहाँ के कर्मचारी और व्यापारीवर्ग भी भारत के अन्य बड़े-बड़े नगरों में गये, जिससे बड़े-बड़े नगरों में खड़ीबोली शीघ्र ही फैल गयी। अँगरेजी शासन की स्थापना के समय शासकवर्ग यहाँ की किसी ऐसी भाषा को अपनाना चाहता था, जिससे अधिकांश व्यक्तियों से बातचीत हो सके। अस्तु, इसके लिए खड़ीबोली ही माध्यम बनी। यही कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हुईं कि खड़ीबोली को विकसित होने का पूरा अवसर मिला।

आज विचारकों में दो प्रकार के भ्रम हैं। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि खड़ीबोली 'मौलवियों और मुंशियों की उर्दू-ए-मुअल्ला' है इसका विकास अरबी और फारसी से हुआ है। वस्तुतः यह शंका निर्मूल है। इसमें आंशिक सत्य का भी अभाव है। खड़ीबोली का मूल रूप कहीं बाहर से आयात नहीं किया गया है। यह तो दिल्ली और मेरठ जनपद की भाषा थी, जिसने परिस्थिति के अनुरोध से अपना स्वाभाविक विकास किया है। इसी प्रकार, साहित्य-जगत् में गार्सां द तासी, ग्रियर्सन, फ्रेजर, ग्रीव्ज तथा इनके पिछलगुए भारतीयों ने खड़ीबोली का जन्म फोर्ट विलियम कालेज में गिलक्राइस्ट के अधीनस्थ लल्लूलाल जी के 'प्रेम-सागर' से माना है। वस्तुतः यह बात तो और भी निर्मूल है। लल्लूलाल के फरमायशी काम के बहुत पहले से ही खड़ीबोली गद्य की पुस्तकें उपलब्ध हैं, जिससे इस कथन का खोखलापन स्पष्ट है। हाँ, इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि

फोर्ट विलियम कालेज से हिन्दी-गद्य के विस्तार में पूर्ण सहयोग मिला है।

खड़ीबोली का पता गद्य की अपेक्षा पद्य में पहले से मिलता है। अपभ्रंश के पदों में भी खड़ीबोली के प्राचीन रूप उपलब्ध होते हैं—

मल्ला हुआ जु मारिया, बहिणी ! म्हारा कन्त।

कबीर आदि की साखियों में भी इसका रूप सुरक्षित है—

कबिरा मन निर्मल भया जैसे गंगा नीर।

खुसरो की मुकरियों में खड़ीबोली के उत्तम रूप मिलते हैं—

एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे॥ —(आकाश)

खड़ीबोली-गद्य का सबसे पुराना रूप अकबर के दरबारी कवि गंग रचित 'चंद छंद बरनन की महिमा' में मिलता है—"सिद्धि श्री १०८ श्री श्रीपातिसाहिजी श्री दलपतिजी अकबर साहि जी आमखास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे। × × × इतना सुन के पातिसाहिजी श्री अकबर साहिजी आद सेर सोना नरहर दास चारन को दिया। इनके डेढ सेर सोना हो गया।" इससे स्पष्ट है कि उस समय तक जनता की बोली खड़ीबोली परिष्कृत हो चुकी थी। इसी प्रकार शीतल कवि के 'गुलचोर चमन' में हिन्दी के प्राचीन गद्य के दर्शन होते हैं। इन दो कवियों के अलावे घासीराम, कुलपति मिश्र, भूषण और सूदन के लिखे हुए ऐसे गद्यखण्ड मिलते हैं, जिनसे इतना तो प्रमाणित हो ही जाता है कि यद्यपि प्राचीन हिन्दी में गद्य को महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त था, फिर भी उसमें यह व्यवहृत किया ही जाता था और कभी-कभी पुस्तिकाओं की भी रचना हो जाती थी।

वि० १७६८ में लिखित रामप्रसाद निरंजिनी की 'भाषा योगवासिष्ट' की भाषा काफी परिमार्जित है। इन्हें प्रथम प्रौढ़ गद्यलेखक मानना चाहिए। इनकी भाषा के नमूने ये हैं— "प्रथम परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है जिससे सब भासते हैं और जिसमें सब लीन और स्थित होते हैं, × × × जिस आनन्द के समुद्र के कण से सम्पूर्ण विश्व आनन्दमय है, जिस आनन्द से सब जीते हैं।" इसके पश्चात् सं० १८१८ में पं० दौलतराम ने जैन ग्रन्थ 'पद्मपुराण' का भाषानुवाद किया। इसकी भाषा त्रुटिपूर्ण है। इसमें शिष्ट जनबोली का रूप मिलता है, जिसमें उर्दू-फारसी के शब्द बिल्कुल नहीं मिलते हैं—"जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसै हैं, इन्द्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करै हैं और भूमि विषै साँठेन के बाड़े शोभायमान हैं।"

इसके पश्चात् एक राजस्थानी लेखक का 'मंडोवरवर्णन' मिलता है। इसकी भाषा भी बोलचाल की है—"अवल में यहाँ मांडव्य रिसी का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम मांडव्याश्रम हुवा। इस लफ्ज का बिगड़ कर मंडोवर

हुवा है।" इसके पश्चात् मथुरानाथ शुक्ल का लिखा 'पंचागदर्शन' मिलता है।

उपर्युक्त तथ्य इस बात की पुष्टि करते हैं कि खड़ीबोली की परम्परा अँगरेजों से नहीं चली। वस्तुतः इसका प्रचलन समाज में पहले से था। इसी प्रकार न तो यह अरबी-फारसी के शब्दों को हटाकर नयी चाल में ढाली गयी है। वस्तुतः फारसी पद्य में खड़ीबोली को खरादने का सबसे पहला प्रयास खुसरो ने अवश्य किया था, जिसके लिए वे सदा याद किये जायँगे। हाँ, मुसलमानी शासन में ही हिन्दी के दो रूप अलग-अलग अवश्य हो चुके थे। देशी रूप सामान्य जनता के बीच प्रचलित था और खड़ीबोली का दरबारी रूप (उर्दू) मुसलमानों के बीच प्रमुखता पा रहा था।

अँगरेजों ने यह पहचानने में तनिक भी भूल नहीं की थी कि भारतीय जनता की भाषा कौन हो सकती है। शासन की दृढ़ता के लिए कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दी और उर्दू की शिक्षा तथा गद्य की पुस्तकों के निर्माण की ओर ध्यान दिया गया। इस समय खड़ीबोली गद्य की दो स्पष्ट धाराएँ मिलती हैं—राज्यप्रेरित धारा और पूर्ववर्ती गद्य की स्वतन्त्र धारा। राज्यप्रेरित धारा के आदर्श थे—सदल मिश्र और लल्लूलाल तथा स्वतन्त्र धारा के आदर्श थे—सदासुख लाल और इंशाअल्ला खाँ। इस युग के ये चारो 'लेखकचतुष्टय' के नाम से जाने जाते हैं।

सदासुखलाल नियाज दिल्ली के निवासी थे। इनकी भाषा 'भाषा योग-वासिष्ट' के समान साफ और परिमार्जित है। इनकी भाषा में "भावी साहित्यिक रूप का पूर्ण आभास" मिलता है। इनकी रचना विष्णुपुराण के कोई उपदेशात्मक प्रसंग को लेकर है। इनकी भाषा इस प्रकार की है—"इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं; आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चाण्डाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरंत ही ब्राह्मण से चाण्डाल होता है।"

इंशाअल्ला खाँ प्रसिद्ध शायर थे। इनकी 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी-गद्य की पहली मौलिक रचना है। इनकी भाषा मुहावरेदार, चलती और चमत्कारपूर्ण है। लेखकचतुष्टय में सर्वाधिक चुटीली भाषा इन्हीं की है। इनकी भाषा का आदर्श था—"हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले × × × बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच न हो। × × × हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो।"

आगरानिवासी लल्लूलालजी संस्कृत के विशेष जानकार न थे। इन्होंने 'प्रेमसागर' की रचना की। इनकी भाषा "भक्तों की कथावार्त्ता के काम की ही

अधिकतर है; न नित्यव्यवहार के अनुकूल है, न सम्बद्ध विचारधारा के योग्य।" इनकी भाषा थका देने वाली है।

सदल मिश्र बिहार-निवासी थे। इनके 'नासिकेतोपाख्यान' का 'प्रेमसागर' से अधिक महत्त्व है। इसमें प्राचीनता और पूर्वीपन की छाप रहने पर भी अपनी परम्परा का विशेष ध्यान रखा गया है।

निष्कर्षस्वरूप कहा जायगा कि फोर्ट विलियम कालेज और गिलक्राइस्ट के प्रयत्नों से हिन्दी-गद्य के विकास में सहायता-भर मिली है। इसका एक और महत्त्व है कि इसी समय सारी पूर्ववर्त्ती धाराएँ एक जगह पर सिमटकर एक निश्चित परम्परा कायम करती हैं। इसके पश्चात् सं० १८६० से सं० १९१४ तक गद्य-साहित्य में कोई उपलब्धि नहीं होती है। प्रायः विकास अवरुद्ध-सा हो जाता है।

उक्त समय तक हुई गद्य की उन्नति से ईसाई मिशन ने पूरा लाभ उठाया। ईसाई धर्मप्रचारकों का प्रधान केन्द्र सिरामपुर था। विलियम कैरे अपने सहयोगियों के साथ सदासुखलाल नियाज और लल्लूलाल की भाषा के आदर्श पर ईसाई धर्मग्रन्थों का अनुवादकार्य कर चले। इनलोगों का उद्देश्य था धर्म-प्रचार, न कि हिन्दी का प्रचार। इनलोगों ने विलफोर्स ऐक्ट का पूरा लाभ उठाया। सर्वप्रथम प्रोटैस्टैण्ट धर्मप्रचारकों द्वारा बाइबिल का अनुवाद प्रस्तुत हुआ। इन धर्मप्रचारकों में मार्टमैन, वार्ड, विलियम कैरे, हेनरी मार्टिन, रेवरेंड विलियम वाउले इत्यादि के नाम हिन्दी-अनुवादकार्य से सम्बद्ध हैं। इनलोगों ने सिरामपुर और आगरा में 'स्कूल बुक सोसाइटीज' की स्थापना की तथा आगरा, इलाहाबाद, सिकन्दराबाद, बनारस, फर्रुखावाद इत्यादि कई स्थानों में छापेखाने खोले। मिर्जापुर के आरफन प्रेस ने बहुत काम किया। सारांशरूप से यह कहा जायगा कि ईसाई धर्मप्रचारकों ने हिन्दी-गद्य को जानबूझ कर बढ़ाने की चेष्टा तो नहीं की, किन्तु उनके धर्मप्रचार के कार्य से ही हिन्दी-गद्य को पनपने का अवसर अवश्य मिला। ईसाई धर्माश्रय से इसे लाभ अवश्य हुआ। इसी से कुछ लोग आवश्यकता से अधिक इनको दाद ही नहीं देते, अपितु इन्हें हिन्दी-गद्य का जनक तक कहते हैं; यद्यपि यह कहना ढकोसला ही है।

इस समय हिन्दी-गद्य के अकस्मात् पनपने के कई कारण हैं, जिनमें ये मुख्य रूप से माने जा सकते हैं—(१) गद्य का, प्राचीन धाराओं का क्षेत्र सीमित होने के कारण तथा अभिव्यक्तिदौर्बल्य के कारण, मर जाना, (२) मध्यदेश से हटकर साहित्यिक चेतना का केन्द्र कलकत्ते के निकट कायम होना जिससे नवीन वातावरण मिलना, (३) धर्मप्रचार के निमित्त खड़ीबोली को लगभग राजाश्रय मिलना, (४) मुद्रण-यन्त्र की सहायता मिलना, (५) अँगरेजी राज्य द्वारा वैज्ञानिक चेतना का सहारा

मिलना, (६) व्यापारियों—अग्रवाल और खत्रियों—का समग्र क्षेत्र में फैलना जिससे खड़ीबोली के प्रचार में सहायता मिलना। वस्तुतः ये कारण परिस्थिति से उत्पन्न हुए थे। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में कहा जायगा कि "अँगरेजों ने तत्कालीन साहित्य को कोई प्रोत्साहन भी नहीं दिया।"

इसी समय अप्रत्यक्ष रूप से कुछ लोगों ने हिन्दी-गद्य की प्रगति में पूर्ण सहायता दी। ईसाई धर्मप्रचारक भारत की भोली जनता को ईसाई बना रहे थे। इसकी रोकथाम के निमित्त प्रतिक्रियास्वरूप राजा राममोहन राय ने ब्रह्मसमाज की स्थापना की। इन्होंने हिन्दी में 'बंगदूत' नामक पत्र निकाला। हिन्दी का प्रथम समाचारपत्र सं० १८८३ में 'उदन्तमार्तण्ड' के नाम से निकला। इसी समय मथुरानाथ शुक्ल ने भी हिन्दी-गद्यलेखन में अप्रत्यक्ष रूप से योग दिया।

हिन्दी-गद्य अभी अपने पैरों पर खड़ा होना सीख ही रहा था कि इसके विरोधी तत्त्व सामने उभर आये और साम्प्रदायिकता के कारण हिन्दी-उर्दू-संघर्ष सामने आया। बात यह थी कि इस समय तक कचहरियों की भाषा फारसी थी। अँगरेजी सरकार (कम्पनी-सरकार) ने सं० १८६० में कचहरियों में नागरी लिपि को और पुनः १८९३ में देशी भाषा (हिन्दी भाषा) को चालू करने की आज्ञाएँ प्रसारित कीं। कारण स्पष्ट था—फारसी तो आम जनता की भाषा थी नहीं, काम में लोगों को कठिनाई होती थी। पर, खेद की बात है कि इसका विरोध मुसलमानों ने डटकर किया और फलस्वरूप कचहरियों की भाषा हिन्दी नहीं, उर्दू हो गयी। इस प्रकार, लोग आजीविका चलाने के लिए उर्दू सीखने लगे और हिन्दी पढ़ने वाले छात्रों की संख्या कमने लगी। इस सम्बन्ध में बाबू बालमुकुन्द गुप्त के ये वाक्य पठनीय हैं— "जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे, फारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिन्दी-भाषा हिन्दी न रहकर उर्दू रह गई।"

अदालतों से तो हिन्दी निकाल दी ही गयी, शिक्षा-क्षेत्र से भी निकालने का घोर प्रयत्न किया गया। सर सैयद अहमद खाँ ने इसके लिए एड़ी-चोटी एक कर छोड़ी। अन्त में विवश हो सरकार को ऐसी आज्ञा निकालनी पड़ी—"ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक ठहराना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी जबान नहीं है, हमारी राय में ठीक नहीं है। इसके सिवा मुसलमान विद्यार्थी, जिनकी संख्या देहली कालेज में अधिक है, इसे अच्छी नजर से नहीं देखेंगे।" यह झगड़ा रुका नहीं, बीसों वर्षों तक चला। भारतेन्दु के पूर्व तक यही स्थिति थी। इस झगड़े में केवल देशी मुसलमान ही नहीं, विदेशी भी सम्मिलित थे। फ्रांस में रहने वाला गार्सां द तासी पेरिस में बैठकर भी हिन्दी के विरोध में विषवमन कर रहा था। जब तक तासी पर साम्प्रदायिक रंग नहीं चढ़ा था, यह स्वयं लिख रहा था—"यद्यपि मैं खुद उर्दू का पक्षपाती हूँ, लेकिन मेरे

विचार में हिन्दी को विभाषा या बोली कहना उचित नहीं।" किन्तु इस विरोध से हिन्दी दबी नहीं, अपितु अपनी जीवनीशक्ति का विस्तार ही करती रही।

इस समय तक हिन्दी-गद्य को बढ़ाने में 'बनारस अखबार', 'सुधाकर', 'बुद्धिप्रकाश' इत्यादि पत्रिकाओं ने सहयोग देना प्रारम्भ कर दिया था। यद्यपि साम्प्रदायिकता के रंग ने तासी को यह लिखने पर भी वाध्य किया—"इस वक्त हिन्दी की हैसियत भी एक बोली (डायलेक्ट) की-सी रह गयी है, जो हर गाँव में अलग-अलग ढंग से बोली जाती है।"

हिन्दी-उर्दू के संघर्ष में ही राजाद्वय—राजा शिवप्रसादसिंह 'सितारे-हिन्द' और राजा लक्ष्मणसिंह—हिन्दी का पक्ष लेकर सामने आये। 'सितारेहिन्द' शिक्षा-विभाग में इन्सपेक्टर थे। ये हिन्दी के सर्वप्रथम कट्टर समर्थक थे और स्वयं भी तत्सम हिन्दी के पक्षपाती थे। इन्होंने 'मुश्किल जबान' की आवाज का विरोध किया, किन्तु शिक्षा-विभाग में मुसलमानों की अधिकता और अँगरेजों के कोपभाजन बनने के डर ने इन्हें भी उर्दू की ओर अग्रसर किया और ये भी उर्दू-दार हिन्दी के हिमायती हुए तथा अन्त में उर्दू के ही पक्षपाती हो गये। ये भाषा-सुधार के नाम पर 'आमफहम' और 'खासपसन्द' भाषा के पक्षपाती बने—"If we cannot make court character which is unfortunately Persian universally used to the exclusion of Devanagri, I do not see why we should attempt to create a new language." हिन्दी का 'गँवरपन' दूर करते-करते इन्होंने यहाँ तक कहा कि "Urdu is becoming our mother tongue". इसके विपरीत राजा लक्ष्मणसिंह 'असली हिन्दी' का आदर्श लेकर आगे आये। इन्होंने हिन्दी और उर्दू को दो भाषाएँ स्वीकार किया। इन्होंने हिन्दी से संस्कृतेतर शब्दों का बहिष्कार किया। वस्तुतः इन्हीं की भाषा का परिमार्जित रूप आगे पनप सका।

इस हिन्दी-उर्दू-संघर्ष में एक व्यक्ति और स्मरणीय हैं। ये हैं फ्रेडरिक पिन्कॉट। ये इंगलैंड में रहकर भी हिन्दी की वकालत कर रहे थे। हिन्दी-लेखकों से ये सदा पत्रव्यवहार किया करते थे। बाद में ये भारत भी आये और यहीं उनका देहान्त भी हुआ था। इसी समय पंजाब में बाबू नवीनचन्द्र राय हिन्दी-प्रचार पर बल दे रहे थे। ब्रह्मसमाज के उद्देश्यों का प्रचार करने के निमित्त ये हिन्दी में पत्रिकाएँ निकालते थे। 'अंजुमन लाहौर' के सं० १९२३ वाले अधिवेशन में इन्होंने सैयद हादी हुसैन खाँ का विरोध करते हुए कहा था—"हिन्दुओं का यह कर्त्तव्य है कि वे अपनी परम्परागत भाषा की उन्नति करते चलें। उर्दू में आशिकी कविता के अतिरिक्त किसी गम्भीर विषय को व्यक्त करने की शक्ति ही नहीं है।" और, उधर सर सैयद अहमद खाँ के संकेत पर शिक्षा-विभाग के

अध्यक्ष एम० एस० हैवेल कह रहे थे—"यह अधिक अच्छा होता यदि हिन्दू बच्चों को उर्दू सिखायी जाती न कि एक ऐसी 'बोली' में विचार प्रकट करने का अभ्यास कराया जाता जिसे अन्त में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़े।"

ईसाई मत का प्रचार रोकने के लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती वैदिक एकेश्वरवाद लेकर सामने आये। आर्यसमाज के द्वारा हिन्दी को फैलने का पूरा अवसर मिला। इसी समय पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी ने अपने व्याख्यानों द्वारा हिन्दी का प्रचार प्रारम्भ किया। इन्होंने हिन्दी-गद्य में कुछ रचनाएँ भी की हैं। हिन्दी-प्रचार इनका मूल कार्य ही था।

ऐसे ही विवादग्रस्त समय में हिन्दी-जगत् में भारतेन्दु का पदार्पण होता है। साहित्य-जगत् में इनका नेतृत्व होने से लगभग हिन्दी-उर्दू का संघर्ष भी दबता-सा दीखता है और हिन्दी भी 'नये चाल' चलने लगती है। इन्होंने अपनी लेखन-शैली में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' और राजा लक्ष्मणसिंह दोनों की शैलियों को एक सम्मिलित रूप दिया। भाषा का चतुर्मुखी विकास यहीं सम्भव होता है। साहित्य के विविध रूप इसी समय जन्म लेते हैं। हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिए इन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का प्रकाशन किया। इनके अनुसार, आधुनिक हिन्दी-गद्य का जन्म भी इसी समय होता है। इन्होंने अपनी डायरी में नोट किया—"हिन्दी नये चाल में ढली—१८७३ ई०।"

इस प्रकार विरोधों और व्याघातों के बीच भी हिन्दी बढ़ती रहती है और अपना मार्ग प्रशस्त कर लेती है।

१९

हिन्दी-साहित्य का अभ्युत्थान-काल

(भारतेन्दुकाल)

[भारतेन्दु-युग—अभ्युत्थान-युग—राजनीति का युग—राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति—प्राचीनता और नवीनता—समाज-सुधार—प्रमुख कवि—कविता की गौण प्रवृत्तियाँ—गद्यकार—उपन्यास—नाटक—निबन्ध—समालोचना—पत्र-पत्रिकाएँ—उपसंहार]

'क्षेत्रेऽसमे परीक्षेत सूतञ्च यतिनं कविम्' के अनुसार योगी, सारथी और कवि—तीनों की परीक्षा असम अथवा ऊबड़-खाबड़ जमीन पर ही होती है। हिन्दी-साहित्य में जब भारतेन्दु का प्रादुर्भाव हुआ, उनके लिए हिन्दी-साहित्य का धरातल असम ही था। क्षेत्र चाहे भाव का हो अथवा भाषा का, सर्वत्र असमता ही थी। पुराने शासकों की भाषा उर्दू अदालती भाषा बनी हुई थी। नये शासक अँगरेजी को जहाज पर लादकर ला चुके थे। गमले के फूल की तरह इसे जहाँ-तहाँ सजाने-फैलाने का प्रयत्न हो रहा था। भारतीय मिट्टी में पनपने वाली हिन्दी उपेक्षित और शोषित जनता की भाषा बनी हुई थी। सामन्तों और रजवाड़ों के उजड़ जाने से हिन्दी के कवि निराश्रित हो चुके थे। अब इन्हें जनता का आश्रय प्राप्त करना था। शृंगारकालीन काव्यादर्श दम तोड़ रहा था। राजनीति गगन-चारी बन चुकी थी और कविता अभी तक नायिका के मान-अभिसार तक ही सीमित थी। गद्यरूपों में भी तनाव था—एक ओर राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' हिन्दी के 'गँवरपन' को दूर करते-करते, 'फैशनेबुल' बनाते-बनाते कह रहे थे—'Urdu is becoming our mother tongue' और दूसरी ओर राजा लक्ष्मणसिंह इनके प्रतिकूल हिन्दी को संस्कृत के निकट लाने का प्रयत्न कर रहे थे। तात्पर्य यह कि हिन्दी की इसी ऊबड़-खाबड़ जमीन पर आगमन होता है भारतेन्दु का, जिन्होंने अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण साहित्यक्षेत्र में नेतृत्व का कार्य किया। प्राचीनता और नवीनता, पौराणिकता और आधुनिकता के संक्रमण-काल में भारतेन्दुजी नवचेतना के वाहक बनते हैं। भाषा, भाव, साहित्यरूप इत्यादि प्रत्येक विषय में इन्होंने नवीन आदर्श की स्थापना कर हिन्दी को नवीन मार्ग दिया है। कभी वे हिन्दी-प्रचार का झण्डा लेकर घूमते तो कभी नागरी अक्षरों की उपयोगिता पर व्याख्यान देते,

कभी भक्ति और शृंगार के गीत लिखते तो कभी राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति का आलाप लेते, कभी नाटक लिखते तो कभी दाढ़ी-मूँछ साफ कर हिन्दी-रंगमंच पर उतरकर अभिनय करते, कभी बेकन और लैम्ब की तरह 'मन की मुक्त भटकन' (Loose sally of the mind) के अनुरूप निबन्ध लिखते तो कभी नवीन मान-दण्डों के अनुरूप हिन्दी का नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ (नाटक) तैयार करते; मौलिक ही नहीं, अनूदित ग्रन्थों की विशाल राशि भी जुटाते। इस प्रकार भारतेन्दु ने हिन्दी-साहित्य के चतुर्मुखी विकास में योग दिया; इस काल के साहित्यकारों का सफल नेतृत्व कर नवीन मार्ग तैयार किया। इसी से हिन्दी-साहित्य के इतिहास में विक्रमाब्द १९०० से १९५० तक का समय भारतेन्दु-युग के नाम से जाना जाता है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में कर्त्ता की दृष्टि से जो भारतेन्दुकाल है, प्रवृत्तियों की दृष्टि से वही नवीन प्रवृत्तियों के अभ्युत्थान का काल है। इसके पूर्व शृंगारकाल का दौरदौरा था। उस काल का साहित्य राजमहलों और रनिवासों से जितना निकट था, जनता से उतना ही दूर। राजाओं की प्रशस्तियाँ और वासनात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ही मूल बात थी। न तो अब राजपूती तलवार की चमक ही शेष थी और न मन्दिरों की दीपशिखा में प्रकाश की उज्ज्वलता। युगों से चला आता हुआ शाश्वत धर्म उपेक्षित था और युगधर्म तिरस्कृत। कवि मकरध्वज-रस तैयार कर रहे थे। परिवर्त्तित ऋतुओं के अनुकूल ये कवि कभी बरफ, शीतलपाटी, अंगूर की टाटी, अंगूरी शराब और अंगूर-से ऊँचे कुच की तलाश कर रहे थे तो कभी गुल-गुली गिलमें, गुणीजन के साथ तान-तुक-ताला और विनोद के मसाला जुटाने में तल्लीन थे। दूसरी ओर मुगलों का पतन, अँगरजों का पदार्पण, हिन्दू-संस्कृति का ह्रास, सामन्तों का उजड़ना जारी था। एक ओर जनता अपनी शक्ति समेट कर प्रथम स्वातन्त्र्य-समर की तैयारी कर रही थी, दूसरी ओर साहित्य 'कनक-छड़ी-सी कामिनी' और चिकुरजाल में उलझा हुआ था। साहित्य युगधर्म से कोसों पीछे था। भारतेन्दु ने साहित्य में पदार्पण कर इसे पहचाना। उन्होंने साहित्य को छलाँग मारने के लिए बाध्य किया। हुआ भी यही, लपककर साहित्य ने जीवन के कदम-से-कदम मिलाया। शृंगारकालीन जंग को छुड़ाकर अनेकानेक रूप साहित्य ने विकसित किये। गद्य में नाटक, निबन्ध, कथा-साहित्य, जीवनी-साहित्य इत्यादि अनेक रूप विकसित हुए। इसके पीछे अँगरेजों और अँगरेजी साहित्य का सम्पर्क भी काम कर रहा था। नवयुग के प्रतिनिधित्व के लिए भारतेन्दु ने नवीन आदर्शों की स्थापना की; साहित्य में जनता की आशा-निराशा, भय-उत्साह को अभिव्यक्त करने की शक्ति प्रदान की। कहा जायगा कि नवीन पद्धति पर नये काव्य-रूपों को विकसित कर भारतेन्दु ने साहित्य को स्वस्थ बनाया। चूँकि अनेक प्रकार की नवीन प्रवृत्तियाँ इसी समय पनपीं, इसीलिए इसे अभ्युत्थान-काल की संज्ञा भी

मिलती है।

भारतेन्दुकाल को कतिपय दृष्टियों से हिन्दी-साहित्य का राजनीतिक काल भी कह सकते हैं। प्रथम भारतीय स्वातन्त्र्य-समर के पश्चात् प्रायः समस्त उत्तर भारत में राजनीतिक चेतना के वाहक तीन ही साहित्यकार कहे जायँगे—गुजराती साहित्य में सत्यमूर्त्ति नर्मदाशंकर, बँगला साहित्य में वंकिम बाबू और हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दु। तरह-तरह की बाधाओं के होते हुए भी ये तीनों साहित्यकार अपनी-अपनी रचनाओं द्वारा जनता में प्रगतिशील विचारों को पनपा रहे थे। तभी तो एक ओर भारतेन्दु विदेशी सत्ता से कुचलते भारतीयों को देखकर कह रहे थे—"हा! हा!! भारत-दुर्दशा न देखी जाई" और दूसरी ओर बंकिम बाबू अपनी धर्म-भूमि को सम्बोधित कर रहे थे— "के बले मात तुमि अबले?" तात्पर्य यह कि भावना के क्षेत्र में पूर्णतः परिवर्त्तन हो चुका था। परिस्थितियाँ भी पूरी तरह बदल चुकी थीं। मानो सारे देश में आग लग चुकी थी, जिससे बचने के लिए सभी एक ही ओर सिमट चुके थे। सभी कुछ-न-कुछ कह रहे थे—नवचेतना सबमें आ गयी थी। हिन्दी-क्षेत्र में इस नवचेतना के वाहक थे भारतेन्दु। निस्सन्देह इस नवचेतना की प्रेरणा अँगरेजी राज्य की स्थापना से तो मिली ही थी; पर भारतेन्दु की जागरूकता ही असल थी जिससे साहित्य में नवीन रूप और नवीन भाव विकसित हो सके।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि इस युग का महत्त्व मात्र विचारों की नवीनता को लेकर ही नहीं है, अपितु विचारों के सामंजस्य का महत्त्व भी है। वस्तुतः इस युग ने प्राचीन आदर्शों के गलित अंगों को छाँटकर उपयोगी रूपों को ग्रहण भी किया है। परिस्थिति के परिवर्त्तित होने से पौराणिक धर्म की रूढ़ियों को छोड़कर कतिपय सुधारवादी धार्मिक आन्दोलनों का ग्रहण भी महत्त्वपूर्ण है। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज आदि द्वारा सुझाये गये सदादर्शों को ग्रहण कर भारतेन्दु ने भक्ति की दीपशिखा से निकलने वाली वासना की कालिमा को भी दूर करने का प्रयत्न किया है। श्रृंगारकालीन सौन्दर्यचित्रण के विरोध में नीति और उपदेश की कविताएँ भी ढेर-की-ढेर लिखी जा रही थीं। भारतेन्दु ने यह लक्षित कर लिया था कि यह प्रतिक्रियात्मक परिणाम है। वे स्वयं प्रतिक्रियावादी मनोवृत्ति के विरोधी थे। इसी से उन्होंने प्रतिक्रिया से काम न लेकर शुद्ध भक्ति के पदों की भी रचना की है। इस प्रकार वे एक ओर प्राचीनता को भी सँवारने के पक्ष में थे, दूसरी ओर नवीन भावनाओं के भी हिमायती थे। सच कहा जाय तो कहना पड़ता है कि ये प्राचीनता और नवीनता—फटते हुए अन्धकार और छिटकती हुई ऊषा-के सन्धिस्थल पर थे। यह काल ही संक्रान्ति का था। इसी से इस युग में प्राचीन मनोवृत्तियों के अवशेष भी हैं और नवीन मनोवृत्ति के नवनिर्माण भी।

संक्रान्ति की स्थिति को न समझने के कारण ही कतिपय आलोचकों ने इस

युग की भ्रान्तिमूलक आलोचना कर दी है। कुछ विचारकों ने इस युग को राजभक्ति का युग कहकर साहित्यकारों पर छींटाकशी की है। वास्तविक अर्थ में यह युग ऐसा साहित्य दे रहा था जिसे जीवन की समालोचना कह सकते हैं। इसी से कविता में ही नहीं, प्रायः सभी प्रकार की रचनाओं में राजनीति प्रमुख हो उठी है। इस राजनीति के दो अंग थे—राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति। संक्रान्तियुग होने के कारण सामंजस्य का युग तो यह था ही; किन्तु इसीलिए इसे राजभक्ति का युग हम नहीं कह सकते। वस्तुतः राजभक्ति से शुरू होकर राजनीति का पर्यवसान राष्ट्रभक्ति में होता था। यद्यपि राष्ट्रभक्ति से राजभक्ति का स्वर अधिक उग्र है, पर इसी से उसे राजभक्तिमूलक काल नहीं कहेंगे। इसके पीछे जो मनोवैज्ञानिक कारण कार्य कर रहे थे, उस पर भी विचारना होगा। उस समय अँगरेजी राज्य 'कम्पनी-राज्य' से हटकर विक्टोरिया का राज्य हो गया था। कम्पनी के अत्याचार बन्द हो गये थे। पहले मुसलमानों को ही धार्मिक स्वतन्त्रता थी, अब हिन्दुओं को मुसलमानों के धार्मिक अत्याचार नहीं सहन करने पड़ते थे। कर से भी मुक्ति मिली थी। धार्मिक स्वतन्त्रता और सुव्यवस्था ही राजभक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त हो रही थी। इसी से "परम मोक्षफल राजपद परसन जीवन माँहि" जैसी कविताएँ लिखी जा रही थीं। पर, इस कट्टर राजभक्ति के साथ-साथ उदार राष्ट्रभक्ति भी पनप रही थी। कवि देश की स्थिति के प्रति आँखें खोले हुए था। वह शासक की बड़ाई तो कर रहा था, पर शासन की नहीं—

सबहिं भाँति नृपभक्त जे भारतबासी लोग।
शस्त्र और मुद्रण विषय करी तिनहुँ की रोक॥

स्वभाव से जिन्दादिल व्यक्ति होने के कारण भारतेन्दु देश की आर्थिक स्थिति को देखकर कचोट उठते थे। इसी से वे भरे हृदय से कह रहे थे—

अँगरेज-राज सुख-साज सजे अति भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥

भारतीयों का शोषण हो रहा है, इसे सम्भवतः सर्वप्रथम भारतेन्दु ने ही लक्ष्य किया था। यह किसे नहीं मालूम है कि भारतेन्दु ने जिस समय उपर्युक्त पंक्तियाँ लिखी थीं, उस समय तक मार्क्स ने 'कैपिटल' के कुछ ही पृष्ठ लिखे होंगे। निश्चय ही भारतेन्दु की दृष्टि मर्मभेदिनी थी। उनकी "सारा हिन्द हजम कर जाता" वाली पंक्ति अपनी स्पष्टता, सूक्ष्मता, मार्मिकता, प्रेषणीयता, सरलता इत्यादि के लिए अद्वितीय है। इस युग के अन्य कर्त्ताओं पर भी विचारने से स्पष्ट हो जाता है कि सबने राजभक्ति के साथ राष्ट्रभक्ति के गीत लिखे हैं।

कविता के क्षेत्र में राजभक्ति के साथ राष्ट्रभक्ति का समन्वय जहाँ पहली प्रवृत्ति है, वहाँ दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति है प्राचीनता और नवीनता का समन्वय। इस

युग के साहित्यकारों ने जहाँ परम्परा से चली आने वाली भावधारा को अपनाकर लीलादि का गान किया है, भक्ति के मधुर पद लिखे हैं वहाँ नवीन विषयों पर भी कविताएँ लिखी हैं। भाषा, भाव, छन्द इत्यादि सभी विषयों में सामंजस्य उपस्थित किया गया है। एक ओर नायिका के वर्णन भी हुए हैं, दूसरी ओर नीति और सूक्ति के पद्य भी लिखे गये हैं। आचार्य शुक्ल ने भारतेन्दु की काव्य-कला पर विचारते हुए लिखा है— "अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल पर एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते हैं, दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधा-कृष्ण की भक्ति में झूमते हुए भक्तमाल गूँथते हुए दिखाई देते थे, दूसरी ओर मन्दिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाये जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है। प्राचीन और नवीन के उस सन्धिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ, इसमें सन्देह नहीं।" भारतेन्दु के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल की उपर्युक्त मान्यता लगभग उस काल के समस्त साहित्यकारों के लिए सटीक बैठती है।

इस युग की तीसरी प्रमुख प्रवृत्ति है समाज-सुधार की। अब तक देश अन्धविश्वास, धार्मिक कट्टरता आदि से ओतप्रोत था। इतिहास के नाम पर अभी तक पुराणों के ही पाठ हो रहे थे, भूगोल के रूप में स्वर्ग-नरक की चर्चा भर हो जाती थी और विज्ञान, उसका तो कहना ही क्या; हाँ, पंचांगों के रूप में वह था अवश्य। समुद्र पार जाना भी पूरी तरह निषिद्ध था। तात्पर्य यह कि भारतीय अभी तक गूलर के कीड़े ही बने थे। भारतेन्दु-युग के साहित्यकारों ने सबसे बड़ा यही काम किया कि इन समस्त अन्धविश्वासों को जरा जोर से धक्का दिया, जिससे यह जर्जर आदर्श अकस्मात् चरमरा उठा। स्त्री-शिक्षा, बाल-विवाह का विरोध, विधवा-विवाह का समर्थन, जाति-भेद का विरोध, छुआछूत का विरोध इत्यादि पर लोगों ने अपनी कलम चलायी। इन दुर्गुणों पर एक ही साथ आघात होने से समाज अपनी कमजोरियों को समझने लगा। पर, डर यह भी था कि कहीं भारतीयता नष्ट ही न हो जाय और भारतीय पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध में आकर उसका ही अनुकरण न करने लगें। इसी से लोग यह भी घोषणा कर रहे थे कि— "अँगरेजी हम पढ़ितऊ अँगरेज न बनिबै।" ये साहित्यकार राजनीति, अर्थ, व्यवसाय, वैज्ञानिक विकास इत्यादि में अँगरेजों से सीख लेकर अपनी उन्नति के लिए लोगों को प्रेरित कर रहे थे— अँगरेज बनने के लिए नहीं कह रहे थे—

अपना बोया आप ही खावैं, अपना कपड़ा आप बनावैं।

माल विदेशी दूर भगावैं, अपना चरखा आप चलावैं।
बढ़ै सदा अपना व्यापार, चारों दिशि हो मौज बहार।।

स्पष्ट है कि ये कवि जनता को प्रत्येक क्षेत्र में आत्मनिर्भरता की शिक्षा दे रहे थे। देश आत्मनिर्भर नहीं हो रहा है, इसकी टीस उन्हें सदा कचोटती रहती थी। यह ध्यान देने की बात है कि जिस चरखे की बात गाँधीजी ने लोगों को बतायी, भारतेन्दु-युग के साहित्यकार उनसे पच्चीसों वर्ष पूर्व ही उसकी चर्चा कर रहे थे। आखिर कवि की, भविष्यद्रष्टा की सूझ जो ठहरी!

यद्यपि इस युग की काव्यसम्पत्ति ब्रजी कविता ही है पर इसे मानने से इनकार नहीं किया जा सकता कि खड़ीबोली-कविता का प्रारम्भ भी इसी युग में हो गया था। खड़ीबोली-काव्य ने जीवन के यथार्थ पक्ष को ही लिया है, पर प्रधानता ब्रजभाषा-काव्य की ही रही है। ब्रजी काव्य के कर्त्ताओं में द्विजदेव, सरदार, हनुमान, द्विजकवि, मन्नालाल, सेवक, रघुराजसिंह, भुवनेश, ललितकिशोरी, सूर्यमल्ल मिश्रण इत्यादि के साथ भारतेन्दु का नाम भी प्रमुख है। इन कवियों ने मुख्यतः शृंगार-रस, अलंकार, पिंगल, नायक-नायिका-भेद, रामभक्ति, कृष्णभक्ति, वीररस इत्यादि की ही कविताएँ लिखी हैं। धीरे-धीरे कवियों को यह आदर्श खटकने लगा और इसकी जगह मूलरूप से यथार्थवाद ने ली। यथार्थवादी अभिव्यक्ति के पीछे मध्यम वर्ग का शिक्षित समुदाय ही अधिक कार्य कर रहा था। इसी ने पारिवारिक भेद-भाव भूलकर सुधारों और जनसत्तात्मक सरकार की माँग की आवाज बुलन्द की। काव्य में खड़ीबोली का पदार्पण जनशैली के साथ जनाधिकार के लिए ही होता है। इस नवीन भावना को लेकर आगे आते हैं स्वयं भारतेन्दु तथा भारतेन्दु-मण्डल के अन्य कवि। पं० प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, बालमुकुन्द गुप्त, राधाकृष्ण दास इत्यादि की रचनाओं में इसी नवीन भावना का उन्मेष मिलता है। भारतेन्दु ने तो नवीन विषयों की ओर लोगों को उन्मुख ही किया पर प्रतापनारायण मिश्र ने कविता के बहाने पद्यात्मक निबन्धों की रचना कर दी। 'हरगंगा', 'तृप्यन्ताम्', 'हिन्दी की हिमायत' इत्यादि कविताएँ इतिवृत्तात्मक ही नहीं पद्यात्मक निबन्ध भी हैं, जिनमें जीवन का यथार्थ रूप सामने आया है। प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास, ठाकुर जग-मोहन सिंह आदि में भी यही प्रवृत्ति मिलती है। नवीन भावना से ओतप्रोत होकर लिखी जाने वाली कविताओं के कलात्मक पक्ष दुर्बल भले ही हों पर ये जीवन के अति निकट हैं। इनका साहित्यिक मूल्यांकन करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा कहते हैं कि "प्रथम उत्थान नवयुग का आरम्भमात्र था। इसलिए हमें इस समय की कविता में उस कलात्मकता के दर्शन नहीं होते जो कालान्तर में सतत परिश्रम से प्रकट हुई। काव्यविषयों के सर्वथा नवीन होने के कारण इनकी काव्यपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए समय की आवश्यकता थी।" इस समय विचाराधिक्य था,

सम्भवतः इसी से कलात्मकता दब-सी गयी है। काव्यात्मक अभिव्यक्ति का यह वह समय है जब ग़ालिब, दाग, हाली, अकबर इलाहाबादी, माइकेल मधुसूदन दत्त, हेमचन्द्र, नवीनचन्द्र इत्यादि सभी नवीन भावना लेकर काव्य-गगन में आ चुके थे। रवीन्द्र की कला भी इसी समय विकसित हो रही थी।

इस युग की कविता की प्रमुख प्रवृत्तियों की चर्चा ऊपर हो चुकी है। गौण प्रवृत्तियों में इतिवृत्तात्मकता, प्रकृतिचित्रण की विशदता, जीवन की यथार्थता, भाषा के रूप में खड़ीबोली का ग्रहण, छन्दों की विविधता, विविध साहित्यरूपों का विकास इत्यादि ग्रहण किये जायँगे। इतिवृत्तात्मकता तो इस हद तक हो गयी कि कविता के नाम पर मात्र पद्यात्मक निबन्धों की प्रचुरता ही मिलती है। प्रकृति के चित्र अधिकांशतः परम्परामुक्त ही हैं; पर ठाकुर जगमोहन सिंह आदि की कविताओं में प्रकृति का वह रूप दिखाई देता है जो आगे आदर्श रूप में ग्रहीत होता है। सम्पूर्ण रूप से प्रकृति के चित्रों में संवेदनशीलता का अभाव ही कहा जायगा। जीवन के यथार्थवादी चित्रण की परम्परा भी यहीं मिलती है। भाषा के गद्य रूप में पूर्णतः परिवर्त्तन हो गया है। सर्वत्र खड़ीबोली का रूप दीखता है। भारतेन्दु ने राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द और राजा लक्ष्मणसिंह के मध्य की स्थिति स्वीकार की है। कविता के क्षेत्र में भारतेन्दु ब्रजभाषा के ही पक्षपाती थे; पर इनके अन्य मित्रों ने खड़ीबोली में भी कविताएँ की हैं। खड़ीबोली-कविता का इस समय श्रीगणेशमात्र ही समझना चाहिए। सर्वाधिक नवीनता और वैविध्य है छन्दों को लेकर। परम्परा से चले आने वाले सवैया, रोला, छप्पय, कवित्त इत्यादि तो चलते ही हैं, इस युग में कतिपय नवीन छन्द भी प्रयुक्त होते हैं। इन नवीन छन्दों में लोकरुचि का ध्यान अधिक रखा गया है। इसी से लावनी, कजली आदि छन्द चल पड़ते हैं। कतिपय कवियों ने संस्कृत के वर्णवृत्तों का भी प्रयोग किया है। छन्दों की भाँति साहित्य के रूपों में भी वैविध्य लक्षित होता है। पद्य के क्षेत्र में तो अधिक परिवर्त्तन नहीं हुए पर गद्य के क्षेत्र में नवीन साहित्यरूपों का विकास स्तुत्य है। तात्पर्य यह कि भारतेन्दु-युग प्रत्येक क्षेत्र में नवीन विकास का युग है।

भारतेन्दु-युग की सबसे महान् उपलब्धि है गद्य-साहित्य। गद्य-साहित्य में इस समय अनेक नये-नये मार्ग खुले हैं। इसी से लगभग सभी इतिहासकारों ने इसे गद्ययुग कहकर अभिहित किया है। उपन्यास, नाटक, निबन्ध, समालोचना, पत्र-पत्रिकाएँ, जीवनी, साहित्यिक इतिहास इत्यादि अनेक गद्यरूपों के बीजवपन का यही समय है। गद्यरूपों में स्थिरता भी लगभग इसी काल में हो चली थी। इसके पूर्व का साहित्य प्रायः जनजीवन से अछूता ही था। जनजीवन से सीधे सम्पर्क में आने के कारण हिन्दी-साहित्य में इतिहास, भूगोल, विज्ञान, राजनीति, धर्म इत्यादि विभिन्न विषयों पर तरह-तरह की पुस्तकें उपयोगी साहित्य के रूप में सामने आने लगीं।

इस काल के अधिकांश लेखक बहुश्रुत थे। इसी से वे एक ही साथ अनेक प्रकार के विषयों पर समान अधिकार के साथ लेखनी उठाते थे। प्रमुख गद्यकारों में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द (१८२३–१८६५ ई०), राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६–१८९६ ई०), स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४–१८८३ ई०), बालकृष्ण भट्ट (१८४४–१९१४ ई०), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०–१८८५ ई०), श्रीनिवास दास (१८५१–१८८७ ई०), बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन (१८५५–१९२३ ई०), राधाकृष्ण दास (१८६५–१९०७ ई०), तोताराम वर्मा (१८४७–१९०२ ई०), देवकीनन्दन खत्री (१८६१–१९१३ ई०), किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५–१९३२ ई०), पं० प्रताप नारायण मिश्र (१८५६–१९०४ ई०) इत्यादि के नाम लिये जाते हैं। इन गद्यकारों के समक्ष प्रायः दो बातें ही उग्र रूप में थीं— नवोदित राष्ट्रीयता के कारण देशोत्थान की भावना और हिन्दी भाषा और साहित्य का प्रचार-प्रसार। भारतेन्दुजी ने 'निज भाषा उन्नति अहै' का मन्त्र दिया ही था। नवोत्थान की चेतना के कारण ही इस युग के गद्य ने जहाँ एक ओर धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक इत्यादि क्षेत्रों में सप्राणता और सक्रियता का संचार किया, वहाँ दूसरी ओर 'निज भाषा उन्नति अहै' के लिए भी प्रेरित किया। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज और कुछ हद तक काँग्रेस-आन्दोलन ने उपर्युक्त भावना में बल का संचार किया। निश्चय ही, यह खेद की बात है कि जिस वर्ष देश की सर्वप्रमुख राजनीतिक संस्था (काँग्रेस) की नींव पड़ी उसी वर्ष ईश्वर ने हमसे भारतेन्दु को छीन लिया। फिर भी जिस भावना का संचार भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने किया, वह निरन्तर बढ़ती ही गयी। हाँ, यह सोचकर आश्चर्य अवश्य होता है कि नवीन चेतना के वाहक साहित्यकार भी १८५७ ई० के प्रथम भारतीय स्वातन्त्र्य-समर के सम्बन्ध में एकदम मौन क्यों हैं। सूर्यमल्ल मिश्रण जैसे इक्के-दुक्के कवियों ने इसका हल्का संकेत भर ही किया है; पर शेष सभी साहित्यकार इस प्रथम स्वातन्त्र्य-समर के सम्बन्ध में बिलकुल मौन ही हैं।

उपन्यास की दृष्टि से यह युग अनुवादों का है। बाबू गदाधर सिंह, राधाचरण गोस्वामी, कार्तिकप्रसाद खत्री, प्रतापनारायण मिश्र, रामकृष्ण वर्मा, तोताराम वर्मा इत्यादि बँगला, अँगरेजी और उर्दू से उपन्यासों के अनुवाद प्रस्तुत कर रहे थे। हिन्दी में मौलिक उपन्यासों का जन्म भी इसी समय हुआ। स्वयं भारतेन्दु ने 'चन्द्रप्रभा' और 'पूर्णप्रकाश' उपन्यासों के अनुवाद कराये और उसे शुद्ध किया। सम्भवतः उन्होंने मौलिक उपन्यास-लेखन भी प्रारम्भ किया; पर रचना अधूरी ही रह गयी। हिन्दी का तथाकथित प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षागुरु' (१८८२ ई०, श्रीनिवास दास) इसी समय लिखा गया। इसमें दिल्ली के एक सेठ-पुत्र की कथा है जो कुसंगति में पड़ जाता है; पर उसका उद्धार एक सज्जन मित्र द्वारा होता है।

यह रचना उपदेशात्मक ही है। इस युग के प्रमुख उपन्यास हैं—'भाग्यवती' (श्रद्धाराम फिल्लौरी), 'नूतन चरित्र' (रत्नचंद प्लीडर), 'नूतन ब्रह्मचारी,' 'सौ अजान एक सुजान' (बालकृष्ण भट्ट), 'निस्सहाय हिन्दू' (राधाकृष्ण दास), 'विधवाविपत्ति' (राधाचरण गोस्वामी), 'जया' (कार्तिकप्रसाद खत्री), 'कामिनी' (बालमुकुन्द गुप्त), 'त्रिवेणी, 'स्वर्गीय कुसुम', 'हृदयहारिणी', 'लवंगलता' इत्यादि (किशोरीलाल गोस्वामी), 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता सन्तति', 'नरेन्द्र' (देवकीनन्दन खत्री) इत्यादि। इस युग का उपन्यास-साहित्य प्राचीन भारतीय कथाओं के समीप होकर भी उससे स्पष्टतः भिन्न है। उस पर पश्चिम के कथा-साहित्य का प्रभाव साफ दिखाई पड़ता है। इस समय के उपन्यास-साहित्य के स्रोत पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सामाजिक, ऐतिहासिक, गार्हस्थिक, तिलिस्मी, अय्यारी, जासूसी इत्यादि स्रोतों से लिये गये हैं। रचना चाहे किसी की हो, किसी भी प्रकार की हो, सबका उद्देश्य एक ही है। प्रायः सभी किसी-न-किसी प्रकार की शिक्षा ही देना चाहते हैं। यह शिक्षा धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, राष्ट्रीय इत्यादि ही है। हाँ, राजनीति से इनका सम्बन्ध नहीं के बराबर है। सभी उपन्यास घटनापूर्ण और उपदेशप्रधान ही हैं। चरित्रचित्रण पर ध्यान नहीं के बराबर है। वस्तुतः ये उपन्यास प्राथमिक अवस्था के हैं। इस युग में वास्तविक उपन्यासकला मात्र दो ही व्यक्तियों में हैं—किशोरीलाल गोस्वामी और देवकीनन्दन खत्री में। दोनों के विषय और स्रोत भिन्न-भिन्न हैं। इन दोनों की रचनाएँ द्विवेदी-युग में भी मिलती हैं। गोस्वामी का महत्त्व उपन्याससाहित्य को लेकर बहुत अधिक है। उपन्यासकला की दृष्टि से ये खत्रीजी से कोसों आगे हैं। खत्रीजी का महत्त्व है हिन्दी के लिए पाठक तैयार करने में। 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के द्वारा इन्होंने हिन्दी के जितने पाठक अकेले तैयार किये, शायद उतने पाठक किसी विशेष संस्था द्वारा भी तैयार नहीं किये जा सकेंगे।

हिन्दी-उपन्यास-साहित्य से हिन्दी-नाटक-साहित्य की नींव गहरी है। हिन्दी नाटकों का जन्म भी इसी काल में हुआ है। भारतेन्दु के पूर्व नाटकों के नाम पर पद्यात्मक रचनाएँ मिल जाती हैं। हिन्दी-क्षेत्र में अभी तक रासलीला, रामलीला, यात्रापार्टी, पारसी कम्पनी इत्यादि ही नाटक का सूत्र सँभाले हुए थे। जनता अपने लिए इन्हें ही यथेष्ट समझ रही थी। नवोत्थान से प्रेरित भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने बँगला का रंगमंच देखा था। अतः वे हिन्दी में प्रचलित रंगमंचों को भी उसी के समानान्तर लाना चाहते थे। इसी से इन्होंने दुहरा कार्य प्रारम्भ किया। एक तो सुन्दर नाटकों की रचना और दूसरे रंगमंच का सुधार—ये दोनों जिम्मेदारियाँ इस युग के साहित्यकारों ने सँभाली। अब तक 'आनन्दरघुनन्दन' (महाराज विश्वनाथ सिंह) और 'नहुष' (गिरिधर दास) जैसे नाटक थे। नाटक-रचना की

ओर सर्वप्रथम ध्यान दिया भारतेन्दु ने। इन्होंने 'चन्द्रावली', 'भारतदुर्दशा', 'नीलदेवी' जैसे मौलिक नाटकों, 'अन्धेर नगरी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' जैसे प्रहसनों और 'विषस्य विषमौषधम्' जैसे भाण की रचना की तथा 'विद्यासुन्दर', 'कर्पूरमंजरी', 'मुद्राराक्षस' इत्यादि नाट्यकृतियों के सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किये। इनके नाटकों में देशप्रेम अथवा ईश्वरोन्मुख प्रेम की ही व्यंजना हुई है। भारतेन्दु के अतिरिक्त अन्य साहित्यकारों ने भी नाट्यरचना की ओर ध्यान दिया जिससे अनेक सुन्दर-सुन्दर रचनाएँ सामने आयीं। इस समय 'रणधीर-प्रेममोहिनी', 'तप्ता-संवरण', 'संयोगितास्वयंवर', 'दुःखिनी बाला', 'पद्मावती', 'महाराणा प्रताप' (श्रीनिवास दास), 'मयंकमंजरी महानाटक' (किशोरी लाल गोस्वामी), 'माधुरीरूपक' (राव कृष्णदेवशरण सिंह), 'सज्जाद-सुम्बुल', 'शमशाद-सौसन' (केशवदास भट्ट), 'बैल छः टके को', 'एक-एक के तीन-तीन', 'स्त्रीचरित्र', 'सैकड़े में दस-दस' (देवकीनन्दन त्रिपाठी), 'महा अन्धेरनगरी' (विजयानन्द त्रिपाठी) इत्यादि रचनाएँ सामने आयीं। उपर्युक्त सभी रचनाओं में सामान्यतया देशप्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। उपर्युक्त नाटकों में दोनों प्रकार की रचनाएँ हैं— साहित्यिक और रंगमंचीय। एक ओर बड़े नाटक भी हैं, दूसरी ओर छोटे-छोटे प्रहसन भी। इन नाटकों में परिष्कृत रुचि का समावेश अच्छी तरह है।

भारतेन्दु-युग के साहित्यिक निबन्धकारों के रूप में बालकृष्ण भट्ट और पं० प्रतापनारायण मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी स्वसम्पादित रचनाएँ क्रमशः 'हिन्दी-प्रदीप' और 'ब्राह्मण' में प्रकाशित होती थीं। इनके अतिरिक्त अन्य पत्रिकाओं के माध्यम से भी हिन्दी-निबन्ध पनप रहा था। ठाकुर जगमोहन सिंह, अम्बिकादत्त व्यास, श्रीनिवास दास, केशवराम भट्ट इत्यादि अन्य निबन्धकार थे। इस समय के निबन्धों के विषय मूलतः समाजसुधार, देशभक्ति, अतीतगौरव, विदेशी शासन के प्रति मधुर आक्रोश इत्यादि ही हुआ करते थे। वस्तुतः इस समय निबन्ध-कला पत्रकारिता के साथ जुड़ी हुई थी। इनमें जिन्दादिली के साथ व्यंग्यक्षमता भी पूर्णतः मिलती है। यह कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं कि जितने सुन्दर और सजीव निबन्धों की रचना उस समय हुई, अद्यतन युग में उसका अभाव ही है। उस समय अँगरेजी का प्रचार आज की अपेक्षा कम था, फिर भी लैम्ब और स्विफ्ट जैसे लेखक हिन्दी में दिखाई पड़ रहे थे।

निबन्धों का ही एक दूसरा रूप जीवनी-साहित्य के माध्यम से पनप रहा था। भारतेन्दु, रमाशंकर व्यास, काशीनाथ खत्री, राधाकृष्ण दास, बालमुकुन्द गुप्त, मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ इत्यादि ने जीवनियाँ लिखकर जीवनी-साहित्य की अभिवृद्धि की। इन जीवनियों में यत्र-तत्र बड़ी सजीवता और रोचकता आ गयी है।

हिन्दी-समालोचना का विकास भी इसी युग में हुआ। निबन्धों की तरह

समालोचना के जन्म की कहानी भी पत्र-पत्रिकाओं से जुड़ी हुई है। प्रारम्भ में समालोचना पुस्तक-परिचय के रूप में ही प्रचलित हुई। धीरे-धीरे उसका विकास हुआ। यों तो सैद्धान्तिक समालोचना का विकास लक्षणग्रन्थों के रूप में बहुत पहले हो चुका था पर आधुनिक रूप में सैद्धान्तिक समालोचना के जन्मदाता भारतेन्दु ही हैं। संस्कृत के आदि आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' की रचना कर नाटक के सभी अंगों पर विचार किया था। हिन्दी में सर्वप्रथम भारतेन्दुजी ने 'नाटक' की रचना कर अभिनव नाट्यशास्त्र दिया। इसका प्रकाशन १८८३ ई० में हुआ था। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने इसे किसी दूसरे का रचित मानना चाहा है। वस्तुतः 'नाटक' को महत्त्वहीन घोषित करने के पीछे 'रूपकरहस्य' को महत्त्वपूर्ण सिद्ध करना ही था। आखिर वे ऐसा न करते तो 'रूपकरहस्य' का रहस्य बना कैसे रहता ? भारतेन्दु द्वारा लिखित ग्रन्थ 'नाटक' नवीन मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में ही नाटक की विवेचना करता है। इसमें संस्कृत, अँगरेजी और हिन्दी की मान्यताओं की छानबीन कर नवीन स्थापना भी की गयी है, सर्वत्र संस्कृत के अनुवदन का अनुधावन ही नहीं है। यहाँ उक्त ग्रन्थ की केवल एक मान्यता ही देखी जा सकती है, जहाँ वे अर्थप्रकृतियों, सन्धियों आदि की अवहेलना करते हुए लिखते हैं—"संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटकों में इनका अनुसन्धान करना या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है।" इस एक कथन से ही पुस्तक की मौलिकता स्पष्ट है। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने इस पर सर्वाधिक आपत्ति की थी भाषा को लेकर। उनके अनुसार यह भाषा भारतेन्दु की हो ही नहीं सकती। पर वे यह क्यों भूल जाते हैं कि 'नाटक' साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, जिसमें अन्य साहित्यरूपों की अपेक्षा प्रौढ़ भाषाशैली की अपेक्षा होती है। वस्तुतः उन्होंने 'रूपकरहस्य' के रहस्य को कायम रखने के लिए ही ये सारे आक्षेप लगाये थे, जिसमें यत्र-तत्र थोड़ी-बहुत सामग्री उन्होंने स्वयं 'नाटक' से ही उठाकर रख डाली है। निश्चय ही 'नाटक' हिन्दी नाट्यशास्त्र का प्रथम प्रौढ़ ग्रन्थ है, जिसकी महत्ता आज भी अधिकांशतः बनी हुई ही है।

दूसरी ओर 'आनन्दकादम्बिनी', 'हिन्दीप्रदीप' आदि के माध्यम से आलोचना पनप रही थी। 'आनन्दकादम्बिनी' में 'संयोगितास्वयंवर' और 'बंगविजेता' की आलोचना छपने लगी थी। ध्यान देने की बात यह है कि सैद्धान्तिक रूप में ही नहीं, अपितु व्यावहारिक रूप में भी आलोचना के लिए प्रथम नाटक-साहित्य को ही चुना गया। इस समय की आलोचना में कहीं-कहीं तीक्ष्ण व्यंग्यात्मकता भी मिलती है—"नाटक में पाण्डित्य नहीं, वरन् मनुष्य के हृदय से आपको कितना गाढ़ा परिचय है, यह दर्शाना चाहिए।" धीरे-धीरे समालोचना के क्षेत्र में नये सिद्धान्तों की स्थापना और उनकी परीक्षा भी प्रारम्भ हुई। मूलतः यह काल

समालोचना का जन्मकाल ही है। अस्तु, इस काल की समालोचना में भी वे त्रुटियाँ मिलती ही हैं जो प्रारम्भिक अवस्था में स्वाभाविक हैं।

पत्र-पत्रिकाओं की दृष्टि से यह काल उर्वर रहा है। १८२६ ई० में युगलकिशोर द्वारा जो आदर्श स्थापित हुआ, इस काल की पत्रिकाओं में उसी की परम्परा का पालन दीखता है। इस युग के साहित्यकारों में ग्रहणक्षमता बड़ी ही तीव्र थी। इस युग में शायद ही कोई ऐसा उच्च साहित्यकार हो जो किसी-न-किसी पत्र से सम्बद्ध न हो। कहा जायगा कि इस युग में पत्रों की बाढ़-सी आ गयी थी। यदि बम्बई, कलकत्ता और लाहौर की त्रिकोणात्मक सीमा स्थापित की जाय, तो इस काल के सभी हिन्दी-पत्र इसी सीमा के अन्तर्गत आ जायँगे। यह युग कितना जागरूक था, इसका पता पत्र-पत्रिकाओं का अपार साहित्य ही देता है। आज की पत्रकारिता अपनी छपाई, गेट अप, लम्बाई-चौड़ाई इत्यादि की दृष्टि से आगे भले ही निकल गयी है, पर सामग्रियों, उद्देश्यों आदि की दृष्टि से यह पीछे ही है। 'कविवचनसुधा', 'हिन्दी प्रदीप', 'ब्राह्मण', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', 'प्रेमघन', 'आनन्दकादम्बिनी' इत्यादि की कोटि के पत्र आज भी कम ही हैं। इन पत्रों ने केवल सुधारवादी आन्दोलन को ही प्रगति न दी, अपितु निबन्ध, समालोचना आदि विभिन्न गद्यरूपों के विकास में भी पूर्ण योग दिया।

अन्त में, केवल एक बात यही कही जायगी कि समग्र रूप से भारतेन्दु-काल हिन्दी-साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों के अभ्युत्थान का काल है। यद्यपि इस काल के सचेतक भारतेन्दु का शरीरान्त देश की राष्ट्रीय संस्था काँग्रेस के जन्म के साथ ही हुआ, फिर भी उन्हीं के चलाये-बताये आदर्श ही पूरी शताब्दी तक चलते रहे। मान्यताओं में परिवर्त्तन आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के आगमन के पश्चात् ही हुआ है। मोटे तौर पर प्रथम भारतीय स्वातन्त्र्य-समर से लेकर काँग्रेस के जन्म तक अनेक परिवर्त्तन हुए। साहित्य ने भी अनेक करवटें बदलीं। नये-नये मार्ग प्रशस्त हुए। वस्तुतः नवीन साहित्य का, जो जीवन को साथ लेकर चलता है, जन्म इसी समय हुआ। साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनों ही दृष्टियों से इस काल का विशेष महत्त्व है।

●

१०

हिन्दी-साहित्य का परिष्कार-काल

(द्विवेदी-युग)

[द्विवेदी-युग—परिष्कार-युग—परिष्करण—गद्य—उपन्यास—कहानी—नाटक—निबन्ध—आलोचना—कविता—कविता की प्रवृत्तियाँ—प्राचीन धारा के कवि—नवीन धारा के कवि—उपसंहार]

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में नवीन भावनाओं के अभ्युत्थान का श्रेय यदि भारतेन्दु को प्राप्त है, तो नवीन भावनाओं के परिष्कार का श्रेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को। हिन्दी-मन्दिर के संस्कार-परिष्कार में द्विवेदीजी ने अपना जीवन घिस-रिस डाला है। क्षेत्र चाहे गद्य का हो या पद्य का, सर्वत्र द्विवेदीजी ने अपना प्रभाव डाला है। भले ही वे उच्च कोटि के साहित्यकार न हों, पर उन्होंने उच्च कोटि के साहित्यकार पैदा अवश्य किये। साहित्य के क्षेत्र में वे लौह लेखनी लेकर पधारे थे। इसी से उन्होंने सर्वत्र नियमन किया है। वे कर्त्ता की अपेक्षा नियामक ही अधिक थे। किसी भी साहित्यकार की कोई भी रचना सम्भवतः उस समय तक टकसाली नहीं मानी जाती थी, जब तक द्विवेदीजी की लाल स्याही उस पर फिर न जाती थी। इसी से घुटने टेककर चलने वाली खड़ीबोली मात्र बीस-पचीस वर्षों में ही चौरस पर सरपट दौड़ने लगी और पुनः वह गगनचारी भी बन गयी। भावों का परिष्कार तो हुआ ही, सर्वाधिक परिष्कार हुआ भाषा के व्याकरण-रूप का। द्विवेदीजी के पूर्व साहित्यकार भाषा के प्रयोग में पूर्णतः स्वतन्त्र थे। जिसके जी में जो आ रहा था, लिख रहा था—'परम सुतन्त्र न सिर पर कोई' का ही बोलबाला था। ऐसे ही समय में द्विवेदीजी ने हिन्दी के परिष्कार का कार्य सँभाला और फिर सँभाला भी ऐसा कि कहीं से कोई कोर-कसर न रह जाय। आखिर वह नेतृत्व भी कैसा जिससे लोग विद्रोह करें। तभी तो हिन्दी ने भी उन विद्यावयोवृद्ध साहित्यकार के प्रति सम्मान का भाव दिखाते हुए अपने उस कालविशेष का—सं० १९५० वि० से १९७५ वि० तक का—नामकरण ही द्विवेदी-युग कर डाला है।

यह युग मूलतः गद्य का युग रहा है। सन् १९०० ई० में 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ होता है। आचार्य द्विवेदी इसका सम्पादन-कार्य

सन् १६०३ ई० में सँभालते हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में ये दोनों घटनाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। 'सरस्वती' के माध्यम से आचार्य द्विवेदी खड़ीबोली का परिष्कार प्रारम्भ करते हैं। इनके द्वारा स्थापित साहित्यादर्श ही उस काल के साहित्यकार ग्रहण करते हैं। इन्हीं से कई साहित्यकारों को प्रेरणा मिलती है। समकालीन कवियों और लेखकों पर आपकी अमिट छाप मिलती है। इसी से लोग इन्हें आचार्यरूप में तो स्वीकार करते ही हैं, उस कालविशेष को भी द्विवेदी-युग की संज्ञा देते हैं। गद्य-साहित्य की प्रमुखता के कारण आचार्य शुक्ल ने आधुनिक काल को गद्यकाल के नाम से अभिहित किया है एवं इसे तीन उत्थानों में विभाजित कर प्रवृत्तियों को निरूपित किया है। आचार्य शुक्ल ने जिसे द्वितीय उत्थान की संज्ञा दी है, वह वस्तुतः द्विवेदी-युग ही है। आचार्य शुक्ल का नामकरण सटीक नहीं कहा जा सकता। उसमें कई प्रकार की असंगतियों और भ्रान्तियों के लिए स्थान रह गया है (देखिए—'हिन्दी-साहित्य में काल-विभाजन')। वस्तुतः कर्त्ता के गत्वर व्यक्तित्व और उसकी बहुमुखी प्रतिभा के आधार पर इसे द्विवेदी-युग कहना प्रथम की अपेक्षा अधिक सटीक है। यदि कर्त्ता का आधार छोड़कर प्रवृत्तियों के आधार पर इस काल का नामकरण करना चाहें, तो इसे 'परिष्कार-काल' ही कहना अधिक उत्तम प्रतीत होता है। इस काल की समस्त प्रवृत्तियाँ इसी एक शब्द ('परिष्कार') में सिमट जाती हैं। क्षेत्र चाहे भाव का हो या भाषा का, गद्य का हो या पद्य का, शब्दों का आयात उर्दू-फारसी से हो या अँगरेजी-बँगला से, भावों में बँगला की कल्पनाशीलता हो या मराठी की इतिवृत्तात्मकता—हर क्षेत्र में इस युग के साहित्यकारों ने परिष्करण का ही कार्य किया है, जिसके अग्रणी और मार्गदर्शक रहे हैं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी। अस्तु, इसे परिष्कार-युग कहना ही श्रेयस्कर है।

इस युग का सम्बन्ध मोटे तौर पर बीसवीं सदी के प्रथम दो दशकों से ही है। खड़ीबोली को गद्य का माध्यम इसके पूर्व ही स्वीकार कर लिया गया था; पर अभी उसमें सर्वत्र अराजकता की ही स्थिति थी। व्याकरण का बन्धन किसी को मान्य नहीं था। लोग मनमानी चाल चल रहे थे। स्थानीय प्रयोगों का बाहुल्य था। लोग उर्दू, अँगरेजी, बँगला इत्यादि के शब्द अनुपयुक्त ढंग से प्रयुक्त कर रहे थे। जाने-अनजाने लोग कभी-कभी नवीन शब्द भी गढ़ने लगे थे। कतिपय साहित्यकार आर्यसमाज-आन्दोलन के प्रभाव में आकर विशुद्धता-पवित्रतावादी दृष्टिकोण अपना रहे थे। अँगरेजी, बँगला आदि से होने वाले अनुवादों की एक अपनी शैली बनती जा रही थी। हिन्दी की प्रकृत शैली में ये खप नहीं रहे थे। ऐसा लगता था मानो हिन्दी में भाषा का कोई आदर्श नहीं रह गया था। इसी समय द्विवेदीजी 'सरस्वती' का सम्पादन-भार स्वीकार करते हैं। वे हिन्दी का प्रचार

ही नहीं कर चलते, बल्कि सब पर बड़ी कड़ाई के साथ लाल स्याही भी फेर चलते हैं। भाषा के सुनिश्चित आदर्श की स्थापना कर उसे स्थिर तो बनाते ही हैं, उसके शब्दभाण्डार की वृद्धि भी कर चलते हैं। आचार्य द्विवेदी के नियमन और परिष्कार के कारण ही हिन्दी में वह नवीन अभिव्यंजना आती है जिसका पूर्ण विकास हमें छायावाद-युग में मिलता है। इस प्रकार, भारतेन्दु के समय में प्रारम्भ होने वाली सभी प्रवृत्तियाँ इस समय पूर्णतः परिष्कृत होती हैं। इस परिष्कार के परिणामस्वरूप ही "इस समय अँगरेजी की लाक्षणिकता, बँगला की कोमलकान्त-पदावली, अलंकार, उर्दू की मुहावरेदारी से समन्वित शैली के जन्म के साथ-साथ प्रेमचन्द जैसे लेखकों की कृतियों में हिन्दी की निजी शैली का विकास हुआ।" इस युग में मात्र प्रेमचन्द की शैली का ही नहीं, अनेक नयी शैलियों का भी विकास हुआ। इस युग के प्रमुख लेखकों में बालमुकुन्द गुप्त, पद्मसिंह शर्मा, गोविन्दनारायण मिश्र, सरदार पूर्णसिंह, श्यामसुन्दर दास, आचार्य शुक्ल इत्यादि के नाम लिये जाते हैं। इनलोगों ने अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुरूप आत्मकथात्मक, वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, भावात्मक, आलोचनात्मक, व्याख्यात्मक, व्यंग्यात्मक, रूपात्मक इत्यादि अनेक प्रकार की शैलियाँ विकसित कीं। इन्हीं शैलियों से मानव-मन के रहस्यों का विश्लेषण हो चला। 'हृदयेश' और 'प्रसाद' की अलंकृत भाषाशैलियाँ इसी युग में विकसित हो सकीं जिनका पूर्ण प्रत्यक्ष आगे चलकर मिलता है। सामान्य रूप से कहा जायगा कि इस युग में जितनी शैलियाँ एक ही साथ विकसित हुईं, किसी दूसरे काल में उतनी नहीं मिलतीं। हाँ, यह सत्य अवश्य है कि इनमें अनेक शैलियाँ अनुकरणमात्र थीं, इसी से वे मर गयीं, उनका आगे विकास न हुआ। मात्र वे शैलियाँ ही आज तक जीवित रहकर विकास करती गयीं जो हिन्दी की अपनी थीं और जिनमें अपनी विशेषताएँ ही अधिक थीं।

गद्य के क्षेत्र में मात्र भाषाशैली का ही विकास नहीं हुआ, अपितु अनेक प्रकार के गद्यरूप भी पनपे। विभिन्न प्रकार के गद्यरूपों का विकास भारतेन्दु-युग में ही हो चुका था। कतिपय साहित्यरूप इस समय भी विकसित हुए। पर, इस युग में भारतेन्दु-युग का ही सीधा विकास-सा हुआ है, यही कहना चाहिए। एक बात ध्यान देने वाली यह है कि भारतेन्दु-युग में बँगला वाली कल्पनाप्रधान शैली का जोर अधिक था; पर इस समय मराठी वाली इतिवृत्तात्मक शैली का विकास-प्रचार ही अधिक मिलता है। इसका एकमात्र कारण यही माना जा सकता है कि द्विवेदीजी स्वयं मराठी के मर्मज्ञ थे। साहित्य के महारथी के रूप में उन्होंने नियमन का भार ज्योंही सँभाला, मराठी की इतिवृत्तात्मक पद्धति पर विशेष बल दिया। इस कारण यही शैली आश्रय पा सकी। इसका एक दूसरा कारण भी दिया जा सकता

है कि इस युग में आचार्य द्विवेदी ने कई ऐसे व्यक्तियों को भी कवि बनाया जो मगज मारकर कविता लिख रहे थे। उनमें स्वयं काव्य की प्रतिभा का प्रायः अभाव था। ऐसे कवियों में ही श्री मैथिलीशरण गुप्त थे। इनके सम्बन्ध में तो यह प्रचलित ही है कि ये जन्मजात कवि नहीं हैं— निर्मित कवि हैं। आचार्य द्विवेदी ने खराद पर चढ़ाकर इन्हें कवि बनाया था। खैर, जाने दीजिए इन बातों को, सीधी-सी बात तो यह है कि इस युग में मराठी शैली की पद्धति पर ही इतिवृत्तात्मक शैली अधिक फूल-फल सकी है। इसी से इस युग के साहित्यकारों ने कल्पना और भावना की ऊँची उड़ानें नहीं भरी हैं— शायद क्षमता भी नहीं थी— इनके पैर धरती पर श्लीलता और पवित्रता के साथ जकड़े रहे हैं। "भारतेन्दु-युग की तुलना में इन लेखकों ने अपनी कला का शृंगार भी किया; किन्तु फिर भी उनके भाव, अनुभूति और कल्पना में गहराई और गम्भीरता की कमी थी। यह कमी छायावाद ने पूरी की। भाषा का परिमार्जन और परिष्कार इस युग में अवश्य हुआ। जो रास्ता आधुनिक हिन्दी-साहित्य ने भारतेन्दु-युग में पकड़ा, उस पर द्विवेदी-युग ने हमें आगे बढ़ाया। साहित्य के विविध रूपों का विकास और प्रस्फुटन इस युग में हुआ। किन्तु, लक्ष्य से हम अभी दूर थे।" आलोचक प्रकाशचन्द्र गुप्त के शब्दों में— "द्विवेदी-युग तैयारी का युग था। भारतेन्दुजी ने भूमि गोड़ी और बीजवपन किया। द्विवेदी-युग में अनेक तरु-लताओं से उपवन लहराने लगा था; किन्तु तृतीय उत्थान में शुक्लजी, प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी के समान उच्चतम कोटि के साहित्यकार हिन्दी ने उत्पन्न किये। इन पर किसी भी साहित्य और युग को गर्व हो सकता है। द्विवेदी-युग उस अस्त्र को चमका रहा था और पैना कर रहा था जिसका तीसरी पीढ़ी के कलाकारों ने कुशल हाथों से प्रयोग किया। हिन्दी की आधुनिक शैली का निर्माण हो चुका था और अनेक उत्कृष्ट कलात्मक प्रयास भी उसके माध्यम से हुए; किन्तु पूर्ण विजय तीसरी पीढ़ी के लेखकों द्वारा हमें मिली।" इस समय हमारी शैलियाँ ही अधिक मँजी हैं, साहित्यरूप कम। साहित्य के जितने भी रूप विकसित हुए थे, सबमें अँगरेजी की लाक्षणिकता और भावव्यंजना, बँगला की सरसता और कोमल-कान्त-पदावली, मराठी की इतिवृत्तात्मकता के साथ गम्भीरता और उर्दू का प्रवाह स्पष्ट रूप से मिल रहे थे।

इस युग में कथा-साहित्य पर मनोविज्ञान का प्रभाव पड़ने लगा था। कथा-वस्तु के साथ-साथ अन्तर्द्वन्द्व और संघर्ष के चित्रण भी होने लगे थे। उपन्यास-साहित्य में कला, विषय और उपादान तीनों दृष्टियों से भारतेन्दु-युग की अपेक्षा विकसित स्थिति मिलती है। इस समय तिलिस्मी, साहसिक, जासूसी, पौराणिक, ऐतिहासिक, चरित्रप्रधान, भावप्रधान इत्यादि उपन्यास लिखे गये हैं। इनमें

सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के निरूपणों की कमी नहीं है। इस समय के प्रमुख उपन्यासकारों में किशोरीलाल गोस्वामी, गोपालराम गहमरी, प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा, कौशिक, आचार्य चतुरसेन शास्त्री इत्यादि के नाम लिये जायँगे। प्रेमचन्द आदि की वास्तविक प्रतिभा यद्यपि बाद में दीखती है, पर इससे इनकार नहीं किया जायगा कि इनका उदय इसी काल में हुआ था।

कथा-साहित्य में उपन्यास के पश्चात् विचारणीय है कहानी। सच पूछा जाय तो कहानी का विकास इसी युग में हुआ है। भारतेन्दु-युग में तो पौराणिक कथाओं, संस्कृत की कहानियों, अँगरेजी, बँगला आदि की कहानियों के ही रूपान्तर किये जा रहे थे। हिन्दी की मौलिक कहानी के जन्म देने का श्रेय तो 'सरस्वती' को ही है। सर्वप्रथम किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इन्दुमती' में ही शिल्प की नवीनता मिलती है। इसका प्रकाशन सन् १९०० ई० में 'सरस्वती' में हुआ था। यह कहानी न तो सर्वथा मौलिक ही कही जायगी और न सर्वथा रूपान्तरित; पर इतना अवश्य स्वीकार किया जायगा कि इस पर 'टेम्पेस्ट' की छाया है। सन् १९०७ ई० में बंगमहिला की 'दुलाई वाली' कहानी का प्रकाशन हुआ। हिन्दी की यही प्रथम मौलिक कहानी है। इसके पश्चात् जयशंकर प्रसाद की कहानी 'ग्राम' (१९११ ई०), गुलेरीजी की 'सुखमय जीवन' (१९११ ई०) आदि प्रकाशित हुईं। कौशिकजी की कहानी 'रक्षाबन्धन' (१९१३ ई०), गुलेरीजी की 'उसने कहा था' (१९१६ ई०) इत्यादि इसी समय की देन हैं। इस समय के प्रमुख कहानीकारों में प्रसादजी, कौशिक, ज्वालादत्त शर्मा, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, सुदर्शन, राजा राधिकारमण, जी० पी० श्रीवास्तव, प्रेमचन्द इत्यादि के नाम आते हैं। कहानी-साहित्य ने इस युग में आशातीत उन्नति की है। पहले की कहानियाँ घटनापरक ही अधिक थीं। अब ये चरित्रप्रधान, वातावरणप्रधान, कथानकप्रधान, कार्यप्रधान, प्रतीकवादी इत्यादि अनेक प्रकार की हो गयीं। कहानियों की शैलियों में भी वैविध्य के दर्शन हुए। वर्णनात्मक, सम्भाषणात्मक, आत्मचरित, पत्र, डायरी इत्यादि अनेक प्रकार की शैलियों में कहानियाँ लिखी गयीं। कहानियों के मूलतः दो स्कूल हो गये थे—प्रसाद-स्कूल और प्रेमचन्द-स्कूल। प्रसाद-स्कूल का विकास ही पहले हुआ था। आज प्रायः इस स्कूल का अन्त हो चुका है। निश्चय ही कहानी-साहित्य ने उपन्यास की अपेक्षा शीघ्र ही अपने पैर जमा लिये थे।

नाटकों की रचना के विचार से यह काल भारतेन्दु-काल की अपेक्षा अनुर्वर रहा है। इस युग में श्रेष्ठ और मौलिक नाटकों का प्रायः अभाव-सा रहा है। पारसी रंगमंच के अनुकरण पर ही प्रायः इस युग में काम होते रहे हैं। इस समय बेताब, आगा हश्र, शैदा, जौहर, राधेश्याम इत्यादि की ही नाटक-रचनाएँ हो सकी हैं। वस्तुतः नाट्य-साहित्य का ह्रास भारतेन्दु-युग में ही प्रारम्भ हो चुका था।

साहित्यिक नाटकों के नाम पर बँगला, अँगरेजी आदि के नाटकों के अनुवाद ही हो रहे थे। अभिनय और रंगमंच पर भी पारसी ढंग का ही बोलबाला था। रामलीला और रासलीला के रंगमंच का प्रचलन देहातों में अधिक था। साहित्यिक रंगमंच की दिशा में भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने जो प्रयत्न किये थे, वे प्रायः अब समाप्त हो चुके थे। इससे नाटक का क्षेत्र अनुन्नत ही बना रहा। यों बदरीनाथ के 'कुरुवनदहन' जैसे एकाध अच्छे नाटक कभी-कभी दीख जाते थे। इसी समय राय देवीप्रसाद पूर्ण का 'चन्द्रकला भानुकार' नामक एक वृहदाकार नाटक सामने आता है। इसका कथानक पूर्णतः कल्पना पर आधारित था। यह नाटक था पूर्णतः साहित्यिक। हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार जयशंकर प्रसाद ने नाट्य-जगत् में इसी काल में प्रवेश किया। सन् १९२५ ई० तक 'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय', 'करुणालय', 'प्रायश्चित्त', 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'कामना' इत्यादि रचनाएँ सामने आ चुकी थीं। इनके नाटकों में पहली बार भारत का गौरवान्वित अतीत चित्रित हो चलता है। अनेक दृष्टियों से त्रुटिपूर्ण होने पर भी इनके नाटक नवीन दिशा का संकेत लेकर आते हैं। रंगमंचीय नाटकों की रचना के उद्देश्य से हरिकृष्ण 'प्रेमी' आदि अन्य नाटककार भी इसी युग में नाटक-रचना में प्रवृत्त होते हैं; पर उनका विकास अगले युग में ही सही रूप में हो पाता है।

निबन्धों की दृष्टि से यह काल बड़ा महत्त्वपूर्ण है। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' और 'सरस्वती' ने निबन्धों को नवजीवन दिया। इस समय तक निबन्धों के विषय, शैली और उपादान में पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी। इस युग में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, केशवप्रसाद मिश्र, सरदार पूर्णसिंह, यशोदानन्दन अखौरी, पद्मसिंह शर्मा, चतुर्भुज औदीच्य, डॉ० श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, गोविन्दनारायण मिश्र, गुलेरी, गणेशशंकर विद्यार्थी, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, पार्वतीनन्दन इत्यादि अनेक प्रमुख निबन्धकार हुए। सच पूछिए तो यह युग मूलतः निबन्धों का ही था। निबन्ध के क्षेत्र में इस युग में जितनी शक्तिमत्ता मिलती है, अन्यत्र दुर्लभ है। जितने निबन्धकार इस युग ने पैदा किये, दूसरे युग में खोजने पर भी नहीं मिलते हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास और आचार्य शुक्ल ने भी इसी युग में लिखना प्रारम्भ किया था; पर आचार्य शुक्ल ने अपनी गुरु-गम्भीरता और शुद्ध विचारात्मकता का उत्कर्ष प्रकट किया है द्विवेदी-युग के बाद ही। आचार्य द्विवेदी ने निबन्ध-लेखन को पत्रकारिता से जोड़-सा दिया है। उनके लगभग २५० निबन्ध मिलते हैं। उनकी निबन्ध-कला मधुकर-सी संग्राहक वृत्ति का परिचायक है। इसी से वे अपनी मौलिकता का दम्भ नहीं भरते हैं। प्रत्येक स्रोत का वे स्पष्ट रूप में उल्लेख कर देते हैं। द्विवेदीजी के लेखन में आधुनिक निबन्ध के तत्त्व बिखरे पड़े हैं। वास्तव में वे शिक्षक और

व्यवस्थापक ही अधिक थे, निबन्धकार कम। इसी कारण वे 'गोपियों की भगवद्भक्ति' जैसे निबन्ध ही अधिकतर लिख सके हैं। वास्तव में उन्होंने लेखन से अधिक परिष्कार ही किया है। इस युग में तीन ऐसे प्रतिभाशाली निबन्धकारों के दर्शन होते हैं, जिन्होंने हिन्दी के दुर्भाग्यवश अधिक निबन्धों की रचना नहीं की। ये हैं—सरदार पूर्णसिंह, माधवप्रसाद मिश्र और गुलेरीजी। पूर्णसिंह चार-पाँच निबन्ध हिन्दी में लिखने के पश्चात् अँगरेजी में लिखने लगे एवं मिश्रजी तथा गुलेरी जी का असमय ही देहान्त हो गया। मिश्रजी की तो यह प्रवृत्ति थी कि जब तक उन्हें कोई छेड़ता न था, लिखते ही न थे। इन तीनों में गुलेरीजी का व्यक्तित्व निबन्ध-कला की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। ये इतिहास, पुरातत्त्व और संस्कृत के पण्डित थे, फिर भी इनका ज्ञान बोझ बनकर नहीं आया था। ये पण्डित और कृतिकार एक साथ थे। इसी से ये ऐसे निबन्धों की रचना कर सके जिनमें ज्ञान का मिश्रित आधारफलक और अभिव्यंजना का उत्कृष्ट रूप प्राप्त है। 'मारेसि मोंहि कुठार उर' और 'कछुआ-धर्म' जैसे निबन्ध आज भी बेजोड़ हैं।

निबन्ध के साथ-साथ हिन्दी में मौलिक ढंग की आलोचना का विकास भी इसी युग में हो रहा था। 'नाटक' की रचना कर भारतेन्दुजी ने सैद्धान्तिक विवेचन का मार्ग दिखा दिया था। व्यावहारिक आलोचना भी उसी समय प्रारम्भ हो चुकी थी। इस युग में आलोचना का भी विकास हो चलता है। आलोचना के विकास में भी 'सरस्वती' और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का सक्रिय योग रहा है। 'सरस्वती' में तो पुस्तक-समीक्षा का स्तम्भ ही अलग से रहता था। आलोचना के क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी के अतिरिक्त डॉ० श्यामसुन्दर दास, मिश्रबन्धु, आचार्य शुक्ल, लाला भगवान दीन, राधाकृष्ण दास इत्यादि प्रमुख थे। 'देव और बिहारी', 'बिहारी और देव', 'मिश्रबन्धु-विनोद', 'विक्रमांकदेवचरितचर्चा', 'हिन्दी-नवरत्न', 'साहित्यालोचन' (१६२२ ई०) इत्यादि अनेक कृतियाँ इसी युग में सामने आ चुकी थीं। सामान्य रूप से गवेषणात्मक, सैद्धान्तिक, तुलनात्मक, व्याख्यात्मक, चिन्तप्रधान, प्रभाववादी इत्यादि अनेक प्रकार की आलोचनाएँ इसी समय विकसित हो चुकी थीं जिनका पर्याप्त विकास आगे होता है।

गद्य-साहित्य में जिस प्रकार अनेक रूप विकसित हो रहे थे, उसी प्रकार कविता में भी इस युग में बहुमुखी विकास हो रहा था। परिवर्त्तन की दृष्टि से द्विवेदी-युग में खड़ीबोली काव्य में दो परिवर्त्तन लक्षित होते हैं। इसी प्रकार काव्यधारा की शैलियों की दृष्टि से इस समय दो प्रकार की काव्यशैलियाँ प्रचलित थीं। प्रथम शैली तो प्राचीन और परम्पराभुक्त ब्रजी काव्यशैली चल रही थी, जिसमें सत्यनारायण 'कविरत्न', जगन्नाथदास 'रत्नाकर' आदि काव्य-रचना कर रहे थे और दूसरी ओर खड़ीबोली काव्यशैली खराद पर चढ़ी हुई थी। इसमें नवीन भावना

यह हुआ कि जनता की हीनता की भावना दूर हुई और पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध कम हो गयी।" यहाँ राष्ट्रीय कविताओं के सम्बन्ध में एक बात कह देना आवश्यक है कि सच्ची राष्ट्रीयता का स्फुरण केवल हिन्दुओं में ही हुआ और यही सम्भव भी था। यद्यपि हमारे अनेक नेताओं ने हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के लिए बहुत बल दिया, पर परिणाम सदा उलटा ही मिलता रहा। पिछले दिनों की बात तो जाने दीजिए, आज आजाद भारत में भी हिन्दुओं के अतिरिक्त कितने प्रतिशत सच्चे भारतीय हैं, भारत के लिए उनमें कितनी हमदर्दी है, इसे आसानी से जाना जा सकता है। अस्तु, राष्ट्रीयता का उन्मेष उन्हीं में हुआ जो भारत को अपनी मातृभूमि, पितृभूमि, कर्मभूमि, धर्मभूमि, मोक्षभूमि इत्यादि सब कुछ मानते रहे हैं। राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह भी है कि यह अभी तक बहिर्मुखी ही बनी रही, अन्तर्मुखी बनकर जीवन की गहराइयों में प्रविष्ट नहीं हो सकी। राष्ट्रीयता का प्रकाशन मूलतः दो रूपों में ही मिलता है— (१) समसामयिक घटना-चक्रों पर विचारते हुए वर्त्तमान की अवस्था के चित्रण में और (२) देश के अतीत के गौरव-गान में। 'संसार को पहले हमीं ने ही ज्ञान-शिक्षा दान दी' जैसी पंक्तियाँ अतीत का ही गौरव-गान कर चली हैं। जो लोग इस समय की राष्ट्रीयता अथवा हिन्दू-राष्ट्रीयता को एकांगी कहना चाहते हैं, वस्तुतः वे आचार्य शुक्ल की इन पंक्तियों से आँख मूँद लेते हैं— "संक्षेप में उनका अतीत-प्रेम और हिन्दुत्व उनकी मानसिक संकीर्णता का द्योतक न होकर परिस्थिति की परवशता और दुर्बलता का परिचायक है। इसीलिए काव्य की इन प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करते हुए भी वे इनके लिए उत्तरदायी नहीं हैं, क्योंकि कुछ कवि समय के साथ-साथ आगे बढ़ते गये हैं।"

इस युग की धार्मिक कविता भी संकीर्ण विचारों के घेरे से निकलकर आगे बढ़ आयी है। कोरे गुणगान और सिद्धान्तकथन के स्थान पर मानववादी आदर्शों की स्थापना ही अधिक हुई है। सत्यनारायण कविरत्न के कृष्ण मात्र रासलीला करने वाले और माखन चुराने वाले कृष्ण नहीं हैं, अपितु वे जगसेवक बन चुके हैं। कहीं-कहीं कवि रहस्यात्मक संकेत भी करने लग गया है—

> तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किससे होकर आऊँ मैं।
> सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है, कैसे भीतर जाऊँ मैं।।

सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि कवि का व्यक्तिप्रेम यहाँ विश्वप्रेम और जनसेवा में बदल गया है।

कविता में सामाजिक भावनाओं की अभिव्यक्ति भी पूर्णतः हो सकी है। वर्त्तमान जीवन के प्रायः समस्त सामाजिक वैषम्य इस समय चित्रित हो सके हैं।

विधवाविवाह, अछूतोद्धार, छुआछूत, कुलीनता का दम्भ, दहेज-प्रथा, बालविवाह इत्यादि पर अनेक कविताएँ लिखी गयी हैं; नारी-जीवन को बहुत व्यापक दृष्टिकोण से चित्रित किया गया है। रवीन्द्र के निबन्ध 'काव्येर उपेक्षिता' की प्रेरणा के कारण नारी-जीवन पर अनेक कविताएँ तो लिखी ही जाती हैं, 'यशोधरा', 'साकेत' आदि महाकाव्यों का भी प्रणयन हो चलता है। कुछ आलोचकों ने इन कवियों को भी संकीर्णता से ओतप्रोत बताया है पर वस्तुतः वैसी बात है नहीं। डॉ० केसरीनारायण शुक्ल के शब्दों में हम कहेंगे कि "इन कवियों को साम्प्रदायिक या कट्टरपन्थी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इन कवियों का हृदय उदार और मनोवृत्ति व्यापक है। ये कवि प्राचीन समाज और नवीन विचारों में सामंजस्य चाहते हैं।"

इतिवृत्तात्मकता भी इस युग की कविता की एक विशेषता ही समझिए। शृंगार के प्रति सामान्यतः साधुवृत्ति बरती गयी है। ऐसा लगता है कि नाना प्रकार के पौराणिक आख्यानों को वर्णनात्मक शैली में, गद्यात्मक शैली में उपस्थित करने का एक अजीब मोह-सा हो गया है। इसी अतिशय गद्यात्मकता की प्रतिक्रिया छायावाद-युग में मिलती हैं। इतिवृत्तात्मकता की तरह ही प्रकृतिचित्रण भी इस युग की अपनी विशेषता रही है। इस दिशा में श्रीधर पाठक, हरिऔध, गुप्तजी और रामनरेश त्रिपाठी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। कश्मीर की प्रकृति का वर्णन श्रीधर पाठक यों करते हैं—

प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति।
पल-पल पलटति वेष छनिक छवि छिन-छिन धारति॥

पाठकजी ने संवेदनात्मक और चित्रात्मक दोनों रूपों में प्रकृति के सुन्दर चित्र दिये हैं। यदि कालानुसरण की क्षमता पर विचार किया जाय तो कहा जायगा कि इस युग के कवियों में युग की बदलती भावनाओं को आत्मसात् करने की एवं कालानुसार विकसित नवीन काव्यशैलियों को ग्रहण कर लेने की अद्भुत क्षमता मिलती है। इस दृष्टि से गुप्तजी अग्रणी हैं। इन्होंने द्विवेदी-युग के अनुरूप तो काव्यरचना की ही है, छायावाद-युग की भावनाओं को आत्मसात् कर नयी काव्यधारा में भी कविताएँ की हैं। ऐसा लगता है, मानो इस युग के कवि संक्रमण-काल से गुजर रहे हैं। इस युग के कवियों पर ग़ालिब की यह उक्ति सटीक प्रतीत होती है—

चलता हूँ थोड़ी दूर हर इक तेज रौ के साथ।
पहचानता नहीं हूँ अभी राहबर को मैं॥

काव्यरूपों की दृष्टि से इसे विविधता का युग कहा जायगा। इस सम्बन्ध में डॉ० श्रीकृष्ण लाल के शब्दों में कहा जायगा कि "पच्चीस वर्षों में ही एक अद्भुत परिवर्त्तन हो गया। मुक्तकों के वन-खण्डों के स्थान पर महाकाव्य, आख्यानकाव्य,

प्रेमाख्यानक काव्य, प्रबन्धकाव्य, गीतिकाव्य और गीतों से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा। गद्य में घटनाप्रधान, चरित्रप्रधान, भावप्रधान, ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपन्यास और कहानियों की रचना हुई। समालोचना और निबन्धों की अपूर्व उन्नति हुई।"

भाषा सर्वत्र खड़ीबोली ही रही है। गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में इसने अपनी विशेषता प्रकट की। द्विवेदीजी के हाथों इसका परिष्कार-संस्कार भी हो गया। इसके अतिरिक्त पुरानी धारा में ब्रजी में भी रचनाएँ होती रहीं। पुरानी धारा के कवियों ने कवित्त और सवैयों में ही अपनी रचनाएँ की हैं। खड़ीबोली में रचना के लिए नवीन छन्दों का चुनाव किया गया। इस समय आवश्यकतानुसार हिन्दी, संस्कृत, उर्दू और मराठी के छन्दों का प्रयोग हुआ। एक ओर संस्कृत वृत्तों और हिन्दी के मात्रिक छन्दों में कविताएँ की गयीं, तो दूसरी ओर मुक्त छन्दों के भी प्रयोग चल पड़े। श्रीधर पाठक ने लावनी और उर्दू की बहरों का उपयोग स्वतन्त्रतापूर्वक किया। 'सनेही' और लाला भगवानदीन ने भी उर्दू के छन्दों के प्रयोग किये। फिर भी यही कहना उत्तम जँचता है कि कवियों ने जितना अधिक ध्यान भाषा-संस्कार की ओर दिया, उतना छन्दों की ओर नहीं। छन्द-संस्कार का अधिक कार्य हुआ है छायावाद-युग में।

ऊपर ऐसा उल्लेख किया गया है कि इस युग में ब्रजी की पुरानी काव्य-परम्परा भी चल रही थी। अस्तु, प्रथम इसी धारा के कवियों की चर्चा अपेक्षित है। इस धारा के प्रमुख कवियों में राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', नाथूराम शर्मा 'शंकर', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', जगन्नाथदास 'रत्नाकर', सत्यनारायण 'कविरत्न' इत्यादि के नाम लिये जायँगे। पूर्णजी की कविता में देशभक्ति और राजभक्ति का सम्मिलित स्वर तो है, पर अनुभूति की गहराई का प्रायः अभाव ही है। शंकरजी आर्य-समाज के आन्दोलनों से पूर्णतः प्रभावित हैं। इसी से इनकी कविता में निर्भीकता, उद्दंडता, फबतियों और फटकारों के साथ-साथ चमत्कारप्रदर्शन की भावना एवं सामयिकता का पुट ही अधिक है। 'सनेही' कवि की अपेक्षा समस्यापूर्त्ति करने वाले ही अधिक थे। इसी से उक्तिवैचित्र्य, शब्दसंघटन, चित्रात्मक कल्पना इत्यादि आप में खूब मिलते हैं। 'कविरत्न' ने 'भ्रमरदूत' में भ्रमरगीत-प्रसंग को नवीन रूप में रखने की चेष्टा की है। यहाँ यशोदा भारत-भूमि का प्रतीक बन गयी है और अँगरेजी शासन कंस है। राधा को देशसेविका के रूप में चित्रित किया गया है। कवि ने कृष्ण की प्रार्थना इसीलिए की है कि वे शीघ्र आकर कंस का नाश करें। स्पष्ट है कि इसमें आधुनिकता का रंग इतना अधिक गाढ़ा हो गया है कि सब खोखला-सा प्रतीत होता है। निस्सन्देह इन कवियों में रत्नाकर की प्रतिभा ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'उद्धवशतक' में इन्होंने प्राचीनता और नवीनता का

अपूर्व सामंजस्य उपस्थित किया है। इनमें सूरदास, नन्ददास और 'कविरत्न' की सभी विशेषताएँ एक ही साथ सिमट गयी हैं। पुरानी धारा के कवियों में इनका स्थान सर्वोत्कृष्ट है।

खड़ीबोली-काव्यधारा के कवियों में रामचरित उपाध्याय, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त इत्यादि प्रमुख हैं। ब्रजी में कविता लिखने वाले कवियों ने भी थोड़ी-बहुत रचनाएँ खड़ी-बोली में की हैं। 'राष्ट्रभारती', 'देवदूत', 'भारतभक्ति' इत्यादि अनेक कविताओं के साथ 'रामचरित्रचिन्तामणि' इनका प्रबन्धकाव्य है। भ्रमरगीत-प्रसंग को लेकर हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' जैसा महाकाव्य ही लिख डाला है। इसमें संस्कृत के वर्णवृत्त ही प्रयुक्त हैं। अपनी संस्कृतगर्भित शैली के लिए यह काव्य सदा प्रशंसनीय रहेगा। इसके अतिरिक्त कई अन्य रचनाएँ भी इनकी उत्तम बन पड़ी हैं। श्रीधर पाठक ने अधिकतर छोटी-छोटी कविताएँ ही लिखी हैं। इन्होंने गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' और 'ट्रेवलर' के अनुवाद क्रमशः 'एकान्तवासी योगी' और 'श्रान्त पथिक' के नाम से किये। 'ऊजड़ ग्राम' भी अनूदित रचना ही है। इनकी कविता में प्रकृति के सुन्दर चित्रों की खूब योजना हुई है। स्वच्छन्दतावाद का आभास भी इन्हीं की रचनाओं में मिलता है, जिसका पल्लवन आगे होता है। जिस स्वच्छन्दता-वाद का आभास पाठकजी ने दिया, वही रामनरेश त्रिपाठी में अपना पूर्ण विकास कर सका है। कल्पना पर आधारित कथानक को लेकर काव्यरचना की परिपाटी त्रिपाठीजी ने ही आरम्भ की है। 'पथिक', 'मिलन' और 'स्वप्न' ऐसी ही रचनाएँ हैं। निस्सन्देह ये छोटे-छोटे प्रबन्धकाव्य मानव-जीवन को जिस समग्रता के साथ चित्रित करने में समर्थ हैं, वह कौशल अन्यतम है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में, "इन प्रबन्धों में नर-जीवन जिन रूपों में ढालकर सामने लाया गया है, वे मनुष्यमात्र का मर्मस्पर्श करने वाले हैं तथा प्रकृति के स्वच्छन्द और रमणीय प्रसार के बीच अवस्थित होने के कारण शेष सृष्टि से विच्छिन्न प्रतीत नहीं होते।" त्रिपाठीजी ने देश-प्रेम को सर्वाधिक रसात्मक रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। राष्ट्रीय आन्दोलनों को पनपाने में इन काव्यों ने बड़ा भारी कार्य किया था। द्विवेदी-युग के समस्त कवियों में सर्वाधिक प्रतिभावान हैं श्री मैथिलीशरण गुप्त। इनकी ख्याति 'भारत-भारती' से ही हो गयी थी। यह हाली के 'मुसद्दस' की पद्धति पर लिखी गयी है। इसमें भारत के अतीत-गौरव के परिप्रेक्ष्य में वर्त्तमान की हीनावस्था का चित्रण कर भारतीयों को जगाने का प्रयत्न किया गया है। इसी पद्धति पर आगे 'हिन्दू', 'स्वर्ग-सहोदर' आदि रचनाएँ लिखी गयीं। इन्होंने 'रंग में भंग', 'जयद्रथ-वध', 'पंचवटी', 'सिद्धराज', 'यशोधरा, 'साकेत' इत्यादि प्रबन्ध-काव्यों की भी रचना की। इनकी स्थायी कीर्ति के आधार हैं 'यशोधरा' और 'साकेत'। इन दोनों की प्रेरणा

रवीन्द्र के 'काव्येर उपेक्षिता' नामक निबन्ध से ही इन्हें मिली है। प्रथम में यशोधरा का चारित्रिक उत्कर्ष दिखाया गया है और द्वितीय में उर्मिला का। प्रथम चम्पू के ढंग का काव्य है और दूसरा गीतात्मक प्रबन्ध। गुप्तजी में कालानुसरण की अद्भुत क्षमता है। उत्तरोत्तर विकसित मानदण्डों के अनुसार इन्होंने अपनी भावनाओं में भी परिवर्त्तन किया है। आचार्य शुक्लजी इन्हें 'सामंजस्यवादी कवि' कहा करते थे, चूँकि प्राचीनता के प्रति पूज्य भावना और नवीनता के प्रति उत्साह—दोनों का इनमें समभाव-सा है।

उपर्युक्त प्रमुख कवियों के अतिरिक्त सियारामशरण गुप्त, रूपनारायण पाण्डेय, वियोगी हरि, दुलारेलालजी भार्गव, पं० गिरिधर शर्मा 'नवरत्न', पं० लोचन-प्रसाद पाण्डेय, लाला भगवानदीन इत्यादि अनेक छोटे-बड़े कवि इस काल में कवि-कर्म में संलग्न थे। इनकी कविताओं में सामान्यतः एक समान प्रकार की विशेष-ताएँ ही पल्लवित हो रही थीं।

अन्त में, मात्र यही कहना उत्तम होगा कि हिन्दी-साहित्य में द्विवेदी-युग का साहित्य मूलतः आदर्शवादी साहित्य है। शृंगारकालीन आतिशय्य के विपरीत यहाँ सर्वत्र साधुवृत्ति ही थी। इससे कहीं-कहीं ऐसा भी प्रतीत होता है, मानो कविता को नहीं बल्कि कटी-कटायी नैतिकता को ही कवि पद्यमय रूप दे रहा है। यदि सुधार के चक्कर में आकर इस काल के कवि कटी-कटायी रूढ़ीवादी नैतिकता के फेरे में नहीं पड़ते तो कविता का पक्ष इतना दुर्बल नहीं होता। गद्य-साहित्य के विविध रूपों में भी इस युग की विशेषताएँ निहित हैं। सामान्यतः ये भारतेन्दुकालीन साहित्यरूपों से अधिक ऊँचे उठ गये हैं। आलोचना और निबन्ध के क्षेत्र में इस युग को सर्वाधिक सफलता मिली है। कुल मिलाकर इस युग ने परिष्कार ही अधिक किया है, मौलिक साहित्य की रचना कम। परिष्कार-संस्कार के कारण ही यह युग विशेष महत्त्व का है।

२१

हिन्दी-उपन्यास : स्वरूप और विकास

[नाम—परिभाषा—तत्त्व और वस्तु—पात्र या चरित्र—चरित्रांकनविधियाँ—कथोपकथन —देश और काल—शैली—उद्देश्य—रसवाद—वर्गीकरणदृष्टि—आदर्श और यथार्थ—हिन्दी उपन्यास का उद्गम—प्रारम्भ : 'परीक्षागुरु'—आधुनिक : 'गोदान'—तीन स्कूल—मनोविश्लेषणवाद—प्रगतिवाद—आंचलिकता]

लुई पाउण्ड ने 'कविता का भविष्य' शीर्षक निबन्ध में ऐसी शंका की है कि आगे कहीं कविता का अस्तित्व ही न मिट जाय। आज के घोर वैज्ञानिक युग में यह शंका निर्मूल नहीं कही जायगी। उपन्यास अपेक्षाकृत आधुनिक युग की देन है। प्राचीन काल में जो कहानियाँ लिखी गयी हैं, उनसे उपन्यास की कोई समता नहीं की जा सकती। उनका काम मनोरंजन अथवा उपदेश देना था। शायद ही कोई ऐसी कहानी मिले, जिसमें दोनों तत्त्वों के समावेश का एकत्र प्रयत्न नहीं किया गया हो। आधुनिक कथा-साहित्य उससे सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण लेकर चला है। इसमें प्राचीन कहानियों के उन दोनों तत्त्वों के विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। जब तक उपन्यासकार अपने वक्तव्य को कथा के रस में लपेटकर प्रस्तुत नहीं करता, तब तक उसकी रचना उपन्यास की श्रेणी में नहीं आती।

संस्कृत में वृहत् कथाओं के लिए आख्यायिका शब्द का प्रयोग मिलता है। इसकी कथा का कल्पित होना अनिवार्य माना गया है। इस दृष्टि से बाणभट्ट की 'कादम्बरी' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना प्रतीत होती है। इसमें कथा का विस्तार, वैविध्य और वैचित्र्य के साथ-साथ वर्णन का वह कौशल है जिसके लिए बाण का गद्य अप्रतिम माना गया है। लेकिन, जैसा कि संस्कृत-साहित्य की सम्पूर्ण साहित्यिक विधाओं पर लागू होता है, बाण की यह रचना भी कथा के रूप में काव्य ही है। इसमें प्रकृति का अलंकृत वर्णन, शब्दचमत्कार का व्यामोह तथा कथा की स्वाभाविकता की ओर से असावधानी इत्यादि ऐसे तत्त्व हैं, जिनकी वजह से इसे आधुनिक उपन्यासों से भिन्न श्रेणी में परिगणित करना ही सर्वथा उचित है।

वर्त्तमान 'उपन्यास' शब्द अँगरेजी के 'नॉविल' का पर्याय है। यह बात नहीं कि संस्कृत में उपन्यास शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इस शब्द का प्रयोग संस्कृत में मिलता तो है, पर भिन्न अर्थ में। वहाँ उपन्यस्त या उपवृत वाक्यों के प्रसंग में 'उपन्यास' शब्द प्रयुक्त है। यह 'सन्दर्भ', 'भूमिका' अथवा 'प्राक्कथन' के अर्थ में भी 'शकुन्तला', 'अमरुशतक' आदि में प्रयुक्त है। नाटक की प्रतिमुख सन्धि के एक उपभेद के रूप में भी उपन्यास शब्द प्रयुक्त हुआ है। उपन्यासों का स्वरूप

निम्नांकित वाक्यों में भी मिलता है—

१. 'उपन्यासः प्रसादनम्'— उपन्यास का उद्देश्य है पाठकों का प्रसादन।

२. 'उपपत्तिकृतो ह्यर्थः उपन्यासः प्रकीर्त्तितः'— किसी अर्थ को युक्तिपूर्वक उपस्थित करना।

यदि उपर्युक्त दोनों वाक्यों के सम्मिलित अर्थ को एकत्र कर उपन्यास की आधुनिक परिभाषा पर विचार किया जाय, तो स्पष्ट है कि यह परिभाषा भी उसके निकट ही होगी। 'उपन्यास' शब्द में 'उप' उपसर्ग है, जो 'न्यास' से जुड़ा है। 'उप' उपसर्ग के कई अर्थ मिलते हैं। उपनिषद् शब्द में 'उप' का अर्थ निकट या पास है। उपसभापति में 'उप' लघुतासूचक है, किन्तु उपकार में यही उत्कृष्टता का बोधक है। उपन्यास शब्द में 'उप' किस अर्थ का सूचक है, यह विचारणीय है। इस सम्बन्ध में कोई शास्त्रीय मत तो नहीं मिलता, फिर भी ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उपन्यास में कथा को उपन्यस्त करने अर्थात् क्रमवद्ध रूप में उपस्थित करने के भाव का ही यह बोधक हो सकता है। डॉ० दशरथ ओझा ने 'उप' का धर्म 'उपपत्तिकृतः' और 'न्यास' का 'स्थापन' किया है। इसी के आधार पर उन्होंने उपन्यास का अर्थ "हेतु द्वारा स्थितियों का निश्चय करना, उनमें संगति और सामंजस्य बैठाना या तार्किक ढंग से उनकी चरितार्थता या वास्तविकता की व्यंजना करना" माना है। 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग सभी भारतीय भाषाओं में नहीं होता है। नौवॅल, नवलिका, कादम्बरी इत्यादि नामों से भी इसका प्रचलन है। अँगरेजी में एक शब्द आता है 'फिक्शन' (Fiction), इसी का एक रूप है 'नॉवेल' (Novel) और दूसरा रूप 'स्टोरी' (Story)। हिन्दी में इनके लिए क्रमशः कथा, उपन्यास और कहानी शब्द चल रहे हैं।

आधुनिक हिन्दी-गद्य के विविध रूपों पर विचार करने से यह बात स्पष्ट होती है कि उपन्यास सर्वथा विलक्षण गद्यरूप है। इससे अधिक लचीला और बन्धनहीन कोई अन्य साहित्यरूप नहीं है। इस पर इस युग की पूरी छाप मिलती है। इसका आधार ही यथार्थ है। इसी से इसने धीरोदात्त और धीरललित कुल में उत्पन्न होने वालों का ही चित्रण नहीं किया, अपितु भिखारियों, डाकुओं एवं अन्य सामाजिकों के रूपों को भी आदर्शरूप में ग्रहण किया है। यह सर्वथा वैयक्तिक होकर भी सामाजिक होता है। इसमें एक पात्र भी हो सकता है और अनेक भी। एक घंटे से लेकर कई जन्मों तक की कहानियाँ भी इसमें गूँथी जा सकती हैं। यह पत्रों में भी लिखा जा सकता है और अन्यपुरुष की शैली में भी। यह पचास पृष्ठों का भी हो सकता है और हजार-बारह सौ पृष्ठों का भी। 'चन्द्रकान्ता सन्तति', 'सेवासदन', 'गोदान', 'परख', 'नदी के द्वीप', 'घेरे के बाहर' सभी उपन्यास ही कहे जाते हैं, उपन्यास ही माने जाते हैं। तात्पर्य यह है कि उपन्यास का रास्ता सँकरा नहीं है। ये यथार्थ

होकर भी काल्पनिक और काल्पनिक होकर भी यथार्थ हैं। इनमें यथास्थान विद्रोह अथवा क्रान्तदर्शी चेतना अवश्य होती है। यह आवश्यक नहीं कि इनमें चित्रित विद्रोह सदा रचनात्मक ही हो, वह ध्वंसात्मक भी हो सकता है। इसी से तो प्रत्येक अभिभावक अपनी सन्तान को उपन्यास पढ़ने से रोकता रहा है और सन्तान छिप-छिप कर इसका अध्ययन करती रही है। तात्पर्य यह कि उपन्यास का रूप इतना चंचल और विस्तृत है कि इसकी सफल परिभाषा देना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। यहाँ उसकी कुछ परिभाषाएँ दी जाती हैं—

१. "मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्रमात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।" —प्रेमचन्द।

२. "मुझे कविता और नाटक की अपेक्षा उपन्यास में 'यथार्थ' का आँकना सरल प्रतीत होता है।" —प्रसादजी।

३. "पीड़ा में ही परमात्मा बसता है। मेरे उपन्यास आत्मपीड़न के साधन हैं।" —जैनेन्द्र।

४. "उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।" —डॉ० श्यामसुन्दर दास।

उपर्युक्त परिभाषाओं पर विचारने से पता चलता है कि कोई परिभाषा दूसरे से नहीं मिलती है; पर सब में उपन्यास के कुछ-न-कुछ स्वरूप अवश्य स्पष्ट हुए हैं। वस्तुतः उपन्यास यथार्थ जीवन का कल्पनाजन्य किन्तु गद्यात्मक विवेचन है, जिसमें मानवीय जिज्ञासा और मनोवेगों के आधार पर भावों अथवा विचारों का उत्कर्ष दिखाया जाता है। ये रोचक के साथ गम्भीर तो होते ही हैं, नवीन सांस्कृतिक मूल्योद्बोधन में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान भी है।

हिन्दी-उपन्यास के तत्त्वों पर विचार करते हुए लोग वस्तु, पात्र, संवाद, देश-काल, शैली और उद्देश्य की चर्चा करते हैं। कुछ विचारक रस को सातवें तत्त्व के रूप में भी स्वीकार करते हैं।

अभी हाल तक आलोचकों का ऐसा विश्वास था कि कथावस्तु उपन्यास की आत्मा है; किन्तु हाल में लिखे गये उपन्यासों से इस विश्वास को धक्का लगा है। ऐसी बात नहीं कि अधुनातन उपन्यासों में कथावस्तु सर्वथा निषिद्ध है। पर जब हजार-बारह सौ पृष्ठों के उपन्यास की वस्तु को सिर्फ चार पंक्तियों में लिपिबद्ध कर दिया जाता है, तो इसका तात्पर्य यही है कि वस्तु अपना महत्त्व खो बैठी है। आश्चर्य की बात तो यह है कि आज ऐसे उपन्यास लिखे जा रहे हैं जिनकी वस्तु दिनों-दिन क्षीण होती जा रही है। वस्तु का यही तात्पर्य नहीं कि उपन्यासकार अपने किस सिद्धान्त अथवा रूप की अभिव्यक्ति उपन्यासों में करना चाहता है, बल्कि वस्तु से आज हमारा तात्पर्य यह होता है कि जीवन की किन विभिन्नताओं

और चढ़ाव-उतार के माध्यम से वह किन रूपों की व्याख्या करने जा रहा है। अब तक जो उपन्यास लिखे गये हैं, उनमें से अधिकांश वस्तु के विस्तार से ही जीवन के विस्तार और वैविध्य का परिचय देते रहे हैं। उपन्यास का हाल तक यही रूप रहा है; लेकिन अब जीवन के विस्तार, वैविध्य और गहराई के लिए वस्तु के विस्तार की अपेक्षा नहीं रह गयी है। अब तो यह माना जाता है कि जिसे हम जीवन का विस्तार मानते हैं, वह जीवन का एक हिस्सा भर है और बाकी कोई हिस्सा शायद ही हमारे सामने आता हो। ऐसी स्थिति में बहिर्निरूपक कथातत्त्व उपन्यास के विस्तार और आकार-प्रकार में भले ही वृद्धि करें किन्तु वे जीवन के वैविध्य, विस्तार और गरिमा का परिचय नहीं दे सकते। इस कारण व्यक्ति के अन्तर्मानस को कथा-वस्तु के रूप में ग्रहण कर, घटनाओं की उपेक्षा कर, वाह्य जीवन को अस्वीकार कर भी उपन्यासों की रचना की जा सकती है। उपन्यास की वस्तु के सम्बन्ध में यही नवीन मान्यता स्वीकृत की जा सकती है।

डॉ० श्यामसुन्दर दास ने वस्तु दो प्रकार की मानी है— शिथिल कथनात्मक और सम्बद्ध घटनात्मक। प्रथम में भिन्न-भिन्न घटनाओं का वर्णन असम्बद्ध ही रह जाता है, जब कि दूसरे में घटनाएँ एक साथ जुड़ी होती हैं। कथा-वस्तु के तत्त्वों में हम औचित्य और क्रमनिर्वाह को स्वीकार कर सकते हैं। घटनाओं के संगुम्फन पर उपन्यास में विशेष बल दिया जाता है। इस सम्बन्ध में Clayton Hamilton की मान्यता दर्शनीय है—"A simple series of events arranged along a single strand of causation may not properly be called a plot. The word 'Plot' signifies a weaving together"। उपन्यास की वस्तु में मौलिकता, रोचकता, सम्भाव्यता और संगठन आदि गुणों का होना आवश्यक है। इनके अभाव में उपन्यास निर्जीव हो जायगा। आज कथावर्णन की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं, जिनकी चर्चा शैली के अन्तर्गत ही अपेक्षित है।

वस्तु के पश्चात् उपन्यासों में दूसरा प्रमुख तत्त्व है पात्र। प्रसिद्ध उपन्यास-कार और आलोचक ई० एम० फौर्सटर ने अपनी पुस्तक 'Aspects of Novels' में चरित्रों के दो वर्ग किये हैं—सरल (Flat) और वक्र (Round)। प्रथम से उनका तात्पर्य ऐसे चरित्रों से है जिनके जीवन में कोई उतार-चढ़ाव नहीं होता है। वे जहाँ से जीवन शुरू करते हैं, बस नाक की सीध में बढ़ते जाते हैं। द्वितीय वर्ग में वे चरित्र आते हैं जिनके जीवन का विकास सुख और दुःख, आशा और निराशा, विजय और पराजय के मध्य से होने के कारण सदा वक्र रूप में होता है। नैतिक दृष्टि से सामान्यतः प्रथम वर्ग के पात्रों का ही महत्त्व होगा। एक व्यक्ति जो अपनी दुर्बलता के कारण अथवा सिद्धान्त के नाम पर अपने को समय की लहरों की प्रखर

धारा में नहीं, बल्कि किनारे पर रखकर अपना काम निकाल लेता है, अधिक महत्त्व का पात्र है। ऐसे चरित्रों का अंकन उपन्यासकार के लिए सरल होता है, क्योंकि इनके जीवन की गतिविधि सरल होती है। साहित्यशास्त्र और नैतिकता का अन्तर यहाँ पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। नीतिशास्त्री सरल चरित्रों को स्थान देगा, पर साहित्यशास्त्री वक्र चरित्रों को। इसका तात्पर्य यह नहीं कि साहित्यशास्त्री अनैतिकता को प्रश्रय देता है। सच बात तो यह है कि दृष्टिभ्रम के कारण ही यहाँ ऐसे प्रश्न उठाये जाते हैं। साहित्यशास्त्री यहाँ उपन्यासकार की कलात्मकता की, उसकी चरित्रांकनप्रतिभा की तथा उसके निर्माणकौशल की परख कर मूल्यांकन करता है। इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते कि वक्र चरित्रों का अंकन सरल चरित्रों के अंकन की तुलना में महती प्रतिभा का कार्य है। जिस उपन्यासलेखक को संश्लिष्ट जीवन की अनुभूति नहीं होती, जीवन के वैविध्य, विस्तार और विरोधों का परिचय नहीं होता, वह वक्र चरित्रांकन में सदा असफल होता है। चरित्रांकन की यह विशिष्टता उपन्यास पर ही नहीं, साहित्य के अन्य रूपों पर भी पूर्णतः लागू है। जब हम अन्य नाटककारों की अपेक्षा शेक्सपीयर और प्रसाद को महत्त्व देते हैं, तो उसका भी यही कारण है। 'वार एण्ड पीस' को संसार का अन्यतम उपन्यास मानने का कारण उसका बृहद् आकार नहीं, वक्र चरित्रांकन ही है। प्रेमचन्द के परवर्त्ती उपन्यासकारों पर विचारते हुए अज्ञेय ने लिखा है कि इनके समकक्ष कोई एक भी उपन्यासकार नहीं नजर आता है, तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि उपन्यास का मार्ग अवरुद्ध हो गया है। विकास तो हुआ ही है, पर सबका अपनी-अपनी सीमा के भीतर। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने प्रेमचन्द से अधिक मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियाँ सुलझायी हैं, दार्शनिक उपन्यासकारों ने अधिक जटिल समस्याएँ प्रस्तुत की हैं और सामाजिक उपन्यासकारों ने अधिक उग्र सामाजिक, राजनीतिक विचारों को वाणी दी है। आकार-प्रकार की दृष्टि से भी प्रेमचन्द के उपन्यासों से अधिक भारी-भरकम उपन्यास आये हैं; पर सब मिलाकर उस समग्रता का अभाव ही है जिसका एकत्र दर्शन हमें प्रेमचन्द में होता है। होरी से अधिक महत्त्वपूर्ण किसान भी मिल जाय, डॉ० खन्ना से अधिक स्वार्थी शहरी भी मिल जाय और मेहता से अधिक दार्शनिक उक्तियों को व्यक्त करने वाले पात्र भी मिल सकते हैं; किन्तु जीवन की इकाई तब तक अपूर्ण है, जब तक उसके सामाजिक अनुबन्ध को उचित अनुपात और परिपार्श्व में उपस्थित नहीं किया जाता। होरी के साथ अगर खन्ना नहीं है तो वह होरी भी नहीं रह जायगा, क्योंकि उसके जीवन का किसी-न-किसी रूप में इन सब से सम्बन्ध ही है। प्रेमचन्द की यह चरित्रांकन-कला वक्र चरित्रों की सृष्टि का आदर्श है।

सरल और वक्र के रूप में चरित्रांकन का यह भेद आत्यन्तिक नहीं है। किसी

भी चरित्र में केवल सरलता अथवा वक्रता जैसी वस्तु ही नहीं होती। सारा प्रश्न प्रधानता का है। मरेडिथ ने 'A character that does not wait for circumstances to shape it, is of small worth' कहकर भी वक्र चरित्रों को ही दाद दी है। आज ऐसे उपन्यास भी लिखे गये हैं, जिनमें दो-एक घटनाओं का पिटे-पिटाये रूप में समावेश मिलता है। वस्तुतः ये वक्रचरित्रांकन की दृष्टि से महत्त्वशून्य हैं। दूसरी ओर, कभी-कभी ऊपरी दृष्टि से सरल प्रतीत होने वाले चरित्रों में भी चरित्रांकन की सूक्ष्म वक्रता का समावेश मिलता है। यह काम सुधी विचारकों का ही है कि वे सही रूप में इनका विश्लेषण करें।

घटनाप्रधान आदि रूप में उपन्यास का जो वर्गीकरण किया जाता है, उसके साथ सरल अथवा वक्र चरित्रों का गहरा सम्बन्ध होता है, ऐसी कोई बात नहीं है। जासूसी, तिलस्मी और घटनाप्रधान उपन्यासों में वक्र चरित्र होते हैं; पर चूँकि उनका आदर्श मनोरंजन और कौतूहल होता है, इसी से चरित्रों का महत्त्व गौण हो जाता है। दूसरी ओर, सामाजिक उपन्यासों में चूँकि व्यक्ति के माध्यम से समाज के सम्बन्धों का निरूपण हो चलता है, इसलिए चरित्रांकन महत्त्वपूर्ण हो जाता है। अधिकांश उपन्यासों के एक-दो पृष्ठ को पढ़कर आप अनुमान लगा ले सकते हैं कि इनकी परिणति किस रूप में होगी। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उपन्यासकार चरित्र की वक्रता के नाम पर सर्वथा अप्रत्याशित अथवा अस्वाभाविक घटनाओं को कथात्मक रूप दे। निर्माणकौशल का महत्त्व इसी में है कि वह स्वाभाविकता की रक्षा करते हुए वक्र चरित्रों का सर्जन करे और जीवन की जटिलता और विविधता को व्यक्त करे। महान् उपन्यासों में ये तत्त्व सन्तुलित रूप में मिलते हैं।

उपन्यास-कला के विकास के साथ चरित्रांकन की कला भी विकसित हुई है। पहले का उपन्यासकार नैतिक मूल्यों को ध्यान में रखकर चरित्रांकन करता था, अब ऐसी बात नहीं रह गयी है। जीवन को समग्रता में यथासम्भव प्रस्तुत करना चूँकि उपन्यासकार का प्रयोजन है, इसलिए वह चरित्रांकन के क्षेत्र में भी नैतिकता और अनैतिकता के पचड़े में नहीं पड़ता। उदाहरणस्वरूप 'नदी के द्वीप', 'घेरे के बाहर', 'बीज-वृक्ष और छाया' इत्यादि लिये जा सकते हैं। आज उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक यानी मानव-जीवन के जितने स्तर और रूप सम्भव हैं, सभी दृष्टियों से चरित्रांकन का प्रयत्न करता है। चरित्रांकन का नया दृष्टिकोण यही है।

कुछ विचारकों ने चार प्रकार के चरित्रों को मान्यता दी है— व्यक्तिप्रधान, वर्गप्रधान, स्थिर और गतिशील। वस्तुतः सरलता और वक्रता की ही तरह प्रत्येक महान् चरित्र में व्यक्ति और वर्ग, स्थिरता और गतिशीलता का ऐसा सम्मिश्रण होता है, जिसे अलग नहीं किया जा सकता। चरित्र वर्गयुक्त होने के कारण होता

है सत्य और व्यक्तित्वयुक्त होने कारण होता है विश्वसनीय।

उपन्यासों में चरित्रांकन के लिए निम्नांकित प्रणालियाँ आज अधिक व्यवहृत होती हैं— प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रणाली के अन्तर्गत प्रकाशनविधि (By exposition), वर्णनविधि (By description), मनोविश्लेषणविधि (By psychological analysis) और पात्रों द्वारा कथनविधि (By report from other character) तथा परोक्ष प्रणाली के अन्तर्गत अभिभाषण (By speech), क्रियाकलाप (By action) और पात्रों पर प्रभाव द्वारा (By effects on character) की चर्चा होती है। प्रत्येक उपन्यास में इन समस्त विधियों का एक ही साथ निर्वाह प्रायः नहीं मिलता है, पर अधिकांश सफल उपन्यासों में ये मिलती ही हैं।

उपन्यास में संवाद का उद्देश्य है वस्तु का विकास और पात्रों का चरित्रांकन। इसके गुणों में औचित्यनिर्वाह, अनुकूल और स्वाभाविक भाषा, रोचकता, सजीवता तथा चयन-संयम के नाम लिये जाते हैं। उपन्यास-कला के विकास के साथ संवादों का महत्त्व गौण होता गया है। हालाँकि अभी तक कथोपकथनरहित उपन्यास नहीं लिखे गये हैं, फिर भी ये क्षीणता की ओर उन्मुख हैं। आरम्भिक उपन्यास घटनाप्रधान और वैचित्र्यप्रधान थे। वैसी स्थिति में कथा के रस को स्वभावतः सर्वोपरि स्थान प्राप्त था; कथावर्णन में विवरणों के साथ-साथ संवादों का अधिक समावेश रहता था। हिन्दी-उपन्यासकला ने अपने शैशव में मनोरंजकता की वृद्धि की दृष्टि से कथोपकथन की कला का विशेष परिष्कृत रूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। बाद में चलकर जब मनोवैज्ञानिक और समस्यामूलक उपन्यासों का बाहुल्य हुआ, तब भी इसकी अपेक्षा बनी रही; क्योंकि इसके अभाव में न केवल घटना का ही विकास असम्भव है, बल्कि मानसिक विकास और अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण भी असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। चूँकि आरम्भिक उपन्यासों में संवादकला काफी विकसित हो चुकी थी, इसी से बाद के महान् उपन्यासकारों के लिए यह सम्भव हो सका कि वे गिने-चुने शब्दों में अधिक से अधिक व्यंजकता भर सकें। विदेशी उपन्यासकारों में रोम्यारोलाँ और हिन्दी में जैनेन्द्रकुमार इसमें अग्रणी हैं। कथोपकथन का एक और उपयोग है, जिसका विशेष रूप से प्रयोग हिन्दी में अभी हाल में ही शुरू हुआ है। इसमें स्थलोचित और पात्रोचित भाषा के प्रयोग द्वारा 'आंचलिकता' की छौंक दी जाती है। हिन्दी में विशुद्ध रूप में आंचलिक उपन्यासों का प्रचलन आचार्य शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया' से होता है। इस दिशा में सर्वोत्तम कृति है फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आँचल'। इसमें बोलचाल का पुट देकर लेखक ने सांस्कृतिक और सामाजिक संस्कारों को संकेतित करने में अप्रत्याशित सफलता प्राप्त की है।

इस दृष्टि से, उपन्यास के समग्र रूप में कथोपकथन की महत्ता स्पष्ट है।

डॉ० श्यामसुन्दर दास ने साहित्य के विविध अंगों की चर्चा करते समय विविध प्रसंगों में देश और काल का निरूपण किया है। 'साहित्यालोचन' के ये स्थल पाश्चात्य आलोचना से अधिक प्रभावित हैं। इसके लिए वे विशेषतः हडसन और वर्सफोल्ड के ऋणी हैं। भारतीय आलोचना में शाश्वत की ही चर्चा अधिक हुई है, वातावरण अथवा देश-काल की नहीं। किसी साहित्यशास्त्री ने देश और काल की पृष्ठभूमि पर साहित्य की मीमांसा भी नहीं की है। पाश्चात्य आलोचना में भी प्रारम्भ में देश-काल-सम्बन्धी धारणा स्पष्ट नहीं थी। प्लेटो और अरस्तू के साहित्यविषयक सिद्धान्त इसके प्रमाण हैं, जिनमें अपने भ्रामक निष्कर्षों के कारण दोनों ने कलाकार की महत्ता को गौण माना है। यहाँ तक कि 'आदर्श राज्य' से उनके निष्कासन तक का विधान किया है। सत्य के सम्बन्ध में इन प्रारम्भिक विवेचकों की धारणा वस्तुमूलक और प्रमाणवादी थी। ऐसा कहा जा सकता है कि अनुभूति और कल्पना, जिनका आधुनिक आलोचना के मानदण्डों के अनुसार साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है, का स्वरूप ही उस युग में स्पष्ट नहीं हुआ था। धीरे-धीरे जब शाश्वतता का बोध हटता गया और अन्य शास्त्रों के विकास के कारण मानव-ज्ञान का आधार अधिक वैज्ञानिक हो सका, तब देश और काल के महत्त्व को स्वीकार किया गया हालाँकि जब-तब इसका उग्र रूप भी देखने को मिलता है, जिसमें मानव-ऐक्य की सारी सम्भावनाओं और आधारों को बेकार करार दिया गया है।

देश-काल-सम्बन्धी धारणा वस्तुतः मनुष्य के यथार्थ, व्यावहारिक और बोधग्राह्य स्वरूप को लेकर चलने वाली एक ऐसी धारणा है जिसमें मानव यदि कल्पना का पुतला है, तो वैसी स्थिति में भी वह कल्पना निराधार, निरर्थक अथवा अकारण नहीं होती। इस रूप में ऐसा कहा जायगा कि देश और काल जीवन का वह परिवेश है जिसके बीच मानव अपने रूप को जाने-अनजाने गढ़ता है। उपन्यास का जगत्, उसकी कल्पना आदि इस जगत् से सूक्ष्म तारों द्वारा आबद्ध होते हैं। अतः उपन्यास में देश और काल की छान-बीन उचित ही है। मानव ने देश और काल की सीमा का अतिक्रमण करना चाहा है, किन्तु यह एक कटु यथार्थ है कि उन पर वह विजय नहीं पा सका है। उपन्यास में ऐसा भी युग था, जब देश और काल के बन्धन से विच्छिन्न पात्रों का सर्जन हुआ था, जो पात्र आज के पाठक को अविश्वसनीय जँचते हैं। यदि उपन्यास का उद्देश्य पाठक को पहले अपना विश्वासपात्र बनाना है, तो देश और काल का सहारा लेना ही पड़ेगा। यहाँ तक कि तथाकथित ऐतिहासिक उपन्यासों में भी लेखक के युग की गूँज सुनाई पड़ ही जाती है।

वातावरण का उपयोग उपन्यास में कथानक की ठीक अभिव्यक्ति के लिए होना चाहिए। रीति-रिवाज, रहन-सहन, परिस्थिति इत्यादि का सही चित्रण तो अनिवार्य है ही। ऐतिहासिक उपन्यासों में देश-काल की छोटी-सी भूल सारा किया-कराया ले बैठती है। वास्तव में देश-काल में औपचारिकता का समावेश नहीं होना चाहिए। इससे साहित्य हलका हो जायगा।

यद्यपि शैली को लेकर प्राचीन काल से आज तक हमारे सामने कई वाद आये हैं, किन्तु साहित्यिक वादों ने भाव, विचार, रस या अनुभूति को महत्त्व देते हुए भी किसी-न-किसी रूप में शैली को स्वीकार अवश्य किया है। वस्तुतः शब्द और अर्थ को अलग-अलग किया ही नहीं जा सकता। कालिदास ने 'वागार्थाविव संपृक्तौ' और तुलसी ने 'गिरा-अरथ जल-बीचि सम' कहकर इसी को संकेतित किया है। अस्तु, उपन्यास-कला में शैली के विवेचन के लिए किसी अलग सिद्धान्त की उद्भावना का प्रश्न ही नहीं उठता। शैली का वक्तव्य से जो सम्बन्ध युग-द्रष्टा कवि ने बताया है, वह आज भी अपरिवर्त्तनीय है। घटनाप्रधान उपन्यास की शैली मनोवैज्ञानिक उपन्यास की शैली से स्वतः भिन्न होगी ही।

शैली का तात्पर्य कथन की प्रणाली से है। यह तीन बातों पर निर्भर करती है—कहने वाला क्या कहना चाहता है, किससे कहना चाहता है और किस रूप में कहना चाहता है। यदि कहने वाला एक ही हो, तब भी कहने वाले की पद्धति और जिससे कहा जायगा—दोनों के अन्तर के कारण शैली में अन्तर हो ही जायगा। इसीलिए एक ही उपन्यासकार के दो विचारों को व्यक्त करने वाली रचनाओं में अन्तर हो जाता है। पाठक को बदल देने पर भी रचनाशैली भिन्न होगी ही। फिर भी, शैली का जो सम्बन्ध लेखक के व्यक्तित्व से है, उसे विस्मृत नहीं किया जा सकता। चाहे जिस परिस्थिति में कोई हो, उसकी विशेषता उससे अलग नहीं होती।

कतिपय पाश्चात्य विचारक शैली को पोशाक मानते हैं। इस कथन में संशोधन करते हुए दूसरे विचारक इसे त्वचा कहते हैं। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार प्राण पर बिना संकट डाले त्वचा का शरीर से अलग किया जाना असम्भव है, उसी प्रकार अभिव्यक्ति के प्रकृत रूप को बिना विकृत किये शैली का स्थानान्तरण भी असम्भव है। इससे शैली का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। उपन्यास में समास-शैली की अपेक्षा व्यास-शैली की गुंजाइश ही अधिक है।

आज उपन्यास में कई प्रकार की शैलियाँ चल रही हैं। अधिकांश उपन्यास अन्यपुरुष की शैली में ही लिखे गये हैं; पर आत्मकथात्मक, आत्मसंस्मरणात्मक, पत्रात्मक, डायरी इत्यादि शैली में भी उपन्यास लिखे गये हैं।

उपन्यास के उद्देश्य पर विचार करते हुए लोगों ने विभिन्न प्रकार के विचार दिये हैं। उपन्यासों में मनोरंजकता आवश्यक होने पर भी सब-कुछ

वही नहीं है। आज का युग जिस प्रकार शाश्वत, सार्वकालिक, चिरन्तन इत्यादि मोहक शब्दों पर विश्वास नहीं करता है, उसी प्रकार साहित्य की अनुपयोगिता और व्यर्थता के बारे में भी सन्दिग्ध मत रखता है। अन्य शास्त्रों के जो जाने-माने विद्वान् हैं, वे भी अब साहित्य और कला की चर्चा करने लगे हैं। परिणामतः कलाकार को भी अपनी शक्ति का बोध हो गया है और अपनी कला का उत्कृष्टतम दान देने को वह उत्सुक हो उठा है। वर्त्तमान स्थिति में चाहें तो इसे ही उद्देश्यमूलकता कह सकते हैं कि एक सीमा तक इस क्षेत्र में हठवादिता लेखन का आवश्यक अंग बन गयी है।

उद्देश्यमूलकता की दृष्टि से उपन्यास महत्तर से महत्तम हो गया है। यदि कलाकार को अधिक से अधिक पाठक तक जाना है तो उसे उपन्यास का माध्यम ही आज के युग में अपनाना होगा। इसी से आज हम पाते हैं कि महान् गिने जाने वाले देश-विदेश के अधिकांश लेखक उपन्यास अवश्य लिखते रहे हैं। सच बात तो यह है कि इधर उपन्यास के क्षेत्र में विदेशों में विशेष रूप से जिन महान् प्रतिभाओं के आविर्भाव हुए हैं, अन्य क्षेत्रों में वैसी प्रतिभा का अभाव ही है। उदाहरणार्थ रस्किन, टॉलस्टाय, रोम्यारोलाँ, डास्टायवस्की, बाल्जाक इत्यादि के नाम लिये जा सकते हैं, जिनकी तुलना में इस युग में कवियों का अभाव ही है।

उद्देश्य की दृष्टि से आज कई रूपों में उपन्यास लिखे जा रहे हैं। इनमें यथार्थवादी, आदर्शवादी, प्रकृतवादी, प्रगतिवादी, प्रतिक्रियावादी इत्यादि प्रमुख हैं। समाजवादी, मार्क्सवादी आदि उद्देश्य भी हो सकते हैं। यदि आदर्शवाद का घेरा थोड़ा विस्तृत कर दें तो सभी उपन्यास इसी के अन्तर्गत आ जायँगे। उपन्यास में उद्देश्यनिरूपण मूलतः दो प्रकार से होता है। प्रथम तो मनोविश्लेषणात्मक पद्धति द्वारा लेखक जीवन की स्वयं व्याख्या करता चलता है। दूसरी पद्धति में लेखक तटस्थ हो जाता है। वह पात्रों द्वारा ही उद्देश्य की स्थापना करता चलता है अथवा घटनाओं के प्रस्थापन द्वारा कुछ परिणामों पर आकर उद्देश्य की व्यंजनात्मक अथवा परिणामी व्याख्या देता है। वास्तव में, उपन्यास में उद्देश्य का अर्थ है जीवन की आलोचना। प्रत्येक उपन्यास इसे ग्रहण तो करता ही है; हाँ, सफलता मिलना सबके लिए आवश्यक नहीं है।

उपन्यास और रस पर विचार करते हुए डॉ० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि उपन्यास के लिए रस "बिलकुल ठीक कसौटी नहीं है, तथापि इसका कुछ-न-कुछ उपयोग अवश्य हो सकता है।" आचार्य गुलाब राय ने ऐसा विचार दिया है कि रस की दृष्टि से आधुनिक उपन्यासों का अध्ययन हो सकता है। दूसरी ओर डॉ० रामविलास शर्मा ने इस बात की खिल्ली उड़ायी है और कुछ उदाहरणों से यह प्रमाणित किया है कि शास्त्रीय मर्यादा के अन्दर आधुनिक उपन्यासों का रस की

दृष्टि से विवेचन करना असंगत होगा। डॉ० शर्मा के इस कथन की सार्थकता इसी से प्रमाणित है कि रस की दृष्टि से एक भी आलोचक ने हिन्दी-उपन्यास तो क्या, किसी एक भी उपन्यास का अध्ययन नहीं प्रस्तुत किया है। वस्तुतः रस-सिद्धान्त का पल्लवन एक विशेष स्थिति और सीमा में हुआ था। आज रस-सिद्धान्त की बहुत-सी बातें अनावश्यक प्रतीत होती हैं। जब-तब इसका घेरा भी विस्तृत किया जाता रहा है। सूर का अध्ययन करते समय जब रससिद्धान्त का मार्ग संकीर्ण जँचा तब वात्सल्य को अलग से रस मानने की आवश्यकता हुई। डॉ० बड़थ्वाल ने भारतेन्दु का एक नये रस—राष्ट्रीयता—के उद्‌भावक के रूप में स्मरण किया। आज चतुरसेन 'इतिहास-रस' की बात कह गये हैं। वस्तुतः रससिद्धान्त को समयानुसार लचर बनाया जायगा तो रससिद्धान्त ही बिखर जायगा। पर, थोड़ा भिन्न रूप में सोचने पर भी एक नयी बात सामने आती है। आधुनिक काल की उपज होने के कारण उपन्यास का एक सबल गुण है मर्यादाओं का अतिक्रमण। आचार्य शुक्ल ने भी ऐसा निर्देश किया था कि समुचित परिष्कार-संस्कार के बाद रससिद्धान्त आज भी पूर्णरूप से उपयोगी हो सकता है। पर, सचाई यह है कि कहीं रस-सिद्धान्त अपना सब-कुछ खोकर एक नया रूप ही न ले बैठे। हाँ, उस स्थिति में भरत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त इत्यादि का स्मरण हम अवश्य कर सकेंगे। डॉ० नगेन्द्र ने अपने सिद्धान्तग्रन्थ 'रीतिकाव्य की भूमिका' में रस का एक अर्थ सुझाया है आनन्द। यदि इसी के आधार पर रस को 'साहित्यानन्द' का पर्याय मान लें तो सम्भवतः उपन्यास का विवेचन सम्भव है। हाँ, ऐसी अवस्था में सम्भवतः विभाव, अनुभाव और संचारी आदि का निष्कासन तो होगा ही।

वर्गीकरण पर विचार करने से ऐसा लगता है कि हिन्दी-उपन्यासों का अनेक दृष्टियों से वर्गीकरण किया जा सकता है। कथावस्तु की दृष्टि, शैली की दृष्टि, विचार की दृष्टि इत्यादि कई आधार बनाये जा सकते हैं। कथावस्तु की दृष्टि से वर्गीकरण उत्तम इसीलिए प्रतीत होता है कि उपन्यास का साधारण पाठक सामान्यतः कथानक के लिए ही उपन्यास पढ़ता है। वस्तु की दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास के कई भेद हो सकते हैं— घटनाप्रधान, सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, नीतिप्रधान, चरित्रप्रधान, समस्याप्रधान, भावनाप्रधान, रोमान्स इत्यादि। तिलस्मी, जासूसी, साहसिक इत्यादि उपन्यास भी घटनाप्रधान उपन्यास में ही गिने जायँगे। सामाजिक उपन्यासों का भी क्षेत्र विस्तृत है। आज नैतिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक इत्यादि विविध प्रकार की समस्याएँ सामाजिकता के ही घेरे में मानी जायँगी। ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की अलग-अलग श्रेणियाँ आवश्यक हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों की सीमा कालविशेष से बद्ध होती है। संसार की प्रत्येक भाषा में सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार कम ही

हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में नैतिक समस्यायों का उद्घाटन मनोविज्ञान के आधार पर किया जाता है। आज के अधिकांश मनोवैज्ञानिक उपन्यास मानसिक रोगग्रस्त व्यक्तियों के इतिहास (Case book) बनते जा रहे हैं। अन्य प्रकार के उपन्यासों की भी आये दिन बढ़ती नजर आ रही है।

शैली के आधार पर भी हिन्दी उपन्यासों के कई रूप मिलते हैं—वर्णनात्मक शैली, संलाप या सम्भाषण-शैली, आत्मकथात्मक शैली, आत्मसंस्मरणात्मक शैली, पत्रसम्भाषणात्मक शैली, पत्र-शैली, डायरी-शैली, स्वगत-शैली, हास्य-व्यंग्य-शैली, कथागर्भ-उपकथा-शैली इत्यादि। इनके उदाहरणस्वरूप क्रमशः 'चन्द्रकान्ता', 'माँ', 'सौन्दर्योपासक', 'कलंक', 'घृणामयी', 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'शेखर—एक जीवनी', 'सुखदा', 'नदी के द्वीप', 'परख', 'तपोभूमि', 'चन्द हसीनों के खतूत', 'शोणिततर्पण', 'संन्यासी', 'मूर्खराज', 'लतखोरीलाल', 'दिल्लेसुर बकरिहा' और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' हैं। इसी प्रकार, विचारादि की दृष्टि से भी उपन्यासों का वर्गीकरण किया जा सकता है।

आधुनिक हिन्दी उपन्यासों की चर्चा में अक्सर आदर्श और यथार्थ की चर्चा भी अवश्य की जाती है। प्रत्येक रचना में इन दोनों में से किसी एक का होना आवश्यक माना जाता है। कुछ ऐसी भी रचनाएँ मिलती हैं जिनमें दोनों का सन्तुलित रूप मिलता है। पूर्ववर्त्ती उपन्यासों में यथार्थ से अधिक आदर्श का ही आग्रह रहा है। आज उसकी जगह यथार्थ ने ग्रहण कर ली है। कला का निखार इनके आग्रह में तो माना जा सकता है पर दुराग्रह होने पर रचना फुटपाथी और अस्थायी हो जाती है।

आज यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि आदर्श और यथार्थ का निरूपण उपन्यासों में किस रूप में हो। इन दोनों का निर्णय चित्रण के आधार पर उतना आधारित नहीं है जितना अभिव्यक्ति के प्रकार पर। इसी बात को पश्चिमी विचारक ईवान वाट ने भी स्वीकार किया है—"The novel's realism does not reside in the kind of life it presents but in the way it presents."

हिन्दी उपन्यास में यथार्थ के चित्रित रूपों के आधार पर यथार्थवाद को कई रूपों में अध्ययन के सुविधानुसार बाँट सकते हैं। प्रमुखतः निम्नांकित रूप में यथार्थवाद उपन्यासों में मिलता है—शुद्ध यथार्थवाद, आदर्शोन्मुख यथार्थवाद, ऐतिहासिक यथार्थवाद, प्रकृत यथार्थवाद (Naturalism), समाजवादी यथार्थवाद, अतियथार्थवाद या कुत्सित यथार्थवाद और मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद। वादों, सम्प्रदायों आदि से तटस्थ रहकर निष्पक्षतापूर्वक तद्युगीन चित्रांकन ही यथार्थ का शुद्ध अंकन

माना जायगा। यथार्थ और यथार्थवाद दो वस्तुएँ हैं। यथार्थवाद का प्रेरक है यथार्थ। यथार्थ की आधारशिला पर ही यथार्थवाद की नूतन अट्टालिका खड़ी होती है। विचारकों ने शुद्ध यथार्थवाद को मात्र शैली ही नहीं, एक विचारधारा का रूप भी माना है—"Realism in art is not a method but a tendency" —(*Cazamian*: A History of English Literature)। उपन्यासों में शुद्ध यथार्थवाद के चित्रण का तात्पर्य है प्रत्यक्ष जगत का यथावत् चित्रण। इसमें किसी प्रकार का नमक-मिर्च लगाये बिना ही ज्यों-का-त्यों वर्णन होता है। हिन्दी में ऐसे निर्भीक कलाकार भी हुए हैं जिन्होंने इसी रूप में चित्र दिये हैं। हिन्दी में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के सफल निरूपक थे उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द। इसके अलावा प्रसाद, कौशिक, वृन्दावनलाल वर्मा, अंचल इत्यादि में भी आदर्शोन्मुख यथार्थ ही मिलता है। इसमें यथार्थ का चित्रण तो होता है, पर आदर्श की प्रेरणा भी होती है। निराश जीवन को आशान्वित बनाने में यह सबसे अधिक सटीक प्रमाणित होता है।

ऐतिहासिक यथार्थवाद पर विचारने से लगता है कि यथार्थवाद से इसमें भिन्नता नहीं के बराबर होती है। चूँकि वर्त्तमान ही अतीत बनता है, इसीलिए वर्त्तमान का यथार्थ ही ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में प्रकट होता है। ऐतिहासिक यथार्थवादी साहित्य में तद्युगीन यथार्थ का चित्रण हो चलता है। इसका सफल रूप ऐतिहासिक उपन्यासों में ही मिलता है। ऐतिहासिक यथार्थवाद को हिन्दी में वृन्दावनलाल वर्मा, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य चतुरसेन, यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, रघुवीर-शरण वीर इत्यादि ने चित्रित करने का प्रयत्न किया है; पर सफलता कम ही लोगों को मिली है। यशपाल और राहुलजी इसे भी मार्क्सवादी चश्मे से ही देखते रहे हैं।

समाजवादी यथार्थवाद का आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हो गया है। इसके निरूपकों ने सम्पत्ति और शोषण को ही इसका आधार बनाया है। एच० फास्ट ने 'Literature and Reality' में समाजवादी यथार्थवाद पर विचारते हुए लिखा है—"There is a difference between bourgeious and socialists realism, the one is fairly rigidly limited, the other is potentially unlimited. And again it must be repeated that this is not a matter of party or political affiliation but look and perception in the broadest sense." भले ही ये कह लें कि इनका राजनीति से सम्बन्ध नहीं है, हो सकता है कि नहीं भी हो; पर यह एक विशेष दृष्टिकोण तो माना जायगा, किन्तु विस्तृत नहीं। हिन्दी में इस यथार्थवाद के प्रमुख रूप से पोषक हैं यशपाल। नागार्जुन और रांगेय राघव का भी यही यथार्थवाद है। राहुलजी के उपन्यासों में भी इसी का स्वर है।

प्रकृत यथार्थवाद और अतियथार्थवाद में मात्रा का ही अन्तर माना

जायगा, स्वरूप का नहीं। प्रकृत यथार्थवाद का सही रूप मिलता है पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र में। हलके रूप में यह यशपाल, आचार्य चतुरसेन, जोशी और अज्ञेय में भी है। अतियथार्थवाद इसी का विकसित रूप है। प्रकृतवादियों और फ्रायड के प्रभाव के कारण इसमें वर्णन के नाम पर अतिनग्नतावाद को ही प्रश्रय मिला है। 'गर्म राख', 'मनुष्य के रूप', 'घेरे के बाहर', 'बीज, वृक्ष और छाया' इत्यादि में अतियथार्थवाद का ही पल्लवन है। वर्णन की दृष्टि से 'घेरे के बाहर' घेरे के बाहर ही हो गया है।

मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण, यथार्थवाद का एक रूप मनोवैज्ञानिक यथार्थ-वाद भी उपन्यासों में मिल रहा है। हिन्दी में इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों का यथार्थवाद ऐसा ही है। इसी प्रकार डॉ० देवराज की 'पथ की खोज' और अज्ञेयजी की 'शेखर : एक जीवनी' में भी मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद का ही विकसित रूप है। तात्पर्य यह कि आज कथासाहित्य में, मूलतः उपन्यास में, यथार्थवादी अभिव्यक्ति जोरों पर है। आदर्शवाद इसके कारण दब-सा गया है।

हिन्दी-गद्य के अन्य रूपों की तरह उपन्यास भी आधुनिक युग में विकसित हुआ है। यदि उपन्यास को यथार्थ जीवन का कल्पनाजन्य विवेचन मानकर इसके मूल उत्स को पाने का प्रयास करें, तो हम कह सकते हैं कि इसका पहला प्रयास हमें वेदों में, उर्वशी-पुरूरवा, यम-यमी, अगस्त्य-लोपामुद्रा इत्यादि की कथाओं में मिलता है। पुनः पुराण आदि से विकसित होती हुई इसकी जड़ 'कादम्बरी' और 'दशकुमार चरित' आदि में दीखती है। कथा-विकास की दृष्टि से भारत तो जगद्गुरु रहा ही है।

हिन्दी-उपन्यास के उद्भव और विकास पर विधिवत् शोधकार्य के अभाव में इसके मूल उद्गम स्रोतों के बारे में कुछ कहना दुष्कर है। आज इस सम्बन्ध में दो मत स्पष्ट रूप से दीखते हैं। एक वर्ग इसे अँगरेजी, बँगला आदि के उपन्यासों की देन मानता है तो दूसरा वर्ग इसका उद्गम विशुद्ध भारतीय मानता है। डॉ० श्रीकृष्ण लाल का मत है कि हिन्दी-उपन्यास का मूल 'तोता-मैना' और 'सारंगा-सदा-वृक्ष' जैसी कहानियों में खोजा जा सकता है। उत्तर भारत में प्रचलित मौखिक कथाओं से ही इसका विकास हुआ है। इन सब का विशेष प्रभाव 'पद्मावत' और इंशा अल्ला की 'रानी केतकी की कहानी' में मिलता है। प्राचीन काल में ये कहानियाँ मनोरंजन का साधन थीं। जाड़े की रातों में अलाव के चारों ओर बैठ कर, जंगलों में चरवाहे और ग्वाले एक साथ बैठकर मनोरंजक और कौतूहलवर्द्धक कहानियाँ सुनते-सुनाते थे। ऐसी कहानियाँ सन् १८६० ई० तक लिपिबद्ध होने लगीं। इन्हीं सब ने उपन्यास का प्रारूप तैयार किया। डॉ० श्रीकृष्ण लाल के अनुसार 'तोता-मैना' में व्यक्ति के दर्शन नहीं होते, पर 'गुलबकावली', 'छबीली भठियारिन', 'किस्सा साढ़े चार यार', 'हातिमताई' इत्यादि में व्यक्ति के दर्शन होते

हैं। इन्हीं साहसिक वीरों में दुस्साहस और प्रेम को आधार मिला है। इसी से हिन्दी उपन्यास में प्रारम्भिक दिनों में ही कई प्रकार के उपन्यासकार एक ही साथ आते हैं।

(क) देवकीनन्दन खत्री—उत्स : पद्य-बद्ध आख्यान, आल्हखंड आदि। ऐयार ही वीरकाव्यों के नायक के प्रतिरूप हैं।

(ख) किशोरीलाल गोस्वामी—उत्स : संस्कृत प्रेमकथा, प्रेमाख्यान आदि।

(ग) रामलाल वर्मा—उत्स : फारसी थियेटरों और उर्दू काव्य का प्रभाव।

(घ) श्रीनिवास दास—'परीक्षागुरु' में उपर्युक्त तीनों का सम्मिलित प्रभाव है।

विचारकों का दूसरा वर्ग उपन्यास-कला को पश्चिम से आयातित मानता है; कम-से-कम इसे बँगला से प्रभावित अवश्य स्वीकार करता ही है। श्री नलिन-विलोचन शर्मा का मत है कि "संस्कृत के प्राचीनतम काव्य से लेकर अधुनातम हिन्दी-काव्य की परम्परा अविच्छिन्न है; किन्तु हिन्दी का उपन्यास, साहित्य का वह पौधा था जिसे अगर सीधे पश्चिम से नहीं लिया गया हो तो उसका बँगला कलम तो लिया ही गया था, न कि सुबन्धु, दण्डी और बाण की लुप्त परम्परा पुनरुज्जीवित की गयी थी।" इसी के परिणामस्वरूप हिन्दी-उपन्यास अपने पैरों पर खड़ा होने के बजाय काफी दिनों तक घुटने टेकता ही रहा।

हम चाहे इसे स्वीकार करें या नहीं, परन्तु आरम्भ में ही संकेतित किया गया है कि उपन्यास आधुनिक मानव के सांस्कृतिक मूल्योद्‌बोधक हैं। अस्तु, इनमें नवीनता ही खुल-फैलकर सामने आयी है। हिन्दी में यह कलमी पौधा खूब उपजाऊ प्रमाणित हुआ। यह नवीन परिस्थिति से खूब हिल-मिल सका। विज्ञान के अधुनातम विकसित साधनों ने भी इसके फैलने में पूरा योग दिया। सामान्य पाठकों की रुचि इसने अपना ली, छापेखाने से मदद मिली और फिर यह विकस चला। हिन्दीतर सूत्रों से सदा प्रेरणा लेकर ही यह हिन्दीभाषियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सका। इसकी नवीनता तो इसी से स्पष्ट हो जाती है कि आधुनिक युग का समस्त गद्य-साहित्य प्राचीन गद्य-साहित्य की तुलना में पूर्णतः परिवर्त्तित हो गया है। गद्य के अन्य रूपों के परिवर्त्तन उपन्यास में भी लक्षित होते हैं। जरा सोचिए, जब कविता की चर्चा की जाती है तो प्रकारान्तर से आज भी आलोचक भरत अथवा अरस्तू की मान्यताओं को दुहराते ही हैं; पर उपन्यास के प्रसंग में 'कथासरित्सागर', 'कादम्बरी', 'दशकुमारचरित', 'अलिफ लैला' या 'डीकेमरान' के आदर्श के प्रतिपालन का प्रश्न उठाया ही नहीं जाता है।

किसी भी साहित्य के उपन्यास के इतिहास की तरह हिन्दी-उपन्यास का

इतिहास भी हिन्दीभाषी क्षेत्र की सभ्यता और संस्कृति के नवीन रूप के विकास का साहित्यिक प्रतिफलन है। समृद्धि और ऐश्वर्य की सभ्यता महाकाव्य में अभिव्यंजना पाती रही है। आज प्रायः ऐसा देखा जा रहा है कि जटिलता, वैषम्य और संघर्ष की सभ्यता की अभिव्यंजना का माध्यम उपन्यास बन चुका है।

काफी विवाद के पश्चात् प्रायः आज यह स्वीकार कर लिया गया है कि लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षागुरु' हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास है। इसका प्रकाशन सन् १८८१ ई० में हुआ था। इसमें प्रायः वे सभी दुर्बलताएँ हैं जो प्रायः प्रारम्भिक रचनाओं में होती हैं। स्वर उपदेशप्रधान ही अधिक है। स्वयं भारतेन्दु ने भी 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' नामक एक उपन्यास लिखा था। भले ही यह मौलिक उपन्यास न हो पर हिन्दी का प्रथम सामाजिक उपन्यास तो है ही। इस प्रथम दशक में ही तीन महत्त्वपूर्ण लेखक आते हैं—बाबू देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी और पं० किशोरीलाल गोस्वामी। इन तीनों ने तीन प्रकार की धाराएँ चलायीं। इसी युग में बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान और एक सुजान' तथा राधाकृष्ण दास का 'निस्सहाय हिन्दू' आदि प्रकाशित हुए। ये उपन्यास से अधिक दृष्टान्त ही थे। इसी से इनका प्रचलन न हुआ। सर्वप्रथम खत्रीजी ही उपन्यास-कला लेकर हिन्दी में आते हैं। इन्होंने 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता सन्तति', 'भूतनाथ', 'काजर की कोठरी', 'कुसुमकुमारी', 'नरेन्द्रमोहिनी' इत्यादि अनेक उपन्यास दिये। इन्हीं की भाषा आगे प्रेमचन्द में अपना टकसाली रूप पाती है। इनके उपन्यासों का सम्बन्ध समाज से जुट गया। प्रधानता तो इनमें सामन्तों की है, पर नैतिकता महत्त्वपूर्ण ही कही जायगी। उपन्यास-कला की दृष्टि से ये कौतूहलपूर्ण और घटनापरक ही हैं। जीवन की स्वाभाविक सरणियाँ यहाँ नहीं मिलती हैं। हाँ, हिन्दी के लिए पाठक तैयार करने में इनका सफल योग रहा है।

खत्रीजी के तिलस्मी उपन्यासों के साथ ही गहमरीजी जासूसी बाना भी उपन्यासों को देते हैं। हिन्दी में जासूसी उपन्यासों के ये प्रवर्त्तक हैं। इन्होंने 'जासूस' नाम की एक पत्रिका भी निकाली। इनके सैकड़ों उपन्यास पाठकों को प्राप्त हो सके हैं। जासूसी उपन्यासों के 'खूनी कौन', 'जमुना का खून', 'जासूस की भूल', 'जासूस की चोरी' इत्यादि नाम ही मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'चतुर चंचला', 'भानुमती', 'नए बाबू' इत्यादि कतिपय सामाजिक उपन्यासों की भी रचना की है।

तत्कालीन उपन्यासकारों में किशोरीलाल गोस्वामी की प्रतिभा अनेकोन्मुखी कही जायगी। इन्होंने तिलस्मी, सामाजिक, ऐतिहासिक इत्यादि विभिन्न प्रकार के उपन्यासों की रचना की है। 'तिलस्मी शीशमहल' एक उत्तम तिलस्मी

उपन्यास है। अन्य उपन्यासों में 'प्रणयिनी-प्रणय', 'प्रेममयी', 'तारा', 'चपला', 'तरुण तपस्विनी', 'रजिया बेगम' इत्यादि प्रमुख हैं। इनके ऐतिहासिक उपन्यास सस्ती कोटि के हैं। उनमें भाषासम्बन्धी भूलें एवं अन्य दोष अपना सिर उठाये दीखते हैं। पर, उनका विशेष महत्त्व है।

इस समय गौरीदत्त (लुधियाना), राधाचरण गोस्वामी (वृन्दावन), हरिकृष्ण जौहर, लज्जाराम शर्मा, बलदेवप्रसाद मिश्र, ब्रजनन्दन सहाय (आरा), दुर्गाप्रसाद खत्री इत्यादि ने भी मौलिक उपन्यास-रचना में योगदान किया। मौलिकता की दृष्टि से गौरीदत्त का 'देवरानी-जेठानी की कहानी' ही हिन्दी का प्रथम सामाजिक उपन्यास है। मौलिक उपन्यासों के साथ-साथ हिन्दी में अनुवादों की भी परम्परा चल रही थी। अनुवादकों में ठाकुर जगमोहन सिंह, प्रतापनारायण मिश्र, गजाधर सिंह, रामचन्द्र वर्मा इत्यादि के नाम लिये जायँगे।

सारांशरूप से कहा जायगा कि इस युग में तिलस्मी, ऐयारी, जासूसी और डकैती आदि के उपन्यासों के साथ सामाजिक और ऐतिहासिक (पौराणिक भी) उपन्यास भी लिखे गये। इन उपन्यासों का आदर्श मनोरंजन था। आज वह आदर्श नहीं रहा है। मनोरंजन की जगह धीरे-धीरे सामाजिक समस्याओं ने ले ली और आज तो उपन्यास अधिकाधिक बौद्धिक होते जा रहे हैं। मनोरंजकता, सामाजिक समस्याओं की प्रधानता और बौद्धिकता—हिन्दी-उपन्यास की विकास-यात्रा के ये तीन सोपान हैं। इन तीनों स्थितियों में सबसे बड़ी बात यही है कि मानवीय रूप का कहीं भी अतिक्रमण नहीं किया गया है। साहित्य के अन्य रूपों से उपन्यास का यही पार्थक्य है। कवि अलंकार अथवा शब्दचमत्कार के नाम पर, नाटककार अभिनय के नाम पर चाहे तो जीवन की उपेक्षा कर लेता है; किन्तु उपन्यासकार किसी भी कीमत पर ऐसा नहीं करता। उपन्यास के स्थापत्य-विकास के जो इतने क्रम परिलक्षित होते हैं, उसका रहस्य यही है कि उपन्यास के जन्म के बाद से मनुष्य के अन्तर्जगत और बहिर्जगत में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुए हैं। इस परिवर्त्तन का सच्चा परिचय हमें उपन्यास ही दे पाता है। इन परिवर्त्तनों के बीच उपन्यासकार ने समय के लग्नों पर विचरने का मौका दिया है या नहीं, इसे आप स्वयं समझ सकते हैं। इसी से उपन्यास को इसकी थोड़ी भी चिन्ता नहीं है कि शास्त्रीय मर्यादाएँ टूट रही हैं या नहीं। और, सचाई तो यही है कि अभी हिन्दी-उपन्यासों की शास्त्रीय मर्यादा बन ही कहाँ पायी है। अभी तो प्रयोग-पर-प्रयोग दीख रहे हैं। हिन्दी-उपन्यास शैशवावस्था से थोड़ा ही आगे बढ़ा है, किन्तु इसकी स्वच्छन्दता के कारण ही इसमें प्रत्येक प्रकार की गरिमा और प्रौढ़ता सन्निविष्ट होती जा रही है। आज ऐसे भी उपन्यास लिखे गये हैं जिनकी कथा कुछ घंटों तक ही सीमित है। ऐसे भी उपन्यास सामने आये हैं जिनकी कथा ज्यादा नहीं, सिर्फ सात-

आठ हजार वर्ष पुरानी है। ऐसे उपन्यास भी मिल रहे हैं जिनकी कथा दो सौ वर्षों के बाद आने वाली स्थिति का संकेत करती है। ऐसे भी उपन्यास छप चुके हैं जिन्हें आप सफर की थकान मिटाने के लिए मजे में पढ़ सकते हैं और ऐसे भी उपन्यास आ रहे हैं जिन्हें दस पृष्ठों तक पढ़ने के बाद ही 'पेनबाम' की आवश्यकता पड़ जाती है। तात्पर्य यह कि अभी प्रयोग-ही-प्रयोग हैं।

हिन्दी-उपन्यास की विकास-यात्रा को आचार्य शुक्ल ने 'उत्थान' की संज्ञा दी है। इस पर हमें पुनः सोचने के लिए बाध्य होना पड़ता है और इसकी अनुपयोगिता स्पष्ट होने लगती है। वस्तुतः 'गोदान' के रचयिता प्रेमचन्द ही हिन्दी-उपन्यासों के वर्तमान और भविष्य के निर्देशक हैं। ये उस सुमेरु-शिखर के समान हैं जिसके दोनों ओर पर्वत के उतार-चढ़ाव स्थित हैं। हमें इस सुमेरु-शिखर और इसके दोनों भागों को देखना है। इनके उपन्यासों में दो धाराएँ मिलती हैं—"प्रेमचन्द के उपन्यास आपाततः मनोरंजन के साधन भी हैं और सत्य के वाहक भी। स्वयं प्रेमचन्द के उपन्यासों में 'गोदान' इसका अपवाद है। वह मात्र सत्य का वाहक ही है।" प्रेमचन्द ने अपने युग की समस्त भावनाओं को कलात्मक रूप प्रदान किया है। इनका प्रत्येक उपन्यास एक-न-एक युग-चित्र लिये हुए है ही। इनके उपन्यासों में तत्कालीन इतिहास अपने सच्चे रूप में उतर पड़ा है। इनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है 'गोदान'। "'गोदान' हिन्दी की ही नहीं स्वयं प्रेमचन्द की भी एक अकेली औपन्यासिक कृति है, जिसके उच्चावच, विराट, विस्तार, निर्मम, तटस्थ यथार्थता और सरलता की पराकाष्ठा बन गयी शैली किसी एक भारतीय उपन्यास में नहीं मिलती।" असम्बद्धता ही इसकी विशेषता है। इसी से इसे महाकाव्यात्मक गरिमा प्राप्त है। "नदी के दो तट असम्बद्ध दीखते हैं, पर वस्तुतः असम्बद्ध नहीं रहते—इन्हीं के बीच से जलधारा बहती है। इसी तरह 'गोदान' की असम्बद्धता-सी दीख पड़ने वाली दोनों कहानियों के बीच भारतीय जीवन की विशाल धारा बहती चली जाती है। भारतीय जनजीवन का, जो एक ओर तो नागरिक है और दूसरी ओर ग्रामीण, और जो एक साथ ही अत्यन्त प्राचीन भी है और जागरण के लिए छटपटा भी रहा है, इतने बड़े पैमाने पर इतना यथार्थ चित्रण हिन्दी में ही क्यों, किसी भी भारतीय भाषा के उपन्यास में नहीं हुआ है।" प्रेमचन्द की भाषा सुबोध है। ये देवकीनन्दन खत्री के समान ही थे। ये (खत्रीजी) "निष्प्राण पर निराडम्बर गद्य लिखते थे और निस्सन्देह इसीलिए हरदिलअजीज़ बन सके थे। × × × खत्री का रहस्य सुरंग और लखलखा नहीं था, बल्कि भाषा की वह सादगी थी जो अमोघ सिद्ध होती थी।"

विकसनशील अवस्था में ही हिन्दी-उपन्यास तीन धाराओं में बँट गया। तीन प्रकार से जीवन का सत्य उद्घाटित हो चला— प्रेमचन्द स्कूल, प्रसाद स्कूल और उग्र स्कूल सामने आये। प्रेमचन्दजी के पदचिह्नों पर कौशिक, भगवतीचरण

वर्मा, आचार्य चतुरसेन, सुदर्शन इत्यादि चले। इन सब ने प्रेमचन्द की तरह ही आदर्शोन्मुख यथार्थ को सँभाला। पर इसे न भूलना चाहिए कि 'गोदान' में मात्र यथार्थ ही है, शुद्ध यथार्थ; आदर्शोन्मुख यथार्थ नहीं। यहाँ एक बात और जान लेनी चाहिए कि उपन्यास में इस यथार्थ को पनपाने का श्रेय है श्री शिवपूजन सहाय को। इन्होंने अपने उपन्यास 'देहाती दुनिया' में ही इसका मार्ग स्पष्ट किया था। हिन्दी का यह प्रथम मौलिक आंचलिक उपन्यास है। इसकी प्रवृत्ति बहुत दूर तक 'गोदान' में पनप सकी है।

प्रसादजी ने प्रेमचन्द से भिन्न प्रकृतवादी परम्परा कायम की। इन्होंने यथार्थ को सशक्त रूप में उपस्थित किया। भाषा की दुर्बोधता के कारण 'कंकाल' बहुपठित न बन सका। प्रसाद में 'सत्य का श्वासावरोध करने वाली फीलपाँवी' भाषा मिलती है। उग्रजी उपन्यास-जगत् में 'पर्चेबाज के जोश के साथ' आये। इनका साहित्य घासलेटी ही अधिक बन सका है। इनकी बदनामी तो बहुत हुई, पर महात्मा गाँधी ने इनको दाद अवश्य दी है।

उपन्यास-जगत् में प्रसाद का अनुकरण नहीं के बराबर हुआ। उग्रजी का अनुकरण तो हुआ पर उसमें सोद्देश्यता और मर्मभेदिनी शक्ति का अभाव था। प्रेमचन्द का अनुकरण आगे हुआ अवश्य, पर 'गोदान' का नहीं। राजा राधिकारमण, प्रफुल्लचन्द्र ओझा, अनूपलाल मण्डल इत्यादि प्रेमचन्द के ही मार्ग पर बढ़े।

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी-उपन्यास-साहित्य अपने शाखामय विस्तार में लग गया। एक ही साथ कई प्रवृत्तियाँ पनप उठीं। सबसे अधिक गहरी छाप मनोविज्ञान ने दी। जैनेन्द्रजी ने लिखना तो प्रारम्भ किया था प्रेमचन्द-युग में ही, पर इनका एक अपना मार्ग था। ये गाँव, खेत, खुली हवा और सामाजिक जीवन के विस्तारों को छोड़कर शहरी सभ्यता को, व्यक्ति के आन्तरिक जीवन की गुत्थियों और गहराइयों को अपने उपन्यासों का विषय बना रहे थे। इनके कथानक में चुस्ती है, पर स्वाद खट्टा-मीठा ही है। "जैनेन्द्र में वस्तुतः हिन्दी ने एक शरच्चन्द्र के अभाव की पूर्ति पा ली।" इनमें मनोविश्लेषण उतना नहीं, जितना व्यक्तिकेन्द्रण अग्रसर हुआ। 'परख', 'त्यागपत्र' तक वे शरच्चन्द्र की सीमा में थे। 'सुनीता' ने इन्हें ऊपर उठा लिया। इनकी भी भाषा में सादगी है, पर प्रेमचन्द की सादगी नहीं। अवधनारायण की 'विमाता' और कृपानाथ मिश्र की 'प्यास' अँगरेजी गद्य की प्रमुख विशेषताओं को समेटकर सामने आये। पुनः अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' में फ्रायड, क्राफ़्ट एर्विंग, हैवलॉक एलिस और लारेन्स से कुछ उपादान लेकर कोनराड की प्रत्यग्दर्शन-प्रणाली का उदाहरण रखा। 'नदी के द्वीप' एक उल्लेख्य मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास है। जोशीजी भी 'प्रेत और छाया' में मनोविश्लेषण कर चले। 'संन्यासी' उनकी उत्तम रचना है। अज्ञेय

और जोशी की तुलना में द्वारकाप्रसाद ने 'घेरे के बाहर' में मनोविश्लेषण की शास्त्रीय प्रणाली अपनायी और रोगी का इतिहास (Case book) ही तैयार कर दिया। सचमुच ये घेरे के बाहर हो गये हैं। अश्क, रांगेय राघव, वाजपेयी, अंचल इत्यादि भी लगभग इसी पद्धति पर बढ़ने को उद्यत हुए।

उपन्यासों की दूसरी परम्परा में यथार्थ का साम्यवादी रूप निखरा। यशपाल और राहुलजी इस परम्परा के सबल पोषक बने। राहुलजी की तुलना में यशपाल प्रेमचन्द के अधिक निकट हैं। नारी के प्रति इनका दृष्टिकोण उत्तम नहीं है। इनकी नारी वैष्णव के चौके की थाली नहीं, होटलों की मेज पर घूमने वाली तश्तरी बन गयी है। साम्यवादी प्रवृत्ति का समावेश रांगेय राघव, अश्क आदि में भी मिलता है। आज के कई लेखक इस प्रवृत्ति को आगे बढ़ा रहे हैं।

इस युग में यथार्थ चित्रण का एक और रूप सामने आया। ऐतिहासिक उपन्यासों में यथार्थ का ऐतिहासिक रूप उभरा। हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना तो पहले ही शुरू हो चुकी थी, पर इसे बल मिला वृन्दावनलाल वर्मा से; हिन्दी में ये ही एकमात्र सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार हुए। इधर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य चतुरसेन, राहुल, यशपाल और रांगेय राघव आदि की कई ऐसी रचनाएँ आयीं। निश्चय ही 'विराटा की पद्मिनी', माधवजी सिन्धिया', 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'दिव्या', 'मुर्दों का टीला', 'वैशाली की नगरवधू', 'चारुचन्द्रलेख' इत्यादि ऐतिहासिक उपन्यास के विकास की सबल सूचना दे रहे हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में एक नयी प्रवृत्ति विशेष रूप से पनप रही है। यह है आंचलिकता। हिन्दी में आंचलिक उपन्यास की प्रवृत्तियाँ पहले से ही जमी थीं, पर इसका समुचित प्रतिफलन हुआ है हाल में ही। हिन्दी का सर्व-प्रथम आंचलिक उपन्यास है 'देहाती दुनिया'। श्री शिवपूजन सहाय ने इसकी रचना लगभग सन् १६२२ ई० के आस-पास शुरू की थी, पर इसका प्रकाशन सन् १६२६ ई० (रामनवमी, १६८३ वि०) में हुआ। आंचलिकता का सीमित रूप प्रेमचन्द में भी मिलता है। इसका पूर्ण विकसित रूप मिलता है श्री फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल' में। आंचलिक उपन्यासों के प्रमुख लेखकों में रेणु और नागार्जुन के नाम आते हैं। इधर उदयशंकर भट्ट, बलभद्र ठाकुर, श्यामू संन्यासी, रांगेय राघव, देवेन्द्र सत्यार्थी, शिवप्रसाद रुद्र, शैलेश मटियानी, रामदरस मिश्र इत्यादि ने भी आंचलिक उपन्यासों की रचना की है। आंचलिकता का यदि सदुपयोग हुआ तो हिन्दी का शब्द-भांडार अवश्य ही अधिक फूल-फैल सकेगा, पर डर है कि सार्वभौमिकता कहीं खो न जाय। अस्तु, आंचलिकता का सार्वभौमिकता के साथ उचित सामंजस्य आवश्यक है।

हिन्दी-उपन्यासों में हास्यप्रधान उपन्यासों की कमी अभी भी खटकती है;

जी० पी० श्रीवास्तव के उपन्यास सस्ते हास्य अवश्य उत्पन्न करते हैं। 'चॉकलेट' और 'चुम्बन' जैसी रचनाओं का खुलकर विरोध हुआ था। 'लतखोरी लाल' थोड़ा अच्छा है अवश्य। निराला के उपन्यासों में भी हास्यरूप अनुकरणीय नहीं बना है। इस अभाव को पूरा करना बाकी ही है।

आधुनिक उपन्यास पर समग्र रूप से विचार करने पर एक बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी-गद्य की यह विधा अधिकाधिक बौद्धिक होती जा रही है। बिखराव भी अधिक बढ़ता जा रहा है; साथ ही विषयचयन की भी एकांगिता है। अधुनातम विषयों को लेकर उपन्यास की रचना नहीं भर हो रही है। विज्ञान तो मानो उपन्यास के विषय से बिलकुल अछूता ही है। 'नदी के द्वीप' का भुवन है तो वैज्ञानिक ही, पर उसके आवेग लारेंस की याद दिलाते हैं। गद्य का रूप इसमें निखरा अवश्य है; पर आज अतिशय भावुकता और मनोविश्लेषण के कारण उपन्यास का भविष्य उज्ज्वल नहीं है। लेखक 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' अथवा 'मैला आँचल' और 'मुर्दों का टीला' देकर काम चला रहे हैं; पर पाठक जाना चाह रहा है घेरे के बाहर। तभी तो कुशवाहा कान्त और प्यारेलाल आवारा की सनक ही माथे पर चढ़कर नाच रही है। यदि पाठक के साथ लेखक सामंजस्य स्थापित न कर सका तो निश्चय ही उपन्यास आलमारियों की शोभा ही अधिक बढ़ायेंगे, पाठक तक पहुँच न पायेंगे। हम अभी प्रेमचन्द को ही पा सके हैं, बाल्जाक और टाल्सटाय को पाना शेष ही है।

२२

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास

[उत्स—इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास—आदर्श या यथार्थ—भौगोलिक परिवेश—तत्कालीन विचार और आचार—भाषा—ऐतिहासिक सत्य—रचना के कारण—हिन्दी पर प्रभाव—हिन्दी में प्रथम मौलिक कृति से अबतक—]

मानव-प्रवृत्ति जिज्ञासामूलक है। सृष्टि के विकास में जिस दिन पृथ्वी पर मानव का प्रादुर्भाव हुआ होगा, उसी दिन से जिज्ञासा भी आयी होगी। आज भी बिना जिज्ञासावृत्ति के प्रगति असम्भव है। मूल वृत्ति जिज्ञासा के साथ रागात्मिका वृत्ति का सामंजस्य होने से मानव-मन में कौतूहल की प्रवृत्ति आती है। वह अनायास चिन्तनशील हो जाता है। कौन, क्यों, कैसे इत्यादि प्रश्नों का समाधान खोजने लग जाता है। संश्लेषण और विश्लेषण इसी के विकसित रूप हैं। सब के मूल में एक ही बात होती है—अतीत के गोप्य और रहस्यमय तत्त्वों का उद्घाटन और उसका वर्त्तमान के साथ तौलनिक अध्ययन। वर्त्तमान ही अतीत बनता है, नवीनता ही प्राचीनता का आवरण ग्रहण कर लेती है। अतीत की रेखाएँ भी मिटती और घिसती रहती हैं। सभी बातें स्पष्ट नहीं रहतीं। ज्यों-ज्यों मनुष्य का वर्त्तमान भूत में परिवर्त्तित होता जाता है—अतीत दूरस्थ होता जाता है, त्यों-त्यों उसके उद्घाटन और नवीन मान्यताओं के स्थापन के लिए उसका विश्लेषण एक गम्भीर विषय बनता जाता है। जिज्ञासा का पुतला मानव अपने पूर्वजों के रहन-सहन, चाल-चलन, सभ्यता-संस्कृति की खोज में व्यस्त होता जाता है। अतीतविषयक खोज मानव-चेतना का एक प्रमुख विषय है। इसके निमित्त कभी प्रशस्त और कभी संकीर्ण मार्ग से होकर अग्रसर होना पड़ता है। कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल तत्त्व मिलते रहते हैं। ये तथ्य सदा पूर्ण रूप में सत्य नहीं उतरते। इनकी खोज में अनुसन्धायक कभी पुलकित और कभी रोमांचित हो उठता है। सच पूछा जाय तो इतिहास ही अतीत के तत्त्वों का संरक्षक होता है। इसकी अनुभूति मात्र सहृदयों को ही प्राप्त होती है। इतिहास के भूले-बिखरे तथ्यों को उपजीव्य बनाकर कलाकार अपनी बौद्धिक तूलिका में कल्पना और अनुभूतियों का रंग भरकर एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है जिसे हम विश्वसनीय मान लेते हैं।

कथा और कहानी की कहानी मानव-विकास की कहानी के साथ संलग्न है। भारत को इसका गौरव है कि यहाँ ललित कथाएँ अति प्राचीन काल से ही लिखी जाती रही हैं। इसमें यथार्थवादी को लोग पश्चिम की देन स्वीकार करते हैं। विज्ञान और यथार्थ की आवाज चाहे जितनी भी लगायी जाय, कोई भी यथार्थवादी

कलाकार कल्पना और संवेदना की पूर्णतः उपेक्षा नहीं कर सकता। उपन्यास ही नहीं, साहित्य की प्रत्येक विधा कल्पना के अभाव में नहीं जी सकती। जिस प्रकार उपन्यास के लिए कल्पना अनिवार्य है, उसी प्रकार इतिहास के लिए भी। हाँ, यह सर्वमान्य है कि इतिहास में भौतिक तथ्यों और सत्यों का आलोड़न ही अधिक होता है। पर क्या कोई ऐसा भी इतिहास बताया जा सकता है, जिसमें कल्पना सर्वथा निषिद्ध हो। इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। इतिहास में भी कल्पना एक सीमा तक मिलती ही है, भले ही वह नियंत्रित और तथ्यसमर्थित हो। वास्तव में ऐतिहासिक कथाएँ—चाहे उपन्यास हों या नाटक—न तो पूरी तरह इतिहास हैं और न पूरी तरह कल्पना। यहाँ दोनों का उचित सामंजस्य ही अपेक्षित होता है। लेखक के संगठनौचित्य की कला यहीं देखने को मिलती है। ऐसी अवस्था में इतिहास और उपन्यास दोनों का पार्थक्य-ज्ञान आवश्यक है।

इतिहास अतीतकालीन तथ्यों, तिथियों और घटनाक्रमों का संकलन है। इसका आधार भौतिक सत्य होता है। भौतिक सत्यों को इतिहासकार कल्पना-सूत्र से गुम्फित कर देता है। इतिहासकार भौतिक सत्य को बदलता नहीं है। राम ने रावण को अथवा गोरी ने पृथ्वीराज को हराया था—ये घटनाएँ भौतिक सत्य हैं। इन्हें उलटकर नहीं लिखा जा सकता। कल्पनाधिक्य के कारण ही भारतीय पुराण विशुद्ध रूप से इतिहास की कोटि में नहीं आते, यद्यपि उनमें इतिहास की घटनाएँ हैं अवश्य। पर, पुराणों को ऐतिहासिक उपन्यास भी नहीं कहा जा सकता।

प्रायः उपन्यास इतिहास के विरोधी होते हैं। होते तो हैं ये मानव-जीवन के कल्पनाजन्य विवेचन ही; पर इनका प्रधान लक्ष्य प्रायः मनोरंजन ही होता है। इनका आधार होती है कल्पना। दूसरी ओर इतिहास का आधार है ठोस सत्य। उपन्यासों में सत्य तो होते हैं, पर ठोस सत्य नहीं; सार्वभौम किन्तु गत्यात्मक सत्य का मनोवैज्ञानिक रूप ही यहाँ अधिक स्फुट रहता है। वर्त्तमान रूप में यह सत्य कल्पित ही होता है। यदि 'चन्द्रकान्ता' से कल्पना की कमनीयता हटा दी जाय, तो उसमें रहेगा क्या? एक बात है अवश्य। सामान्य उपन्यासकार से ऐतिहासिक उपन्यासकार का दायित्व अधिक होता है। यह एक ओर इतिहास का दामन पकड़ता है तो दूसरी ओर उपन्यास का। डॉ० गोपीनाथ तिवारी के अनुसार "इतिहास के विज्ञान और उपन्यास की कला का पाणिग्रहण उसी (ऐतिहासिक उपन्यासकार) के द्वारा होता है।" प्रायः प्रत्येक भाषा में ऐतिहासिक उपन्यासकारों की कमी का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है। राखाल बाबू जैसे आदर्श कम ही मिलते हैं। वस्तुतः ऐतिहासिक उपन्यासकार पहले उपन्यासकार है और पीछे इतिहासकार। इतिहास की सचाई की रक्षा करते हुए भी ऐतिहासिक कथा को उपन्यास कहने के लायक बनाना उसी का धर्म है। सफल इतिहासकार सफल

ऐतिहासिक उपन्यासकार भी हो, यह सन्दिग्ध ही है। इसी प्रकार सफल उपन्यासकार सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार हो, यह भी आवश्यक नहीं है।

आज हमारे जीवन में विज्ञान के सर्वाधिक प्रवेश ने इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास को अलग-अलग देखने के लिए बाध्य किया है। आज से ज्यादा नहीं, सिर्फ एक हजार वर्ष पीछे चले जायँ तो यही पार्थक्य शून्य पर आ जाता है। आज हमारी तार्किक और यथार्थवादी विश्लेषणपद्धति इतनी अधिक बढ़ गयी है कि हमारे जीवन में ऐतिहासिक चिन्तन अधिकाधिक प्रवेश करता जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप हम ऐतिहासिकतावाद तक भी पहुँच चुके हैं। 'ऐतिहासिकतावाद' शब्द सर्वप्रथम सन् १८५७ ई० में प्रचलित हुआ। आज आलोचना आदि के क्षेत्र में इसकी पहुँच जमकर हो चुकी है। कहने का तात्पर्य यह कि आज प्रत्येक प्रकार के साहित्य को इतिहास की पृष्ठभूमि में देखने की प्रथा चल पड़ी है। इस कारण भी ऐतिहासिक उपन्यासों का महत्त्व बढ़ता चला जा रहा है।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास और उपन्यास दोनों की विशेषताएँ निहित होती हैं। सफल ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास के कितने अंश का योग हो, विचारकों में इस पर मतैक्य नहीं है। इस सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार मिलते हैं। प्रथम वर्ग के विचारक इतिहास को निर्वैयक्तिक और तटस्थ मानने के पक्ष में हैं। दूसरे वर्ग के विचारकों को इतिहास में तटस्थता और वस्तुपरकता चश्मा लगाकर खोजने से भी नहीं मिलती है। आदर्शवादी वर्ग अतीत को वर्त्तमान से अलग नहीं मानता। ये लोग इसे वैयक्तिक धारणाओं की अभिव्यक्ति मानते हैं। क्रोचे के अनुयायी कॉलिंगवुड की धारणा है कि "Our histories are nothing but an expression of personal point of view." ऐतिहासिक उपन्यास के मान्य विद्वान् डब्ल्यू० एच० वाल्श ने जोर देकर स्वीकार किया है कि सर्वथा निर्वैयक्तिक इतिहास आदर्श तो हो सकता है, किन्तु यथार्थ में वह पूर्णतः असम्भव है। इसके प्रतिकूल यथार्थवादी विचारक काम्ते और उसके अनुयायी इतिहास को आदर्श और कल्पना से दूर खींचकर विज्ञान की कोटि में रखते हैं। इस वर्ग के विचारकों के अनुसार, इतिहास की अनेक असम्बद्ध और अतार्किक बातों की बौद्धिक और संगत व्याख्या अवश्य होनी चाहिए। मार्क्स का चिन्तन भी कुछ ऐसा ही था। पर, सच तो यह है कि इतिहास को पूर्ण रूप से विज्ञान नहीं माना जा सकता। इतिहास मानव-प्रकृति की पूर्वनिर्मित धारणा को ही लेकर आगे चल पाता है। जर्मन दार्शनिक डिल्थे इतिहास को विज्ञान तो मानता है, पर इसकी विषयवस्तु को 'जी' सकने वाला ही बताता है। इन दो प्रकार की चिन्ताधाराओं के अनुसार हम ऐसा मान सकें तो अच्छा हो कि इतिहास विज्ञान के निकट तो पड़ता है, किन्तु वैज्ञानिकता की बन्दरमूठ अच्छी बात नहीं।

वास्तव में इतिहास मात्र घटनासंकलन, तिथिअंकन अथवा पूर्वपुरुषों की वीरगाथा ही नहीं, मानव-प्रकृति के अनुकूल सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक इत्यादि जीवन के आन्तरिक और चिरन्तन सत्यों की खोज भी है। इतिहासलेखन में तटस्थता आवश्यक है। यह जितनी आवश्यक है, उतनी ही असम्भव भी है। अस्तु, इसमें कल्पना रहेगी ही। इतना होने पर भी इतिहास को उपन्यास अथवा अन्य साहित्यिक विधाओं के रूप में कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसे विज्ञान की कोटि में ही रखना होगा।

उपर्युक्त चिन्ताधाराओं—आदर्शवादी और यथार्थवादी—का ऐतिहासिक उपन्यासकारों पर विशिष्ट प्रभाव दीखता है। उन्हीं के अनुसार कतिपय ऐतिहासिक उपन्यासकार ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास की रक्षा करना चाहते हैं। इनके प्रतिकूल दूसरे प्रकार के ऐतिहासिक उपन्यासकार ऐतिहासिक उपन्यास को उपन्यास से भिन्न न मानते हुए इतिहास की रक्षा पर तनिक भी ध्यान नहीं देते हैं। ये लोग इतिहास को उपन्यास की पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण करते हैं। इनके लिए इतिहास एक पर्दा मात्र है; असल बात है उपन्यासलेखन। यहाँ लेखक प्रचारक की बुद्धि प्राप्त कर लेता है। वह कथानक पर पाठकों का विश्वास जमाने के हेतु इतिहास को आधार बनाता है। ऐतिहासिक घटनाओं को वह अपने इच्छानुसार तोड़-मरोड़ देता है। सर वाल्टर रैले ने इसी का समर्थन करते हुए लिखा है—"The principal characters of a historical novel should not be themselves historical"—(English Novel)। ऐसी बात नहीं कि साहित्य में इस मत का पालन नहीं हुआ है; हुआ है और खूब अच्छी तरह। सुनिए स्टिडर्ड क्या कह रहे हैं—"Scott changeth the facts of history in the interest of his art"। ऐतिहासिक उपन्यासकार थैकरे ने भी ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं की व्याख्या में इतिहासविपर्यय किया ही है। इसका विरोध भी खूब हुआ। स्कौट द्वारा इतिहास की हत्या देखकर ही कुमारी ड्रियासडस्ट ने पार्सल से उसके पास एक चश्मा भेजा था, जिसका तात्पर्य था—इतिहास की घटनाओं को देखकर ही उनका वर्णन किया जाय, उनका व्यतिक्रम न किया जाय।

ऐतिहासिकता से खिलवाड़ करने वाले उपन्यास अँगरेजी में ही नहीं, हिन्दी में भी हैं। राहुल सांकृत्यायन और आचार्य चतुरसेन के उपन्यासों में ऐतिहासिक घटनाओं और पात्रों के भी यही हाल हैं। आचार्य चतुरसेन ने 'वैशाली की नगर-वधू' की भूमिका में 'इतिहास-रस' का प्रतिपादन किया है। वे इसे ही शाश्वत और सार्वभौम मानते हैं। पर, विचारणीय यह है कि 'इतिहास-रस' के समान ही यदि भूगोल-रस, विज्ञान-रस, पशुविज्ञान-रस इत्यादि का भी लोग प्रतिपादन करें,

तो साहित्य में रसों का यह जमात्र कहाँ रह सकेगा ? क्या ऐसे रसमय साहित्य सफल और निष्पक्ष रह सकेंगे ? और, फिर बेचारा रससिद्धान्त तो इतना लचर हो जायगा कि उसकी कचूमर ही निकल जायगी।

इतिहासविपर्यय का विरोध खूब हुआ है। हेनरिटा मोस्से ने अपनी पुस्तक 'A Peep at Our Ancestors' की भूमिका में घोषित किया कि "No small portion of moral culpability attaches to that writer, who for the convenience of his own pen wilfully represents as true what he knows to be false"। वास्तव में इतिहास को जान-बूझकर लँगड़ा बनाना, उस पर नया रंग फेरना एक नैतिक अपराध है। इतिहासतत्त्व के पोषकों ने पूर्ण मनोयोग से इस बात की रक्षा की है।

ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास का अन्धानुकरण भी नहीं होता है। इसमें कल्पना के पंख तो होते अवश्य हैं, किन्तु उसकी भी एक सीमा होती है। इतिहास का अपना एक निश्चित क्षेत्र होता है। उस बन्धन को तोड़कर ऐतिहासिक उपन्यासकार आगे नहीं जाता। यदि उपन्यास को मानव-जीवन का कल्पनाजन्य विवेचन भी माना जाय, तो इतना स्पष्ट है कि ऐतिहासिक उपन्यास में भी मात्र ऐतिहासिक पात्रों के जीवन के तिथिक्रमों का उल्लेख ही नहीं होता, अपितु उस युग के परिवेश में ही पात्रों का विवेचन भी होता है। हाँ, अन्य उपन्यासकारों की अपेक्षा इस सीमा में ऐतिहासिक उपन्यासकार चूँकि अधिक बँधा होता है, इसलिए उस पर उत्तरदायित्व भी अधिक होता है। जहाँ अन्य उपन्यासकार अपने को उन्मुक्त समाज के चौराहे पर खड़ाकर एक स्वच्छन्द पथ का अनुसरण करता है, वहाँ ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहास की पगडंडियों पर बढ़ते हुए आस-पास की हरियाली को ही देखता है। आस-पास की यह हरियाली होती तो कल्पित ही है, पर रहती है ससीम। इतिहासकार इसे देखता भर है, उपन्यासकार देखने के पश्चात् उस पर अपनी कल्पना की नयी उपज तैयार करता है। श्री जगदीश गुप्त के शब्दों में—"इतिहासकार केवल द्रष्टा है, उपन्यासकार द्रष्टा और स्रष्टा दोनों। अपने व्यक्तित्व को आरोपित करने का अधिकार स्रष्टा का मौलिक तत्त्व है।" इसके बावजूद ऐतिहासिक उपन्यासकार और इतिहासकार के उद्देश्य में लगभग छत्तीस का रिश्ता नहीं है। उपन्यासकार के लिए ऐतिहासिक तत्त्व शोषक नहीं, पोषक ही होते हैं। जो उपन्यासकार तिथियों और घटनाक्रमों को ही विशेष महत्त्व देते हैं, उनकी रचनाएँ उपन्यास न होकर उपन्यास का कंकालमात्र होती हैं। ऐसी अवस्था में विभिन्न स्रोतों में की गयी नयी उपलब्धियों और आधुनिकतम प्रगति से तटस्थ होकर ऐतिहासिक उपन्यास नहीं लिखे जा सकते। इनके अभाव में उपन्यास के पात्र सजीव होकर भी पाठकों में रसबोध नहीं करा सकेंगे। सच बात तो यह है कि जिस काल से

ऐतिहासिक उपन्यास का सम्बन्ध है, उसकी घटनाओं का सूत्र मिलाने के लिए कल्पना का पल्ला पकड़ा जाय, किन्तु भौतिक सत्यों—ऐतिहासिक घटनाओं—की उपेक्षा न की जाय। वही तथ्य सत्य बन सकता है जो बौद्धिक होने के साथ-साथ सम्भावित और रागात्मक भी है। इसके लिए हमें न तो आचार्य चतुरसेन के समान 'इतिहास-रस' का रसिक ही बनना होगा और न राहुलजी की तरह प्रचारक ही। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की यह चेतावनी—"ऐतिहासिक उपन्यास के विवेचन में छोटी-सी गलती भी हलुए के कंकड़ की भाँति सारा मजा किरकिरा कर देती है"—हमें सदा याद रखनी चाहिए। इसका कारण है कि ऐतिहासिक उपन्यास में "अतीतकालीन पात्र, वातावरण, और घटनाओं के ज्ञात तथ्यों को कल्पना से मांसल और जीवन्त बनाकर" ही रखा जाता है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में भारतीय जीवन के पिछले तीन-चार हजार वर्षों से विषय का चुनाव हो सकता है। इतना प्राचीन इतिहास शायद ही किसी देश का हो। इस पर्याप्त समय में कुछ ऐसे भी काल रहे हैं, जहाँ ज्ञात तथ्यों का अभाव-सा है। कुछ ऐसे भी काल हैं, जिनकी सामग्रियों पर मतैक्य नहीं है—निष्कर्ष के लिए अभी खोज ही चल रही है। कुछ ऐसे भी काल हैं, जिनकी सचाई पर विदेशी इतिहासकारों ने अपना उल्लू सीधा करने के लिए पर्दा डाल दिया है। अस्तु, हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकार के सामने यह भी एक बड़ी समस्या है कि वह किस काल से सामग्री का चुनाव करे। ऐतिहासिक उपन्यासों में विषयसामग्री का चुनाव भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। पूर्णज्ञात, अर्द्धज्ञात अथवा अत्यल्पज्ञात घटनाओं और सामग्रियों को लेकर भी ऐतिहासिक उपन्यास रचे जा सकते हैं। यदि ऐतिहासिक उपन्यासकार संगुम्फन-कला में निपुण है—साहित्यिक भुलावे और ऐतिहासिक छल से काम निकालना जानता है—तो वह किसी प्रकार की सामग्री लेकर भी सफल ऐतिहासिक उपन्यास की रचना कर लेगा। सफल उपन्यासकार इस चेतना में अग्रणी हो जायगा। सफल उपन्यासकार के अलावे यदि वह इतिहास का निष्णात विद्वान् भी रहा तो अपनी रचना को वह शोध का विषय भी बना सकेगा। प्रसादजी जैसे ऐतिहासिक नाटककार मात्र नाटक ही नहीं लिखते, अपितु इतिहास में भी शोध के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। यदि ऐतिहासिक उपन्यासकार भी ऐसे ही अपने इतिहास-सम्बन्धी ज्ञान को नयी दिशा देकर उपन्यास की रचना करें तो समाज, राष्ट्र और पाठक को वैसे लेखकों पर गर्व ही होगा। प्रसादजी की 'इरावती' यदि अधूरी न रहती, तो निश्चय ही संसार के इने-गिने ऐतिहासिक उपन्यासों में स्थान प्राप्त कर लेती।

अल्पज्ञात तथ्यों के आधार पर ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन दुष्कर कार्य है। इसी से हिन्दी में प्रागैतिहासिक काल से सम्बन्धित कुछ कहानियाँ तो अवश्य मिलती हैं, पर उपन्यासों का अभाव ही है। हिन्दू-काल में ज्ञात तथ्यों का प्रायः

अभाव-सा ही है। ऐतिहासिक उपलब्धियाँ कम होने पर कल्पना का रंग गहरा होता है और इसके विपरीत ऐतिहासिक उपलब्धियों की पूर्णता में कल्पना का दामन कम पकड़ना पड़ता है। ऐतिहासिकता के अभाव में लेखक कल्पना से ही रचना को विश्वसनीय बनाता है। ऐतिहासिकता के पर्दे में जहाँ लेखक बेतुकी कल्पना का उपयोग करता है, वहाँ पाठक उसे क्षमा नहीं करता। ऐतिहासिक उपन्यासों में तत्कालीन समाज का चित्रण उसी के अनुरूप होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का यह कथन द्रष्टव्य है —"किसी ऐतिहासिक उपन्यास में यदि बाबर के सामने हुक्का रखा जायगा, गुप्तकाल में गुलाबी और फिरोजी रंग की साड़ियाँ, इत्र, मेज पर सजे गुलदस्ते, झाड़फानूस लाये जायँगे, सभा के बीच खड़े होकर व्याख्यान दिये जायँगे और उनपर करतलध्वनि होगी, बात-बात में धन्यवाद, सहानुभूति ऐसे शब्द तथा सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना, ऐसे फिकरे पाये जायँगे तो काफी हँसने वाले और नाक-भौं सिकोड़ने वाले मिलेंगे।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कल्पना में ऐतिहासिक यथार्थ अथवा तत्कालीन चित्रण का पूरा ध्यान होना चाहिए। ऐतिहासिक उपन्यासों में हमें ऐसे समाज का चित्रण करना होता है जो लुप्त तो हो चुका है, पर उसके पथचिह्नों के अवशेष बचे हैं। इन पथचिह्नों और अवशेषों को सही रूप में समझने वालों का ही दायित्व है कि वे ऐतिहासिक उपन्यास की रचना करें। निश्चय ही जिसमें प्रातिभ ज्ञान जितना ही अधिक होगा, उसकी रचना उतनी ही सफल होगी। यदि कोई कलाकार महाभारतकालीन पात्रों को आधुनिक पतलून में उपस्थित करे, तो उसकी हँसी तो होगी ही। रानी लक्ष्मीबाई और अँगरेजों के युद्ध में यदि कृमियुद्ध और रॉकेटों की चर्चा की जाय, तो वह भोंड़ा प्रयोग ही कहा जायगा। ऐतिहासिक उपन्यासकार का अपने पात्रों के साथ उतना ही सम्बन्ध है, जितना इतिहासकार का। इतिहासकार केवल यथातथ्य वर्णन दे सकता है, किन्तु उपन्यासकार कथा में मानव के शारीरिक विकार; मानसिक भाव; शृंगार, वीर आदि रस; परिस्थितियों के अनुसार गोप्य तथ्य इत्यादि का उद्घाटन करता है। यह कभी-कभी उसके आन्तरिक और बाह्य परिवर्त्तनों को महत्त्व देता हुआ उसकी शारीरिक और मानसिक विकृतियों का भी अध्ययन प्रस्तुत करता चलता है। स्रष्टा होने के कारण उपन्यासकार सम्भावित तथ्यों का निर्माण भी कर सकता है, पर इतिहासकार को ऐसी छूट नहीं है। इतिहासकार बाहरी लक्षणों पर ही अधिक बल देता है, किन्तु उपन्यासकार आन्तरिक लक्षणों पर।

साहित्यकारों में ऐतिहासिक उपन्यासकारों की स्थिति सबसे अजीबोगरीब होती है। भले ही कहानी छोटी हो, निबन्ध रूखे हों, कविता रंगीन पंखों के

सहारे उड़ती हों, नाटकों के पात्र बोलते हों, पर ऐतिहासिक उपन्यासों की अपेक्षा उनमें अधिक छूट होती है। ऐतिहासिक उपन्यासकार स्वच्छन्द होते हुए भी बेड़ियों में आबद्ध होता है। वह जहाँ भी चलता है, साथ में नौ हाथ का ऐतिहासिक पगहा लिये चलता है। इसका निर्वाह उसके लिए आवश्यक होता है।

मार्क्सवादियों ने इतिहास को वर्गपरकता की दृष्टि से देखने का काम प्रारम्भ किया है। इनके मार्ग को ग्रहण करते हुए कतिपय ऐतिहासिक उपन्यासकार अपनी रचना को उसी रूप में उपस्थित कर रहे हैं। यदि वर्गपरकता का चित्रण स्वस्थ रूप में उपस्थित किया जाता है, कारणों का निरूपण समुचित रूप में हो चलता है, तब तो ऐसी रचनाएँ सफल बनकर सामने आती हैं; किन्तु मात्र वर्गपरकता के लिए ही वर्ग का विकृत चित्र उपस्थित किया जाता है तो बात दूसरी हो जाती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक डारविन का विकासवाद भी लगभग वर्गपरकता की भावना को ही बल देता है। हिन्दी में इस सिद्धान्त पर यशपाल की सफल कृति 'दिव्या' का नाम लिया जायगा। इसमें वर्गपरकता का चित्रण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ही है। है तो यह संयत और सफल, पर यत्र-तत्र लेखक की भावना स्पष्ट और उग्र हो उठी है। इसमें यशपालजी ने ऐतिहासिकता के नाम पर कल्पना का पूरा-पूरा उपयोग किया है। कल्पनाधिक्य के कारण ही कुछ लोग इसे ऐतिहासिक रोमांस तो कहना चाहते हैं, पर ऐतिहासिक उपन्यास नहीं।

वही कथा-साहित्य ऐतिहासिक कहा जायगा जिसमें इतिहास का थोड़ा भी प्रामाणिक अन्तःसाक्ष्य मिलता है। शेष को ऐतिहासिक कथा-साहित्य की संज्ञा नहीं मिलेगी। ऐतिहासिक उपन्यासों की छोटी-सी भूल बहुत बड़ी भूल ही होगी। इसी से ऐतिहासिक उपन्यासलेखन कष्टसाध्य है। राहुल सांकृत्यायन ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि ऐतिहासिक उपन्यासकारों को यूनिवर्सिटी के लिए थीसिस लिखने वाले छात्रों से तनिक भी कम मेहनत नहीं पड़ती है। ज्ञात तथ्यों के आधार पर प्रारूप तैयार करना और पुनः उन्हें संगुम्फित करना—इतिहास और उपन्यासकला का उचित सामंजस्य—ही ऐतिहासिक उपन्यास के प्राण हैं। भूलों से बचने के लिए ऐतिहासिक उपन्यासकार को इतिहासविद् होना ही चाहिए। उचित अध्ययन और अभ्यास के अभाव में रचना दो कौड़ी की हो जायगी।

ऐतिहासिक उपन्यासकार को भौगोलिक परिवेश का भी ज्ञान आवश्यक है। बिना भूगोल का ज्ञान प्राप्त किये वर्णनीय स्थान, उनकी दिशा एवं दूरी आदि के गलत प्रयोग भी सम्भव हैं। इसके निमित्त तत्सम्बन्धी मानचित्रों का भी उपयोग आवश्यक है। यों तो किसी भी साहित्य के लिए देश-काल का बड़ा महत्त्व है, किन्तु ऐतिहासिक उपन्यासों में यह विशिष्टता की अपेक्षा रखता है।

शिमला और दार्जिलिंग जैसे स्थानों में यदि कोई गर्मी में भी लू लगने की बात कहे तो वह अविश्वसनीय ही होगी। इसी प्रकार विषुवत्-रैखिक प्रदेशों के निवासियों के गोरे रंग, लम्बी कद की चर्चा करें, तो उपहासास्पद बात ही होगी। तात्पर्य यह कि ऐतिहासिक उपन्यासों में भौगोलिक परिवेश का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भौगोलिक परिवेश के पश्चात् विचारणीय है वेशभूषा। ऐतिहासिक उपन्यासों में पात्रोचित वेशभूषा और भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि कोई शुंग और मौर्यकाल से सम्बद्ध उपन्यास लिख रहा है तो उसके लिए साँची और भरहुत की मूर्त्तियों का अध्ययन आवश्यक है। अजन्ता की चित्रकारियों में पाँचवी से सातवीं शताब्दी की भारतीय भूषा के चित्र मिलते हैं। सिक्कों, शिला-लेखों, ताम्रपत्रों तथा तत्कालीन साहित्यिक उपलब्धियों से उस काल की भाषा का भी स्वरूप निश्चित किया जा सकता है। यदि कोई लेखक चन्द्रगुप्त और चाणक्य के मुख से अँगरेजी की शब्दावलियाँ उच्चरित कराता है, तो उसे सफल रचना न कहेंगे। देशकाल का सम्बन्ध वर्णनीय विषयों से होता है। नगर, दुर्ग, वस्तु, वेश, ग्राम, युद्ध इत्यादि के वर्णन इसी से सम्बद्ध हैं। सर्वकालीन वर्णनों का भी स्थान इसी में है। 'आग और पानी' उपन्यास में सुवासिनी का 'शतरंज' खेलना, अमात्य शकटार को 'टेलीफून' द्वारा सूचना मिलना, चणक के हाथ में 'हथकड़ियाँ' पहराना इत्यादि भूलें इसी कोटि की हैं। रणवीरजी 'वीर' 'महामन्त्री चाणक्य' में विस्फोटकों द्वारा पहाड़ उड़वाते हैं, यह भी ऐसी ही भूल है।

तत्कालीन विचारों का भी ऐतिहासिक उपन्यासों में बड़ा महत्त्व होता है। प्राचीन बोतल में नवीन शराब भर कर पैसे तो कमाये जा सकते हैं, पर इसकी भी एक सीमा ही होनी चाहिए। ऐतिहासिकता के नाम पर नवीन विचारों और आदर्शों को बलात् थोपने से रचनाएँ भद्दी हो जायँगी ही। लेखक का सारा श्रम उसी समय व्यर्थ हो जायगा, यदि वह पाठकों को यह विश्वास न दिला सका कि ये चीजें पुरानी हैं। प्रायः लेखक ऐतिहासिक उपन्यासों में भूमिका से ही विश्वास दिलाने का प्रयत्न कर चलता है। इसके लिए कुछ लेखक उपन्यास से सम्बद्ध इतिहास ही लिख देते हैं और कुछ लेखक किसी कल्पित घटना का सहारा लेते हैं। डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार और विष्णुगुप्त प्रायः प्रथम रूप को ही अपनाते हैं, पर राहुल सांकृत्यायन और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वितीय रूप को प्रश्रय देते हैं। 'सिंह सेनापति' की भूमिका में खुदाई में मिली ईंट और 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में दीदी के साथ राजगृह के सियार की कथा द्वितीय प्रकार के ही प्रयत्न हैं। ऐतिहासिक भुलावा देने में सिद्धहस्त श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने उन विद्वानों और ऐतिहासिक पुस्तकों के उद्धरण से ही काम निकाल लिया है, जिन साधनों एवं खोजों के आधार पर रचना निर्मित हुई है।

देश-काल के निर्माण में भाषा का भी सबल योग होता है। मुस्लिम-काल के लिए अलंकृत और संस्कृत भाषा अनुपादेय है, किन्तु हिन्दू-काल के लिए वही आवश्यक है। आचार्य द्विवेदी इस सम्बन्ध में सबसे अधिक सजग हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में आज प्रायः चार प्रकार की भाषाएँ व्यवहृत हो रही हैं— स्थिर, प्रवहमान, अलंकृत और काव्यात्मक। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'दिव्या' की भाषा अलंकृत ही है। प्रथम की भाषा में काव्यात्मकता का भी पूर्ण निर्वाह है। देश-काल के सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी का यह कथन—"जिस काल का उपन्यास लिखा जा रहा है उसकी रीति-नीति, आचार-व्यवहार, वस्त्राभूषण, राह-घाट, साज-सज्जा सबके प्रति उसकी (उपन्यासकार की) दृष्टि सजग होनी चाहिए"—अविस्मरणीय है।

ऐतिहासिक सत्य का उपन्यासों में दो रूपों में उपयोग होता है— कठोर और सम्भावित रूप में। ऐतिहासिक पात्रों के जीवन की आन्तरिक और बाह्य अभिव्यक्ति इन्हीं दोनों सत्यों में से किसी एक के आधार पर होती है। चूँकि वर्त्तमान ही अतीत बन जाता है, अतः कभी-कभी चाक्षुष प्रत्यक्ष भी गलत-से हो जाते हैं। अस्तु, सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार अपनी रचना में सम्भावित सत्य को ही अधिक से अधिक स्थान देते हैं। सम्भावित सत्य का तटस्थता और निष्पक्षतापूर्वक उपयोग करने में रचना की सफलता छिपी होती है। यही कारण है कि 'दिव्या' और 'चित्रलेखा' जैसी कृतियाँ, जिनमें इतिहास का आधार दृढ़ नहीं भी है, उत्तम ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रेणी में हैं। इनमें इतिहास का अभाव है, पर इतिहास से असंगति नहीं। मात्र वर्माजी ही ऐसे उपन्यासकार हैं जिनकी रचनाओं में इतिहास से पूर्ण संगति है।

इतिहास के कंकाल पर वास्तविक जीवन और यथार्थ चित्रण की मांसपेशियाँ जमाना ही सफल ऐतिहासिक उपन्यासकला है। इसमें आधुनिकता से पूर्ण तटस्थता असम्भव है। 'अर्थवत् छवियों' के रूप में वर्त्तमान अनुभव की छाया रचना पर रहेगी ही। चूँकि 'इतिहास राष्ट्र का इतिवृत्त है और साहित्य राष्ट्र की आत्मकथा' (History is the biography of the nation and litreture is the autobiography of the nation), इसलिए ऐतिहासिक उपन्यासों में भी वर्त्तमान समस्याओं के लिए कार्यकारणमूलक स्थान है; पर जब यही सुधारवादी या उपदेशक का रूप ग्रहण करेगा तो विकृत हो जायगा। वस्तुतः यथार्थ के प्रति ऐतिहासिक उपन्यासों में आग्रह तो हो सकता है, दुराग्रह नहीं। तात्पर्य यह कि अतीत के यथार्थ का परिशीलन आधुनिक युग के यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में किया तो जाय, पर वर्त्तमान की अति न हो। ऐतिहासिक उपन्यासों को ऐतिहासिक यथार्थवादी साहित्य का रूप देना बुरा नहीं है, बुरा है उन्हें ढाल बनाकर

प्रचारकार्य करना। सफल ऐतिहासिक यथार्थवादी साहित्य वही होगा जिसमें तद्युगीन स्थितियों का कलात्मक रूप में चित्रण किया जाय।

उपन्यास चाहे किसी भी प्रकार का हो, उसका मनोरंजक होना आवश्यक है। जो ऐतिहासिक उपन्यास इस योग्य नहीं होता, वह सफल नहीं माना जा सकता। ऐतिहासिकता के निर्वाह के साथ मनोरंजक तत्त्वों का उचित समावेश आवश्यक है। मनोरंजन सापेक्षिक शब्द है। यह विषयगत और विषयीगत—दोनों है। अस्तु, मनोरंजक तत्त्वों के चयन में भी जागरूकता आवश्यक है। इसका चुनाव सार्वजनिक ढंग पर होना आवश्यक है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में चण्डीमन्दिर के वृद्ध पुजारी का समावेश हास्य और मनोरंजन के सफल तत्त्व के रूप में है। मनोरंजन एक ऐसा शाश्वत गुण है, जिसके अभाव में उत्तम कोटि की रचनाएँ भी बोझिल प्रतीत होती हैं। मनोरंजन में सम्भाव्यता और सुलभता पर ही ध्यान रहना चाहिए। सम्भाव्यता और सुलभता का पोषण भी यथार्थवादी प्रवृत्तियों पर ही होना चाहिए।

कथासाहित्य आज मनोविज्ञान से अनुप्राणित हो रहा है। ऐतिहासिक उपन्यास भी इससे अछूते नहीं हैं। यों तो मनोविज्ञान के आधार पर लिखे जाने वाले हिन्दी उपन्यासों की एक अपनी ही धारा है, पर ऐतिहासिक उपन्यासों में वैसा अतिरेक अभी तक नहीं आ सका है। अभी तक मनोविज्ञान का उपयोग पात्रों और परिस्थितियों के अन्तर्द्वन्द्व तक ही सीमित है। इस दृष्टि से वर्माजी का उपन्यास 'चित्रलेखा' अग्रणी है। इसमें नैतिकता को नया आधार मिला है। यशपाल की 'दिव्या' में भी इसका उचित उपयोग हुआ है। दिव्या और मारिष के सम्बन्धों की विवेचना में मार्क्सवादी दर्शन का आधार तो है ही, मनोविज्ञान का सहारा भी कम नहीं है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में निपुणिका और भट्टिणी के शारीरिक विकारों और मानसिक प्रत्यक्षों के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि उनका प्रेम ही बाद में बाण के प्रति श्रद्धा में परिणत हो गया है। इसमें आचार्य द्विवेदी ने मनोविज्ञान से ही काम लिया है। वस्तुतः ऐतिहासिक उपन्यासों में मनोविज्ञान का समुचित उपयोग बुरा नहीं है, किन्तु मनोवैज्ञानिक ऊहापोह में जब ऐतिहासिक उपन्यासकार अपनी रचना को डुबाने पर तुल जाता है, तब वह अवश्य बुरा हो जाता है। मनोविज्ञान का उपयोग साधन के रूप में ही होना चाहिए, साध्य के रूप में नहीं।

प्रत्येक वस्तु में कार्यकारण की स्थिति आवश्यक है। ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना के भी कुछ कारण हैं। इतिहास मानव-जाति के लिए प्रतीकात्मक महत्त्व की वस्तु है। अधिकांश लोग अतीत के मोह और वर्त्तमान से असन्तोष के कारण ही इतिहास को कथा का उपजीव्य बना रहे हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना के लिए श्री जगदीश गुप्त ने निम्नांकित कारणों की चर्चा की है— (१) वर्त्तमान से

'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक बेजोड़ रचना है। इसकी सफलता के आधार हैं 'साहित्यिक छल' तथा 'कथानायक के प्रति आत्मीयता' के भाव। ऐतिहासिक उपन्यासों की मर्यादा, उनके आदर्श, उनमें कल्पना और यथार्थ का पुट इत्यादि आज विचारकों के समक्ष मतभेद के विषय बने हैं, जिनका अधिकाधिक उल्लेख अनावश्यक विस्तार ही होगा।

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों की चर्चा में यदि उनकी विकास-यात्रा का आनन्द न लिया जाय, तो यह कहानी अधूरी ही रह जायगी। अस्तु, उनकी विकास-कथा भी सुन ही लीजिए।

भारतीय साहित्य में उपन्यासलेखन की कला पश्चिम से आयात की गयी है। हिन्दी में यह विलायती नहीं तो बँगला कलम के रूप में अवश्य पल्लवित हुई। काफी मतमतान्तरों के पश्चात् 'परीक्षागुरु' को हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास मान लिया गया है। पश्चिम की कला होने के कारण, भारतीय भाषाओं में लिखित उपन्यासों पर अँगरेजी का सर्वाधिक प्रभाव दीखता है। हिन्दी उपन्यासों पर बँगला-प्रभाव ही अधिक है। अन्य साहित्यिक विधाओं की तरह हिन्दी उपन्यास का भी प्रारम्भ भारतेन्दु-युग में ही हुआ, पर भारतेन्दु-युग के पश्चात् ही इसकी रचना धड़ल्ले के साथ होने लगी। हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना का श्रीगणेश श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने किया है। भारतेन्दु की मृत्यु के पश्चात् पं० किशोरीलाल गोस्वामी, बाबू देवकीनन्दन खत्री और गहमरी—तीनों एक ही साथ उपन्यास-लेखन में प्रवृत्त होते हैं। तीनों के क्षेत्र भी भिन्न-भिन्न थे। गोस्वामीजी ने शृंगार-वेष्टित साहित्य का पल्ला पकड़ा (यद्यपि ऐयार यहाँ भी थे), खत्रीजी ने तिलिस्मों का चक्कर दिया और गहमरीजी ने जासूसी भूलभुलैया की नींव डाली। इनमें गोस्वामीजी साहित्य के निकट पड़ते हैं।

गोस्वामीजी का उपन्याससाहित्य विशाल है। इनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों में 'रजिया बेगम', 'लीलावती', 'तारा', 'राजसिंह', 'लखनऊ की कब्र' इत्यादि के नाम लिये जाते हैं। इस क्षेत्र में गोस्वामीजी का प्रथम प्रयास होने के कारण इनमें भूलों की अधिकता है। इनमें प्रारम्भिक अवस्था की भूलें ही हैं। गोस्वामीजी ने इस बात का लक्ष्य किया था कि ऐतिहासिक उपन्यासों में कल्पना के बिना काम नहीं चल सकता। ऐतिहासिक उपन्याससम्बन्धी मतों को इन्होंने 'तारा' की भूमिका में सँजोया है। सम्भवतः इसी भूमिका से प्रेरणा पाकर आचार्य चतुरसेन ने 'वैशाली की नगरवधू' की भूमिका में 'इतिहास-रस' का प्रसंग उपस्थित किया है। गोस्वामीजी के उपन्यासों में भाषा और देशकालसम्बन्धी भूलें अधिक हैं, फिर भी इनका विशेष महत्त्व है। इन्होंने ऐतिहासिक उपन्यासलेखन की परम्परा प्रारम्भ कर उपन्यास की एक महत्त्वपूर्ण कमी को पूरा करने का प्रयास

किया है। इनकी अधिकांश रचनाएँ सोद्देश्य हैं। इनमें भारत-गौरवगान ही अधिक मिलता है।

इस युग के दूसरे प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं बाबू गंगाप्रसाद गुप्त। 'नूरजहाँ', 'वीरपत्नी', 'कुँवरसिंह सेनापति', 'पूना में हलचल' इत्यादि आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं। इनके उपन्यासों में भी लगभग गोस्वामीजी की ही पद्धति का पालन मिलता है। इसी काल में जयरामदास गुप्त के भी कुछ ऐतिहासिक उपन्यास सामने आये। सामान्य रूप से कहा जायगा कि इस काल के ऐतिहासिक उपन्यासों में मनोरंजन की प्रमुखता है। इनमें दोष भी कम नहीं हैं। सभी में भूलों की समानता मिलती है। इस युग में कुछ अनूदित रचनाएँ भी आयीं। 'पूना में हलचल' अनूदित ही है।

हिन्दी उपन्यासों के द्वितीय युग—प्रेमचन्द-युग—में उपन्याससाहित्य का निर्माण सभी साहित्यविधाओं से अधिक हुआ है। ऐतिहासिक उपन्यासों की दृष्टि से यह काल भी सामान्य ही रहा है। मौलिक उपन्यासों की तरह अनूदित उपन्यासों की भी पंक्तियाँ बनती रही हैं। बाबू रामकृष्ण वर्मा द्वारा 'अकबर' और 'चित्तौरचातकी' इसी युग में अनूदित हुए। चित्तौर की मर्यादा के प्रतिकूल होने के कारण, 'चित्तौरचातकी' का विरोध बड़े उग्ररूप में होने के कारण, इसकी प्रतियाँ समाप्त कर दी गयीं। इसी समय ईश्वरीप्रसाद शर्मा और श्री रूपनारायण पाण्डेय ने भी कुछेक अनुवाद प्रस्तुत किये। अनुवादों में भाषा का रूप प्रायः स्थिर-सा हो चला था। रेनाल्ड्स-कृत 'Mysteries of London' का 'लन्दनरहस्य' के नाम से अनुवाद इसी समय प्रस्तुत किया गया।

मौलिक उपन्यासों में मिश्रबन्धुओं का ऐतिहासिक उपन्यास 'वीरमणि' इसी समय लिखा गया। यह उपन्यास अपनी पूर्वपरम्परा से भिन्न दिशा में लिखा गया। इसी से ऐतिहासिक उपन्यासों के बढ़ते कदम का संकेत मिल जाता है। इसमें ऐतिहासिक तथ्यों का निर्वाह अपेक्षाकृत अधिक है। मनोरंजन का इसमें अभाव ही माना जायगा। इसके अलावा 'उदयन', 'चन्द्रगुप्त मौर्य', 'पुष्यमित्र शुंग', 'विक्रमादित्य' और 'स्वतन्त्र भारत' जैसे ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना भी मिश्रबन्धुओं ने ही की है। इन उपन्यासों में ऐतिहासिक तथ्यों के ऊपर लेखक की दृष्टि काफी सजग है। कल्पना का अपेक्षाकृत कम सहारा लिया गया है। सम्भवतः इसी से इनमें सहजता का अभाव खटकता अवश्य है। कृत्रिमता ही इनकी दुर्बलता बनकर झलक मारती रहती है। इन उपन्यासों में उपन्यासकला क्षीण ही समझी जायगी। यदि लेखक इतिहास का थोड़ा मोह छोड़कर उपन्यास-कला को और सँवारता तो निश्चय ही ये उपन्यास उत्तम कोटि के हो जाते। इनके कथानकों में ऋजुता का भी अभाव ही है। लेखक की भाषासम्बन्धी भूलें अधिक

स्पष्ट हैं। जहाँ-तहाँ शब्दावलियाँ पूर्णतः कृत्रिम लगती हैं।

प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटककार श्री जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों में ऐतिहासिक चेतना इसी युग में उत्पन्न की। इन्होंने ऐतिहासिक नाटकों की रचना के क्रम में ऐतिहासिक उपन्यासों की भी योजना बनायी पर असामयिक निधन से योजना अधूरी रह गयी। 'इरावती' उसी योजना के क्रम में लिखी जा रही थी। 'इरावती' के माध्यम से प्रसादजी आदर्शोन्मुख ऐतिहासिक यथार्थवाद को एक नूतन मोड़ दे रहे थे। इसमें शुंगकाल से सम्बद्ध कथानक की अवतारणा की गयी है। पात्रोचित न्याय की भावना पर ही यह उपन्यास आगे बढ़ रहा था। उपन्यासों की रोमांसवादी परम्परा इसमें लक्षित नहीं होती है। 'इरावती' में नारी-सुलभ भावों, कर्त्तव्यनिष्ठा, प्रजावात्सल्य आदि को प्रतिष्ठा मिलती है। ऐतिहासिक उपन्यासकला की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण निधि है। अधूरी रचना होने के कारण यह अपूर्णत्व लिये तो अवश्य है, पर कला की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट ही ठहरेगी। निश्चय ही, इस उपन्यास के पूरा हो जाने से हिन्दी का मान तो बढ़ता ही, यह उपन्यास भी विश्व के इने-गिने ऐतिहासिक उपन्यासों में स्थान बना लेता। हिन्दी के अगले ऐतिहासिक उपन्यासों में लोगों ने प्रसाद की परम्परा को ही पनपाने का प्रयत्न किया है। प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार बाबू वृन्दावनलाल वर्मा का प्रवेश उपन्यासजगत् में इसी समय होता है, पर इनकी कला का निखार प्रेमचन्दोत्तर काल में स्पष्ट होता है। राहुल सांकृत्यायन भी इसी युग में दिखलाई पड़ते हैं।

प्रेमचन्दोत्तर काल में प्रेमचन्द की आदर्शवादोन्मुख यथार्थवादी धारा विभिन्न क्षेत्रों में दिखाई देती है। इस समय कई ऐतिहासिक उपन्यासकारों के पैर हिन्दी में जमते हैं। इन सब में बहुचर्चित हैं बाबू वृन्दावनलाल वर्मा। इनकी कला विकासोन्मुख रही है। 'गढ़कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'मुसाहिवजू', 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', 'कचनार', 'सत्रह सौ उनतीस', 'माधवजी सिन्धिया', 'टूटे काँटे', 'मृगनयनी', 'सोना', 'अहिल्याबाई', 'भुवनविक्रम' आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। वर्माजी के रूप में हिन्दी ने अँगरेजी के सर वाल्टर स्कॉट, बँगला के राखालदास, मराठी के हरिनारायण आप्टे, गुजराती के कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी आदि को एक ही साथ पा लिया है। हिन्दी में एकमात्र आप ही ऐसे कथाकार हैं, जिन्होंने ऐतिहासिक उपन्यासों की ही सतत रचना की है। यद्यपि आचार्य चतुरसेन को इनमें 'इतिहास-रस' की उपलब्धि नहीं होती है, तथापि वे भी इन्हें ऐतिहासिक उपन्यासकारों में अग्रणी अवश्य कहते हैं। ऐतिहासिक रोमांस की कमी को भी इनकी 'मृगनयनी' पूरा करती दीखती है। वर्माजी की उपन्यासकला का निखरा हुआ रूप 'माधवजी सिन्धिया' में ही

सर्वप्रथम सामने आता है। यही रचना उनकी ख्याति का कारण बनती है। इनकी कला ने 'भुवनविक्रम' में पुनः नयी दिशा प्राप्त की है। निश्चय ही ये दोनों रचनाएँ ऐतिहासिक उपन्यासों में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं।

इस युग में वर्माजी के अलावे आचार्य चतुरसेन, राहुल सांकृत्यायन, गोविन्द-वल्लभ पन्त, निराला, यशपाल, डॉ० रांगेय राघव, धर्मेन्द्रनाथ, चन्द्रशेखर शास्त्री, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री रणवीरजी 'वीर', डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, हरिभाऊ उपाध्याय, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवतीचरण वर्मा, गोविन्द सिंह, ऋषभचरण जैन, बलदेवप्रसाद मिश्र, हरिदास माणिक, कु० वीरेन्द्र सिंह, श्री सन्तराम, गुणवंत आचार्य, गिरिजाशंकर पाण्डेय, आनन्दप्रकाश जैन, कंचनलता सब्बरवाल आदि ऐतिहासिक उपन्यासकार अपनी रचनाओं के साथ आये हैं। इनमें से कतिपय की कला अभी भी कौड़ी की तीन-सी प्रतीत होती है। आज इस क्षेत्र में वर्माजी के पश्चात् कई नयी उपलब्धियाँ अपने नवीन रूप और नवीन आदर्श को लेकर प्रकट हुई हैं। राहुलजी के 'जय यौधेय', 'सिंह सेनापति', 'मधुर मिलन' आदि में एक-न-एक पात्र मार्क्सवादी अवश्य मिलता है। मार्क्स-वाद का दुराग्रह यदि इनमें न होता तो इनकी रचनाएँ भी वर्माजी की कोटि में अवश्य आतीं। आचार्य चतुरसेन के 'आलमगीर', 'अपराजिता', 'धर्मपुत्र', 'वयम् रक्षामः', 'वैशाली की नगरवधू', 'सोना और खून' में पिछले तीन उपन्यास अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। बारहवीं शताब्दी की धार्मिक प्रवृत्तियों का चित्रण इन्होंने 'देवां-गना' में बड़ी सफलता के साथ किया है।

इतिहास की पृष्ठभूमि पर कल्पना के सफल उपयोग से निर्मित श्री भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' हिन्दी की एक महत्त्वपूर्ण रचना मानी जायगी। इसमें मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में पाप-पुण्य का विश्लेषण किया गया है। इसी क्रम में यशपाल की 'दिव्या' और 'अमिता' का भी नाम लेना अनिवार्य है। यशपाल ने 'दिव्या' में जीवन का यथार्थवादी चित्र दिया है। 'चित्रलेखा' की तरह ही 'दिव्या' भी इतिहासाश्रित रचना तो है, पर ऐतिहासिक नहीं। स्वयं यशपाल ने भी स्वीकार किया है कि " 'दिव्या' इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पनामात्र है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है।" डॉ० रांगेय राघव का 'मुर्दों का टीला' भी लगभग कल्पनाप्रधान इतिहासाश्रित रचना है। 'देवकी का बेटा' और 'अँधेरे में जुगनू' इनके अन्य ऐतिहासिक उपन्यास हैं। सब में 'मुर्दों का टीला' अपना वैशिष्ट्य बनाये है। गोविन्दवल्लभ पन्त के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों में 'अमिताभ', 'पर्णा', 'नूरजहाँ', 'एक सूत्र' के नाम लिये जायँगे। डॉ० धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' भी बहुचर्चित ऐतिहासिक उपन्यास है। इस युग में ऐतिहासिक उपन्यासकार की नयी प्रतिभा लेकर आये हैं

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी। हिन्दी साहित्य में आलोचना और निबन्ध के क्षेत्र में इन्होंने अपना बेजोड़ स्थान तो बनाया ही, ऐतिहासिक उपन्यासकारों में इनका विशिष्ट स्थान सदा बना रहेगा। इनकी प्रथम रचना 'बाणभट्ट की आत्मकथा' ने ही अपनी परम्परा में उचित स्थान पा लिया है। आत्मकथात्मक शैली में लिखे गये इस उपन्यास की सम्पूर्ण कथा काल्पनिक होकर भी सुदृढ़ आधार पर अवलम्बित है। इसमें बाण की शैली की ही काव्यमयता और सरसता मिलती है। लेखक ने स्वाभाविकता और यथार्थ को सदा साथ रखा है। रचना प्रत्येक प्रकार से सटीक है। द्विवेदीजी की नवीनतम रचना 'चारुचन्द्रलेख' ऐतिहासिक उपन्यासों की नयी कड़ी की शोभा बढ़ाती है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त, आज हिन्दी में 'रज़िया', 'तैमूर' (धर्मेन्द्रनाथ); 'श्रेणिक बिम्बिसार' (चन्द्रशेखर शास्त्री); 'महामन्त्री चाणक्य', 'आग और पानी' (रणवीरसिंह 'वीर'); 'आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य' (डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार); 'बेकसी का मजार' (प्रतापनारायण श्रीवास्तव); 'निरुपमा', 'अलका' (निराला); 'अठारह सौ सत्तावन' (गोविन्दसिंह); 'गदर' (ऋषभचरण जैन); 'पानीपत,' 'पृथ्वीराज चौहान' (बलदेवप्रसाद मिश्र); 'राजपूतों की बहादुरी' (हरिदास माणिक); 'प्रबल प्रतीक्षा' (कु० वीरेन्द्रसिंह); 'राजा भोज' (संतराम); 'अजेय तारा' (हरिनारायण आप्टे); 'अठारह वर्ष बाद', 'चेतसिंह का सपना' (गिरिजाशंकर पाण्डेय); 'जय कच्छ' (गुणवंत आचार्य); 'पुनरुद्धार' (कंचनलता सब्बरवाल) इत्यादि प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास हैं। तरुण ऐतिहासिक उपन्यासकारों में श्री आनन्दप्रकाश जैन का प्रमुख स्थान है। इनका 'तीसरा नेत्र' प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है।

हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यासों में आज लेखनशैलियों की विविधता के दर्शन हो रहे हैं। आत्मकथात्मक शैली अधिक विश्वसनीय बन रही है। कतिपय ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास भी सामने आये हैं जिनमें ऐतिहासिकता के नाम पर मजाक की वस्तुएँ सामने लायी गयी हैं। फिर भी जिसने कुछ ही समय में 'विराटा की पद्मिनी', 'चित्रलेखा', 'माधवजी सिन्धिया', 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'दिव्या', 'वैशाली की नगरवधू', 'मुर्दों का टीला' और 'चारुचन्द्रलेख' जैसी रचनाएँ दी हैं, उसका भविष्य उज्ज्वल ही कहा जायगा। तलवार की धार पर चलते हुए ऐतिसिक उपन्यासकारों का दायित्व है कि वे एक-से-एक अनुपम भेंट हिन्दी-मन्दिर में अर्पित करते चलें।

२३

हिन्दी के आंचलिक उपन्यास

[प्रारम्भ—तात्पर्य—कुछ शर्तें—पात्र, भाषा, परिवेश—प्रेरणा-भूमि—प्रेमचन्दोत्तर वैशिष्ट्य—कुछ कृतियाँ]

हिन्दी में उपन्यास-साहित्य कलमी पौधा है। यह मूलतः पश्चिम से आयात किया गया है। विगत अस्सी-पच्चासी वर्षों में इसने हिन्दी में अपनी जड़ पूर्णतः जमा ली है। हिन्दीभाषी क्षेत्र से इसने खाद-पानी लेकर अपना स्वस्थ विकास किया है। प्रेमचन्द-जैसे कुशल माली ने इसका आवश्यक साज-सँवार किया है। प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी-उपन्यास में अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ पनपी हैं। यद्यपि इनमें से प्रायः सभी प्रवृत्तियों की जड़ प्रेमचन्द में विराजमान है, किन्तु उनका मुक्त विकास बाद में ही सम्भव हुआ है। हिन्दी उपन्यासों में आंचलिकता की प्रवृत्ति भी प्रेमचन्दोत्तर प्रवृत्ति ही है। कुछ विचारक तो इसे स्वातंत्र्योत्तर प्रवृत्ति भी मानते हैं। चाहे जो हो, इतना तो अवश्य कहा जायगा कि हिन्दी उपन्यासों में आंचलिकता की बाढ़ स्वातंत्र्योत्तर युग में ही आयी है, यद्यपि इसकी अन्तःसलिला प्रेमचन्द से भी पूर्व प्रारम्भ हो चुकी थी।

इसे तो मानना पड़ता है कि द्वितीय महासमर के पश्चात् हिन्दी में उपन्यासों ने जितनी क्षिप्रगति से प्रगति की है, उतनी कविता ने नहीं। इतने अल्प दिनों में जितने और जैसे उपन्यास हिन्दी में आये हैं, उतने पिछले चार-पाँच दशकों में भी नहीं आ सके थे। आंचलिक उपन्यासों की प्रगति भी इसी समय हुई है। ऐसी बात नहीं कि हिन्दीभाषी क्षेत्र में आंचलिक उपन्यासों के पोषक तत्त्वों का अभाव था। वस्तुतः उस समय तक हिन्दी उपन्यास चलना ही सीख रहा था। प्रेमचन्द के हाथों जैसे ही इसने अपना अस्तित्व सँभाला, इसने स्वच्छन्द गति अपना ली। आंचलिक उपन्यास उसी के परिणाम हैं।

प्रायः यह तो मान्य ही है कि रचनात्मक साहित्य के पश्चात् ही शास्त्र का निर्माण होता है। ठीक यही नियम आंचलिक उपन्यासों पर भी लागू होता है। हिन्दी में 'आंचलिक' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग होता है 'मैला आँचल' की भूमिका में। इसके पूर्व कई आंचलिक उपन्यास पाठकों के समक्ष आ चुके थे। नागार्जुन के उपन्यासों में प्रादेशिक रूपाभा का चित्रण पहले ही हो चुका था। स्वयं प्रेमचन्द ने भी अपने उपन्यासों में प्रादेशिक रूपाभा पर विशेष बल दिया है। पात्रोचित भाषा का विशेष प्रचलन वहाँ पूर्णतः उपलब्ध है। इससे भी पूर्व श्री शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया' में आंचलिक रंग और प्रादेशिक रूपाभा का

स्पष्ट अंकन हुआ है, फिर भी 'आंचलिक' शब्द का प्रचलन प्रारम्भ होता है सन् १९५४ ई० से, जिसका श्रेय है श्री फणीश्वरनाथ रेणु को।

आंचलिक उपन्यासों को समझने के लिए अंचल को समझना आवश्यक है। 'अंचल' एक विशिष्ट भूखंड का बोधक है। यह राष्ट्र की एक ऐसी स्वतंत्र इकाई है जिसका सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि दृष्टि से अपने-आप में विशेष महत्त्व होता है। राष्ट्र के अन्य अंचलों से इसमें समता होते हुए भी कतिपय विशिष्टताओं का होना आवश्यक है। भौगोलिक परिवेश, ऐतिहासिक परम्परा, बोली, पोशाक आदि में अन्य अंचलों से समता रखते हुए भी कतिपय असामान्यता का होना आवश्यक है। जिस राष्ट्र में सर्वत्र समता ही होगी, विविधता और विषमता न होगी, वहाँ अंचल जैसी कोई वस्तु भी न होगी। जब अंचल होंगे ही नहीं, तो आंचलिक उपन्यास के लिए प्रेरक तत्त्व भी न होंगे और आंचलिक उपन्यास की कल्पना वहाँ कभी भी साकार न हो सकेगी। प्रायः छोटे-छोटे राष्ट्रों में अंचल के अभाव हो सकते हैं, किन्तु भारत जैसे वृहत्तर राष्ट्र में अंचल नहीं होंगे, इसकी तो कल्पना ही नहीं होनी चाहिए। भारत की बात छोड़िए, इसे तो उप-महादेश कहा ही जाता है, स्वयं हिन्दी-क्षेत्र भी इतना विस्तृत है कि इसमें भौगोलिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, भाषा, पोशाक आदि की भिन्नता के कारण ऐसे अनेक अंचल हैं जिनसे आंचलिक उपन्यासों की रचना के लिए प्रेरणा मिलती है। इसी के कारण पिछले पन्द्रह वर्षों में अनेक आंचलिक उपन्यास सामने आये हैं।

आंचलिक उपन्यास अँगरेजी में 'रिजनल' या 'टेरीटोरियल' उपन्यास कहे जाते हैं। इनमें प्रादेशिक रूपाभा (Regional touch) और स्थानीय रंग (Local colour) का होना आवश्यक है। हार्डी का 'विसेक्स' और कृष्णचन्द्र की 'तूफान और कलियाँ' ऐसे ही उपन्यास हैं। इनमें विशिष्ट अंचल के चित्र पूर्णतः उभरे हैं। हमें यह न भूलना चाहिए कि ऐसे उपन्यास पहले उपन्यास ही अधिक होते हैं, पुनः ये होते हैं आंचलिक। अस्तु, हम कह सकते हैं कि जिन उपन्यासों में किसी अंचल, प्रदेश अथवा जनपदविशेष के जनजीवन का यथार्थ चित्रण होता है, वे आंचलिक उपन्यास कहे जाते हैं। यहाँ हमें एक और बात जान लेनी चाहिए कि मात्र ग्रामांचल से सम्बद्ध उपन्यास ही आंचलिक उपन्यास नहीं कहे जायँगे; विशिष्ट नगरों से सम्बद्ध उपन्यास भी आंचलिक ही कहे जायँगे। कुछ लोग इसके विरोध में तर्क दे सकते हैं कि नगरांचल से सम्बद्ध उपन्यास समस्याचित्रण या मनोविश्लेषण में ही उलझ जाते हैं, जिससे उनमें नगर-सभ्यता का पूर्ण सर्वांगीण चित्रण नहीं हो पाता है। यह प्रश्न पते का है अवश्य, पर इसे ही अन्तिम नहीं माना जा सकता। हिन्दी में ऐसे कई उपन्यास लिखे गये हैं, जिनमें नगर-सभ्यता का पूरा निदर्शन है। उदाहरणस्वरूप अमृतलाल

नागर का 'सेठ बाँकेमल' और डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का 'बया का घोंसला और साँप' के नाम लिये जा सकते हैं।

हिन्दी के कतिपय महत्त्वपूर्ण आंचलिक उपन्यासों पर विचार करने के पूर्व आंचलिक उपन्यासों में पाये जाने वाले आवश्यक आंचलिक तत्त्व, उनकी सीमा, शक्ति आदि की थोड़ी चर्चा भी आवश्यक है। चूँकि आंचलिक उपन्यासों की पहली शर्त है औपन्यासिकता, इसलिए इसमें उन सारे तत्त्वों का पूर्णतः निर्वाह आवश्यक है जिनके आधार पर ये उपन्यास कहे जायँ। यदि इनमें उपन्यास-कला ही बिखर जाय तो ये उपन्यास कहे ही न जायँगे। अस्तु, कहा जायगा कि आंचलिक उपन्यासों में उपन्यास-कला के अतिरिक्त एक तत्त्व और होता है जिसे हम आंचलिक तत्त्व कह सकते हैं। इस आंचलिक तत्त्व की स्थिति प्रायः निम्नांकित बातों की योजना पर निर्भर करती है—(क) आंचलिक कथानक की योजना, (ख) आंचलिक संस्कृति का चित्रण, (ग) आंचलिक परिवेश का वर्णन, (घ) पात्रों की योजना और उनके चरित्रविकास में आंचलिकता और (ङ) जन-जागरण का संकेत।

उपन्यास चाहे कोई हो, एक कथा तो अवश्य होगी ही। आंचलिक उपन्यासों में कथा की योजना भी एक विशेष अंचल से ही सम्बद्ध होती है। यह अंचल ग्रामीण भी हो सकता है और विशिष्ट नगरों अथवा उपनगरों का भी। असल बात है कि लेखक अंचलविशेष के क्रियाकलाप, परिस्थिति, घटना इत्यादि की योजना करता चले; उस अंचलविशेष का रंग लेखक की लेखनी से छिटकता चले। जितने भी आंचलिक उपन्यास लिखे गये हैं, सबका कथानक अंचलविशेष से ही सम्बद्ध है। जैसे, 'देहाती दुनिया' का कथानक भोजपुर-क्षेत्र (शाहाबाद जिला), 'मैला आँचल' का कथानक पूर्णिया जिले के मेरीगंज के आस-पास का क्षेत्र तथा 'सेठ बाँकेमल' का कथानक लखनऊ नगर का क्षेत्र लेकर संयोजित है। वैसे तो सभी उपन्यासों के कथानक एक-न-एक अंचल पर आधारित होते ही हैं, पर उनमें वर्णित घटनाएँ और पात्रयोजना प्रायः सार्वदेशिक तथा सार्वभौम होती हैं।

आंचलिक उपन्यास की दूसरी प्रमुख विशेषता है आंचलिक संस्कृति का चित्रण। वस्तुतः यही वह मूल संवेदनात्मक तत्त्व है जिसके आधार पर कोई उपन्यास आंचलिक कहलाता है। इसे देश-काल से भी सम्बद्ध कर सकते हैं। अंचलविशेष में प्रचलित समस्त लोकरीतियों का चित्रण लेखक कर चलता है। रहन-सहन, वेश-भूषा, धार्मिक और लौकिक विश्वास, लोकगीत, लोकनृत्य, अंचल-विशेष में होने वाले मेले-तमाशे आदि का सर्वांगीण चित्रण ही आंचलिक संस्कृति का चित्रण कहा जायगा। यहाँ सार्वभौम स्थिति दब जाती है और चित्रण में एकदेशीयता तथा एकांगिता के दर्शन स्पष्ट हो उठते हैं। पर्व-त्योहारों में

विशेष प्रकार के नृत्य, एक ही देवता के प्रति हिन्दू और मुसलमान दोनों की समान रूप से प्रवृत्ति, मंत्र, जाप, टोना-टोटका आदि का सही चित्रण कर लेखक आंचलिकता का रंग गाढ़ा करता चलता है। अंचलविशेष में जो विशेष प्रकार की संस्कृतिगत भिन्नता मिलती है, उसका सही उत्तर न तो वेद दे सकते हैं और न अन्य धर्मग्रन्थ; उनका सही उत्तर तो वहाँ की प्रचलित लोकगाथा, विश्वास आदि में ही खोजना होगा। लेखक इस प्रकार के चित्रण द्वारा एक विशेष प्रकार के आनन्द की सृष्टि कर चलता है, जिसे कुछ लोग 'आंचलिक रस' कहना चाहते हैं। यह रस चाहे हो या नहीं, पर इतना तो सत्य है ही कि इस प्रकार के चित्रण से उपन्यास में एक विशेष प्रकार के आनन्द की सृष्टि हो चलती है; भले ही कथात्मक प्रवाह मन्द पड़ जाय।

आंचलिक संस्कृति की तरह आंचलिक परिवेश का भी ऐसे उपन्यासों में विशेष महत्त्व होता है। परिवेश वस्तुतः देश-काल से ही सम्बद्ध है। इसके अन्तर्गत लेखक अंचलविशेष के इतिहास, राजनीति, भूगोल आदि का वर्णन कर चलता है। लेखक वहाँ की मिट्टी, वृक्ष, नदी, पौधे, पहाड़ इत्यादि के चित्रण द्वारा भौगोलिक परिवेश का निरूपण तो करता ही है, विशिष्ट इतिहास को भी उभारता चलता है। साथ ही, उस ग्रामांचल में तत्कालीन राजनीति किस प्रकार पनप रही है, बाहर से आने वाले नेता लोग किस प्रकार वहाँ अपना कार्य सँभाल पाते हैं आदि अनेक बातों का यथावत् वर्णन हो चलता है। इस दृष्टि से रेणु का 'मैला आँचल' देखा जा सकता है। तरह-तरह के राजनीतिक विचार किस रूप में मेरीगंज पहुँचते हैं, वहाँ के निवासियों पर उनका कैसा प्रभाव पड़ता है, इसका सफल निदर्शन 'मैला आँचल' में मिलता है।

आंचलिक उपन्यासों में पात्रयोजना तथा पात्रों का विकास भी अन्य उपन्यासों की अपेक्षा भिन्न रूप में होता है। आंचलिक नीति, समाज, आर्थिक स्थिति, संस्कृति आदि की विशिष्ट छाप पात्रों पर पूर्णतः मिलती है। ये पात्र सार्वदेशिक नहीं होते हैं। सबसे बड़ी बात होती है पात्रों की भाषा। स्थानविशेष में प्रचलित लोकोक्तियाँ, मुहावरे आदि तो आते ही हैं, प्रचलित शब्दों के स्थानीय रूपान्तर ही प्रायः अधिक प्रयुक्त होते हैं। भाषा में स्थानीय प्रयोग आने से उपन्यास बढ़ जाता है। यदि भाषाप्रयोग में औचित्य की सीमा नष्ट हो जाती है तो प्रायः उपन्यास दुरूह और अरुचिकर भी हो जाते हैं। इसी से भाषा को लेकर इनकी कटु आलोचनाएँ भी सामने आयी हैं। दुर्बोधता तो एक हद तक होती ही है, पर यह बात सभी उपन्यासों के साथ नहीं कही जा सकती है। निश्चय ही, यदि भाषाप्रयोग में थोड़ी सतर्कता से काम लिया जाय तो आंचलिक भाषाओं के कतिपय शब्दों से हिन्दी का शब्दभाण्डार समर्थ ही होगा। आंचलिक

भाषा का प्रयोग करते समय लेखक को यह न भूलना चाहिए कि उपन्यास समस्त हिन्दी-पाठक के लिए लिखा जा रहा है। इन उपन्यासों में भोजपुरी, मैथिली, मगही, अवधी, ब्रजी, पर्वतीय आदि भाषाओं का प्रयोग खूब धड़ल्ले के साथ हुआ है।

आंचलिक उपन्यासों के पर्यालोचन से एक और बात स्पष्ट होती है कि इनमें अंचलविशेष के यथातथ्य चित्रण के साथ ही नवीन जागरण का भी संकेत मिलता है। समाज-सुधार, राजनीतिक जागृति, आर्थिक उन्नति आदि के स्वर इस रूप में चित्रित होते हैं जिनसे नयी दिशा संकेतित प्रतीत होती है। यहाँ थोड़ी और सतर्कता की आवश्यकता है। लेखक ऐसे आदर्श स्थापित करें अथवा ऐसे सन्देश दें जो आंचलिक होते हुए भी सार्वदेशिक हों तो उपन्यास की महत्ता अधिक बढ़ जायगी। 'मैला आँचल' में गाँधीभक्त वामनदास की कथा ऐसी ही मानी जायगी। इस कथा से सम्बद्ध लेखक की यह उक्ति— 'वामन ने दो आजाद देशों की, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की ईमानदारी को, इन्सानियत को, बस दो डेग में ही नाप लिया'—सर्वाधिक सशक्त सन्देश के रूप में मान्य होनी चाहिए। तात्पर्य यह कि प्रत्येक आंचलिक उपन्यास में नवीन जागरण के प्रति एक प्रबल छटपटाहट दीखती है।

आंचलिक उपन्यासों में उपर्युक्त आंचलिक तत्त्वों का विधान तो होता ही है, साथ ही कतिपय अन्य बातें भी स्वीकार की जा सकती हैं। इनमें मूलतः दो बातें स्वीकार की जा सकती हैं— सार्वभौमत्व का अभाव और टेकनिक की नवीनता। आंचलिकता के प्रबल मोह में सर्वाधिक डर है सार्वभौमत्व के दब जाने का। जार्ज इलिएट के शब्दों में कहा जायगा कि लेखक अनावश्यक विस्तार (Vulgar details) में उलझकर अनुपातबोध खो देते हैं जिससे रचना में असम्बद्धता आ जाती है। दूसरी बात है टेकनिक को लेकर। टेकनिक की दृष्टि से ऐसे उपन्यास नवीन प्रयोग कहे जायँगे। इनमें लोकगीतों का पुट काव्यात्मक आनन्द की सृष्टि करता है। साथ ही, पात्रयोजना भी कभी-कभी ऐसी बिखरी रहती है कि नायक आदि का निर्णय भी क्लिष्ट कार्य हो जाता है। आखिर, 'मैला आँचल' का नायक किसे माना जाय? यही बात 'देहाती दुनिया' के सम्बन्ध में भी कही जायगी। 'बहती गंगा' भी कुछ ऐसा ही उपन्यास है। इसमें चाहे तो काशी नगर को नायक मान भी ले सकते हैं, पर अन्य दोनों उपर्युक्त उपन्यासों के सम्बन्ध में उलझन है ही। भाषा में आंचलिकता का प्रश्न भी टेकनिक से ही सम्बद्ध है। प्रकृत परिवेश के अनुसार बोली का अतिस्थानीय रूप कभी-कभी रसानुभूति में बाधक हो जाता है। शब्दों के विकृत उच्चारण और विकृत वर्त्तनी के प्रयोग से भाषा-भूल की सम्भावना भी तो है। इसी से भाषा के सम्बन्ध में हार्डी ने विचार करते हुए लिखा है— "If a writer attempts to exhibit on paper the precise

accents of a rustic speaker, he disturbs the proper balance of a true representation by unduly insisting upon the grotesque element, thus directing the attention to a point of inferior interest and divesting it from the speaker's meaning which is by far the chief concern when the aim is to depict men and their nature rather than their dialect forms."

आंचलिक उपन्यासों की प्रवृत्तियों की चर्चा के पश्चात् उन बातों पर विचार कर लेना आवश्यक है जो आंचलिक उपन्यासों की रचना के लिए प्रेरणाभूमि का काम करती हैं। आंचलिक उपन्यासों की रचना की प्रेरणा के निमित्त ये बातें स्वीकार की जा सकती हैं--

(क) अंचलविशेष की संस्कृति, सभ्यता आदि के प्रति प्रबल मोह।

(ख) आंचलिक सत्य को प्रकाशित कर सार्वभौम सत्य के साथ प्रतिष्ठा की भावना।

(ग) लोकतन्त्रात्मक चेतना का विकास।

(घ) टेकनिक में नवीन प्रयोग की भावना।

(ङ) विविधता और अनेकता को अभिव्यक्त कर उनकी अच्छाइयों को बचाने की भावना।

(च) ऐक्यभावना की प्रतिष्ठा।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यदि ऐसा कहा जाय कि आंचलिक उपन्यासों में आंचलिकता का सम्बन्ध एक शैलिविशेष से है तो अत्युक्ति न होगी। प्रेमचन्द ने जहाँ उपन्यासों में व्यक्ति से अधिक महत्त्व समाज को दिया था, वहाँ मनोविश्लेषणपद्धति ने समाज को भूलाकर व्यक्ति को महत्त्वपूर्ण बनाया। स्वातंत्र्योत्तर युग में उपन्यास विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों से प्रभावित होकर व्यक्ति तथा उसके सम्बन्धों को अंचल के परिवेश में ही आँकने लगा है। इससे इसमें कतिपय गुणों के साथ कुछ दोष भी आ गये हैं। ये दोष कुछ तो स्फुट हैं और कुछ सामने आने को हैं। आंचलिक उपन्यासों का सबसे बड़ा दोष है सार्वभौमत्व तथा सार्वजनीनता का अभाव। पर यही इसका सबसे बड़ा गुण भी है। वस्तुतः जितनी भी सार्वभौम मान्यताएँ हैं वे आंचलिक उपन्यासों के प्रतिकूल पड़ती हैं। फिर भी, उपकथाओं की अधिक संख्या, वर्णन के नाम पर चिड़ियों और पशुओं की निरर्थक ध्वनि (मैला आँचल), आंचलिक भाषा की दुर्बोधता, सांस्कृतिक एकीकरण के नाम पर विभेदीकरण की नीति आदि इसके आवश्यक दोष हैं। यदि इन दोषों का परिहार हो सके तो निश्चय ही उपन्यास का यह रूप अपने में बड़ा सफल हो सकता है।

ऐसी बात नहीं कि आंचलिक उपन्यासों की रचना मात्र हिन्दी में हुई है। अन्य भाषाओं में भी ऐसे उपन्यास लिखे गये हैं। विशिष्ट अंचलों के जीवन्त चित्र उपस्थित करने वाले उपन्यासों की रचना अँगरेजी में भी हुई है। अँगरेजी में 'टैस ऑव द डर्बीविल' (हार्डी), 'लाइफ ऑन मिसीसीपी' (मार्क ट्वेन), 'शर्ले' (शार्लेट ब्रांटे), 'एडम बीड' (जार्ज इलिएट), 'द ओल्ड मैन एण्ड द सी' (अर्नेस्ट हेमिंग्वे) आदि आंचलिक उपन्यास ही हैं। ब्लैकमूर की हरी घाटी में मार्लोट गाँव के अंचल का जितना सजीव चित्रण हार्डी ने किया है, वह अनुकरणीय ही है। टैस, एंजिल, क्लेरे आदि पात्र उसी अंचल की देन हैं। मिसीसीपी की घाटी के आदिवासियों से लेकर वैज्ञानिक युग के मानव तक का इतिहास उपस्थित करने वाले 'लाइफ ऑन मिसीसीपी' की तुलना में शिव प्रसाद रुद्र का 'बहती गंगा' अथवा देवेन्द्र सत्यार्थी का 'ब्रह्मपुत्र' रखा जा सकता है। टाल्सटाय का 'कज्जाक' काकेशिया के अंचल से ही सम्बद्ध आंचलिक उपन्यास है। तात्पर्य यह कि आंचलिक उपन्यासों की रचना की प्रेरणा हिन्दी में उन उपन्यासों से भी कुछ-न-कुछ अवश्य मिली है।

यों हिन्दी में आंचलिक उपन्यास की रचना तो श्री शिवपूजन सहाय के 'देहाती दुनिया' से ही प्रारम्भ होती है, पर इसके सही रूप का प्रारम्भ होता है स्वातंत्र्योत्तर युग में। बीच में प्रेमचन्द के उपन्यासों में आंचलिक तत्त्वों की योजना मिलती है, किन्तु उन्हें आंचलिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। उनमें सार्वभौमत्व का पुट इतना गहरा है कि आंचलिकता दबी ही रह जाती है। सार्वभौमत्व में आंचलिकता के उपयोग से उन्होंने नया स्वारस्य अवश्य दिया है, पर उन्हें आंचलिक उपन्यासकार नहीं माना जायगा। स्वातंत्र्योत्तर युग में मूलतः दो प्रकार के ही उपन्यास अधिक लिखे गये हैं— मनोविश्लेषणात्मक और आंचलिक। इसका कारण यह है कि इस युग में आंचलिक उपन्यासों के लिए सटीक अवसर प्राप्त हो गया था। सटीक अवसर से इतना ही तात्पर्य है कि हिन्दी-क्षेत्र में इसके लिए भूमि तो पहले से थी ही, इसके उपयोग का यही समय था।

वस्तुतः हिन्दीभाषी क्षेत्र एक होकर भी अनेकता का भाव लिये है। विभिन्न प्रकार की बोलियाँ तो इसकी हैं ही, इसे बोलने वाले लोग भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई की बात छोड़िए; जैन, बौद्ध और सिक्ख भी हैं। इन आर्यों के अलावे कतिपय आर्येतर जातियाँ भी हिन्दी ही बोलती हैं, पर अपनी मूल-भाषा के कुछ शब्दों, मुहावरों, लोकोक्तियों को लिये हुए। फिर, हिन्दीभाषी क्षेत्र में विविध प्रकार की जातियाँ संस्कृतिगत भिन्नता भी तो लिये हैं। यही बात इतिहास और भूगोल की भी है। प्रायः प्रत्येक अंचल का अपना इतिहास है, अपनी संस्कृति है और है अपना भूगोल जो अधिकांश बातों में समता रखकर भी भिन्नता लिये है। इन सारी विभिन्नताओं का उपयोग आज कथा-साहित्य में पूर्णतः चल पड़ा है।

इसी की अभिव्यक्ति और निदर्शन के प्रतिफलन हैं आंचलिक उपन्यास। यहाँ आप कह सकते हैं कि ये विभिन्नताएँ तो प्रारम्भ से ही हैं, फिर पहले आंचलिक उपन्यास क्यों नहीं लिखे गये। प्रश्न तो है पते का, पर इसका एकमात्र उत्तर यही है कि पहले भारत पराधीन था। समस्त भारत अपनी विभिन्नताओं को भूला हुआ था, संस्कृतिगत बातों के पीछे नहीं पड़ा था; क्योंकि इससे भी महत् उद्देश्य को लेकर वह समस्त साहित्य में आजादी की लड़ाई को बढ़ाना चाह रहा था। सारी रचनात्मक स्थितियाँ स्वशासनप्राप्ति की ओर उन्मुख थीं। आज जब भारत आजाद हो चुका है, लेखक क्षेत्रीय विशेषताओं को उभार कर उसके सड़े-गले अंगों को काट कर फेंकने में प्रयत्नशील हैं, प्रत्येक अच्छी वस्तु को वे सहेजने और समेटने के कार्य में जुटे हैं। उन्होंने सोच लिया है कि इससे मानसिक वैविध्य दूर होगा और क्रमशः ऐक्य की भावना प्रतिष्ठित होगी। इसी से संक्रान्ति-काल से ही उपन्यास आंचलिकता को प्रमुखता देने लगा है। स्वातंत्र्य-समर का नेतृत्व करते समय महात्मा गाँधी भारतीयों को गाँवों की ओर लौटा ले गये थे; पर उन्होंने भी अंचलों, प्रदेशों और विशिष्ट जनपदों को अछूता ही छोड़ दिया था। आजादी मिलने के पश्चात् लेखक उसी प्रेरणा से गाँवों को छोड़कर ग्रामांचल तथा दूसरी ओर नगरों को छोड़कर नगरांचल में उलझ पड़ा है। ये ही कुछ ऐसे कारण हैं जिन्हें हम आंचलिक उपन्यासों की पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की चर्चा करते समय लोग रेणु और नागार्जुन की तो चर्चा करते हैं, किन्तु यह पते की बात कोई नहीं कहता है कि हिन्दी का प्रथम आंचलिक उपन्यासकार कौन है। वस्तुतः यहाँ एक बात कहे बिना नहीं रहा जाता कि आज के आलोचक भी पूर्वाग्रह के शिकार हो चुके हैं। इससे भी अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ सामने आ जाती हैं। हिन्दी में इस नयी टेकनिक के जन्मदाता हैं श्री शिवपूजन सहाय। इन्होंने हिन्दी का सर्वप्रथम आंचलिक उपन्यास 'देहाती दुनिया' लगभग सन् १९२१ ई० में लिखा था। इसका प्रथम प्रकाशन वि० १९८३ में हुआ। इसमें सर्वथा नवीन टेकनिक का प्रयोग मिलता है। यह हिन्दी का सर्वप्रथम नायकविहीन उपन्यास है। शाहाबाद जिले के भोजपुर क्षेत्र से कथानक का चुनाव कर लेखक ने उस अंचलविशेष की सम्पूर्ण संस्कृति को इसमें उभारने का प्रयत्न किया है। इसकी शैली मूलतः आत्मकथात्मक है, किन्तु इति-वृत्तात्मक शैली का भी खूब मँजा हुआ रूप यहाँ उपलब्ध होता है। बालमनोवृत्ति का जितना सुन्दर अंकन इसमें हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ ही है। अंचलविशेष में प्रचलित लोकगीतों, मुहावरों, भाषा की विकृत वर्तनी और उच्चारण, मेले-तमाशे, पण्डे-पुजारी, जमीन्दार-रैयत, कायस्थ दीवान और कहार, अँगरेजी सरकार की पुलिस और भोजपुरी पट्ठे आदि सबका जीवन्त चित्रण इसमें मिलता है। इस

उपन्यास की प्रथम पंक्ति से ही—

जहाँ लड़कों का संग, तहाँ बाजे मृदंग।
जहाँ बुड्ढों का संग, तहाँ खरचे का तंग।

समस्त उपन्यास का अन्दाज लगाया जा सकता है। भूत-प्रेत, मंत्र-टोटका आदि में लोगों के विश्वास आदि का चित्रण भी बेजोड़ है। बच्चों के गीत और खेलों का अन्दाज इसी से लगा सकते हैं—

(क) 'चलो भइयो ददरी, सातू पिसान की मोटरी।'
(ख) 'रहरी में रहरी पुरान रहरी, डोला के कनिया हमार मेहरी।'
(ग) 'एक पैसा की लाई, बजार में छितराई, बरखा उधरे बिलाई।'
(घ) 'बुढ़वा बेईमान, माँगे करैला के चोखा।'
(ङ) 'रामजी की चिरई, रामजी का खेत, खा लो चिरई, भर-भर पेट।'

पुनः रामसहर के मन्दिर के पुजारी पासुपत पाँडे की—जो अंचलविशेष में 'साँसकिरित' में पंडित माने जाते हैं—पंडिताऊ जीभ की बेलगाम दौड़ का यह नमूना भी देखिए—

नीलाम्भुजं सामल कोमलागं सीता सँवारो पितु बामभाग्यम्।
पाण्डव महा सायक चार चापं नमामि रामं रघुबंस नाथम्॥

तात्पर्य यह कि आचार्य शिवपूजनसहाय की 'देहाती दुनिया' वस्तुतः हिन्दी का प्रथम आंचलिक उपन्यास है। हाँ, इसमें भी वे दुर्बलताएँ हैं जो प्रायः प्रारम्भिक कृति में कुछ हद तक वांछनीय हैं। प्रायः इसी की बहुत कुछ प्रवृत्तियों को प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में समेटने का प्रयत्न किया है। 'गोदान' के कथानक की असम्बद्धता की प्रेरणा प्रेमचन्द को यहीं से मिली है। अधुनातन उपन्यासों में जो दुर्बोधता का दोष मिलता है, प्रायः इसमें उसका पूर्णतः अभाव है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है विश्वसनीयता और भोजपुर अंचल का यथातथ्य चित्रण।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब आंचलिक उपन्यासों की रचना सन् १९२१ ई० के आसपास ही प्रारम्भ हुई तो फिर इसका विकास इतने दिनों तक रुका क्यों रहा। वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर ऊपर ही विचारा जा चुका है, जहाँ ऐसा बताने की कोशिश की गयी है कि आंचलिक उपन्यास संक्रान्तिकाल की उपज हैं। फिर सच बात तो यह है कि आंचलिकता की यह प्रवृत्ति मरती कहाँ है, दबी अवश्य है। प्रेमचन्द ने इस प्रवृत्ति की महत्ता को लक्ष्य किया था; किन्तु सार्वभौमत्व उस युग की माँग थी। अस्तु, वे आंचलिक प्रवृत्तियों को सार्वभौम प्रवृत्तियों के क्रोड़ में ही पनपाते रहे हैं। उनका कोई भी उपन्यास उठा लीजिए, उसमें एक-न-एक सीमा तक आंचलिक प्रवृत्ति मिलती ही है। 'गोदान' में तो आंचलिक प्रवृत्ति

और भी अधिक मुखर है।

श्री शिवपूजन सहाय के पश्चात् दूसरे प्रमुख आंचलिक उपन्यासकार हैं नागार्जुन। यह भी एक आश्चर्य की ही बात है कि आंचलिक उपन्यास का जन्म एक बिहारी कलाकार द्वारा ही होता है तथा उसे प्रौढ़ता भी नागार्जुन और रेणु जैसे बिहारी कलाकारों से ही मिलती है। लोग नागार्जुन को आंचलिक उपन्यास के 'आदि उन्नायक' के रूप में मानते हैं; पर वस्तुतः इन्हें 'आदि उन्नायक' कहना भूल ही है, प्रारम्भिक उन्नायकों में इनका नाम लिया अवश्य जायगा। इनके उपन्यासों में 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ', 'वरुण के बेटे' आदि प्रसिद्ध हैं। इन्होंने मिथिला-प्रदेश को अंचल के रूप में स्वीकार कर आंचलिक उपन्यासों की रचना की है। 'रतिनाथ की चाची' एक विधवा के माध्यम से नारी के दुर्भाग्य की कहानी है। 'बलचनमा' में दरभंगा जिले का विशद चित्रण है। इसमें लोकगीतों का भी पूर्ण उपयोग मिलता है। बलचनमा का व्यक्तित्व जंगली फूल-सा है। साथ ही, उसमें प्रगतिशीलता के भी तत्त्व हैं। नागार्जुन की साम्यवादी भावना भी विद्रोही स्वर में मुखर होती यहाँ दीखती है। 'बाबा बटेसरनाथ' में रूपशिल्प की भी नवीनता है। सारी कथा वटवृक्ष कह चलता है। 'वरुण के बेटे' में मछुओं की कहानी है। 'गढ़पोखर' और 'धनहर चौर' पर पलने वालों के जीवन का विशद चित्रण यहाँ मिलता है। इसमें महाजाल डालते समय मछुए के गीत, मधुरी और गंगारुखी द्वारा गाये गीतों के माध्यम से चित्रण में सजीवता लायी गयी है।

आंचलिक उपन्यासकारों में रांगेय राघव का भी अपना महत्त्व है। 'काका' और 'कबतक पुकारूँ' इनके महत्त्वपूर्ण आंचलिक उपन्यास हैं। 'काका' में मथुरा के जनजीवन का जीवन्त चित्रण है। इसकी आंचलिक भाषा दुर्बोधता का कहीं भी शिकार नहीं हुई है। 'कबतक पुकारूँ' में नटों के जीवन का चित्र है। चोरी करना, शराब पीना, स्त्रियों द्वारा शरीर बेचकर पैसे कमाना आदि नट-जीवन के चित्रों का बड़ी सफलता के साथ इसमें निदर्शन हुआ है। इसमें जितनी समस्याएँ उठायी गयी हैं, वे आंचलिक होकर भी सार्वदेशिक और सार्वभौम ही हैं। ब्रजी के प्रयोग के कारण ही आंचलिकता स्पष्ट हो जाती है।

आंचलिक उपन्यासकारों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नाम है श्री फणीश्वर नाथ रेणु का। इन्होंने अबतक केवल दो उपन्यासों की ही रचना की है—'मैला आँचल' और 'परती परिकथा'। वस्तुतः रेणुजी ने मात्र 'मैला आँचल' लिखकर ही जितना यश कमाया, उतना यश शायद प्रेमचन्द को ही मिला होगा। तभी तो आलोचकों की राय है—"'मैला आँचल' का लेखक यदि और कुछ न भी लिखता तो भी उपन्यासकार के रूप में वह अक्षय कीर्त्ति का अधिकारी होता" और "मैंने

इसे 'गोदान' के बाद हिन्दी का दूसरा वैसा महान् उपन्यास माना है।"

'मैला आँचल' में वे समस्त प्रवृत्तियाँ पूर्ण विकसित रूप में प्राप्त होती हैं जिनका श्रीगणेश आचार्य शिवपूजनसहाय जी ने 'देहाती दुनिया' में किया था। कथानक में असम्बद्धता, नायकविहीनता, बहिरंग की अपेक्षा अन्तरंग स्थिति पर जोर, ग्रामीण संस्कृति और यथार्थ जीवन का चित्रांकन आदि ही इसकी विशेषताएँ हैं। सबसे बड़ी बात है लेखक की तटस्थता। वह किसी भी पूर्वाग्रह का शिकार नहीं है। मध्यवर्गीय किसान और ग्रामीण जमीन्दार के संघर्षमय जीवन का जितना सफल चित्रण यहाँ है, अन्यत्र नहीं। मेरीगंज के आस-पास का वातावरण पूर्णतः सजीव-सा हो उठा है इसमें। सुराजी कीर्तन, सारंगा-सदावृज-लोकगीत, होली और खेत के गीत— ये सभी गाँव को सजीव रूप में सामने लाते हैं। वस्तुतः 'देहाती दुनिया' का ही इसे संशोधित और परिवर्द्धित रूप कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। डॉ० प्रशान्त, कमला, बालदेव, लक्ष्मी दासिन, ठाकुर रामकृपाल सिंह, हरगौरी, कालीचरण, खेलावनसिंह, बामनदास, महन्थ रामदास, तहसीलदार विश्वनाथप्रसाद, फुलिया, रामपियरिया आदि के माध्यम से लेखक ने आंचलिक जीवन की पूर्ण झाँकी दी है। रेणुजी की दूसरी रचना 'परती परिकथा' में परानपुर गाँव का चित्र है। इसमें 'मैला आँचल' के समान न तो कथा की धारा ही उतनी क्षीण है और न उतनी असम्बद्धता। इसकी परती भूमि-सम्बन्धी कथाओं में पूरी सजीवता मिलती है। निश्चय ही रेणुजी ने आंचलिक उपन्यासों को अक्षय यौवन दिया है। पर एक खटकने वाली बात भी है कि कहीं-कहीं इनमें आंचलिकता का आग्रह दुराग्रह बन कर सामने आया है।

इनके अतिरिक्त प्रमुख आंचलिक उपन्यासों में 'सागर, लहरें और मनुष्य' (उदयशंकर भट्ट), 'बया का घोंसला और साँप' (डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल), 'हौल्दार' (शैलेश मटियानी) 'पानी के प्राचीर' (डॉ० रामदरश मिश्र), 'बहती गंगा' (शिवप्रसाद), 'ब्रह्मपुत्र' (देवेन्द्र सत्यार्थी) आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। 'सागर, लहरें और मनुष्य' में मछुओं की कहानी है। इसकी नायिका है रत्ना। इसमें बम्बई के पश्चिमी तट पर स्थित बरसोवा ग्राम तथा उसके अंचल का चित्र उभारा गया है। इसमें लारेंस की उक्ति— "It can inform and lead into new place the flow of our sympathteic consciousness"— पूर्णतः चरितार्थ हुई है। यद्यपि इसमें लेखक ने पूर्वाग्रहों से अधिक काम नहीं लिया है, फिर भी उसका थोड़ा स्वर अवश्य वर्तमान है। चित्रण की दृष्टि से लेखक ने इसमें 'वरुण के बेटे' से अधिक सफलता पायी है।

'बया का घोंसला और साँप' में डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने नारिजीवन के दुख-दर्द का सफल चित्रण किया है। चित्रण का काम जमुना और सुभागी द्वारा

पूरा हुआ है। यद्यदि इसमें अस्वाभाविकता की कमी नहीं है, फिर भी यह रचना कई कारणों से महत्त्वपूर्ण है। इसका नाम भी पूर्णतः प्रतीकात्मक है। बया के रूप में सुभागी और साँप के रूप में समाज का चित्रण सफल है।

शैलेश मटियानी के 'हौल्दार' में कुमायूँ-प्रदेश के पर्वतीय अंचल का चित्र उभारा गया है। इसमें पहाड़ी अंचल के शब्द, लोकोक्ति आदि का प्रचुर प्रयोग है; पर दुर्बोधता कहीं नहीं मिलती है। ध्वनिवैशिष्ट्य और अर्थगाम्भीर्य की दृष्टि से इसका महत्त्व कुछ अधिक कहा जायगा। इसका नायक है धौलछीना गाँव का डूंगरसिंह। डूंगरसिंह की मानसिक कुण्ठा, विवशता, मनःस्थिति इत्यादि के चित्र सुन्दर हो सके हैं। कथा की धारा इसमें भी विच्छिन्न ही है।

डॉ० रामदरश मिश्र का 'पानी के प्राचीर' का कथानक गोरखपुर जिले से संयोजित है। राप्ती और गोर्रा नदियों के बीच का अचंल तथा कल्पित गाँव पाँडिपुरवा ही उपन्यास में चित्रित हुआ है। इसमें कई कथाओं के सँजोने का प्रयास है। जनजीवन के अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के पहलुओं के चित्र इसमें उभरे हैं। आंचलिक उपन्यासों में सरलता और रोचकता के लिए यह अवश्य प्रसिद्ध है। इसमें लोकगीत भी यथास्थान नियोजित हैं।

'बहती गंगा' यद्यपि आंचलिक उपन्यासों की सीमा में पूर्णतः नहीं आ पाती है, फिर भी इसका विशेष महत्त्व है शिल्प की नवीनता को लेकर। बहती गंगा के माध्यम से लेखक ने जीवन-गंगा का चित्रण बड़ी सफलता के साथ किया है। इसका नायक है 'काशी' नगर। देवेन्द्र सत्यार्थी का 'ब्रह्मपुत्र' मार्क ट्वेन के 'लाइफ ऑन द मिसीसीपी' की कमी को पूरा करता है। इसमें ब्रह्मपुत्र की घाटी का चित्रांकन हुआ है। लेखक ने इसमें उस संवेदना का स्पर्श करने में सफलता न पायी है जिसके कारण 'लाइफ ऑन द मिसीसीपी' प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त सर्वेश्वर दयाल का 'सोया हुआ जल', कमलेश्वर का 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ', श्री अमृतराय का 'नागफनी का देश', भैरवप्रसाद गुप्त का 'सती मैया का चौरा' आदि आंचलिक उपन्यासों में नवीन गति लेकर आये हैं। इधर यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, महंथ धनराज पुरी (अविरल आँसू), वीरेन्द्रनारायण (अमराई की छाँह), अमृतलाल नागर (सेठ बाँकेमल, बूँद और समुद्र), राजेन्द्र अवस्थी, बल-भद्र ठाकुर (नेपाल की वो बेटी), हिमांशु श्रीवास्तव (नदी फिर बह चली) आदि के प्रयत्न भी इसी ओर चल रहे हैं।

इस चर्चा की समाप्ति के पूर्व इतना कह देना आवश्यक है हिन्दी में आंच-लिक उपन्यासों की रचना विविधता में एकता तथा स्वातंत्र्योत्तर युग में यथार्थ चित्रण और संक्रान्ति का परिणाम है। सामाजिकता को छोड़कर उपन्यासकार मनोविश्लेषक भी बन रहा था। अस्तु, इसने दोनों के बीच के अन्तर को नष्ट

करने का भी प्रयत्न किया है। यहाँ आंचलिकता के नाम पर मात्र विकृतियाँ ही नहीं चित्रित होती हैं। जनजागरण की भावना को फैलाने का काम भी इसने बड़ी तेजी के साथ किया है। यदि इस विधा का समुचित उपयोग होता रहा और आंचलिकता औचित्य से लिपटी रही तो भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीयता को पनपाने का तथा अनेकता में एकता की भावना को फैलाने का इससे और कोई दूसरा सबल साधन न हो सकेगा। इसका भविष्य एक ही बात पर अधिक निर्भर करता है कि यह आंचलिकता की लपेट में सार्वभौमत्व का गला न टीपे। साथ ही, सन्देश और उद्देश्य में आंचलिकता की अपेक्षा सार्वभौमत्व को ही महत्त्व दे। आंचलिकता मानवीय सत्य को जितना ही अधिक अपनायेगी, उतना ही उज्ज्वल होगा उसका भविष्य। अभी तो इसके लिए अंचलों का हृदय खुला ही पड़ा है। आवश्यकता है सफल उपयोग की।

●

२४

हिन्दी नाटक : स्वरूप और विकास

[व्युत्पत्ति—तात्पर्य—भरत और शास्त्र—तत्त्व—वृत्तियाँ—पश्चात्य मत—दृश्यकाव्य के भेद—अवस्थाएँ और अर्थप्रकृतियाँ—सन्धियाँ—भारतीय और योरोपीय दृष्टि में अन्तर—नायक और नायिका—रस—अभिनय—वृत्तियाँ—रंग-मंच—हिन्दी में नाटकों की कमी के कारण—अंचलभाषाओं की देन—उत्थान—भारतेन्दु—प्रसाद—स्वातन्त्र्योत्तरकाल ।]

भारतीय साहित्यशास्त्र के अनुसार वाङ्गमय के रसात्मक अंश को काव्य कहा गया है। पुनः यह उद्घोषित किया गया है—'काव्येषु नाटकं रम्यम् ।' अर्थात् वाणी का शृंगार है काव्य और काव्य का शृंगार है नाटक। काव्य के रूप हैं दो— श्रव्य और दृश्य। भारतीय परम्परा के अनुसार नाटक भी काव्य ही है, पर है वह दृश्यकाव्य। यहाँ नाटक में दृश्ययोजना के बावजूद काव्यत्व अक्षुण्ण है। कालिदास, भवभूति आदि भारतीय साहित्य में नाटककार के साथ कविरूप में भी श्रद्धेय हैं। पश्चिमी परम्परा यहाँ से भिन्न है। वहाँ भी यद्यपि मध्ययुग तक प्रायः अधिकांश नाटक कविता में ही लिखे गये हैं, फिर भी काव्यत्व का इतना महत्त्व नहीं रहा है। आधुनिक युग में तो वहाँ काव्यत्व को सर्वथा अनादर ही मिला है। इब्सन और बर्नार्ड शॉ जैसे नाटककारों ने यथार्थवाद के नाम पर नाटक को पूर्णतः तार्किक और गद्यात्मक रूप दे डाला है। अभी हाल ही में प्रतिक्रिया भी प्रारम्भ हो गयी है और पुनः काव्यमय रूपक लिखे जाने लगे हैं। टी० एस० इलिएट ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

आदि आचार्य भरत ने नाटक के लिए 'नाट्य' शब्द प्रयुक्त किया है। इसी के समानान्तर दो और शब्द मिलते हैं—नृत्त और नृत्य। तीनों शब्दों की व्युत्पत्ति 'नट्' अथवा 'नृत्त' से बतायी जाती है, पर अर्थ में भिन्नता है। नृत्त ताललयाश्रित होता है, नृत्य भावाश्रित और नाट्य रसाश्रित। 'नाट्य' की व्याख्या 'भावानुकृतिर्नाट्यम्' अथवा 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' कहकर की गयी है। इसके निमित्त 'रूपक' शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ है रूप का आरोप—'रूपारोपात्तु रूपकम् ।' नाटक का अँगरेजी में बोधक शब्द है 'ड्रामा'। 'ड्रामा' का प्राचीन अर्थ है 'कृत'। आज उसका भी अर्थ विकसित हो गया है। रूपक और नाट्य पर्यायवाची शब्द होकर भी सूक्ष्म भिन्नता लिये हैं। हिन्दी का 'नाटक' शब्द भी आज इनका पर्यायवाची ही है। पहले यह रूपक का एक भेदमात्र था।

आचार्य भरत का 'नाट्यशास्त्र' भारतीय परम्परा का प्राचीनतम उपलब्ध साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसमें नाटकों का जो विस्तृत और यथार्थ विवेचन मिलता है, उससे स्पष्ट है कि भारतीय परम्परा में दृश्यकाव्य सामाजिक और काव्य की दृष्टि से समान महत्त्व रखता था। इसीलिए आचार्य भरत ने दर्शक की वृत्तियों के विवेचन के साथ-साथ प्रेक्षागृह का भी विस्तृत विवरण दिया है। यह ग्रन्थ सिर्फ साहित्यिक दृष्टि से ही दृश्य-काव्य का विवेचन नहीं करता है, अपितु अभिनयकला, संगीतकला, नृत्त और नृत्यकला, प्रेक्षागृहनिर्माणकला इत्यादि का भी विवेचन करने वाला अद्वितीय ग्रन्थ है। विद्वानों का अनुमान है कि इसकी रचना ईसवी सन् के प्रारम्भ के आस-पास हुई होगी। बाद में चलकर इसपर कई टीकाएँ लिखी गयीं एवं इसके रससम्बन्धी सिद्धान्त को लेकर जो विवाद उठ खड़ा हुआ, उसी के कारण साहित्यशास्त्र को बहुत-कुछ प्रौढ़ता भी मिली। भरत के पश्चात् नाटक पर साहित्यशास्त्रियों का ध्यान इस गम्भीरता के साथ कभी नहीं टिका। छिटफुट विवेचन तो हुए, पर पुनः 'नाट्यशास्त्र' का प्रतिद्वन्द्वी ग्रन्थ नहीं लिखा गया। 'साहित्यदर्पण' और 'दशरूपक' बाद के ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण हैं।

भारतीय परम्परा के अनुसार नाटक के तीन तत्त्व हैं—वस्तु, नेता और रस। अभिनय और वृत्तियों को तत्त्व के रूप में स्वीकार करने पर इनकी संख्या पाँच हो जाती है। पाश्चात्य परम्परा के अनुसार वस्तु, पात्र, संवाद, देश-काल, शैली और उद्देश्य—कुल छह तत्त्व स्वीकार किये गये हैं।

नाटक में वस्तु का तात्पर्य है कथावस्तु से। इतिवृत्त, अधिकारी, अभिनय और संवाद की दृष्टि से वस्तु के कई भेद होते हैं। इतिवृत्त के आधार पर वस्तु के तीन प्रकार हैं— प्रख्यात (ऐतिहासिक), उत्पाद्य (काल्पनिक) और मिश्रित। दृश्य-काव्य के रूपक और उपरूपक के क्रमशः दस और अठारह भेदों में से कुछ के लिए ऐतिहासिक वस्तु का होना अनिवार्य माना गया है। इसी प्रकार कुछ के लिए कल्पित वस्तु का ही विधान है। कुछ में दोनों का सफल सामंजस्य होना भी कथित है। सामान्यतः भारत के महान नाटकों की वस्तुएँ ऐतिहासिक ही हैं।

अधिकारी के अनुसार वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं— आधिकारिक और प्रासंगिक। आधिकारिक कथा मूलकथा होती है और गौण कथाएँ प्रासंगिक। इसके भी 'पताका' और 'प्रकरी' दो रूप होते हैं। पताका अपेक्षाकृत बड़ी कथा होती है जो परिस्थितिविशेष में उत्पन्न होकर दूर तक चलती है। प्रकरी छोटी कथा होती है। यह विशेष स्थिति में बीच उत्पन्न होती है और विलीन हो जाती है। जहाँ-कहीं प्रस्तुत भाव एक ही होता है और आगन्तुक भाव कुछ और ही कार्य करा देते हैं, वहाँ पताका बदलकर 'स्थानक' हो जाती है।

अभिनय के अनुसार वस्तु दो कोटि की होती है— दृश्य और सूच्य। जिन

वस्तुओं का रंगमंच पर प्रदर्शन नहीं किया जाता है, उनकी मात्र सूचना ही दी जाती है। ये ही सूच्य वस्तु के अन्तर्गत आते हैं। सूच्य अथवा अर्थोपक्षेपक अंश भी पाँच प्रकार के होते हैं— विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार और अंकमुख। जब भूत अथवा भविष्य की घटनाएँ मध्यम श्रेणी के पात्रों द्वारा किसी अंक के पहले सूचित की जाती हैं, तो उसे 'विष्कम्भक' कहते हैं। 'प्रवेशक' भी विष्कम्भक की तरह ही सूचना देता है, किन्तु यहाँ सूचना देने वाला पात्र नीच होता है और भाषा भी प्राकृत होती है। यह प्रथम अंक में नहीं आता है। नेपथ्य द्वारा किसी बात की सूचना मिलने पर उसे 'चूलिका' कहते हैं। जब विना पात्रपरिवर्त्तन किये ही पहले अंक की कथा आगे चलायी जाती है, तो 'अंकावतार' होता है। जब अंक के अन्त में जाते हुए पात्र से अगले अंक की कथा की सूचना मिलती है तो उसे 'अंकमुख' या 'अंकास्य' कहते हैं।

अभिनय की दृष्टि से पात्रों का प्रवेश भी विचारणीय है। प्राचीन नाटकों में सूत्रधार, नटी, स्थापक इत्यादि नाटक के प्रारम्भ में आते हैं। निर्विघ्न कार्य समाप्ति के लिए 'नान्दीपाठ' और 'भरतवाक्य' का विधान अनिवार्य माना गया है। कथा को जोड़ने के प्रकारों की दृष्टि से प्रस्तावना के पाँच भेद— उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्त्तक और अवगलित— किये गये हैं।

रंगशाला में काम करने वालों (पात्रों) के संवाद के विचार से—नाट्य के अनुरोध से वस्तु के तीन और भेद हैं— सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य और अश्राव्य। किसी पात्र की उक्ति यदि रंगशाला के सभी उपस्थित व्यक्ति सुनें तो सर्वश्राव्य, यदि उनमें से कुछ ही सुनें तो नियतश्राव्य वस्तु होती है। कभी-कभी पात्र ऐसी बात भी कहते हैं, मानो वे किसी को कुछ सुनाना नहीं चाहते हैं, किन्तु कथाविकासादि में उस कथन का भी महत्त्व होता है। उसे ही अश्राव्य, स्वगत अथवा आत्मगत कथन कहते हैं। नियतश्राव्य के जनान्तिक और अपवारित दो और भेद होते हैं। जब पात्र आकाश की ओर देखता हुआ कुछ कहता है तो वह आकाशभाषित कहा जाता है।

भारतीय दृष्टि से वस्तु की घटना के विकासक्रम की पाँच अवस्थाएँ होती हैं— आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। फल की प्राप्ति की उत्सुकता को आरम्भ, फल की प्राप्ति के लिए आवश्यकतानुसार उत्सुकतायुक्त व्यापार को प्रयत्न, फल की प्राप्ति की सम्भावना जब थोड़ी आशंका से घिरी हो तो उसे प्राप्त्याशा, विघ्नों के हटने पर प्राप्ति के निश्चय को नियताप्ति और सम्पूर्ण फलप्राप्ति को फलागम कहते हैं।

वस्तु को प्रधान फल की ओर अग्रसर करने वाले चमत्कारयुक्त अंशों को 'अर्थप्रकृति' कहते हैं। ये हैं— बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। मुख्य फल के प्रथम हेतु को अथवा कथा के मुख्य अंश को, जिसका क्रमशः अनेक रूपों में

विस्तार होता है, 'बीज' कहते हैं। कथा के विच्छिन्न हो जाने पर भी प्रधान कथा से जोड़कर कथा को अग्रसर करने वाले हेतु को 'विन्दु' कहते हैं। पताका और प्रकरी की चर्चा ऊपर हो चुकी है। जिसके लिए फल की सिद्धि तक सब उपाय संग्रहीत किये जायँ, उसे 'कार्य' कहा जाता है। घटना की दृष्टि से निरूपित अवस्थाएँ और वस्तु की दृष्टि से विवेचित अर्थप्रकृतियाँ सफल नाटकों में साथ-साथ चलती हैं। अन्तर यह है कि प्रथम में घटना की दृष्टि से विवेचन किया जाता है और द्वितीय में कथावस्तु की दृष्टि से।

नाटककार की दृष्टि से, नाटक की वस्तु का विभाजन भिन्न रूप में किया गया है। नाटककार का उद्देश्य होता है रसोद्रेक। रस के प्रसंग में आचार्य भरत ने 'संयोग' शब्द प्रयुक्त किया है। नाटककार घटना और कथावस्तु के संयोग से अपने उद्देश्य में सफलताप्राप्ति का प्रयत्न करता है। रचना की दृष्टि से जहाँ अवस्था और अर्थप्रकृति का संयोग होता है, उसे 'सन्धि' कहते हैं। संधियाँ पाँच मानी गयी हैं— मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहन अथवा उपसंवृति। मुख में आरम्भ और बीज, प्रतिमुख में प्रयत्न और विन्दु, गर्भ में प्राप्त्याशा और पताक, विमर्श में नियताप्ति और प्रकरी तथा निर्वहन में फलागम और कार्य का संयोग होता है। भारतीय परम्परा की दृष्टि से विवेच्य नाटकों में सन्धियों का विशेष महत्त्व रहा है। नाटककार के कौशल की परीक्षा यहीं होती रही है। सन्धियों के अन्तर्गत उपसन्धि, अन्तःसन्धि, सन्ध्यन्तर इत्यादि की भी चर्चा की जाती रही है; पर यहाँ विस्तारलाघव ही अपेक्षित है।

योरोपीय दृष्टि से नाटक की वस्तु के छह भाग किये गये हैं— संघर्ष की स्थिति, संघर्ष का प्रारम्भ, संघर्ष की तीव्रता, संघर्ष की पराकाष्ठा, संघर्ष का अवरोह और संघर्ष की समाप्ति (Exposition, Incident, Rising action, Climax, Catastrophe and Conclusion)। भारतीय और योरोपीय दृष्टि में मूल अन्तर यह है कि प्रथम के अनुसार नाटक के मूल में कार्य होना चाहिए, किन्तु द्वितीय के अनुसार विरोध अथवा संघर्ष। यह अन्तर दोनों की जीवनदृष्टि का अन्तर है। योरोपीय दृष्टिकोण संघर्षमूलक रहा है, किन्तु भारतीय दृष्टिकोण कार्य को महत्त्व देकर भी वृत्तियों के शमन को महत्त्व देता रहा है। इस मान्यता के अन्तर के कारण ही दोनों की नाट्यपरम्पराओं में स्पष्ट अन्तर दीखता है। भारतीय नाटक संघर्ष और अन्तर्विरोध के चित्रण के बावजूद आशावादी है, पर पाश्चात्य नाटक संघर्ष का अन्त न खोज सकने के कारण मूलतः निराशावादी—त्रासद—हो गया है।

पाश्चात्य नाट्य-साहित्य में कतिपय अन्य नाटकीय वस्तुएँ भी मिलती हैं, जिनमें कथायोजना में समानान्तरवाद (पैरेलेलिज्म), असादृश्य (कण्ट्रास्ट),

संकलनत्रय (थ्री यूनीटीज), विरेचन (पर्गेशन) आदि के नाम लिये जायँगे। मुख्य कार्य के एक अंश का मुख्य भाव जब उसके दूसरे अंश में पुनः आकर उपस्थित होता है और दोनों अंश एक-दूसरे के मुख्य भाग की पुष्टि करते हैं तो उसे ही समानान्तरवाद कहा जाता है। नाटकीय वस्तु में असादृश्य का प्रयोग सशक्तता के लिए होता है। इसी में संघर्ष के बीज छिपे रहते हैं। असादृश्य का प्रयोग चरित्रांकन के लिए भी होता है। पात्रों की विशेषताएँ इससे ही उभरती हैं। वस्तु में सादृश्य की स्थिति कायम रखने के हेतु वहाँ रहस्यगोपन और आकस्मिक विस्मय (कन्सीलमेंट सर्प्राइज) से भी काम लिया जाता है। इन सबों से भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है संकलनत्रय का। अरस्तु ने संकलनत्रय पर विशेष बल दिया है। कला के क्षेत्र में वह अनुकृति के सिद्धान्त का पोषक था। उसका विश्वास था कि न सिर्फ स्वरूपतः बल्कि प्रकृततः भी कलाकार को प्रकृति का अनुकरण करना होगा। इसी से उसने घोषित किया कि वास्तविक स्थान, काल और घटना का विपर्यय नाटक में नहीं होना चाहिए। अर्थात्, वास्तविक घटना जिस स्थान पर जितने समय में हुई है, उसका पालन नाटक में उसी रूप में होना चाहिए। उसने यह भी सीमा बाँध दी कि नाटककार चौबीस घंटे से अधिक का समय नहीं ले सकता है। संकलनत्रय का यह सिद्धान्त स्थान, काल और घटना के उसी ऐक्य का बोधक है। एसकीलस, कीपडी, सोफोक्लीज आदि नाटककारों ने ही नहीं, अपितु एक हजार वर्ष तक नाटककारों ने इस सिद्धान्त का खूब पालन किया है। पुनर्जागरण-युग में इस मान्यता का प्रबल विरोध हुआ। शेक्सपीयर, मोलियर, रेशियन आदि ने इसका अतिक्रमण कर नयी मान्यता स्थापित की है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इनलोगों ने अन्वितित्रय को बिल्कुल माना ही नहीं। नहीं, इनलोगों ने बाह्य अन्विति के बदले आन्तरिक अन्विति पर जोर अधिक दिया है। यद्यपि संकलनत्रय का सिद्धान्त पुराना हो गया है, किन्तु अरस्तू की अन्य मान्यताओं की तरह इसका भी अपना महत्त्व है ही। संकलनत्रय की तरह ही अरस्तू ने विरेचन के सिद्धान्त पर भी बल दिया है। साधारणीकरण (भारतीय मत) की तरह ही इसका भी अपना महत्त्व है। डॉ० नगेन्द्र ने विरेचन का प्रयोग तीन अर्थों में माना है—धर्मपरक, नीतिपरक और कलापरक। कलापरक रूप में विरेचन का सिद्धान्त 'भावों का परिष्करण और संयमन' करता है। इसे ही अधिक स्पष्ट रूप में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि "अरस्तू ने इस शब्द का प्रयोग रजोगुणी और तमोगुणी भावों के निराकरण और सतोगुणी भावों के उत्कर्षण के अर्थ में ही किया है।" यह अभिनवगुप्त के साधारणीकरण वाले मत से मिलता-जुलता-सा है।

नाटक का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है नेता। नेता वस्तु से महत्त्वपूर्ण इसी

कारण प्रतीत होता है कि कथा का संयोजक वही है। उसी का व्यक्तित्व नाटक को गति प्रदान करता है। नेता का अर्थ ही होता है 'ले जाने वाला'। जो पात्र नाटक को फलागम की ओर ले जाता है, वही नेता कहा जाता है। नाटक के सभी पात्रों में यही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। भारतीय दृष्टि से नाटक के नेता को धीर होना चाहिए, यानी वह नाटक की कथा को बीच में ही छोड़कर भाग न खड़ा हो। धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत जैसे विभाजन में भी धीर सामान्यधर्म का ही बोधक है। धनंजय के अनुसार नेता को विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, शुचि, रक्तलोक, वाग्मी, रूढ़वंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान्, प्रज्ञावान्, स्मृतिसम्पन्न, उत्साही, कलावान्, शास्त्रचक्षु, आत्म-सम्मानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी और धार्मिक होना चाहिए। उसमें शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, स्थैर्य, तेज, लालित्य और औदार्य—इन आठों सात्त्विक गुणों का होना भी अनिवार्य है। शृंगार से सम्बद्ध चार प्रकार के नायक की कल्पना की गयी है— अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट। नाटक के अन्य पात्रों में प्रतिनायक, पीठमर्द, विदूषक, भृत्य, पुरोहित आदि की कल्पना की गयी है। प्रतिनायक नायक का सदा प्रतिद्वन्द्वी होता है। इसके लिए धीरोद्धत होना आवश्यक है। प्रासंगिक कथा का नायक पीठमर्द कहा जाता है। संस्कृत नाटकों में हास्य की सृष्टि के लिए विदूषक की कल्पना है। पश्चिमी नाटकों में क्लाउन भी ऐसा ही पात्र है, पर विदूषक और क्लाउन में पर्याप्त अन्तर है।

नायक की पत्नी या प्रिया नायिका कही जाती है। आज यह मत मान्य नहीं है। आज की स्थिति में नायिका वही नारी कही जायगी जो नाटकीय कथावस्तु के विस्तार में पूर्णतः योग दे। आचार्य भरत ने नायिका के— दिव्या, नृपत्नी, कुलस्त्री और गणिका— ये रूप माने हैं। आगे चलकर स्वकीया, परकीया और सामान्या प्रमुख हुईं। आज के युग में यह मत भी खिसकता-सा प्रतीत हुआ है। राष्ट्रीयता और देशप्रेम से सराबोर नारियाँ किस कोटि में रखी जायँ? यह उपेक्षणीय प्रश्न नहीं है। नायिकाओं का वर्गीकरण नवीन सुधार चाह रहा है। सूत्रधार, नट-नटी, स्थापक इत्यादि अन्य महत्त्वपूर्ण पात्र भी नाटकों में इसी इसी प्रकार विचारणीय हैं।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्रीय परम्परा में नेता पर अलग से विचार न करके चरित्रचित्रण पर ही समग्र रूप से विचार किया गया है। नाटकों में चरित्रचित्रण के निमित्त विश्लेषणात्मक या प्रत्यक्ष पद्धति काम में नहीं लायी जाती है। यह पद्धति उपन्यास आदि में ही उपयोगी होती है। यहाँ नाटककार तटस्थ रहता है। चित्रण के लिए मुख्य रूप से कथोपकथनों, स्वगतभाषणों या पात्रों के कार्यों का ही उपयोग होता है। (चरित्रचित्रण के सम्बन्ध में विशेष के लिए देखिए—

'हिन्दी उपन्यास : स्वरूप और विकास')।

भारतीय परम्परा के अनुसार नाटक का तीसरा प्रमुख तत्त्व है रस। भारतीय काव्य का लक्ष्य है अलौकिक आनन्द की प्राप्ति। इसे ही रस की संज्ञा दी गयी है। यह सहृदयों में बीजरूप में वर्त्तमान रहता है। अनुकूल परिस्थिति पाकर यह उद्‌बुद्ध होता है और साधारणीकरण—रसदशा को प्राप्त करता है। आचार्य भरत ने नाटकों में आठ रस ही माना है, पर प्रधानता है शृंगार और वीर की ही। अन्य रस गौण होते हैं। शान्त-रस नाटक में इसलिए स्वीकृत नहीं हुआ कि अभिनेता 'निर्वेद' के कारण इसका न तो अभिनय ही कर पायँगे और न सामाजिक इसे पसन्द ही करेंगे।

रस के सम्बन्ध में आचार्य भरत का प्रसिद्ध सूत्र है—'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः'। इस सूत्र की विभिन्न व्याख्याओं में अभिनवगुप्त की व्याख्या ही अधिक मान्य हुई है। प्रसिद्ध मराठी विद्वान् बरेरकर का मत है कि शंकुक, लोल्लट, भट्टनायक, अभिनवगुप्त इत्यादि ने इस सूत्र की व्याख्या काव्य की दृष्टि से की है, नाटक की दृष्टि से नहीं। नाटक की संगति पर ध्यान रखते हुए बरेरकर का विचार है कि आचार्य भरत ने यह सूत्र दर्शक को ध्यान में रखकर लिखा है। अतः इसका तात्पर्य यह हुआ कि अभिनय को देखने के पश्चात् दर्शक का भाव उद्‌बुद्ध हो रसदशा को प्राप्त होता है। अस्तु, नाटक में अभिनेयता की दृष्टि से भी रस महत्त्वपूर्ण है और इसीलिए आचार्य भरत ने अभिनयकला से सम्बद्ध सारी वस्तुओं का विस्तृत विवेचन किया है जो अनावश्यक नहीं है। श्रव्यकाव्य का श्रोता जिस रूप में काव्यश्रवण से प्रेरित हो रस का अनुभव करता है, वह स्थिति दृश्यकाव्य के दर्शक से भिन्न नहीं है। बरेरकर के ये सुझाव नाट्यशास्त्र की दृष्टि से एक अमूल्य रहस्योद्‌घाटन हैं।

नाटकों की भारतीय परम्परा में उद्देश्य की चर्चा अलग से नहीं की गयी है। उद्देश्य रस में समाहित है। पश्चिमी देशों में उद्देश्य को अलग से एक तत्त्व स्वीकार किया गया है। यह प्रत्येक नाटक में 'व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में रहता ही है। अब यह किसी प्रकार की जीवनमीमांसा या विचारसामग्री के रूप में आता है। इसका सम्बन्ध आन्तरिक अथवा बाह्य संघर्षों से होता है। उद्देश्य एक प्रकार से संघर्ष के शमन का ही मार्ग है।' नाटककार इसकी व्यंजना किसी पात्र अथवा वस्तु द्वारा कराता है। आजकल के बुद्धिवादी नाटकों, विशेषतया समस्यानाटकों में इसकी प्रधानता होती है। मानवसहानुभूति का विस्तार तो प्रायः सभी नाटकों का उद्देश्य होता ही है। (उद्देश्य की विशेष चर्चा के लिए देखिए— 'हिन्दी उपन्यास : स्वरूप और विकास')।

भारतीय दृष्टि से नाटक का चौथा तत्त्व है अभिनय। आज जब नाटकों की

रंगमंचीयता की चर्चा की जाती है तो प्रकारान्तर से अभिनय पर ही विचार किया जाता है। भारतीय आचार्यों ने अभिनय के चार प्रकारों की चर्चा की है—आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य। आंगिक अभिनय में अंगों के संचालन और रसों के अनुरूप मुखाकृति की चर्चा की गयी है। वाचिक अभिनय आंगिक अभिनय को स्पष्टता देता है। इसके लिए भाषाशास्त्र (स्वरशास्त्र, व्याकरण तथा छन्दःशास्त्र) का ज्ञान अपेक्षित है। सात्त्विक अभिनय में स्तम्भ, स्वेद, कम्प, रोमांच आदि आते हैं तथा आहार्य अभिनय में वेशविन्यास पर विचार किया गया है।

योरोपीय नाट्यशास्त्र में अभिनय की चर्चा की कमी तो है, पर इसका कार्य सम्भवतः कथोपकथन पर विचार करके ही चला लिया गया है। कथोपकथन पर भारतीय आचार्यों ने भी ध्यान दिया है, जिसकी हल्की चर्चा कथावस्तु के प्रसंग में की जा चुकी है। वस्तु के विकास में कथोपकथन सर्वाधिक सहायक है। नाटकीय लाघव (ड्रामेटिक इकोनॉमी) में छोटे और सशक्त कथोपकथन अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। कथोपकथन में पात्रोचित, सरल, सुबोध और शिष्टजनसम्मत भाषा की भी अपेक्षा होती है। इसमें आंचलिकता के पुट भी हो सकते हैं, पर सार्वभौमत्व ही असल है। प्रसादजी की भाषा नाटकोचित नहीं मानी जाती है; पर इस कथन पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। (विशेष के लिए देखिए—'हिन्दी उपन्यास : स्वरूप और विकास)।

नाटक के पाँचवें तत्त्व के रूप में भारतीय दृष्टि से वृत्तियों को स्थान दिया जायगा। ये 'नाट्यमातरः' कही गयी हैं। वृत्तियाँ चार प्रकार की होती हैं—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती। इनके सम्बन्ध में यह श्लोक ध्यान देने योग्य है—

'शृंगारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च वीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती।'

भारती वृत्ति का सम्बन्ध मूलतः पुरुषों से ही है। पाश्चात्य आलोचना में वृत्तियाँ तो नहीं मिलती हैं, पर इसी के समानान्तर शैली को आवश्यक नाट्यतत्त्व माना अवश्य गया है। वृत्तियों को शैली का पर्याय नहीं माना जा सकता है। वृत्तियों की तरह यहाँ गौड़ी, पांचाली आदि रीतियों की भी चर्चा हुई है। रीतियाँ शैली के निकट अधिक पड़ती हैं। (विशेष के लिए देखिए—'हिन्दी उपन्यास : स्वरूप और विकास')।

पश्चिम में नाटकों पर विचार करते हुए देश-काल अथवा वातावरण को एक आवश्यक तत्त्व माना गया है। भारतीय दृष्टि में देश-काल उपेक्षित-सा ही रहा है। इसका हल्के रूप में समावेश 'वस्तु' में ही मिल जाता है। वस्तुतः कोई भी रचना सर्वथा देशकालनिरपेक्ष नहीं हो सकती है। नाटकों में भी इसका आवश्यक उपयोग होता ही है। (विशेष के लिए देखिए—'हिन्दी उपन्यास : स्वरूप और विकास')।

नाटक के उपर्युक्त तत्त्वों पर विचारने के पश्चात् रंगमंच पर भी विचारना आवश्यक प्रतीत होता है। नाटक का रंगमंच से अटूट सम्बन्ध है। रंगमंच ही वह प्रयोगस्थल है जहाँ सफल नाटकों की परीक्षा होती है। भारत के प्राचीन रंगमंच बहुत विकसित थे। मध्यकाल में इनका सर्वथा अभाव हो जाता है। हिन्दी नाटकों का रंगमंच पारसी थियेटरों के रंगमंच के रूप में दीखता अवश्य रहा है। आज स्कूल, कालेज आदि में शौकिया एमेच्योर रंगमंच कभी-कभी दीखते हैं। भारतेन्दु ने हिन्दी रंगमंच की ओर ध्यान दिया था अवश्य, पर उसका उचित विकास न हो सका। आज विज्ञान के नवीनतम साधनों के उपयोग से तथा अँगरेजी रंगमंच के आधार पर पृथ्वी थियेटर्स जैसे कुछ रंगमंच सामने आ चुके हैं। इससे हिन्दी रंगमंच के विकास की थोड़ी आशा अवश्य जगी है, पर डर है सिनेमा का। काशी की 'नागरी नाटक मंडली' ने हिन्दी रंगमंच के विकास में समुचित योग दिया है। इधर भारत सरकार की 'संगीत-नाटक-अकादमी' से भी थोड़ा प्रोत्साहन मिल रहा है। आज हिन्दी रंगमंच को जीवित रखने में व्यवसायी और अव्यवसायी—दोनों प्रकार के कलाकार सजग हैं, पर समुचित ज्ञान और प्रशिक्षण के अभाव में आशातीत सफलता नहीं मिल रही है। नई दिल्ली का 'राष्ट्रीय नाटक स्कूल' और 'एशिया थियेटर इंस्टिच्यूट' से भी इस सम्बन्ध में पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

हिन्दी नाटक के विकास की चर्चा के पूर्व नाटक की उत्पत्ति भी विचारणीय है। मनोवैज्ञानिकों ने नाटक की उत्पत्ति के मूल में चार प्रवृत्तियों की चर्चा की है—अनुकरण की प्रवृत्ति, परस्पर परिचय द्वारा आत्मविस्तार की प्रवृत्ति, जातीय गुणों की रक्षा की प्रवृत्ति और आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति। प्रायः इनमें से किसी एक अथवा एक ही बार सभी प्रवृत्तियों के कारण ही परिस्थितिविशेष में नाटक की रचना होती है।

भारतीय नाटकों की उत्पत्ति पर विचार करते समय विदेशियों ने तटस्थ और स्वस्थ विचार से काम न लेकर अतिरंजना से काम लिया है। जातीय द्वेष, ईर्ष्या आदि के कारण उन्होंने सदा गलत विचार देकर भारत की प्रत्येक कला को पश्चिम से प्रभावापन्न ही बताने की चेष्टा की है। भारतीय नाटकों का विकास, डॉ० रिजवे के अनुसार, मृत वीरों की पूजा से, प्रो० हिलेब्राँ और कोनो आदि के अनुसार लौकिक और सामाजिक उत्सवों से, डॉ० पिशेल के अनुसार कठपुतली आदि के नाच से हुआ है। इन विचारों के द्वारा वे केवल यही कहना चाहते हैं कि यहाँ नाटक का विकास बहुत पीछे चल कर हुआ है, जिसपर पश्चिम का प्रभाव अवश्य रहा है। सच बात तो यह है कि कठपुतलियों के नाच नाट्य-कला के अनुकरण पर ही प्रारम्भ हुए हैं। दूसरी बात यह है कि भारत में सामाजिक, लौकिक और धार्मिक आदि कार्यों में कोई स्पष्ट विभेदक रेखा नहीं खींची जा

सकती। धर्म तो भारतीय जीवन का आवश्यक अंग रहा है। यूनानी नाट्य-कला से भारतीय नाट्य-कला को प्रभावित मानने वालों ने 'यवनिका', 'शकारि' आदि शब्दों की घुस-पैठ का प्रश्न शुरू किया था, जिसका खोखलापन सामने आ चुका है। वस्तुतः भारत में 'यवनिका' नहीं, 'जवनिका' शब्द प्राचीनतर है। इसी प्रकार भारत में सम्मिलित गानों (Chorus) के प्रभाव की बात ही नहीं की जा सकती। हमारे यहाँ के अंकों का विभाजन इससे अधिक प्राचीन रहा है। तात्पर्य यह है कि विदेशियों द्वारा भारतीय नाट्य-कला की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दिये गये विचार भ्रामक हैं। ये हमें गलत ढंग से सोचने को बाध्य कर रहे हैं। नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दिये गये आचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र' के विचार हमें ऐसा सोचने को बाध्य करते हैं कि भारत में नाटक की कला का विकास पूर्ववैदिक युग में ही हुआ था। धर्मप्राण देश भारत में इसकी प्रेरणा धार्मिक कृत्यों से ही मिली थी। ईसवी सन् के पूर्व के नाटक (भास के नाटक) इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं कि यहाँ की नाट्य-कला प्राचीन समय में ही अधिक विकसित हो चुकी थी। लौकिक संस्कृत साहित्य में नाटकों का पूर्ण विकसित रूप मिलता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्ययन से एक बात और महत्त्वपूर्ण जँचती है कि हिन्दी में नाटकों का सफल रूप में प्रणयन आधुनिक काल में ही हो चलता है। पूर्ववर्त्ती युगों में सफल नाटकों का प्रायः अभाव ही है जबकि संस्कृत में एक-से-एक उत्तम नाटक रचे गये हैं। मध्यकालीन हिन्दी में नाटकों के अभाव के कारणों पर विचारने से निम्नांकित बातें सामने आती हैं—

(क) उत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य में ह्रासोन्मुख नाटकों का प्रणयन एवं इन्हीं नाटकों का हिन्दी पर प्रभाव।

(ख) संतों और भक्तों का समाज से अपेक्षाकृत कम सम्बन्ध रखना जिससे नाटक-रचना की प्रवृत्ति का कम जाना। इस समय के साहित्यकार मूलतः संत और भक्त ही हैं।

(ग) भारत में मुसलमानों का शासन। धर्म के प्रभाव के कारण शासकों से किसी प्रकार की प्रेरणा न मिलना तथा फारसी साहित्य में नाटकों का अभाव।

(घ) अशान्त वातावरण। मार-काट के क्षुब्ध वातावरण में जातीय जीवन का निरुत्साह हो जाना।

(ङ) साहित्य का जनता से दूर हो जाना और राजाओं के इच्छानुसार साहित्यकारों द्वारा साहित्य तैयार करना।

(च) हिन्दी में गद्य का अभाव।

उपर्युक्त कारणों से ही हिन्दी में आधुनिक काल के पूर्व सफल नाटकों की रचना नहीं हो पायी। थोड़े-बहुत पद्यबद्ध नाटक ही मिलते हैं। इन पद्यबद्ध

नाटकों में संस्कृत की पिछली ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति ही फली-फूली है।

हिन्दी नाटक का शोधपूर्ण अध्ययन करने वाले डॉ० दशरथ ओझा हिन्दी नाटकों का उद्भव तेरहवीं शताब्दी में मानते हैं। वे 'गय सुकुमार रास' (१२८६ वि०) को हिन्दी का प्रथम नाटक मानते हैं। उनके अनुसार, इसमें रास के सभी तत्त्व विद्यमान हैं। यह नाट्य-रासक है। 'भरतेश्वर बहुबली रास' भी ऐसी ही रचना है। अपने शोधग्रन्थ में उन्होंने इसकी कथा तो अवश्य दी है, पर इसके नाटकीय तत्त्वों की चर्चा छोड़ दी है। अस्तु, इसके सम्बन्ध में विशेष कुछ नहीं कहा जा सकता। इधर 'रास और रासान्वयी काव्य' में उन्होंने लिखा है—"नाटकीय तत्त्वों से युक्त सर्वप्रथम हिन्दी में मागधी नाटकों (मैथिली नाटकों) का पता चला है। विद्यापति-लिखित 'गोरक्षविजय' में संस्कृत गद्य और मागधी पद्य के दर्शन होते हैं। विद्यापति की विकसित परम्परा में 'विद्याविलाप', 'मुदित कुवलयाश्व', 'हरगौरीविवाह', 'उषाहरण', 'पारिजातहरण', 'प्रभावती-हरण' आदि की रचना नेपाल में होती है तथा 'नलचरितनाटक', 'आनन्दविजय-नाटक', 'उषाहरण', 'रुक्मिणीहरण', 'पारिजातहरण' आदि की रचना मिथिला में। यह परम्परा आगे विकसित ही रहती है। इन नाटकों में आंचलिक भाषा का पुट तो है, पर मागधी की ही प्रमुखता है। आंचलिक प्रभाव के कारण ही लोग इन्हें मैथिली नाटक भी कहते हैं।"

जिस समय हिन्दी-प्रदेश के पूर्वांचल में मागधी नाटक विकसित हो रहे थे, उसी समय व्रज-प्रदेश में रासलीला-नाटकों का भी लेखन आरम्भ हो चुका था। हितहरिवंशजी द्वारा रासलीला-परम्परा तेजी से आगे बढ़ायी गयी। 'कृष्ण-रास-मंडल' की स्थापना से तो इसके लिए द्वार ही खुल गया। रासलीला-नाटकों के लेखकों में चाचा वृन्दावनदास और व्रजवासीदासजी प्रमुख हैं जिन्होंने क्रमशः लगभग चालीस और चौहत्तर लीलाओं की रचना की थी। यह परम्परा आज भी जीवित है। इस प्रकार के नाटकों में नृत्य और गान की प्रधानता होती है।

बाद में चलकर रासलीलाओं से भिन्न पद्धति पर पद्यबद्ध नाटकों की रचना होती है। ये नाटक भी अनभिनेय हैं। ऐसे नाटकों में 'रामायणमहानाटक', 'हनुमन्नाटक', 'समयसारनाटक', 'चंडीचरित्र', 'प्रबोधचन्द्रोदय', 'शकुन्तला-नाटक', 'करुणाभरण' इत्यादि आते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में इसी परम्परा में 'माधवविनोदनाटक', 'प्रद्युम्नविजय', 'नहुषनाटक', 'आनन्दरघुनन्दन' इत्यादि लिखे गये। इनमें भी नाटकीय तत्त्वों का अभाव ही है।

हिन्दी नाटकों में भारतेन्दु के आगमन के पूर्व पारसी थियेटरों की चर्चा भी अनिवार्य है। 'इन्दरसभा' की प्रेरणा से कई नाटक-कम्पनियाँ विकसित हुईं। सन् १८७० ई० में पेस्टनजी फ्रामजी द्वारा 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' खुली।

आगे और भी कई कम्पनियाँ खुलीं। इनमें मूलतः नौटंकियों का अभिनय प्रारम्भ हुआ। इनसे नाटकों में सुधार तो न हुआ, पर रंगमंच अवश्य सामने आया। रौनक बनारसी, ताबिल बनारसी, अहसान लखनवी आदि ने इन्हीं के लिए नाटक लिखे।

नाटक के अन्य गद्यरूपों की तरह नाटक का आरम्भ भी भारतेन्दु से ही होता है। इन्होंने मौलिक नाटक तो लिखे ही, अनुवाद भी किये। इनके नाटकों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है—पौराणिक, ऐतिहासिक और राष्ट्रीय अथवा सामाजिक। शिल्प की दृष्टि से भी इन्होंने नाटकों में प्राचीन नाट्य-कला में थोड़ा परिवर्त्तन लाया है। इनकी प्रमुख रचनाओं में 'पाखंडविडम्बनम्', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'धनञ्जयविजय', 'मुद्राराक्षस', 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'प्रेमयोगिनी', 'विषस्य विषमौषधम्', 'कर्पूरमंजरी', 'चन्द्रावली', 'भारतदुर्दशा', 'नीलदेवी', 'अंधेरनगरी' इत्यादि हैं। तत्कालीन समस्याओं को इन्होंने अपने नाटकों में पूरी तरह उभारने का प्रयत्न किया है। इसी से इनमें तीव्रता और उत्तेजना मिलती है। कहीं-कहीं भावुकता भी खूब है। व्यंग्य कहीं-कहीं बहुत तीखे हो गये हैं। वस्तुतः भारतेन्दु केवल नाटकलेखक ही नहीं थे, अपितु सफल अभिनेता भी थे। स्वयं भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र आदि रंगमंच पर भी उतरते थे। इसी से इनके नाटकों में मात्र पढ़ने का ही आनन्द नहीं मिलता, अपितु नाट्य-कला भी पूर्णतः मिलती है। जिस प्रकार शेक्सपीयर ने सफल अभिनेता और सफल नाटककार के रूप में अपनी ख्याति स्थिर की है, उसी प्रकार हिन्दी में भारतेन्दु भी हैं। वस्तुतः इनका महत्त्व तो शेक्सपीयर से भी अधिक है। ये नाटककार, अभिनेता और नाट्यालोचक—तीन रूपों में सामने आते हैं। नाट्य-कला का सिद्धान्तरूप में विवेचन करने वाला सर्वप्रथम ग्रन्थ 'नाटक' भारतेन्दु द्वारा ही प्रणीत हुआ। इसमें संस्कृत साहित्यशास्त्र का अनुवादमात्र ही नहीं है, अपितु नवीन स्थापनाएँ भी मिलती हैं। तात्पर्य यह कि भारतेन्दु को नाट्य-कला के सभी अंगों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त था।

भारतेन्दु की प्रेरणा से उनके समय में श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास, खंगबहादुरलाल, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', तोताराम वर्मा, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने कई नाटक लिखे। इस समय के नाटकों पर विचारने से पता चलता है कि ये नाटक जनता के निकट थे। इनमें 'लोकरंजन' और 'लोकरक्षण'—दोनों प्रकार की भावनाएँ मिलती हैं।

भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी नाटकों में महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व लेकर आते हैं श्री जयशंकर प्रसाद। इन्होंने 'सज्जन', 'कल्याणीपरिणय', 'करुणालय', 'प्रायश्चित्त', 'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'कामना', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'स्कन्दगुप्त', 'एक घूँट', 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना की। इनके

अधिकांश नाटकों का कथानक इतिहास से लिया गया है। राष्ट्रीयता की भावना को विकसित करने में प्रसादजी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों द्वारा बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इन्होंने इतिहास के तथाकथित अंधकार-युग पर गवेषणात्मक दृष्टि दौड़ायी, अनेक लुप्त घटनाओं और तथ्यों को प्रकाशित कर इतिहास को नवजीवन दिया। नाटक का अभूतपूर्व विकास प्रसादजी द्वारा हो चलता है। नाटक की पश्चिमी तकनीक से भी ये फायदा उठाते हैं। कतिपय प्राचीन मान्यताओं को हटाकर इन्होंने नाट्य-कला को नवीन पथ दिया है। इन्होंने अपने नाटकों द्वारा भारत के अतीत का मात्र गौरवगान ही नहीं किया, अपितु सत् और असत् के संघर्ष में सत् की प्रतिष्ठा भी की है। नारी को पहली बार इन्होंने चैतन्य दिया है। इनके नाटक न तो सुखान्त ही कहे जा सकते हैं और न दुःखान्त ही। इसी से इसे 'प्रसादान्त' की संज्ञा दी जाती है। अधिकांश नाटकों का अन्त इसी रूप में हुआ है। प्रसाद के नाटकों की अभिनेयता आदि के सम्बन्ध में अनेक दोषों की चर्चा होती है। सर्वाधिक चर्चा का विषय बनी है उनकी भाषा। इसमें क्लिष्टता तथा अनभिनेयता का दोष निकाला जाता रहा है। इसके सम्बन्ध में इतना ही कहा जायगा कि वस्तुतः ये आरोप अंशतः ही सही हैं, अधिकांशतः ये आरोप के लिए ही आरोप हैं। रंगमंच के सम्बन्ध में प्रसाद की अपनी धारणा थी, जिसकी चर्चा उन्होंने 'विशाख' की भूमिका में की है। साथ ही, भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में दर्शक के जिन गुणों की चर्चा की है, यदि वैसे दर्शकों के बीच उनके नाटकों का अभिनय हो तो निश्चय ही वे पूर्ण सफल उतरेंगे। आज के विकसित योरोपीय रंगमंच ही यदि हिन्दी को होते तो प्रसाद के नाटकों पर अनभिनेयता का दोष मढ़ने वाले अवश्य ही अपना मुख फेर लेते।

प्रसाद का महत्त्व एक और दृष्टि से है। इन्होंने सिर्फ बड़े नाटकों की ही रचना नहीं की, अपितु लघु नाटकों तथा प्रतीकात्मक नाटकों की रचना का भी श्रीगणेश किया। आगे चलकर लघु नाटकों और एकांकियों ने पूरा विकास किया है।

प्रसाद-युग के अन्य नाटककारों में माखनलाल चतुर्वेदी, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, प्रेमचन्द, गोविन्दवल्लभ पंत और हरिकृष्ण प्रेमी हैं। इनमें अन्तिम दो की ख्याति अधिक हुई है। प्रसाद की तरह ही इन दोनों ने भी अपने नाटकों का अधिकांश कथानक इतिहास से ही चुना है। पंतजी ने कतिपय सामाजिक समस्याओं को भी नाटक का विषय बनाया। 'राजमुकुट' और 'अन्तःपुर का छिद्र' पंतजी के प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक हैं। प्रेमीजी ने नाटकों का कथानक मुस्लिम-काल से चुना है। इन्होंने अपने नाटकों द्वारा हिन्दू-मुस्लिम-एकता का प्रतिपादन करना चाहा है। इस सम्बन्ध में 'रक्षाबन्धन' अधिक ख्यातिप्राप्त नाटक है। अभिनेयता की

दृष्टि से इन दोनों के नाटक प्रसाद की अपेक्षा अधिक सफल हैं। इनलोगों के अलावा कई अन्य नाटककार भी इस युग में अपनी नाट्य-कला से हिन्दी की सेवा करते हैं। इस युग के नाटकों को मूलतः तीन वर्गों में रखा जायगा—पौराणिक, ऐतिहासिक और राष्ट्रीय प्रेम तथा समस्याओं को चित्रित करने वाले। पौराणिक नाटकों में 'कर्त्तव्य' (सेठ गोविन्ददास), 'सीताराम' (आचार्य चतुरसेन), 'राधा', 'अम्बा', 'सागरविजय', 'मत्स्यगन्धा', 'विश्वामित्र' (उदयशंकर भट्ट), 'सुदामा' (किशोरीदास वाजपेयी) इत्यादि प्रमुख हैं।

प्रसादोत्तर काल में हिन्दी नाटक अपना बहुमुखी विकास करता है। यद्यपि नाटकों में विविधता के दर्शन प्रसाद-काल में ही होते हैं, पर इनका समुचित विकास प्रसादोत्तर काल में ही होता है। इस युग में ऐतिहासिक नाटकों का लेखन प्रेमीजी के द्वारा तो चलता ही है, दूसरे प्रमुख कलाकार हैं वृन्दावनलाल वर्मा। वर्माजी के नाटकों में 'राखी की लाज', 'कश्मीर का काँटा', 'जहाँदारशाह', 'झाँसी की रानी', 'हंस-मयूर' इत्यादि विशेष प्रसिद्ध हैं। प्रेमीजी की नाट्य-कला से 'रक्षा-बन्धन', 'शिवा-साधना', 'प्रतिशोध', 'आहुति', 'स्वप्नभंग', 'शपथ', 'विषपान' इत्यादि प्रमुख कृतियाँ सामने आती हैं। आचार्य चतुरसेन का नाम ऊपर आया है। उदयशंकर भट्ट ने ऐतिहासिक की अपेक्षा पौराणिक नाटकों का ही रूप सँवारा है। ऐतिहासिक नाटकों में प्रसाद के बाद प्रसाद की कला का ही निखार सर्वोत्तम रूप में देखने को एक बार पुनः मिलता है 'कोणार्क' में। 'कोणार्क' श्री जगदीशचन्द्र माथुर का प्रसिद्ध नाटक है। इसमें एक बार पुनः प्रसाद की कला ही सामने आती है। इसी क्रम में 'आषाढ़ का एक दिन' भी रखा जायगा।

प्रसादोत्तर काल में हिन्दी नाटकों में नाटक की एक नयी विधा पनपती है— समस्या-नाटक। इस प्रकार के नाटक इब्सन और बर्नर्ड शॉ आदि के आदर्श पर रचे जाते हैं। समस्यानाटककारों में स्मरणीय हैं श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र। नाटक की इस पश्चिमी कला का इनपर पूर्ण प्रभाव दीखता है। ये प्रसादविरोधी मान्यताओं को हिन्दी में पनपा चलते हैं। इनकी रचनाओं में अभिनेयता पर भी अधिक ध्यान दिया गया है। गीतों और स्वगतभाषणों का ये बहिष्कार ही कर देते हैं। इन्होंने मूलतः नारिजीवन की समस्याओं को चित्रित किया है, प्रेम और सेक्स पर ही अधिक ध्यान दिया है। साथ ही, जीवन के अन्य पहलुओं के भी चित्र इनमें मिलते हैं। इनके प्रमुख समस्या-नाटकों में 'संन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'आधी रात', 'सिन्दूर की होली' इत्यादि प्रसिद्ध हैं। इनकी कला मूलतः यथार्थवादी है। जहाँ तक इनकी भावना की बात है, उसे यथार्थवादी से अधिक आदर्शवादी और पुनरुत्थानवादी ही कहना चाहिए। इनकी समस्याएँ मूलतः वैयक्तिक हैं। सामाजिक समस्याओं को लेकर

हिन्दी में सेठ गोविन्ददास नाटक रचते हैं। प्रमुख नाटककार उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटकों—'स्वर्ग की झलक', 'कैद', 'छठा बेटा', 'उड़ान' 'आदिमार्ग' इत्यादि—में सामाजिक समस्याएँ ही चित्रित हुई हैं। इसी प्रकार नैतिक, दार्शनिक, व्यावहारिक आदि समस्याओं को भी नाटकों का विषय बनाया गया है।

इधर जब पौराणिक नाटकों की रचना होती है, तो उनमें नया सांस्कृतिक मूल्यांकन हो चलता है। स्वयं समस्यानाटककार मिश्रजी भी 'नारद की वीणा', 'गरुड़ध्वज', 'वत्सराज', 'मृत्युंजय', 'चक्रव्यूह' इत्यादि सांस्कृतिक नाटक लिख चलते हैं। पौराणिक कथानकों को भावनाट्य का सफल रूप देने में उदयशंकर भट्ट स्मरणीय रहेंगे। इनकी रचनाओं की चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

स्वातंत्र्योत्तर युग में हिन्दी नाटकों में महत्त्वपूर्ण विकास मिलता है। इस समय की प्रमुख रचनाओं में 'आषाढ़ का एक दिन' (मोहन राकेश), 'मादा कैक्टस' (लक्ष्मीनारायण लाल), 'साँपों की सृष्टि' (प्रेमीजी), 'डूबते तारे' (अभय कुमार), 'धरती की महक' (रामावतार चेतन), 'रेत की दीवार' (राजेन्द्र शर्मा) इत्यादि के नाम लिये जायँगे।

इधर लघु नाटकों के रूप में नाटकों के कई रूप विकसित हो चले हैं। एकांकी, गीतिनाट्य, भावनाट्य, रेडियो-नाटक इत्यादि ऐसे ही विकसित रूप हैं। हिन्दी में एकांकियों की रचना भारतेन्दु से ही प्रारम्भ होती है। प्रसादजी ने एकांकी लिखकर इसे बढ़ाने की चेष्टा की है, पर इसका समुचित विकास आज के युग में ही होता है। कुछ लोग 'एक घूँट' को ही हिन्दी का प्रथम एकांकी मानते हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध एकांकीलेखकों में उदयशंकर भट्ट (असहयोग और स्वराज्य, एक ही कब्र, दुर्गा, वर-निर्वाचन), भुवनेश्वर प्रसाद (श्यामा, एक साधु दीन साम्यवादी, सवा आठ बजे, स्ट्राइक, भावा, ताँबे के कीड़े, कारवाँ इत्यादि), डॉ० रामकुमार वर्मा (पृथ्वीराज की आँखें, चम्पक, ऐक्ट्रेस, दस मिनट, रेशमी टाई, चारुमित्रा इत्यादि), सेठ गोविन्ददास (स्पर्द्धा, एकादशी, पंचभूत इत्यादि), उपेन्द्रनाथ अश्क (पापी, क्रासवर्ड पहेली, विवाह के दिन, चरवाहे, देवताओं की छाया में, घड़ी इत्यादि), बेनीपुरी (अमरज्योति, नया समाज, नेत्रदान, संघमित्रा इत्यादि), सुमित्रानन्दन पंत (ज्योत्स्ना, रजतशिखर आदि), जगदीशचन्द्र माथुर (भोर का तारा), सद्‌गुरुशरण अवस्थी (मुद्रिका आदि), लक्ष्मीनारायण मिश्र (एक दिन, कावेरी में कमल आदि) इत्यादि प्रसिद्ध हैं। हास्यव्यंग्यप्रधान नाटकों (प्रहसनों) की रचना भी भारतेन्दु के समय से ही होती आ रही है। भारतेन्दु ने 'अंधेरनगरी', 'विषस्य विषमौषधम्' आदि लिखा था। जी० पी० श्रीवास्तव, श्री रामेश्वर सिंह 'काश्यप', श्री व्यंग्यविनोदी मिश्र 'मगेन्द्र' प्रभृति लेखकों ने इस परम्परा की रक्षा में पर्याप्त योगदान किया है। काश्यपजी की 'लोहासिंह' नाट्यमाला एवं

'मगेन्द्र' की 'मगह महतो' नाट्यमाला अत्यन्त लोकप्रिय हो गयी है। कलेवर की दृष्टि से ये एकांकी के अन्तर्गत हैं। एकांकी नाटकों की प्रभूत राशि हिन्दी में विद्यमान है। रामवृक्ष बेनीपुरी, अर्जुन चौबे काश्यप, अभिनवभरत सीताराम चतुर्वेदी प्रभृति लेखक इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। काश्यय एवं चतुर्वेदी तो भारतीय रंगमंच को भी युग एवं संस्कृति के अनुसार समुन्नत करने में प्राणपण से जुटे हुए हैं। (विशेष के लिए देखिए— हिन्दी का एकांकी-साहित्य)।

इसी प्रकार गीतिनाट्यों में भी कई लेखकों ने कमाल हासिल किया है। रेडियो-नाटकों में रेडियो-रूपक, फीचर, ध्वनिनाट्य, स्वोक्ति, फैण्टेसी, रिपोर्ताज इत्यादि कई रूप विकसित हो रहे हैं। इन सब के विकास से सच पूछा जाय तो नाटक पाठक के निकट बनते जा रहे हैं, किन्तु दर्शक से दूर ही होते जा रहे हैं। आज नाटक नाम के लिए ही नाटक कहे जाते हैं, वस्तुतः ये आते हैं पाठकों के पास ही।

नाटक पर विचारते समय अभी तक फिल्म-साहित्य पर विचार नहीं हो रहा है। क्या फिल्मी नाटक नाटक नहीं कहे जायँगे? क्या इनमें साहित्य नहीं है? इन प्रश्नों के उत्तर विविध रूप में दिये जा रहे हैं। किन्तु इतना तो निश्चय है कि समस्त हिन्दी फिल्मों में साहित्यिक महत्त्व की वस्तुएँ नहीं हैं। फिर भी इसे कौन अस्वीकार करेगा कि 'मि० सम्पत', 'हम सब चोर हैं', 'संसार', 'बूटपालिश', 'दो बीघा जमीन', 'आवारा', 'जागते रहो', 'जागृति' इत्यादि में जिस प्रकार की स्थापना का प्रयास है, वह साहित्यिक तो है ही, नाटकीय महत्त्व का भी है।

अन्त में यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि हिन्दी नाटकों का विकास तो हो रहा है पर हिन्दी रंगमंच अभी चार सौ साल पीछे ही है। अभी भी यहाँ आगा हश्र और बेताब अथवा यात्रापार्टी और रासलीला के आनन्द उठाये जा रहे हैं। यदि रंगमंच का समुचित विकास न हुआ तो नाटक जनता को छोड़ता चला जायगा। प्रायः सिनेमा को भी रंगमंच की समुचित स्थिति के विकास की बाधा के रूप में स्वीकार किया जा रहा है। यह भी कुछ हद तक ठीक ही है। पर योरोपीय रंगमंचों पर ध्यान जाते ही इस तर्क का लचरपन स्पष्ट हो जाता है। अस्तु, आज हिन्दी नाटकों के विकास के रूप में ही रंगमंच का विकास भी करना होगा, तभी हिन्दी नाटक का भविष्य उज्ज्वल कहा जायगा।

●

२५

हिन्दी समस्यानाटक

[पाश्चात्य समस्यानाटकों का विकास—हिन्दी समस्यानाटकों का विकास—कतिपय प्रश्न—हिन्दी के समस्यानाटककार और समस्यानाटक—रचनाविधान—अभिनय और रंगमंच—दोषदर्शन—स्थायित्व का प्रश्न—उपसंहार]

समस्यानाटक नाटक की एक महत्त्वपूर्ण विधा है। नाटक की यह विधा हिन्दी में पश्चिम से आयात की गयी है। यूरोपीय समस्यानाटकों के मूल में १९वीं शती के सामाजिक नवजागरण और बौद्धिक चेतना ने प्रेरणा दी है। इसने साहित्य की प्रगतिवादी विचारधारा से शक्ति ग्रहण की। १९वीं शती का उत्तरार्द्ध योरोप में नवजागरण का काल था। इस समय बौद्धिक दृष्टिकोण विकसित हो रहा था। जीवनमूल्यों की खोज करने के लिए तर्कसंगत वैज्ञानिक मापदण्ड खोजे जा रहे थे। नैतिक आदर्शों का पोस्टमार्टम हो रहा था। युगजीवन के प्रति यथार्थवादी एवं बौद्धिक दृष्टिकोण ने ही पाश्चात्य समस्यानाटकों को जन्म दिया था। वहाँ प्राचीनता के प्रति सर्वप्रथम विद्रोही आवाज उठानेवाला था जॉन स्टुअर्ट मिल, उसने अपने निबन्धों में जीवन की नयी व्यवस्था प्रारम्भ की थी। 'स्वतन्त्रता' (On liberty) शीर्षक निबन्ध में उसने बुद्धि के बटखरे से जीवनमूल्यों को परखने की अपील की। पुनः 'नारी पर आधिपत्य' (On the subjection of woman) में उसने नारिजीवन की वकालत करते हुए, उनके लिए पुरुषोचित अधिकारों की माँग की। डारविन के विकासवाद का समर्थन करते हुए उसने साहित्य में नयी क्रान्ति उत्पन्न की।

इस भावना में मार्क्स, हीगेल, फ्रायड आदि के विचारों से भी बल मिला। मार्क्स के अनुसार मानवजाति का धर्म, जाति और रंग के आधार पर वर्गीकरण किया जाना शोषण का एक हथकंडा मात्र था। उसने दो वर्ग बताये—शोषित और शोषक। हीगेल ने भी वर्गविहीन समाजव्यवस्था प्रतिष्ठित करने की चर्चा की। मार्क्स और हीगेल की ये बातें योरोप में बिजली की तरह कौंध गयीं। इसी समय फ्रायड ने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की व्यवस्था के साथ सेक्स पर नये ढंग से विचार कर नैतिक व्यवस्था की नींव हिला दी। इसने सेक्स को प्राकृतिक भूख के रूप में प्रतिष्ठित किया। सेक्स की तृप्ति के निमित्त नारी और पुरुष को समान अधिकार प्रदान करना उसने आवश्यक माना। इन सबों का सम्मिलित प्रभाव साहित्य पर पड़ा। फलतः साहित्य प्राचीन रूढ़ियों को छोड़ चला।

उक्त आन्दोलन का प्रभाव पहले शिक्षित समुदाय पर पड़ा, जिससे नाट्य-साहित्य की तीव्र आलोचना हुई। बौद्धिक जागृति के कारण जनता रंगमंचीय नाटकों में जीवन-सत्य खोजने लगी। थोथी आदर्शवादिता के प्रदर्शन के प्रति विरोध होने लगा। अस्तु, प्राचीन नाटकों के विरोध में फ्रांस में सुनिर्मित नाटकों (Well made plays) की रचना प्रारम्भ हुई। ड्यूमा के समय तक नाटक अपना प्राचीन निर्मोक लगभग छोड़ चुका था। नयी तकनीक सामने आ चुकी थी। इसी समय नाटकजगत् में इब्सन का प्रवेश हुआ जिसने अपने नाटकों में एक नयी राह खोली। इसने अपने नाटकों में मूलतः (१) युगजीवन की अभिव्यक्ति, (२) समाज के विकृत और गलित अंगों का चित्रण कर सामाजिक ढोंग पर प्रहार और (३) प्राचीन रंगमंचीय विधानों को त्याग कर नवीन पद्धति का जन्म दे सरलता और स्वाभाविकता के पालन पर बल दिया। इसी से इब्सन तत्कालीन प्रवाह का नियामक (Stern monitor of the time) माना जाता है। यूरोपीय समस्यानाटकों में इब्सन के बाद सर्वाधिक गत्वर व्यक्तित्व के साथ आये बर्नर्ड शॉ। शॉ ने इब्सन की लीक को प्रशस्त बनाया।

इब्सन ने अपने नाटक Love's Comedy में ऐसा प्रतिपादित किया कि 'यदि तुम प्रेम करते हो तो विवाह से दूर रहो और यदि विवाह करना हो तो प्रेम करना छोड़ दो'। 'चिड़ियाघर' (Dolls house) में भी वैवाहिक समस्या पर ही विचार किया गया है। इसमें नोरा और हेल्मर के संवाद से यह स्पष्ट है कि नारियाँ मात्र भोग्य वस्तु हैं। प्रसिद्ध समस्यानाटक 'एन हेन्सके' की नायिका स्वावा घोषित करती है कि सच्चरित्रता की यह कौन-सी माप है जिसकी तुला में पुरुषों के लिए दूसरे बटखरे हैं एवं स्त्रियों के लिए दूसरे। सडरमैन की नायिका मैग्डा ने भी कुछ ऐसा ही विचार किया है। तात्पर्य यह है कि विचारों की नवीनता से यूरोपीय समस्यानाटक पूर्णतः बौद्धिक हो उठा है। हिन्दी समस्यानाटकों में इनका पूर्ण प्रभाव देखा जा सकता है।

विचारों की जो क्रान्ति पाश्चात्य समस्यानाटकों का उत्स थी, सन् १९२० ई० के लगभग हिन्दीभाषी क्षेत्र में भी परिलक्षित होने लगी। इस क्षेत्र में भी पहले से ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसॉफी इत्यादि अनेक संस्थाएँ सामाजिक रूढ़ियों और धार्मिक ढोंगों पर आघात कर रही थीं। असहयोग-आन्दोलन ने एक नयी चेतना का बीज पनपा दिया। इससे राष्ट्रीय चिन्ताधारा में नवोन्मेष हुआ। यहाँ भी युगजीवन तार्किक और बौद्धिक हो चला था। इस युग का जागरूक साहित्यकार भी प्राचीनता का केंचुल उतार देना चाहता था। योरोपीय साहित्य के सम्पर्क से आधारभूमि मिल ही रही थी। फिर क्या था, साहित्यकार परम्परागत असंगतियों के प्रति उपहास और व्यंग्य कर चला। आशा थी, स्वस्थ परिणाम

और समाधान मिलेगा, किन्तु बात उलट गयी। नये साहित्यकार कोई ऐसा स्वस्थ मार्ग न प्रशस्त कर सके जो प्राचीन का स्थानापन्न बनता। अस्तु, विचार घुमड़न बनकर ही रह गये। इसी से हिन्दी समस्यानाटकों में तत्कालीन जीवन की व्याख्या तो मिलती है; वैषम्यों, असंगतियों और रूढ़ियों की आलोचना तो मिलती है; सामाजिकता, धार्मिकता, नैतिकता आदि के प्रति विद्रोह तो मिलता है; किन्तु स्वस्थ बौद्धिक समाधान नहीं। इनमें खरे-खरे विचार उत्तेजक तो हैं, पर रससिक्त नहीं। ये तथ्यों की व्यंजना तो करते हैं, पर सत्य का मार्गदर्शन नहीं। मंगलमयत्व की प्रेरणा तो ये देते हैं, पर मांगलिक मार्ग दिखलाते नहीं।

हिन्दी समस्यानाटकों पर विचार करते समय कई प्रश्न सामने आते हैं। क्या हिन्दी में समस्यानाटकों की धारा नहीं थी? क्या ये नाटक प्रतिक्रिया के परिणाम हैं? क्या ये नाटक पश्चिम के आयात अथवा नकल मात्र हैं? क्या हिन्दी में इस प्रकार के नाटक बिना यूरोपीय सम्पर्क के न लिखे जाते? क्या हिन्दी में समस्यानाटकों की परम्परा मर गयी? इत्यादि। उपर्युक्त प्रश्नों पर विचारने से कतिपय निम्नांकित बातें सामने आती हैं।

हिन्दी में समस्यानाटकों की धारा पर विचारने के पूर्व हमें सदा यह ध्यान में रखना चाहिए कि भारत की समस्याएँ पूर्णतः वे ही समस्याएँ नहीं हैं जो यूरोप आदि पश्चिमी देशों में हैं। हम सदा आदर्श पर ध्यान देते रहे हैं। अस्तु, हमारे यहाँ मूल समस्या रही है आदर्श की स्थापना की। आसुरी वृत्तियों से हम सदा संघर्ष करते रहे हैं। देववृत्तियाँ ही हमारा आदर्श रही हैं। यदि इस समस्या पर विचार करते हुए भारतीय नाटकों का अध्ययन किया जाय तो संस्कृत में 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक नाटक सर्वप्रथम भारतीय समस्यानाटक ठहरता है। इसमें असद्वृत्तियों से सद्वृत्तियों का संघर्ष दिखलाया गया है। संस्कृत में इसकी कई टीकाएँ भी की गयी हैं। आचार्य केशवदास ने इस परम्परा को हिन्दी में जन्म दिया। उनकी 'विज्ञानगीता' इसी परम्परा की कड़ी है। पुनः देवकवि का 'देवमायाप्रपंच' इसी परम्परा में है। आधुनिक युग में श्री जयशंकर प्रसाद ने 'कामायनी' में इसी का विकसित रूप दिया है। क्या इन्हें हिन्दी समस्यानाटकों की परम्परा में स्वीकार नहीं किया जा सकता? निश्चय ही इनका बाह्य विधान हमें समस्यानाटकों की कड़ी में जुटता नहीं दीखता, किन्तु प्रतिपाद्य विषय के अनुसार इन्हें समस्यानाटक की निकटता प्राप्त है। इन्हें लोग अन्यादेशिक (Allegorical) नाटक कहना अधिक उपयुक्त मानते हैं। बात है भी सटीक ही, किन्तु मैं यहाँ एक बात कहूँगा कि भिन्नता है समस्या के स्वरूप में। आज की समस्या ऐहिक और भौतिक अधिक है। इनमें समस्याएँ भौतिक और ऐहिक रूप में चित्रित नहीं हैं। पर हैं तो समस्याएँ ही। समस्याएँ देशकालानुसार बदलती

अवश्य, कि ये नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' का आदर्श लेकर चलते या 'सिन्दूर की होली' का। यदि श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र की यह बात मान्य है कि "समस्या-नाटकों की रचना विवशता की देन है, उसी प्रकार जैसे देशप्रेम", तो यह भी सच है कि तथाकथित 'विवशता' हिन्दी-क्षेत्र में आ गयी थी। अस्तु, पश्चिम का सम्पर्क न होता, तो भी हिन्दी में समस्यानाटक अवश्य लिखे जाते और सम्भवतः इसका सांकेतिक रूप हमें 'ध्रुवस्वामिनी' में मिलता है।

समस्यानाटकों की लोकप्रियता का प्रमुख कारण रहा है बुद्धिप्रधान युग। मशीनी युग ने हमें तर्ककर्कश बना दिया है। साधारण-सी बात भी उस समय तक अविश्वसनीय ही रहती है, जब तक उसका आधार कोई सबल तर्क न हो। बुद्धि-व्यापार के बढ़ते चरण ने ही इन्हें जन्म दिया था, अस्तु लोकप्रियता का कारण भी बौद्धिकता ही रही है। इनमें धीरे-धीरे अतिशय बौद्धिकता नष्ट हो रही है। अतिशय बौद्धिकता विकृत बुद्धि ही है। प्रसाद ने 'कामायनी' में इसी से बुद्धि को समन्वित रूप में रखने की सलाह दी। लोगों को शीघ्र ही ऐसा विश्वास हो गया कि मात्र बुद्धि ही सर्वस्व नहीं। समस्यानाटक में चित्रित जीवन भी एकांगी ही है। इसी से अँगरेजी साहित्य में समस्यानाटकों की प्रतिक्रिया में गेय रूपकों की परम्परा विकसित हुई। हिन्दी समस्यानाटकों में इसकी प्रतिक्रिया स्वयं इसके जन्मदाता श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र में ही लक्षित हुई। 'सिन्दूर की होली' की धारा में जब अब 'नारद की वीणा' और 'चक्रव्यूह' जैसे नाटक मिल रहे हैं, तो यही कहना उत्तम प्रतीत होता है कि समस्यानाटकों की धारा मर चुकी है और उसकी जगह पुनरुत्थानवादी नाटकों ने ले ली है।

हिन्दी में समस्यानाटकों के जन्मदाता श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र माने जाते हैं। 'संन्यासी' (१९३० ई०), 'राक्षस का मन्दिर' (१९३१ ई०), 'मुक्ति का रहस्य' (१९३२ ई०), 'राजयोग' (१९३३ ई०) और 'सिन्दूर की होली' (१९३३ ई०) इनके प्रसिद्ध समस्यानाटक हैं। सन् १९३३ ई० में ही प्रसादजी की 'ध्रुवस्वामिनी' प्रकाशित हुई। प्रसादजी ने भारतीय समस्यानाटकों की जिस विशुद्ध धारा का संकेत 'ध्रुवस्वामिनी' में किया, इसका विकसित रूप मिश्रजी की 'वितस्ता की लहरें' (१९५३ ई०) में मिलता है। 'संन्यासी' की परम्परा 'सिन्दूर की होली' में दम तोड़ लेती है और उसकी राख पर आगे ये नवनिर्माण कर चलते हैं। मिश्रजी के नाटकों का स्वर वैयक्तिक है। इनमें व्यक्ति की समस्याएँ ही मूलरूप में चित्रित हैं। 'सेक्स के अतिरिक्त सत्य' का उद्‌घाटन ही इनके समस्या-नाटकों का प्रधान कार्य है। चाहे किरणमयी हो या मालती, चम्पा हो या चन्द्रकला या बालविधवा मनोरमा— सबों के द्वारा सेक्स का ही अंकन किया गया है। किरणमयी के इस कथन—"तुम दिन रात में कोई दो

घण्टा इसके लिए नियत कर लो। मैं अपने शरीर को लेकर तुम्हारी सेवा में हाजिर हो जाया करूँगी"—और मनोरमा के इस कथन—"मैं तुम्हें अपना दूल्हा तो नहीं बना सकती, लेकिन प्रेमी बना लूँगी"—में दीखता है तो विरोध, किन्तु दोनों का स्वर है एक ही—सेक्स।

प्रसादजी ने भी ध्रुवस्वामिनी के माध्यम से नारी-समस्या पर ही विचार किया है। रामगुप्त के वाक्य—"तुम उपहार की वस्तु हो, आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूँ। इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति हो?"—तथा ध्रुवस्वामिनी के ये कथन—"पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशुसम्पत्ति समझकर उनपर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है; वह मेरे साथ नहीं चल सकता।"—"निर्लज्ज, मद्यप, क्लीव,······मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मैं उपहार में देने की वस्तु शीतल मणि नहीं हूँ"—भी उस समस्या को ही उद्घाटित करते हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि मिश्रजी के नाटकों का स्वर ही प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी' में है। नहीं, एक है डालडा और दूसरा विशुद्ध। इसीलिए तो 'सिन्दूर की होली' की परम्परा मिट जाती है, किन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' की परम्परा आज भी जब-तब मिल जाती है।

मिश्रजी और प्रसादजी के अतिरिक्त हिन्दी में उपेन्द्रनाथ अश्क (स्वर्ग की झलक, छुटा बेटा), भगवतीचरण वर्मा (और रुपया तुम्हें खा गया), उग्र (डिक्टेटर, गंगा का बेटा, आवारा), पृथ्वीनाथ शर्मा (दुबिधा, अपराधी, शराबी), उदयशंकर भट्ट (कमला, राधा, विद्रोहिणी अम्बा आदि), हरिकृष्ण प्रेमी (प्रतिशोध, छाया, बन्धन, मन्दिर), सेठ गोविन्ददास (प्रकाश, सेवापथ, धीरे-धीरे आदि), पं० गोविन्द-वल्लभ पंत (अंगूर की बेटी), वृन्दावनलाल वर्मा (खिलौने की खोज में, पीले हाथ, बाँस की फाँस, लो भाई पंचो लो), लक्ष्मीनारायण लाल (अंधा कुआँ), जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द (समर्पण), भगवतीप्रसाद वाजपेयी (छलना) इत्यादि प्रमुख समस्या-नाटककार हैं। 'विद्रोहिणी अम्बा' में अंबिका का यह कथन—"यही तो समाज की मर्यादा है, असमर्थ रोगी पुरुष के विवाह के लिये एक नहीं तीन-तीन कन्याओं का हर लाना स्त्रीत्व, समाज और मनुष्यता की हत्या नहीं तो और क्या है? हमारे अधिकार किसने छीन लिये? समाज ने ही तो। मैं कहती हूँ, हम सदा से मनुष्य की इच्छाओं की दासी हैं"—नारिसमस्या को सामने लाने में पूर्ण समर्थ है। सन् १९५० ई० में प्रकाशित 'छलना' में भगवतीप्रसाद वाजपेयी नारी की नवीन व्याख्या करते हैं— "नारी पुरुष की प्रेरणा है, साधना है, अन्तरात्मा की ज्योति है। उसे पाकर या खोकर पुरुष एक ओर जहाँ पागल बन जाता है, वहाँ दूसरी ओर उठता भी है— उसे जागरण भी मिलता है।" पर इस भावना का पूर्ण पालन आगे नहीं मिलता है। निष्कर्ष यह कि हिन्दी समस्यानाटकों का मूल

विषय नारिसमस्या ही है। हाँ, इसके अलावा अन्य समस्याएँ भी चर्चित हैं, किन्तु वर्ण्यविषय की व्याप्ति के आधार पर उनका स्थान गौण है।

हिन्दी समस्यानाटकों पर विचारते समय इनका रचनाविधान (तकनीक) भुलाया नहीं जा सकता। विचारक साहित्यिक कृतियों को दो वर्गों में रखते हैं— आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ। आत्मनिष्ठ रचनाओं में कलात्मक प्रच्छन्नता (Art lies in concealment) का निर्वाह पूर्णतः हो पाता है। यहाँ सौन्दर्यानुभूति कायम रहती है। किन्तु, वस्तुनिष्ठ रचनाओं में प्रायः इसका अभाव हो जाता है। हाँ, इसे भुलाया नहीं जा सकता कि वस्तुपरक रचनाएँ जीवन के अधिक निकट होती हैं। उपयोगिता के तत्त्व प्रायः यहाँ प्रधान हो जाते हैं। यहाँ 'कला जीवन के लिए' का सिद्धान्त 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त की जगह स्थापित हो जाता है। निश्चय ही, ऐसी कृतियाँ यदि मधुवेष्टित होती हैं, तो अपनी बराबरी अन्यत्र नहीं पातीं— सुगरकोटेड पिल्स की तरह सर्वत्र सम्मानित होती हैं, किन्तु थोड़ी-सी भूल के कारण ये बिल्कुल प्रचारात्मक हो जाती हैं और असामयिक जन्म लेने के कारण पाण्डु रह जाती हैं। यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं कि हिन्दी के समस्यानाटक मूलतः द्वितीय वर्ग में ही रखे जायँगे। यों इसके अपवाद भी हैं। जहाँ तक विशिष्ट तकनीक की बात है, निम्नांकित विशेषताएँ इनमें उपलब्ध होती हैं। इनकी विशेषताओं को दो वर्गों में रखा जायगा— अंतरंग और बहिरंग।

समस्यानाटकों की पहली अंतरंग विशेषता है— समस्या की प्रधानता। इनमें प्रायः मुख्य समस्या एक ही होती है, किन्तु कई अन्य समस्याएँ भी उसके चारों ओर चक्कर काटती रहती हैं। समस्याओं का रूप इतना उग्र हो उठता है कि अन्य तत्त्व इसी में डूब जाते हैं। समस्या के सम्बन्ध में ऐसे नाटककारों का एक विशिष्ट अभिमत है कि इनमें समस्याएँ मात्र उठायी जायँ, किन्तु उनका समाधान न किया जाय। इस सम्बन्ध में मिश्रजी का यह कथन दर्शनीय है— "समस्या उठाना ही उसका (समस्यानाटककार का) काम है, समाधान प्रस्तुत करना नहीं।" इन नाटकों की दूसरी विशेषता है— यथातथ्यवाद। इनलोगों ने ऐसा सिद्धान्त मान लिया है कि "Draw life to life and the moral will come out itself." इस सम्बन्ध में मिश्रजी की ये पंक्तियाँ विचारणीय हैं— "जो यथार्थ नहीं है, वह आदर्श नहीं हो सकता। कल्पना की रंगीनी और असंगति साहित्य का मापदण्ड नहीं बन सकती। जीवन की पाठशाला में बैठकर साहित्यकार अपनी कला सीखता है। अतः जीवन से परे उसे कहीं कुछ भी नहीं ढूँढ़ना चाहिए।" इसी से तो आचार्य शुक्ल ने मिश्रजी की नाट्यकला पर विचार करते हुए लिखा है—"नाटक का जो नया रूप लक्ष्मी नारायण मिश्रजी यूरोप से लाये हैं

उसमें काव्यत्व का अवयव भरसक नहीं आने पाया है। ....खरी-खरी बात करने का जोश कहीं-कहीं अवश्य है।" तात्पर्य यह कि समस्यानाटककार समाज के गलित चित्रों का फोटोमात्र तैयार करते हैं। अंतरंग विशेषताओं में तीसरी है—अन्तर्मुखी प्रवृत्ति। जहाँ प्रसादजी के नाटकों में बाह्य कार्यव्यापार की बहुलता दोष बन गयी है, इन नाटकों में उसकी अत्यधिक कमी ही दोष के रूप में है। घटना की अपेक्षा मानसिक संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण ही इनमें प्रमुख हो उठता है। अन्तर्द्वन्द्व प्रायः दोनों रूपों में उपलब्ध हैं—व्यष्टिनिष्ठ और समष्टिनिष्ठ। मिश्रजी में व्यष्टिनिष्ठ अन्तर्द्वन्द्व ही अधिक हैं। 'सिन्दूर की होली' में मनोजशंकर इसका सबल उदाहरण है। चौथी विशेषता है—बौद्धिकता। इनमें हृदयपक्ष बिलकुल शून्य रहता है। बुद्धिमूलक व्यापार ही इनकी जान माना जा सकता है। इन लोगों ने प्रायः यह स्वीकार कर लिया है कि आज की समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं बुद्धि से, अस्तु इनका समाधान भी बुद्धि ही करेगी। इनकी पाँचवीं अंतरंग विशेषता है—व्यंग्य। प्राचीन आदर्श, रूढ़ि, परम्परा आदि को उखाड़ फेंकना इनका प्रथम उद्देश्य है। अस्तु, इनपर व्यंग्य की करारी चोट की जाती है। ये व्यंग्य समस्याओं के मर्म को उभार कर सामने रखने में पूर्णतः असमर्थ होते हैं।

अंतरंग विशेषताओं की चर्चा के पश्चात् वहिरंग विशेषताएँ भी विचारणीय हैं। इनमें संघर्ष का प्राबल्य, कार्यव्यापार की न्यूनता, चरित्रचित्रण की विशिष्ट मान्यता, संवाद और बाह्य उपधानवर्णन आदि प्रमुख हैं। समस्यानाटकों में चरित्र का स्वाभाविक रूप नष्ट हो जाता है, वह नाटककार की कठपुतली बन जाता है। नाटककार अपने महान कर्त्तव्य—पात्रों को जीवनदान करना—भूल जाता है। परिणामतः पात्र प्रतिमा बन जाते हैं, रक्तहीन और अस्थिहीन हो जाते हैं। स्ट्रिण्डबर्ग (Strindberg) ने तो अपने एक नाटक (Paria) में चरित्रों का काम केवल X और Y से भी लिया है। इसी से विचारकों ने समस्या-नाटकों के नेता को वितर्कवादी नेता (Reasoning Hero) ही कहना चाहा है। जहाँ तक इनके संवादों का प्रश्न है, ये भी खुदा के सहारे ही हैं। जैसे पात्र, वैसे संवाद—पुष्ट और स्वस्थ रूप में नहीं तो विकृत रूप में ही सही। तात्पर्य यह कि इनके संवाद नाटकीय उपयुक्तता के बिल्कुल प्रतिकूल होते हैं। हाँ, प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्ध अवश्य होते हैं। सिद्धान्तप्रतिपादन और समस्याओं का दार्शनिक विवेचन ही इनका उद्देश्य होता है। इसमें नाटककार की आलोचना का पुष्ट रूप होता है अवश्य। इन नाटकों में बाह्य उपधानवर्णन (भूमिका, दृश्यवर्णन, रंगमंच-निर्देशनादि) खूब रहता है। एक प्रकार से ये नाटकों में पूरक का काम करते हैं। ऐसी व्याख्याओं और भूमिकाओं को नाटककारों की अपनी आलोचना माना जा

सकता है। मिश्रजी का विचार है कि "मुँह से जो शब्द निकले उसके साथ ही शरीर के अंगों का भी संचालन ऐसा हो कि आपस में सामंजस्य स्थापित कर रंगमंच पर मनुष्य की स्वाभाविक जिन्दगी दिखला दे।" मिश्रजी के इस कथन में मौलिकता नहीं है। यह कथन एम० एल० हौज के इस कथन की छाया मात्र है—"The character is drawn not only by words but also by the expression through the whole appearance of the actor of definite state of mind." बाह्य विशेषताओं में छठी विशेषता है—स्वगत और एकान्त कथनों के साथ प्रायः गीतों का अभाव। कुछ समस्यानाटकों में गीत भी मिलते हैं, किन्तु इसे गौण ही समझना चाहिए। स्वगत कथनों का तो प्रायः लोप-सा ही हो गया है।

अभिनय और रंगमंच की उपयुक्तता की दृष्टि से विचार करने पर भी लगभग निराशा ही हाथ आती है। यद्यपि ऐसा माना जाता है कि समस्यानाटक का रंगमंच से गहरा सम्बन्ध है, किन्तु वास्तविकता की कसौटी पर यह बात खरी नहीं जँचती। रंगमंच एवं अभिनय की दृष्टि से नाटकों में कार्यव्यापार का सम्यक् योग आवश्यक होता है, किन्तु ये नाटक कार्यव्यापार के अभाव में प्रायः गोष्ठी या सट्टक बनकर ही अधिक रह जाते हैं। आज लोग नाटक पढ़ने की अपेक्षा देखना अधिक पसन्द करते हैं। अस्तु, रंगमंच की दृष्टि से इनका सबल होना अनिवार्य है। इसी से प्रायः ये नाटक संक्षिप्त, सामाजिक, वैज्ञानिक और यथार्थवादी बनाये जाते हैं। दृश्यपरिवर्त्तन में भी कमी की अपेक्षा की जाती है। इन आधारों पर ये नाटक जँचते तो हैं उचित, किन्तु प्रत्येक वस्तु में अतिशयता बुरी होती है। जहाँ दृश्यपरिवर्तन अथवा अंकपरिवर्तन की अपेक्षा होती भी है, वहाँ भी ये नाटककार बलात् एक ही दृश्य को आगे बढ़ाते रहते हैं। इसके निमित्त 'सिन्दूर की होली' को देखा जा सकता है। प्रथम अंक को आसानी से दो अंकों में विभाजित किया जा सकता है एवं इसकी सख्त आवश्यकता भी है, फिर भी लेखक ने ऐसा नहीं किया है, जो एक दोष होकर रह गया है। युगजीवन का चित्रण होने के कारण ये नाटक विश्वसनीय होते हैं। इसी से कौतूहलवर्द्धक न होने पर भी ये हृदय को स्पर्श करते अवश्य हैं। अभिनय के सम्बन्ध में समस्यानाटककारों का अपना विशिष्ट मत है। मिश्रजी के ये शब्द—"अभिनय के सम्बन्ध में मैं भी स्वाभाविकता पर बल देना चाहता हूँ। तोते की तरह रटे-रटाये शब्दों को रंगमंच पर दुहरा देना ठीक नहीं होता। मुँह से जो शब्द निकलें उनके साथ ही शरीर के अंगों का संचालन भी ऐसा होना चाहिए कि जो आपस में सामंजस्य स्थापित कर सकें"—विचारणीय हैं। दूसरी ओर लैम्ब के इस कथन पर—"A masterpiece is rarely as well represented as it is written, mediocrity always fares

better with the actors"—ध्यान दिया जाय, तो कहा जायगा कि समस्यानाटक साहित्य (नाटक) की महत्त्वपूर्ण विधा नहीं है। अश्क, वर्माजी, गोविन्ददास: आदि के नाटक अभिनय की दृष्टि से अधिक सफल हैं, किन्तु लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों की अभिनेयता एवं रंगमंच की दृष्टि से सफलता संदिग्ध ही है।

अब थोड़ा दोषदर्शन भी अपेक्षित है। ऐसे नाटकों में प्रायः अन्तरंग दोषों के साथ-साथ तकनीकी दोष भी मिलते हैं। प्रमुख दोष ये हैं—आवश्यकता से अधिक विद्रोही प्रकृति, उपयोगितावाद के कारण रुक्षता और बोझिलता, नग्न और अश्लील चित्रों का आधिक्य, जीवनसंघर्ष का संकुचित क्षेत्र में अंकन, साहित्यिक आस्वाद की कमी और आवश्यकता से अधिक गद्यमय प्रवृत्ति। समाज की आवश्यकता से अधिक छीछालेदर और पोस्टमार्टम होने से कभी-कभी ये नाटक वितृष्णा उत्पन्न कर देते हैं। उपयोगितावाद की अतिशय प्रवृत्ति इन्हें ललितकलाओं से हटाकर उपयोगी कला बना देती है। ये चमत्कार भर उत्पन्न करते हैं, आनन्द प्रदान नहीं करते। इनमें मनोविज्ञान के नाम पर छिछले मनोवेगों के चित्रण की अधिकता मिलती है जिससे कलात्मक प्रच्छन्नता नष्ट हो जाती है। जीवन का अंकन इनमें इतना सीमित होता है कि ये विवरणात्मक और फोटोग्राफिक ही होकर रह जाते हैं, प्रेषणीय नहीं बन पाते। सामान्य बातों का कथन होने से ये साहित्यिक मर्यादा खो बैठते हैं। डब्ल्यू० बी० यीट्स इन्हें विवादी, छिछला आदि कहा करते थे। इसी से इसकी प्रतिक्रिया में इलिएट आदि ने गेय रूपकों (Poetic plays) का प्रादुर्भाव किया। तटस्थतापूर्ण विचार करने पर ऐसा कहना ही अधिक उत्तम लगता है कि इनके गुणों की अपेक्षा दोष अधिक सबल हैं।

अन्त में, समस्यानाटकों के स्थायित्व की चर्चा करते समय आचार्य भरत का मत ध्यान में आ जाता है कि स्थायी नाटकों में कामी और विरागी, कायर और शूर-वीर, वासनाग्रस्त और संयमी सबको आनन्दित करने की क्षमता होनी चाहिए—

धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामार्थसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां दमनक्रिया॥
× × ×
ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च।
अर्थोपजीविनामर्थो धृतिरुद्विग्नचेतसाम्॥
नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥
—नाट्यशास्त्र

इस अर्थ में भी समस्यानाटक असफल ही हैं। अस्तु, इनका स्थायी मूल्य

सन्दिग्ध है।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि समस्यानाटकों का साहित्यिक मूल्य है ही नहीं। ऐसी बात नहीं है। साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। आचार्य शुक्ल ने एक स्थल पर लिखा है—"भावुकता भी जीवन का एक अंग है। अतः साहित्य की किसी भी शाखा से हम इसे हटा नहीं सकते। हाँ, यदि व्याधि के रूप में फीलपाँव की तरह बढ़ने लगे तो उसकी रोकथाम आवश्यक है।" ऐसा लगता है, मानो हिन्दी नाटकों में बढ़ती हुई अतिशय भावुकता की रोकथाम के लिए ही हिन्दी में समस्यानाटक विकसित हुए। इसने बुद्धि का हृदय से सामंजस्य तो नहीं स्थापित किया, पर अतिशय भावुकता को रोका है अवश्य। अतिशय बौद्धिकता तो युग की वस्तु ही है, यदि समस्यानाटकों ने इसे ग्रहण किया है तो इसमें इसका दोष कैसा?

समस्यानाटक उपयोगी कला के निकट होकर भी अपने में पूर्ण हैं। निश्चय ही युग बदलेगा, समस्याएँ बदलेंगी और तब भविष्य में समस्यानाटक ही इस युग का फोटोग्राफिक रूप सामने रखने में सबसे अधिक समर्थ होंगे। विचारों की उत्कृष्टता के लिए ये पठनीय सदा बने रहेंगे। इस सम्बन्ध में डॉ० आर० सी० गुप्त के विचार पठनीय हैं—"Problem drama like all great drama is a precious human document, the problem tackled by it may be solved, the condition portrayed by it may change, but it is likely to retain its appeal as long as men are interested in human experience."— The Problem Play (Preface). अस्तु, ऐसा कहना गलत न होगा कि समस्यानाटक साहित्य से कहीं अधिक इतिहास हो गये हैं। इसका रूप मूलतः रूक्ष (Prosaic) है। इसी से यूरोप में प्रतिक्रिया हुई और वहाँ काव्यरूपकों की रचना प्रारम्भ हो गयी है। रही बात हिन्दी की। हिन्दी में सच पूछा जाय तो समस्यानाटक चला ही नहीं। यहाँ 'सिन्दूर की होली' का आदर्श चल भी नहीं सकता। हाँ, यदि 'ध्रुवस्वामिनी' की परम्परा विकसित हुई तो भविष्य कुछ साफ और स्पष्ट है अवश्य। हिन्दी में आज जो भी समस्यानाटक सामने आ रहे हैं, प्रायः उनमें 'ध्रुवस्वामिनी' का रूप ही उपलब्ध हो रहा है। होना भी यही चाहिए, चूँकि इसमें भारतीय आलोचना के मूलतत्त्व एवं काव्य की आत्मा (रस) का निर्वाह हो जाता है।

●

२६

हिन्दी का एकांकी साहित्य

[स्वरूप और अर्थ—तत्वनिरूपण—प्राचीन और नवीन मान्यता—मशीन-युग का तर्क—संस्कृत परम्परा—भारतेन्दु-युग—द्विवेदी-प्रसाद-युग—आधुनिक उत्कर्ष]

कलेवर की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी नाटकों के वर्ग किये जा सकते हैं—एकांकी और अनेकांकी। 'एकांकी' शब्द का अर्थ है—एक अंक वाला। अर्थात्, नाटक का वह रूप जिसमें केवल एक अंक का ही विधान किया जाय, 'एकांकी' कहा जायगा। आधुनिक हिन्दी एकांकी पाश्चात्य साहित्य की देन है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में एकांकी-साहित्य का अभाव है। नहीं, भारत में नाट्य-साहित्य का इतना विकास हो चुका था, उसके इतने अधिक रूप विकसित हो चुके थे कि एकांकी के भी भिन्न-भिन्न रूप यहाँ प्रचलित हुए थे। संस्कृत साहित्य में व्यायोग, भाण, प्रहसन, वीथि, गोष्ठी, नाट्यरासक, उल्लाप्य, काव्य, श्रीगदित, विलासिका, प्रकरणिका, हल्लीस, भाणिका और अंक के रूप में जो नाट्य-साहित्य उपलब्ध हैं, वे एकांकी के ही विविध रूप हैं। इतना होने के बाद भी आधुनिक हिन्दी एकांकियों से उपर्युक्त रूपों की कोई तुलना नहीं है। आधुनिक हिन्दी एकांकी का विकास उपर्युक्त किसी रूप से सीधे नहीं माना जा सकता। इन्हें विकास की पृष्ठभूमि के रूप में ही मानना उचित होगा। आधारभूमि निर्मित करने में ही इनसे योग मिला है। इससे अधिक महत्त्व इन्हें नहीं मिलना चाहिए।

आधुनिक हिन्दी एकांकी अँगरेजी के 'वन ऐक्ट प्ले' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। पश्चिम में इसका विकास 'मिरेकिल्स' और 'मारेलिटीज' जैसे नाट्यरूपों से ही होता है। बाद में 'इण्टरल्यूड्स', 'कर्टेन रेजर' और 'आफ्टर पीसेज' के रूप में एकांकी के विविध रूपों के दर्शन होते हैं। पेरिस, बर्लिन, लन्दन, डबलिन, शिकागो इत्यादि नगरों में लघुमंचीय आन्दोलनों (लिटिल थियेटर मूवमेंट) के विकास से इसे बल मिलता है। इसके सर्जन की सबल प्रेरणा 'कर्टेन रेजर' से ही मिली है। जे० एम० बेरी, जे० बी० शॉ, लार्ड डनसेनी, गाल्सवर्दी, सिंज, ग्राहम, प्रीस्टले, लेसिंग, मौलियर, इब्सन, स्ट्रिण्डवर्ग, आस्कर वाइल्ड, टाल्सटाय, इलिएट, क्लाउडेल, सार्त्र, मिलर इत्यादि ने एकांकीलेखन में महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। इसी से एकांकी आज महत्त्वपूर्ण साहित्यरूप में मान्य हो गया है। हिन्दी का एकांकी साहित्य इसी साहित्यरूप से प्रभावित

है। संस्कृत नाट्यकला की छाप इसपर नहीं के बराबर है।

नाटक और एकांकी दोनों दृश्यकाव्य हैं। कतिपय साम्य के बावजूद दोनों में पर्याप्त अन्तर है। दोनों के सम्बन्धों की चर्चा अनेक विद्वानों ने की है। इनके सम्बन्धों की चर्चा 'हिन्दी साहित्यकोश' में इस प्रकार की गयी है—"सीमा, विस्तार और प्रभाव की दृष्टि से एकांकी का अनेकांकी नाटक से वही अन्तः-सम्बन्ध है जो साधारणतया कहानी का उपन्यास से होता है। जहाँ अनेकांकी नाटक में जीवन की विविधता, पात्रबहुलता, कथासूत्रों की सुविमर्शता, अंकों की अनेकता, चरित्रचित्रण की विचित्रता, कौतूहल की अनिश्चितता, परिचय की अधिकता, चरमबिन्दु की व्यापकता तथा कथा की मन्दगामिता है, वहाँ एकांकी में जीवन की एकपक्षता, पात्रपरिमितता, कथा के प्रमुख सूत्र की ग्राह्यता, एकांकता, चरित्रचित्रण की सघनता, कौतूहल की आद्यन्तता, व्यंजना की निर्देशता, चरमबिन्दु की केन्द्रीयता और कथा की क्षिप्रगामिता होती है।" हिन्दी एकांकी के शोधकार डॉ० महेन्द्र ने भी दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए प्रायः ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं। इस प्रकार के कथन पर विचार करते हुए कतिपय निम्नांकित प्रश्न उठते हैं—क्या एकांकी नाटक का लघुसंस्करण है? क्या एकांकियों के तत्त्व भी वे ही हैं जो नाटकों के हैं? क्या एकांकियों से भी वही प्रभाव पड़ता है जो नाटकों से पड़ता है? वस्तुतः इन प्रश्नों का उत्तर निषेधात्मक ही होगा। एकांकी को नाटक का अथवा कहानी को उपन्यास का अथवा मुक्तक को प्रबन्ध का लघुसंस्करण कहना बताशे को बर्फी का लघुसंस्करण ही कहना है। श्री सद्गुरुशरण अवस्थी का भी मत प्रायः ऐसा ही है—"वह बलि को छलने वाला बावन अंगुल का मनुष्य नहीं और न चक्रसुदर्शनसहित विष्णु का हाथ है। वह न किसी का लघुसंस्करण है और न किसी का खण्ड अवतार।" अस्तु, कहा जायगा कि दोनों साहित्य के स्वतन्त्र रूप हैं।

कभी-कभी भ्रमवश एकांकी को कहानी अथवा गीति के समानान्तर ही बताया जाता है। वस्तुतः इन सब में आकारगत लघुता की समता होकर भी प्रकृतिगत और आत्मगत भेद है। तीनों में भाव, विचार और शैली को लेकर गहरा पार्थक्य है।

एकांकी के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न अनेक विद्वानों ने किया है। अँगरेजी विचारक सिडनी बौक्स ने एकांकी का स्वरूप इस प्रकार स्थिर किया है—"The one act form is not one which lends itself easily to much subtility of characterization. It is essentially concentrated single of purpose, and for this reason imposes this trictest discipline upon the playwright

who make use of it. It should aim at making a single impression, should possess singleness of situation and should concentrate its interest on a single character or a group of characters." तात्पर्य यह कि एकांकी साहित्य की नियंत्रित और संयमित विधा है। इसमें एक ही घटना के प्रभाव-ऐक्य की अभिव्यक्ति द्वारा पाठकों और दर्शकों का मन आकृष्ट और आक्रान्त कर लिया जाता है। इसमें चरित्रचित्रण की सूक्ष्मता को महत्त्व देने की जगह प्रायः नहीं होती है। श्री पिंकर्ड इस्टन महोदय के अनुसार एकांकीकार किसी समस्या, परिस्थिति अथवा घटनाविशेष का ऐसा आयोजन करता है कि वह धीरे-धीरे स्वयं विकसित हो जाता है—"One act play by its nature and the rigid restrictions of medium has to confine itself to a single episode or situation and this situation in turn has to grow and develop out of itself."

हिन्दी एकांकियों पर डॉ० रामकुमार वर्मा, श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी, सेठ गोविन्ददास, डॉ० एस० पी० खत्री, उपेन्द्रनाथ अश्क, डॉ० सत्येन्द्र, डॉ० महेन्द्र आदि ने विचार किये हैं। इनलोगों के विचार आपस में थोड़ी भिन्नता लिये हैं। डॉ० वर्मा के अनुसार एकांकियों में जीवन की किसी एक संवेदनात्मक किन्तु यथार्थ घटना का चित्रण, कथानक की चरम सीमा पर परिसमाप्ति, पर्याप्त मनोरंजन, विरोधी भावों, विचारों या पात्रों का संघर्ष, यथार्थोन्मुख आदर्श, स्वाभाविकता और संकलनत्रय का निर्वाह होना आवश्यक है। अवस्थीजी के अनुसार एकांकी में सुनिश्चित-सुकल्पित लक्ष्य, एक घटना, परिस्थिति या समस्या, प्रवाह और निदर्शन में चातुरी होना आवश्यक है। इसमें लम्बे कथोपकथन, दृश्यों का आधिक्य, वर्णन-बाहुल्य, विषयान्तरता आदि की अपेक्षा नहीं है। सेठ गोविन्ददास का मत भी लगभग ऐसा ही है। अश्कजी के अनुसार एकांकी की तीन शर्तें हैं—आकार और समय की लघुता, अभिनयशीलता और स्पष्ट रंगसंकेत। एकांकी के अधिकारी विद्वान् डॉ० महेन्द्र के अनुसार कथावस्तु, संघर्ष या द्वन्द्व, संकलनत्रय, पात्र और चित्रण, कथोपकथन, अभिनयशीलता, रंगमंचनिर्देश और प्रभाव-ऐक्य—इन आठ तत्त्वों का एकांकी में होना आवश्यक है। थोड़ी सावधानी से काम लेने पर डॉ० महेन्द्र के इन तत्त्वों में भी कमी की जा सकती है। वस्तुतः, अभिनयशीलता और रंगमंचनिर्देश को एक ही तत्त्व 'अभिनय' में रखा जाना चाहिए। इसी प्रकार, संकलनत्रय में ही प्रभाव-ऐक्य को भी निगीर्ण किया जा सकता है। साथ ही, संघर्ष और संकलनत्रय को तत्त्व न मान कर इन्हें पात्र और कथानक में ही रखा जाना चाहिए। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने एकांकी के तत्त्वों में 'भावना' को भी स्थान

दिया है। वस्तुतः भाव तो अन्तःसलिल है, इसकी स्थिति सर्वत्र होगी ही। चाहे नाटक हो या उपन्यास, काव्य हो या निबन्ध, भावकी उपेक्षा कहीं नहीं होती। इसी से तो इसे साहित्य का एक तत्त्व माना जाता है। अस्तु, मेरे विचार से एकांकी के तत्त्वों में उन्हीं तत्त्वों को स्थान मिलना चाहिए, जिन्हें नाटक में स्थान प्राप्त है। वे इस प्रकार माने जा सकते हैं—वस्तु, पात्र, संवाद, अभिनेयता, देशकाल, शैली और उद्देश्य। हाँ, एकांकी की विशेषता के रूप में कुछ बातें गिनायी जा सकती हैं, पर उनका भी समाहार अलग-अलग तत्त्वों की विशेषताओं में ही हो जाता है।

एकांकी के वस्तुचयन में एकांकीकार की रुचि ही प्रमुख है। वस्तु इतिहास से भी ली जा सकती है और वर्त्तमान जीवन से भी। असल बात है अंकन की। वस्तु के अंकन में यथार्थोन्मुख आदर्श की प्रतिष्ठा आवश्यक है। इसमें विस्तार-लाघव और संघटनक्रिया में ऋजुता का होना आवश्यक है। इसमें आरम्भ और प्रयत्न दो कार्यावस्थाएँ ही होती हैं। इनका चित्रण मुख और प्रतिमुख सन्धियों के बीच में ही होता है। कार्य की परिणति सुखान्त और दुःखान्त या प्रसादान्त ही हो सकती है। कार्य का विकास विभिन्न रूपों में सम्भव नहीं है। यहाँ चरम विकास ही लक्ष्य होता है। डॉ० चौहान के अनुसार कथा का विकास प्रारम्भ, नाटकीय स्थल, द्वन्द्व, चरम सीमा और परिणति के रूप में होता है। मुख्य घटना के साथ गौण घटनाएँ संघर्ष की सृष्टि करती हैं। इससे कथाविकास में पर्याप्त सहायता मिलती है। इसकी कथावस्तु में संकलनत्रय का निर्वाह होना चाहिए। डॉ० चौहान संकलनत्रय की अनिवार्यता नहीं स्वीकारते हैं। अन्य विद्वान संकलन-त्रय को आवश्यक बताते हैं। रामकुमार वर्मा के एकांकियों में संकलनत्रय का निर्वाह प्रायः सर्वत्र मिलता है। कथा में प्रभाव-ऐक्य का निर्वाह भी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त पर्याप्त कुतूहल (Suspense), जिज्ञासा (Curiosity) और गति की क्षिप्रता के साथ चरम सीमा का नियोजन भी आवश्यक है।

प्राचीन और मध्ययुगीन एकांकियों में पात्रों का चित्रण प्रायः आभिजात्य ही होता था। आज इस मान्यता में पर्याप्त अन्तर हो चुका है। पात्र और चित्रण के लिए प्रायः निम्नांकित बातों पर एकांकियों में ध्यान देना आवश्यक है। इसमें पात्रों की संख्या कम से कम होनी चाहिए। साथ ही, इसमें मुख्य और गौण अथवा नायक और प्रतिनायक आदि के रूप में पात्रों का आयोजन होना चाहिए। पुनः हास्य-व्यंग्य की सृष्टि के लिए स्वतन्त्र रूप से विदूषक की भी कल्पना की जा सकती है या स्वयं पात्र ही संवादों में हास्य का पुट साथ लिये चल सकते हैं। पात्र एकांकीकार के हाथों की कठपुतली न बन जायँ, इस पर ध्यान होना आवश्यक है। कभी-कभी दो पात्रों में अथवा एक ही पात्र के हृदय में उठने वाले दो विरोधी भावों में संघर्ष या द्वन्द्व की योजना भी अनिवार्य रूप से की जाती है।

एकांकी के संवादों में सरलता, सुबोधता, स्वाभाविकता, संक्षिप्तता, वाग्विदग्धता, रोचकता, प्रभावोत्पादकता इत्यादि का होना अनिवार्य है। संवाद की सफलता ही एकांकी की सफलता है। इसकी नाटकीयता संवादों पर ही निर्भर करती है। भाषा का समाधान भी इसी तत्त्व के अन्तर्गत हो जाता है।

अभिनेयता एकांकी में अलग से तत्त्व माना जाय या इसे संवाद में ही अन्तर्भुक्त कर दिया जाय, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कुछ विचारक इसे सम्वादों में ही मान लेते हैं। यह एकांकी के लिए आवश्यक है। इसके अभाव में एकांकी की सफलता संदिग्ध है।

उपर्युक्त तत्त्वों के अतिरिक्त इसमें देश-काल, शैली और उद्देश्य (विचार) की भी चर्चा की जाती है। ये तीनों ऐसे तत्त्व हैं, जो किसी-न-किसी रूप में साहित्य के प्रत्येक रूप में अवश्य नियोजित हैं। इनका यहाँ भी अभाव नहीं माना जायगा। (विशेष के लिए देखिए—'हिन्दी उपन्यास : स्वरूप और विकास')।

कतिपय विद्वान् दृश्यविधान अथवा नाट्यसंकेत को भी एकांकी का महत्त्वपूर्ण तत्त्व स्वीकार करते हैं। इसका समाहार 'अभिनय' या 'अभिनेयता' में ही हो जाता है, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। वस्तुतः नाट्यसंकेत ऐसा प्रतिन्यास है, जिसके प्रयोग से प्रभाववृद्धि तो होती ही है, स्वाभाविकता का भी निर्वाह हो जाता है। इनकी योजना आवश्यक है।

वर्गीकरण पर विचार करने से ऐसा लगता है कि हिन्दी के आधुनिक एकांकियों के वर्गीकरण के निमित्त अनेक प्रकार के आधार बनाये जा सकते हैं। शैली, विषय, रचनाप्रकार, मूल प्रवृत्ति इत्यादि भिन्न-भिन्न आधारों को लेकर विचारकों ने विभिन्न प्रकार के विचार दिये हैं। रचनाप्रकार को आधार मानकर अनेक विद्वानों ने मोनो ड्रामा, स्किट, फैण्टेसी, रेडियो नाटक, फीचर, गीतिनाट्य, ओपेरा, झाँकी, प्रहसन, संवाद इत्यादि रूप स्थिर किये हैं। उपर्युक्त सभी प्रकारों का विकास हिन्दी एकांकियों में नहीं हो पाया है। ये सारे भेद वस्तुतः पाश्चात्य विचारकों के आधार पर ही किये गये हैं।

मूलवृत्तियों को आधार मान कर डॉ० सत्येन्द्र ने एकांकियों के आठ भेद माने हैं—आलोचक एकांकी, विवेकवान् एकांकी, भावुक एकांकी, समस्या-एकांकी, अनुभूतिमय एकांकी, व्याख्यामूलक एकांकी, आदर्शमूलक एकांकी और प्रगतिवादी एकांकी। वस्तुतः यह वर्गीकरण सुष्ठु और समुचित नहीं माना जाना चाहिए। पुनः इसमें कई ऐसे भेद भी हैं जिनका समाहार एक में ही हो सकता है। इसमें औचित्य का निर्वाह नहीं मिलता है।

इसी प्रकार विषयवस्तु की दृष्टि से सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, साहित्यिक इत्यादि भेद भी किये जा सकते हैं। विषयों का संख्या-

निर्धारण एक दुर्वह कार्य है। अस्तु, इस प्रकार के वर्गीकरण में एकांकियों के भेदों की सीमा का निर्धारण सम्भव नहीं-सा है। हाँ, यह कामचलाऊ हो सकता है।

एकांकियों में निहित विचार और उद्देश्य की दृष्टि से आदर्शवादी, यथार्थवादी, प्रकृतवादी, मनोरंजनात्मक, मनोवैज्ञानिक इत्यादि भेद भी स्वीकार किये जायँगे। यदि आदर्श की परिधि थोड़ी बढ़ा दी जाय तो अन्य वस्तुएँ इसी में सीमित हो जा सकती हैं। अस्तु, यहाँ भी उपयोगितावादी दृष्टिकोण ही अधिक दीखता है।

पुनः एकांकियों के अन्य भेद भी सम्भव हैं। अभिनेयता की दृष्टि से पाठ्य और रंगमंचीय; प्राचीनता की दृष्टि से प्राचीन एकांकी और नवीन एकांकी; कार्य की परिणति की दृष्टि से सुखान्त, दुःखान्त या प्रसादान्त इत्यादि भेद भी स्वीकार किये जा सकते हैं। इसी प्रकार वर्गीकरण के लिए अन्य आधारों की भी कल्पना की जा सकती है। तात्पर्य यह कि एकांकियों के वर्गीकरण के निमित्त अनेक प्रकार की आधारकल्पना हो सकती है, पर मेरे विचार से समझने-समझाने, पढ़ने-पढ़ाने के लिए कामचलाऊ रूप में अधिक व्यावहारिक वर्गीकरण कथानक के विषय से ही सम्बद्ध माना जाना चाहिए।

एकांकियों के उद्भव पर विचार करते हुए कहा जाता है कि "आधुनिक एकांकी मशीन-युग के द्रुतगामी अवकाशहीन व्यस्त जीवन की उपज है।" वस्तुतः, इस कथन में आंशिक सत्यता ही माननी चाहिए। संस्कृत में एकांकियों के अनेक रूप प्रचलित हैं। क्या उनके लेखन में भी मशीन-युग की अवकाशहीनता और जीवन की व्यस्तता ही रही है? नहीं, वहाँ तो एकांकी जीवन की शान्ति और आराम के दिनों में ही लिखे गये हैं। आज आधुनिक एकांकियों के लेखक पर यद्यपि मशीन-युग ने प्रभाव डाला है, फिर भी इसे ही सब-कुछ मान लेना असंगत होगा।

हिन्दी एकांकियों के विकास में विचारकों ने दो प्रकार के अतिवादी मत दिये हैं। प्रो० ललिताप्रसाद और अवस्थीजी हिन्दी एकांकी का पूर्ण विकास संस्कृत में प्रचलित एकांकी के विभिन्न रूपों से ही मानते हैं। पश्चिमी विकास को ये महत्त्वशून्य बताते हैं। ये सिर्फ इतना ही मानते हैं कि बाद में चलकर उससे इसका परिष्कार भर हुआ है। दूसरी ओर प्रो० अमरनाथ गुप्त, प्रो० प्रकाश चन्द्र गुप्त, डॉ० एस० पी० खत्री, डॉ० रांगेय राघव इत्यादि विद्वान् हिन्दी एकांकी को पूर्णतः पश्चिम की देन मानते हैं। डॉ० रांगेय राघव का मत है कि "स्कूल और कालेजों में हिन्दी शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ विद्यार्थियों के लिए इस प्रकार के नाटकों की आवश्यकता प्रतीत हुई जिनमें कम से कम सामान की आवश्यकता पड़े और कम समय में ही उसको तैयार किया जा सके; साथ ही वह अपने में पूर्ण हो तथा मनोरंजन, सामाजिक शिक्षा तथा सुधार का उत्तम माध्यम बन सके।

दूसरी ओर कालेजों में अँगरेजी शिक्षा के कारण उनके सामने उस साहित्य के एकांकी आये। इस पाश्चात्य प्रभाव और अपनी सीमित परिस्थितियों ने हिन्दी एकांकी नाटकों को जन्म दिया।" जैसा कि मैंने ऊपर कहा है— उपर्युक्त दोनों प्रकार के विचार अतिवादी हैं। वस्तुस्थिति यह है कि भारतेन्दु-युग में संस्कृत पद्धति पर ही लघु नाटकों की रचना आरम्भ हुई। प्रेरणा और पृष्ठभूमि संस्कृत से ही हिन्दी को मिली है। संस्कृत एकांकी की समृद्ध परम्परा ने ही हिन्दी के लिए आधार-भूमि दी है। हाँ, उन जटिल रूपों का सरलीकरण हिन्दी ने किया अवश्य। डॉ० रामचरण महेन्द्र के शब्दों में— "संस्कृत एकांकियों की शिल्पविधि पर्याप्त जटिल थी और नाट्यकारों ने उपभेदों का अन्तर स्पष्ट किया था। आधुनिक हिन्दी एकांकी की सभी प्रचलित शैलियाँ थोड़े-से परिवर्त्तन के साथ इन्हीं में समा सकती हैं।" जब हिन्दी में एकांकीलेखन का प्रचलन हो गया, धीरे-धीरे पश्चिम की एकांकी-कला से सम्पर्क होने के कारण इसने रूपसम्भार भी प्रारम्भ किया। और, आज ऐसी स्थिति भी आ गयी है कि इन एकांकियों में प्राचीन भारतीय परम्परा, शिल्पविधि आदि नाम की अब कोई चीज ही नहीं रह गयी है। सर्वत्र नवीनता-ही-नवीनता है। सारी शिल्पविधि पश्चिमी हो गयी, मात्र आत्मा में ही भारतीयता की झलक मिलती है। अस्तु, निष्कर्षरूप से कहा जायगा कि हिन्दी एकांकी का जन्म संस्कृत परम्परा से ही हुआ है, पर आधुनिक युग में इसने अपना धर्म परिवर्तित कर लिया है, इसकी शिल्पविधि अब पश्चिमी हो गयी है।

हिन्दी एकांकी की विकास-यात्रा चार स्टेशनों से होकर यहाँ तक पूरी हुई है। भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, प्रसाद-युग और प्रसादोत्तर युग— ये चार युग हिन्दी में एकांकियों के माने जायँगे। सामान्य रूप से ऐसा भी कहा जा सकता है कि प्रथम दो युगों में संस्कृतप्रभावापन्न एकांकी ही हिन्दी में मिलते हैं। इस समय के एकांकियों में पश्चिमी शिल्पविधि का प्रभाव नगण्य है। प्रसाद-युग से पश्चिमी रंग चढ़ना प्रारम्भ होता है। और, आज तो मत पूछिए। सर्वत्र पश्चिम का ही राज्य है।

संस्कृत एवं प्राकृत में एकांकी के दर्शन होते हैं। प्रयोग की दृष्टि से भास के 'उरुभंग', 'मध्यमव्यायोग', वत्सराज का 'किरातार्जुनीय', प्रह्लादन देव का 'पार्थपराक्रम', कांचनाचार्य का 'धनंजयविजय व्यायोग', रामचन्द्र का 'निर्भय भीम', विश्वनाथ का 'सौगन्धिकाहरण' जैसे व्यायोग मिलते हैं। साथ ही 'उभयसारिका' (वररुचि), 'पद्मप्राभृतक (ईश्वरदत्त), 'धूर्तविटसंवाद' (ईश्वरदत्त), 'पादताडितक' (श्यामलिक), 'कर्पूरचरित' (वत्सराज) इत्यादि भाण कृतियाँ उपलब्ध हैं। 'त्रिपुरदाह' (वत्सराज), 'मन्मथोन्मन' (रामकवि), 'कृष्णविजय' (वेंकट वर्मा) जैसे डिम भी मिलते हैं। इसी प्रकार वीथी, अंक, प्रहसन इत्यादि के भी अनेकानेक

उदाहरण संस्कृत में मिलते हैं। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य में एकांकी का पूर्ण विकसित रूप वर्तमान है।

हिन्दी एकांकी का लेखन भारतेन्दु-युग से प्रारम्भ होता है। कुछ लोग पूर्ववर्ती साहित्य में भी एकांकी के कुछ तत्त्वों की खोज कर लेते हैं। पद्य और गद्य के अन्तर को भुलाते हुए लोगों ने विचार किया है कि तुलसी के 'रामचरितमानस', केशव की 'रामचन्द्रिका', नरोत्तमदास के 'सुदामाचरित' के कुछ दृश्य ऐसे हैं, जो एकांकी के स्वरूपधारण में समर्थ हैं। सन् १८५० ई० के पश्चात् लिखे गये गीतिनाट्यों— 'इंदरसभा', 'बन्दरसभा', 'छछुन्दरसभा'— में भी एकांकी के तत्त्व विद्यमान हैं।

नाटक के समस्त रूपों के जन्मदाता हैं भारतेन्दु। प्राचीन ढंग की एकांकी का जन्म भी यहीं होता है। उन्होंने 'धनंजयविजय' (व्यायोग), 'पाखण्ड-विडम्बन', 'अंधेरनगरी' (प्रहसन), 'विषस्य विषमौषधम' (भाण), 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (प्रहसन) इत्यादि की रचना की। इनमें संस्कृत पद्धति के एकांकियों के लक्षण मिलते हैं। इन एकांकियों पर बँगला नाटकों और पारसी नाटकों का भी प्रभाव दीखता है। भारतेन्दु के समकालीन श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट इत्यादि ने भी इस समय कतिपय एकांकियों की रचनाएँ की हैं। इस समय के एकांकी अपनी यथार्थ अभिव्यक्ति और व्यंग्यक्षमता के कारण हमें प्रभावित किये बिना नहीं रहते हैं। इनमें हमारी तत्कालीन राष्ट्रीय भावनाएँ ही प्रतिबिम्बित हुई हैं। डॉ० रामगोपाल सिंह चौहान के शब्दों में कहा जायगा कि "उनमें कला की वह विविधता और विकसित रूप हमें देखने को भले ही न मिले और भले ही हमें उनमें हृदय के तलस्पर्शी संघर्षसंकुल भावों की वैसी मार्मिक मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति भी न मिले, जैसी हमारे अधुनातन नये एकांकियों में मिलती है, पर निश्चय ही उनमें तत्कालीन आधुनिक जीवन का यथार्थ चित्रण है, उद्देश्य की सांकेतिकता है, रंगनिर्देश भी है और संवादों की चुस्की भी और क्रियाक्षिप्रता और गतिशीलता भी है।"

द्विवेदी-युग के प्रमुख एकांकीलेखक हैं— मंगलप्रसाद विश्वकर्मा, सियारामशरण गुप्त, रामसिंह वर्मा, रूपनारायण पाण्डेय, व्रजलाल शास्त्री, सरयूप्रसाद बिन्दु, बेचन शर्मा उग्र और सुदर्शन। इस समय की एकांकियों में शिल्पविधि की दृष्टि से थोड़ा परिवर्त्तन दीखता है। ऐसा लगता है, मानो इसपर पश्चिमी कला का भी थोड़ा प्रभाव पड़ा है। चाहे जो हो, इनकी आत्मा भी भारतेन्दुयुगीन एकांकियों की ही तरह है। इस युग की एकांकियों का विषयवस्तु के अनुसार विभाजन इस प्रकार हो सकता है— (१) धार्मिक और पौराणिक, (२) राष्ट्रीय ऐतिहासिक, (३) सामाजिक व्यंग्यात्मक और (४) अनूदित। समग्र रूप से विचारने के पश्चात्

कहा जायगा कि इस युग के एकांकी भारतेन्दु-युग के विकास दीखते हैं।

पाश्चात्य आदर्श पर एकांकीलेखन का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग में होता है। इन्हें ही 'आधुनिक एकांकी' के नाम से जाना जाता है। विभिन्न विद्वानों के अनुसार जयशंकरप्रसाद-लिखित 'एक घूँट' (सन १९२९ ई०) हिन्दी का सर्वप्रथम आधुनिक एकांकी है। डॉ० हरदेव बाहरी ऐसा ही मानते हैं। 'आधुनिक हिन्दी नाटक' में डॉ० नगेन्द्र भी इसी मत की पुष्टि करते हैं—"सचमुच हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ प्रसाद के 'एक घूँट' से होता है। प्रसाद पर संस्कृत का प्रभाव है— इसलिए वे हिन्दी एकांकी के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते, यह बात मान्य नहीं है। एकांकी की टेकनीक का 'एक घूँट' में पूरा निर्वाह है।"

इसी समय अनेक लेखक इस क्षेत्र में सामने आये। अनुवादों की भी परम्परा जुटी। श्री कामेश्वरनाथ भार्गव ने 'विशक्स केण्डिल स्टिक्स' का अनुवाद किया। 'दी प्रिंस हू वाज पाइपर', 'कैम्पबेल ऑफ किल्म्होर', 'दी मैन इन दी बॉउलर हैट' इत्यादि के अनुवाद भी सामने आये। साथ ही, 'हंस' का एकांकी विशेषांक (१९३८ ई०) भी इस कला को विकसित करने में मदद कर सका।

प्रसाद के पश्चात् एकांकी के क्षेत्र में डॉ० रामकुमार वर्मा अग्रणी हैं। सन् १९३० ई० में 'बादल की मृत्यु' प्रकाश में आया। इसे ही लोग हिन्दी का दूसरा मौलिक एकांकी मानते हैं। कुछ लोग भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र के 'कारवाँ' को ही हिन्दी का प्रथम मौलिक एकांकी मानना चाहते हैं। 'बादल की मृत्यु' में काल्पनिकता की अधिकता के कारण ही लोग इसे 'अभिनयात्मक गद्यकाव्य' कहना चाहते हैं। आगे डॉ० वर्मा के अनेक एकांकीसंग्रह प्रकाशित हुए— 'पृथ्वीराज की आँखें, 'चारुमित्रा', 'विभूति', 'सप्तकिरण', 'रूपरंग', 'कौमुदी-महोत्सव', 'रेशमी टाई', 'ध्रुवतारिका', 'ऋतुराज', 'रजतरश्मि', 'दीपदान', 'कामकन्दला', 'बापू', 'इन्द्रधनुष', 'रिमझिम' इत्यादि। इनके एकांकी मूलतः दो प्रकार के कहे जायँगे— ऐतिहासिक और यथार्थवादी। कतिपय एकांकी अधिक भावात्मक हैं।

वर्माजी के साथ ही अनेक एकांकीलेखक हिन्दी में सामने आये। इनमें श्री भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र, श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, श्री उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, श्री जगदीशचन्द्र माथुर, श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी, विष्णु प्रभाकर आदि प्रमुख हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया, कुछ विचारक 'कारवाँ' को ही हिन्दी का प्रथम आधुनिक एकांकी मानते हैं। यह विवादास्पद विषय है। पर इतना तो निश्चित है कि पाश्चात्य एकांकी-कला की शैली का पूर्ण समाहार सर्वप्रथम 'कारवाँ' में ही मिलता है। 'कारवाँ' को लोग हिन्दी एकांकी का निर्देशक स्तम्भ मानते हैं। इनके अन्य एकांकीसंग्रह हैं— 'श्यामा :

एक वैवाहिक विडम्बना', 'पतिता', 'एक साम्यहीन साम्यवादी', 'प्रतिभा का विवाह', 'रहस्यरोमांच', 'लाटरी', 'मृत्यु'। इनकी प्रौढ़ रचनाओं में 'सवा आठ बजे', 'आदमखोर', 'इन्सपेक्टर जनरल', 'रोशनी की आग', 'फोटोग्राफर के सामने', 'ताँबे के कीड़े', 'इतिहास की केंचुल', 'आजादी की नींद', 'सीकों की गाड़ी' इत्यादि हैं। वस्तुतः भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र ही प्रथम एकांकीलेखक हैं जिनमें पाश्चात्य विचारप्रणाली पर प्रेम, विवाह, स्त्री तथा राजनीति की समस्याओं का चित्रण प्रारम्भ हुआ है। निश्चय ही इनकी कला परिपक्व है।

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र अपने एकांकी-संग्रहों में (अशोकवन, प्रलय के पंख पर, एक दिन, कावेरी में कमल, बलहीन, नारी का रंग, स्वर्ग में विप्लव इत्यादि) पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आदि समस्याओं को उभार चले हैं। अभिनयात्मकता का भी इन्हें पूरा खयाल है। बौद्धिकता के प्रति आग्रह इनकी अपनी रुचि है। कला का यथार्थवादी रूप ही इन्होंने अधिक लिया है। चिरन्तन नारीत्व की समस्या पर मिश्रजी खूब जम सके हैं। वर्त्तमान भारत की समस्त समस्याओं को भी इन्होंने अपने पेट में डालकर नयी परीक्षा करनी चाही है।

हिन्दी एकांकीकारों में सामाजिक समस्याओं के सफल चित्रकार माने जाते हैं श्री अश्क। इन्होंने मध्यवर्गीय समाज के खोखलेपन पर गहरा व्यंग्य किया है। इनकी व्यंग्यक्षमता अद्भुत है। कहीं-कहीं तो पूरी एकांकी ही व्यंग्यात्मक शैली पर लिखी गयी है। उदाहरणस्वरूप देखा जा सकता है 'अधिकार का रक्षक'। पात्रोचित भाषा का प्रयोग इनकी अपनी विशेषता है। अभिनयात्मक दृष्टिकोण से भी इनकी रचनाएँ अधिक सफल हैं। इनके एकांकी अनेक रूपों में हैं। मूलतः समस्त एकांकियाँ तीन वर्गों में आयँगी— (क) सामाजिक— 'पापी', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'मोहब्बत', 'क्रासवर्ड पहेली', 'अधिकार का रक्षक', 'आपस का समझौता', 'स्वर्ग की झलक', 'जोंक' इत्यादि। (ख) सांकेतिक और प्रतीकात्मक— 'चरवाहे', 'चिलमन', 'खिड़की', 'चुंबक', 'मैमूना', 'देवताओं की छाया में', 'सूखी डाली' इत्यादि। (ग) मनोवैज्ञानिक— 'आदिमार्ग', 'अंजो दीदी', 'भँवर', 'कैसा साब कैसी आया', 'पर्दा उठाओ, पर्दा गिराओ', 'सयाना मालिक', 'बतसिया' इत्यादि। इनकी कला प्रौढ़ और वैविध्यपूर्ण है।

श्री उदयशंकर भट्ट सामाजिक और पौराणिक एकांकियों के सफल लेखक हैं। इनके अधिकांश एकांकी दुःखान्त हैं। अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में ये बड़े सफल हैं। 'विश्वामित्र', 'मत्स्यगंधा', 'राधा' इत्यादि में इनकी काव्यात्मक शैली मनोहारी बन सकी है। ये जीवन की तलस्पर्शिता, पारदर्शिता और अंग-उपांगों के सफल चित्रकार हैं। 'अभिनव एकांकी नाटक', 'आदिम युग', 'समस्या का

अन्त', 'धूमशिखा', 'पर्दे के पीछे', 'स्त्री का हृदय' इत्यादि इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

सेठ गोविन्ददास के एकांकियों का क्षेत्र विस्तृत है। इन्होंने ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक आदि विभिन्न विषयों पर एकांकियों की रचना की है। इनकी रचना मूलतः आदर्शवादी ही मानी जायगी। यहाँ शिल्प की सूक्ष्मता से अधिक ध्यान विचारों की प्रौढ़ता पर ही दिया गया है। मनोरंजन की कला भी कहीं-कहीं अधिक क्षीण हो गयी है। इनकी प्रमुख रचनाओं में 'कृषियज्ञ', 'बुद्ध की एक शिष्या', 'तेगबहादुर की भविष्यवाणी', 'स्पर्द्धा', 'मानव-मन', 'मैत्री', 'हंगर-स्ट्राइक', 'वह मरा क्यों' इत्यादि के नाम लिये जाते हैं।

श्री जगदीशचन्द्र माथुर की प्रथम एकांकी है 'मेरी बाँसुरी'। आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं—'भोर का तारा', 'कलिंगविजय', 'रीढ़ की हड्डी', 'मकड़ी का जाला', 'खंडहर', 'खिड़की की राह', 'घोंसले, 'कबूतरखाना', 'भाषण', 'ओ मेरे सपने', 'शारदीया', 'बंदी' इत्यादि। रंगमंच की दृष्टि से इन्हें सर्वाधिक सफलता मिली है। इनकी शैली यथार्थवादी है। हास्य-व्यंग्य सर्वत्र जिन्दादिली लिये है। इनकी प्रायः समस्त रचना भावों, विचारों और शिल्पविधियों का सुन्दर सामंजस्य उत्पन्न करती है।

श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी में भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र की कला ही मानो विकस चली है। जहाँ मिश्रजी अँगरेजी शिल्पविधि को पूर्णतः पचा न पाये थे, वहाँ द्विवेदीजी में वह पूर्णतः पच-मँज कर सामने आयी है। आपकी प्रमुख रचनाओं में 'सोहाग बिन्दी', 'वह फिर आयी थी', 'पर्दे का अपर पार्श्व', शर्माजी', 'सर्वस्व समर्पण', 'कामरेड', 'गोष्ठी', 'परीक्षा', 'रिहर्सल', 'धरती माता' इत्यादि के नाम लिये जाते हैं। आपकी एकांकियों में मूलतः यौन-आकर्षण, प्रेम-वैषम्य, बेमेल विवाह इत्यादि की मानसिक ग्रन्थियाँ सूक्ष्म रूप में विश्लेषित हुई हैं। शिल्प की दृष्टि से भी इनकी रचनाएँ उत्तम हैं। अभिनवभरत आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने भी 'अपराधी', 'बेचारा केशव', 'अनारकली', 'पाप की छाया' प्रभृति एकांकियों के द्वारा अभिनय-कला को नवीन दिशा तो दिखायी ही है, मानवतावाद की पूर्ण प्रतिष्ठा भी की है। अर्जुन चौबे काश्यप की 'महासम्बोधि की छाया में' नामक पुस्तक में बौद्ध संस्कृति की व्यापकता के चित्र के साथ आधुनिक युग की राजनीतिक गुत्थिओं को सुलझाने का भी दिशानिर्देश है। हिन्दी की लोकभाषाओं में भी बहुत-से एकांकी लिखे गये हैं जो युग, संस्कृति एवं लोकजीवन की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत करते हैं। भोजपुरी में भिखारी ठाकुर का 'बिदेसिया', काश्यप के 'लोहा सिंह' ने—'रईसी की', 'मुरब्बे खाये', 'खेती की', 'मुखियागिरी की', 'सड़क बनायी', 'शादी की', 'डॉक्टरी की', 'नौकरी दिलायी' तथा मगही में 'मँगरू महतो' ने

—'पढ़ना सीखा', 'कोओपरेटिभ कायम किया', 'चीन से मोर्चा लिया' इत्यादि अत्यधिक लोकप्रिय हुए हैं। इधर काश्यपजी का 'चीन का नया मोर्चा' खूब लोकप्रियता प्राप्त कर रहा है। 'नया मोर्चा' तो चीनी आक्रमणजन्य संकट का सामना करने के हेतु उपयोगी सभी सम्भव उपायों पर यत्किञ्चित् प्रकाश डालता है।

इनके अतिरिक्त श्री गिरिजा कुमार माथुर, गोविन्दवल्लभ पंत, हरिकृष्ण प्रेमी, भगवतीचरण वर्मा, श्री पृथ्वीनाथ शर्मा इत्यादि ने भी एकांकीलेखन में सफलता प्राप्त की है। किन्तु इन लेखकों के साथ ही कुछ ऐसे भी लेखक बनने का दावा करते हैं जिनकी रचनाओं में एकांकी-कला का कोई रूप ही नहीं मिलता, मात्र समयप्रवाह का आग्रह भर ही है।

वस्तुतः कुछ ही वर्षों में हिन्दी एकांकी ने अपूर्व सफलता प्राप्त की है। यह इसकी जीवनीशक्ति का प्रमाण है। इससे इसका भविष्य उज्ज्वल ही दीखता है, पर रेडियो-रूपकों और सिनेमा के कारण इसके रंगमंच का समुचित विकास न हो सकने के कारण कहीं यह मात्र पाठ्य-सामग्री ही बनकर न रह जाय। यदि रंगमंच का विकास न हो सका तो हिन्दी एकांकी की प्रगति जिस क्षिप्रता से हुई है, वैसी रह न सकेगी। फिर भी निराश होने की बात नहीं है।

●

२७

हिन्दी रंगमंच

[नाटक के लिए मंच या मंच के लिए नाटक—प्रारम्भ और ह्रास के कारण—नागर और लोक : मंच के भेद—भारतेन्दु-युग—आधुनिक युग—सम्भावना]

रंगमंच का सम्बन्ध नाटक से है। रंगमंच वह प्रयोगशाला है जहाँ नाटकों का निरीक्षण-परीक्षण किया जाता है। यहीं नाटकों का अभिनय किया जाता है, जिससे नाटक सामाजिक तक जा पाते हैं। अभिनय का अर्थ ही है सम्मुख ले जाना। जिन प्रक्रियाओं के द्वारा नाटक के आशय का प्रेषण अथवा प्रत्यक्षीकरण सामाजिकों के सम्मुख होता है उसे अभिनय तथा उसके अभिनय करने वाले को अभिनेता कहा जाता है। अभिनय-कला और अभिनेता का कार्य रंगमंच से ही सम्बद्ध है। तात्पर्य यह कि किसी नाटककार की रचना को यदि अभिनेता सामाजिकों के समक्ष नहीं रख पाता है तो उसमें नाटककार का दोष नहीं, अपितु अभिनेता का ही दोष कहा जायगा। सफल अभिनेता वही होगा जो प्रत्येक नाटक को अभिनेय बना सके।

आज जब भी हिन्दी रंगमंच की चर्चा छिड़ती है तो ऐसा कहा जाता है कि हिन्दी में अभिनेय नाटकों की कमी है। बेचारे प्रसादजी को अधकचरे और टुट-पुँजिए लोग भी भला-बुरा कह चलते हैं। इसी प्रकार हिन्दी नाटकों की चर्चा में भी हिन्दी रंगमंच की चर्चा किसी-न-किसी रूप में आती ही है। तब हम कहते हैं कि अभिनेय नाटक ही नहीं हैं तो फिर रंगमंच की आवश्यकता ही क्या है। कुछ तो ऐसे भी निराशावादी जुटे हैं, जो यहाँ तक कहते हैं कि विज्ञान के युग में सिनेमा से जब मनोरंजन आदि के काम हो ही जाते हैं, तो रंगमंच की आवश्यकता क्या है। किन्तु ऐसे लोग यह क्यों भूल जाते हैं कि अधुनातन होटलों के रहते हुए भी घर की रसोई ही क्यों पसन्द की जाती है। खैर, आज यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो गया है कि रंगमंच का निर्माण नाटकों के अनुरूप होना चाहिए अथवा नाटकों को ही रंगमंच के अनुरूप बनाया जाय। इस प्रश्न का उत्तर दो रूपों में सामने आता है। एक वर्ग यह मानता रहा है कि रंगमंच को नाटक के अनुरूप होना चाहिए। प्रसादजी इसी मत के पक्षपाती थे। वे सदा कहा करते थे कि रंगमंच को नाटक के पीछे चलना चाहिए। अर्थात्, नाटककार जैसी रचना दे, उसी के अनुरूप अभिनेता रंग-मंच तैयार करें। ऊपर अभिनेता शब्द की व्याख्या भी लगभग यही कहती है। अस्तु, कहा जा सकता है कि प्रसाद का कथन कोरे आदर्शवाद पर नहीं, अपितु

भारतीय मान्यता पर ही आधृत था। जिस समय प्रसादजी अपने नाटकों की रचना कर रहे थे, उनके नाटकों की अनभिनेयता की चर्चा प्रारम्भ ही नहीं हुई थी, अपितु काफी जोर पकड़ चुकी थी। प्रसादजी के समय हिन्दी का रंगमंच पारसी थियेटरों के रूप में ही था। उन थियेटरों में प्रसाद के नाटकों के अभिनय की कल्पना करना आकाश से तारे तोड़ लाने की कल्पना ही थी। इसी से प्रसादजी ने विरोधियों का उत्तर देते हुए 'विशाख' की भूमिका में लिखा था—"आजकल के पारसी रंगमंचों के अनुकूल ये नाटक कहाँ तक उपयुक्त होंगे, इसे मैं नहीं कह सकता। उनका आदर्श केवल मनोरंजन है। हाँ, जातीय आदर्शों से स्थापित यदि कोई रंगमंच, जहाँ कि चमक-दमक से विशेष ध्यान पात्रों के अभिनय पर और आदर्श के विकास पर रखा जाता हो, कोई सम्मति अपने अभिनय में अड़चन पड़ने की दे तो मैं उसे स्वीकार करने के लिए सर्वथा प्रस्तुत हूँ।" इस उद्धरण से चार बातें स्पष्ट होती हैं—

(क) प्रसादजी के समय में हिन्दी रंगमंच का आदर्श पारसी रंगमंच ही था, जिसका उद्देश्य था मनोरंजन।

(ख) प्रसाद के नाटक मात्र मनोरंजन के ही साधन नहीं, सत्य और आदर्श के संवाहक भी हैं।

(ग) इनके तथा इनके नाटकों के समान अन्य नाटकों का अभिनय 'जातीय आदर्शों से स्थापित रंगमंच' पर ही किया जाय; अन्यत्र ये अनभिनेय हैं।

(घ) रंगमंच पर 'चमक-दमक से विशेष ध्यान पात्रों के अभिनय और आदर्श' पर दिया जाय।

स्पष्ट है कि ऐसे रंगमंच प्रसाद के समय क्या, आज भी हिन्दी में नहीं हैं। तभी तो शकुन्तला जैसी नायिका को 'पतली कमर बल खाय' जैसा गीत गाते और वैसा ही अभिनय करते देख, डॉ० थीबो के साथ भारतेन्दु और सम्राट् अशोक को रंगमंच पर चश्मा लगाकर छैला बनते देख प्रसादजी अपने मित्रों के साथ अभिनय-स्थल से भाग आये थे। हिन्दी में रंगमंच का अभाव था और अभी भी अभाव है, इसे सभी स्वीकार करते हैं; फिर प्रसादजी की नाट्यकला को अनभिनेयता का दोषी ठहराना कहाँ तक सटीक है? वस्तुतः हिन्दी का अपना रंगमंच अभी बन ही नहीं पाया है।

हिन्दी वालों के लिए यह कम खेद की बात नहीं कि आज हिन्दी सम्पूर्ण भारतवर्ष की भाषा हो गयी है, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की भाषा बनने को है, फिर भी इसका कोई विशिष्ट रंगमंच नहीं है। रंगमंच वस्तुतः मात्र मनोरंजन का साधन ही नहीं, सत्य और आदर्श का प्रतिष्ठापक भी है। यह जाति, देश और समाज की संस्कृति की प्राणवत्ता का परिचायक भी है। ऐसी स्थिति में हम रंगमंच के लिए कुछ न करें, यह शर्म की बात ही है। यह बात नहीं कि भारत में रंगमंच का प्रसार

कभी था ही नहीं। ऐसा सोचना तो निरी भूल होगी। हिन्दी में प्रायः समस्त प्रवृत्तियाँ संस्कृत से ही पनपी हैं। संस्कृत साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भारत में रंगमंच की परम्परा आज से लगभग तीन हजार वर्ष पहले ही प्रारम्भ हो गयी थी। आचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र' में रंगमंच का पूर्ण ब्योरा उपलब्ध है। उसमें रंगमंच का जो वैभवपूर्ण वर्णन मिलता है, उससे स्पष्ट है कि रंगमंच की परम्परा यहाँ बहुत पहले प्रारम्भ हो चुकी थी। रंगमंच और रंगशाला के सम्बन्ध में जितना विस्तृत वर्णन यहाँ उपलब्ध है, उतना प्राचीन वर्णन संसार के किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलता है। इसमें न केवल नाट्यकला, वेशभूषा, अंगरचना, अभिनय इत्यादि का ही वर्णन है, अपितु इसका भी विशद वर्णन है कि रंगमंच कैसा होना चाहिए, रंगशाला कहाँ बननी चाहिए, इसके लिए ग्राम अथवा नगर का कौन-सा भाग उपयुक्त होगा, वह भूमि कैसी हो, नेपथ्य का आकार कितना बड़ा हो, दृश्यों की योजना किस प्रकार की जाय, दर्शकों में किस श्रेणी का दर्शक कहाँ बैठे, किस भाग का अभिनय कैसे हो, संगीत, नृत्य और वाद्य की योजना किस प्रकार की जाय इत्यादि। वस्तुतः 'नाट्यशास्त्र' इस सम्बन्ध में प्रौढतम ग्रन्थ है। ऐसी अवस्था में विचारणीय यह है कि आचार्य भरत की इस प्रौढतम परम्परा का हिन्दी में लोप क्यों हो जाता है; संस्कृत में रंगमंच की ऐसी सबल स्थापना के बाद भी मध्यकाल में इसका एकदम अन्त क्यों हो जाता है। आइए, इस सम्बन्ध में थोड़ी अटकल-बाजियाँ लगायी जायँ।

नाटक सांस्कृतिक उत्थान का मापक यन्त्र है। किसी देश के नाटक की उन्नति या अवनति के आधार पर वहाँ का सांस्कृतिक इतिहास खोज लिया जा सकता है। भरतभूमि की मध्यकालीन स्थिति पर विचारने से ऐसा लगता है कि इस समय भारत की स्थिति ह्रासोन्मुखी रही है। शासकवर्ग में नाटकों के प्रति पूर्णतः अरुचि रही है। इस्लाम ने मूर्त्तिपूजा का तगड़ा विरोध कर रखा था। उसके लिए नाटक पूर्णतः वर्जित वस्तु थी। इन्हीं सब कारणों से मध्यकाल में रंगमंच का अभाव है। अभाव के कारणों को निम्नांकित रूप में रखा जायगा—

१. संस्कृत नाटकों में ह्रास के साथ प्राचीन रंगमंच का ह्रास होना।

२. मुसलमानों द्वारा धार्मिक कृत्यों पर नियन्त्रण करना और मूर्त्तिपूजा तथा नाटक आदि का कड़ा विरोध।

३. फारसी साहित्य में नाटक और रंगमंच का अभाव।

४. राजाओं और सामन्तों द्वारा इस्लामी शासकों का अनुकरण किया जाना तथा उन्हीं के संकेतों पर साहित्य-निर्माण कराना।

५. साहित्य का जनता से दूर होकर राजाश्रित अथवा धर्माश्रित होना।

६. अध्यात्मप्रवणता के कारण लौकिक चेतना का शिथिल पड़ जाना।

औरंगजेब के शासनकाल में तो इतनी कड़ी व्यवस्था थी कि कोई व्यक्ति अभिनय अथवा रंगमंच की चर्चा भी न करता था। तात्पर्य यह कि संस्कृत रंगमंच की परम्परा मध्ययुग में पूर्णतः मर जाती है। हिन्दी ही नहीं, भारत की प्रायः सभी भाषाओं में रंगमंच की परम्परा विलुप्त-सी हो जाती है। विविध प्रकार के कारणों—राजनीतिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक, आर्थिक—से हिन्दी रंगमंच का विकास अवरुद्ध ही रह जाता है। इसी से आज भी हिन्दी का रंगमंच उस स्तर तक नहीं उठ सका है, जिस स्तर के रंगमंच योरोपीय देशों में प्रायः अठारहवीं और उन्नीसवीं शती में थे।

आधुनिक हिन्दी रंगमंच के प्रायः दो ही मूलरूप कहे जा सकते हैं—(क) लोक-रंगमंच और (ख) साहित्यिक रंगमंच। संस्कृत नाटकों और संस्कृत के साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन से प्रायः स्पष्ट होता है कि उस समय भी रंगमंच का एक ही रूप नहीं था। यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलता, फिर भी यह अनुमान की वस्तु तो है ही। रूपक और उपरूपक के भेदों-प्रभेदों में नाटक के जितने रूपों की चर्चा है, उन सभी के अभिनेता के लिए न तो एक ही प्रकार की रंगशाला की ही अपेक्षा होती होगी और न एक ही प्रकार के अभिनेता उसे सफल रूप में अभिनीत ही कर सकते होंगे। यही बात दर्शकों के सम्बन्ध में भी लागू है। सभी प्रकार के नाटकों के लिए एक ही प्रकार के दर्शक की अपेक्षा भी नहीं की जाती होगी। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि समय-समय पर अभिनेय नाटकों की परिभाषा में अन्तर पड़ते रहे हैं। आचार्य भरत ने अभिनेय नाटकों के लिए—

> मृदुललितपदार्थं गूढशब्दार्थहीनं जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
> बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥

कहा है, किन्तु आचार्य विश्वनाथ ने अभिनेय नाटकों की परिभाषा ही बदल दी है—

> पंचसन्धिश्चतुर्वृत्तिः चतुःषष्ठ्यंगसंयुतम्। षट्त्रिंशल्लक्षणोपेतमलंकारोपशोभितम्॥
> महारसं महाभोगमुदात्तरचनान्वितम्। महापुरुषसत्कारं साध्वाचारं जनप्रियम्॥
> सुश्लिष्टसन्धियोगं च सुप्रयोगं सुखाश्रयम्। मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात्तु नाटकम्॥

दोनों ने अभिनेयता को आवश्यक माना है; पर अभिनेयता के स्वरूप में दोनों की मान्यता में छत्तीस का ही सम्बन्ध जँचता है। इसके आधार पर यह कल्पना गलत न होगी कि आचार्य भरत लोकशिक्षार्थ पंचम वेद के रूप में लिखित नाटकों की अभिनेयता की बात कर रहे हैं, जो सम्भवतः लोक-रंगमंच पर ही अभिनीत होते होंगे; किन्तु आचार्य विश्वनाथ साहित्यिक नाटकों की अभिनेयता की चर्चा कर रहे हैं, जिनका अभिनय साहित्यिक रंगमंच पर ही सम्भव होता होगा। कहना न होगा कि प्रथम के आदर्श रूप भास के नाटकों में मिलेंगे और द्वितीय के आदर्श रूप कालिदास के नाटकों में। स्वयं कालिदास ने भी 'अभिरूप-

भूयिष्ठा परिषदियम्' की बात कहकर इसी की पुष्टि की है। 'विक्रमोर्वशीयम्' में भी कालिदास विद्वत्परिषद् की ओर संकेत करते हैं—'मारिष बहुशस्तु परिषदा पूर्वेषां कवीनां दृष्टः प्रयोगबन्धः सोऽहमद्य विक्रमोर्वशीयं नाम नाटकमपूर्वं प्रयोक्ष्ये।' अस्तु, ऐसा कहा जायगा कि विद्वत्परिषद् में अभिनीत होने वाले नाटक सामान्य नाटकों से भिन्न होते थे। ऐसी रंगशाला में प्रायः राजा और राजन्यवर्ग के लोग तथा विद्वान् ही दर्शक होते थे। यहाँ नाटक पंचम वेद के रूप में ही नहीं, साहित्य के रूप में भी प्रतिष्ठित था। ऐसे नाटकों के दर्शकों के लिए ही आचार्य भरत ने चरित्रवान्, कुलीन, विद्वान्, यश और सुकृत का इच्छुक, पक्षपातरहित, वयस्क, नाटक के षडंगों का ज्ञाता, जागरूक, सत्यवादी, वासनावेग के प्रभाव से हीन, संगीतज्ञ, अभिनय के प्रसाधनों से परिचित, संवाद की भाषा से अभिज्ञ, चार प्रकार के अभिनय का ज्ञाता, व्याकरण, छन्दःशास्त्र आदि का पंडित, धर्मात्मा, भावों को समझने में अनुभवी इत्यादि होना आवश्यक बताया है। दर्शक के इन गुणों पर ध्यान रखते हुए तथा विद्वत्परिषद् की रंगशाला की बात जान-सुन कर भी जो प्रसाद के नाटकों की अभिनेयता की हँसी उड़ाते हैं, उन्हें क्या उत्तर दिया जाय ! क्या ऐसे आलोचक कह सकते हैं कि प्रसाद के नाटकों को ऐसे ही प्रेक्षक और ऐसी ही रंगशाला मिली ? नहीं। तो फिर वे नाटक अनभिनेय क्यों कहे जायँ। काग्रीव की बहुप्रशंसित कॉमेडी 'दी वे ऑफ दी वर्ल्ड' (The way of the world) भी तो रंगमंच पर कभी सफल न उतरी। आखिर क्यों ? स्पष्टतः उस समय तक रंगमंच और अभिनेता इस लायक नहीं थे।

हाँ, तो तात्पर्य यह कि संस्कृत में भी रंगमंच की कम-से-कम दो कोटियाँ अवश्य थीं। एक रंगमंच ऐसा था जिसपर साहित्यिक रचनाएँ ही अभिनीत होती थीं तथा दूसरा रंगमंच, जिसे लोक-रंगमंच ही कहना चाहिए, लोकनाट्य अथवा जननाट्य के अभिनय के लिए था। हिन्दी में रंगमंच की प्रायः आज यही दशा है। पर, हिन्दी के साहित्यिक रंगमंच की तुलना कालिदास के समय के रंगमंच से नहीं की जा सकती है। इसकी अवस्था लोक-रंगमंच से थोड़ी ही सुधरी हुई है, दोनों में हिमालय और प्रशान्त का अन्तर नहीं है। लोक-रंगमंच प्रायः 'खुले रंगमंच' से थोड़ा आगे की स्थिति में है।

साहित्यिक रंगमंच के प्रायः चार भाग होते हैं—नेपथ्य, पार्श्व, दृश्य सामग्री और मंच को दर्शक से अलग करने वाला भाग। लोक-रंगमंच के विविध रूप हिन्दीभाषी क्षेत्रों में मिलते हैं, जिनमें मूलतः निम्नांकित रूप अधिक प्रचलित हैं—(१) लीला-नाटकों के रंगमंच, (२) यात्रा-पार्टी और स्वाँग-नाटकों के रंगमंच, (३) कठपुतलियों के रंगमंच।

हिन्दीभाषी क्षेत्र में रासलीला और रामलीला का काफ़ी प्रचार रहा है।

प्राचीनता की दृष्टि से रामलीला ही पुरानी है। रामलीला और रासलीला की विभिन्न मण्डलियाँ अपना रंगमंच उसी पुराने रूप का ढोती चली आ रही हैं जिनका प्रारम्भ आज से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हुआ था। अवश्य ही इन्होंने नये ढंग के परदे आदि का उपयोग धीरे-धीरे थोड़ा विकसित किया है। रासलीला के लिए प्रायः एक ही रंगमंच का उपयोग किया जाता है। पर, रामलीला के लिए कभी-कभी दो रंगमंच बनाये जाते हैं—एक ओर रामपक्ष का रंगमंच होता है और दूसरी ओर रावणपक्ष का। दर्शक प्रायः रंगमंच के दोनों ओर—दायें-बायें—बैठते हैं। दोनों रंगमंचों की सजावट आदि में भी अन्तर होता है। कहीं-कहीं रासलीला की तरह ही एक ही रंगमंच पर रामपक्ष और रावणपक्ष—दोनों पक्षों का अभिनय सम्पन्न होता है। रामलीला के लिए कभी-कभी रंगमंच का विधान स्थल के अनुसार ही अलग-अलग होता है। अयोध्या, जनकपुर, चित्रकूट, पम्पा सरोवर, लंका इत्यादि के अभिनय के लिए अलग-अलग स्थान ही निर्धारित होते हैं। ऐसी ही रामलीला का अभिनय काशी के निकट रामनगर में होता रहा है। इस रंगमंच में प्रायः उस विकसित रूप का अभाव ही है, जिसकी आवश्यकता साहित्यिक नाटकों के अभिनय के लिए है।

यात्रा-पार्टी के रंगमंचों का अधिक प्रचलन बिहार और उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों में ही है। यह चलते-फिरते रंगमंच का आदर्श लिये है। आजकल कई व्यावसायिक नौटंकी-कम्पनियाँ भी ऐसा ही करती हैं। यात्रा-पार्टी के लोग प्रायः धार्मिक नाटकों का ही अभिनय करते हैं। नौटंकी-कम्पनियाँ पारसी थियेटरों का आदर्श लिये हैं। इनमें प्रायः प्रेमपूर्ण कथानक के पद्यबद्ध नाटकों का अभिनय होता है। सामान्य रूप से इस प्रकार के रंगमंच में नाटकोचित विधान तो मिलते हैं, पर इनका उद्देश्य या तो धार्मिक कथा द्वारा उपदेश देना होता है अथवा विशुद्ध मनोरंजन। इनमें समुचित सुधार-परिष्कार के पश्चात् प्रचार का कार्य सुन्दर ढंग से किया जा सकता है। जनता के मतपरिवर्त्तन के निमित्त यह रंगमंच अधिक उपयोगी प्रमाणित हो सकता है। नगरों में प्रायः सिनेमा के हो जाने से आजकल ऐसी यात्रा-पार्टियाँ और नौटंकी-कम्पनियाँ अपेक्षाकृत देहातों में ही घूमती रहती हैं। यह रंगमंच कामचलाऊ रूप में ही है। सादगी ही इसकी असल वस्तु है। अभिनय के नाम पर हल्की चीजें ही मिलती हैं। प्रायः मनोरंजन के लिए ऐसे रंगमंच पर अश्लील वातावरण ही उपस्थित किये जाते हैं। किसी-किसी यात्रा-पार्टी का रंगमंच अपेक्षाकृत अच्छी वस्तुएँ अवश्य प्रदर्शित करता है।

हिन्दी-प्रदेश में कठपुतलियों के रंगमंच का भी विशिष्ट स्थान है। कठपुतलियों का प्रचार भारत में काफी पुराना है। गुणाढ्य की वृहत्कथा तथा महाभारत तक में इसकी चर्चा मिलती है। स्वयं अर्जुन ने उत्तरा के अनुरोध पर कठपुतलियों का

अभिनय दिखाया था। कठपुतलियों के द्वारा एक पूरी कथा ही दिखायी जाती है। अलग-अलग पात्रों के अभिनय-हेतु अलग-अलग पुतलियाँ होती हैं। पहले एक कठपुतली आकर ढोलक बजाकर अभिनय की सूचना देती है। दूसरी कठपुतली आकर झाड़ू देती है, तीसरी जल का छिड़काव करती है। पुनः पात्रों के अलग-अलग स्थान निश्चित होते हैं और सम्पूर्ण घटना का अभिनय हो चलता है। कथा की सूचना सूत्रधार देता चलता है। वस्तुतः इन्हें ही भारतीय रंगमंच और अभिनय का संक्षिप्त रूप कहा जा सकता है।

हिन्दी के साहित्यिक रंगमंच भी मूलतः दो रूपों में रखे जायँगे—व्यवसायी रंगमंच और अव्यवसायी रंगमंच। अव्यवसायी रंगमंच के भी दो रूप देखने को मिलते हैं। अव्यवसायी रंगमंच का एक रूप स्कूलों और कालेजों में समय-समय पर देखने को मिलता है। वस्तुतः इन्हें अर्द्धसाहित्यिक रंगमंच ही कहा जायगा। ये एमेच्योर रंगमंच के ही उदाहरण होंगे। इनमें अभिनय का आयोजन छात्रों के द्वारा ही होता है। थोड़े उत्साही शिक्षक भी अवश्य भाग लेते हैं। इनके समुचित विकास में सबसे बड़ी बाधा यही है कि एक बार जिन छात्रों को अभिनय के सम्बन्ध में बताया-सुनाया जाता है वे एक या अधिक-से-अधिक दो बार ही अभिनय में भाग लेते हैं। पुनः या तो शिक्षासमाप्ति पर या अनुत्तीर्ण आदि होने के कारण उनका सम्बन्ध विद्यालय से टूट जाता है, जिससे उनके स्थान पर नये छात्रों को नये सिरे से बताने-सुनाने की आवश्यकता आ जाती है। इस प्रकार, विद्यालयों के रंगमंच पर शायद ही कभी पूर्ण प्रशिक्षित अभिनेता आ पाते हैं। अव्यावसायिक रंगमंच का दूसरा रूप, शौकिया रंग-मंच भी दिखलाई पड़ता है। कभी-कभी धार्मिक उत्सवों या अन्य प्रकार के आयोजनों के समय किसी ग्राम या नगर के लोग शौकिया तौर पर अभिनय का आयोजन करते हैं। इस समय भी रंगमंच और अभिनय पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। प्रायः यही सोचा जाता है कि एक या दो दिन की तो बात है, किसी प्रकार से काम निकाल लेना चाहिए। इस मनोवृत्ति के कारण भी इन शौकिया रंगमंचों में कोई सराहनीय प्रगति नहीं दीखती है। बच जाते हैं व्यावसायिक रंगमंच। ऐसे रंगमंच हिन्दी में अभी नहीं के बराबर हैं। बम्बई की बात कुछ और है। वहाँ 'पृथ्वी थियेटर्स' की स्थापना से हिन्दी रंगमंच का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ है।

हिन्दी में साहित्यिक दृष्टि से रंगमंच का प्रारम्भ भारतेन्दु द्वारा ही होता है। जिस समय भारतेन्दु ने हिन्दी रंगमंच की स्थापना की, उस समय हिन्दी-क्षेत्र रंगमंच से पूर्णतः शून्य नहीं था। ऊपर लोक-रंगमंच की चर्चा की जा चुकी है। यह परम्परा पहले से ही चली आ रही थी। इसके अतिरिक्त, भारतेन्दु-काल में पारसी रंगमंच का काफी प्रभाव था। योरोपीय ढंग पर भारत में रंगमंच की स्थापना सर्वप्रथम सन् १७८५ ई० में हेरोसिन लेवेडेफ नामक एक रूसी कलाकार के द्वारा

हुई। यह रंगमंच चला तो नहीं, पर इससे इतना फायदा अवश्य हुआ कि बँगला रंगमंच की स्थापना इसी ढंग पर हुई। अँगरेजी रंगमंच से ही प्रभावित होकर सर्वप्रथम पेस्टनजी फ्रामजी ने सन् १८७० ई० में 'ओरिजनल थियेट्रिकल कम्पनी' की स्थापना की। ऐसी कम्पनियाँ सन् १६२० ई० तक खुलती रहीं। 'अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी', 'न्यू अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी', 'कारन्थियन विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी', 'एलेक्जेण्ड्रिया थियेट्रिकल कम्पनी' इत्यादि ऐसी ही नाटक-कम्पनियाँ थीं। इन पारसी कम्पनियों में रौनक बनारसी, तालिब बनारसी, अहसान लखनवी इत्यादि के पद्यबद्ध नाटक अभिनीत होते थे। इनसे निम्न रुचि की ही परितुष्टि हो पाती थी। सामान्य कोटि के नाटकों का ही इनमें अभिनय होता था। इनका उद्देश्य पैसा कमाना था, साहित्यिक दृष्टि से रंगमंच का परिष्कार करना नहीं। उच्च कोटि के नाटकों की तो यहाँ दुर्दशा ही हो जाती थी। इन्हीं कम्पनियों की अश्लीलता और भोंडे प्रदर्शन की प्रेरणा से ही भारतेन्दु ने रंगमंच के परिष्कार के उद्देश्य से हिन्दी रंगमंच की स्थापना की। इस पुण्यकार्य में भारतेन्दु के सहयोगियों— पं० प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनाथ भट्ट आदि— ने भी योगदान किया। इसी साहित्यिक नाटक-मंडली से प्रेरणा पाकर दूसरी साहित्यिक नाटक-मंडली भी काशी में कायम हुई।

भारतेन्दु को विरासत में बँगला का विकसित रंगमंच मिला था। उन्होंने उससे पर्याप्त लाभ उठाया। इससे साहित्यिक रुचि का परिष्कार हुआ। हिन्दी-समाज में नयी चेतना उत्पन्न करने में इससे खूब प्रेरणा मिली। बलिया, कानपुर, मेरठ इत्यादि नगरों में हिन्दी रंगमंच की स्थापना हुई और लोग नये उत्साह से नाटक के अभिनय में भाग लेने लगे। प्रयाग के काँग्रेस-अधिवेशन में बदरीनारायण चौधरी ने 'भारत-सौभाग्य' नाटक का अभिनय किया था। इसी अवसर पर राधाकृष्णजी का नाटक 'प्रताप' भी अभिनीत हुआ था। बलिया वाले अभिनय में स्वयं भारतेन्दुजी प्रमुख भूमिका में उतरे थे। नारियों की भूमिका में उतरने के लिए पं० प्रतापनारायण मिश्र जैसे व्यक्ति ने अपनी मूँछों का भी सफाया करा डाला था। भारतेन्दु की मृत्यु के उपरान्त हिन्दी रंगमंच का भार भारतेन्दु के सहयोगियों ने सँभाल लिया था।

भारतेन्दु के पूर्व वाजिदअली शाह ने 'इन्दरसभा' नाटक का अभिनय प्रारम्भ कराया था। इसके अभिनय के लिए किसी विशेष प्रकार के रंगमंच की अवतारणा न हो सकी थी। प्रायः खुले रंगमंच पर ही अभिनय का कार्य सम्पन्न होता था। पारसी कम्पनियों ने इससे भी कम प्रेरणा न ली थी।

द्विवेदी-युग में रंगमंच की स्थिति और भी सुधरनी चाहिए थी; पर ऐसा हो न सका। इस समय नाटक के क्षेत्र में निष्क्रियता पनपने लगी थी। भारतेन्दु का

प्रयास इस समय लुप्त-सा ही हो चला था। भारतेन्दु के समय पारसी रंगमंच में जो शिथिलता आ गयी थी, वह पुनः नये सिरे से उभर रही थी। इस समय राधेश्याम कथावाचक, आगाहश्र, नारायणप्रसाद बेताब इत्यादि के नाटकों का ही रंगमंच तैयार हो गया था। हाँ, इस युग में एक महत्त्वपूर्ण घटना अवश्य होती है। आज से लगभग पचपन वर्ष पुरानी संस्था 'नागरी नाटक-मंडली' की स्थापना इसी समय हुई थी। काशी की यह संस्था समय-समय पर हिन्दी के साहित्यिक नाटकों के लिए रंगमंच तैयार करती रही है।

प्रसाद-युग में हमारी रुचि परिष्कृत तो होती है, पर धूम रहती है बेताब और आगाहश्र की ही। स्वयं परिष्कृत रुचि के कारण पारसी नाटक मन्द तो पड़ने ही लगे थे, सिनेमा के प्रचार से भी उन्हें गहरा आघात पहुँचा। सिनेमा ने केवल पारसी रंगमंच को ही समाप्त नहीं किया, अपितु हिन्दी रंगमंच के समुचित विकास में भी वह एक चट्टान ही बन गया। दूसरी बात यह कि स्वयं प्रसादजी के इस वाक्य ने— "रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जायँ"—भी रंगमंच के विकास में कम बाधा नहीं उपस्थित की। वस्तुतः इस वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि प्रसादजी रंगमंच के विरोधी थे, अपितु वे तो मात्र इतना ही चाहते थे कि रंगमंच को स्वयं नाटकों के अनुकूल बनना चाहिए, न कि रंगमंच के अनुकूल नाटकों की रचना की जाय। श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी ने भी ऐसे ही नाटकों की रचना की जो प्रसाद की मान्यताओं पर ही आधृत थे। अस्तु, इन नाटककारों से किसी प्रकार का बढ़ावा न मिलने के कारण हिन्दी का रंगमंच पिछड़ा ही रह गया।

निश्चय ही प्रसाद-युग में कुछ ऐसे नाटककार अवश्य हुए जो रंगमंच की तत्कालीन स्थिति पर ध्यान देते हुए अपने नाटकों को रंगमंचीय बनाने का प्रयत्न कर चले। डॉ० रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मीनारायण मिश्र इत्यादि ने भरसक अपने नाटकों को अधिक रंगमंचीय बनाने के प्रयत्न किये हैं। इस दृष्टि से नाटकों में कई प्रकार के परिवर्त्तन किये गये। नाटकों का अपेक्षाकृत छोटा होना, कम से कम पात्रों की योजना, भाषा में स्वाभाविकता, रंगमंच पर प्रदर्शन किये जाने योग्य दृश्यों की योजना, वेशभूषा, पात्रों का रंगमंच पर प्रवेश इत्यादि ऐसे विषय हैं, जिनका सम्बन्ध रंगमंच से बहुत घनिष्ठ है। इस समय के नाटकों में इन बातों पर प्रायः पूरा ध्यान दिया गया है। इस युग में सर्वाधिक अभिनय सम्भवतः हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों का ही हो सका है। अभिनेय नाटकों के लेखकों में भगवतीचरण वर्मा, बेनीपुरी, सत्येन्द्र शरत, डॉ० सुधीन्द्र इत्यादि के नाम अग्रगण्य हैं।

अधुनातन हिन्दी रंगमंच पर विचार करते हुए श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने

('कोणार्क' नाटक की भूमिका में) इसके त्रिकोणात्मक विकास का आग्रह किया है—(क) यथार्थवादी एमेच्योर रंगमंच, (ख) प्राचीन नाट्यकला से प्रेरित किन्तु आधुनिक साधनों से सम्पन्न नागरिक रंगमंच और (ग) परिमार्जित और संशोधित देहाती रंगमंच। आज रंगमंच के विकास में बहुत बड़ी बाधा है सिनेमा। इसकी टक्कर के लिए रंगमंच को राजाश्रय मिलना अपेक्षित है। आज बिना राजकीय सहयोग के इसका उन्नयन प्रायः असम्भव ही है। डॉ० त्रिगुणायत का विचार है कि रंगमंच के समुचित विकास के लिए विद्यालयों में अभिनय-कला का पाठ्यक्रम के रूप में निर्धारण होना चाहिए। सरकार की ओर से चालित रंगमंच को वे तीन रूप में विकसित करने के पक्ष में हैं—(क) लोकनाट्य के रंगमंचों के रूप में, (ख) उपदेशार्थ निर्मित रंगमंचों के रूप में और (ग) साहित्यिक रंगमंच के रूप में। सरकार सूचना-विभाग से इस कार्य को आगे बढ़ा सकती है। यहाँ एक बात विचारणीय यह भी है कि यह कार्य मात्र सरकार के ही भरोसे नहीं रहना चाहिए। इसमें जनता का सहयोग आवश्यक है। पर, इसे अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि कम-से-कम बड़े-बड़े नगरों में उत्तम कलात्मक रंगमंच का विकास तो सरकार को अपनी योजना में ले ही लेना चाहिए। आज जनसम्पर्क-विभाग द्वारा इस कार्य को अधिक प्रोत्साहन दिया जा सकता है।

हिन्दी-साहित्यकारों की ओर से भी इधर ऐसे प्रयत्न होते दिखाई दे रहे हैं जिनसे हिन्दी रंगमंच का भविष्य उज्ज्वल दीखता है। ऐसे प्रयत्नों में साहित्यकार-संसद्, प्रयाग के प्रयत्न का उल्लेख आवश्यक है। सन् १९५५ ई० की जुलाई में आयोजित ताकुला शिविर में इसने रंगमंच के विकास की एक योजना बनायी थी। वह योजना 'रंगवाणी' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसमें रंगमंच के भविष्य के सम्बन्ध में घोषणा की गयी थी—"राष्ट्रीय रंगमंच के विषय में हम साहित्यकारों की स्पष्ट धारणा है कि वह किसी भी व्यक्ति, किसी भी शासनसत्ता, किसी भी राजनीतिक दल या किसी भी व्यापारी के महत्त्वाकांक्षामात्र या धनोपार्जनमात्र का साधन न होकर राष्ट्र की समस्त विकासोन्मुख सांस्कृतिक परम्पराओं को समन्वित करता हुआ उच्चतम साहित्यिक संवेदनाओं को साक्षर तथा निरक्षर जनता तक पहुँचाकर उदार मानवीय स्तर पर उनके कल्याण एवं विकास में सहायक होता है।" खेद का विषय यह है कि अर्थाभाव के कारण यह योजना कार्यान्वित न हो सकी।

सच पूछा जाय तो हिन्दी रंगमंच के विकास में काशी और बम्बई जैसे नगरों का विशिष्ट महत्त्व है। बम्बई में ही सर्वप्रथम पारसी रंगमंच की स्थापना हुई थी। पुनः यहीं विज्ञान के अधुनातन साधनों से पूर्ण तथा पश्चिमी रंगमंच का आदर्श लेकर 'पृथ्वी थियेटर्स' की स्थापना हुई है। इसका संयोजन और नियमन प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूर द्वारा होता है। इस कलात्मक रंगमंच की स्थापना से

हिन्दी रंगमंच में नया अध्याय प्रारम्भ होता है। इसी प्रकार कलकत्ते में भी 'मिनरवा', 'स्टार' और 'विश्वरूपा' जैसे थियेटरों की स्थापना हुई है। पटने का 'कलामंच' अपनी कच्छपगति के लिए प्रसिद्ध ही रहा है। रवीन्द्र-जयन्ती के अवसर पर पटने में रवीन्द्र-भवन की स्थापना के साथ रंगमंच का भी अध्याय जुटता है। बिहार की राजधानी में यहाँ से हिन्दी रंगमंच का नया इतिहास कायम होगा।

हर्ष की बात है कि इधर भारत-सरकार ने भी 'संगीत नाटक अकादमी' की स्थापना कर रंगमंच के विकास में योगदान करना प्रारम्भ किया है। उत्तम कलाकारों और अभिनेताओं द्वारा इसका संचालन होने पर, इससे भी रंगमंच में नया मोड़ उपस्थित हो सकेगा। इसमें पुरस्कार और सम्मान देने की योजना भी है। इधर हरवंश राय बच्चन की प्रतिभा से हिन्दी में शेक्सपीरियन रंगमंच का संस्करण भी तैयार होने लगा है। पर, अभी तक प्रसाद के नाटकों का अभिनय सफल रूप में किसी ने प्रस्तुत नहीं किया है। इससे दो बातों का अनुमान होता है— (क) हिन्दी का रंगमंच अभी अविकसित है अथवा (ख) हिन्दी में रंगमंचीय नाटक कम और पाठ्य नाटक अधिक हैं। वस्तुतः ये दोनों बातें अभी सही हैं।

वर्त्तमान स्थिति में हिन्दी रंगमंच के विकास में कई बाधाएँ हैं। सिनेमा का नाम ऊपर कई बार लिया जा चुका है। इससे तो बाधा हुई ही है। इसके अलावा रेडियो-रूपकों ने भी इसका मार्ग अवरुद्ध कर रखा है। रेडियो-रूपकों ने भी नाटक को पाठ्य बनाने में ही सहायता पहुँचायी है। इन बाधाओं को बाहरी बाधाओं के रूप में माना जायगा। इसके साथ ही कतिपय आन्तरिक बाधाएँ भी हैं।

आज हिन्दी रंगमंच व्यावसायिक रूप में दो-चार नगरों में ही विकसित हो रहा है। शौकिया ढंग पर आयोजित रंगमंच अथवा विश्वविद्यालयी एमेच्योर रंगमंच को बढ़ावा न मिलने के कारण तथा सुयोग्य आचार्य के पथ-प्रदर्शन के अभाव के कारण भी रंगमंच अविकसित है। पश्चिमी देशों में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि अव्यवसायी संस्थाएँ ही अपने रंगमंच पर कुछ ऐसी कलाएँ विकसित करती हैं, जिन्हें व्यवसायी रंगमंच अपनाकर जीवित रखते हैं। आचार्य भरत के देश में नाट्याचार्यों की कमी शर्म की ही बात है।

दूसरी बात है वेशभूषा और रंग-रोगन की। ऐसा देखा जाता है कि जो टोप सिकन्दर पहनता है, वही महाराणा प्रताप भी पहनते हैं। यह अज्ञता के कारण तो होता ही है, साथ ही आवश्यक सामानों की आसानी से अनुपलब्धि भी इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण है। प्रायः अव्यवसायी संस्थाओं में साधनसम्पन्न या शक्तिशाली व्यक्ति प्रोड्यूसर बन जाते हैं और कलाकार की बातों की अनसुनी करते हैं। साथ ही, ये चंदे माँगना, रंगमंच तैयार करा देना और अखबारों में नाम छपा देना ही अपना इतिकर्त्तव्य समझते हैं। यह भी कम महत्त्वपूर्ण बाधा नहीं है।

पश्चिम में रंगमंच के विकास में बिजली का पूर्ण उपयोग होता है। इसी के आधार पर रिभौलभिंग स्टेजों की कल्पना भी सम्भव हो सकी है। उनकी तुलना में हिन्दी रंगमंच शिशु ही प्रतीत होता है। हिन्दी रंगमंच के सम्बन्ध में ज्ञान प्रदान करने वाली पुस्तकों का भी अभाव है। ऐसी पुस्तकें प्रायः उत्तम प्रोडयूसरों द्वारा ही लिखी जानी चाहिए, जिनमें उनका पूर्ण अनुभव बोलता हो। इनके अध्ययन से भी शौकिया कलाकार कुछ सीख सकते हैं। अँगरेजी में इस प्रकार की कई पुस्तकें लिखी गयी हैं। सी० वी० परडोम की 'प्रोड्यूसिंग प्लेज', श्री हेनिंग नेम्स की 'प्ले प्रोडक्शन', श्री निकोलाई गोरचाकोव की 'दी वाख्तानगोव स्कूल ऑफ स्टेज आर्ट' ऐसी ही पुस्तकें हैं। हम इन पुस्तकों से भी थोड़ा कामचलाऊ लाभ उठा सकते हैं। हिन्दी में रामकुमारजी की 'नाटक और रंगमंच' इस सम्बन्ध में एक नयी पुस्तक निकली है। जबतक हम रंगमंच पर होने वाले समूहीकरण, दृश्यविधान, रंगदीपन और अभिनय का पर्याप्त सुधार नहीं करते हैं, हिन्दी का रंगमंच नहीं सुधरेगा। अभी तो यह सदियों पीछे की स्थिति में चल रहा है। इसके लिए साहित्यकारों, हिन्दी-प्रदेश के कलाकारों और सरकार की समवेत योजना होनी चाहिए। इस तात्कालिक अनिवार्यता को यदि हम छोड़ देंगे तो निश्चय ही हिन्दी रंगमंच का भविष्य अन्धकारमय ही रहेगा।

●

२८

हिन्दी निबन्ध : स्वरूप और विकास

[निबन्ध का अर्थ—पाश्चात्य मत—हिन्दी पर्याय—संस्कृत और हिन्दी के विचार—एसे और अँगरेजी पर्याय—मौन्तेन, आचार्य शुक्ल और जॉनसन आदि के विचार—परिभाषाएँ—व्यक्तित्व या विषयवस्तु की प्रधानता—कथा और निबन्ध—चार भेद—भावात्मक शैली के चार प्रकार—विचारात्मक शैली के दो प्रकार और अन्य भेद—अधुनातन : विषयीनिष्ठ और विषयनिष्ठ—आचार्य शुक्ल के तीन प्रकार—चार साहित्य-तत्त्व—गुलाबराय के पाँच लक्षण—विकास—मौन्तेन और बेकन : अव्यवस्था और व्यवस्था—हिन्दी में प्रारम्भ : टीकापरम्परा, पत्रकारिता—आधुनिक हिन्दी निबन्ध के चार युग—भारतेन्दु-युग—दो भाषा-शैली—भारतेन्दु-युग के निबन्धकार—द्विवेदी-युग के निबन्धकार : वृहत्त्रयी—शुक्ल-युग के निबन्धकार—व्रजभाषा-खड़ीबोली, हिन्दी-हिन्दुस्तानी, गाँधीवादी राजनीति और छायावादी शिल्प का विवाद—शुक्लोत्तर युग : सामान्य और विश्वविद्यालयी स्तर—सारांश]

निबन्ध साहित्य की एक ऐसी विधा है जिसकी परिभाषा उसके रूप के समान ही सर्वाधिक अनिश्चित है। इसके आकार की भी कोई सीमा नहीं है। ऐसी अनिश्चितता के कारण इसके भेद भी कई हैं। फिर भी निबन्ध को साहित्य की विधाओं में इसीलिए महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है कि गद्य की छटा, शैली का चमत्कार, भाषा पर अधिकार और व्यक्तित्व का निखार सर्वाधिक यहीं देखने को प्राप्त होता है। 'निबन्ध' का शाब्दिक अर्थ है 'निःशेष बन्ध' या 'कसा हुआ बन्ध'। इस विचार से निबन्ध को एक ऐसा रचना-प्रकार कहा जायगा जिसके 'बन्धन में कसाव' हो। जहाँ तक 'कसाव' शब्द का प्रश्न है, इससे दो प्रकार के अर्थ ध्वनित होते हैं—(क) विस्तार में कसाव, अर्थात् विस्तारलाघव और (ख) भावों और विचारों में कसाव।

जहाँ तक निबन्धों के विस्तार का प्रश्न है, पाश्चात्य और भारतीय समीक्षक प्रायः एकमत हैं। दोनों विस्तारलाघव की बात करते हैं; पर भावों और विचारों की कसावट में वैमत्य दीखता है। भारतीय समीक्षक भावों और विचारों की कसावट पर अधिक जोर देते हैं, किन्तु पाश्चात्य समीक्षक भावों और विचारों से अधिक निबन्ध में वैयक्तिकता पर ही जोर देते हैं। वहाँ इसे 'मन की मुक्त भटकन', 'हँसी-हँसी में ज्ञानवितरण करने वाला' अथवा 'किसी मजेदार और बहुश्रुत व्यक्ति का

भोजनोत्तर एकान्त सम्भाषण' ही समझा जाता रहा है। आज वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास के साथ मनुष्य की रागात्मक प्रवृत्ति बौद्धिक हो उठी है। मनुष्य ने वस्तुओं के स्वरूप को समझने और उसमें तारतम्य स्थापित करने की जिज्ञासा उत्पन्न की है। इसमें तार्किक शोध की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता हो गयी है। इसी बौद्धिक जिज्ञासा ने निबन्ध-साहित्य को जन्म दिया है।

हिन्दी में निबन्ध के लिए प्रायः लेख, सन्दर्भ, रचना, प्रस्ताव और प्रबन्ध जैसे शब्द भी चलते हैं। वस्तुतः इन शब्दों में भिन्नता है। लोग अज्ञातवश समान अर्थों में इन शब्दों को प्रयुक्त कर देते हैं। लेख शब्द से किसी भी प्रकार की समस्त लिखी हुई सामग्री का बोध होता है। आज इसका और भी सीमित अर्थ में प्रयोग होने लगा है। इसका अर्थ आज वस्तुपरक गद्यलेखन (आर्टिकिल) में सिमटता दीख रहा है। सन्दर्भ का प्रयोग लेख से भी सीमित समझना चाहिए। विषय-विशेष के किसी विशिष्ट प्रसंग को लेकर जो विचार प्रकट किये जाते हैं, उसी का सूचक शब्द 'सन्दर्भ' है। इसका शब्दार्थ है—बाँधना, पिरोना अथवा संगुम्फित करना। रचना से मूलतः किसी साहित्यकार की कृति का बोध होता है। यह कृति गद्य में भी हो सकती है और पद्य में भी; पर भावों और विचारों में सामंजस्य तो चाहिए ही। निबन्ध के अर्थ में यह अँगरेजी के 'कम्पोजीशन' का समानार्थी है। ऐसी स्थिति में यह गद्यात्मक स्वरूप का ही बोधक है। प्रबन्ध तो निबन्ध का समानार्थक प्रायः संस्कृत साहित्य से ही रहा है। धीरे-धीरे संस्कृत में 'प्रबन्ध' शब्द आख्यानों के लिए रूढ़ हो चला था। आज प्रबन्ध शब्द का प्रयोग प्रायः वैसी रचना के लिए होता है जिसमें किसी विषय का क्रमबद्ध रूप से विस्तृत, प्रामाणिक और वस्तुपरक वर्णन होता है। 'थीसिस' के पर्याय में प्रायः शोधप्रबन्ध शब्द चल पड़ा है। कभी-कभी प्रबन्धों में वस्तुपरकता का अभाव और व्यक्तिपरकता की प्रमुखता ही होती है। हिन्दी में प्रबन्ध के लिए निबन्ध शब्द भी व्यवहृत होता रहा है।

संस्कृत-साहित्य में निबन्ध के नाम से जो साहित्य प्राप्त है, आज का हिन्दी-निबन्ध उससे सर्वथा भिन्न है। संस्कृत का निबन्ध-साहित्य सूत्रमयी शैली में भाव-गुम्फन की कला है। इसके प्रतिकूल अधुनातन हिन्दी निबन्ध-साहित्य मुक्त मनोदशा का उद्गार है। निबन्ध के इन दोनों रूपों को आचार्य शुक्ल ने यह कहकर एकत्र करने का प्रयत्न किया है कि "शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबा कर ठूँसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचारखण्ड के लिए हो।" इस परिभाषा के अनुसार आचार्य शुक्ल के निबन्ध ही खरे उतरते हैं। वे मानते थे कि "यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।" उनके अनुसार यह

'गद्य-साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग' है। इसका रचना-कार्य 'गूढ़ और गम्भीर' होता है। 'भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास सबसे अधिक' यहीं सम्भव है। इसमें ऐसे विचार हों जिनके अध्ययन से 'पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नयी विचारपद्धति पर दौड़ पड़े'। इसके 'भाषाविधान और अर्थविधान में चुस्ती' आवश्यक है।

निबन्ध के लिए अँगरेजी में 'एसे' शब्द चलता है। यह लैटिन के 'एग्जीजियर' से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है निश्चिततापूर्वक परीक्षण करना। फ्रेंच का 'एसाई' भी इसी से व्युत्पन्न है। 'एसे' शब्द को सर्वप्रथम मौन्तेन ने 'प्रयोग' (Attempt) के अर्थ में प्रयुक्त किया था। उसके तथाकथित 'एसे' में कल्पना, अनुभूति और व्यक्तित्व का अनुपम योग था। मौन्तेन निबन्ध को 'विचारों, उद्धरणों और आख्यानों का मिश्रण' ही मानता रहा है। अपने निबन्धों के सम्बन्ध में उसका कथन था कि "यह मेरी अपनी भावनाएँ हैं, इनके द्वारा मैं किसी नवीन सत्य के अन्वेषण का दावा नहीं करता, इनके द्वारा मैं अपने-आप को पाठकों की सेवा में समर्पित करता हूँ।" उसने 'माई एसेज आर कान्सबटैन्सियल विद मी' कहकर निबन्धों में वैयक्तिकता की घोषणा की है।

अँगरेजी में 'एसे' के समान ही 'आर्टिकिल', 'थीसिस', 'ट्रीटाईज' इत्यादि गद्यरूप भी मिलते हैं। वर्सफोल्ड की मान्यता के आधार पर कहना चाहें तो कह सकते हैं कि 'एसे' और 'ट्रीटाईज' में लगभग निबन्ध और प्रबन्ध का ही अन्तर है। शोधपूर्ण 'ट्रीटाईज' ही 'थीसिस' समझी जाय। तात्पर्य यह कि सबमें 'एसे' सबसे भिन्न गद्यरूप है।

विचारकों में निबन्ध की परिभाषा के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। ऊपर आचार्य शुक्ल और निबन्धों के जनक मौन्तेन के विचार रखे जा चुके हैं। दोनों के विचार में लगभग विरोध-सा है। भारतीय विचारकों के प्रतिनिधि आचार्य शुक्ल ने निबन्धों में पर्याप्त चुस्ती और एक विशेष प्रकार की वैयक्तिकता की चर्चा की है, तो मौन्तेन ने मात्र वैयक्तिकता पर ही ध्यान दिया है। इसने चुस्ती की चर्चा ही छोड़ दी है। निबन्धों पर दिये गये विचारों में प्रायः यही दो वर्ग के विचार मिलते हैं। वैयक्तिकता और कल्पनाशीलता को ही ध्यान में रख कर जॉनसन निबन्धों को 'मन का मुक्त और असम्बद्ध उद्गार तथा अनियमित अभिव्यक्ति' मानने के पक्ष में हैं—"An essay is a loose sally of mind, an irregular and indigested piece of literature, not a regular and orderly performance of literature." अलेक्जेण्डर स्मिथ ने 'ऑन द राइटिंग ऑफ एसे' में निबन्ध के स्वरूप का विवेचन करते हुए इसकी समता प्रगीत से बतायी है। इसके लेखक को वह सनक, गम्भीरता तथा

व्यंग्य से सम्बद्ध मानता है। सिल्क के कीड़े के चारों ओर घिर जाने वाले कोकून की भाँति ही वह निबन्धलेखन के लिए मानसिक केन्द्रीकरण आवश्यक बताता है—"The essay as a literary form resembles the lyric in so far as it moulded by some central mood, whimsical, serious or satirical. Give the mood and the essay from the first sentence to the last grows around it as the cocoon grows around the silk worm." इसी प्रकार Hallward और Hill नामक विद्वानों ने भी साहित्यिक निबन्धों को मात्र विषय का संक्षिप्तीकरण ही नहीं माना है, अपितु वे उसे वस्तु के प्रति लेखक की प्रतिक्रियात्मक अभिव्यक्ति मानते हैं, जिसमें वैयक्तिकता की ही प्रधानता होती है—"The essay proper or literary essay is not merely a short analysis of a subject, nor a mere epitone, but rather a picture of wandering minds affected for the moment by the subject with which is dealing. Its most distinctive feature is the egoistical element." इन विचारकों ने यहाँ भी वैयक्तिकता पर सर्वाधिक जोर दिया है। स्वयं हडसन भी लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति पर जोर देते हैं—"The true essay is essentially personal." हिन्दी के विचारकों में श्री प्रभाकर माचवे भी 'हिन्दी निबन्ध' में निबन्ध की परिभाषा देते समय व्यक्तित्व पर ही अधिक ध्यान देते हैं—"निबन्ध घुमन्तू, कवायली तथा यायावर प्रकार का चिरप्रवासी साहित्यप्रकार है। घाट-घाट का पानी उसने पिया है। कई सराय और होटलों में वह ठहरा है। मगर उसका मंजिले-मकसूद अन्ततः आत्मकथन या अपने निकटतर व्यक्ति को लिखे जाने वाले पत्र के समान है। उसमें लेखक की रुचि-अरुचि भी मिश्रित है।" जे० बी० प्रीस्टले निबन्धों को रहस्यालाप या सच्चा प्रेमप्रलाप ही मानते रहे हैं। लिंड के अनुसार निबन्धों में 'जिन्दादिली के साथ बुजुर्गी' (Wisdom in a smiling mood) और 'सुन्दर बकवास' (ऐन एलेगेण्ट पीस ऑफ नॉन्सेन्स) होना आवश्यक है। तात्पर्य यह कि पाश्चात्य विचारकों ने निबन्धों में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति में ही सारी कला का निखार मान लिया है।

निबन्धों में व्यक्तित्व की ऊपर जो चर्चा हुई, उससे यह स्पष्ट है कि इस कथन में अतिरेक है। हिन्दी में इस मत के पक्षधर विद्वान् प्रायः आचार्य शुक्ल की मान्यताओं का विरोध ही नहीं करते, अपितु यह भी कहते हैं कि वे निबन्धों में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के पक्ष में न थे। वस्तुतः यह भ्रम है। आचार्य शुक्ल ने भी व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति निबन्धों में आवश्यक तो बतायी है, पर अतिरेक का

वे सदा वर्जन करते रहे हैं। देखिए, उन्हीं के शब्दों को— "आधुनिक लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। ....व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी ही न जाय या जान-बूझकर जगह-जगह तोड़ दी जाय।" इस कथन से यह स्पष्ट है कि वे निबन्ध में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति एक सीमा तक ही मानते थे। हाँ, बुद्धि अथवा तार्किकता को अधिक महत्त्वपूर्ण वे अवश्य मानते थे। उन्होंने वस्तुपरकता, वैयक्तिकता, बौद्धिकता और भावनात्मकता का निबन्धों में उचित सामंजस्य करना चाहा था। इसमें उन्हें अधिक दूर तक सफलता भी मिली है। वे वैज्ञानिक और तत्त्वचिन्तक को निबन्धकार से भिन्न मानते थे। उनका विश्वास था कि निबन्ध को न तो दर्शन होना चाहिए और न कविता। एक में बुद्धिव्यापार की प्रमुखता हो जाती है, तो दूसरे में कल्पना का अतिरेक। अस्तु, निबन्धों में मस्तिष्क और हृदय का उचित सामंजस्य होना आवश्यक है। उनके अनुसार "निबन्धलेखक जिधर चलता है उधर अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता के साथ, अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों लिए हुए रहता है।" पश्चिमी विचारक A. Q. Coach का मत आचार्य शुक्ल से मिलता-जुलता है। वह भी कहता है—"The first and last secret of good style consists in thinking with the heart as well as with the head." तात्पर्य यह कि उत्तम निबन्ध में वैयक्तिकता के साथ विचारगाम्भीर्य भी आवश्यक है। इसमें मस्तिष्क के साथ हृदय का संयोग होना चाहिए; योग नहीं। निबन्ध के सम्बन्ध में हिन्दी के अन्य विचारकों की निम्नांकित परिभाषाएँ द्रष्टव्य हैं—

१. "निबन्ध एक रचनाशैली है, जिसमें लेखक किसी विषय पर व्यक्तिगत ढंग से विचार करता है।" —डॉ दशरथ ओझा

२. "निबन्ध वह एक छोटा-सा गद्यविधान है, जिसमें निबन्धकार जीवन या जगत् से सम्बन्धित किसी भी वस्तु या व्यक्ति के प्रति उद्भूत अपनी मानसिक और बौद्धिक प्रतिक्रियाओं की इस प्रकार निर्बाध अभिव्यक्ति करता है कि वह अधिक से अधिक रोचक, संवेदनशील और चमत्कारपूर्ण हो।"

—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत

३. "निबन्ध उस गद्यरचना को कहते हैं जिसमें सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सभ्यता के साथ किया गया हो।"

—आचार्य गुलाब राय

उपर्युक्त परिभाषाओं पर विचार करने के पश्चात् यही कहा जायगा कि

भारतीय विचारकों को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की बात मान्य तो है, पर यहाँ अतिरेक नहीं है। यहाँ सामंजस्यवादी विधान है। इसी से हिन्दी-निबन्धकारों में न तो काउर्ली, स्विफ्ट, लैम्ब, हैजलिट, स्टील, गोल्डस्मिथ, ली हण्ट, स्टीवेन्सन जैसे व्यक्तित्व को प्रधानता देने वाले ही हैं और न बेकन, एडीसन, जॉनसन, डी० क्वीन्सी, मैकाले, वाल्टर पेटर जैसे विषयवस्तु को प्रधानता देने वाले ही। यहाँ तो सामंजस्य का ही राज्य रहा है। इसी से प्रायः सभी निबन्धकारों में विषय-वस्तु और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति में औचित्यनिर्वाह ही अधिक मिलता है।

साहित्य के अन्य प्रकारों से निबन्ध सर्वथा भिन्न है। यद्यपि निबन्ध पद्य में भी लिखे गये हैं, तथापि ये गीत या मुक्तक बिल्कुल नहीं हैं। कविता में कवि कल्पना के रोमानी पंखों पर उड़ता रहता है, जबकि निबन्धकार बुद्धि के घरेलू और यथार्थवादी स्तर पर आकर पाठकों से गप-शप करता है। क्या निबन्ध को गद्यकाव्य के निकट का साहित्यरूप माना जाय? नहीं। क्योंकि गद्यकाव्य संवेदन-शील उद्‌गार ही अधिक है, जबकि निबन्ध में वस्तुनिष्ठ लेखन का ही आधिक्य है। इसी प्रकार निबन्ध और गल्प में भी अन्तर है। गल्प है तो बतकही, पर वह आख्या-यिका भी है। यदि निबन्ध को कुछ देर के लिए हम बतकही भी मान लें तो आख्या-यिका तो उसे किसी प्रकार मान ही नहीं सकते। फिर कथा में जो भावात्मक तृप्ति मिलती है, वह निबन्ध में कहाँ! निबन्ध में जो वैचारिक सन्तुष्टि मिलती है, वह सब से भिन्न है। गल्पकार या अन्य कथाकार अपना अस्तित्व खोकर पात्रों में सिमट जा सकता है, पर निबन्धकार को ऐसी छूट नहीं है। यही तो निबन्धकार की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह अपने को कभी भुला ही नहीं सकता। वह सर्वत्र अपने-आपको लिये चलकर भी नहीं ले चलता है। इसी प्रकार निबन्ध न तो स्वगत कथन है और न मात्र 'रिपोर्ताज'। यह न तो केवल संस्मरणात्मक रेखाचित्र है और न केवल यात्रावर्णन। यह सम्मिश्रित रूप में सब कुछ होकर भी उससे ऊपर एक सुन्दर रसायन-सा है। इसी से तो आज निबन्ध की परिभाषा देना एक दुष्कर कार्य है। जिसका स्वरूप ही निश्चित न हो, उसकी सुनिश्चित परिभाषा कैसी? कहना चाहें तो कह सकते हैं कि निबन्ध गद्य का वह सुविकसित और परिमार्जित रूप है जिसमें किसी वस्तु के प्रति लेखक के विचारों और भावों की एक सुसम्बद्ध झाँकी मिलती है।

आज यह प्रश्न भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि साहित्यिक निबन्धों के लिए विषय का चुनाव कहाँ से हो। इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि संसार का कोई भी विषय साहित्यिक निबन्धों के विषय का काम कर सकता है। साहित्यिक निबन्धों के लिए विषय का साहित्यिक होना उतना आवश्यक नहीं

विक्षेपशैली का ही प्रतिपादन है।

विचारों का सर्वोत्कृष्ट रूप विचारात्मक निबन्धों में ही मिलता है। इनमें विचारधारा किसी भी प्रकार की हो सकती है। राजनीति, अर्थ, धर्म, इतिहास इत्यादि में से किसी भी विषय पर विचारात्मक निबन्ध लिखे जा सकते हैं। भावतत्त्व इसमें दब जाता है। सर्वत्र बुद्धितत्त्व की ही प्रधानता मिलती है। आचार्य शुक्ल निबन्धों का आदर्श रूप विचारात्मक निबन्धों में ही पाते थे। उनके अनुसार— "शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबा कर ठूँसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचारखण्ड के लिये हो।" विचारात्मक निबन्ध मूलतः दो शैलियों में ही लिखे जाते हैं— समासशैली और व्यासशैली। प्रथम का आदर्शरूप आचार्य शुक्ल के निबन्धों में, द्वितीय का आदर्शरूप डॉ० श्यामसुन्दर दास के निबन्धों में उपलब्ध हो जाता है। आज विचारात्मक निबन्धों की कई कोटियाँ देखने में आती हैं— आलोचनात्मक, गवेषणात्मक, विवेचनात्मक, व्यंग्यात्मक इत्यादि। यहाँ एक बात और जान लेनी चाहिए कि निबन्धों की शैलियों की जो प्रसंगगत चर्चा हुई है, उनके सम्बन्ध में नियम प्रायः पूर्ण दृढ़ता से लागू नहीं होते हैं। एक निबन्ध में भी कभी-कभी कई प्रकार की शैलियों के एकत्र दर्शन होते हैं।

निबन्ध का वर्गीकरण एक दूसरे प्रकार से भी हो सकता है। अधुनातन प्रवृत्ति के अनुसार निबन्धों की दो कोटियाँ बतायी जा रही हैं— विषयीनिष्ठ (Subjective) और विषयनिष्ठ (Objective)। प्रथम प्रकार के निबन्धों में विषय का सामान्य प्रतिपादन प्रायः गौण हो जाता है और लेखकविशेष का व्यक्तित्व ही अधिक मुखर हो उठता है। ऐसे निबन्धों में वस्तु के सम्बन्ध में दिये गये विचार प्रायः एकांगी ही होते हैं। वस्तु के सामान्य ज्ञान की दृष्टि से ऐसे निबन्ध अधूरे ही पड़ते हैं। हाँ, इनमें लेखक की रुचि-अरुचि पूर्णतः स्पष्ट रहती है। व्यक्तित्व तो मानो जबरन झाँकता ही रहता है। दूसरे प्रकार के निबन्धों में भी लेखक का व्यक्तित्व रहता तो है, पर एक सीमा तक ही। वस्तु के यथार्थ वर्णन पर इसमें अधिक जोर दिया जाता है। ज्ञानवर्द्धन की दृष्टि से ऐसे ही निबन्ध अधिक उपयोगी होते हैं। पाश्चात्य विचारकों ने प्रायः प्रथम प्रकार के निबन्धों की ही अधिक दाद दी है। भारतीय दृष्टिकोण से दूसरे प्रकार का निबन्ध ही आदर्श रहा है। सच बात तो यह है कि उत्तम निबन्ध वही बन पाते हैं, जिनमें लेखक के व्यक्तित्व के साथ वस्तुवर्णन का भी उचित सामंजस्य हो पाता है। आचार्य शुक्ल के निबन्ध ऐसे ही बन पड़े हैं।

आचार्य शुक्ल ने तीन प्रकार के ही निबन्ध माने हैं— विचारात्मक, भावात्मक और वर्णनात्मक। उनका मत है कि प्रवीण लेखक इन तीनों विधानों का

सुन्दर सामंजस्य लेकर चलता है। वस्तुतः निबन्ध में साहित्य के चारों तत्त्वों— कल्पना, बुद्धि, राग और शैली— का सुन्दर समन्वय होना चाहिए। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबन्धों में कल्पना, भावात्मक निबन्धों में राग और विचारात्मक निबन्धों में बुद्धि के तत्त्व प्रधान रहते हैं। शैली-तत्त्व सबमें समान रूप से पाया जाता है।

निबन्ध के रूप अनेक हैं। इसकी आधारभूमि विकसित है। इसी विविधता और विस्तार के कारण अभी तक इसकी समुचित परिभाषा नहीं बन पायी है। निबन्ध के सम्बन्ध में अभी तक विचारों में स्थिरता का अभाव-सा ही है। न तो अभी तक इसका स्वरूप ही निश्चित किया जा सका है और न किसी का निर्देश ही सर्वमान्य बन सका है। हाँ, कुछ ऐसे तत्त्व हैं अवश्य, जिन्हें हिन्दी और अँगरेजी के समीक्षक आवश्यक मानते हैं। आचार्य गुलाब राय ने निबन्ध के पाँच लक्षण स्थिर किये हैं— (क) निबन्ध अपेक्षाकृत आकार में छोटी गद्यरचना के रूप में होता है, (२) निबन्ध में लेखक का निजीपन और व्यक्तित्व झलकता रहता है, (३) निबन्ध में अपूर्णता और स्वच्छन्दता के रहते हुए भी वह स्वतः पूर्ण होता है, (४) निबन्ध साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक रोचक और सजीव होता है और (५) निबन्ध में प्रायः एक दृष्टिकोण का प्रतिपादन होता है। कतिपय अन्य विचारकों ने भी लगभग इन्हीं बातों को दुहराने की चेष्टा की है। सामान्य रूप से हम कहेंगे कि निबन्ध में निम्नांकित बातों का होना आवश्यक है और इनके अभाव में कोई भी रचना निबन्ध नहीं कही जायगी—

१. अपेक्षाकृत छोटी किन्तु स्वतःपूर्ण गद्यरचना— हिन्दी और अँगरेजी में कतिपय निबन्ध पद्य में लिखे गये हैं। पर उन्हें आर्ष प्रयोग मानना चाहिए। निबन्ध सदा गद्य में लिखा जाना चाहिए। रचना कितनी छोटी हो— इसके लिए कोई स्थिर नियम तो नहीं बनाया जा सकता, पर अपेक्षाकृत इसे छोटा ही होना चाहिए। साथ ही, इसमें अपूर्णता जैसी वस्तु न हो। वस्तुविशेष के मात्र एक अंग का भी प्रतिपादन इसे पूर्ण बना सकता है। पूर्णता आवश्यक है। इसके लिए प्रारम्भ से अन्त तक तारतम्य होना चाहिए।

२. लेखक के व्यक्तित्व की स्पष्ट अभिव्यक्ति— वस्तुपरक विवेचन होने के साथ ही निबन्ध में लेखक की वैयक्तिक मान्यताओं की अभिव्यक्ति भी आवश्यक है। व्यक्तित्व के अभाव में निबन्ध दो कौड़ी का हो जायगा। किन्तु, मात्र व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को ही सब-कुछ मान लेने पर गड़बड़ी की सम्भावना है। व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का फीलपाँवी विस्तार न होकर सामंजस्य ही होना चाहिए।

३. रोचकता, सजीवता और जिन्दादिली के साथ गम्भीरता का निर्वाह— निबन्ध की सफलता रोचकता पर ही निर्भर है। यदि निबन्ध सिरदर्द बन जायगा

तो इसे कोई पढ़ेगा ही क्यों ? अस्तु, रोचकता अनिवार्य है। साथ ही, सजीवता और जिन्दादिली भी होनी चाहिए। पर, यदि निबन्ध मात्र मनोरंजनप्रधान और जिज्ञासामूलक होकर ही रह जायगा तो भी यह अच्छा नहीं माना जायगा। एक हद तक इसमें विचारगाम्भीर्य होना अनिवार्य है। विचारगाम्भीर्य के कारण ही तो यह गद्यकारों की कसौटी कहा गया है।

४. औपचारिकता का अभाव तथा भावों और विचारों का संगुम्फन— निबन्ध को विश्वसनीय बनाने के लिए उसमें से औपचारिक तत्त्वों को निकाल देना आवश्यक है। इसमें भावों और विचारों का सुन्दर गुम्फन होना अनिवार्य है। भाव के अभाव में निबन्ध मात्र बुद्धिविलास हो जायँगे और बुद्धि के अभाव में ये मात्र गद्यकाव्य बन जायँगे। निबन्धकार को ज्ञानात्मक और भावात्मक सत्ता को सदा साथ लेकर ही आगे बढ़ना चाहिए।

५. हास्य और व्यंग्य के साथ भाषाविधान और अर्थविधान में चुस्ती— जिन्दादिली बनाये रखने के लिए हास्य और व्यंग्य का निबन्धों में उपयोग आवश्यक है। इन्हें चटनी के समान स्थान मिलना चाहिए। साथ ही, निबन्धों की भाषा कसी और मँजी हुई होनी चाहिए। भाषा के लचरपन में अर्थ की असंगति भी सम्भव है। इससे बचने के लिए प्रत्येक शब्द के प्रयोग पर ध्यान देना उचित है। भाषा से अर्थ का चुस्त सम्बन्ध हो, इसके लिए भाषा में चुस्ती आवश्यक है।

उपर्युक्त बातों का निर्वाह निबन्ध में आवश्यक है। सामान्य रूप से इन्हें ही हम निबन्ध के तत्त्व के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। निबन्धकार वास्तव में हमारा सहप्रवासी है, सफर का साथी है। उसकी मनोदशा चाहे जो हो, जीवन को देखने की उसकी दृष्टि भले ही पचासों प्रकार की हो; पर वह एक बात की अवहेलना कभी नहीं कर सकता है और वह है जीवन। जिस दिन निबन्धकार जीवन की अवहेलना, तिरस्कार या उपेक्षा करेगा, उसी दिन उसकी निबन्धकला उससे पलायन कर जायगी।

निबन्ध के स्वरूप की चर्चा हो चुकी। अब है विकास की कथा। जब निबन्ध के विकास की चर्चा की जाती है, तो मौन्तेन और बेकन का स्मरण सहसा हो आता है। इन्हीं दोनों के कारण निबन्ध को कलात्मक रूप और प्रतिष्ठा मिली है। मौन्तेन फ्रांस का निवासी था। उसकी रुचि विस्तृत थी। वह चिन्तकप्रवृत्ति का था। लेकिन ऐसा लगता है कि उसे क्रमबद्ध विवेचन प्रिय नहीं था। उसने प्रत्येक प्रकार की समस्या पर विचार किया है। महत्त्व उसके विचार का नहीं, अपितु उसकी दृष्टि का है। उसकी उस दृष्टि के कारण ही निबन्धों में शैलीगत विशिष्टता आ गयी है। उसका कथन है— 'माई एसेज आर कान्सबटैन्सियल विद मी' अर्थात् 'मेरे निबन्ध और मैं एक ही सामग्री से बने हैं'। उसके निबन्ध

विश्व के उपवन में घूमते समय जमा किये गये कुछ फूलों के समान ही हैं।

इसके प्रतिकूल बेकन था। यह इंगलैंड का निवासी था। यह राज्य के ऊँचे-ऊँचे पदों को सुशोभित कर चुका था। मौन्तेन की तुलना में इसे व्यवस्था प्रिय थी। इसके निबन्धों के आकार और वाक्य— दोनों— छोटे-छोटे हैं। गहनता भी इनमें अधिक प्रतीत होती है। इसके निबन्ध प्रगल्भ, सूत्रमय, सुभाषितप्राय और ज्ञान के महासागर पर उठने वाली तरंगों के समान हैं। मौन्तेन की तरह इनमें शैलीगत वैशिष्ट्य भी नहीं है। चाहें तो कह सकते हैं कि मौन्तेनविरोधी मान्यताएँ ही बेकन की विशेषताएँ हैं। भाषा और अर्थविधान की चुस्ती इनमें वर्त्तमान है— "Reading maketh a man full, conference a ready man; and writing an exact man."

उपर्युक्त दोनों व्यक्तियों के कारण प्रारम्भ से ही निबन्धलेखन की दो भिन्न प्रणालियाँ विकसित हो चलीं। आज भी हम निबन्धसाहित्य को सुगमता से इन दो विभागों में रख सकते हैं।

हिन्दी का निबन्धसाहित्य विकसित तो है, पर इसे पूर्ण विकसित नहीं कहा जा सकता। निबन्धों के विकास के सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि इसका विकास टीका-परम्परा से हुआ है। उनका कथन है कि "टीका-परम्परा की इस नयी शाखा (सिद्धान्तप्रतिपादन और खंडन-मंडन) को हम निबन्धसाहित्य कह सकते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के बाद निबन्धग्रन्थों की परम्परा बढ़ती गयी।" यद्यपि हिन्दी निबन्धों की जड़ हम ग्यारहवीं शताब्दी में खोज रहे हैं, तथापि हमें यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करना चाहिए कि इसका विकास हिन्दी-गद्य के विकास से संलग्न है। वस्तुतः इसका विकास हिन्दी की पत्रकारिता के विकास से ही सम्बद्ध है। हिन्दी-निबन्ध की विकास-कथा को चार भागों में रखा जायगा—भारतेन्दु-युग, आचार्य द्विवेदी-युग, आचार्य शुक्ल-युग और शुक्लोत्तर युग। श्री जयनाथ नलिन ने अन्तिम दोनों युगों का नामकरण क्रमशः 'प्रसाद-युग' और 'प्रगतिवाद-युग' किया है। मेरे विचार से श्री नलिन के नामकरण में अव्याप्तिदोष है। इसे अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि स्वयं प्रसादजी ने कतिपय उत्कृष्ट निबन्धों की रचना की है; पर सोचना यह है कि क्या प्रसादजी के निबन्धकार का रूप प्रबल था। यही बात प्रगतिवाद-युग के सम्बन्ध में भी है।

भारतेन्दुपूर्व युग में भी एक महत्त्वपूर्ण निबन्धलेखक थे—श्री राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द। इन्होंने उर्दू ई शैली में हिन्दी में एक नया चलन प्रारम्भ किया था। ये लिपि तो चाहते थे देवनागरी, पर भाषा मिली-जुली। 'राजा भोज का सपना' इनका सुन्दर निबन्ध है। सितारेहिन्द के प्रतिकूल राजा

लक्ष्मण सिंह ने संस्कृतनिष्ठ भाषा का पक्ष लेकर साहित्यसेवा का पथ प्रशस्त किया था।

सही अर्थों में निबन्धों का जन्म भारतेन्दु-युग में ही होता है। इस समय हिन्दी में अनेक पत्रिकाएँ निकल पड़ी थीं। हिन्दी निबन्धों का सम्बन्ध मूलतः पत्रिकाओं से ही रहा है। इस समय राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था, विविध प्रकार के आन्दोलन इत्यादि ही निबन्ध के विषय बने हैं। जैसे-जैसे विचार बढ़ते जाते हैं, निबन्धों का विषय भी विस्तृत होता जाता है। वस्तुतः निबन्धों की दृष्टि से भारतेन्दु-काल अधिक उर्वर रहा है। डॉ० वार्ष्णेय ने इस युग की निबन्ध-कला पर विचारते हुए बताया है कि इस युग की समस्त रचनाएँ निबन्ध की कोटि में नहीं हैं। अधिकांश 'लेख' ही बनकर रह गये हैं, निबन्ध नहीं बन सके हैं। इस युग के प्रमुख निबन्धकारों में श्री बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहन सिंह, पं० अम्बिकादत्त व्यास इत्यादि हैं। स्वयं भारतेन्दु भी एक अच्छे निबन्धकार थे।

भारतेन्दुजी कुशल कवि और सफल नाटककार तो थे ही, अच्छे निबन्धकार भी थे। हाँ, यह बात दूसरी है कि इनका निबन्धकार इनके नाटककार की अपेक्षा दुर्बल था। यहाँ नाटकों के समान इन्हें सफलता नहीं मिली है। तत्कालीन दुर्बलताएँ इनमें पर्याप्त रूप में मिलती हैं। इनके निबन्धों का विषय बहुत ही व्यापक है।

हिन्दी के प्रथम सफल निबन्धकार हैं पं० बालकृष्ण भट्ट। इनके निबन्धों में विषयवैविध्य के साथ ही शैलीगत वैशिष्ट्य भी मिलता है। भाषा की दृष्टि से इनके निबन्ध संस्कृत शैली में ही आयेंगे। मौलिक विचार, व्यक्तिगत वैशिष्ट्य और रोचक निर्वाह के लिए भट्टजी के निबन्ध सदा प्रसिद्ध रहेंगे। 'मेला-ठेला', 'भकुआ कौन है', 'आत्मनिर्भरता', 'इंगलिश पढ़े तो बाबू होय' इत्यादि निबन्ध इनकी कुशल लेखनी की याद आज भी दिलाते हैं।

पं० प्रतापनारायण मिश्र की निबन्धकला भट्टजी से अधिक उर्वर है। साथ ही इनमें गम्भीरता, विश्लेषणात्मकता आदि भी उनसे अधिक है। इनमें विषय-वस्तु की अपेक्षा शैलीगत वैशिष्ट्य अधिक मिलता है, इसी से डॉ० श्रीकृष्ण लाल इन्हें हिन्दी का मौन्तेन कहते हैं। इन्होंने शरीर के विभिन्न अंगों— 'दाँत', 'भौं', 'पेट', 'मुच्छ', 'नाक' इत्यादि— पर निबन्ध तो लिखे ही, 'टेढ़ जानि शंका सब काहू', 'घूरे क लत्ताँ बिनै, कनातन क डोल बाँधै', 'होली है अथवा होरी है' जैसी उक्तियों पर भी लेखनी चलायी है।

श्री बालमुकुन्द गुप्त के निबन्धों में शालीनता अधिक मिलती है। व्यंग्य

यहाँ अधिक सांकेतिक बन पड़ा है। 'शिवशम्भु का चिट्ठा' के निबन्ध अपनी ताजगी सदा बनाये रहेंगे। प्रेमघनजी के निबन्धों में कृत्रिमता अधिक है। शैलीगत चमत्कार अवश्य है। अन्य निबन्धकारों में अम्बिकादत्त व्यासजी अधिक प्रसिद्ध हैं। संस्कृत के अन्यतम विद्वान् होकर भी आप निबन्धों में भाषा के सरलपन के लिए प्रसिद्ध हैं।

सामान्य रूप से कहा जायगा कि इस युग में ऐसे निबन्धों की रचना हुई है जिनमें निबन्धन की वक्रता और शैली में व्यक्तित्व के साथ मनोहारिता का समावेश भी मिलता है। विषय और शैली दोनों ही दृष्टियों से यह युग वैविध्यपूर्ण रहा है। निबन्धों का जो निखार इस प्रारम्भिक युग में मिलता है तथा यह जितनी ऊँचाई पर इस युग में चढ़ सका है, सम्भवतः अन्यत्र ऐसी ही गति में प्रगति नहीं हुई है। सामयिक और साहित्यिक—दोनों प्रकार के निबन्धों की रचना इस समय होती रही है। यहाँ हास्य-व्यंग्य का पुट भी परिमार्जित रूप में ही मिलता है। गम्भीर विषयों का भी प्रतिपादन पूरी सफलता के साथ ही यहाँ हुआ है।

ईसवी सन् की बीसवीं शती से हिन्दी निबन्ध का दूसरा युग प्रारम्भ होता है। इस समय 'सरस्वती' का सम्पादन आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी सँभालते हैं। इनकी लौह-लेखनी भाषा-सुधार में जुटती ही है, निबन्धलेखन में भी तत्पर हो जाती है। निबन्धों का यह युग आचार्य द्विवेदी के नाम पर ही द्विवेदी-युग के नाम से जाना जाता है। इस युग में कुछ अच्छे लेखक तो मिलते हैं, पर भारतेन्दु-युग के निबन्धों को देखकर यही कहना संगत प्रतीत होता है कि उस स्वस्थ परम्परा का यहाँ अभाव-सा ही है। भारतेन्दु-युग की जिन्दादिली यहाँ नहीं मिलती है। शायद जिन्दादिली का धीरे-धीरे अभाव होता गया है। द्विवेदी-युग की निबन्धकला के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का मत है कि इस युग में पाँच-सात विशिष्ट निबन्धकार नहीं गिनाए जा सकते हैं, चूँकि ये लोग कभी भी एक ढर्रे पर लिखते ही न थे। कभी अखबारनवीसी करते, कभी उपन्यास लिखते, कभी नाटक में दखल देते और कभी कविता की आलोचना कर चलते। ऐसी स्थिति में भाषा की पूर्ण शक्ति प्रकट करने वाले निबन्धकार कैसे मिलते ?

आचार्य द्विवेदी ने निबन्धकला को पत्रकारिता से जोड़ लिया है। ढाई सौ के लगभग इनके निबन्ध मिलते हैं, पर सबको निबन्ध नहीं कहा जा सकता। उनकी मधुकर-सी संग्राहक वृत्ति थी। वे स्वयं मौलिकता का दम्भ भी नहीं भरते थे। प्रत्येक स्रोत का वे स्पष्ट उल्लेख कर देते थे। द्विवेदीजी के लेखन में आधुनिक निबन्धकला के तत्त्व बिखरे पड़े हैं, किन्तु जैसे उन्होंने उन तत्त्वों को समन्वित

नहीं किया है। वास्तव में वे शिक्षक और व्यवस्थापक ही अधिक थे, निबन्धकार कम। इसी कारण वे 'गोपियों की भगवद्भक्ति' जैसे निबन्ध ही लिख सके हैं। उन्होंने बेकन को आदर्श मानकर उसके निबन्धों का अनुवाद भी किया था।

द्विवेदी-युग में तीन ऐसे निबन्धकारों के दर्शन होते हैं, जिनका महत्त्व विशिष्ट है। हिन्दी का दुर्भाग्य ही है कि इसे इनलोगों की पूरी सेवाएँ न प्राप्त हो सकीं। ये हैं—सरदार पूर्णसिंह, माधवप्रसाद मिश्र और पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी। सरदार पूर्णसिंह ने हिन्दी में दो-तीन निबन्धों की रचना कर ही अपनी धाक जमा ली है। इसके पश्चात् वे अँगरेजी में लिखने लगे थे। 'मजदूरी और प्रेम' तथा 'आचरण की सभ्यता' इनके उत्तम निबन्ध हैं। इनकी निबन्धकला होम्स और कार्लाइल से मिलती है। मिश्रजी भावात्मक निबन्धकार थे। संस्कृत की काव्यात्मक शैली का प्रचलन आप हिन्दी में कर रहे थे। आपका 'रामलीला' शीर्षक निबन्ध हिन्दी में प्रतिष्ठित है। मिश्रजी की यह प्रवृत्ति थी कि जब तक उन्हें कोई छेड़ता न था, वे लिखते ही न थे। मिश्रजी और गुलेरीजी का असमय ही देहान्त हो जाने से हिन्दी को काफी क्षति हुई। गुलेरीजी का व्यक्तित्व निबन्धकला की दृष्टि से सर्वथा सत्वर और महत्त्वपूर्ण था। ये इतिहास, पुरातत्त्व और संस्कृत के विद्वान् थे; फिर भी इनका ज्ञान बोझ बनकर जीवन-सत्य को दबोच नहीं पाया। निबन्धकार के लिए बहुश्रुतता अपेक्षित है। इनमें यह चीज थी। ये एक साथ पण्डित और कृतिकार थे; इसी कारण ये ऐसे निबन्धों की रचना कर सके जिनमें ज्ञान का मिश्रित आधारफलक और अभिव्यंजना का उत्कृष्ट रूप प्राप्त है। 'मारेसि मोहि कुठाउँ' और 'कछुआ धरम' जैसे निबन्ध आज भी बेजोड़ हैं। इस बृहत्त्रयी के अतिरिक्त पंडित गोविन्दनारायण मिश्र, गोपालराम गहमरी, पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी इत्यादि भी इस युग के प्रसिद्ध निबन्धकार हैं।

हिन्दी-निबन्ध के विकास की तीसरी सीढ़ी आचार्य शुक्ल से प्रारम्भ होती है। वास्तव में आचार्य शुक्ल और डॉ० श्यामसुन्दर दास ने लेखनकार्य आरम्भ किया था द्विवेदी-युग में ही; पर इनकी कला का निखरा रूप इसी समय सामने आता है। द्विवेदीजी के विपरीत आचार्य शुक्ल के निबन्धों में आचार्यों की गुरु-गम्भीरता मिलती है। साधारण-सी बात को भी आचार्यत्व की लपेट में गुरु-गम्भीर बना देने की इनकी अपनी प्रवृत्ति है। पर्याप्त गम्भीरता के कारण आचार्य शुक्ल के निबन्धों में ठोसपन अधिक है। निबन्धों में 'चिन्तामणि' नाम की सटीकता अवश्य है। इन्होंने अपने निबन्धों को अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले सोपान के नाम से अभिहित किया है। अन्तर्यात्री है बुद्धि ही, पर हृदय उसके साथ लगा रहा है। इनके बुद्धितत्त्व में गम्भीरता, मननशीलता, तार्किकता, औचित्य

और यथार्थ का सामंजस्य हो गया है। साथ ही, आदर्श का नौ हाथ का पगहा ये सदा साथ लिये ही रहे हैं। समग्रतः आचार्य शुक्ल में भारतेन्दु-युग की निबन्धकला प्रतिष्ठित हो जाती है; किन्तु अपनी खामियों को समाप्त कर।

डॉ० श्यामसुन्दर दास हिन्दी निबन्धों में भाषणकला की विशेषता लेकर आते हैं। ओज और शक्तिमत्ता के हिसाब से श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के निबन्ध भी बेजोड़ हैं। जहाँ पद्मसिंह शर्मा के निबन्धों में उर्दू की जिन्दादिली, प्रवाह और अत्युक्तिप्रियता के दर्शन होते हैं, वहीं महाराज रघुवीर सिंह के निबन्धों में प्रौढ़ता भी दीखती है। भावों और मनोविकारों का जितना स्वस्थ रूप आचार्य शुक्ल ने रखा, उतना किसी ने नहीं। निश्चय ही, इस युग में हिन्दी निबन्ध को प्रौढ़ता मिली है।

इसी समय ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली का आन्दोलन भी प्रायः उठा। हिन्दी और हिन्दुस्तानी के झगड़े और गाँधीजी की राजनीति का भी प्रभाव हिन्दी पर पड़ा। कविता में आयी हुई छायावादी रंगीनी का भी निबन्धों पर कम असर न हुआ। इन सबों के ऊपर, सुधार की भावना और राजनीति के प्राबल्य ने हिन्दी निबन्ध का मार्ग प्रायः अबाध नहीं रहने दिया।

शुक्लोत्तर युग में अधिकांश निबन्धकार प्रायः वे ही हैं, जिन्होंने आचार्य शुक्ल के समय में ही लिखना प्रारम्भ कर दिया था। शुक्लोत्तर युग में निबन्धों की मूलतः दो प्रधान कोटियाँ हो जाती हैं—सर्वमान्य साहित्यिक निबन्ध और विश्वविद्यालयी स्तर के आलोचनात्मक निबन्ध। इस युग के निबन्धकारों में काका कालेलकर, बनारसीदास चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, नलिनीमोहन सान्याल, डॉ० बड़थ्वाल, शान्तिप्रिय द्विवेदी, सद्‌गुरुशरण अवस्थी, शिवपूजन सहाय, बेनीपुरी, दि० के० बेडेकर, जैनेन्द्र, महादेवी वर्मा, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, आचार्य गुलाब राय, प्रभाकर माचवे, नलिन-विलोचन शर्मा, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, भगवतशरण उपाध्याय, डॉ० मुंशीराम शर्मा, डॉ० भगीरथ मिश्र, शचीरानी गुर्टू, डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० संसारचंद, विद्यानिवास मिश्र, कुट्टिचातन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

विश्वविद्यालयी स्तर के आलोचनात्मक निबन्धों के लिए आचार्य वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, आचार्य नलिनविलोचन शर्मा, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि सदा अग्रगण्य हैं। इधर डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त और राजनाथ शर्मा के भी प्रयत्न ऐसे ही हैं।

आचार्य शुक्ल के पश्चात् पांडित्य, अध्ययन और जिन्दादिली आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों में ही प्राप्त हैं। इनमें भावुकता भी पर्याप्त मात्रा में है, पर गुलेरीजी की व्यंग्यक्षमता नहीं है। सियारामशरण गुप्त, जैनेन्द्र और आचार्य द्विवेदी में नर्मपरिहास बहुत शिष्ट और सूक्ष्म रूप में अपनी छटा दिखाता है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, भगवतशरण उपाध्याय आदि के निबन्धों में

व्यक्तिनिष्ठता, समष्टि का अंग बनकर, विचारप्रधान हो गयी है। डॉ० बड़थ्वाल में आचार्य शुक्ल की ही चेतना है।

हिन्दी में उत्तम निबन्धों का अभी भी अभाव ही कहा जायगा। गम्भीर निबन्धों के नाम पर अधिकतर समालोचनात्मक निबन्ध ही मिल पाते हैं। बिहार के कलाकारों में आचार्य शिवपूजन सहाय और बेनीपुरीजी के निबन्ध उत्तम बन पड़े हैं। बेनीपुरीजी तो शब्दों के जादूगर कहे ही जाते हैं। आचार्य गुलाब राय का 'फिर निराशा क्यों', 'मेरी असफलताएँ', 'मेरे निबन्ध' इत्यादि उत्तम बन पड़े हैं। हास्य-व्यंग्य के निबन्धों के सफल लेखक के रूप में डॉ० संसारचन्द्र सामने आ रहे हैं। श्री कन्नोमल के दार्शनिक निबन्ध भी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। डॉ० रामविलास शर्मा के निबन्धों में वाणी का ओज और क्रान्ति की भावना प्रमुख है। महादेवी वर्मा के स्केच एक ही साथ कहानी, निबन्ध, संस्मरण इत्यादि सभी का आनन्द देते हैं। जैनेन्द्र दार्शनिकता और चिन्तन के लिए स्मरणीय हैं।

इन सब के अतिरिक्त प्रभाकर माचवे, विद्यानिवास मिश्र और कुट्टिचातन की नयी प्रतिभा अधिक ताजगी लिये है। माचवेजी में वैयक्तिकता अधिक है। श्री विद्यानिवास मिश्र पर संस्कृत-अध्ययन का विशेष प्रभाव है। कुट्टिचातन में नयी चेतना अधिक है। सबमें साहित्यिक, व्यंग्यमय और विचारात्मक निबन्ध-योग्यता मिलती है; पर सच बात तो यह है कि इनमें से कोई भी मात्र निबन्धलेखन के लिए समय देने को तैयार नहीं हैं।

हिन्दी निबन्ध की भविष्यकल्पना करते समय हमें इसकी परम्परा और वर्त्तमान स्थिति को भूलना नहीं चाहिए। यह परम्परा अधिक प्राचीन नहीं है। पिछले लेखकों में अपना व्यक्तित्त्व और अभिमत था। मुद्रणयंत्र के विस्तार के कारण उसके बेलनों की चपेट में अधिकांश निबन्ध 'न्यूजप्रिंट' ही हो गये हैं। भाषा और व्यक्तिवैचित्र्यवाद को प्रयत्नपूर्वक समतल में परिणत किया गया है।

आज का मानव सर्वसंशयवाद से ग्रस्त है। सर्वत्र 'वादों' की गूँज है। गाँधी-युग की भावुकता भी संदीपित है। उसमें शान्ति, एकरसता और प्रवाहमय गम्भीरता भी है। सच पूछा जाय तो समालोचनात्मक निबन्धों के अलावा थोड़े ही निबन्ध उत्तम कोटि के बन पड़े हैं। निबन्धों का युग तो आने ही वाला है।

हिन्दी के निबन्धकार में तटस्थता और तद्रूपता के बीच जितना अधिक सांमजस्य और सन्तुलन बढ़ता जायगा, उसके निबन्ध भी साहित्यिक दृष्टि से अधिक अर्थपूर्ण होते जायँगे। इसके लिए चौकसी अपेक्षित है।

●

२९

हिन्दी कहानी : स्वरूप और विकास

[व्युत्पत्ति और परिभाषा—रचनाविधान के तत्त्व—वर्गीकरण—उपन्यास और कहानी में भेद—अन्य गद्यविधाओं से अन्तर—भारत में कहानी का प्रारम्भ—आधुनिक कहानी का प्रारम्भ—भावनावाद और आदर्शवाद—यथार्थवाद—मार्क्स और फ्रायड का प्रभाव—प्रभाववादी—मनोवैज्ञानिक—मनोविश्लेषणवाद—सामाजिक यथार्थवाद—नयी परम्परा]

लोकरंजन और कल्याण की प्रवृत्ति ने ही कहानी को विकसित किया है। 'कहानी' का शाब्दिक अर्थ होगा—कहना। सम्भवतः इसका विकास 'कथानिका' से हुआ है। भारतीय साहित्य में कहानी का विकास बहुत पहले ही हो चुका था; किन्तु जिस अर्थ में कहानी का प्रयोग हो रहा है, कहानी शब्द से जिस कथारूप का बोध होता है, प्रायः यह अपेक्षाकृत नवीन रूप है। इसने अपना आवश्यक साज-सँवार पश्चिमी पद्धति पर किया है। प्राचीन कहानियों में मानव के साथ पशु-पक्षियों का भी उचित स्थान होता था। आज की कहानी पूर्णतः मानवकेन्द्रित हो गयी है। इसमें विस्तार और वैविध्य की अपेक्षा प्रभावोत्पादक चित्रण पर अधिक बल दिया जाता है।

कहानी की परिभाषा गढ़ते समय विचारकों का ध्यान प्रायः रूप, आकार और भावव्यंजना पर ही गया है। बहुत कम ही ऐसे विचारक हैं जिन्होंने सब के औचित्य पर ध्यान रखते हुए कहानी की परिभाषा दी है। किसी ने रूप और आकार को मुख्यता दी है तो किसी ने भावव्यंजना को। पाश्चात्य विचारकों में हडसन, वेल्स, पो, बुलेट, एलरी, चेखव इत्यादि प्रमुख हैं। वेल्स ने आकार पर ध्यान देते हुए कहा है कि कहानियाँ ऐसी हों जो एक घंटे में पढ़ी जा सकें—"Any piece of short fiction which can be read in twenty minutes would be a short story." हडसन ने कहानी की व्याख्या इस प्रकार की है—"A short-story must contain one and only one informative idea and that the idea must be worked out to its logical connections with absolute singleness of aim and directness of method." तात्पर्य यह कि कहानी का मूलभाव एक होना चाहिए, जिसका विकास तार्किक, सरल, एकनिष्ठ और स्वाभाविक गति से हो। सर ह्यू वालपोल के अनुसार, कहानी में घटनाओं

और आकस्मिकता का ऐसा अंकन होना चाहिए, जिसमें गति की क्षिप्रता के साथ अप्रत्याशित विकास का होना आवश्यक हो ताकि वह उसे कौतूहलपूर्वक चरमसीमा और अन्त तक ले जाय—"A short-story should be a story, a record of things full of incident, and accident, swift movement, unexpected development leading throughout suspense to a climax and a satisfying denouement." बुलेट के अनुसार सौन्दर्य अथवा आतंक, आश्चर्य अथवा सामान्य विस्मय के चमत्कार से पूर्ण तथा चमत्कार उत्पन्न करने वाले एक क्षण की सिद्धि करना ही कहानी है—"The short-story exists for the sake of an illuminated and illuminating moment of beauty or of terror, of wonder or of sheer surprise." बुलेट की इस परिभाषा का 'अग्निपुराण' में 'कथानिका' की दी गयी परिभाषा से अद्भुत साम्य है—

भयानकं सुखपरं गर्भे च करुणो रसः।
अद्भुतान्ते सुक्लृप्तार्थो नोदात्ता सा कथानिका॥

यहाँ यदि 'रस' पर ध्यान देते हुए 'भयानक' और 'अद्भुत' का अर्थमात्र लिया जाय तो कहा जायगा कि कथानिका एक ऐसी रचना है जिसकी घटना रोमांचकारी (भयानक) अथवा आनन्दोत्पादक होती है। इसका मूल संवेदनात्मक (करुण) तथा अन्त विस्मयपूर्ण (अद्भुत) होता है। इसकी पदावली सौम्य (अनुदात्त) और इसका अर्थ सुव्यवस्थित (सुक्लृप्त) होता है।

हिन्दी विचारकों में डॉ० श्यामसुन्दर दास ने नाटकीयता पर बल देते हुए कहा है कि "आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर नाटकीय आख्यान है।" आचार्य गुलाबराय के अनुसार "छोटी कहानी एक स्वतःपूर्ण रचना है जिसमें एक तथ्य या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्तिकेन्द्रित घटना या घटनाओं के आवश्यक परन्तु कुछ-कुछ अप्रत्याशित ढंग से उत्थान-पतन और मोड़ के साथ पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला कौतूहलपूर्ण वर्णन हो।" अपनी इस परिभाषा में आचार्य गुलाबराय ने सम्पूर्ण वस्तुओं को समेटने की कोशिश की है। इसी प्रकार कुछ अन्य विचार भी देखे जा सकते हैं—(क) "अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं। × × सबसे उत्तम कहानी वह होती है जो किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित हो।" —प्रेमचन्द। (ख) "जीवन का चक्र नाना परिस्थितियों के संघर्ष से उलटा-सीधा चलता रहता है। इस सुवृहत् चक्र की किसी विशेष परिस्थिति की स्वाभाविक गति को प्रदर्शित करने में ही कहानी की विशेषता है।"—इलाचन्द्र जोशी। (ग) "कहानी आधुनिक साहित्य की वह लघ्वाकार गद्यात्मक विधा है जिसमें

कलाकार जीवन या जगत् की किसी एक घटना, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, भावना या विचार को लेकर एक निश्चित कलाविधि का अनुसरण करता हुआ ऐसी संवेदना और प्रभावान्विति का सृजन करता है जो पाठक को भावविभोर कर रससिक्त करने में समर्थ होती है।"—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत। उपर्युक्त मतों को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि कहानी अपेक्षाकृत छोटी, गद्यात्मक और स्वतःपूर्ण रचना है जिसमें जीवन की किसी एक घटना, सत्य, तत्त्व, मर्म अथवा लक्ष्य की अभिव्यक्ति के द्वारा ऐसी संवेदना और प्रभावान्विति की सृष्टि होती है जिससे पाठक आनन्दित अथवा चमत्कृत हो उठता है।

रचनाविधान की दृष्टि से कहानी में भी उपन्यास की तरह ही छह तत्त्व होते हैं— वस्तु, पात्र, संवाद, देशकाल, शैली और उद्देश्य। इसका तात्पर्य यह नहीं कि कहानी उपन्यास का लघु संस्करण होती है। वस्तुतः दोनों में पर्याप्त अन्तर होता है। उपन्यास में विश्रामस्थलों और विनोदन-गुणों का आवश्यक विस्तार होता है, किन्तु कहानी बगल की परवाह न करते हुए आगे बढ़ती जाती है। इसकी वस्तु संक्षिप्त, एक रम्य दृश्यवाली तथा एक संवेदना प्रदान करने वाली होती है। वस्तु का चयन विविध स्रोतों से होता है। सामान्यतः इतिहास, पुराण, पत्र-पत्रिका, दैनिक जीवन की घटना, कल्पना इत्यादि से इसकी वस्तु का चयन किया जाता है। प्रेरणा के सम्बन्ध में हडसन का यह कथन द्रष्टव्य है—"A dramatic incident or situation, a telling sense, a phase of character, an aspect of life, a moral problem—any one of these and innumerable of other motives which might be added to the taste may be made the nucleus of a thoroughly satisfactory story."

कहानी का कथानक कभी-कभी कई खण्डों में विभाजित होता है। खण्डों में विभाजन के लिए निम्नांकित सिद्धान्त अपनाये जाते हैं--(क) कथा में समय का परिवर्त्तन दिखाने के लिए, (ख) दृश्य अथवा स्थान में परिवर्त्तन दिखाने के लिए, (ग) चरित्रों के मनोविश्लेषण द्वारा उत्कर्षापकर्ष दिखाने के लिए, (घ) प्रभावान्विति के उत्तरोत्तर उत्कर्ष के लिए, (ङ) कौतूहल बनाये रखने के लिए और (च) विस्तारलाघव के लिए।

वस्तुविन्यासक्रम की दृष्टि से कथानक के तीन स्पष्ट भाग होते हैं— प्रारम्भ, मध्य और अन्त। अधिकांश कहानियों में इन तीनों का सम्यक् समावेश होता है। कहानियों का प्रारम्भ कई प्रकार से किया जाता है— परिचयात्मक, इतिवृत्तात्मक, आकस्मिक, प्रकृतिचित्रक, कथोपकथनक, जिज्ञासामूलक इत्यादि। यों कहानियों के प्रारम्भ करने की और भी विधियाँ हो सकती हैं, किन्तु असल बात है

कि उसे कलात्मक, नाटकीय और कौतूहलमूलक होना चाहिए। कहा जाता है, 'नाधा तब आधा' (Well begin is half done), अर्थात् उत्तम रीति से प्रारम्भ होने पर सफलता प्रायः अनिवार्य रूप से होती है। ऐलरी महोदय यह कहकर— "A short-story is just like a horse race. It is the start and finish which count most."—कहानी की सक्रियता पर तो जोर देते ही हैं, प्रारम्भ और अन्त पर भी विचार कर लेते हैं।

कथानक के मध्य भाग में ही विस्तार की अपेक्षा की जाती है। मध्य में संघर्ष का स्वर स्पष्ट तो होना ही चाहिए; मुख्य घटना, समस्या आदि का पूर्ण उन्मुख हो जाना भी आवश्यक होता है। किसी-किसी कहानी में समस्या के प्रवेश से लेकर घात-प्रतिघात आदि का चित्रण भी यहीं होता है। कहा जाता है, अन्त भला तो सब भला, तात्पर्य यह कि प्रारम्भ और मध्य की तरह कहानी का अन्त भी सुधरा हुआ और स्पष्ट होना चाहिए। कहानियों के अन्त में दो बातें विचारणीय हैं—चरमसीमा और समाप्ति। वस्तुतः चरमसीमा ही कहानी का प्राण होती है। अस्तु, इसका निर्वाह आवश्यक है। इसका निर्वाह सफल कहानीकार ही कर पाते हैं। कहानियों की समाप्ति नहीं, अपितु परिसमाप्ति होनी चाहिए। इसके लिए भी प्रारम्भ की तरह ही अनेक विधियाँ प्रचलित हैं।

यहीं कहानी का शीर्षक भी विचारणीय है। कहानी में शीर्षक का महत्त्व अधिक होता है। यह वह दर्पण है जिसमें कहानीकार की आत्मा के साथ सम्पूर्ण कहानी का प्रतिपाद्य स्पष्ट हो उठता है। शीर्षक के सम्बन्ध में चार्ल्स बैरेट का मत है कि "A good title is apt, specific, attractive, new and short." अर्थात् शीर्षक को सुन्दर, विषयानुकूल, निश्चयबोधक, आकर्षक, नवीन और लघु होना चाहिए। हिन्दी-कहानी में प्रयुक्त होने वाले शीर्षकों को प्रतिपाद्यबोधक, भावात्मक, तथ्योद्बोधक, इतिवृत्तात्मक, सम्बन्धवाचक, समयबोधक, पात्रबोधक इत्यादि वर्गों में रखा जा सकता है। पुनः इनका दूसरे प्रकार से भी वर्गीकरण सम्भव है—एक शब्द वाले शीर्षक, दो शब्दों वाले शीर्षक, अनेक शब्दों वाले अथवा पूरे वाक्य वाले शीर्षक।

पात्र और चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में मुख्य बात इतनी ही है कि यहाँ आधार छोटा होने के कारण लेखक चरित्र की विशेषताओं की व्याख्या नहीं करता है, मात्र संकेत करता जाता है। यहाँ चरित्रोद्घाटन तो होता है, पर चरित्र का विकासात्मक अध्ययन नहीं किया जाता। कहानी का नायक सामान्य नहीं, विशेष ही होता है। अन्य पात्रों के नामकरण में वर्णमैत्री तथा चरित्र से संगति पर भी ध्यान दिया जाता है। असल बात है कि पात्र सरल और जीवनोपयोगी होना चाहिए। अलौकिक चमत्कार के लिए यहाँ थोड़ी भी जगह नहीं है।

कहानी में संवाद का उपयोग बहुत है। मनोविश्लेषणात्मक कहानियों में इसकी उपयोगिता आज प्रायः नष्ट-सी हो गयी है, किन्तु पूर्णतः समाप्त तो अभी नहीं हुई है। संवादों को लघु, सुन्दर, आकर्षक, कौतूहलवर्द्धक, चरित्रप्रकाशक, तथ्योद्बोधक तथा रसात्मक होना चाहिए। शुष्क और हास्यरस से ओतप्रोत संवादों की योजना भी कहानियों में मिलती है। कहा जायगा कि संवादों का परिस्थित्युचित, तार्किक, ध्वन्यात्मक इत्यादि होना भी आवश्यक है।

वातावरण अथवा देशकाल का भी कहानियों में अपना महत्त्व है। आज इसके नाम पर प्रादेशिक (Regional touch), स्थानीयता (Local colour) और सार्वभौमिकता (Atmosphere) की चर्चा की जाती है। आज के युग में कोई भी साहित्यिक विधा इसे छोड़कर जी नहीं सकती। आंचलिक भाषा का सम्बन्ध भी इसी से हो जाता है। 'डाची' जैसी कहानियाँ इसी से सफल हैं। वातावरणप्रधान कहानियाँ प्रसाद ने भी खूब लिखी हैं।

शैली में रोचकता, आकर्षण, सजीवता, प्रेषणीयता, संकेतात्मकता, प्रभावात्मकता इत्यादि आवश्यक गुण माने जाते हैं जिनका कहानी में निर्वाह आवश्यक है। आज ऐतिहासिक अथवा इतिवृत्तात्मक, आत्मकथात्मक, संस्मरणात्मक, संवादात्मक, पत्रात्मक, डायरी इत्यादि शैली में कहानियाँ लिखी जा रही हैं। सर्वाधिक प्रचलित शैली इतिवृत्तात्मक ही है।

कोई भी रचना निरुद्देश्य नहीं होती है। कहानियों को भी मात्र मनोरंजन का साधन मानना भारी भूल है। ये मनोरंजन का साधन होने के साथ-साथ सत्य की संवाहिका भी होती हैं। ये जीवन का विश्लेषण भले ही न करें, किन्तु जीवन के एक-न-एक दृष्टिकोण का उद्घाटन तो इनमें अवश्य होता ही है। कलावाद के नाम पर कुछ कहानियों का उद्देश्य वैचित्र्य उत्पन्न करना ही हो गया है, किन्तु इनकी संख्या थोड़ी ही है। यदि आदर्शवाद का पेटा थोड़ा बड़ा कर दें तो कहा जा सकता है कि प्रत्येक कहानी का उद्देश्य किसी-न-किसी आदर्श की अभिव्यक्ति होता है।

तत्त्वों की चर्चा के पश्चात् कहानियों के वर्गीकरण पर भी विचार कर लेना चाहिए। वस्तुतः कहानियों का वर्गीकरण भी आसान कार्य नहीं है। फिर भी कामचलाऊ रूप में कुछ तो करना आवश्यक ही है। डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने स्थूलरूप से कहानियों के तीन वर्ग किये हैं— कथाप्रधान (चरित्रप्रधान, घटनाप्रधान और कार्यप्रधान), वातावरणप्रधान और प्रभावप्रधान। इसके अलावा यदि एक और वर्ग विविध कहानियों का बना लिया जाय तथा उसके अवान्तरभेद हास्यपूर्ण, ऐतिहासिक, प्रकृतवादी, प्रतीकवादी इत्यादि किये जायँ तो काम चल सकता है। वस्तुतः कहानी का वर्गीकरण दो मुख्य आधारों पर हो सकता है— शैली की दृष्टि से

और विषयवस्तु की दृष्टि से। प्रथम के अनुसार ही कहानियों के कुछ ऐसे निश्चित वर्ग बनाये जा सकते हैं जो कुछ अधिक उत्तम हो सकते हैं; किन्तु दूसरे आधार पर कहानियों को वर्गीकृत करना टेढ़ी खीर है। प्रथम के अनुसार ऐतिहासिक, वर्णनात्मक, संस्मरणात्मक, आत्मकथात्मक, संवादात्मक, पत्रात्मक, डायरी शैली वाले— सात भेद हो सकते हैं।

कहानी और उपन्यास दोनों एक ही कथाकुल से विकसित होने भी पर भी एक-दूसरे से पूर्णतः भिन्न हैं। एक को दूसरे का रूपान्तर या लघु-संस्करण नहीं कहा जा सकता। आचार्य गुलाबराय के शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि "कहानी अपने पुराने रूप में उपन्यास की अग्रजा है और नये रूप में उसकी अनुजा।" दोनों में तत्त्वगत समता होकर भी पूरी भिन्नता मिलती है। दोनों में अन्तर बताते हुए डॉ० त्रिगुणायत ने लिखा है कि "कहानी का कथानक हो भी सकता है और नहीं भी।" दूसरी ओर इसके प्रतिकूल प्रखरजी का विचार है कि "दोनों का मेरुदण्ड एक व्यवस्थित कथानक है।" वस्तुतः कथानक की योजना कहानी में अनिवार्य रूप से होती है। उपन्यास में भी यह होता है। कथानक को छोड़कर कोई चल ही नहीं सकते, फिर भी दोनों के कथानक के विस्तार में पर्याप्त अन्तर होता है। कहानीकार का ध्यान विशिष्ट वस्तु या घटना पर केन्द्रित होता है; किन्तु उपन्यासकार वैविध्य पर दृष्टि जमाये चलता है। दूसरी बात यह कि कहानी का कथानक जीवन के अंशरूप में चित्रित होता है; किन्तु उपन्यास में जीवनांश नहीं, सम्पूर्ण जीवन ही चित्रित होता है। पात्रों की दृष्टि से, कहानी में सीमित पात्र से ही काम निकल जाता है; किन्तु उपन्यास में पात्रों की संख्या अधिक होती है। उपन्यासों में मंचपरिवर्त्तन अथवा दृश्यपरिवर्तन की अनिवार्य योजना होती है; पर कहानी में यह विधान अनिवार्य नहीं है। हाँ, कुछ कहानियों का विभाजन खण्डों में होता अवश्य है। लम्बाई की दृष्टि से कहानी में विस्तारलाघव का विशेष महत्त्व रहता है। उपन्यास का कलेवर कितना भी विस्तृत क्यों न हो, दोष नहीं माना जाता; पर कहानी में यह छूट नहीं है। चरमसीमा का विधान प्रायः दोनों में होता है; पर उपन्यास में इसकी अनिवार्य योजना नहीं है। कहानी में चरमसीमा का रहना आवश्यक है। फिर दोनों की चरमसीमा में पर्याप्त अन्तर होता है। प्रखरजी के अनुसार, "कहानी की पराकाष्ठा यदि पहाड़ की एक चोटी है तो उपन्यास की पराकाष्ठा एक फैला हुआ पठार।" दोनों की आदर्श योजना में भी अन्तर होता है। उपन्यास में एक-न-एक आदर्श अवश्य होता है; कभी-कभी कहानी में आदर्श नहीं भी होता है। कौतूहल की योजना में भी दोनों में भिन्नता मिलती है। एक में यह मन्थर गति से चलता है, तो दूसरे में गति की क्षिप्रता

होती है। कहानी को अँगरेजी आलोचक जीवन का स्नैपशॉट (Snapshot) अथवा टुकड़ा (Slice from life) कहते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि इसमें जीवनांश ही चित्रित होता है। किन्तु, उपन्यास में सम्पूर्ण पात्रों का जीवन झलक उठता है। स्टीवेन्सन के शब्दों में कहा जायगा कि "The short story is not the transcript of life but a simplification of some side of it." कहानी में एकत्व और प्रभावान्विति का अधिक महत्त्व होता है। बुद्धि और हृदय को सम्यक् रूप में स्पन्दित करने वाली एकोन्मुख शक्ति ही प्रभावान्विति है। कहानी की यह महत्त्वपूर्ण विभूति है। उपन्यास में प्रभावान्विति में बिखराव मिलता है। इस सम्बन्ध में ब्रेंडर मैथ्यू साहब का कथन देखिए—"A good short story differs from the novel chiefly in its essential unity which a novel cannot have it." इसी प्रकार कथोपकथन, चरित्र-चित्रण, संघर्ष इत्यादि की क्रिया में भी दोनों में पर्याप्त अन्तर मिलते हैं। कहानी में वर्णन की अपेक्षा व्यंजना से अधिक काम लिया जाता है। यहाँ गागर में सागर भरने का प्रयत्न होता है; किन्तु उपन्यास में स्थिति इसके विपरीत होती है।

कहानी के आकार की ही कुछ अन्य गद्यात्मक विधाएँ भी चलती हैं—रेखाचित्र, एकांकी, निबन्ध, आत्मकथा, संस्मरण इत्यादि। इन सब में रेखाचित्र और एकांकी कहानी के निकट पड़ते हैं; किन्तु इनमें भी पर्याप्त अन्तर है। रेखाचित्र में प्रायः एक ही योजना होती है। साथ ही, वहाँ कहानी की गत्यात्मकता का अभाव होता है। प्रायः रेखाचित्र के लिए अकल्पित पात्र ही लिये जाते हैं, पर कहानी में कल्पित पात्रों की ही योजना होती है। कहानी की अपेक्षा रेखाचित्र में वर्णनात्मकता अधिक होती है और प्रबन्धात्मकता कम। एकांकी के शिल्पविधान में भी कहानी से पर्याप्त अन्तर है। उसके लिए अभिनेयता अनिवार्य गुण है। कहा जा सकता है कि जो सम्बन्ध नाटक और उपन्यास में है, वही एकांकी और कहानी में। रही बात संस्मरण की। इसके लिए अनिवार्य रूप से कथा अकल्पित ही चाहिए, जबकि कहानी के लिए कल्पित और निबन्ध में तो कथा की योजना रहती ही नहीं है। अस्तु, कहा जायगा कि कहानी का अन्य सभी रूपों से पर्याप्त अन्तर है।

कहानी की कहानी मानव की कहानी के साथ जुड़ी हुई है। किसी-न-किसी रूप में यह अनादिकाल से ही वर्त्तमान रही है। हिन्दी में आधुनिक कहानी का इतिहास बिल्कुल नया तो है, पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि यहाँ प्राचीन काल में किसी भी रूप में कहानियाँ नहीं मिलती हैं। वस्तुतः कथासाहित्य में भारत अन्य देशों का गुरु है। यूरोप के विद्वानों ने भी इसे एकमत से स्वीकार

किया है कि कहानी के क्षेत्र में भारतवर्ष संसार का गुरु रहा है। भारत में प्राचीन कहानियों का लिपिबद्ध रूप वैदिक साहित्य में मिलने लगता है। यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी, अगस्त्य-लोपामुद्रा इत्यादि की कहानियाँ इसके प्रमाणस्वरूप रखी जा सकती हैं। पुनः पालिसाहित्य में जातकों के रूप में कहानियाँ उपलब्ध होती हैं। यहाँ राजा-रंक, साधु-लफंगे, सदाचारी-व्यभिचारी, संयमी-पियक्कड़, सती-वेश्या, गुरु-शिष्य इत्यादि सबका जीता-जागता चित्रण हुआ है। महाभारत और पंचतन्त्र की कहानियों का मूल इनमें मिल जाता है। आगे चलकर पंचतन्त्र और हितोपदेश की कहानियाँ मिलती हैं। आचार्य गुणाढ्य की वृहत्कथा की महत्ता अधिक है। 'वृहत्कथामंजरी' और 'कथासरित्सागर' की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं ही। इनका अनुवाद विदेशी भाषाओं में पहले ही हो चुका था। ईरान का शाह खुसरो पंचतन्त्र का अनुवाद पहलवी में छठी शताब्दी में ही करा चुका था। आज तो ये सभी अरबी, लैटिन, ग्रीक, जर्मन, फ्रेंच, स्पेनिश, अँगरेजी इत्यादि अनेक भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं। गुणाढ्य की परम्परा ही आगे दो रूपों में पलती है, जिसमें पहली कोटि में 'कादम्बरी' और द्वितीय कोटि में 'वेतालपंचविंशति' आदि की रचनाएँ होती हैं। तात्पर्य यह कि विश्व के कथासाहित्य के विकास का श्रेय भारतवर्ष को ही है।

आधुनिक कहानी का जन्म यूरोप में उन्नीसवीं शती में होता है। हॉफमैन, ग्रिम आदि द्वारा इस क्षेत्र में कार्य किये गये और सर्वप्रथम पो कहानी को आगे बढ़ा चलता है। यूरोप की विकसित कहानीकला ही अँगरेजी और बँगला के माध्यम से हिन्दी को प्रभावित करती है, जिससे आधुनिक हिन्दी-कहानी का विकास होता है।

एक बात और। यहाँ प्राचीन और नवीन कहानियों में थोड़ा अन्तर स्पष्ट कर लेना चाहिए। ऐसा लगता है कि आज की कहानी पूर्णतः मानवकेन्द्रित हो गयी है, जबकि प्राचीन कहानियों में मानव के समान ही पशु-पक्षियों तक का प्रवेश होता था। प्राचीन कहानियों में वर्णनाधिक्य रहता था, विश्लेषण कम आज विश्लेषण ही अधिक होता है। साथ ही, मनोविज्ञान का सहारा प्राचीन कहानियों में नहीं मिलता है, किन्तु आज कोई भी लेखक मनोविज्ञान को छोड़कर नहीं चलना चाहता। पहले की कहानियाँ राजकुमार, सेठ-सेठानी, व्यापारी इत्यादि को लेकर अधिक लिखी गयी हैं, आज की कहानी में साधारण मनुष्य का चित्रण ही अधिक किया जाता है। आज जुम्मन शेख, घीसू चमार का युग है, सेठों और राजकुमारों का नहीं। पहले की कहानियाँ कहानी कम और दृष्टान्त अधिक हैं। आज दृष्टान्त तो कतई नहीं मिलते हैं। कहानी के विषय की परिधि भी आज अधिक व्यापक हो गयी है। आज अलौकिकता, अस्वाभाविकता आदि की

जगह लौकिकता और स्वाभाविकता पर अधिक बल दिया जाने लगा है। सामान्य रूप से कहा जायगा कि प्राचीन कहानियों से नवीन कहानियों में प्रायः छत्तीस का रिश्ता है।

हिन्दी-गद्य के प्रायः सभी रूपों का प्रचलन भारतेन्दु-युग में हो चलता है। इस युग में कुछ कहानियाँ भी लिखी गयी हैं। यों कहानी के नाम पर हिन्दी-गद्य में 'रानी केतकी की कहानी' ही प्रथम रचना मानी जायगी। इसके बाद सितारेहिन्द की 'राजा भोज का सपना' और भारतेन्दु की 'स्वर्ग में सभा' जैसी कहानियाँ मिलती हैं। वस्तुतः ये आधुनिक कहानियों के प्रारम्भिक रूप हैं। यहाँ लोग एक ही रचना में कहानी, निबन्ध, उपदेश, संस्मरण इत्यादि सबका आनन्द लेना चाहते थे।

हिन्दी-कहानी का विकास 'सरस्वती' पत्रिका से हो चलता है और सच पूछें तो 'इन्दु' में कहानीकला निर्मित होती है। 'सरस्वती' में सन् १९०० ई० में किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इन्दुमती' छपी। पुनः 'गुलबहार' (सन् १९०२—किशोरीलाल गोस्वामी), 'प्लेग की चुड़ैल' (सन् १९०२—मास्टर भगवानदास), 'ग्यारह वर्ष का समय' (सन् १९०३— आचार्य शुक्ल), 'पंडित और पंडितानी' (सन् १९०३— गिरिजादत्त वाजपेयी) और 'दुलाईवाली' (सन् १९०७— बंग-महिला) कहानियाँ प्रकाशित हुईं। 'इन्दु' से कहानियों का और भी विकास हो चलता है। इसी में प्रसादजी की प्रथम कहानी 'ग्राम' (सन् १९११) प्रकाशित हुई। इस समय कई कहानीकार सामने आते हैं। राजा राधिकारमण की 'कानों में कँगना' (सन् १९१३), कौशिक की 'रक्षाबन्धन' (सन् १९१३), गुलेरीजी की 'उसने कहा था' (सन् १९१५), प्रेमचन्दजी की 'पंच परमेश्वर' (सन् १९१६) इत्यादि कहानियाँ इसी समय सामने आती हैं। इससे दो बातें स्पष्ट हैं कि हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी है 'इन्दुमती' तथा हिन्दी-कहानियों की परम्परा का स्पष्ट विकास सन् १९११—१६ के बीच हो चलता है।

पंडित ज्वालादत्त शर्मा और आचार्य चतुरसेन की कहानियाँ भी इसी समय आती हैं। कहानी-परम्परा को इससे भी काफी बल मिला है। हिन्दी में केवल तीन कहानियों को लिखकर अमर हो जाने वाले कलाकार श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आज ऐतिहासिक महत्त्व के हो गये हैं। इनकी कहानी 'उसने कहा था' कहानीकला में आकस्मिक सुघटना तो है ही, लैण्डमार्क भी है। यह कहानी उनकी कथनी का उत्कृष्टतम उदाहरण है। 'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का काँटा' भी अच्छी कहानियों में हैं।

हिन्दी में सर्वप्रथम बहुमुखी प्रतिभा लेकर आते हैं प्रसादजी। नाटक और उपन्यास की रचना तो इन्होंने की ही, भावनाप्रधान और वातावरणप्रधान

कहानियों की परम्परा के प्रवर्तक भी ये ही हैं। 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' आपके कहानीसंग्रह हैं। यह बात नहीं कि आपके कहानियों में यथार्थ का अंकन नहीं है, फिर भी आपका महत्त्व है भावना को लेकर ही। 'गुंडा' एक ऐसी कहानी है जिसे किसी भी संग्रह में उचित स्थान मिलता है। आपकी शैली भावनाप्रधान और काव्यत्वपूर्ण है।

प्रसाद-स्कूल के अन्य कहानीकारों में चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', पन्त, विनोद-शंकर व्यास इत्यादि के नाम लिये जाते हैं। हृदयेशजी की 'सुधा' और 'शान्ति-निकेतन' प्रमुख कहानियाँ हैं। पन्तजी ने प्रणयभावनाओं का निरूपण अधिक सुन्दरता के साथ किया है। रायकृष्णदास और विनोदशंकर व्यास की कहानियाँ भी प्रसाद-स्कूल की हैं, जिनमें भावनावादी दृष्टिकोण ही प्रमुख है।

प्रेमचन्दजी ने हिन्दी-कहानी में प्रसादविरोधी स्कूल की स्थापना की। इनकी कहानियों से आदर्शवादी परम्परा चल पड़ती है। यद्यपि ये प्रसादविरोधी मान्यताओं का ही प्रतिपादन कर चलते हैं, किन्तु इनकी कहानियाँ प्रसादजी की कहानियों का सम्पूरक ही कही जायँगी, विरोधी नहीं। इनकी कहानियाँ 'मानसरोवर' में संकलित हैं। कुछ फुटकर संग्रहग्रन्थ भी हैं। आपकी प्रसिद्ध कहानियों में 'पंच परमेश्वर', 'आत्माराम', 'बड़े घर की बेटी', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'रानी-सारंधा', 'अलग्योझा', 'ईदगाह', 'कफन', 'पूस की रात,' 'सुजान भगत' इत्यादि हैं। सच पूछा जाय तो सर्वप्रथम प्रेमचन्द ही यथार्थ कहानीकार के रूप में आते हैं। इन्होंने जनसाधारण को अपनी कहानियों में स्थान दिया है। विषयवस्तु का इन्होंने समाज से ही चयन किया है। यहाँ प्रसादजी की भावनात्मकता, दार्शनिकता, जटिलता इत्यादि के स्थान पर यथार्थता, सरलता, स्वाभाविकता इत्यादि के ही दर्शन होते हैं। इन्हीं के पदचिन्हों पर चलने वाले हैं कौशिक, सुदर्शन आदि।

कहानी-क्षेत्र में कौशिक और सुदर्शनजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी कहानियों में भी किसी-न-किसी आदर्श की प्रतिष्ठा अवश्य मिलती है। आज की बढ़ती कहानी-कला में प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्द-स्कूल की कहानियाँ भी ऐतिहासिक महत्त्व पा चुकी हैं। आज की कहानियाँ प्रेमचन्द के स्तर को पार कर अधिक ऊपर आ गयी हैं।

हिन्दी में यथार्थवादी परम्परा को लेकर कहानी-कला में प्रवेश करते हैं पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र। सन् १९२२ ई० के आसपास इन्होंने हिन्दी-कहानी में बड़े चमत्कार के साथ प्रवेश किया है। आपकी उग्रता के कारण ही आलोचकों ने आपको 'उल्कापात', 'धूमकेतु', 'तूफान', 'बवंडर' इत्यादि से उपमित किया है। यथार्थवाद के नाम पर इनकी कहानियों में वीभत्सता और अश्लीलता के चित्र भी

मिलते हैं। 'चिनगारियाँ', 'दोजख की आग', 'बलात्कार' इत्यादि आपके कहानी-संग्रह हैं।

यों सामाजिक यथार्थवादी कहानियों का लेखन प्रारम्भ तो किया था प्रेमचन्द ने ही, पर इसकी सफल परिणति होती है यशपाल में। इस समय तक साहित्य पर दो प्रभाव बहुत तेजी से आने लगे थे—मार्क्सवादी और फ्रायड का मनोविश्लेषण-वादी। यशपाल ने मार्क्सवादी सहारा भी लिया है। 'पिंजड़े की उड़ान', 'अभिशप्त', 'तर्क का तूफान', फूलों का कुर्त्ता' इत्यादि आपके कहानीसंग्रह हैं। करीब-करीब इसी वर्ग में राहुलजी की भी कहानियाँ आती हैं। कहानी-कला में शिल्पविधान और विचारतत्त्व दोनों दृष्टि से इन्होंने नवीन प्रयोग किये हैं। इसी वर्ग के पोषकों में पहाड़ी, वाजपेयी, राधाकृष्ण, सौनरिक्सा, होमवती देवी, कमला देवी चौधरानी इत्यादि के नाम लिये जायँगे।

प्रभाववादी कहानियों की परम्परा सँभालने वाले हैं अवस्थीजी। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का नाम भी इसी वर्ग में लिया जायगा। 'फूटा शीशा', "पड़ोस की कहानियाँ' आदि अवस्थीजी के प्रमुख संग्रहग्रन्थ हैं। विद्यालंकारजी के कहानीसंग्रह हैं 'चन्द्रकला' और 'अमावस'। महादेवी वर्मा की कहानियों को भी चाहें तो इसी वर्ग में रख सकते हैं। इनमें संस्मरणात्मक और संवेदनात्मक प्रभाव ही अधिक है।

प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी-कहानी-क्षेत्र में दूसरा प्रमुख नाम लिया जाता है श्री जैनेन्द्रकुमार का। आपने मनोवैज्ञानिक कहानियों की परम्परा सँभाली है। इनकी कहानियाँ विचारोत्तेजक और कलात्मक हैं। सुभद्रा के रोग और सुनन्दा के दर्द को इन्होंने ही समझा है। विशिष्ट जीवन के चित्र सर्वप्रथम यहीं मिल पाते हैं। इन्होंने गाँव की खुली हवा से अधिक शहरी गलियों के चित्रांकन किये हैं। इनकी कहानियों में दार्शनिकता भी उभरी है। मूल रूप से इनका दृष्टिकोण अध्यात्मवादी ही माना जायगा। 'वातायन', 'स्पर्द्धा', 'फाँसी', 'पाजेब', 'जयसन्धि' इत्यादि आपके संग्रहग्रन्थ हैं।

जैनेन्द्र की परम्परा में दूसरा प्रमुख नाम लिया जायगा श्री सियारामशरण गुप्त का। इनकी कहानी 'झूठ-सच' अधिक प्रसिद्ध है।

हिन्दी में मनोविश्लेषणात्मक कहानियों की परम्परा के प्रवर्तक कलाकारों में श्री इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेयजी के नाम रखे जायँगे। फ्रायड के एकांगी मनोविश्लेषण का प्रभाव इनलोगों पर अधिक मिलता है। दोनों मनोविश्लेषक होकर भी प्रायः एक-दूसरे से बहुत हद तक भिन्न पड़ते हैं। जोशी के प्रमुख कहानी-संग्रहों में 'रोमांटिक छाया', 'आहुति', 'दीवाली' और 'होली' इत्यादि प्रसिद्ध हैं। अज्ञेयजी के प्रमुख संग्रहग्रन्थ हैं— 'त्रिपथगा', 'परम्परा', 'कोठरी की बात',

'जयदोल' इत्यादि।

इसी परम्परा में श्री भगवतीचरण वर्मा का भी नाम लिया जायगा। इनमें विश्लेषण के साथ-साथ रोचकता भी पूर्णतः है। 'इन्सटालमेंट', 'खिलते फूल' आदि इनके संग्रहग्रन्थ हैं।

सामाजिक यथार्थवाद की परम्परा का घेरा थोड़ा विस्तृत कर दें तो उसी के अन्तर्गत श्री शिवपूजन सहाय, द्विज, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह इत्यादि भी आयँगे। चित्रण की सजीवता और भाषा की जिन्दादिली के लिए शिवजी, बंगीय भावुकता और शैलीगत मिठास के लिए राजाजी सदा स्मरणीय रहेंगे। इधर सामाजिक विषयों को लेकर लिखने वालों में उपेन्द्रनाथ अश्क प्रसिद्ध रहे हैं। इनकी कहानियाँ प्रेमचन्द की विकसित परम्परा में आयँगी। 'पराया सुख', 'हलाल का टुकड़ा', 'बदनाम' इत्यादि आपके कहानी-संग्रह हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी, रांगेय राघव, गजानन माधव मुक्तिबोध, केसरीकुमार, बेनीपुरी, फणीश्वरनाथ रेणु, कमलेश्वर, नलिनविलोचन शर्मा, ख्वाजा अहमद अब्बास, कृष्णचन्द्र इत्यादि की कहानियाँ भी सामाजिक यथार्थ के घेरे में ही हैं। श्री वृन्दावनलाल वर्मा की कहानियों में कल्पना और इतिहास के समन्वय द्वारा ऐतिहासिक यथार्थ के निरूपण का प्रयत्न मिलता है। श्री नलिनविलोचन शर्मा के कहानी-संग्रह 'विष के दाँत' और 'सत्रह असंग्रहीत पूर्व कहानियाँ' हिन्दी कहानियों में नवीन मानदण्ड स्थापित करते हैं।

हिन्दी में हास्यरस की कहानियों की परम्परा में श्री जी० पी० श्रीवास्तव, हरिशंकर शर्मा, कृष्णदेव प्रसाद गौड़ (बेढब बनारसी), अन्नपूर्णानन्द, राधाकृष्ण, मिर्जा अजीमबेग चगताई, जयनाथ नलिन इत्यादि कहानीकारों के नाम लिये जायँगे। श्री जी० पी० श्रीवास्तव का हास्य सामान्य स्तर का है। 'पिकनिक', 'गुदगुदी', 'भड़ाम सिंह शर्मा' इत्यादि इनके कहानी-संग्रह हैं। बेढब बनारसी और अन्नपूर्णानन्द में हास्य का परिष्कृत रूप मिलता है। हास्य और व्यंग्यपूर्ण कहानियों के लेखकों में राधाकृष्णजी शीर्षस्थानीय पड़ेंगे। नलिन की कहानियों के संग्रहग्रन्थ 'नवाबी सनक', 'शतरंज के मोहरे', 'जवानी का नशा' इत्यादि के नाम से सामने आ चुके हैं।

अधुनातन समय में उमा नेहरू, शिवरानी देवी, तेजरानी पाठक, उषादेवी मित्रा, सत्यवती मलिक, चन्द्रप्रभा, रामेश्वरी शर्मा, पुष्पा महाजन, तारा पाण्डेय इत्यादि महिला लेखिकाएँ तो कहानी की तोड़-जोड़ कर ही रही हैं, लेखकों में कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, अमृतराय, मोहन राकेश, नर्मदेश्वर, योगेन्द्र इत्यादि जुटे हैं। कहा जायगा कि नवोदित लेखकों की बाढ़-सी है। इसके विकास में 'कहानी', 'नई कहानियाँ', 'लहर', 'सारिका', कादम्बिनी' 'सरिता', 'नीहारिका',

'मुक्ता' इत्यादि पत्रिकाएँ भी योगदान कर रही हैं। आज मूलतः दो प्रकार की कहानियाँ ही चल रही हैं— बाजारू और साहित्यिक। दोनों के साथ अपनी-अपनी समस्याएँ हैं। दोनों के पाठक भी अपने हैं। एक को आवश्यकता है साहित्यिक होने की तो दूसरे को लोकप्रिय बनने की। जब तक दोनों समझौता नहीं करते, कहानी-कला रुचि का परिष्कार नहीं कर सकती।

एक बात और। आज 'नई कविता' की तरह 'नई कहानी' का नारा भी सुनाई पड़ जाता है। यहाँ भी प्रयोग चल रहे हैं। सेक्स, वैयक्तिक कुण्ठा और पीड़ा का विश्लेषण, आंचलिकता, प्रयोगशीलता इत्यादि प्रवृत्तियाँ ही देखने को मिल रही हैं। सब मिलाकर कहा जायगा कि हिन्दी-कहानी का भविष्य उज्ज्वल है।

३०

हिन्दी-आलोचना : स्वरूप और विकास

[आलोचना की परिभाषा—आलोचना : विज्ञान या कला—संस्कृत-साहित्य की मान्यता—आलोचक की प्रतिभा और योग्यता—आलोचना का भेद—भेद : दृष्टिकोण और शैली—ऐतिहासिक और विकासवादी—पद्धतियाँ : अँगरेजी और संस्कृत में—टीका, भाष्य, शास्त्रार्थ, आचार्य, निर्णय या सूक्ति, खण्डन, समीक्षा आदि पद्धतियाँ—आधुनिक आलोचना : सैद्धान्तिक और व्यावहारिक—शास्त्रीय और वैज्ञानिक—व्याख्यात्मक—निर्णयात्मक—आचार्य शुक्ल : प्रभाववाद का विरोध—भौतिकवादी—रीतिकालीन आलोचना—भारतेन्दु-युग—द्विवेदी-युग—शोधरूप और समीक्षारूप—आचार्य शुक्ल : धाराक्षेत्र और रचनाक्षेत्र—शुक्लोत्तर युग—पाठालोचन : नयी शैली—शोधपरक—भाषावैज्ञानिक]

साहित्यकार की सृष्टि 'नियतिकृतिनियमरहितम्' होकर भी 'व्यवहारविदे', 'शिवेतरक्षतये' और 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' होती है। साहित्यकार की इसी सृष्टि से सामान्य जन को परिचित कराने के हेतु ही समालोचना का विकास प्रत्येक साहित्य में हुआ। समालोचना के लिए हिन्दी में आलोचना और समीक्षा शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। वैयाकरण-पद्धति से समालोचना का अर्थ है 'प्रारम्भ से अन्त तक सम्यक् रूप में देखना (सम् + आ + लोचन + आ)। समीक्षा का भी यही अर्थ है—सम्यक् रूप से देखना (सम् + ईक्ष् + आ)। साहित्य की किसी भी विधा को देखना या परखना सामान्य कार्य नहीं है। फिर प्रत्येक ओर से सम्यक् रूप में देखना तो मात्र प्रतिभाशाली व्यक्तियों के ही कार्य हैं। यहाँ सम्यक् रूप से देखने का तात्पर्य है कलाकृतियों का आद्योपान्त अध्ययन कर उसके सभी रूपों से परिचित होने पर विचारों का स्वस्थ आलोचन। समालोचना समालोच्य कृति के सुव्यवस्थित अध्ययन का ही परिणाम है।

अध्ययनकर्त्ता को, अर्थात् पाठक को संस्कृत-साहित्यशास्त्र में 'सहृदय' कहा गया है। यह 'सहृदय' ही सच्चा आलोचक हो सकता है। अभिनवगुप्त के अनुसार, सहृदय वह है जिसका मनमुकुर काव्य के मिलन से विशदीभूत हो गया है। यहाँ अभिनवगुप्त ने आलोचक से विस्तृत अध्ययन की अपेक्षा की है। विस्तृत अध्ययन के लिए विस्तृत साहित्य अपेक्षित है। आचार्य शुक्ल ने कहा था कि पर्याप्त रूप में लक्ष्यग्रन्थों के बन जाने के पश्चात् ही लक्षणग्रन्थ बनते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि विविध प्रकार की कृतियों का अध्ययन कर सहृदय किसी निष्कर्ष पर

आता है। साहित्य के सम्बन्ध में उसे कुछ सूत्र और सिद्धान्त प्राप्त होते हैं। इन्हीं के आधार पर वह साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत कर चलता है। सहृदय का यही अध्ययन आलोचना है।

'आज आलोचना के सम्बन्ध में यह भ्रम फैला है कि यह गुणदोषविवेचन मात्र है। वस्तुतः आलोचना गुणदोषकथनपद्धति नहीं, साहित्य की परख के लिए विवेकगति है। सहृदय किसी रचना के अध्ययन के पश्चात् अपनी प्रतिक्रिया को सम्यक् और व्यवस्थित रूप में व्यक्त करता है, तो उसकी अभिव्यक्ति आलोचनात्मक रूप ग्रहण कर लेती है। इस रूप में सहृदय अन्ततः अपनी परिमार्जित रुचि और साहित्यिक विवेक का ही अनुगमन करने को बाध्य होता है; किन्तु निर्णय के रूप में वह सूत्र-रूप में कुछ कह कर अपना अलग काम चला ले, तो उसे आलोचना नहीं कहेंगे। आलोचना साहित्य की एक विधा है। अस्तु, इसे भी काव्य, नाटक, निबन्ध इत्यादि की तरह रचनात्मक होना होता है। इसी कारण संस्कृत के साहित्य-शास्त्रियों ने यह स्वीकार किया है कि आलोचक में भी रचनात्मक प्रतिभा अवश्य होती है। इलिएट का तो विचार है कि बिना आलोचनात्मक प्रतिभा के समालोचना हो ही नहीं सकती। बेन जॉनसन ने तो यहाँ तक कहा है कि उत्कृष्ट कवि-हृदय ही आलोचक हो सकता है—'To judge of poets is only the faculty of poets, and not of all poets but the best." वस्तुतः आलोचना सहृदयों का ही कार्य है—'Literary criticism is a play of cultured mind.'

समालोचना के लिए अँगरेजी पर्याय 'लिटररी क्रिटिसिज्म' (Literary criticism) है। इस शब्द का निर्माण ग्रीक शब्द 'क्रिटिकोस' से हुआ है। इसके लिए 'क्रिटिज' (Krites) धातु ही मूल है। इसके कई अर्थ हैं— निर्णय करना, छिद्रान्वेषण करना, सौन्दर्य का मूल्यांकन करना इत्यादि। अस्तु, समग्ररूप से हम चाहें तो कह सकते हैं कि समालोचना वह रचनात्मक साहित्यरूप है जो साहित्यकला के सौन्दर्य का परीक्षण और मूल्यांकन करता है। आलोचना के लिए आलोचक में साहित्यकार के समान रचनात्मक प्रतिभा होना आवश्यक है; किन्तु कवि, नाटककार, उपन्यासकार इत्यादि होना अनिवार्य नहीं। इसी से बेन जॉनसन की उपर्युक्त मान्यता में सुधार करते हुए कॉलरिज ने कहा है कि आलोचक के लिए कविहृदय की आवश्यकता है। भारतीय साहित्यशास्त्र के 'सहृदय' से भी यही तात्पर्य है। सहृदय तो प्रतिभावान होगा ही। राजशेखर ने प्रतिभा के दो रूप बताये हैं— कारयित्री (Compositional) और भावयित्री (Critical या Analytical)। इन दोनों के अभाव में पुष्ट और स्वस्थ समालोचना असम्भव है। पाश्चात्य समीक्षक भी इस बात को लगभग इसी रूप में ही स्वीकार करते

हैं—"Composition and analysis are the tools of the critic."

समालोचना विज्ञान है अथवा कला, यह विवाद भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इतना तो निर्विवाद है कि समालोचना का विषय है न्याय। इसका विषय कल्पना नहीं है। इसमें तर्क की प्रधानता है, भाव की नहीं। इसमें मस्तिष्क का ही सहारा अधिक लिया जाता है, हृदय का कम। इसके द्वारा सत्य—Facts—का निरूपण किया जाता है, सम्भावना—Fictions—का नहीं। इसी से समालोचना साहित्य से सम्बन्धविच्छेद करता हुआ और विज्ञान की ओर झुकता हुआ प्रतीत होता है। फिर भी समालोचना को हम विज्ञान नहीं मान सकते। इसे विज्ञान की कोटि में पहुँचा सकते हैं; किन्तु विज्ञान कह नहीं सकते। यह कला-क्रिया की उपक्रिया है। इसका कार्य है पाठक की आनन्दानुभूति को स्थिर रखना। साथ ही, यह सत्साहित्य के निर्माण और असत्साहित्य के निराकरण के लिए प्रोत्साहित भी करती चलती है। जॉन ड्राइडन ने साहित्य के दो उद्देश्य माने हैं—प्रसादन (to delight) और प्रबोधन (to instruct)। समालोचना काव्य को सुबोध बना कर प्रसादन के साथ-साथ प्रबोधन को भी आत्मसात् कर लेती है। इस प्रकार समालोचना कला के ही निकट है। समालोचना में विश्लेषण तार्किक होने के कारण यह विज्ञान है; किन्तु आनन्द और ज्ञान का संयोजक होने के कारण, हृदयपक्ष को साथ रखने के कारण यह कला भी है। यह विज्ञान और कला का अद्भुत समन्वय है। यह विज्ञान के नाते पारखी है और कला के नाते स्रष्टा। आलोचक को साहित्यकार के मानस (रचनात्मक मानस) में प्रवेश कर उसके साथ चलना होता है। इसी से उसमें रचनात्मक प्रतिभा का इतना अंश तो आवश्यक है ही कि जिसके बल पर वह रचना की विविध भूमियों में प्रवेश कर सके। इस विशिष्टता के कारण समालोचना भी साहित्य के अन्य रूपों की तरह एक रचनात्मक विधा हो जाती है। अस्तु, इसे विज्ञान नहीं, साहित्यरूप ही मानना न्यायोचित है।

समालोचना का पुष्ट और स्वस्थ होना समालोचक पर निर्भर है। संस्कृत-साहित्यशास्त्र में समालोचक को भावक कहा गया है। राजशेखर ने भावक के चार प्रकार बताये हैं—अरोचकी, सतृणाभ्यवहारी, मत्सरी और तत्त्वाभिनिवेषी। तत्त्वाभिनिवेषी ही सर्वोत्तम आलोचक या भावक है। आलोचक के गुणों की चर्चा में (१) सहृदयता, (२) सहजानुभूति या प्रतिभा, (३) अन्तर्दृष्टि, (४) निष्पक्षता और तटस्थता, (५) तार्किकता और संगति, (६) सहानुभूति, (७) प्रेषणीयता, (८) औचित्यनिर्वाह, (९) आलोच्य विषय का गम्भीर अध्ययन और शब्दशक्ति की पहचान, (१०) रचनात्मक प्रतिभा, (११) विविध शास्त्रों और विज्ञान आदि विविध विषयों का ज्ञान, (१२) भविष्यनिर्माण और युगविधान की क्षमता, (१३) दार्शनिकता इत्यादि की चर्चा अवश्य की जाती है।

आलोचना में सहृदयता आवश्यक है। भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार तो मात्र सहृदय ही काव्यास्वादन करता है। सहृदयता का प्रश्न उठाते हुए आनन्दवर्द्धन ने स्पष्ट किया है कि वह 'रसभावादिरूप काव्यस्वरूपपरिज्ञानःनैपुण्य' से युक्त है। इसी को कैलेट ने aesthetic appreciation या trained taste कहा है। इसके सम्बन्ध में जेम्स स्कॉट का मत है— "The critical leader has to put himself as nearly as possible where the writer stands." सहजानुभूति अथवा प्रतिभा भी आलोचकों के लिए आवश्यक गुण है। प्रतिभा दो प्रकार की मानी गयी है—कारयित्री और भावयित्रि। आलोचकों की अन्तर्दृष्टि बहुत कुछ जन्मजात होती है। शिक्षा और अभ्यास द्वारा भी यह निर्मित होती है। अन्तर्दृष्टि पर विचारते हुए हडसन ने लिखा है—"The true critic must be mentally alert and flexible." कैलेट ने भी इसकी महत्ता इस प्रकार संकेतित की है— "He must, in no inconsiderable measure, see what the poet sees and hear what the poet hears." सर्वाधिक जोर दिया जाता है आलोचकों की निष्पक्षता और तटस्थता पर। हडसन ने इसे ही quality of detachment and impartiality कहा है। इसकी एकाधिक बार की चर्चा ने भी इसका स्वरूप स्थिर नहीं किया है कि निष्पक्षता से क्या तात्पर्य है। आलोचक किसी बाहरी दबाव के कारण कुछ निर्णय न दे, साहित्येतर मूल्यों को साहित्य में प्रतिष्ठित न करे, यह भी एक प्रकार की निष्पक्षता ही है। पर, इस पर और भी गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह निष्कर्ष मिलता है कि आलोचक को आलोच्य कृति की उपलब्धियों को भी मानदण्ड के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

आलोचकों में तार्किकता तथा विचारों की सगंति आवश्यक है। इसके अभाव में आलोचना बिखर जायगी। चूँकि हडसन के अनुसार आलोचना का कार्य प्रसादन और उत्तेजन है (to enlighten and to stimulate), इसलिए आलोचक को मानवमनोविज्ञान का भी पारखी होना चाहिए। सहानुभूति तो साहित्य का मर्म ही है। यह वह विन्दु है, जिससे रचयिता, पाठक और आलोचक तीनों समान दूरी पर हैं। यदि आलोचक अनुभूति की परख को प्रमुखता देता है, तो यह सम्भव है कि वह अपने को बाहरी दबाव से, साहित्येतर मूल्यों से मुक्त रख सके। साहित्य का यह मूल्यांकन सर्वसाध्य है और इसी से महत्त्वपूर्ण भी है। प्रेषणीयता के अभाव में आलोचक अपनी बातों को पाठकों तक पहुँचा ही न सकेगा। औचित्य-निर्वाह के अभाव में पुष्ट आलोचना लँगड़ी होकर ही रह जायगी। औचित्यनिर्वाह वही आलोचक कर सकता है, जो सत्यप्रिय, स्थिर विचार वाला और तटस्थ विचारक है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य की चर्चा बड़े विशद रूप में की है।

इसी प्रकार आलोच्य विषय के गम्भीर अध्ययन और शब्दमर्मज्ञता के अभाव में भी आलोचना सम्भव नहीं है। रचनात्मक साहित्य में विविध प्रकार के विषयों का समावेश होता है। यदि आलोचक का ज्ञान विविधतापूर्ण और बहुज्ञतापूर्ण नहीं है तो वह आलोचना में असफल ही रहेगा। आलोचकों में युग की पहचान आवश्यक है। युगानुरूप आलोचना द्वारा ही वह भविष्यनिर्माण में संलग्न हो सकता है। कैलेट ने 'Fashion in Literature' में आलोचकों के लिए दार्शनिक प्रवृत्ति आवश्यक बतायी है। वस्तुतः दार्शनिक प्रवृत्ति वैज्ञानिक प्रवृत्ति के ही अधिक निकट पड़ती है। सामान्य रूप से कहा जायगा कि आलोचकों में उपर्युक्त गुणों का उचित रूप में होना आवश्यक है। इनके अभाव में आलोचक की आलोचना बेकार की वस्तु हो जायगी।

आलोचना के ध्येय के सम्बन्ध में भी विवाद होता रहा है। ध्येय के सम्बन्ध में संस्कृत-साहित्यशास्त्र में रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति इत्यादि पर विचारधाराएँ आधारित थीं। योरोपीय जगत् में अरस्तू के सुषमावाद या रीतिवाद तथा नैतिकता, सौन्दर्यवाद इत्यादि पर विचारधाराएँ पनपती रही हैं। बाद में वहाँ औचित्यसम्बन्धी सैद्धान्तिक, मनोवैज्ञानिक, भौतिकवादी आदि अनेक प्रकार के ध्येय विकसित होते रहे हैं। संटव्यूव, आॅर्नाल्ड, आॅडेन इत्यादि ने साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्परा के पालन में ही आलोचना का सर्वोत्तम ध्येय स्वीकार किया है। हीगेल, कार्लाइल, स्पिन्गार्न, कॉलरिज, कजामियाँ, रिचर्ड्स, इलियट इत्यादि ने ध्येय के सम्बन्ध में अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है। आज मूलतः कोई व्याख्यात्मक आलोचना और कोई निर्णयात्मक आलोचना की ओर झुकते प्रतीत होते हैं।

आलोचना के प्रकारों पर कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है, जिनमें दो प्रमुख हैं— आलोचक के दृष्टिकोण की दृष्टि से और उसकी शैली की दृष्टि से। शैली की दृष्टि से आलोचना का सबसे महत्त्वपूर्ण रूप है प्रभाववादी आलोचना, जिसे आचार्य शुक्ल आलोचना मानते ही नहीं थे। इसी प्रकार एक दूसरा रूप है ऐतिहासिक या विकासवादी आलोचना का। इसमें ऐतिहासिक विकास की कड़ी के रूप में ही कृतियों का अध्ययन किया जाता है। आचार्य हजारप्रसाद द्विवेदी की आलोचनाशैली को इसी प्रणाली में हम रख सकते हैं। आधुनिक हिन्दी में सच पूछा जाय तो, मूलतः तीन प्रकार की ही आलोचनाएँ मिलती हैं— भारतीय पद्धति पर, अँगरेजी पद्धति पर और दोनों के सामंजस्य की पद्धति पर। ऐसी आलोचनाप्रणालियों में मूलतः प्रभावात्मक, ऐतिहासिक, अभिव्यंजनावादी, जीवनवृत्तान्तीय, तुलनात्मक, निर्णयात्मक, शास्त्रीय, मार्क्सवादी, मनोवैज्ञानिक, व्याख्यात्मक, रीतिवादी इत्यादि प्रमुख हैं।

संस्कृत-साहित्य में आलोचना की निम्नांकित सात पद्धतियाँ प्रचलित थीं—

टीकापद्धति, भाष्यपद्धति, शास्त्रार्थपद्धति, आचार्यपद्धति, निर्णयपद्धति, खण्डन-मण्डनपद्धति और समीक्षापद्धति। टीकापद्धति में कवि के आशय का स्पष्टीकरण ही मूल था। रस, ध्वनि, अलंकारादि का लोग यथावसर उल्लेख किया करते थे। संस्कृत में मल्लिनाथ ने इस सम्बन्ध में अधिक कार्य किये हैं। सचमुच ऐसा लगता है कि आचार्य सायण ने वेदों को और मल्लिनाथ ने लौकिक संस्कृत को पाठकों तक पहुँचाने में इस पद्धति का स्तुत्य प्रयोग किया है। टीकापद्धति का प्रचलन हिन्दी में हुआ। दीनजी और रत्नाकरजी की टीकाएँ इसी कोटि में आयँगी। भाष्यपद्धति टीकापद्धति के निकट पड़ती है। इसमें मात्र टीका ही नहीं, अपितु प्रत्येक शब्दादि के प्रयोग पर भी पूर्ण गवेषणात्मक ढंग से विचार किया जाता रहा है। भाष्यपद्धति के रूप भी हिन्दी में जब-तब देखने को मिल जाते हैं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का पद्मावत की टीका, शैदा के द्वारा तैयार किया गया 'कामायनी' पर भाष्य आदि इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। शास्त्रार्थपद्धति में पूर्ववर्ती मतों का खण्डन और अपने मत का मण्डन किया जाता रहा है। संस्कृत में 'रसगंगाधर' और 'काव्यविवेक' इसी के उदाहरण हैं। हिन्दी में 'बिहारी और देव' तथा 'देव और बिहारी' ऐसी ही रचनाएँ हैं। आचार्यपद्धति में आचार्य लोग अपने लक्षणग्रन्थों में अन्य के उत्कृष्ट लक्ष्यग्रन्थों से उदाहरण रख कर उनकी पूरी समीक्षा करते रहे हैं। 'काव्यप्रकाश', 'काव्यदर्पण' आदि इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। हिन्दी में 'नवरस', 'काव्यकल्पद्रुम', 'रसमीमांसा' आदि इसी कोटि में रखे जायँगे। निर्णयपद्धति को सूक्तिपद्धति भी कह सकते हैं। इसमें इस प्रकार की उक्तियाँ निर्णय के रूप में मिलती हैं—

> उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
> नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

इस प्रकार की सूक्ति अथवा निर्णयात्मक पद्धति का प्रचलन प्राचीन हिन्दी में भी मिलता है। 'सूर सूर तुलसी शशि' अथवा 'तुलसी गंग दुवो भए, सुकविन के सरदार' जैसे वाक्य इसी कोटि में रखे जायँगे। खण्डनमण्डनपद्धति का सफल प्रयोग 'चित्रमीमांसाखंडन' में मिलता है। हिन्दी में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की आलोचना को इसी कोटि की कह सकते हैं। आलोचना का उत्कृष्ट रूप समीक्षापद्धति भी संस्कृत में वर्त्तमान थी। इसे आप लोचनपद्धति भी कह सकते हैं। संस्कृत में 'ध्वन्यालोकलोचन' आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। हिन्दी में आचार्य शुक्ल की आलोचना इसी कोटि की मानी जायगी।

हिन्दी-समालोचना आज दो रूपों में पनप रही है— सैद्धान्तिक और व्यावहारिक। सैद्धान्तिक आलोचना में साहित्य की प्रत्येक विधा की समीक्षा-परीक्षा के लिए सिद्धान्तनिरूपण के काम हो रहे हैं और व्यावहारिक समीक्षा में उन

सिद्धान्तों पर कृतियों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। व्यावहारिक आलोचना कई रूपों में पनप रही है। सुविधानुसार इसे दो भागों में रखा जा सकता है— शास्त्रीय समीक्षा और वैज्ञानिक समीक्षा। निर्णयात्मक, तुलनात्मक, चारित्रिक इत्यादि समीक्षाएँ शास्त्रीय समीक्षा के ही अन्तर्गत आयँगी। दूसरी ओर वैज्ञानिक समीक्षा में विवेचनात्मक, ऐतिहासिक, प्रभावाभिव्यंजक, मार्क्सवादी, मनोवैज्ञानिक इत्यादि मानी जायँगी। इनमें विवेचनात्मक समीक्षा के गवेषणात्मक आदि रूप भी स्वीकार किये जाते हैं।

सैद्धान्तिक आलोचना में साहित्य के विभिन्न रूपों के अध्ययन के पश्चात् एक सामान्य सिद्धान्त के स्थापन का प्रयास होता है। अँगरेजी में प्लेटो, अरस्तू, लौंजाईनस आदि के काव्यसिद्धान्त से लेकर कॉलरिज, एडीसन, वर्ड्सवर्थ, क्रोचे, इलिएट, हडसन, रिचार्ड्स इत्यादि के सैद्धान्तिक ग्रन्थ इसी कोटि के हैं। यहाँ भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर दण्डी, मम्मट, विश्वनाथ, पं० जगन्नाथ इत्यादि के ग्रन्थ ऐसे ही रहे हैं। शृंगारकालीन आचार्यों के ग्रन्थ भी ऐसे ही हैं। आधुनिक हिन्दी में डॉ० श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन', शुक्लजी की 'रसमीमांसा' और 'चिन्तामणि' (दूसरा भाग मूलतः), सुधांशुजी का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', पोद्दार का 'काव्यकल्पद्रुम', रामदहिन मिश्र का 'काव्यदर्पण', बाबू गुलाबराय का 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'काव्य के रूप' इत्यादि ऐसे ही ग्रन्थ हैं। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी में अनेक उत्कृष्ट कोटि के सैद्धान्तिक ग्रन्थ सामने आये हैं।

हिन्दी में प्रचलित व्यावहारिक समीक्षा के प्रत्येक रूप की चर्चा यहाँ विस्तारलाघव की दृष्टि से अपेक्षित नहीं है, फिर भी कतिपय प्रसिद्ध रूपों की चर्चा वांछनीय है। आज व्याख्यात्मक आलोचना पर लोगों का ध्यान अधिक जमा है। कुछ लोग इसे ही सैद्धान्तिक और निर्णयात्मक आदि आलोचनाओं का मूलरूप स्वीकार करते हैं। इस पद्धति द्वारा आलोचक आलोच्य कृति की अन्तरात्मा में प्रविष्ट हो उसकी विशेषताओं की व्याख्या करता चलता है और दोषों को स्पष्ट करता चलता है। इसमें विचारों का सामंजस्य उदारतापूर्वक उपस्थित किया जाता है। यह आलोचना प्रायः न्यायपूर्ण और अधिक बुद्धिसंगत होती है। ऐसी आलोचना में नियम प्रायः गत्यात्मक रूप में ही स्वीकार किये जाते हैं। आचार्य शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र प्रायः इसी प्रकार की आलोचना के हिमायती रहे हैं। बाबू गुलाबराय ने व्याख्यात्मक आलोचना के सहायक रूप में ही ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक और समाजवादी आलोचनाओं को स्वीकार किया है।

व्याख्यात्मक आलोचना के पश्चात् हिन्दी में निर्णयात्मक आलोचना अधिक महत्त्वपूर्ण रही है। हडसन ने भी निर्णयात्मक आलोचना को अपेक्षाकृत अधिक

महत्त्व दिया है। इसमें निर्णय के आधार प्रायः नैतिक और साहित्यिक सिद्धान्त ही अधिक होते हैं। इसमें सैद्धान्तिक नियमों की उपेक्षा प्रायः बिल्कुल नहीं होती है। इस आलोचना में कृतियों के यथार्थ स्वरूप के विश्लेषण की अपेक्षा आदर्श स्वरूप को संकेतित करने का प्रयास अधिक होता है। हडसन ने इसका स्वरूप इस प्रकार स्थिर किया है— "To express what is not what conceivably ought to be." अर्थात् इस प्रकार की आलोचना में आलोचक प्रायः यही कहता रहता है कि 'यह रचना ऐसी होती तो उत्तम होता'। Mr. Scherer इसी आलोचना के समर्थक थे। इस प्रकार की आलोचना का कैलेट ने खुलकर विरोध किया है। उसने लिखा है— "Nothing is less satisfactory than an arid, mechanism and merely measuring criticism." तात्पर्य यह कि नाप-जोख-पद्धति पर जाने वाली शुष्क निर्णयात्मक आलोचना असन्तोषप्रद ही है। किन्तु रिचार्ड्स ने भी ऐसी आलोचना की दाद दी है और लौंजाईनस तो कहा ही करता था— "The judgement of literature is the final outcome of much endeavours."

प्रायः प्रत्येक साहित्य में प्रभाववादी आलोचकों की संख्या अधिक होती है। इस प्रकार की आलोचना रचनात्मक साहित्य अधिक होती है और शास्त्र कम। आचार्य शुक्ल इस प्रकार की आलोचना को सबसे हेय मानते थे। उनके अनुसार इसमें वाहवाही ही अधिक होती है। इसमें आलोचक आलोच्य कृति में इतना तन्मय हो जाता है कि विवेचन भूल कर भावलहरी में डूब जाता है। 'बिहारी के दोहे (सतसई) तो शक्कर की रोटी हैं, जिधर से तोड़ो उधर से मीठे हैं' जैसे वाक्य-प्रभाववादी आलोचना के ही उदाहरण हैं। हिन्दी में जैनेन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी, विश्वम्भर मानव आदि आलोचक इसी कोटि में आयँगे। अँगरेजी में इस प्रकार की आलोचना के सबसे बड़े समर्थक पीटर माने जाते हैं। इस प्रकार की आलोचना के स्वरूप की चर्चा स्पिनगॉर्न ने इस प्रकार की है— "To have sensation in the presence of the work of art is to express them. That is the function of a criticism for an impressionist critic."

आधुनिक हिन्दी-आलोचना में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को प्रमुखता देते हुए भी कतिपय आलोचक सामने आये हैं। इनकी आलोचना को भौतिकवादी आलोचना कह सकते हैं। इसे ही प्रायः मार्क्सवादी, प्रगतिवादी अथवा सामाजिक यथार्थवादी आलोचना इत्यादि नामों से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार की आलोचना में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्गसंघर्ष के आधार पर आलोच्य कृतियों

का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार की आलोचना में उपयोगितावादी विचार प्रमुखता प्राप्त कर लेते हैं। सौन्दर्य का स्थान समाप्त-सा हो जाता है। आर्थिक आधार भी इसका एक सबल स्तम्भ है। हिन्दी में इस प्रकार के आलोचकों में डॉ० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रभाकर माचवे, अमृत राय इत्यादि के नाम लिये जायँगे।

अन्य साहित्यरूपों की तरह आलोचना पर भी मनोविज्ञान का आज पूर्ण प्रभाव दीखता है। विशेषकर फ्रायड के सिद्धान्तों ने इसे अधिक प्रभावित किया है। इससे एक अलग नयी आलोचना पनप उठी है, जिसे मनोवैज्ञानिक आलोचना कह सकते हैं। डॉ० नगेन्द्र की आलोचना प्रारम्भ में ऐसी ही होती थी; पर अब ये रसवादी आलोचक ही अधिक हैं। अज्ञेय की आलोचना में प्रायः मनोविश्लेषण का पूरा योग होता है। इसी प्रकार, हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना ने भी अपना गाढ़ा रंग जमाया है। तुलनात्मक आलोचना के सबल समर्थकों में प्रो० सेन्ट्सबरी का नाम लिया जाता है। इनके अनुसार, आलोचना का यही प्रकार सर्वोत्तम है— "Comparative mode of criticism is the highest mode of judgement." आचार्य शुक्ल की आलोचना का बहुत-कुछ रूप तुलनात्मक ही होता था। 'देव और बिहारी' तथा 'बिहारी और देव' इसी प्रकार की आलोचना के प्रारम्भिक रूप थे। हिन्दी में उपर्युक्त प्रणालियों के अलावे और भी कई प्रकार की आलोचनात्मक प्रणालियाँ प्रचलित हैं। सारांश रूप में कहा जायगा कि आज की हिन्दी में आलोचना विविध रूपों में अपना विकास कर रही है।

आज आलोचना के क्षेत्र में अक्सर आलोचना के अधिकारी के सम्बन्ध में प्रश्न उठाये जाते हैं। ऊपर इसकी थोड़ी चर्चा अवश्य हुई है, किन्तु उसमें जनरुचि का उल्लेख नहीं हुआ है। आलोचक के मूल्यांकन की भावना किसी हद तक जनरुचि से अवश्य प्रभावित होती है। इसी से रिचार्ड्स ने अपने ग्रन्थ में साहित्य के स्थायित्व का प्रश्न उठाया है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि आलोचक (जनरुचि के) सामान्य पाठक से अनुशासित हो। आलोचक तो जनरुचि के सामान्य पाठक और साहित्यकार के बीच का वह सेतु है जिसके अभाव में साधारण पाठकों की साहित्यसागर में पारंगति असम्भव है।

आधुनिक हिन्दी-गद्य के अन्य रूपों की तरह आलोचना भी प्रायः पश्चिम के प्रभाव से ही प्रारम्भ हुई है। पर, इसका यह तात्पर्य नहीं कि आधुनिक हिन्दी के पूर्व हिन्दी में आलोचना का कोई रूप वर्त्तमान न था। ऐसा कहना अज्ञानप्रदर्शन ही होगा। प्रारम्भिक हिन्दी में आलोचना काव्यगत गुणदोषों तक ही सीमित थी। टीकाओं में भी उसका रूप पनप रहा था। सूक्ष्मयी शैली में निर्णयात्मक

आलोचना भी कभी-कभी सामने आ जाती थी। 'सूर-सूर तुलसी ससी, उडुगन केसवदास' और 'तुलसी गंग दुवो भए, सुकविन के सरदार' जैसी सूत्रमयी आलोचना में निर्णयात्मक और तुलनात्मक तथा 'सतसैया के दोहरे ......घाव करैं गम्भीर' जैसे वाक्यों में प्रभावाभिव्यंजक आलोचना के मूल रूप हमें पुरानी हिन्दी में सर्वत्र मिलते हैं। आलोचना का यह रूप सुस्थिर न था। इसमें त्रुटियाँ ही अधिक थीं।

शृंगारकालीन साहित्य में आचार्य कवियों ने संस्कृत के साहित्यशास्त्र का उल्था कर हिन्दी में सैद्धान्तिक आलोचना की प्रणाली प्रारम्भ की। इस समय की आलोचना का उद्देश्य सामान्य ढंग पर लोगों को काव्यशास्त्रीय ज्ञान और कविशिक्षा देना ही था। इस समय की आलोचना में परिपक्वता और सिद्धान्त-प्रतिपादन का अभाव ही है। ये आचार्य लक्षण और उदाहरण भर लिख सके। इनका आचार्यत्व भी मानो इनके कवित्व के कारण ही स्मरणीय बना है।

आलोचना का नये रूप में तथा पुष्ट रूप में सूत्रपात भारतेन्दु-युग में होता है। यहाँ संस्कृत से एक बात का साम्य है। संस्कृत में भी आलोचना का सूत्रपात नाटक के विवेचन से ही होता है और यहाँ भी सर्वप्रथम सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूप में नाटक की ही आलोचना प्रारम्भ होती है। इसे आप संयोग ही कहें कि आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' लिखा तो भारतेन्दु ने 'नाटक'। इसे हिन्दी का 'नाट्यशास्त्र' ही कहना उत्तम होगा। यह खेद की बात है कि 'नाटक' को हिन्दी-संसार में जितना महत्त्व मिलना चाहिए था, उतना उसे नहीं मिल सका। इसका एकमात्र कारण था डॉ० श्यामसुन्दरदास द्वारा उसकी घोर उपेक्षा। हाँ, सम्भवतः यदि वे भारतेन्दु के 'नाटक' की उपेक्षा न करते तो उनका 'रूपकरहस्य' प्रकाश में कैसे आता। वस्तुतः 'रूपकरहस्य' की महत्ता कायम रखने के लिए ही उन्होंने उसकी कटु आलोचना की थी। पर, आज वह समय आ गया है, जब विचारकों का ध्यान इस ओर गया है। वस्तुतः इसमें भारतेन्दु ने संस्कृत के सिद्धान्तों का अनुवाद ही नहीं किया, अपितु बदलते मानदण्डों के अनुसार नयी स्थापनाएँ भी की हैं। नाटक की कई प्रचलित रूढ़ियों का उन्होंने भी विरोध किया था। आज भी उनके कतिपय विचारों का स्थायी महत्त्व है। अर्थप्रकृतियों, सन्धियों आदि के सम्बन्ध में उनकी घोषणा आज भी कितनी महत्त्वपूर्ण है। स्वयं देखिए— "संस्कृत-नाटक की भाँति हिन्दी-नाटकों में इनका अनुसन्धान करना या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी-नाटक लिखना व्यर्थ है।" इसमें व्यावहारिक आलोचना भी यत्र-तत्र मिलती है। व्यावहारिक आलोचना में भारतेन्दु ने तीखे व्यंग्यों से काम लिया है। पुस्तक-समीक्षा के रूप में भी आलोचना उन्हीं के समय प्रारम्भ हो गयी थी। सन् १८८२ ई० में बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'आनन्दकादम्बिनी' में 'संयोगितास्वयंवर' और 'बंगविजेता' की

आलोचना से इस प्रकार की आलोचना की नींव डाली।

आलोचना का थोड़ा परिष्कृत रूप आचार्य द्विवेदी के समय से प्रारम्भ होता है। इसकी नींव 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' (सन् १८९७ ई०) में ही पड़ती है। पुनः सन् १९०० ई० से 'सरस्वती' के माध्यम से इसका रूप और भी निखर उठता है। प्रथम ने आलोचना के शोधरूप को अग्रसर किया और द्वितीय ने समीक्षा को बढ़ाया। इस समय तक गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की 'समालोचना', अम्बिकादत्त व्यास की 'गद्यकाव्यमीमांसा' आदि सामने आ चुकी थी। स्वयं द्विवेदीजी भी कर्मठ रूप में साहित्य में प्रवेश कर रहे थे। द्विवेदीजी ने 'कालिदास की आलोचना', 'नैषधचरितचर्चा' और 'विक्रमांकदेवचरितचर्चा' के रूप में आलोचनाएँ लिखीं। निर्णयात्मक आलोचना का सूत्रपात इन्हीं के हाथों हुआ। द्विवेदी-युग में ही पद्म सिंह शर्मा और मिश्रबन्धुओं ने कार्य प्रारम्भ किये। अभी तक सम्यक् मानदंड के अभाव में ये 'बिहारी और देव' की प्रतियोगिता में ही उलझे थे। पर, इससे एक बड़ा काम यह हुआ कि हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात हुआ। मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी-साहित्य का ऐतिहासिक आधार पर अध्ययन करने का सबसे प्रथम प्रयास किया। 'मिश्रबन्धुविनोद' और 'हिन्दी-नवरत्न' में इनके विचार सामने आये। बिहारी और देव की प्रतियोगिता ने कृष्णबिहारी मिश्र का 'देव और बिहारी' तथा दीनजी का 'बिहारी और देव' दिया।

आचार्य द्विवेदी के युग के सीमान्त पर आते हैं आचार्य शुक्ल। सच पूछा जाय तो यहीं से हिन्दी-आलोचना का स्वरूप स्थिर होता है। आचार्य शुक्ल का आलोचना-जगत् में प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इन्होंने संस्कृत-साहित्य-शास्त्र और अँगरेजी साहित्यशास्त्र के गम्भीर अध्ययन के पश्चात् हिन्दी के लिए एक नया मानदंड स्थिर किया। इनकी आलोचना की दो मुख्य धाराएँ मानी जायँगी— साहित्यधारा का क्षेत्र और प्रसिद्ध रचनाओं का क्षेत्र। प्रथम क्षेत्र में इनकी महत्त्वपूर्ण देन है 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास'। यह पुस्तक आज भी हिन्दी-संसार में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाये है, जबकि इसके अनेक स्थल आज काफी भ्रामक और सन्दिग्ध प्रमाणित हो चुके हैं। निश्चय ही यह पुस्तक अपने में एक 'माइल स्टोन' है। दूसरी धारा के अन्तर्गत इन्होंने तुलसी, जायसी और सूर इत्यादि की कृतियों पर गम्भीर विवेचन किया। 'चिन्तामणि' में संकलित इनके आलोचनात्मक निबन्ध अधिकांश रूप में सैद्धान्तिक ही हैं। इन्होंने रस और अलंकार का नये सिरे से विवेचन कर उसे नया जीवन प्रदान किया। हिन्दी-आलोचना को इन्होंने जितने रूपों में पुष्ट किया, उस प्रकार के कार्य आज भी किसी एक ने नहीं किये हैं। इतना होते हुए भी इनके सम्बन्ध में एक बात कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि बदलते विचारों के अनुसार इन्होंने सहानुभूति नहीं दिखायी;

छायावाद के सम्बन्ध में इन्होंने कहीं भी सहानुभूतिपूर्ण विचार नहीं दिये। निश्चय ही आचार्य शुक्ल, इसके वावजूद, हिन्दी के प्रथम समर्थ समालोचक थे।

इन्हीं के समय में डॉ० श्यामसुन्दरदास की प्रतिभा भी आयी। इन्होंने शास्त्रीय समीक्षा के क्षेत्र में प्रौढ़ ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' लिखा। यद्यपि इसके अधिकांश स्थल पश्चिमी आलोचना के अनुवादमात्र ही हैं, फिर भी इसका एक अपना महत्त्व है। आपने तुलसी, भारतेन्दु आदि पर भी आलोचनाएँ लिखीं। इसी समय पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का 'विश्व-साहित्य' लिखा गया जिसमें पाश्चात्य आलोचना के मानदंडों के साथ योरोपीय साहित्य का परिचय दिया गया। आलोचना का शाखामय विस्तार आचार्य शुक्ल के समय ही प्रारम्भ हो गया था, किन्तु इसका समुचित विकास शुक्लोत्तर युग में ही हुआ है।

शुक्लोत्तर युग में हिन्दी-समालोचना ने अपना शाखामय विस्तार प्रारम्भ किया। इसी युग में आलोचना ने वादों का भी जन्म दिया। किन्तु वादों से बचते हुए तथा आचार्य शुक्ल की पद्धति पर निष्पक्ष रूप से आलोचना के क्षेत्र को आगे बढ़ाने वाले भी इस युग में कम नहीं हुए हैं। आचार्य शुक्ल के आदर्श पर आज के युग में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, कृष्णशंकर शुक्ल, डॉ० चन्द्रबली पाण्डेय, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' इत्यादि ने हिन्दी-समालोचना को आगे बढ़ाया। इन सबमें आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का महत्त्व विशेष है। इनकी चिन्तनशक्ति मौलिक है तथा अध्ययन गम्भीर। इन्होंने एक नये क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है— वह है पाठालोचन। आलोचना का यह रूप नया है। पाठालोचन के क्षेत्र में आज आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल जैसे बिरले लोग ही आगे बढ़े हैं।

पाठालोचन की तरह आधुनिक युग ने आलोचना को कई अन्य रूपों में भी पनपाया है। शोधपरक आलोचना भी ऐसी ही है। इसका रूप आज मूलतः पी० एच० डी० और डी० लिट की उपाधि के लिए लिखे जाने वाले प्रबन्धों में देखा जा सकता है। ऐसी सैकड़ों शोधपुस्तकें हिन्दी में आज आ चुकी हैं। भाषावैज्ञानिक आलोचना का विकास भी इसी युग में हुआ है। इस क्षेत्र में डॉ० सक्सेना, डॉ० उदयनारायण तिवारी, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० भोलानाथ तिवारी, डॉ० विश्वनाथप्रसाद वर्मा, डॉ० चटर्जी इत्यादि के कार्य स्तुत्य हैं।

आज के युग में प्रौढ़ आलोचना के साथ-साथ विश्वविद्यालयी आलोचना भी चल रही है। विश्वविद्यालयी आलोचना मूलतः छात्रोपयोगी होती है। ऐसी आलोचना में पहले भटनागरी पुस्तकें (रामरतन भटनागर की) प्रमुख थीं। 'एक अध्ययन सीरीज' की आज भी होड़-सी लगी है। डॉ० राजनाथ शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल आदि ऐसी ही सस्ती आलोचना पाठकों को दे रहे हैं।

इधर कुछ दिनों से वादों के चक्कर में हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना की पद्धति भी चली है। इस क्षेत्र में डॉ० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, अमृत राय, प्रकाशचन्द्र गुप्त, डॉ० रांगेय राघव आदि के नाम आते हैं। डॉ० शर्मा के विचार अधिक संगत और सटीक होते हैं। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक आलोचना के क्षेत्र में इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय आदि ने स्तुत्य प्रयास किये हैं। स्वतंत्र रूप से अध्ययनात्मक किन्तु मानवतावादी आलोचकों में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के नाम लिये जायँगे। स्पष्टता और निर्भीकता का जितना समावेश वाजपेयीजी में है, उतना शायद किसी में नहीं। कुछ हद तक इनकी निर्भीकता डॉ० रामविलास शर्मा और आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र को ही मिली है। आचार्य द्विवेदी का अध्ययन विशाल है। आचार्य शुक्ल के पश्चात् अध्ययन की गम्भीरता लेकर आचार्य द्विवेदी ही हिन्दी-आलोचना में आये हैं। 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' और पुरातत्त्व को लेकर इन्होंने अधिक कार्य किया है। इसके पश्चात् इनकी विशेष दृष्टि भक्तिकाल पर जमी है। पुरातत्त्व-सम्बन्धी आलोचना का एक अन्य रूप डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल में भी मिलता है।

डॉ० नगेन्द्र हिन्दी में फ्रायडवादी आलोचना का स्वरूप लेकर आये, पर अब ये मूलतः रीतिवादी और रसवादी आलोचक ही अधिक हैं। आजकल ये संस्कृत-साहित्यशास्त्र के अनुवाद में अधिक तत्पर हैं।

हिन्दी में छायावादी कविता के पोषकों में भी कई सुधरे आलोचक दीखे, पर उनका क्षेत्र सीमित ही अधिक रहा। इस क्षेत्र में विनयमोहन शर्मा, शचीरानी गुर्टू आदि प्रमुख हैं। प्रभाववादियों में विश्वम्भर मानव ने बहुत काम किया है। 'नई कविता' के पोषकों में अज्ञेय, डॉ० रांगेय राघव, नलिनविलोचन शर्मा, डॉ० जगदीश गुप्त इत्यादि के नाम प्रमुख हैं। इनमें अज्ञेय और नलिनजी की प्रतिभा उच्चकोटि की है। डॉ० जगदीश गुप्त की नयी प्रतिभा चमकने को बाकी है।

सैद्धान्तिक आलोचना को बढ़ाने में आचार्य गुलाबराय, डॉ० दशरथ ओझा, डॉ० एस० पी० खत्री, डॉ० त्रिगुणायत इत्यादि प्रमुख हैं। सत्यदेव चौधरी, बलदेव उपाध्याय आदि का भी क्षेत्र यही है। हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में अँगरेजी का सशक्त और प्रौढ़ ज्ञान लेकर आये हैं डॉ० इन्द्रनाथ मदान। उपन्यास-साहित्य पर इनका बेजोड़ अध्ययन है। इन्हें विवेचन की सूक्ष्मता भी प्राप्त है। इसी प्रकार अन्य प्रतिभाशाली आलोचकों में डॉ० देवराज, डॉ० देवराज उपाध्याय, डॉ० नामवर सिंह, डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं। डॉ० नामवर सिंह और डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त नयी पीढ़ी के आलोचकों में विशेष उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक युग में आलोचना के क्षेत्र में महिलाओं का भी पर्याप्त सहयोग मिल रहा है। महिला आलोचकों में शचीरानी गुर्टू, डॉ० सरला त्रिगुणायत, डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव, डॉ० सावित्री सिन्हा इत्यादि की आलोचनाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

अस्तु, आज हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि आचार्य शुक्ल के पश्चात् हिन्दी-समालोचना का विकास जादुई ढंग पर हो चला है। पर किसी एक ही आलोचक में यदि हम आचार्य शुक्ल को खोजना चाहें तो शायद हम सफल न होंगे। विचारने में एक बात और भी सामने आती है कि आज हिन्दी में रचनात्मक साहित्यकारों की अपेक्षा आलोचकों की ही संख्या अधिक है। सच पूछा जाय तो आलोचना का ही राज्य है। इसी से आलोचक थोड़ा डिक्टेटर भी बनता जा रहा है। जब मन में आता है, साहित्यकार को धक्के देकर निकाल देता है। आज आलोचकों में न्यायाधीश बनने की भावना बढ़ती-सी जा रही है। ऐसी भावना अच्छी नहीं कही जायगी। यदि मुँहदेखी वाहवाही ही आलोचना के नाम लिखी गयी तो आलोचना सच्चे अर्थों में मर जायगी। इस फीलपाँवी विस्तार को रोकने का उपाय भी हमें खोजना होगा। यदि हम इसमें असफल रहे तो हमारा कार्य अधूरा ही रह जायगा। अस्तु, आज आलोचना की आलोचना भी आवश्यक हो गयी है। फिर भी, एक बात का सन्तोष हमें अवश्य है कि जिसने थोड़े हीं दिनों में आचार्य शुक्ल, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, आचार्य गुलाब राय, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, आचार्य नलिनविलोचन शर्मा, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, डॉ० जगदीश गुप्त और डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त जैसे लोगों को दिया है, उसका भविष्य उज्ज्वल ही है। यों रास्ते में यत्र-तत्र झाड़-झंखाड़ तो मिलते ही हैं।

●

३१

हिन्दी में जीवनी-साहित्य

[परिभाषा—इतिहास और जीवनी—कथा और जीवनी—जीवनी : लेखनशैली—चार तत्त्व—दो शैली : इतिवृत्त और आत्मकथन—उद्देश्य—सात रूप—प्राचीन पाँच रूप—आधुनिक रूप और रचयिता]

उपन्यास, नाटक, कहानी इत्यादि की तरह साहित्य की विभिन्न विधाओं में जीवनी अथवा जीवनी-साहित्य का आज के युग में विशेष महत्त्व है। अँगरेजी में यह 'बायोग्राफी' के नाम से जाना जाता है। जीवन-चरित अथवा जीवन-चरित्र के नाम से भी यह हिन्दी में जाना जाता है। इसी का संक्षिप्त रूप जीवनी के नाम से जाना जाता है। 'जीवन-चरित्र' के दोनों शब्दों पर विचार करें तो कहा जायगा कि इसमें जीवन की बाह्य और स्थूल घटनाओं के साथ-साथ चरित्र के अन्तर्गत चरितनायक की आन्तरिक और सूक्ष्म विशेषताओं का उद्घाटन भी आवश्यक है। इस प्रकार, चरितनायक की स्थूल और सूक्ष्म, बाह्य और आन्तरिक जीवनियों का सुन्दर उद्घाटन ही जीवनी-साहित्य का कार्य है।

विभिन्न विचारकों ने विभिन्न रूपों में जीवनी-साहित्य की परिभाषा स्वीकार की है। जॉन्सन के अनुसार—"जीवनीकार का लक्ष्य जीवन की उन घटनाओं और क्रियाकलापों का रंजक वर्णन करना होता है, जो व्यक्तिविशेष की बड़ी-से-बड़ी महानता से लेकर छोटी-से-छोटी घरेलू बातों तक से सम्बद्ध होती हैं।" शिप्ले महोदय के अनुसार—"जीवनी किसी व्यक्तिविशेष की जीवन-घटनाओं का विवरण है। अपने आदर्शरूप में वह प्रयत्नपूर्वक लिखा गया इतिहास है, जिसमें व्यक्तिविशेष के सम्पूर्ण जीवन या उसके किसी अंश से सम्बद्ध बातों का विवरण मिलता है। ये आवश्यकताएँ उसे एक साहित्यिक विधा का रूप प्रदान करती हैं।" हिन्दी-विचारकों में आचार्य गुलाबराय के अनुसार—"संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जीवनी-लेखक अपने चरितनायक के अन्तर-बाह्य स्वरूप का चित्रण कलात्मक ढंग से करता है। इस चित्रण में वह अनुपात और शालीनता का पूर्ण ध्यान रखता हुआ सहृदयता, स्वतंत्रता और निष्पक्षता के साथ अपने चरितनायक के गुणदोषमय सजीव व्यक्तित्व का एक आकर्षक शैली में उद्घाटन करता है।" डॉ० त्रिगुणायत के अनुसार—"जीवन-कथा वह साहित्यिक विधा है जिसमें भावुक कलाकार किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन या उसके जीवन के किसी भाग का वर्णन

है; किन्तु इन जीवनियों को इतिहास कदापि नहीं कहा जायगा। सामान्य रूप से कहा जायगा कि इतिहास तथ्यपरक होता है और जीवनी-साहित्य तथ्यपरक होकर भी कल्पनाशील, भावुक और कलात्मक होता है; इसी से वह इतिहास की कोटि से हटकर साहित्य की कोटि में चला आता है। इतिहास में मात्र महत्त्वपूर्ण घटना, तिथि, परिवर्त्तन इत्यादि का ही अंकन होता चलता है; किन्तु जीवनी-साहित्य में बड़ी-से-बड़ी बात के साथ छोटी-से-छोटी बात को भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यहाँ चरितनायक की रुचि-अरुचि, खाना-पहनना, घूमना-टहलना इत्यादि बातों को भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इतिहास में घटनाओं का वर्णन विस्तृत भूमि पर किया जाता है। वहाँ लेखक को अपने अनुसार घटनाओं को तोड़ने मरोड़ने की छूट नहीं होती है। वहाँ अंगी देश अथवा राज्य ही होता है, व्यक्ति नहीं; किन्तु जीवनी-साहित्य के साथ ये बातें प्रतिकूल पड़ती हैं। यहाँ चरितनायक की ही प्रधानता होती है। चरितनायक ही प्रमुख हो उठता है और ऐतिहासिक बातें गौण हो जाती हैं।

जीवनी-साहित्य में कभी-कभी औपन्यासिक आनन्द की उपलब्धि भी होती है; किन्तु इसे उपन्यास नहीं कहा जायगा। यह बात भी सच है कि 'विकार ऑफ वेकफील्ड', 'टोनो बंगे', 'डेविड कॉपरफील्ड', 'शेखर : एक जीवनी' इत्यादि कई उपन्यास जीवनी-साहित्य की शैली में ही लिखे गये हैं, इनमें व्यक्ति के जीवन की ही झाँकी मिलती है; किन्तु फिर भी इन्हें हम जीवनी-साहित्य में स्थान नहीं दे सकते। इसके दो कारण हैं—(क) कल्पनाधिक्य और (ख) आधार की अयथार्थता। तात्पर्य यह कि उपन्यासों में काल्पनिकता अधिक होती है और जीवनी-साहित्य में कम। उपन्यास भी यथार्थपरक होते हैं; किन्तु वे अन्य बातों की प्रतिकूलता के कारण जीवनी-साहित्य से भिन्न पड़ते हैं।

जीवनी-साहित्य को रेखाचित्र भी नहीं कहा जा सकता। जीवनी-साहित्य का आधार मात्र यथार्थ व्यक्ति ही होता है, जबकि रेखाचित्र का आधार मात्र यथार्थ व्यक्ति ही नहीं, अपितु कल्पित व्यक्ति, वस्तु या घटना भी हो सकता है। जीवनी-साहित्य में लेखक की ओर से एक विशेष प्रकार की श्रद्धा अथवा सहानुभूति की अभिव्यक्ति भी होती चलती है; किन्तु रेखाचित्र में ऐसी बात नहीं होती। रेखाचित्र में कल्पना के उपयोग की अधिक छूट होती है। यहाँ बुद्धि, भावना और कल्पना तीनों साथ-साथ चलती हैं; किन्तु जीवनी-साहित्य में बुद्धि और भावना का ही योग रहता है, कल्पना पीछे छूट जाती है। रेखाचित्र का उद्देश्य होता है शब्दों द्वारा चित्रांकन प्रस्तुत करना; किन्तु जीवनी-साहित्य में सर्वांगीण चित्रण पर ही बल दिया जाता है।

जीवनी-साहित्य लेखन की विषयसीमा नहीं निर्धारित की जा सकती; फिर

भी इतना तो स्पष्ट रूप से कहा जायगा कि अतीत और वर्त्तमान सेही इसका आधार लिया जायगा, भविष्य से नहीं। वर्त्तमान की स्थिति भी स्पष्ट ही है कि किसी भी जीवित व्यक्ति की जीवनी को आधार मान कर लेखन-कार्य प्रारम्भ किया जा सकता है। अतीत पर दृष्टि डालने से ऐसा लगता है कि ऐतिहासिक युग से लेकर प्रागैतिहासिक युग तक को इसके लिए आधार चुना जा सकता है; किन्तु यह आधार जितना स्पष्ट और ज्ञात होगा, जीवनी-साहित्य उतना ही अधिक सुन्दर और सजीव होगा। सच्चा जीवनी-साहित्य वही होगा जिसमें तथ्यान्वेषण के साथ-साथ प्रामाणिक और स्पष्ट जानकारी पर अधिक ध्यान दिया गया हो। अतीत को आधार मानने पर इसके निमित्त कष्टसाध्य श्रम की आवश्यकता होती है। यदि जीवनी-साहित्य में चरितनायक की घटनाओं का उलट-फेर हो जाता है, तो दोष ही कहा जायगा। जीवनी-साहित्य के सामग्रीचयन के लिए, कैसेल के अनुसार, निम्नांकित बातों पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है—चरितनायक की मूल सामग्री (डायरी, पत्र, रचनाएँ इत्यादि) का पर्यवेक्षण, चरितनायक की मित्रमंडली और समकालीनों के विचारों और संस्मरणों का अध्ययन, चरितनायक पर लिखी गयी अन्य पुस्तकों का अध्ययन, चरितनायक के रहने वाले स्थानों का भ्रमण, यदि चरितनायक आसन्नभूत का हो तो उसके समकालीन जीवित व्यक्तियों की स्मृतियों की जानकारी प्राप्त करना और चरितनायक के सम्पर्क में रहने पर लेखक का अपना संस्मरण। इन्हीं स्रोतों के सहारे चरितनायक की जीवनी लिखने में पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

चूँकि जीवनी-साहित्य साहित्य की एक सोद्देश्य विधा है, अतः इसके कतिपय प्रमुख तत्त्वों की विवेचना आवश्यक है। तत्त्वों की दृष्टि से जीवनी-साहित्य में कुल चार तत्त्व स्वीकार किये जा सकते हैं— चरितनायक का यथार्थ जीवन, देशकाल, शैली और उद्देश्य। जीवनी-साहित्य का प्रथम तत्त्व है व्यक्तिविशेष का यथार्थ जीवन। जीवन सम्पूर्ण भी हो सकता है और विशिष्ट जीवनांश भी। आलोचकप्रवर पोप की मान्यता है कि मानव के अध्ययन का उचित विषय मानव ही है (The proper study of mankind is man)। यों तो साहित्य की प्रत्येक विधा में मानव का ही अध्ययन किया जाता है; किन्तु वहाँ मानव का यथार्थ नहीं, कल्पनाजन्य जीवन ही आधाररूप में स्वीकृत होता है। जीवनी-साहित्य में यथार्थ जीवन की ही अभिव्यक्ति होती है। यही तो जीवनी-साहित्य का सबसे बड़ा आकर्षण है कि यहाँ कल्पना में लेखक को भटकना नहीं पड़ता है। यहाँ आवश्यकता होती है ईमानदारी और तटस्थता की। चरितनायक के रूप में तो दरबारी कवियों ने अपने राजाओं और सामन्तों की प्रशस्तियाँ बहुत लिखी हैं, किन्तु वे सच्चे अर्थों में जीवनी-साहित्य नहीं हैं। यहाँ आधार की यथार्थता होने पर भी हम रासो-काव्यों और रीतिकालीन चरितकाव्यों को जीवनी-साहित्य के

अन्तर्गत अन्यतम स्थान नहीं देना चाहते हैं। कारण स्पष्ट है, विरुद बखानने वाले और प्रशस्तियाँ लिखने वाले अत्युक्ति से ही काम लेते रहे हैं, जबकि जीवनीकार का उद्देश्य होता है चरित्र की अभिव्यक्ति।

जीवनी-साहित्य का दूसरा तत्त्व माना जायगा देशकालनिरूपण। चरितनायक का सम्बन्ध जिस देशकाल से होता है, उस समय की परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही घटनाओं का अंकन होना चाहिए। यदि जीवनी-साहित्य का लेखक स्वयं चरितनायक ही हो— वह अपनी आत्मकथा लिख रहा हो-— तब तो इस बात की और भी आवश्यकता हो जाती है कि वह अपने जीवन की घटनाओं के साथ-साथ ऐतिहासिक, भौगोलिक, आर्थिक इत्यादि बातों की तत्सामयिक विवेचना करता चले। उदाहरणस्वरूप महात्मा गाँधी, पंडित नेहरू, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद की आत्म-कथाएँ ली जा सकती हैं। इस प्रकार के जीवनी-साहित्य में देशकाल का सुन्दर निरूपण होता चलता है। देशकालनिरपेक्ष रचना की आशा जीवनी रूप में नहीं की जा सकती है। कोई भी रचना इससे अछूती नहीं हो सकती।

जीवनी-साहित्य का तीसरा तत्त्व है शैली। शैली का विशेष महत्त्व होता है। शैली पर विचारते हुए हेरल्ड निकोलसन ने कहा है कि "जीवनी लिखने के लिए एक विशेष प्रकार के बुद्धिकौशल की अपेक्षा है।" चूँकि यहाँ चरितनायक की समस्त विशेषताओं का उद्‌घाटन ही महत्त्वपूर्ण होता है, इसलिए उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर तथ्यों के संश्लेषण-विश्लेषण, विचारस्थापन आदि में विशेष सतर्कता की आवश्यकता होती है। आचार्य गुलाबराय का मत है कि जीवनी-साहित्य की सफलता दो बातों पर निर्भर करती है— चरितनायक की महानता और लेखक की महानता। यदि चरितनायक महान् होता है तो बिना महत्त्वपूर्ण शैली के भी जीवनी-साहित्य महत्त्वपूर्ण हो सकता है। यदि चरितनायक महत्त्वपूर्ण न हो तो वैसी अवस्था में लेखक की शैली इतनी महत्त्वपूर्ण होनी चाहिए कि छोटी-सी बात को भी वह महत्त्वपूर्ण बना दे—लोहे को पारस-स्पर्श द्वारा सोना बना दे। सैमुअल जॉनसन द्वारा लिखी गयी बौसबेल की जीवनी ऐसी ही है। एक तीसरी कोटि भी मानी जा सकती है जहाँ लेखक और चरितनायक दोनों ही महत्त्वपूर्ण हों। ऐसी स्थिति में भी जीवनी-साहित्य महत्त्वपूर्ण ही होगा। महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ, पंडित नेहरू और डॉ० राजेन्द्रप्रसाद की आत्मकथाएँ इसी श्रेणी में रखी जायँगी। यहाँ लेखक और चरितनायक दोनों की महानता स्पष्ट है।

जीवनी-साहित्य मूलतः दो शैलियों में ही लिखा जाता है— इतिवृत्तात्मक शैली में और आत्मकथात्मक शैली में। जब लेखक स्वयं चरित है तो दूसरी शैली अपनायी जाती है, किन्तु चरितनायक से लेखक भिन्न होने पर पहली शैली में ही

रचना हो चलती है। आत्मकथात्मक शैली के अन्य रूप भी देखने को मिलते हैं—डायरी-शैली, पत्र-शैली, संलाप-शैली इत्यादि।

अब विचारणीय है उद्देश्य। इसे जीवनी-साहित्य का चौथा और अन्तिम तत्त्व मानना चाहिए। जीवनी-साहित्य भी सोद्देश्य रचना है। विभिन्न समयों में विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोण को लोगों ने उद्देश्य के रूप में ग्रहण किया है। आत्मीय जीवनी, लोकप्रिय जीवनी, विद्वत्तापूर्ण जीवनी, कलात्मक जीवनी, व्यंग्यात्मक जीवनी, उपदेशात्मक जीवनी इत्यादि उद्देश्यभिन्नता की ही उपज हैं। यदि आदर्शवाद का घेरा थोड़ा बढ़ाकर सोचा जाय तो कहा जायगा कि जीवनी-साहित्य का उद्देश्य भी आदर्शवाद की ही प्रतिष्ठा रहा है। इसी को दूसरे रूप में रखा जा सकता है। प्रत्येक मनुष्य इस संसार में किसी कार्य के पीछे मात्र दो प्रकार की प्रेरणाएँ ही प्राप्त कर सकता है—स्वान्तःसुखाय या परान्तःसुखाय। आत्माभिव्यक्ति अथवा आत्मान्वेषण का प्रथम से ही सम्बन्ध है। ऐसी अवस्था में जीवनी-साहित्य का एक उद्देश्य यह भी माना जायगा। पुनः चरितनायक के अनुभवों का लाभ अन्य लोगों को भी हो, इस उपयोगितावादी अथवा परान्तःसुखाय लक्ष्य को भी जीवनी-साहित्य के उद्देश्य के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। चरितनायक के महत्त्वपूर्ण कार्यों के अध्ययन आदि से लाभ उठाने की बात इसी में सन्निहित हो जाती है। अधुनातन युग में एक प्रकार का उद्देश्य और भी विकसित हो उठा है, उसे अर्थवादी उद्देश्य कहा जा सकता है। अर्थोपार्जन को ध्यान में रखकर लिखा जाने वाला साहित्य वस्तुतः निम्नकोटि का ही होगा। आज इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए भी जीवनी-साहित्य का प्रणयन हो रहा है। वस्तुतः यह उद्देश्य सर्वथा निकृष्ट और हेय ही माना जाना चाहिए।

जीवनी-साहित्य के तत्त्वों पर विचार करने के पश्चात् इसकी कतिपय विशेषताओं को भी जानना आवश्यक है। यों जीवनी-साहित्य की अनेक विशेषताएँ मानी जा सकती हैं, किन्तु उनमें चार विशेषताएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं— रोचकता, निष्पक्षता, औचित्यनिर्वाह और जिन्दादिली। इन चारों गुणों के अभाव में जीवनी-साहित्य मात्र घटनापरक और वर्णनात्मक हो जायगा, उसमें साहित्यिकता के पूर्ण निर्वाह की बात अधूरी ही रह जायगी। अस्तु, प्रत्येक सफल रचना में उपर्युक्त चारों विशेषताओं का सम्यक् निर्वाह आवश्यक है।

आधुनिक रूप में जीवनी-साहित्य का विकास इसी युग में हुआ है। यह साहित्यिक विधा अनेक रूपों में विकसित हो रही है। यह मूलतः जीवनचरित, आत्मकथा, संस्मरण, यात्राविवरण, डायरी, पत्र और इण्टरव्यू— इन सात रूपों में विकसित हो रही है। हिन्दी-साहित्य में इसके कुछ रूपों से सम्बद्ध साहित्य की अभी शुरुआत ही हुई है। जीवनी-साहित्य के इन विभिन्न रूपों में उद्देश्य और

विषय की एकता होने पर भी स्वरूपगत भिन्नता है। जीवनचरित में लेखक चरितनायक से भिन्न होता है। कोई लेखक किसी अन्य व्यक्ति के जीवन को आधार बनाकर जीवनचरित की रचना प्रस्तुत करता है। एक ही व्यक्ति के जीवन को लेकर अनेक लेखक जीवनचरित की रचना कर चलते हैं। जीवनीकार चरित-नायक का कोई निकटसम्बन्धी अथवा प्रेमी, भक्त, शिष्य इत्यादि अथवा उद्देश्य से सहानुभूति रखने वाला होता है। वह अपनी शक्ति और सीमा, अपने कार्य और उद्देश्य के अनुसार चरितनायक की जीवनविशेषताओं का मूल्यांकन करता है। इसकी शैली मूलतः इतिवृत्तात्मक होती है।

आत्मकथा का लेखक स्वयं चरितनायक होता है। इसमें लेखक आपबीती का एक व्यापक क्षेत्र में सिंहावलोकन करता है। आत्मसंस्मरण (रेमिनिसेंसेज), डायरी, पत्र, इण्टरव्यू इत्यादि इसी के अन्य रूप माने जा सकते हैं। इसमें आत्मांकन ही असल वस्तु होती है। इसे आत्मचरित के नाम से भी जाना जाता है, पर आत्मकथा और आत्मचरित में भी थोड़ा अन्तर अवश्य होता है। आत्मकथा में आत्मांकन की पद्धति अपेक्षाकृत अधिक रोचक और सजीव होती है; किन्तु आत्म-चरित में आन्तरिक विश्लेषण और विवेकशीलता का आधिक्य होता है। आपबीती भी यही वस्तु है, पर इसमें अपेक्षाकृत दुखद घटनाओं का अंकन और उससे उत्पन्न परिस्थितियों का विश्लेषण ही प्रधान हो जाता है। आत्मकथा में लेखक विषयगत वर्णनों पर अधिक ध्यान न देकर विषयीगत वर्णनों में ही अधिक लगा रहता है। इसकी शैली आत्मकथात्मक अथवा उत्तमपुरुष की होती है। इसके उद्देश्य का रूप मूलतः आत्माभिव्यक्ति तथा अपने अनुभवों को अन्य लोगों तक पहुँचाना ही हम मान सकते हैं। यदि इसका उद्देश्य अर्थोपार्जन हो जाय तो मान लीजिए कि रचना दो कौड़ी की ही होगी।

संस्मरण मूलतः दो रूपों में मिलते हैं— अपने जीवन के विषय में और दूसरे के जीवन के विषय में। इन्हें क्रमशः आत्मसंस्मरण (रेमिनिसेंसेज) और संस्मरण (मेम्वायर्स) कह सकते हैं। इसमें प्रायः वैसी घटना, परिस्थिति, कार्य इत्यादि का ही अंकन होता है जिससे जीवनक्रम को प्रभावित, अग्रसारित, नियंत्रित अथवा संचालित करने में आवश्यक रूप से मदद मिलती है या बाधा उपस्थित होती है। इसमें लेखक प्रधानतः साहित्यकार बना रहता है। इसमें जीवन का क्रम-बद्ध विवेचन प्रायः नहीं होता है, केवल प्रमुख घटना आदि का ही अंकन हो चलता है। जीवनचरित अथवा आत्मकथा में कहानी प्रायः आद्योपान्त कही जाती है, किन्तु यहाँ केवल खंडचित्रांकन ही हो पाता है। संस्मरणों में वर्णन केवल व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहता, अपितु वस्तु, स्थान आदि का भी वर्णन हो चलता है। असल बात है कि जिन बातों से लेखक प्रभावित होता है तथा जिनकी स्मृति मिटाए

नहीं मिटती, उन्हीं का वर्णन संस्मरण में होता है, अन्य के लिए यहाँ स्थान नहीं होता है।

यात्रासाहित्य का आत्मसंस्मरण से निकट का सम्बन्ध है। इसमें लेखक किसी देश-विदेश, स्थल, भूखंड इत्यादि की यात्रा का वर्णन कर चलता है। इसमें लेखक का फक्कड़पना, घुमक्कड़ी, मस्ती, उल्लास और यायावरवृत्ति के सर्वाधिक दर्शन होते हैं। हिन्दी में यात्रासाहित्य का भी प्रचुर विकास हो चुका है। (देखिए निबन्ध—हिन्दी में यात्रासाहित्य।)

डायरी-लेखन का आत्मकथा से निकटतर सम्बन्ध है। इसे शुद्ध साहित्यिक रूप मानने की अपेक्षा अर्द्धसाहित्यिक रूप मानना ही अधिक उचित है। इसमें घटनाओं का वर्णन संक्षिप्त रूप में हो चलता है। इसमें व्यंजना, व्यंग्य और जिन्दादिली पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। घटनावर्णन और आत्मविश्लेषण तो यहाँ भी होता है, पर संक्षिप्तता के कारण इसे गौण ही मानना चाहिए। डायरी-लेखन कई प्रकार का हो सकता है। साहित्यिक डायरी का रूप सबसे भिन्न होगा। इसमें लेखक के व्यक्तित्व और उसकी सजीवता पर अधिक ध्यान रहना चाहिए। डायरी के निकट की साहित्यिक विधा जर्नल मानी जायगी।

पत्रलेखन मानव-जीवन का एक प्रमुख अंग है। सगे-सम्बन्धियों के पास पत्र लिखना, उनके पत्रों के उत्तर देना जीवन के आवश्यक कार्यों में से है। ऐसा देखा जाता है कि व्यक्ति अपने मित्रों और सगे-सम्बन्धियों को लिख गये पत्रों में अपनी दुर्बलता, व्यक्तिगत मनोभावना आदि का उल्लेख कर चलता है। पत्रों में जीवन की अन्तरंग विशेषताओं का उल्लेख होने से इनका विशेष महत्त्व होता है। पत्रों को पत्रलेखकों के हृदयों का दर्पण कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। अस्तु, इन पत्रों का उपयोग जीवनी-लेखन में बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रमाणित होता है। ऐसी स्थिति में इनकी उपयोगिता असन्दिग्ध है। कभी-कभी पत्रों में पत्रलेखक राजनीतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक इत्यादि बातों पर भी विचार करता है। ये पत्र स्वतंत्र रूप से साहित्यिक विधा के रूप में मान्य हो सकते हैं। उदाहरणस्वरूप, पं० नेहरू द्वारा अपनी पुत्री इन्दिरा को लिखे गये पत्रों को ले सकते हैं। उन पत्रों में पं० नेहरू की विचारधारा का स्पष्ट और निःसंकोच अंकन मिलता है। जीवनी-साहित्य में पत्र-साहित्य की उपयोगिता स्पष्ट है। इस साहित्यिक विधा का विकास भी हिन्दी में आधुनिक युग में ही हुआ है।

इण्टरव्यू नामक साहित्यिक विधा का सम्बन्ध भी जीवनी-साहित्य से ही है। इस रूप का विकास हिन्दी में अभी पूर्णतः हो भी नहीं सका है। इसमें लेखक किसी व्यक्तिविशेष से प्रथम भेंट में होने वाले अनुभवों और उससे उत्पन्न अपनी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का अपने पूर्वग्रह के परिप्रेक्ष्य में साहित्यिक वर्णन

उपस्थित करता है। चाहें तो इसे भी संस्मरण के अन्तर्गत ही रख सकते हैं; किन्तु संस्मरण और इण्टरव्यू में पर्याप्त अन्तर होता है। इण्टरव्यू में केवल वैसे व्यक्ति के सम्पर्क के संस्मरणों का ही वर्णन लेखक उपस्थित करता है, जिससे उसका व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित हुआ है; पर संस्मरण में किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना आदि का वर्णन हो चलता है। हाँ, इतनी बात तो अवश्य है कि जीवनी-साहित्य के सभी रूपों में यह संस्मरण के ही निकट अधिक पड़ता है।

हिन्दी में सही अर्थों में जीवनी-साहित्य का लेखन इसी युग में प्रारम्भ हुआ है। प्राचीन भारतीय साहित्य एवं आधुनिक युग के पूर्व (१८५० ई० के पूर्व) के हिन्दी-साहित्य में जीवनी-साहित्य के जो रूप मिलते हैं, उनमें जीवनी-साहित्य के सभी रूपों के दर्शन नहीं होते हैं। प्राचीन साहित्य में ऐतिहासिक और पौराणिक व्यक्तियों को लेकर अनेक ऐसी पुस्तकें मिलती हैं जिन्हें व्यापक अर्थ में जीवनी-साहित्य के पेटे में घसीटा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, संस्कृत में 'वाल्मीकि रामायण', 'घटरामायण', 'अगस्त्यरामायण', 'अद्भुत् रामायण', 'बुद्धचरित', 'हर्षचरित' इत्यादि को ले सकते हैं। यहाँ तक कि पुराणों के पाँच लक्षणों में 'वंशानुचरित' भी एक लक्षण मान लिया गया है, किन्तु, ऐसे ग्रन्थों को जीवनी-साहित्य कहना असंगत-सा है। जीवनी-साहित्य में सब-कुछ होने पर भी यथार्थपरक दृष्टिकोण अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। इन ग्रन्थों में इस दृष्टिकोण का अभाव है। अपभ्रंश के 'पउम चरिउ', 'जसहर चरिउ', 'णयकुमार चरिउ' इत्यादि चरितग्रन्थ तथा विलासग्रन्थ भी ऐसे ही हैं। ये विशिष्ट व्यक्तियों से सम्बद्ध हैं अवश्य, पर इन्हें आधुनिक अर्थों में जीवनी-साहित्य नहीं मानना चाहिए।

हिन्दी-साहित्य में जीवनी से सम्बद्ध रासो-काव्य, चरित-काव्य और विलास-काव्य के अनेक नाम गिनाये जायँगे। चरित-काव्य और विलास-काव्य की परम्परा अबाध रूप से शृंगारकाल तक मिलती है। अनेक रासो-काव्यों, चरित-काव्यों और विलास-काव्यों का प्रणयन समकालीन कवियों द्वारा हुआ है, उनमें जहाँ-तहाँ यथार्थवादी दृष्टिकोण भी है; फिर भी वे शुद्ध रूप में जीवनी-साहित्य के रूप में ग्रहीत नहीं हो सकते। इसका एकमात्र कारण यही है कि इन ग्रन्थों में कवियों ने वीरपूजा की भावना, आश्रयप्राप्ति की इच्छा, धनप्राप्ति की वासना इत्यादि से प्रेरित होकर चरितनायकों का वर्णन अत्युक्तिपूर्ण ढंग से किया है। गुणों का वर्णन करते हुए ये अघाते नहीं हैं; किन्तु त्रुटियों का स्पर्श भी नहीं करते। काव्यत्व की मात्रा का भी कहीं-कहीं अतिरेक हो गया है। अस्तु, इन्हें साहित्य के अन्य रूपों में स्थान देना उचित है, जीवनी-साहित्य में नहीं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि प्राचीन हिन्दी में जीवनी-साहित्य का पूर्ण अभाव है। कतिपय ऐसी रचनाएँ भी हैं जिनमें जीवनी-साहित्य का पूर्वरूप पूर्णतः लक्षित है।

हिन्दी के सम्पूर्ण जीवनी-साहित्य को मूलतः दो भागों में बाँट दिया जा सकता है— प्राचीन और आधुनिक। सन् १८५० ई० के पूर्व के जीवनी-साहित्य को प्राचीन और उसके बाद रचित जीवनी-साहित्य को हम आधुनिक जीवनी-साहित्य मान सकते हैं।

प्राचीन जीवनी-साहित्य के दो रूप ही मिलते हैं—जीवनचरित और आत्मकथा। जीवनचरित की उपलब्धि मूलतः पाँच रूपों में होती है— वार्ता-साहित्य, परचई-साहित्य, भक्तचरित-साहित्य, ख्यात तथा वात साहित्य और बीतक साहित्य। वार्ता-ग्रन्थों में अधिक प्रसिद्ध हैं 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'। इनके अतिरिक्त 'गोवर्धननाथ की प्राकट्य वार्ता', 'गुसाँईजी की चार सेवकन की वार्ता' इत्यादि ग्रन्थ भी ऐसे ही हैं। इनमें सामान्य या वैष्णव भक्तों की वार्ताएँ और जीवनियाँ मिलती हैं। इनमें यत्र-तत्र अस्वाभाविक वर्णनों की भी कमी नहीं है। इनका उद्देश्य विशिष्ट ध्येयप्रचार माना जायगा। इनमें गुणों का तो उल्लेख है, पर दोषदर्शन कहीं नहीं है।

परचइयों में 'अष्ट सखान की परचई', अनन्तदास की लिखी परचइयाँ, 'संत सिंगाजी की परचुरी' इत्यादि के नाम लिये जायँगे। ये भी विशेष उद्देश्य से ही लिखी गयी हैं। इनकी शैली बातचीत की शैली है। इनकी विशेषता भी इसी में निहित है।

भक्तों के जीवन को लेकर लिखे गये अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जिन्हें जीवनी-साहित्य का प्राचीन रूप माना जा सकता है। 'भक्तमाल', प्रियादास की 'भक्ति-रसबोधिनी', वेणीमाधवदास का 'गोसाँईचरित', तुलसी साहब का 'तुलसीचरित', रूपदास का 'सेवादासचरित्रबोध' और 'कबीरचरित्रबोध' इत्यादि रचनाएँ इसी कोटि में रखी जायँगी। इन रचनाओं में भी चरितनायकों के वर्णन चमत्कारपूर्ण ही हैं। कल्पना का सहारा भी कुछ रचनाओं में अधिक लिया गया प्रतीत होता है।

ख्यातों और वातों की प्राप्ति राजस्थान में हुई है। ये गद्य और पद्य दोनों में मिलते हैं। इनका आधार तो ऐतिहासिक है, पर कुछ रचनाएँ अत्यधिक कल्पनाप्रसूत लगती हैं। कुछ में यथार्थ का निर्वाह उचित रूप में मिलता है। 'उदयपूर की ख्यात', 'विजयसागर' आदि ग्रन्थ ख्यातों और वातों के उदाहरणस्वरूप माने जा सकते हैं।

'वीतक' शब्द का सम्बन्ध सम्भवतः 'वृत्त' शब्द से प्रतीत होता है। इसका प्रयोग प्रणामी पन्थ के साहित्य में उपलब्ध होता है। प्राणनाथ तथा देवचन्द को लेकर लालदास, ब्रजभूषण, हंसराज, मुकुन्द इत्यादि ने बीतक ग्रन्थों की रचना की है। लालदास का बीतक अधिक सुन्दर बन पड़ा है। इनका भी उद्देश्य धर्म-प्रचार

प्रचार ही प्रतीत होता है। अस्तु, इन्हें भी निरपेक्ष जीवनी-साहित्य में स्थान देना उत्तम नहीं प्रतीत होता है।

भारत ऐसा देश रहा है जहाँ आत्मप्रशंसा वर्जित-सी रही है। इसी से इतिहास की तरह जीवनी-साहित्य का सृजन भी नहीं के बराबर हुआ है। आत्मकथा के अभाव का भी कारण यही रहा है। भारत में लिखे गये आत्मचरितों अथवा आत्मकथाओं के प्राचीनतम उदाहरण में 'तुजुके बाबरी' और 'तुजुके जहाँगीरी' के नाम लिये जा सकते हैं। हिन्दी में सर्वप्रथम आत्मकथा का लेखन कविवर बनारसीदास जैन द्वारा हुआ है। इनकी रचना का नाम है 'अर्द्धकथानक'। इसका रचना-काल सन् १६४१ ई० है। सम्भवतः भारत की किसी भी भाषा में इतना पुराना आत्मचरित नहीं मिलता है। 'अर्द्धकथानक' आत्मकथा के साथ हिन्दी जीवनी-साहित्य का अमूल्य ग्रन्थ माना जायगा। इसमें लेखक ने निस्संकोच भाव से अपनी दुर्बलताओं का भी चित्रण बड़े स्पष्ट रूप में किया है।

हिन्दी में जीवनी-साहित्य का वैज्ञानिक पद्धति पर लेखन प्रारम्भ होता है आधुनिक युग में, जिसका श्रेय पश्चिम को अवश्य दिया जाना चाहिए। ऐसी बात नहीं कि अँगरेजों ने हमें कुछ नहीं दिया है। जीवनी-साहित्य के प्रत्येक रूप का विकास इसी युग में होता है। जीवनचरित के लेखन के रूप में यह साहित्य लगभग सन् १८८२ ई० से प्रारम्भ होता है। श्री कार्तिकप्रसाद खत्री ने मीराँबाई का जीवनचरित सन् १८९३ ई० में लिखा था। तत्कालीन भारतेन्दु-युग में भारतेन्दु, राधाकृष्ण दास, मुंशी देवीप्रसाद इत्यादि की रुचि इस प्रकार के साहित्य-सृजन की ओर जाती है। श्री बालमुकुन्द गुप्त द्वारा लिखा गया पं० प्रतापनारायण जी का जीवनचरित इसी युग की रचना है। भारतेन्दुजी की 'कुछ जगबीती, कुछ आपबीती' है तो अधूरी, किन्तु जो अंश प्राप्त है उससे तत्कालीन वातावरण और तथाकथित मुसाहिबों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। पं० अम्बिकादत्त व्यास की जीवनी के रूप में 'निजवृत्तान्त' एक सफल आत्मकथा है। राधाचरण गोस्वामी जी की आत्मकथा में भारतेन्दु-युग की प्रवृत्तियाँ पूर्णतः स्पष्ट होती हैं।

जीवनी-साहित्य के विकास में द्विवेदी-युग में उत्तम प्रगति दीखती है। यात्रा-साहित्य का सृजन तो जोर पकड़ता ही है, अन्य रूपों में जीवनी-साहित्य भी बढ़ चलता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की आत्मकथा, डॉ० श्यामसुन्दरदास की 'मेरी आत्मकहानी', पद्मसिंह शर्मा के संस्मरण, बनारसीदास चतुर्वेदी के 'संस्मरण' और 'हमारे अपराध', हेमचन्द्र जोशी का 'फ्रांस-यात्रा और संस्मरण', स्वामी श्रद्धानन्द का 'कल्याणमार्ग का पथिक', वियोगी हरि का 'मेरा जीवनप्रवाह' इत्यादि अनेक रचनाएँ इसी युग की उपज हैं। इनके अलावा पत्र-पत्रिकाओं में निबन्धों के रूप में भी जीवनी-साहित्य विकसित हो चलता है। पत्र-साहित्य का विकास भी इसी युग में

हो चलता है। द्विवेदीपूर्व युग में पंडित बालमुकुन्द गुप्त का 'शिवशम्भु का चिट्ठा' तथा द्विवेदी-युग में कौशिकजी की 'दुबेजी की चिट्ठियाँ' का जो क्रम लगता है, उससे पत्र-साहित्य को नयी दिशा मिलती है। इनसे पूर्व सन् १८५७ ई० में स्वातंत्र्यसमर-कालीन राजस्थानी कवि श्री सूर्यमल्ल मिश्रण के पत्रों का पता चलता है। सूर्यमल्ल मिश्रणजी के पत्रों में गदरकालीन स्थिति का पूरा चित्र मिलता है। तात्पर्य यह कि द्विवेदी-युग तक आते-आते जीवनी-साहित्य की ओर लेखकों की रुचि जा चुकी थी। खेद की बात यह है कि इस युग में जीवनी-साहित्य शुद्ध जीवनी-साहित्य के रूप में कम ही सामने आ रहा था। उपदेश और धर्म की आड़ लेकर अधिकांश जीवनियाँ निकल रही थीं। फिर भी अनेक ऐसी रचनाएँ पुस्तकाकार सामने आ रही थीं और आ चुकी थीं जिनसे उत्तरद्विवेदी-युग के लिए मार्ग प्रशस्त हो रहा था।

उत्तरद्विवेदी-युग से लेकर आजतक जीवनी-साहित्य ने अचूक प्रगति की है। आज जीवनचरित और आत्मकथा के लेखन में प्रगति तो आयी ही है, अन्य रूपों के रूप भी स्थिर हो चुके हैं। पत्रसाहित्य के रूप में काम करने वालों में श्री बैजनाथ सिंह विनोद का नाम सर्वप्रथम लिया जाना चाहिए। इन्होंने 'द्विवेदी-पत्रावली' के रूप में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के कुछ पत्रों का संकलन किया है। हरिशंकर शर्मा द्वारा सम्पादित 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' का नाम भी इस क्रम में लिया जायगा। इसी प्रकार 'प्रेमचन्द: चिट्ठी-पत्री' का प्रकाशन भी कई भागों में हो चुका है। आज ऐसे अनेक लोग हैं, जिनके पत्रों का संकलन साहित्य की दृष्टि से आवश्यक है। हर्ष की बात है कि इस दिशा में प्रयत्न होता देखा जा रहा है। यात्रा-साहित्य का भी प्रणयन धुँआधार रूप में प्रारम्भ हो गया है। आत्मकथा के लेखन में कई प्रकार के लोग सामने आये हैं। धार्मिक प्रवृत्ति वाली, राजनीतिक प्रवृत्ति वाली, साहित्यकार इत्यादि के सम्पर्क की, हर प्रकार की आत्मकथाएँ सामने आ रहीं हैं। 'साधना के पथ पर' (हरिभाऊ उपाध्याय), 'प्रवासी की आत्मकथा' (स्वामी भवानीदयाल संन्यासी), 'आत्मकथा' (महात्मा गाँधी), 'मेरी कहानी' (पंडित नेहरू), 'मेरी आत्मकथा' (डॉ० राजेन्द्रप्रसाद), 'चाँद-सूरज के बीरन' (देवेन्द्र सत्यार्थी), 'स्वप्नसिद्धि की खोज में' (कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी), 'मेरी असफलताएँ' (आचार्य गुलाब राय), 'बाल्यस्मृति', 'झूठ-सच' (सियारामशरण गुप्त), 'सत्य के प्रयोग' (प्रेमचन्द), 'आत्मकथा-अंक' ('हंस') इत्यादि रचनाएँ आत्मकथा के रूप में आ चुकी हैं। इण्टरव्यू-लेखकों में श्री पद्मसिंह शर्मा कमलेश का नाम पहले लिया जायगा। आपकी रचना 'मैं इनसे मिला' दो भागों में प्रकाशित हो चुकी है। इसमें बाईस प्रसिद्ध साहित्यकारों की भेटों का बड़ा प्रभावकारी वर्णन मिलता है। इस क्षेत्र में राजेन्द्र यादव, डॉ० रामचरण महेन्द्र, शिवदान सिंह चौहान, लक्ष्मीनारायण शर्मा इत्यादि के नाम लिये जायँगे।

हिन्दी में डायरी-लेखन-पद्धति का विकास लगभग सन् १६३० ई० के आस-पास कूता जाता है। टाल्सटाय की डायरी का अनुवाद इसके पूर्व ही प्रकाशित हो चुका था। मौलिक डायरी-लेखन का प्रयास हिन्दी में सर्वप्रथम श्री नरदेव शास्त्री ने किया है। 'नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ की जेल-डायरी' में वर्णन की सजीवता सर्वत्र है। 'डायरी के कुछ पन्ने' (घनश्यामदास बिड़ला), 'बुकसेलर की डायरी' (राबी), 'महादेव देसाई की डायरी', 'गाँधीजी की कारावास-कथा' (सुशीला नायर), 'लद्दाख-यात्रा की डायरी' (सज्जन सिंह), 'सर्वोदय-पदयात्रा' (निर्मला देशपाण्डे), 'मेरी डायरी के नीरस पृष्ठ' (इलाचन्द्र जोशी) इत्यादि इसी प्रकार की रचनाएं हैं। इस क्षेत्र में कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त, दामोदर दास मूँधड़ा इत्यादि के कार्य भी स्तुत्य हैं। आज यह कला भी सतत विकासमान है।

संस्मरण-लेखन का विकास भी द्विवेदी-युग में ही हुआ था। आज इस क्षेत्र में भी स्तुत्य कार्य हुए हैं। शिकारी-जीवन के संस्मरण-लेखकों में श्रीराम शर्मा अद्वितीय हैं। पुराने संस्मरण-लेखकों में सत्यदेव परिव्राजक, श्रीनारायण चतुर्वेदी, पद्मसिंह शर्मा इत्यादि के नाम आते हैं। श्री राजेन्द्र हाण्डा का 'दिल्ली में दस वर्ष', श्रीनिधि का 'शिवालक की घाटियों में', अयोध्याप्रसाद गोयलीय का 'जैन जागरण के अग्रदूत', महादेवी वर्मा के 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ', बेनीपुरीजी की 'माटी की मूरतें', देवेन्द्र सत्यार्थी का 'क्या गोरी, क्या साँवरी', भदन्त आनन्द कौशल्यायन के 'जो न भूल सका' और 'जो लिखना पड़ा', शान्तिप्रिय द्विवेदी के 'पथचिह्न' और 'परिव्राजक की प्रजा', प्रभाकर का 'भूले हुए चेहरे' इत्यादि संस्मरण-साहित्य के उत्तम उदाहरण हैं। श्री राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह ने अपने संस्मरणों को औपन्यासिक रूप देने का भी प्रयास किया है। इनकी रचनाओं में 'पूरब और पश्चिम', 'हवेली और झोपड़ी', 'देव और दानव', 'वे और हम' इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

जीवनचरित्रों में 'ये और वे' (जैनेन्द्र); 'मुरली बादशाह', 'भुन खलीफा', 'ढुलकते इक्के, पक्के आम' (हर्षदेव मालवीय); 'कार्लमार्क्स' (वेनीपुरी); 'विद्रोही सुभाष' (सुखदेव); 'स्तालिन', 'कार्ल मार्क्स', 'लेनिन' (राहुल सांकृत्यायन); 'नाना फड़नवीस' (उमाशंकर); 'विश्वकवि रवीन्द्रनाथ' (उमेश मिश्र); 'माँ शारदा' (स्वामी अपूर्वनाथ); 'गाँधी की कहानी' (लुई फिशर); 'महात्मा गाँधी' (कृपलानी); 'गेहूँ और गुलाब' (बेनीपुरी) इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं। महान् पुरुषों की जीवनी के आधार पर अनेक लोगों ने बालोपयोगी जीवनियों की रचना पर भी ध्यान दिया है। तात्पर्य यह कि आधुनिक युग में जीवनी-साहित्य का चतुर्मुखी विकास हो रहा है।

हिन्दी की सम्पूर्ण जीवनियों को ध्यान में रखते हुए उनके कई वर्ग बनाये

जा सकते हैं— बालोपयोगी, कलात्मक, मनोवैज्ञानिक, उपदेशात्मक, आदर्शात्मक, यथार्थवादी इत्यादि। इसी प्रकार दूसरे प्रकार के वर्ग भी सम्भव हैं — धार्मिक व्यक्तियों की जीवनियाँ, राजनीतिक नेताओं की जीवनियाँ, साहित्यकारों की जीवनियाँ, वीरों की जीवनियाँ, सामान्य लोगों की जीवनियाँ इत्यादि। जीवनी-साहित्य की बढ़ती दिशा को देखने से ऐसा लगता है कि अब जीवनी-साहित्यकारों ने वैज्ञानिक विश्लेषण, सम्यक् निरूपण और मनोवैज्ञानिक अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया है। निश्चय ही यह प्रवृत्ति हिन्दी जीवनी-साहित्य के विकास के उज्ज्वल भविष्य की सूचिका है।

●

३२

हिन्दी का यात्रा-साहित्य

[तात्पर्य—भारत आने वाले यात्री—यात्रा-विवरण : ऐतिहासिक विवरण—यात्रा : निबन्ध—स्वरूपभेद—तत्त्व—शैली—उद्देश्य—वर्गीकरण—युगविभाजन—भारतेन्दु-युग—द्विवेदी-युग—उत्तरद्विवेदी-युग—स्वातंत्र्योत्तर युग]

यदि सच पूछा जाय तो कहा जायगा कि मानव-जीवन ही एक सफल यात्रा है। अस्तु, यात्रा का जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध होना आवश्यक है। जीवन में विविध प्रकार की आवश्यकताएँ होती हैं। इनकी पूर्त्ति के निमित्त आदिम युग से ही मानव यात्रा करता आया है। बीहड़ जंगलों, उच्च पर्वतों और बियाबान रेगिस्तानों को पार करने, उसे जानने-सुनने की इच्छा मानव में प्रारम्भ से जगती रही है। ज्ञान की इच्छा, आवश्यकतापूर्ति की इच्छा आदि ने ही मानवों को यात्री बनने के लिए बाध्य किया है। मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति के विकास में यात्रा का एक सबल हाथ रहा है। प्रगतिशीलता सभी पसंद करते हैं। मानव की बात छोड़िए, पशु-पक्षी भी प्रगतिशीलता में विश्वास करते हैं। वे भी प्रगति कर रहे हैं। यात्रा से उन्हें भी प्रगति में सहायता मिल रही है। जीवनानन्द के लिए पक्षी भी यात्रा करते देखे जाते हैं। कोयल, कुक्कुट आदि का निश्चित ऋतुओं में ही दिखाई देना, उनकी यात्रा से ही सम्बद्ध है। तभी तो साइबेरिया के पक्षी भी भारत में चले आते हैं। इन यात्री पक्षियों (Migratory birds) के कारण भी हमें बहुत-सी बातों का ज्ञान होता है।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय के पर्यालोचन से यह स्पष्ट होता है कि भारत से लोग विविध प्रकार की यात्राओं पर बाहर जाते रहे हैं। वैदिक युग में प्रायः दो प्रकार की यात्राओं का उल्लेख मिलता है—व्यापारिक यात्रा और तीर्थयात्रा। ये यात्राएँ जल और स्थल दोनों मार्गों से होती थीं। कभी-कभी मनोरंजनार्थ भी लम्बी यात्राएँ होती थीं। व्यापारी-वर्ग, साधु-संन्यासी-वर्ग, फेरीवाले, खेल-तमाशेवाले तथा छात्र भी देशदर्शन के निमित्त यात्राएँ करते थे। स्थलयात्राएँ निर्बाध नहीं थीं। प्रागैतिहासिक युग में भी प्रायः यात्रा इन्हीं दो मार्गों से होती थी। ऐतिहासिक युग में राजकुमारियों की खोज और युद्ध के लिए भी यात्राओं का उल्लेख मिलता है। इस समय तो अनेक स्थानों पर यात्रियों की सुविधा के लिए सरायों और धर्मशालाओं का भी उल्लेख मिलता है। तात्पर्य यह कि भरत-

भूमि में यात्रा का विकास अतिप्राचीन समय में ही हो चुका था। इन यात्राओं के उद्देश्य सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, मनोरंजन तथा अन्य व्यक्तिगत भावनाएँ इत्यादि होते थे।

संसार का वैसा सर्वप्रथम यात्री जिसने भारत की यात्रा कर यात्रा-साहित्य तैयार किया है, सम्भवतः फाहियान ही है। इसने अपनी भारत-यात्रा का सविस्तर विवेचन किया है, जिससे भारत के तत्कालीन इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सम्भवतः इसके भी पूर्व भारत की यात्रा का विवरण लिखने वाला यात्री था सुलेमान। यह फारस का सौदागर था। सौदागरी के लिए इसने भारत तथा चीन की कई यात्राएँ की थीं। इलिएट ने अपने इतिहास में इसकी चर्चा की है तथा इसके यात्रा-विवरण को संसार का सबसे प्राचीन यात्रा-विवरण माना है। तात्पर्य यह कि यात्रा-साहित्य में भारत का सबसे प्राचीन विवेचन सुलेमान का है और इसके पश्चात् है फाहियान का यात्रा-साहित्य। इसके बाद तावयुंग, हुईसांग, सुयेनच्वांग, इत्सिंग, लुंग, वानको, मोक्षदेव, कुईचुंग इत्यादि चीनी; अबुल फ़िदा, जकरिया कज़वीनी, सूफ़ी दुमिश्की, इब्नबतूता, शहाबुद्दीन उमरी, अब्दुर्रज्जाक इत्यादि मुसलमान तथा हेरोडोटस, मेगास्थनीज इत्यादि ग्रीक एवं मार्कोपोलो, बर्नियर, टैवर्नियर इत्यादि अन्य यात्रियों ने अपने यात्रा-साहित्यों द्वारा भारत के इतिहास को बचाये रखने का कार्य किया है। इनके अध्ययन से स्पष्ट होता है कि राजनीतिक, व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध ही यात्रा के प्रमुख प्रेरक हैं।

ज्ञान की वृद्धि में यात्रा-साहित्य का महत्त्व अक्षुण्ण है। इसके द्वारा घर बैठे ही संसार के विविध देशों को आश्चर्यजनक वस्तुओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है। मिस्र के पिरामिड, लुक्सर के भग्नावशेष, अमेरिका की रीति-नीति इत्यादि का परिचय प्राप्त करने में व्यक्ति यात्रा-साहित्य का ही ऋणी है। वर्णन और विवरण की प्रधानता तो इतिहास में भी होती है; पर यात्रा-साहित्य और इतिहास में पर्याप्त अन्तर है। ऐतिहासिक विवरणों में लेखक तटस्थ द्रष्टा भर रहता है। वह अपनी आत्मानुभूतियों की अभिव्यक्ति नहीं कर पाता है। यात्रा-साहित्य मात्र विवरण नहीं है। यहाँ लेखक की दृष्टि साहित्यिक होती है। वह तटस्थ नहीं रहता है। इसी प्रकार निबन्धों को भी यात्रा-साहित्य में समाविष्ट नहीं किया जा सकता। यह सच है कि कतिपय निबन्ध यात्रा-साहित्य ही हैं। यात्रा-साहित्य के विविध रूपों में निबन्ध को भी एक रूप अवश्य माना जायगा, किन्तु यह अवश्य जानना चाहिए कि सभी निबन्ध यात्रा-साहित्य के अन्तर्गत नहीं आयँगे। दूसरी ओर, काका कालेलकर का 'नगाधिराज' है तो यात्रा-साहित्य ही, पर उसे सफल निबन्ध कौन नहीं मानता है। तात्पर्य यह कि यात्रा-साहित्य के लिए निबन्ध भी एक साहित्यरूप है। इसी प्रकार यात्रा-साहित्य पद्य में भी लिखा

जाता है, पर वह कविता नहीं कहा जा सकता। पं० श्रीधर पाठक का 'कश्मीर-सुषमा' यात्रा-साहित्य ही तो है।

हिन्दी के यात्रा-साहित्य के विकास की चर्चा के पूर्व इसके स्वरूप की थोड़ी चर्चा भी आवश्यक है। स्वरूप की दृष्टि से विचारने पर ऐसा लगता है कि यात्रा-साहित्य के उतने ही स्वरूप हो सकते हैं, जितने यात्री। यात्रा-साहित्य के लेखक की प्रकृति पर ही इसका स्वरूप निर्भर करता है। मूलतः इसका स्वरूप गद्यात्मक ही होता है, पर पद्य में भी यात्रा-साहित्य लिखा गया है। कुछ ऐसी पुस्तकें भी उपलब्ध हैं जिनमें गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। पद्य और गद्य-पद्य (चम्पू) की शैली में यात्रा-साहित्य का थोड़ा ही अंश मिलता है। बहुलांश गद्यात्मक ही है। जहाँ तक मेरा विचार है, यात्रा-साहित्य का लेखन गद्य में ही होना चाहिए। विवरण की सुविधा और अभिव्यक्ति की स्पष्टता के लिए गद्य ही उत्तम साधन माना जाय तो अधिक अच्छा होगा। यात्रा-साहित्य के आकार में भी विविधता ही मिलती है। दो-चार पृष्ठों से लेकर चार-पाँच सौ पृष्ठों में भी यात्रा-साहित्य लिखा गया है। इसका आकार कई बातों पर निर्भर करता है। मुख्यतः यात्रा की दूरी, वर्ण्य सामग्री, लेखक की रुचि और वर्णनशैली पर ही यात्रा-साहित्य का आकार निर्भर करता है। यात्रा जितनी लम्बी होगी, वर्ण्य सामग्री उतनी ही अधिक मिलेगी। लेखक की रुचि यदि प्रत्येक वस्तु के सूक्ष्म विश्लेषण में जमेगी तो वर्णन का विस्तार होगा। अस्तु, आकारगत सीमा नहीं बाँधी जा सकती है।

यात्रा-साहित्य के विभिन्न तत्त्वों पर विचार किया जाय तो निम्नांकित तत्त्व सामने आते हैं—(क) यात्रास्थल अथवा यात्रा की आधारभूमि, (ख) देश-काल, (ग) शैली और उद्देश्य। यात्रा-साहित्य के लिए सर्वप्रथम सुनिश्चित आधार की आवश्यकता है। इसके अभाव में यात्रा-साहित्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। सर्वप्रथम लेखक किसी निश्चित स्थान की यात्रा करता है, तभी वह उसका वर्णन करता है। यात्रास्थल कोई भी हो सकता है। चाहे देश हो या विदेश, मैदान हो या पर्वत, आबाद स्थल हो या मरुभूमि—किसी भी क्षेत्र की यात्रा की जा सकती है। दूसरा तत्त्व है देश-काल। देश-काल आज इतना प्रमुख हो गया है कि इसे छोड़कर कोई नहीं चल सकता। फिर यात्रा-साहित्य में देश-काल की यथार्थ स्थिति का चित्रांकन अधिक महत्त्वपूर्ण है। कोई व्यक्ति हिमालय की यात्रा करता है, तो वहाँ की प्रकृतिगत सत्ता के वर्णन के साथ-साथ वातावरण, जलवायु इत्यादि का भी तो उल्लेख करेगा ही। इसी प्रकार इंगलैण्ड की यात्रा करने वाला चीन की यात्रा करने वाले से भिन्न प्रकार का वर्णन देगा ही। अस्तु, देश-काल की महत्ता ही यात्रा-साहित्य में मूल वस्तु ठहरती है जिसका

वर्णन आत्मानुभूति के सहारे किया जाता है।

यात्रा-साहित्य में कई प्रकार की शैलियाँ अपनायी जाती हैं। मूलतः इसका लेखन उत्तमपुरुष में ही हो तो वह अधिक सटीक ठहरता है। यों अन्य-पुरुष की शैली में भी अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ सामने आ चुकी हैं। पुनः दूसरी दृष्टि से यात्रा-साहित्य की शैली पर भी विचार किया जायगा। आज यात्रा का वर्णन कई शैलियों में दीखता है—पत्र-शैली ('मेरी तिब्बत यात्रा'—राहुलजी, 'दुनिया की सैर'—योगेन्द्रनाथ सिन्हा, 'कलकत्ता से पीकिंग'—डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, 'हिमालय की गोद में'—महावीरप्रसाद पोद्दार, 'अजाने देशों में'—विमला कपूर, 'ज्ञान की खोज में'—डॉ० जगदीशशरण शर्मा आदि), डायरी-शैली ('पृथ्वी-प्रदक्षिणा'—शिवप्रसाद गुप्त, 'अमरीका-भ्रमण'—सत्यदेव परिव्राजक, 'सुदूर दक्षिण-पूर्व'—सेठ गोविन्ददास, 'पैरों में पंख बाँधकर'—बेनीपुरी, 'रूस में २५ मास'—राहुलजी, 'नन्दन से लन्दन'—व्रजकिशोर नारायण आदि), वर्णनात्मक शैली ('मेरी कश्मीर-यात्रा'—पं० देवदत्त शास्त्री, 'सागर-प्रवास'—पं० सूर्यनारायण व्यास आदि), पद्य-शैली (श्री रामनरेश त्रिपाठी) आदि। वर्णनात्मक शैली में भी भावुकतापूर्ण, लाक्षणिक, संवेदनात्मक, दार्शनिक, आलंकारिक, चित्रात्मक इत्यादि शैलियाँ यात्रा-साहित्य में प्रयुक्त हुई हैं। संस्मरण-शैली भी इसकी महत्त्वपूर्ण शैली है।

यात्रा-साहित्य का चौथा और अन्तिम तत्त्व है उद्देश्यतत्त्व। यों उद्देश्य भी लेखक पर ही निर्भर करता है; पर इसके सामान्य रूप का निर्धारण कठिन नहीं है। मूलतः इसके तीन उद्देश्य स्वीकार किये जा सकते हैं— मनोरंजन, ज्ञान की वृद्धि और आत्मतुष्टि। आज इनके अलावा एक और उद्देश्य देखने में आ रहा है—अर्थोपार्जन। यदि इसका उद्देश्य बुद्धिवादी और प्रचारात्मक ही मान लिया जाय तो इसमें पूर्वग्रह (Prejudice) का भी अनिवार्य रूप से समावेश होने लग जायगा। वस्तुतः यात्रा-साहित्य में लेखक की तटस्थता (पूर्वग्रह से) आवश्यक है। यों आत्मतुष्टि के लिए लिखा गया साहित्य तो महान् होगा ही, पर ज्ञानवृद्धि भी एक सफल उद्देश्य माना जायगा। हाँ, मात्र ज्ञानवृद्धि ही यदि उद्देश्य-रूप में स्वीकार कर ली जाय तो डर है कि यात्रा-साहित्य ललित साहित्य से हटकर उपयोगी साहित्य ही होकर रह जायगा। अस्तु, एक सम्मिलित उद्देश्य ही आवश्यक है।

हिन्दी के यात्रा-साहित्य के वर्गीकरण का प्रश्न भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसके वर्गीकरण के निमित्त कई प्रकार के आधार बनाये जा सकते हैं। साहित्यिक लालित्य के आधार पर इसे मूलतः तीन वर्गों में रखा जायगा—(क) सूचना और विवरणप्रधान यात्रा-साहित्य ('किन्नरदेश में'—राहुलजी; 'हिमालय-परिचय'—

राहुलजी; 'सुदूर दक्षिण में', 'सुदूर दक्षिण-पूर्व', 'पृथ्वी-परिक्रमा'—सेठ गोविन्ददास; 'आज का जापान'—भदन्त आनन्द कौशल्यायन इत्यादि)। (ख) विशुद्ध साहित्यिक। ऐसी रचनाओं में सूचना का प्रायः अभाव हो जाता है। ऐसी रचनाएँ प्रायः संस्मरणात्मक और रोचक होती हैं। इनमें लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भी पग-पग पर होती चलती है। उदाहरणस्वरूप 'लन्दन से पेरिस की सैर' (वर्णी शुक्ल); 'काश्मीर', 'सागर-प्रवाह' (गोपाल नेवटिया); 'वह दुनिया' (भगवतशरण उपाध्याय); 'पैरों में पंख बाँध कर' (रामवृक्ष बेनीपुरी); 'रजवाड़ा' (देवेश दास); 'नगाधिराज' (काका कालेलकर) इत्यादि देखे जा सकते हैं। (ग) जीवन-दर्शन को संकेत करने वाली रचनाएँ। ऐसी रचनाओं में उल्लास की अपेक्षा लेखक जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति अधिक करता है। इसमें प्रायः भावों और विचारों का सुन्दर सामंजस्य स्थापित हो जाता है। निश्चय ही इस प्रकार के यात्रा-साहित्य में साहित्य का उत्कृष्टतम रूप सामने आता है। ऐसी रचनाओं में 'धरती गाती है' (देवेन्द्र सत्यार्थी); 'यूरोप के झकोरे में' (डॉ० सत्यनारायण); 'तूफानों के बीच' (रांगेय राघव); 'राह बीती', 'लोहे की दीवारों के दोनों ओर' (यशपाल) इत्यादि के नाम लिये जायँगे।

शैली के आधार पर वर्गीकरण करने से यात्रा-साहित्य के निम्नांकित वर्ग हो सकते हैं—इतिवृत्तात्मक शैली, डायरी-शैली, संस्मरणात्मक शैली, पत्र-शैली इत्यादि में लिखे गये यात्रा-साहित्य। इसी प्रकार यात्रा-मार्गों के आधार पर इसके तीन वर्ग होंगे— जल, स्थल और वायु मार्ग का वर्णन करने वाले यात्रा-साहित्य। घटना-वर्णन और प्रभाव की ऋजुता के आधार पर इसे कौतूहलप्रधान, रोमांचकारी, संवेदनात्मक इत्यादि वर्गों में रखा जायगा। देश-विदेश की यात्रा के आधार पर इसे स्वदेश-यात्रा-साहित्य, विदेश-यात्रा-साहित्य आदि वर्गों में रखा जायगा। तात्पर्य यह कि यात्रा-साहित्य का वर्गीकरण अनेक रूपों में सम्भव है।

संस्कृत साहित्य के सर्वेक्षण से यह स्पष्ट है कि वहाँ यात्रा-साहित्य का अभाव है। हिन्दी के यात्रा-साहित्य के लेखन में उससे किसी प्रकार की प्रेरणा नहीं मिली है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उस समय लोग यात्रा ही नहीं करते थे। वहाँ यात्राओं के उल्लेख तो हैं, किन्तु यात्रा-साहित्य का अभाव है। यों, यात्रा-साहित्य के तत्त्व बिखरे रूप में वहाँ भी उपलब्ध हैं। कुछ अर्थों में कालिदास के 'मेघदूत' को यात्रा-साहित्य भी कहा जा सकता है। वहाँ रामगिरि, गम्भीरा नदी, उज्जयिनी इत्यादि के जो वर्णन मिलते हैं, वे यात्रा से ही सम्बद्ध हैं। मेघ के रास्ते में पड़ने वाले विविध स्थलों, नगरों, प्राकृतिक दृश्यों का जो सुन्दर निरूपण उसमें मिलता है, वह यात्रा-साहित्य से ही सम्बद्ध है। संस्कृत की अन्य पुस्तकों में भी यात्रा-साहित्य के विभिन्न वर्ण्य विषय यत्र-तत्र मिलते हैं। इतना होने पर भी मात्र शुद्ध

यात्रा-साहित्य के रूप में संस्कृत की किसी पुस्तक का नाम नहीं लिया जा सकता।

हिन्दी के यात्रा-साहित्य के विकासक्रम को चार भागों में रखा जा सकता है— पूर्व भारतेन्दु-युग (१५४३—१८५० ई०), भारतेन्दु-युग (१८५०—१९०० ई०), द्विवेदी-युग (१९०१—१९२० ई०), उत्तर द्विवेदी-युग (१९२१—१९४७ ई०) और स्वातंत्र्योत्तर-युग (१९४७ ई० से आज तक)। प्राप्त ग्रन्थों के आधार पर कहा जायगा कि पूर्व भारतेन्दु-युग में यात्राएँ तीर्थयात्रा के रूप में ही हुई हैं; यद्यपि अन्य विषयों से भी सम्बद्ध यात्रा की पुस्तकें मिलती हैं। इस युग का यात्रा-साहित्य मूलतः चम्पू कहा जायगा। इसकी भाषा मूलतः ब्रजी रही है। इस युग की प्रमुख रचनाएँ हैं— 'बनयात्रा' (विट्ठलजी १६०० वि०), 'बनयात्रा' (जीमनजी की माँ १६०९ वि०), 'सेठ पद्मसिंह की यात्रा' (१७०५ वि०), 'बात दूर देश की' (वि० १८८६), 'बनयात्रा-परिक्रमा' (रामसहायदासजी—१८९१ वि०) और 'बद्रीयात्रा-कथा' (सुदानि—बख्तावरसिंह की पत्नी—१८८८ वि०)। इन रचनाओं में मूलतः धार्मिक यात्राओं के ही वर्णन मिलते हैं। हर्ष की बात तो यह है कि उपर्युक्त रचनाओं में दो रचनाएँ महिलाओं द्वारा प्रणीत हैं। उपर्युक्त सभी रचनाओं में सर्वाधिक महत्त्व की पुस्तक है 'बात दूर देश की'। पुस्तक की फलश्रुति के आधार पर इसका रचनाकाल वि० १८८६ है। इसके लेखक का उल्लेख नहीं मिलता है। इसकी हस्तलिखित प्रति डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के पास सुरक्षित है। इसमें जैन-तीर्थस्थान गोमठ का वर्णन है। इस यात्रा-वर्णन में वर्णन की मनोरंजकता के साथ-साथ साहित्यिक लालित्य भी है। कहीं-कहीं रोमांचक वर्णन भी किया गया है। इस यात्रा-विवरण का एक विशेष महत्त्व यह भी है कि इसकी भाषा खड़ीबोली ही है। भाषा का उदाहरण इस प्रकार देखा जा सकता है— "उहा के लोग कहने लगे आजुताई कोई हिंदसातान तें आया था नहि तुमको जैन की बड़ि जुरत है। बड़ि अचम्भा मानने लगे यह जगह। विदेह छत्र माफिक है। संवत् १८२० मौ जात्रा को गए थे मंजिल सराय अगरवाले पानिपंथिया के साथ सीमिति चैत्र सुदी १० संवत् १८२२ मौ जात्रा करके फिरि आए। इस समाचार जानियौ इहि चिठी ईसतर लिखि थी तींस की नकल लिखि।"

समग्ररूप से कहा जायगा कि विवेच्य काल का यात्रा-साहित्य साहित्यिक दृष्टि से शून्य ही है। यदि 'बात दूर देश की' को हटा दिया जाय तो शेष ग्रन्थ मात्र धार्मिक यात्रा का ही वर्णन करने वाले हैं। यह ग्रन्थ भी तो है वैसा ही, पर इसकी साहित्यिक महत्ता भी कम नहीं है।

गद्य-साहित्य के अन्य रूपों की तरह ही यात्रा-साहित्य का प्रणयन भारतेन्दु-युग में ही प्रारम्भ होता है। इस समय तक यात्रा के लिए विशेष प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हो चुकी थीं। देश में रेलवे के प्रचार से यात्रा तो सुलभ हुई ही थी,

मुद्रण-कला के प्रचार ने यात्रा-साहित्य को मुद्रण की सुविधा देकर और भी प्रोत्साहन दिया था। स्वयं भारतेन्दुजी ने भी कई यात्राएँ की थीं। उन्होंने 'सरयू पार की यात्रा', 'मेहदावल की यात्रा', 'लखनऊ की यात्रा', 'हरिद्वार की यात्रा' और 'वैद्यनाथ की यात्रा' शीर्षक लेख 'कविवचनसुधा' में प्रकाशित किये थे। भारतेन्दु के अतिरिक्त पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी-प्रदीप' में 'कातिकी नहान' और 'गया-यात्रा' तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र ने 'विलायत-यात्रा' जैसे निबन्ध लिखकर यात्रा-साहित्य को प्रोत्साहन दिया था।

हिन्दी के यात्रा-साहित्य में 'लन्दन-यात्रा' (श्रीमती हरदेवी) नामक पुस्तक इसी समय लिखी गयी है। इसका प्रकाशन सन् १८८३ ई० में हुआ है। इस युग में यात्रा-साहित्य से सम्बद्ध पुस्तकों में उल्लेखनीय हैं— 'लन्दन का यात्री' (भगवानदास वर्मा, १८८४), 'मेरी पूर्वी दिग्यात्रा' (पं० दामोदर शास्त्री, १८८५), 'मेरी दक्षिण दिग्यात्रा' (पं० दामोदर शास्त्री, १८८६), 'व्रजविनोद' (तोताराम वर्मा), 'केदारनाथ-यात्रा' (लाला कल्याणचन्द्र), 'विलायत की यात्रा' (अज्ञात), 'रामेश्वर-यात्रा' (देवीप्रसाद खत्री) और 'व्रजयात्रा' (दिग् मिश्र)। इस समय के ग्रन्थों में स्वदेश और विदेश दोनों प्रकार की यात्राओं का उल्लेख मिलता है। साथ ही, इनका उद्देश्य तीर्थयात्रा, नगरदर्शन आदि ही है। निश्चय ही इस युग के यात्रा-साहित्य के लेखकों में पंडित दामोदर शास्त्री और देवीप्रसाद खत्री का महत्त्व अधिक है। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसने यात्रा-साहित्य को एक नयी दिशा दी है।

द्विवेदी-युग में हिन्दी का यात्रा-साहित्य दो रूपों में उपलब्ध होता है। इसका एक रूप तो निबन्ध के रूप में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से सामने आता है और दूसरे रूप में यात्रा-साहित्य पुस्तकाकार में भी सामने आता है। इन दोनों रूपों का प्रचलन भारतेन्दु-युग में ही हो चला था। पुस्तकाकार में इस युग में ये रचनाएँ सामने आती हैं— 'दुनिया की सैर' (१९०१), 'बदरिकाश्रम-यात्रा' (१९०२), 'हमारी एडवर्ड-तिलक विलायत-यात्रा' (१९०३), 'भारतभ्रमण—५ भाग' (१९०३), 'पंजाब-यात्रा' (१९०७), 'अमेरिका-दिग्दर्शन' (१९११), 'द्वारिकानाथ-यात्रा' (१९१२), 'पृथिवी-प्रदक्षिणा' (१९१४), 'मेरी कैलाश-यात्रा' (१९१५), 'अमेरिका-भ्रमण' (१९१६) और 'लंका-यात्रा का विवरण'। इस युग के प्रमुख लेखक हैं— स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, बाबू देवीप्रसाद खत्री, ठाकुर गदाधर सिंह, साधुचरणप्रसाद और गहमरीजी।

पत्र-पत्रिकाओं में यात्रा-साहित्य के प्रकाशन की दृष्टि से 'चित्रमय जगत्', 'इन्दु', 'मर्यादा' और 'सरस्वती' के नाम आते हैं। इस युग का यात्रा-साहित्य भी धार्मिक यात्राओं को ही अपने पेटे में अधिक समेटे है। निश्चय ही इस युग के

यात्रा-साहित्य ने अग्रिम युग के यात्रा-साहित्य के लिए पृष्ठभूमि का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

उत्तर द्विवेदी-युग में यात्रा के लिए वायुमार्ग भी चालू हो गया था। जलमार्ग के तो लोग अभ्यस्त हो ही चुके थे। अस्तु, इस समय यात्रा के साधनों का विकास होने से यात्रा को और भी अधिक बल मिला है। विलायत से वायुयान द्वारा सर्व-प्रथम श्री धर्मचन्द सरावगी ही लौटे थे, जिन्होंने अपना यात्रा-विवरण, 'यूरोप में सात मास' के नाम से, सन् १९३६ ई० में प्रकाशित कराया था। इस युग में 'हमारी विलायत-यात्रा', 'लन्दन-पेरिस की सैर', 'मेरी जर्मन-यात्रा', 'रूस की सैर' (१९२६); 'श्यामदेश-यात्रा' (१९२७); 'अफ्रीका-यात्रा' (१९२८); 'जापान-यात्रा' (१९३१); 'विदेश की बात', 'मेरी यूरोप-यात्रा', 'यूरोप-यात्रा में छः मास' (१९३२); 'तिब्बत में सवा वरस' (१९३३); 'मेरी दक्षिण भारत-यात्रा' (१९३४); 'दक्षिण भारत की यात्रा', 'मेरी यूरोप-यात्रा' (१९३५); 'यूरोप में सात मास', 'यात्रीमित्र', 'उत्तराखंड के पथ पर' (१९३६); 'यूरोप की सुखद स्मृतियाँ', 'स्वतंत्रता की खोज में', 'मेरी तिब्बत-यात्रा', 'कैलाश-पथ पर' (१९३७); 'यूरोप के झकोरे में' (१९३८); 'मेरी लद्दाख-यात्रा', 'रोमांचक रूस में' (१९३९); 'युद्ध-यात्रा', 'कैलाश-दर्शन', 'इराक की यात्रा', 'काश्मीर', 'स्वदेश-विदेश-यात्रा' (१९४०); 'इंगलैंड-यात्रा', 'सागर-प्रवास', 'दुनिया की सैर', 'मेरी काश्मीर-यात्रा' (१९४१); 'यूरोप के पत्र' (१९४२); 'कैलाश-मानसरोवर', 'विकट यात्रा', 'संयुक्त प्रान्त की पहाड़ी यात्राएँ' (१९४३); 'काश्मीर और सीमाप्रान्त' (१९४४); 'मेरी जीवन-यात्रा', 'भारत के कुछ दर्शनीय स्थान' (१९४६); 'विश्वयात्री' (१९४७) आदि प्रमुख रचनाएँ यात्रा-साहित्य के रूप में प्रकाशित हुईं।

इस युग में यात्रा-साहित्य के लेखन में त्वरा मिलती है। लगभग पचीसों लेखक इस युग में यात्रा का विवरण कर चलते हैं। इनमें से महत्त्वपूर्ण यात्रा-साहित्य के लेखकों में स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, राहुल सांकृत्यायन, डॉ० सत्यनारायण, पं० रामनारायण मिश्र, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, शिवनन्दन सहाय आदि हैं। ये लोग साहित्य के अन्य रूपों के लेखन में भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इस समय की यात्राओं के उद्देश्य में भी पर्याप्त वृद्धि दीखती है। पुरातन उद्देश्य तो थे ही, अब लोग शिक्षा, व्यवसाय, देश-दर्शन आदि के लिए भी एक स्थल से दूसरे स्थल पर जा रहे थे; राजनीतिक कार्यों से भी एक स्थल से दूसरे स्थल पर जाना हो रहा था। अस्तु, यात्रा में वृद्धि के साथ ही यात्रा-साहित्य में भी वृद्धि हो चलती है।

यात्रा-साहित्य में वृद्धि के साथ ही लेखनगत शैली में पूर्णतः वैविध्य आने लगा था। परिपक्व शैली में पूर्ण साहित्यिक ढंग की पुस्तकें इसी युग में सामने आ सकी हैं। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने यात्रा-साहित्य का लेखन द्विवेदी-युग में

ही प्रारम्भ किया था। इनकी अधिक रचनाएँ इसी युग की हैं, पर इनकी लेखनी स्वातंत्र्योत्तर युग में भी चलती रही है। आपने यात्रा-साहित्य से सम्बद्ध कुल ग्यारह पुस्तकें लिखी हैं। इनकी पहली रचना है 'अमरीका-दिग्दर्शन'। इनकी 'मेरी कैलाश-यात्रा' के सम्बन्ध में दैनिक पत्र 'हिन्दू' ने लिखा था—"The small book is a diary of the authors arduous pilgrimage to the Holly Kailash. Swami Satya Deva wields a facile pen and sometimes he transports the reader and plants him right in the centre of the grand mountain scenery on the Himalays by the vividness of his descriptions. He narrates many an interesting anecdote and adventure on his journey, which give one a clear idea of the thrills as well as the difficulties of mountaineering on the Himalayas." इस कथन से स्वामीजी की लेखन-कला के सभी गुण स्पष्ट हो जाते हैं। इनके यात्रा-विवरण का एक अंश देखा जा सकता है—"पहाड़ी चट्टानों की तंग घाटी में प्रवेश कर राईन नदी एक लज्जावती रमणी की तरह बड़े संकोच से आगे बढ़ती है।"

यात्रा-साहित्य के दूसरे प्रमुख लेखक हैं श्री राहुलजी। यात्रा-साहित्य से सम्बद्ध इनकी चौदह पुस्तकें मिलती हैं। सच पूछा जाय तो राहुलजी ही एकमात्र ऐसे लेखक हैं, जिन्हें घुमक्कड़ कहा जायगा। इनकी लेखनी ने अनेक प्रकार की पुस्तकों की रचना कर हिन्दी के रिक्त भाण्डार को पूर्ण बनाने की कोशिश की है। आपके यात्रा-साहित्य में सबसे बड़ी वस्तु है विश्वसनीयता। इन्होंने प्रकृतिगत अंकन के साथ ही मार्ग, विश्रामस्थान, भूभाग के इतिहास आदि पर भी महत्त्वपूर्ण रूप से विचार किया है।

स्वातंत्र्योत्तर-युग में हिन्दी यात्रा-साहित्य का विकास चरम सीमा पर आता है। इस युग को हम इसका स्वर्णकाल भी कह सकते हैं। इस युग में 'किन्नरदेश में' (१९४८); 'राहुल-यात्रावली' (१९४९); 'दार्जिलिंग-परिचय', 'प्रमुख भारतीय तीर्थस्थान', 'काश्मीर की सैर' (१९५०); 'दिल्ली से मास्को' (१९५१); 'देशविदेश', 'सत्यलोक', 'पैरों में पंख बाँधकर', 'वो दुनिया', 'यात्रा के पन्ने', 'माओ के देश में', 'रूस में २५ मास' (१९५२); 'हिमालय-परिचय', 'लाल चीन', 'लोहे की दीवार के दोनों ओर', 'अरे यायावर याद रहेगा', 'आँखों देखा रूस', 'तिब्बत में २३ दिन', 'खोज की पगडंडियाँ', 'आखिरी चट्टान तक', 'शिवालिक की घाटियों में' (१९५३); 'उड़ते चलो, उड़ते चलो', 'हिमालय के कुछ स्थान', 'पृथिवी-परिक्रमा', 'बदलते दृश्य', 'हिमालय की गोद में' (१९५४); 'कलकत्ता से पेकिंग',

'जय अमरनाथ', 'लद्दाख-यात्रा की डायरी', 'मेरी अफ्रीका-यात्रा', 'अनजाने देश में' (१९५५); 'राह बीती', 'भारत में बुलगानिन' (१९५६); 'ज्ञान की खोज में', 'देश-विदेश', 'नन्दन से लन्दन', 'हॉलैंड में २५ दिन' (१९५७); 'बदलते रूस में', 'जापान की सैर', 'उत्तराखण्ड के पथ पर', 'आँखों देखा यूरोप', 'पार उतरि कहँ जइहौं' (१९५८); 'अनेक देश : एक इन्सान', 'दो दुनिया', 'स्पुतनिकों के देश की यात्रा' (१९५९) आदि प्रसिद्ध रचनाएँ सामने आयी हैं।

इस युग में राहुलजी तो लिख ही रहे थे। इनके अलावे प्रमुख लेखकों में श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, अज्ञेय, मोहन राकेश, यशपाल, सत्यवती मल्लिक, दिनकर, सेठ गोविन्ददास, रामकृष्ण बजाज, खाडिलकर, भुवनेश्वरी प्रसाद भुवन, प्रभाकर द्विवेदी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस काल के यात्रा-साहित्य में बौद्धिक स्वर की तीव्रता दीखती है। इसमें जीवन का वैज्ञानिक और बौद्धिक विश्लेषण अधिक हो सका है। यात्राओं का स्वरूप भी प्रायः सर्वाधिक विस्तृत है। शिकार-सम्बन्धी यात्राओं के लेखक हिन्दी में एकमात्र श्री श्रीराम शर्मा ही हैं। इनकी लेखनी ने रोमांचक घटनाओं का बड़ा ही सुन्दर चित्र दिया है। अधिकांश लेखकों की दृष्टि मनोरंजनमूलक ही दीखती है। हाँ, जिन लेखकों ने व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के साथ दार्शनिकता और भावों का पूर्ण समावेश किया है, निश्चय ही उनकी रचनाएँ बेजोड़ बन पड़ी हैं।

हिन्दी का यात्रा-साहित्य सर्वथा नया है। फिर भी इस बात से काफी सन्तोष होता है कि जिसने कुछ ही दिनों में स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, राहुल सांकृत्यायन, अज्ञेय, यशपाल, बेनीपुरी जैसे लेखकों का सहयोग पाया है, उसका भविष्य उज्ज्वल ही है। आवश्यकता है पूर्वग्रह से बचकर चलते हुए सदा न्यायपूर्ण चित्रण की।

३३

हिन्दी पत्रकारिता

[युग की आवश्यकता—योग्यता—हिन्दी पत्रकारिता की युगस्थिति—प्रारम्भ—भारतेन्दुपूर्व—भारतेन्दु-युग : उत्साह और दुर्दशा—द्विवेदी-युग: विस्तार और प्रकार—उत्तर द्विवेदी-युग—आधुनिक परिप्रेक्ष्य]

आज के युग में 'काम कम और प्रचार अधिक' पर लोग विश्वास कर रहे हैं। तभी तो, 'प्रोपेगैण्डा' प्रभु का प्रताप सर्वत्र दीखता है। लोग 'पब्लिक ओपिनियन' को 'मोल्ड' करने के लिए 'प्रेस', 'पेपर' और 'प्लैटफॉर्म' की बात करते हैं। निश्चय ही पत्रकारिता आज प्रमुख हो गयी है। पत्रकारिता चाहे हिन्दी की हो या अँगरेजी की, प्रत्येक के लिए आज का संसार खुला पड़ा है। पत्र-पत्रिका और समाचारपत्र आदि के प्रबन्ध, प्रकाशन आदि की कला का सामूहिक नाम पत्र-कारिता है। पत्र-पत्रिका और समाचारपत्र आदि के लिए ही लेखनकार्य कर जीविकोपार्जन करने वाले प्रायः पत्रकार के नाम से जाने जाते हैं। पत्रकारों में सम्पादक का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है। यद्यपि सम्पादक पत्रों के लिए स्वयं नहीं लिखता, पर उनमें प्रकाशित समाचारों का, विषयों का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उसी पर होता है। इसी से सम्पादकों का स्थान पत्रकारों में उत्तम समझा जाता है। उपसम्पादक, ईद्य संशोधक आदि भी पत्रकार के ही अन्तर्गत आयँगे।

पत्रकारिता का सम्बन्ध आधुनिक युग से है। हिन्दी पत्रकारिता का जन्म हिन्दी गद्य के विकास के साथ ही लगभग होता है। प्राचीन समय में संवादवहन का कार्य संवादवाहकों पर होता था। मुस्लिम शासन में ऐसे लोग हरकारा के नाम से जाने जाते थे। आज संवादवहन का अधिकांश कार्य समाचार-पत्रों द्वारा ही होता है। हिन्दी पत्रकारिता पर विचार करने के पूर्व सामान्य रूप से पत्रकारिता पर कुछ विचार कर लेना आवश्यक है।

आज सर्वत्र प्रजातंत्रीय शासन पर बल दिया जाता है। इसमें एक दलविशेष का ही शासन होता है। इस दलीय शासन में पत्रकारिता बड़े महत्त्व की वस्तु है। एकतंत्र शासनव्यवस्था में विचारों की स्वतंत्रता न थी, पर आज प्रजातंत्रीय शासनपद्धति में हमारे विचार स्वतंत्र हैं। स्वतंत्र विचारों से आज हम जनमत तैयार करने में पूर्णतः सफल होते हैं। विचारस्वातंत्र्य का प्रकाशन पत्र-पत्रिकाओं और समाचारपत्रों के माध्यम से ही होता है। ऐसी स्थिति में

पत्रकारिता विशेष महत्त्वपूर्ण हो उठी है। भारत में आधी से अधिक जनता की भाषा—मातृभाषा—हिन्दी ही है। फिर, आज यह राज्यभाषा के रूप में भी है। अस्तु, भारत में हिन्दी पत्रकारिता के द्वारा जनमत तैयार करने में सुविधा है। एक ओर इससे सरकार की आलोचना कर हम उसके आलस्य और कमजोरियों को दूर करते हैं, तो दूसरी ओर सरकारी नीति को भी देश-विदेश की जनता तक पहुँचाते हैं।

पत्रकारिता में विचारों की अभिव्यक्ति दो रूपों में सम्भव है—निष्पक्ष और पक्षपातपूर्ण। इन दोनों प्रकार के विचारों से ही परिणाम में भी भिन्नता की सम्भावना है। निष्पक्ष पत्रकारिता से हमारा राष्ट्र सबल होगा, सत्य और आदर की प्रतिष्ठा होगी; किन्तु पक्षपातपूर्ण पत्रकारिता से चाटुकारिता तो फैलेगी ही, दलगत असन्तोष, विभेद, अशिष्टता, अनौचित्य आदि को प्रश्रय मिलने का भय भी सदा बना रहेगा। हिन्दी में ऐसे पत्रकारों की कमी नहीं है जो कि आज गुटबन्दियों और दलविशेष की नीति से प्रभावित हों।

किसी भी भाषा की पत्रकारिता का स्वस्थ विकास उस समय तक नहीं होगा, जब तक पत्रकार बहुमुखी प्रतिभा वाले और विविध विषयों के ज्ञान से सम्पन्न न हों। पत्रकारों से ऐसी अपेक्षा की जाती है कि उन्हें इतिहास, भूगोल, अर्थनीति, राजनीति और विदेशनीति का पूरा ज्ञान हो। पत्रकारिता के लिए प्रत्युत्पन्न-मतित्व भी आवश्यक है। कबीर के शब्दों में कहा जायगा कि पत्रकारों को 'सूप सुभाइ' (सूप के स्वभाव वाला) होना चाहिए। तथ्यग्रहण की शक्ति, सन्तुलन बनाये रखने की क्षमता, उचित निर्णय देने का ज्ञान, प्रचलित विचार-धाराओं का सम्यक् ज्ञान पत्रकारों के लिए आवश्यक है। हिन्दी के आधुनिक पत्रकारों में कतिपय पत्रकार इन गुणों से पूर्ण सम्पन्न हैं, किन्तु कतिपय पत्रकारों में इनका सर्वथा अभाव है। पं० प्रतापनारायण, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य गुलाब राय, पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर आदि ऐसे पत्रकार थे जिन्होंने अपनी सम्पन्न प्रतिभा से हिन्दी पत्रकारिता को आगे बढ़ाने की सतत चेष्टा की है। बिहार के हिन्दी पत्रकारों में श्री शिवपूजनसहाय का नाम सदा स्मरणीय रहेगा जिन्होंने अपनी प्रतिभा से न जाने कितने साहित्यकार और पत्रकार उत्पन्न किये और गढ़े।

यह सत्य है कि पत्रकारिता के विषयों का स्थायी महत्त्व नहीं होता है; पर समस्त पत्र-पत्रिकाओं के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं कही जायगी। समाचारपत्रों के विषय बिल्कुल अस्थायी होते हैं अवश्य; पर साहित्यिक और वैज्ञानिक पत्रि-काओं के सम्बन्ध में यह बात पूर्णतः सच नहीं कही जा सकती। हिन्दी पत्रकारिता में अभी श्रमसाध्यता और उत्तरदायित्व की अधिक आवश्यकता है। आज हिन्दी

राजभाषा के रूप में स्वीकार तो की जा चुकी है, पर अभी भी कतिपय क्षेत्रों में हिन्दी-विरोधी नारे लगाये जाते हैं और हिन्दी-विरोधी दिवस के आयोजन हो रहे हैं। ऐसी अवस्था में हमें काफी संयम और विवेक से काम लेना है। पत्रकारिता में थोड़ी भी गड़बड़ी इस विरोध की आग को पूर्णतः भड़का सकती है। दूसरी बात यह है कि हिन्दी पत्रों के पाठकों की अभी भी बहुत कमी है। इसके दो कारण हैं। एक तो पत्र-पत्रिकाओं का स्तर ही इतना गिरा है कि सुरुचिपूर्ण पाठक इनमें रुचि ही नहीं लेते हैं। दूसरी बात यह कि आज के हिन्दी पत्रकार उत्कृष्ट प्रतिभा और योग्यता से सम्पन्न व्यक्ति नहीं हैं; जिस कारण पत्रों में अच्छे विषय-लेखों का अभाव रहता है। साथ ही पाठकों की मनोवृत्ति भी अभी पत्र-पत्रिकाओं के नाम पर पैसे खर्च करने की नहीं है। हिन्दी पत्रिकाओं और समाचारपत्रों का प्रकाशन अधिकतर उद्योगपतियों के हाथ में है, जिससे इनमें एकांगी और पक्षपात-पूर्ण बातों का अधिक समावेश होने लग गया है। इससे भी हिन्दी पत्रकारिता कम आघात नहीं पा रही है। हिन्दी पत्रकारिता पर विचार करते समय इसके उद्भव और विकास की चर्चा भी आवश्यक है।

हिन्दी पत्रकारिता का प्रारम्भ सन् १८२६ ई० में 'उदन्त मार्त्तण्ड' के प्रकाशन से होता है। भारतीय पत्रकारिता का इतिहास इससे भी पुराना है। भारत में पत्रकारिता को जन्म देने का श्रेय विदेशियों को मिलना चाहिए, जिन्होंने भारत में मुद्रण-यंत्र का प्रचार किया। 'उदन्त मार्त्तण्ड' का प्रकाशन ३० मई, १८२६ ई० से प्रारम्भ हुआ था और धनाभाव के कारण ४ दिसम्बर, १८२७ ई० को इसका प्रकाशन बन्द हो गया। इसके सम्पादक थे श्री युगलकिशोर शुक्ल। पुनः नये सिरे से हिन्दी पत्रकारिता श्री राजा राममोहन राय के तत्त्वावधान में पनपती है। इनके तत्त्वावधान एवं श्री नीलरतन हालदार के सम्पादकत्व में बँगला, हिन्दी और उर्दू—तीन भाषाओं की सम्मिलित पत्रिका 'बंगदूत' प्रकाशित हुई। यह मात्र ८२ दिनों तक चलकर समाप्त हो गयी। इसके पश्चात् 'बनारस अखबार' (१८४५ ई०) सामने आया। यह राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की 'आमफहम' भाषा का आदर्श लेकर उपस्थित हुआ। हिन्दी और उर्दू की बेमेल खिचड़ी इसके माध्यम से खूब पकायी गयी। इसके पश्चात् मौलवी नासिरुद्दीन के सम्पादकत्व में सामने आया 'मार्त्तण्ड' (१८४६ ई०)। पुनः इन्दौर से 'मालवा अखबार' (१८४९ ई०), कलकत्ता से श्री युगलकिशोर शुक्ल का 'साम्यदण्ड मार्त्तण्ड' (१८५२ ई०), सदासुखलाल का 'बुद्धिप्रकाश' (१८५२ ई०), ग्वालियर से लक्ष्मण-प्रसाद के सम्पादकत्व में 'ग्वालियर गजट', कलकत्ता से श्यामसुन्दर सेन के सम्पादकत्व में हिन्दी का पहला दैनिक पत्र 'समाचारसुधावर्षण' (१८५४ ई०) इत्यादि सामने आये। 'समाचारसुधावर्षण' चौदह वर्षों तक चलता रहा। सन् १८६१ ई० का

वर्ष हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस वर्ष हिन्दी की छह पत्रिकाएँ निकलीं। राजा लक्ष्मणसिंह का 'प्रजाहितैषी' इसी वर्ष निकला। श्री गुलाबशंकर के सम्पादकत्व में 'तत्त्वबोधिनी' का प्रकाशन सन् १८६५ ई० में प्रारम्भ हुआ।

उपर्युक्त पत्र-पत्रिकाएँ भारतेन्दु-युग के पूर्व की ही कही जायँगी। इन पत्र-पत्रिकाओं के प्रारम्भ, विकास आदि को ध्यान में रखते हुए यही कहा जायगा कि ये पत्रिकाएँ जितनी तेजी से जनमती थीं, उतनी ही तेजी से मर भी जाती थीं। इसके कई कारण थे। उस समय हिन्दीभाषी क्षेत्र में भी हिन्दी तिरस्कृत और उपेक्षित भाषा समझी जाती थी। हिन्दी और उर्दू का संघर्ष हिन्दी को पनपने नहीं दे रहा था। उर्दू को राजकीय संरक्षण मिल चुका था। अस्तु, लोग 'नागराक्षर' न सीखकर फारसी अक्षर ही सीखते थे। सरकार की हिन्दी-विरोधी नीति के कारण इन पत्रों की बिक्री भी नहीं हो पाती थी। साथ ही, हिन्दी पत्रकारों की भाषाशैली में किसी प्रकार की एकरूपता का निर्वाह नहीं हो पाता था। सबसे बड़ी कठिनाई थी, भाषा की अस्थिरता। प्रकाशन की अव्यवस्था भी एक बड़ी बाधा थी। वस्तुतः हिन्दी पत्रकारिता का यह प्रयोगकाल था। इसमें प्रयोग-पर-प्रयोग होते जा रहे थे; भूल और सुधार की नीति काम में लायी जा रही थी। सुविधानुसार पत्रकारिता के इस युग को भारतेन्दुपूर्व-युग भी कह सकते हैं। यद्यपि इस युग की हिन्दी पत्रकारिता में अनेक प्रकार की असंगतियाँ मिलती हैं, फिर भी इनका ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं है। निश्चय ही इस युग के दशाधिक प्रयोगों ने हिन्दी पत्रकारिता के अगले युग के लिए एक सुनिश्चित पथ प्रशस्त किया है।

हिन्दी पत्रकारिता का सफल रूपप्रयोग, अन्य विधाओं की तरह, भारतेन्दु-युग में ही होता है। पत्रिकाओं का बहुमुखी प्रयोग इस युग में किया गया। इनका थोड़ा स्थायी रूप भी इसी युग में दीखता है। भारतेन्दु के जीवन-काल में पच्चीसों पत्रिकाएँ निकलीं, जिनमें प्रायः सभी रुकती-गिरती और मरती रहीं। स्वयं भारतेन्दु ने ही 'कविवचनसुधा' नाम की पत्रिका का प्रकाशन सन् १८६७ ई० में प्रारम्भ किया। इसमें केवल कविताएँ ही प्रकाशित होती थीं। बाद में इसे साप्ताहिक पत्रिका का रूप दे दिया गया। इसी समय 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (१८७३), 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (१८७४), 'स्त्रीजन की प्यारी' (१८७४), 'सदादर्श' (१८७४) आदि का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इन पत्रों में सरकार के विरुद्ध कविताएँ, निबन्ध आदि प्रकाशित होते थे। इससे इन्हें सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। भारतेन्दु-युग में प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं में—'अलमोड़ा अखबार', हिन्दी-दीप्ति-प्रकाश', 'बिहारबन्धु', 'काशी पत्रिका', 'भारतबन्धु', 'भारतमित्र', 'मित्रविलास', 'हिन्दी-प्रदीप', 'आर्यदर्पण', 'सारसुधानिधि', 'उचित वक्ता', 'सज्जन-कीर्ति-सुधाकर', 'भारत-सुदशाप्रवर्त्तक', 'देशहितैषी', 'दिनकरप्रकाश', 'धर्मदिवाकर', 'प्रयाग समाचार',

'ब्राह्मण', 'शुभचिन्तक', 'सदाचारमार्त्तण्ड', 'हिन्दोस्थान', 'पीयूषप्रवाह', 'भारत-जीवन', 'भारतेन्दु', 'कविकुलकंज-दिवाकर', 'आनन्दकादम्बिनी', 'हिन्दुस्तान' आदि के नाम आते हैं। इन सबमें 'बिहारबन्धु', 'भारतजीवन', 'उचित वक्ता', 'ब्राह्मण', 'हिन्दी-प्रदीप', 'आर्यदर्पण', 'मित्र-विलास', 'आनन्दकादम्बिनी' आदि ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार और नये पाठक उत्पन्न करने में काफी योगदान किया है। 'हिन्दोस्थान' ही एकमात्र ऐसा पत्र था जो भारत के बाहर (इंगलैंड) में हिन्दी का प्रचार कर रहा था। इनमें 'मित्र-विलास' ने पंजाब में हिन्दी के प्रचार-कार्य में पूरा योग दिया था। साहित्यिक पत्रों में 'ब्राह्मण', 'हिन्दी-प्रदीप' और 'आनन्दकादम्बिनी' श्रेष्ठ थे।

इस युग में भी हिन्दी पत्रों के पाठक कम थे। अक्सर धनाभाव के कारण पत्र बन्द हो जाते थे। ये लोग चन्दा माँगते-माँगते थककर इस प्रकार याचना भी करते थे—

'आठ मास बीते, जजमान। अब तो करो दच्छिना दान।।' —'ब्राह्मण'

"सत्यसहायक महोदय! हमें निश्चय है कि आप ब्राह्मण को केवल एक रुपया देना नहीं चाहते थे, द्विगुणित दक्षिणा देने की अब तक मार्ग-प्रतीक्षा करते हो; पर अब तो इस वर्ष केवल दो ही मास रह गये हैं। दीजिए, २ रुपया ही सही। तगादा नहीं है, केवल याद दिलाते हैं। उतावली समझिए तो क्षमा कीजिए।"—पं० प्रतापनारायण मिश्र, 'ब्राह्मण', १५ दिसम्बर, १८८४।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि चन्दा माँगने में किन-किन कठिनाइयों को सहना पड़ता था। इसके बाद भी पत्रिकाओं के चन्दे वसूल नहीं होते थे और लाचार पत्रिकाएँ बन्द हो जाती थीं। यह तो हुई चन्दे की बात। अब जरा तत्कालीन हिन्दी पाठकों पर भी विचार कीजिए। इस सम्बन्ध में लाला श्रीनिवास-दास का कथन पठनीय है—"हिन्दुस्तान की उन्नति नहीं होती, विद्याभ्यास के कोई गुण नहीं जानता, अखबारों की कदर कोई नहीं करता, अखबार जारी करने-वालों को नफे के बदले नुक्सान उठाना पड़ता है। हमलोग अपना दिमाग खिपाकर देश की उन्नति के लिए आर्टिकिल लिखते हैं, परन्तु अपने देश के लोग उसकी तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखते, इस्सै जी टूटता है।" इससे स्पष्ट है कि उस समय हिन्दी पत्रिकाओं को पाठक भी नहीं मिल रहे थे। जो मिल भी रहे थे, वे मुफ्त में ही काम चलाना चाहते थे। आज के हिन्दी पाठकों पर विचार करने से हमें इस कथन में थोड़ा-सा ही अन्तर दीखता है। हिन्दी में आज भी ऐसे पाठकों की कमी नहीं है जो पत्रकारिता को पीछे धक्का देने में कोई कसर बाकी रखते हों। पर धीरे-धीरे बात सुधरती अवश्य जा रही है।

द्विवेदी-युग में पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बढ़ जाती है। सन् १९०२ ई० में

'सरस्वती' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसके प्रथम सम्पादक थे 'रत्नाकर' और बाबू श्यामसुन्दर दास। बाद में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस पत्रिका का सम्पादनभार स्वयं सँभाला और उसी दिन से हिन्दी पत्रकारिता एक नया मोड़ लेती है। लेखकों का भी पहले अभाव ही था। लेखन-कार्य भी पहले आचार्य द्विवेदी ही करते थे। पीछे चलकर उन्होंने अनेकों लेखक स्वयं उत्पन्न भी किये। धीरे-धीरे मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला, गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे पत्रकार सामने आये। इस युग की पत्रकारिता ने पिछले युग की विविधता को पूर्णतः आत्मसात् किया और हिन्दी पत्रकारिता अपने स्वस्थ रूप में सामने आयी। इस समय तक हिन्दी पाठकों की भी वृद्धि हो चुकी थी, हिन्दी के प्रति जनता में रुचि जग चुकी थी। समस्त राष्ट्रीय चेतना को इस युग की पत्रकारिता ने मानो आत्मसात् कर नये रूप में पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया।

इस युग में 'अभ्युदय' (१९०७), 'कर्मयोगी' (१९०७), 'इन्दु' (१९०७), 'प्रताप' (१९१३) तथा 'प्रताप' से ही प्रेरणा पाकर 'स्वराज्य', 'कर्मवीर', 'नवशक्ति', 'सैनिक' इत्यादि पत्रों के प्रकाशन प्रारम्भ हुए। 'विश्वमित्र' (१९१०), 'सम्मेलन पत्रिका' (१९११), 'कलकत्ता समाचार' (१९१४) के प्रकाशन भी इसी युग में प्रारम्भ हुए। इस समय 'मतवाला' ने कई साहित्यकारों को उत्पन्न करने का कार्य किया। ये सभी पत्र-पत्रिकाएँ राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत थीं। इसी समय कतिपय पुस्तकाकार पत्रिकाओं का भी प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इनमें मूलतः घटनाप्रधान, कौतूहलवर्द्धक और तिलस्मी बातें भरी रहती थीं। इनमें 'उपन्यास', 'हिन्दी नाविल', 'उपन्यास-लहरी', 'जासूस' इत्यादि प्रमुख हैं। वस्तुतः साहित्यिक चेतना वाले पत्र इस युग में दो ही प्रमुख थे—'सरस्वती' और 'इन्दु'। प्रथम के कर्णधार थे स्वयं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और द्वितीय के श्री जयशंकर प्रसाद। हिन्दी पत्रकारिता को नये सिरे से उन्मुख करने का इस युग में जितना श्रेय इन दोनों को है, उतना अन्य किसी को नहीं।

भारतीय राजनीति में सन् १९२० ई० से जहाँ एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है, वहीं हिन्दी-साहित्य में भी नये अध्याय का स्फुरण होता है। हिन्दी पत्रकारिता भी इस समय एक नया करवट लेती है। नवीन साहित्यिक चेतना के साथ नयी राष्ट्रीय चेतना ने हिन्दी पत्रकारिता को इस समय सर्वाधिक प्रभावित किया। इन्हीं आदर्शों के साथ सन् १९२१ ई० से 'माधुरी' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इसी के प्रभाव से 'महारथी', 'श्री शारदा', 'मनोरमा' इत्यादि ने जन्म लिया। उग्र विचारों को फैलाने में 'चाँद' का सबल हाथ रहा। इसके 'मारवाड़ी अंक' और 'फाँसी अंक' ने इसे क्रमशः मारवाड़ियों और सरकार का कोपभाजन बनाया। पुनः महादेवी वर्मा के सम्पादकत्व में यह महिला-जगत् का मुखपत्र बन गया।

'कल्याण' जैसे धार्मिक पत्र का सम्पादन सन् १६२६ ई० में प्रारम्भ हुआ। इस समय नवीन किन्तु महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं में 'विशाल भारत', 'सुधा', 'त्यागभूमि', 'हंस', 'विश्वमित्र', 'रूपाभ', 'साहित्यसन्देश', 'कमला', 'विश्वभारती', 'नया साहित्य', 'पारिजात', 'हिमालय', साधना', 'आजकल', 'कल्पना', 'ज्ञानोदय', 'नया समाज', 'पाटल', 'नया पथ', 'आलोचना' इत्यादि के नाम महत्त्वपूर्ण हैं।

आज हिन्दी पत्रिकाओं का निखरा हुआ रूप हमारे सामने आता है। आज की स्थिति में देश में हिन्दी की शताधिक पत्रिकाएँ चल रही हैं। राजकीयेतर हिन्दी मासिकों में 'कल्याण', 'आरोग्य' (गोरखपुर); 'भारती', 'नवनीत' (बम्बई); 'साथी', 'अरुण' (मुरादाबाद); 'सरस्वती', 'मनोरमा', 'माया', 'मनमोहन', 'मनोहर कहानियाँ', 'कहानी' (प्रयाग); 'नोंक-झोंक', 'साहित्य-सन्देश', 'सरस्वतीसंवाद', 'समालोचक', 'विज्ञान-लोक', 'नीहारिका' (आगरा); 'कल्पना', 'चंदा मामा' (हैदराबाद); 'गजरा', 'गोरी', 'पराग', 'सारिका', 'रंग' (बम्बई); 'मनोरंजन', 'मुक्ता', 'सरिता', 'कादम्बिनी', 'नई कहानियाँ', 'नई सदी', 'जीवन साहित्य' (दिल्ली); 'ज्ञानभारती' (लखनऊ); 'नर्मदा' (ग्वालियर); 'विशाल भारत', 'ज्ञानोदय', 'ज्ञानपीठ पत्रिका'(कलकत्ता); 'ज्योत्स्ना', 'नई धारा', 'किशोर', 'किशोर भारती', 'बालक', 'पुस्तकालय', 'नरनारी' (पटना); 'विदेह' (दरभंगा); 'राका' (मुजफ्फरपुर); 'प्राच्य भारती' (मंदार हिल); 'नया जीवन' (सहारनपुर); 'वीणा' (इन्दौर); 'मरु भारती' (पिलानी); 'कल्पवृक्ष' (उज्जैन); 'केरलभारती' (एर्नाकुलम्); 'हिन्दी-प्रचार-समाचार' (मद्रास); 'राष्ट्रवाणी' (पूना); 'वासन्ती', 'गौरांग', 'श्रमण' (काशी) इत्यादि प्रमुख हैं। इनमें 'कल्याण' का धार्मिक पक्ष सबल किन्तु साहित्यिक पक्ष बड़ा दुर्बल है। बम्बई की 'भारती' और 'नवनीत' के अपने महत्त्व हैं। छपाई और सफाई में 'नवनीत' सबसे आगे है। 'विशाल भारत' में अब बनारसीदास चतुर्वेदी की स्वस्थता का अभाव है। विषयसामग्री की दृष्टि से 'ज्ञानोदय' उत्तम है। ईद्दय संशोधन और भाषा की गड़बड़ी के लिए 'साहित्य-सन्देश' से दुर्बल शायद ही कोई साहित्यिक पत्रिका हो। पटना की 'नई धारा' अपने ढंग की उत्तम पत्रिका है। 'कल्पना' अपनी नव्यतम गतिविधियों के लिए सदा स्मरणीय है। 'नया जीवन' पंजाब की प्रमुख पत्रिका है। 'कादम्बिनी' को मासिकों की धुरी कहना चाहिए। दक्षिण भारत में 'राष्ट्रवाणी', 'केरल-भारती' और 'हिन्दी-प्रचार-समाचार' अपने कार्यों के लिए सदा प्रशंसनीय हैं। बिहार के मासिकों में 'हिमालय', 'पारिजात', 'पाटल' और 'अवन्तिका' की समकक्षता किसी में नहीं मिलती। सामान्य रूप से यह कहा जायगा कि इनमें परिवर्त्तित साहित्यिक युग की उफान अवश्य दीखती है।

हिन्दी के स्वस्थ त्रैमासिकों में 'विश्वभारती', 'आलोचना', 'सम्मेलन

पत्रिका', 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', 'साहित्यालोचन' (कानपुर) इत्यादि प्रमुख हैं। विदेशों में फीजी से प्रकाशित होने वाला हिन्दी मासिक 'इंडियन टाइम्स' प्रमुख है। प्रमुख साहित्यिक साप्ताहिकों में 'आज' का रविवासरीय अंक, 'धर्मयुग', 'हिन्दुस्तान' इत्यादि प्रमुख हैं।

हिन्दी पत्रकारिता के लिए स्वातंत्र्योत्तर युग स्वर्णयुग कहा जायगा। इस समय राजनीति, अर्थशास्त्र, विज्ञान, स्वास्थ्य, धर्मनीति और आचार, सिने-जगत, व्यापार, कानून, कला इत्यादि से सम्बन्ध रखने वाली अनेक पत्रिकाएँ निकल रही हैं। हिन्दी दैनिक पत्रों में भी कतिपय पत्र अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के हो गये हैं। इस समय हिन्दी पाठकों की मनोवृत्ति भी तीव्रता के साथ बदलती जा रही है। कम पढ़े-लिखे लोग भी पत्र-पत्रिकाओं में रुचि लेने लगे हैं।

इन बातों के बावजूद हिन्दी पत्रकारिता को अभी पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी है। इसके कई ऐसे कारण हैं जिनका निराकरण आवश्यक है। एक पत्रकार की उक्ति है, "भारत की वर्त्तमान राजनीति सशक्त पत्रकारिता के विकास के सर्वथा विरोध में है।" तात्पर्य यह कि आज के स्वतंत्र भारत में भी पत्रकारिता को राजनीति से पूर्णतः छूट नहीं मिली है। पूर्ण स्वतंत्रता के अभाव में पत्रकार अभी भी सत्य को सत्यरूप में जनता तक पहुँचाने में असमर्थ हैं। इसी से प्रायः कतिपय पाठक अखबारी बातों पर सदा अविश्वास ही करते हैं। निश्चय ही, स्वतंत्रता का अभाव पत्रकारिता के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है। दूसरी बात है, धनाभाव। हिन्दी पत्रकारों की स्थिति अभी भी इतनी दयनीय है कि वे मात्र इसी पेशे से अपनी पूरी आजीविका नहीं चला पाते हैं। अस्तु, जीवन-निर्वाह के अन्य साधनों की खोज उन्हें करनी पड़ती है और अपना पूर्ण समय तथा अपनी पूर्ण शक्ति वे पत्रकारिता में नहीं लगा पाते हैं। अस्तु, आज की पत्रकारिता में उत्कृष्ट प्रतिभा और योग्यतासम्पन्न व्यक्तियों का अभाव ही है। बहुधा हिन्दी पत्रकारिता में अन्य पेशों से निराश लोगों को ही शरण मिलती है। इससे भी हिन्दी पत्रकारिता समुचित रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो पायी है। तीसरी बात है, हिन्दी पत्रकारिता पर उद्योगपतियों और नेताओं द्वारा अधिकार। अधिकांश पत्रिकाएँ आज या तो उद्योगपतियों द्वारा चलायी जा रही हैं या तथाकथित राष्ट्रीय नेताओं द्वारा। इस कारण भी स्वस्थ और सन्तुलित विचार जनता तक नहीं आ पाते हैं। एक और प्रधान कमी हिन्दी पत्रकारिता में यह दीखती है कि इस कार्य में प्रायः आते हैं नौसिखुए और बनते हैं अपने में माहिर। साथ ही, जितने पत्रकार, उतने विचार। इनमें एकरूपता का भी अभाव मिलता है। यह एकरूपता भाषा, विषय, शैली इत्यादि सभी में आवश्यक है। आज राष्ट्रीय को 'राष्ट्रिय' भी लिखे जाने का एकमात्र कारण एकरूपता का ही अभाव कहा जायगा। ऐसी स्थिति में आवश्यक

है कि हिन्दी पत्रकारिता को बढ़ाने तथा समुन्नत बनाने के लिए एक ऐसी शिक्षण-संस्था कायम की जाय, जहाँ पहले लोग पत्रकारिता का प्रशिक्षण प्राप्त करें, तभी वे इस क्षेत्र में प्रवेश करें। इससे उन्हें पूर्वानुभव प्राप्त हो जायगा और पत्रकारिता स्वस्थ रूप में विकसित हो सकेगी।

हर्ष की बात है कि पत्रकारिता में सुधार लाने के लिए इधर हिन्दी पत्रकारों के सम्मेलन होते देखे जा रहे हैं। स्वयं भारत सरकार ने भी एक ऐसा आयोग निर्धारित किया है जो हिन्दी पत्रकारिता की पूरी जाँच कर इसकी समुन्नति के लिए अपना प्रतिवेदन देगा। इधर हिन्दी पत्रकारिता के लिए एक प्रशिक्षण-केन्द्र खोलने की बात भी उठायी गयी है। यदि इस प्रशिक्षण-केन्द्र को मूर्त्त रूप दिया गया, तो निश्चय ही हिन्दी पत्रकारिता का मानदण्ड ऊँचा उठेगा।

एक बात और। हिन्दी पत्रकारिता की वर्त्तमान दयनीय स्थिति के एक-मात्र कारण पत्रकार ही नहीं, हिन्दी के पाठक भी माने जायँगे। पाठकों का भी यह कर्त्तव्य है कि पत्रकारिता के सम्बन्ध में समय-समय पर व्यक्तिगत विचारों द्वारा पत्रकारों को उनकी त्रुटियों का निर्देश करते रहें। पर यह ध्यान रहे कि मात्र त्रुटिनिर्देश ही हमारा कर्त्तव्य न हो जाय। दूसरी बात यह कि आज की हिन्दी पत्रकारिता के नाम पर हमें मासिक और दैनिक पत्रों में कभी-कभी ऐसी वस्तुओं के दर्शन होते हैं, जिनसे हमारी मानसिक विकृति ही अधिक होती है। इन्हें रोकने का प्रयास होना चाहिए। आज विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता की बात की जाती है। पर क्या अनुशासनहीनता मात्र विद्यार्थियों में ही है? इस अनुशासनहीनता को बढ़ाने में आये दिन पत्रों में प्रकाशित होने वाले कतिपय सनसनीखेज और अमानुषिक समाचारों और घटनाओं का कम हाथ नहीं है। गुण्डागर्दी और अनु-शासनहीनता फैलाने वाले समाचारों के न छापने से कोई दोष तो होगा नहीं। वस्तुतः ऐसी घटनाओं के प्रकाशन से अबोध और अनुशासितों में भी मानसिक विकृतियाँ आती हैं। तात्पर्य यह कि हिन्दी पत्रकारिता को एक ऐसे मार्ग पर ले चलना है, जो भारतीय समाज को सदा अनुशासित करने में बढ़ावा दे। यदि पत्रकारिता सामाजिक, राजनीतिक, आचार सम्बन्धी विसंवादों को सन्तुलित रूप में पाठक के सामने रखने में असमर्थ हो जाय, तटस्थता और विवेकशीलता से काम लेना न सिखाये, तो वह दो कौड़ी की ही वस्तु होगी। अस्तु, इन दुर्गुणों से बचाते हुए हिन्दी पत्रकारिता को आगे बढ़ाना ही हमारा कर्त्तव्य होना चाहिए।

●

३४

छायावाद

[नाम : स्वीकृति और आपत्ति का विवेचन—परिभाषाएँ—प्रस्तावना-काल और उपसंहार-काल—मुख्य और गौण प्रतिनिधि कवि—आलोचनान्धता—रोमाण्टिसिज्म से अन्तर—प्रवृत्तिभेद—भारतीय संस्कार—राष्ट्रीय प्रश्न—आदर्श—वस्तु और कला : आन्तरिक और बाह्य—लाक्षणिकता—भाषा, प्रतीक, शैली और छन्द—उपसंहार]

प्रथम और द्वितीय महायुद्धों के मध्य प्रवाहित होने वाली कविता की सर्वाधिक सचेत किन्तु कलात्मक धारा सामान्यतः छायावाद के नाम से जानी जाती है। इसका पेटा इतना बड़ा है कि इसमें अध्यात्मवाद, मानवतावाद, रहस्यवाद, दुःखवाद, व्यक्तिवाद इत्यादि सभी आ जाते हैं। इसके नामकरण के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ हैं। नामकरण किसने किया, क्यों किया, कब किया इत्यादि प्रश्न हमारे सामने आ जाते हैं। बहुत सोच-विचार के पश्चात् ऐसा कहा जाने लगा है कि इसके नामकरण का कोई तात्त्विक आधार नहीं है। जाने-अनजाने, खुशी से अथवा चिढ़ से, हँसी से अथवा मजाक से सम्भवतः श्री मुकुटधर पाण्डेय ने सन् १९२० ई० तक इसे छायावाद के नाम से पुकार लिया और यही नाम लोक लिया गया बुजुर्ग साहित्यकारों द्वारा। असल बात थी, नाम के चल पड़ने की। यह नाम भी चल पड़ा। आज भी हम जाने-अनजाने ऐसे अनेक नाम गढ़ते-गिनते रहते हैं और वे चलते ही रहते हैं। और कुछ नहीं तो पूर्व नाम को दबाने अथवा बदलने के लिए 'उर्फ' तो लिखना ही पड़ता है। हाँ, तो 'छायावाद' नाम भी चल पड़ा। सम्भवतः उस समय छायावादी कविता की अस्पष्टता के कारण ही यह नाम व्यंग्य-रूप में सामने आया। सन् १९२० ई० में 'श्री शारदा' में 'हिन्दी में छायावाद' शीर्षक निबन्ध श्री मुकुटधर पाण्डेय का प्रकाशित हुआ। पुनः उसी शीर्षक से सन् १९२१ ई० में 'सरस्वती' में श्री सुशीलकुमार का निबन्ध छपा। ये निबन्ध स्वरूप में व्यंग्यात्मक थे। छायावादी कवियों को भी इस नाम से विरोध न हुआ।

तत्कालीन साहित्यालोचकों ने छायावाद को जितना समझा नहीं था, उससे कहीं अधिक उनके मस्तिष्क पर छायावाद नाम छा गया था। इसी से छायावाद की व्याख्या सन् १९२६ ई० के आस-पास तक अस्पष्ट ही रही। उस समय के लोग छायावाद को रहस्यवाद ही मान रहे थे। कम-से-कम वे छायावाद और रहस्यवाद को एक-दूसरे से अभिन्न मानते ही थे। आलोचना-जगत् में यह

भ्रान्ति और भी अधिक गहरी पैठ गयी। इसके प्रमुख कारण थे आचार्य शुक्ल जिन्होंने लिखा कि "पुराने ईसाई संतों के छायाभास (Phantasmata) तथा यूरोपीय काव्यक्षेत्र में प्रवर्त्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कविताएँ छायावाद कही जाने लगी थीं।" आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, कृष्णदेवप्रसाद गौड़ आदि विद्वानों ने उस समय इसका प्रयोग अँगरेजी मिस्टिसिज्म के समान ही किया। साथ ही, इन लोगों ने यह भी दावा किया कि ये कविताएँ बँगला की रहस्यवादी कविताओं के अनुकरण पर ही लिखी गयी हैं। छायावाद के सम्बन्ध में यह भ्रान्ति यहीं तक सीमित नहीं रहती। आधुनिक आलोचकों और साहित्यिकों में भी यह भ्रान्ति कभी-कभी देखी जाती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल की उस मान्यता का खंडन किया और कहा कि बँगला में ऐसी कविताओं के लिए कभी 'छायावाद' नाम चला ही नहीं है। छायावाद के सम्बन्ध में साहित्य-जगत् में ऐसी अनेक भ्रान्तियाँ पनप गयी थीं; जैसे—(१) छायावाद और रहस्यवाद दोनों एक ही हैं; (२) छायावाद और स्वच्छन्दतावाद एक नहीं हैं; (३) छायावाद हिन्दी कविता में कलमी पौधा है, यह अँगरेजी के रोमाण्टिसिज्म और बँगला की रहस्यवादी कविताओं, मूलतः 'गीताञ्जलि' की भद्दी नकल है; (४) छायावादी कविता जीवन की नहीं, जीवन से पलायन की कविता है; इत्यादि।

उपर्युक्त भ्रान्तियों के सम्बन्ध में संक्षेप में यही कहना आवश्यक है कि वस्तुतः इनमें अधिकांश भ्रान्तियाँ नासमझी के कारण ही हैं। भक्तिकालीन कविता को अक्षयवट और रीतिकालीन कविता को कल्पवृक्ष मानने वाले आलोचक ही ऐसी बातें उठाते रहे हैं। जिस प्रकार आचार्य शुक्ल ने छायावाद और रहस्यवाद को एक करके देखा, उसी प्रकार उन्होंने ऐसी स्पष्ट घोषणा की कि छायावाद और स्वच्छन्दतावाद में विरोध है; दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी, चतुर्वेदी इत्यादि की कविताओं में आप स्वच्छन्दतावाद और प्रसाद, पंत आदि की कविताओं में छायावाद अथवा तात्त्विक दृष्टि से रहस्यवाद मानने के पक्षपाती थे। आज के आलोचकों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि तथाकथित स्वच्छन्दतावाद छायावाद से अलग की वस्तु नहीं है; वह तो छायावाद का ही एक अंग है। इसी प्रकार, छायावाद को विलायती रोमाण्टिसिज्म का अनुकरण, बँगला की रहस्यवादी कविताओं का अनुकरण आदि कहकर इसे कलमी पौधा बताने की भी कम कोशिश नहीं हुई है। यहाँ हमें मात्र इतना ही कहना है कि क्या विलायती पौधा स्वदेशी खाद-पानी पाकर टिकाऊ हो सकता था? क्या इसमें हिन्दीभाषी प्रदेश की चेतना नहीं है? क्या इसमें हमारे लिए सब-कुछ अयोग्य ही है? इन प्रश्नों के उत्तर नकारात्मक ही

होंगे। वस्तुतः छायावाद न तो किसी का अन्धानुकरण है और न कहीं से आयात। इसने अपना स्वाभाविक विकास किया है। इसके लिए वर्षों से मेघखण्ड तैयार हो रहे थे। यदि यह कविता असामयिक उपज होती तो पाण्डु रह जाती। इसे द्विवेदी-युग की कल्पनाहीनता का विद्रोहमात्र भी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः किसी एक कारण का परिणाम इसे नहीं मानना चाहिए। छायावादी कविता के आन्दोलन का मूल और भी गहरा है। शृंगारकालीन कविताओं में घनानन्द और बोधा आदि विषयवस्तु की दृष्टि से छायावादी ही हैं। वस्तुतः छायावादी कविताओं के कारणरूप में हमें भारत का सांस्कृतिक नवोत्थान दीखता है जिसके लिए राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, ऐनी बेसेण्ट, लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी इत्यादि के कार्य चलते रहे हैं। इस प्रकार की कविता में नवमानवतावादी चेतना ही उद्‌घोषित है, जिसका प्रारम्भ भारत-यूरोप-सम्पर्क से हुआ है। इसमें सत्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति सोलहों आने भारतीय है; हाँ, शैली पर थोड़ा यूरोपीय प्रभाव अवश्य पड़ा है। प्रभाव भी यहाँ आकर स्वाभाविक विकास कर सका है।

छायावादी कविता को पलायनवादी कहने वाले प्रायः यह भूल जाते हैं कि साहित्य समाज की उपज है। जिन संस्कारों और परिस्थितियों में पल-बढ़कर कवि बड़ा होता है, उनके भावों और संस्कारों को वह साथ लिये रहता है। अस्तु, कवि की परीक्षा इसी बात पर होनी चाहिए कि उसने तत्कालीन समाज और उसकी स्थिति का कहाँ तक चित्र दिया है। इस दृष्टि से छायावादी कवियों की परीक्षा करने पर उन्हें पलायनवादी तो नहीं कहना चाहिए; किन्तु अभिव्यक्तिगत दुर्बलता उनमें खोजी जा सकती है अवश्य।

परिभाषाओं के विचार से छायावाद अधिक धनी है। अनेक लोगों ने इसे अनेक प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया है। कतिपय निम्नांकित परिभाषाएँ विचारणीय हैं—

१. "छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका सम्बन्ध काव्यवस्तु से होता है। × × × छायावाद का दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धतिविशेष के व्यापक अर्थ में है। × × × छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन।"—आचार्य शुक्ल।

अर्थात् इनके अनुसार छायावाद के दो अर्थ हैं—रहस्यवाद और प्रतीकवाद या चित्रभाषावाद की अभिव्यंजनापद्धति या व्यापक रूप में काव्यशैली। इस प्रकार, इनके अनुसार छायावाद स्वच्छन्दतावाद से भिन्न है तथा रहस्यवाद छायावाद का पर्याय है।

२. "अभिव्यंजना का नूतन विधान छायावाद का मुख्य लक्षण रहा है।"—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

इन्होंने सामाजिक रूढ़ियों से विरोध को स्वच्छन्दतावाद, सांसारिक जीवन से विरोध को रहस्यवाद और काव्यशैलियों से विरोध को छायावाद कहा है। तात्पर्य यह कि आपके अनुसार भी छायावाद अभिव्यंजनापद्धति ही है। यहाँ इतना कहना आवश्यक है कि इनलोगों ने अभिव्यंजना से विषयवस्तु को पूर्णतः भिन्न मान लिया है। वस्तुतः दोनों भिन्न होकर भी अविभाज्य हैं, अन्योन्याश्रित हैं। विषयवस्तु से अभिव्यंजना को अलग करके नहीं देखा जा सकता है।

३. "परमात्मा की छाया आत्मा पर पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा में। यही छायावाद है।"—डॉ० रामकुमार वर्मा।

४. "छायावाद एक दार्शनिक अनुभूति है।"—शान्तिप्रिय द्विवेदी।

डॉ० वर्मा और शान्तिप्रिय द्विवेदी का मत भी रहस्यवाद के ही निकट है।

५. "छायावाद प्रकृति में मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब देखता है, रहस्यवाद समस्त सृष्टि में ईश्वर का; ईश्वर अव्यक्त है और मनुष्य व्यक्त है। इसलिए छाया मनुष्य की, व्यक्त की ही देखी जा सकती है, अव्यक्त की नहीं। अव्यक्त रहस्य ही रहता है।"—श्री रामकृष्ण शुक्ल।

तात्पर्य यह कि आप छायावाद और रहस्यवाद को चचेरे भाई ही मानते हैं।

६. "छायावाद स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह है।" और "छायावाद एक विशेश प्रकार की भावपद्धति है, जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है।"—डॉ० नगेन्द्र।

७. "छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा, वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती साम्राज्यवादी बन्धनों के प्रति विद्रोह रहा है। परन्तु यह विद्रोह मध्यवर्ग के तत्त्वावधान में हुआ था; इसलिए उसके साथ मध्यवर्गीय असंगति, पराजय और पलायन की भावना भी जुड़ी हुई है।"—डॉ० रामविलास शर्मा।

८. "मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भाव मेरे विचार में छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।"—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी।

९. "यह (छायावाद) वस्तुवाद और रहस्यवाद के बीच की कड़ी है।"—श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय।

१०. "छायावाद का मूल दर्शन सर्वात्मवाद में है। × × × छायावाद तत्त्वतः प्रकृति के बीच जीवन का उद्गीथ है।"—महादेवी।

११. "जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।"—श्री जयशंकर प्रसाद।

उपर्युक्त परिभाषाओं में पर्याप्त भिन्नता मिलती है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि सबने छायावाद की कुछ-न-कुछ विशेषता बतायी ही है, जिन विशेषताओं को चाहें तो इस प्रकार रख सकते हैं—१. रहस्यवादिता, २. समझ में न आना, ३. अभिव्यंजनापद्धति, ४. प्रकृति में मानवीय अथवा ईश्वरीय चेतना का आरोप, ५. स्थूल के प्रति सूक्ष्म का, पौराणिकता के प्रति लौकिकता का, रूढ़ि, नीति आदि के प्रति मानवता का विद्रोह, ६. जीवन के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण, ७. स्वानुभूति और युगानुरूप वेदना की अभिव्यक्ति, ८. सर्वात्मवादिता, ९. व्यक्तिवादिता, १०. गीतात्मकता और सौन्दर्यांकन, ११. मानववादी अनुभूतियों की व्यापकता इत्यादि। अस्तु, हम कह सकते हैं कि हिन्दी काव्यधारा में छायावाद एक ऐसी काव्यधारा है जिसने जीवन और जगत् के परिवर्तित मानदण्डों के अनुरूप प्रतिक्रियात्मक नहीं अपितु रचनात्मक, मानवतावादी, सौन्दर्यमूलक और आध्यात्मिक चेतना की अनुभूतियों को नवीन अभिव्यंजनाशैली में अभिव्यक्त किया है। इसमें जीवन से पलायन भी है और जीवन में पलायन भी, राष्ट्रीयता भी है और अन्तरराष्ट्रीयता भी, आध्यात्मिकता भी है और लौकिकता भी; यहाँ तक कि परस्पर-विरोधी दीखने वाली प्रवृत्तियाँ भी यहाँ एकत्र रूप में मिलती हैं।

परिभाषा के पश्चात् यह भी विचारणीय है कि इसकी पूर्ववर्त्ती और उत्तरवर्ती सीमा कहाँ मानी जाय? इसके प्रवर्त्तन का श्रेय किसे दिया जाय? छायावाद के प्रवर्त्तन-समय और प्रवर्त्तक के सम्बन्ध में भी काफी विवाद है। आचार्य शुक्ल प्रवर्त्तन का श्रेय श्री मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय को देते हैं—"हिन्दी कविता की नयी धारा (छायावाद) का प्रवर्त्तक इन्हीं को—विशेषतः मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय को—समझना चाहिए।" श्री इलाचन्द्र जोशी आचार्य शुक्ल के मत को 'एकदम भ्रामक, निर्मूल एवं मनगढ़न्त' कहते हुए प्रसादजी को प्रथम छायावादी कवि मानने के पक्ष में हैं। श्री विनयमोहन शर्मा और प्रभाकर माचवे छायावाद की पूर्ववर्त्ती सीमा १९१३ ई० स्वीकार करते हुए प्रवर्त्तन का श्रेय श्री माखनलाल चतुर्वेदी को देना चाहते हैं। वस्तुतः गुप्तजी की छायावादी कविताएँ प्रसाद की कविताओं के पश्चात् ही आती हैं। प्रसाद का प्रथम कवितासंग्रह 'झरना' सन् १९१८ ई० में प्रकाशित हुआ, किन्तु इसकी अधिकांश कविताएँ पहले ही पत्रिकाओं के माध्यम से छप चुकी थीं। सन् १९०९ ई० से ही ऐसी कविताएँ वे लिख रहे थे। पंत की 'उच्छ्वास' शीर्षक कविता भी सन् १९१८ में छप चुकी थी। तात्पर्य यह कि छायावाद के प्रवर्त्तक कवि के रूप में प्रसाद ही आते हैं। ऐसी कविताएँ सन् १९०९ से ही लिखी जाने लगी थीं; किन्तु 'उच्छ्वास' (सन्

१६१८ ई०) से उन्हें नया रूप मिलता है। अस्तु, छायावाद का प्रवर्त्तन-काल है सन् १६१८ ई०; किन्तु द्विवेदी-युग को, विशेषतः सन् १६०६ ई० से १६१७ ई० तक को, छायावाद का प्रस्तावना-काल मानना चाहिए। यह युग की वाणी के रूप में सन् १६१८ ई० से सन् १६३६ ई० तक ('उच्छ्वास' से 'युगान्त' तक) स्वीकृत रहा। उसके पश्चात् द्वितीय महायुद्ध तक, अर्थात् सन् १६३६ ई० से सन् १६४० ई० तक, छायावाद का उपसंहार-काल कहा जा सकता है। युग की इस वीणा के मुख्य गायक रहे प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी तथा गौण रूप में श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुट-धर पाण्डेय, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, उदय-शंकर भट्ट, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, हरिकृष्ण प्रेमी, दिनकर, मोहनलाल महतो वियोगी, जानकीवल्लभ शास्त्री, हंसकुमार तिवारी, सुमित्राकुमारी सिन्हा, विद्यावती कोकिल, पोद्दार रामावतार अरुण आदि के नाम भी इसी क्रम में लिये जायँगे।

छायावाद पर की जाने वाली आलोचनाओं ने इतना अधिक कज्जल उलीचा है कि इसकी धवलिमा भी उसमें पुतती-सी प्रतीत होने लगती है। यह काव्यधारा भारतीय नवजागरण का रचनात्मक परिणाम है। इसे इतिवृत्तात्मकता, स्थूलता, सामन्तवादिता इत्यादि की प्रतिक्रिया कहना अंशतः ही सत्य है। राष्ट्रीय चेतना के साथ नवमानवताचेतना का विकास भी प्रारम्भ हुआ था। राजा राममोहन राय, रामकृष्ण, विवेकानन्द, अरविन्द, तिलक, दयानन्द इत्यादि के प्रयत्न राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और मानववादी थे। साथ ही, कविता में ब्रजी बनाम खड़ीबोली का संघर्ष भी था। दूसरी ओर पूँजीवादिता से भी संघर्ष चल रहा था। आचार्य द्विवेदी ने काव्यभाषा के रूप में खड़ीबोली को स्थानापन्न तो किया था, किन्तु अपनी लौहकर्कशता वे छोड़ न सके थे। कोमलता अपेक्षित थी। विकासमान संघर्ष में पूँजीवादी प्रवृत्तियों के कारण व्यक्तिवादिता भी बढ़ती जा रही थी। व्यक्तिवादिता से कविता में आत्माभिव्यंजना पनपती जा रही थी। अस्तु, विकसित स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति पनपती गयी। इसमें सामाजिकता के नाम पर यथार्थ-वाद का निषेधात्मक पक्ष ही उभर रहा था। इन्हीं सारी प्रक्रियाओं का विकास रचनात्मक रूप में छायावाद में होता है।

अँगरेजी साहित्य में रोमाण्टिसिज्म का पूर्ण पल्लवित रूप वर्त्तमान था। जिन प्रवृत्तियों के कारण वहाँ वह काव्यधारा पनपी थी, लगभग वैसी ही परिस्थि-तियाँ भारत में भी थीं। इसी से वैसी ही यहाँ भी स्वाभाविक परिणति हुई। इसी से कुछ आलोचक इसे विलायती रोमाण्टिसिज्म का ही अनुकरण मानते हैं। वस्तुतः यह अनुकरण नहीं है। दोनों की परिस्थितियों में इतना अधिक साम्य है कि ये एक-सी प्रतीत होती हैं। दोनों में अन्तर भी कम नहीं है। रोमाण्टिसिज्म में व्यक्तिवादी विद्रोह और क्रान्ति की भावना अधिक उग्र है, छायावाद में यह उतनी

आचार्य शुक्ल ने छायावाद को 'मधुचर्या के मानस-प्रसार के लिए रहस्यवाद का परदा' कहा था। वैयक्तिकता का उग्र रूप सामने आता है मनु में, जो कह रहा है—

वन गुहा कुंज मरु अंचल में हूँ खोज रहा अपना विकास।

अथवा—

मैं तो अबाधगति मरुत सदृश हूँ, चाह रहा अपने मन की।

व्यक्तिवाद ही यहाँ विविध रूपों में पल्लवित होता है। महादेवी में यही उनका इतिहास बन गया है। यह प्रवृत्ति सबमें है ही।

यों तो छायावाद सौन्दर्यमूलक है ही, पर यहाँ मूलतः नारी-सौन्दर्य और प्राकृतिक सौन्दर्य पर कवियों की रुचि विशेष रूप में जमी है। नारी-सौन्दर्य के अन्तर्गत ही प्रेम भी आ जाता है। सौन्दर्य-चित्रण में कवि स्थूल से सूक्ष्म बन गये हैं। यहाँ स्वकीया और परकीया, राधा और गोपियों का पचड़ा नहीं है। नारी को इन्होंने 'देवि, माँ, सहचरी, प्राण' के रूप में प्रतिष्ठित किया तो है, फिर भी प्राण-रूप ही, प्रेयसी-रूप ही अधिक काम्य रहा है। इन कवियों में ऐसे सैकड़ों चित्र मिलते हैं जिनमें प्रेयसी के रूप ही अधिक अभिव्यक्त हैं। 'कामायनी' में श्रद्धा का यह चित्र—

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।

वाह्य और स्थूल न होकर आन्तरिक और सूक्ष्म सौन्दर्य-अंकन का ही परिणाम है। इसी प्रकार इड़ा का यह चित्र भी है—

बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल।
वह विश्व मुकुट-सा उज्ज्वलतम शशिखंड-सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्मपलाश-चषक-से दृग देते अनुराग-विराग ढाल।
चरणों में थी गति-भरी ताल!

इस चित्र में मानो सूक्ष्मता और व्यंजकता पराकाष्ठा पर आ गयी है। पंत, प्रसाद, निराला और महादेवी सबने प्रायः 'संग में पावन गंगास्नान' की पवित्रता और 'रहस्य की साकारता' कायम रखी है। यों 'ग्राम्या' आदि में जहाँ-तहाँ शृंगारकालीन प्रवृत्तियाँ भी मिल जाती हैं।

प्रकृति की रूपसज्जा पर जितना छायावाद ने ध्यान दिया है, उतना ध्यान देने वाली काव्यविधा समस्त हिन्दी-साहित्य में दीपक लेकर खोजने पर भी शायद ही कोई मिले। यद्यपि छायावाद पर यह आरोप है कि यह यथार्थ को साक्षात् करने में असमर्थ रहा है, इसी से पलायनवादी बन गया है; तथापि प्रकृति के अंकन के विषय में यह आरोप मिथ्या ही प्रतीत होता है। इसने प्रकृतिदर्शन के निमित्त विशुद्ध भारतीय दृष्टि स्वीकार की है। यह दृष्टि भारतीय साहित्य में वेदों से ही

चली आ रही है। इसमें सर्ववाद की झलक भी स्पष्ट रूप में मिलती है। बादल और मेघों के सम्बन्ध में छायावादी कविताएँ मेघदूत के समकक्ष आ पड़ती हैं। प्रत्युत जहाँ-तहाँ अधिक सुन्दर रूप में ही वे सामने आती हैं। यहाँ प्रकृति को भी नारी-रूपों में ही देखने का प्रयास अधिक है। मानवीकरण तो उसका मूलाधार है—

पगली, हाँ सम्हाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल।
देख बिखरती है मणिराजि अरी उठा बेसुध चंचल।

छायावादी कवियों ने प्रकृति को आलम्बन मानकर शृंगार-चित्रण में अपूर्व सफलता पायी है। यहाँ शृंगारिकता तो है, पर शृंगारकालीन वासनात्मक अभिव्यक्ति नहीं के बराबर है। प्रकृति के कोमल रूपों के साथ कठोर रूपों का भी यहाँ सफलतापूर्वक अंकन हुआ है। नारी और प्रकृति के सौन्दर्य और प्रेम-चित्रों को देखने के पश्चात् ऐसा निष्कर्ष दिया जायगा कि छायावाद में जीवन और प्रकृति का स्वतंत्र और सजीव, मांसल और पुष्ट चित्रण हुआ है। इसमें लोकगीतों की विश्वसनीयता वर्त्तमान है। जिस प्रकार लोकगीत अपने में सुख-दुःख के भाव, सूर्य-चन्द्र, कोयल-पपीहे, गंगा-यमुना, आम-नीम को लिये होते हैं, उसी प्रकार छायावादी गीत भी ऐसे अनेक सुन्दर चित्रों से पूर्ण हैं।

छायावाद की एक विशेषता रहस्यवाद भी है। इस क्षेत्र में महादेवी अग्रणी हैं। प्रसाद में भी यह भावना अधिक पुष्ट है। पंत की 'मौन निमंत्रण' और निराला की 'तुम और मैं' शीर्षक कविता ऐसी ही है। अलौकिक सत्ता के प्रति आकर्षण, अनुराग, विरह, मिलनानन्द इत्यादि का चित्रण ही इसका विषय रहा है। जिज्ञासा की भावना का छायावाद में जो प्राबल्य है, वह रहस्यवादी परिणाम ही है। एक व्यापक करुणा की भावना भी इसी का परिणाम है। इस भावना का मूलाधार भी भारतीय प्रवृत्ति ही है। रहस्यभावना के समान ही राष्ट्रीयतावादी भावना भी इसकी भावगत प्रवृत्तियों में ही है। लोगों ने ऐसा आरोप भी लगाया है कि जब देश में स्वाधीनता के लिए क्रान्ति हो रही थी, उस समय ये कवि 'मैं' के गीत गा रहे थे। वस्तुतः यह आरोप कुछ हद तक तो ठीक ही है; पर ऐसी बात नहीं कि इन कवियों ने राष्ट्रीयता के स्वर को बल नहीं दिया है। प्रसाद ने अपने नाटकों द्वारा जितनी राष्ट्रीयता फैलायी, शायद ही उतना किसी दूसरे साहित्यिक ने अकेले काम किया हो। फिर 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' अथवा 'हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' जैसे गीत किससे कम राष्ट्रीय हैं? 'सिंहों की माँद में आया है आज स्यार' की आवाज लगाने वाला कवि अराष्ट्रीय कैसे हो सकता है? नवीन, चतुर्वेदी, दिनकर को किसने दिया? छायावाद ही ने तो! फिर यह राष्ट्रीयतावादी क्यों नहीं है?

अतिशय भावुकता और कल्पनाधिक्य भी छायावाद की विशेषताएँ ही हैं। यहाँ भावुकता और काल्पनिकता को अलग करके देखना असम्भव है। कल्पना का तो इस पर इतना प्रभाव हुआ कि कल्पना ही कविता का पर्याय भी बन गयी है। तभी तो पंत ने इसे 'कल्पना के ये विह्वल बाल' और निराला ने 'कल्पना के कानन की रानी' कहकर भी पुकारा है। इस अतिशय कल्पना और भावुकता के पीछे भी वैयक्तिक विद्रोह ही है। 'उन्मन गुंजन' कविता ऐसी ही है। 'कामायनी' में 'चिन्ता' भी यही है। 'उच्छ्वास', 'आँसू' भी यही हैं। कल्पना से अधिक काम लेने के पीछे भी असफल यथार्थ ही प्रेरक माना जायगा। इसी से तो छायावादी कवि 'राम की शक्तिपूजा' में काल्पनिक विजय का सुन्दर चित्रांकन करता है। भावों का मानवीकरण; रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इत्यादि की अनुभूतियों के ऐन्द्रिक वर्णन कल्पना द्वारा ही सम्भव हो सके हैं। कल्पना को सर्वाधिक पंख लगाया है पंत ने। कल्पनाधिक्य और भावातिरेक ने ही कविता को जहाँ-तहाँ ऐसा अधिक क्लिष्ट और कृच्छ्र बनाया है, जिससे बौद्धिकता पनप गयी है। अस्तु, बौद्धिकता भी छायावादी कविताओं की एक प्रवृत्ति के रूप में है। बौद्धिकता को बढ़ाने और कायम रखने में सूक्ष्मता का भी योग है। छायावादी कवियों ने स्थूल वर्णन पर ध्यान न देकर अधिक सूक्ष्म चित्रण में अपने को रमाने की कोशिश की है। इससे स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह भी इसकी भावगत प्रवृत्तियों में ही है।

विचारगत प्रवृत्तियों में छायावादी कवि अद्वैतवादी दर्शन अथवा सर्वात्मवाद, धर्म के क्षेत्र में मानववाद, राजनीति में विश्वबन्धुत्व, परिवार में हृदयवाद, साहित्य में कलावाद अथवा सौन्दर्यवाद और समाज में समन्वयवाद के पक्षपाती हैं; जबकि वे स्वयं दुःखवादी या व्यक्तिवादी ही बने रहे हैं। छायावाद दर्शन के क्षेत्र में सदा अद्वैतवाद अथवा भारतीय सर्वात्मवाद का पक्षधर रहा है। यह व्यापक दृष्टिकोण उसे भारत की मिट्टी से ही मिला है, अँगरेजी के रोमाण्टिसिज्म से नहीं। 'गुंजन', परिमल', 'कामायनी' इत्यादि में ऐसे विचार भरे पड़े हैं। जब निराला 'तुम तुंग हिमालयशृंग और मैं चंचलगति सुरसरिता' की बात कहते हैं तो अद्वैतवाद ही स्फुट होता है। इसी प्रकार 'नीचे जल था ऊपर हिम था, एक तरल था, एक सघन' में प्रसाद अद्वैत का आभासवादी रूप सामने रखते हैं। अस्तु, दर्शन के क्षेत्र में छायावाद की सर्वात्मवादिता स्पष्ट है।

दर्शन के क्षेत्र में छायावादी काव्य जहाँ अद्वैतवाद और व्यापक सर्वात्मवाद का पोषक है, वहाँ धर्म के क्षेत्र में यह मानवतावाद को प्रश्रय देता है। ऐसा पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि यह भारतीय नवजागरण से प्रभावित है। सांस्कृतिक और धार्मिक नवजागरण का कार्य यहाँ नवीन मानवतावाद के रूप में राजा राम मोहन राय से ही प्रारम्भ किया गया था। रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द,

स्वामी दयानन्द, महात्मा गाँधी आदि मानवतावाद के ही उपासक थे। इन सब के विचारों से छायावादी काव्य भी पूर्णतः प्रभावित है। रावीन्द्रिक प्रभाव से भी छायावाद ने यही ग्रहण किया है। 'कामायनी' में प्रसाद का यह सन्देश—

> औरों को हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ।
> अपने सुख को विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ॥

ऐसा ही है। इसमें 'Live and let live' की भावना का सुन्दर निरूपण है। 'मुक्त करो नारी को मानव' की आवाज भी मानवतावादी भावना ही है। इसी प्रकार राजनीति के क्षेत्र में एक ओर यह भारतीय राष्ट्रीयता की आवाज तो लगाता है, पर इसकी नजर विश्वबन्धुत्व पर ही जमी है। सबको समान मानने की भावना इसकी अपनी है। गाँधीजी के नेतृत्व का आदर्श ही था अहिंसा और विश्वबन्धुत्व। उस व्यापक भावना का ग्रहण छायावाद ने भी किया है। पारिवारिक दृष्टि से विचार करने पर इसे हृदयवादी या भावुक ही कहना चाहिए। जितने भी छायावादी कवि हैं, सभी ने इसी भावना पर बल दिया है। इनका आदर्शवादी दृष्टिकोण विषयवस्तु में तो लक्षित है ही, कलापक्ष में इसका सर्वाधिक उभार देखा जा सकता है। सामाजिक आदर्श के रूप में इन्होंने समन्वयवादिता पर बल दिया है। यद्यपि यह समन्वयवादी नीति कहीं-कहीं खोखली भी प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ, पंत की यह भावना देखी जा सकती है—

> मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गाँधीवाद।
> सामूहिक जीवन-विकास की साम्ययोजना है अविवाद॥

यहाँ कवि ने गाँधी और साम्यवाद के समन्वय की बात चलायी है। वस्तुतः यह योजना सफल न हो सकी। सफल होती भी कैसे; दोनों प्रकृतितः भिन्न जो ठहरे! ब्रिटिश पूँजीवाद की छाती पर उत्पन्न होने वाली गाँधीवादी नैतिकता से, रूसी अराजकतावाद के प्रति जाग्रत कर्मठता के रूप में पनपी साम्यवादी भावना का मेल कैसे सम्भव होता? किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि सर्वत्र ऐसी ही भावना है। प्रसाद ने युग की एकांगी प्रगति पर ध्यान देते हुए इच्छा, ज्ञान और क्रिया में जो समन्वय की भावना प्रचारित की, निश्चय ही वह युगसत्य बन सकी—

> ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
> एक-दूसरे से न मिल सकें, यह विडम्बना है जीवन की॥

इसी समन्वय की भावना से प्रेरित होकर श्रद्धा अपने पुत्र मानव को इड़ा को सौंपते समय कहती है—

> मेरे सुत, सुन माँ की पुकार, सबमें समरसता कर प्रचार।

पंत जब 'तप रे मधुर-मधुर मन, विश्ववेदना में तप प्रतिपल' की रट लगाते हैं, तो यहाँ भी समन्वय की भावना ही जोर पर दीखती है।

छायावादी काव्य ने साहित्य के क्षेत्र में उपयोगितावादी दृष्टिकोण को किनारे

कर दिया है। साहित्य को यह सोद्देश्य तो मानता है, पर एक सीमा तक ही। इसी से छायावादियों ने साहित्य में कलावाद या सौन्दर्यवाद पर अधिक जोर देने की चेष्टा की है। ऐसी बात नहीं कि यह मान्यता कथनी तक ही सीमित है, प्रत्युत यह करनी में भी पूर्णतः लागू है। सौन्दर्यवाद की प्रतिष्ठा के कारण ही इन कवियों ने जीवन के यथार्थ का अंकन उतने सबल रूप में नहीं किया है, जितना आवश्यक था। इसी से इनपर पलायनवादी वृत्ति का दोष मढ़ा जाता है। कविता में कोमलता, कलात्मकता, प्रतीकयोजना इत्यादि की प्रचुरता इसी के परिणाम हैं। प्रत्येक वस्तु के प्रति इनकी अपनी दृष्टि थी। उसे सुन्दर रूप में देखना ही इनका विशेष लक्ष्य था।

आन्तरिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण के पश्चात् छायावाद की कतिपय बाह्य प्रवृत्तियों—शैलीगत विशेषताओं—का दिग्दर्शन भी आवश्यक है। इस क्रम में शैली में प्रगीतात्मकता, कोमल-कान्त पदावलियों के प्रयोग, चित्रभाषापद्धति, लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता, आलंकारिकता, छन्दों की नवीनता आदि के नाम लिये जायँगे। छायावाद की सबसे बड़ी तो नहीं, पर प्रमुख विशेषता यही मानी जायगी कि इसका स्वरूप ही गीतात्मक रहा है। यह युग प्रगीतों का युग है, महाकाव्यों का नहीं। ऐसी बात नहीं कि इस युग में महाकाव्य लिखे ही नहीं गये हैं। 'कामायनी'—हिन्दी महाकाव्यों का सुमेरु—भी इसी छायावाद की उपज है। यहाँ कहना इतना ही है कि छायावाद-युग में या तो महाकाव्य छायावादी घेरे के बाहर ही लिखे गये हैं या यदि छायावादी घेरे में लिखे गये हैं तो उनका स्वरूप भी गीतात्मक ही रहा है; चाहे वह रचना 'कामायनी' हो या 'साकेत', सबके साथ यही बात लागू है। 'राम की शक्तिपूजा' और 'तुलसीदास' जैसी अन्य प्रबन्धात्मक रचनाएँ भी इसी युग की उपज हैं, प्रमुख छायावादी कवियों की ही ये रचनाएँ हैं; किन्तु यह तो सन्दिग्ध ही है कि 'राम की शक्तिपूजा' में भी छायावाद के तत्त्व हैं। इस सम्बन्ध में दिनकर का मत विचारणीय अवश्य है। निस्सन्देह, गीतों को जितनी सफलता यहाँ मिली है, हिन्दी-काव्य में अन्यत्र नहीं।

यह तो निर्भ्रान्त रूप से आज स्वीकार किया ही जाता है कि खड़ीबोली को काव्यभाषा के रूप में माँजने का काम तो छायावाद ने ही किया। इतने कम समय में शायद ही कोई एक प्रवृत्ति किसी भाषा को साज-सँवार और माँज सकी हो। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक कार्य किया है पंत ने। भाषा को कोमल-कान्त पदावलियों से युक्त उन्होंने ही किया है। इसके लिए संस्कृत के टकसाली शब्दों को तो खराद पर चढ़ाया ही गया है, विदेशी शब्दावलियों को, विशेषतः अँगरेजी शब्दावलियों को भी सुन्दर रूपान्तरित किया गया है। यहाँ भाषा को अभिव्यक्ति की बाँकी भंगिमा मिली है। भाषा के माध्यम से छायावादी कवियों ने जो चाहा

सो कहलवा लिया है; दरेरा देकर नहीं, सीधे और सरल तथा कोमल रूपों में। आज के तथाकथित प्रयोगवादी बनने वाले तो बनी-सँवरी भाषा को बनाने की अपेक्षा बिगाड़ ही अधिक रहे हैं।

भाषा को कोमल-कान्त पदावलियों से सज्जित तो किया ही, छायावाद ने उसे चित्रात्मकता भी कम नहीं दी। ऐसे चित्रात्मक वर्णनों का अन्यत्र अभाव ही है। चित्रभाषापद्धति के रूप में प्रसाद का यह उदाहरण ले सकते हैं—

शशिमुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में, कौतूहल-से तुम आये॥

पंत की 'परिवर्त्तन' शीर्षक कविता—'अहे वासुकि सहस्रफण'—में भी चित्रभाषावाद ही है। इसके सैकड़ों उदाहरण रखे जा सकते हैं। लाक्षणिकता भी इन कवियों की अपनी ही वस्तु है। इसके पूर्व ऐसे लाक्षणिक प्रयोग शृंगार-कालीन छायावादी कवि घनानन्द में ही मिलते हैं। इस छायावादी गीतिपद में सारोपा गौणी लक्षणा के साथ ही 'बालक मन' में लक्षणलक्षणा का चित्र सुन्दर उभरा है—

स्वर्णकिरण-कल्लोलों पर बहता रे यह बालक मन।

प्रसाद में गौणी साध्यवसाना का एक उत्कृष्ट रूप है—

बाँधा है विधु को किसने, इन काली जंजीरों से।
मणि वाले फणियों का मुख, क्यों भरा हुआ हीरों से॥

तात्पर्य यह कि इस युग में लाक्षणिकता के भी सुन्दर प्रयोग उपलब्ध हैं। लाक्षणिकता के पश्चात्, छायावाद में भाषा को सशक्त बनाने का सर्वाधिक काम किया है प्रतीकविधान ने। प्रतीकों की प्रचुरता के आधार पर यदि इसे प्रतीक-प्रधान भाषा कहा जाय तो शायद अत्युक्ति न होगी। प्रतीकों के विस्तार में शब्दों की शक्तियों का भी विस्तार हुआ है। यहाँ एक ही शब्द के कई समानार्थी शब्दों में भी नवीन भावों और भावचित्रों की योजना से और भी अधिक सफलता मिली है। तभी तो " 'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल का कोमल कम्पन, 'तरंग' में लहरों के समूह का एक-दूसरे से धकेले जाने, उठकर गिरने, 'बढ़ो-बढ़ो' करने का संकेत, 'बीचि' में जैसे किरणों में चमकती, हवा के पालने में हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का आभास और 'ऊर्मि' में मधुर-मुखरित हिलोरों की ध्वनि सुनाई पड़ने लगी।" प्रतीक के लिए यह उदाहरण द्रष्टव्य है—

जब कामना सिन्धु-तट आयी, ले सन्ध्या का तारा-दीप।
फाड़ सुनहली साड़ी हँसती, तू क्या अरी प्रतीप?

यहाँ सिन्धु, सन्ध्या, तारा, दीप, सुनहली साड़ी क्रमशः हृदय, आशा का संचार तथा आशा आदि के लिए आये हैं।

अलंकारयोजना में भी छायावाद में नवीनता मिलती है। प्राचीन

अलंकारों के साथ ही नवीन अलंकारों के भी प्रचुर प्रयोग मिलते हैं। यहाँ मूर्त्त के लिए अमूर्त्त उपमान (बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल), अमूर्त्त के लिए मूर्त्त उपमान (अभिलाषाओं की करवट, फिर सुप्त व्यथा का जगना; सुख का सपना हो जाना, भींगी पलकों का लगना), रूपकातिशयोक्ति (बाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से), विशेषणविपर्यय (स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार), मानवीकरण (धीरे-धीरे उतर क्षितिज से, आ वसन्तरजनी), रूपक का व्यधिकरण-आरोप (भ्रमित हो शशि के वदन के बीच में) आदि के प्रचुर प्रयोग हुए हैं।

आलंकारिकता से अधिक नवीनता उपलब्ध है छन्दों में। मात्रिक छन्दों का सुन्दर परिष्कार यहाँ किया गया है। छन्दों के सत्य को पहचानने के कारण ही सबकी ओर से निराला वीणावादिनी से 'नव गति, नव लय, नव छन्द, नवल कण्ठ, नव स्वर' इत्यादि के लिए प्रार्थना करते हैं। प्राचीन छन्दों का सुधार तो इसने किया ही, इसकी सबसे बड़ी देन है मुक्तछन्द। 'मुक्तवृत्त' की योजना इसकी अभूतपूर्व सफलता है जिसके प्रवर्त्तन का श्रेय है निराला को। सचमुच यहाँ छन्दों के बन्धन खुल गये हैं—

> खुल गये छन्द के बन्ध
> प्रास के रजतपाश,
> अब गीत मुक्त
> औ युगवाणी बहती अयास !

सामान्य रूप से कहा जायगा कि छायावाद ने शैलीपक्ष में इतना अधिक साज-शृंगार किया कि यह "काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।"

छायावादियों में सबसे जेठे हैं प्रसादजी—उम्र में भी और लिखने में भी। ये सौन्दर्य और प्रेम के कवि हैं; वैसे, प्रत्यक्ष सौन्दर्य से इन्हें झिझक ही थी। इनका 'आँसू' है तो विरहकाव्य; पर अभिव्यक्ति रहस्यवादी ही है। रहस्यवाद का यथास्थल सिद्धान्तप्रतिपादन हुआ है 'कामायनी' में। 'कामायनी' में युग की समस्या पर ही इनकी दृष्टि है। इसका स्वर गीतात्मक ही है। पलायनवृत्ति तो है ही; कविता को छोड़िए, मनु को ही देख लीजिए न !

छायावाद का अधिकांश भार रहा है पंत और निराला के कन्धों पर। जोड़ी निभी नहीं, निभती कैसे—एक कोमल, दूसरा कठोर ! पंतजी लाये शो-बॉक्स, निराला बने क्रान्तिदर्शी चेतना के वाहक। एक ने लाजवन्ती का स्वरूप अपनाया तो दूसरे ने राम के रूप में शक्ति की पूजा की। पंत भागे प्रकृति की ओर, निराला ने लड़खड़ाते 'भिक्षुक' की लकड़ी सँभाली। वायवी शीशमहल के नष्ट होने पर पंत भी 'बाँसों के झुरमुट' में 'टी वी टुट्-टुट्' करने पर टिक न

सके। युग की पीड़ा को निराला ने अभिव्यक्त ही नहीं किया है, सहा भी है। छायावाद को 'पल्लव' ने मैनिफैस्टो दिया तो 'गीतिका' ने दिया साकार रूप। दोनों सदा प्रायः दूसरे छोर पर ही रहे हैं।

महादेवी को तो छायावाद ने जीवन ही दिया था; अस्तु इन्हें यौवन देना, कर्ज चुकाना ही था। महादेवी रोयीं और रोयीं है सजधज के साथ। गद्य की आग यहाँ आँखों की बरसात ने बुझा दी है। इनका मूल्य कलात्मक ही समझिए। इन चारों के अलावा अन्य छोटे-मोटे लोग भी छायावाद को सजाते-सँवारते रहे हैं।

आज छायावाद नहीं है। उसकी शवपरीक्षा हो चुकी है। प्रसाद और निराला भी नहीं हैं। पंत जहाँ थे, वहाँ से भी हट चुके हैं और महादेवी भी महाश्वेता बन चुकी हैं। प्रसाद की मृत्यु के पश्चात् छायावाद को कोई कर्णधार ही न मिल सका। पंत ने शीघ्र ही धर्मपरिवर्तन कर छुट्टी पा ली। निराला का रास्ता तो थोड़ा भिन्न पहले भी था ही। बेचारी महादेवी क्या करतीं! सन् १९३०-३२ के आसपास ही छायावाद में निराशा का स्वर घुमड़ने लगा था। उसी समय से इसमें दो धाराएँ हो रही थीं—समाजवादी धारा और व्यक्तिवादी धारा। पहली धारा की ओर पंत और निराला का झुकाव अधिक था। इसी धारा की परिणति सन् १९३६ के बाद प्रगतिवादी धारा और पुनः प्रयोगवादी धारा ('तारसप्तक' से) में होती है। यों, छायावादी स्वर की विशेषताएँ इसमें भी वर्त्तमान रही हैं। व्यक्तिवादी धारा का पल्लवन होने लगा बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, भगवतीचरण वर्मा आदि द्वारा। हालावाद इसी धारा की परिणति है।

छायावाद की मृत्यु के सम्बन्ध में पंत का विचार है कि "छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्यबोध और नवीन विचारों का रस नहीं था।" इन्हीं के स्वर में स्वर मिलाती हुई महादेवी वर्मा भी कहती हैं कि "छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्यसत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थरूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया था।" सचमुच यह आश्चर्य की बात तो अवश्य है कि छायावादी आदर्श और साहित्यिक कला मात्र बीस वर्षों में चरमरा जाती है। इसका अर्थ यह नहीं कि वे उपयोगी नहीं थे, आदर्श नहीं थे। वस्तुतः आज के भौतिक युग में परिवर्त्तन की गति इतनी तेज है कि जो उसके साथ कदम-से-कदम नहीं मिला सकता, उसे गिरना ही पड़ता है। यही बात छायावाद की भी है। भले ही छायावाद के आदर्श मर गये हों, पर 'कामायनी' का आदर्श तो आज भी ज्योतित ही है। फिर अभी भी छायावादिता पूरी मिटी कहाँ है? 'नई कविता' का दौर भले ही आ गया है; पर एक ओर कोने में

सिमटी-सिकुड़ी-सी छायावादी आवाज आज भी सुनाई पड़ ही जाती है।

भले ही आज छायावाद इतिहास की वस्तु बन गया है; पर उसके सम्बन्ध में यह तो कहा ही जायगा कि हिन्दी-काव्यधारा का वह एक ऐसा स्वाभाविक विकास था जिसकी नव्यतम परिणति ही 'नई कविता' है। इसका प्रवर्त्तन भले ही प्रसाद द्वारा हुआ था, पर सूत्रपात तो 'उस महापुरुष की लेखनी से हुआ' था जो 'वर्त्तमानकालीन हिन्दी-भाषा का जनक (भारतेन्दु) माना' जाता है। इसने अक्षय सौन्दर्य और अटूट प्रेम का जो मंत्र फूँका वह विश्वव्यापी और शाश्वत तत्त्व ही है। विश्वबन्धुत्व और नव्य मानवता की भावना इसकी अक्षय निधि है। गाँधी ने भी तो इसी के लिए गोलियाँ खायी हैं। वह मर तो गया, पर क्या वह मर कर जी नहीं गया? छायावाद भी मर गया, पर आज भी उसका स्वर गूँज रहा है—

हार बैठे जीवन का दाँव, जीतते जिसको मरकर वीर।

३५

रहस्यवाद

[तात्पर्य—स्थापना—दार्शनिक-सामाजिक विचारभेद : फ्रायड और गोर्की, अद्वैत और द्वैत—अतिवादिता—हिन्दी में प्रारम्भ—उत्स और इतिहास—सीमानिर्धारण : छायावाद, रहस्यवाद—दार्शनिक और साहित्यिक पहलू—आचार्य शुक्ल और स्पर्जन के भेदोपभेद—अनुभूतिभेद : यथार्थ और काल्पनिक—लक्ष्यप्राप्ति की पाँच अवस्थाएँ—प्रवृत्तियाँ : भावपक्ष, कलापक्ष—दार्शनिक परम्परा—कविता में परम्परा : संत, सूफी, आधुनिक कवि]

वाद की दृष्टि से रहस्यवाद महज चालीस-पैंतालीस वर्षों का है, किन्तु अनुभूति की दृष्टि से रहस्य उतना ही पुरातन है जितना ब्रह्मज्ञान। रहस्य का अर्थ है—गुह्य, अव्याख्येय अथवा छिपा हुआ। अप्रकट अथवा अव्याख्येय में 'वाद' की कल्पना ने ही रहस्यवाद को प्रकट किया है। अस्तु, रहस्यवाद का अर्थ होगा, वैसी विचारधारा जिसका मूलाधार अज्ञेय, अव्यक्त, गुह्य, अज्ञात अथवा अव्याख्येय है। इस विश्व में सर्वाधिक अज्ञेय और अव्यक्त तत्त्व है ईश्वर; वही ईश्वर जो सृष्टि के आरम्भ, विकास और संहार का मूल कारण है। इसे जानने-सुनने की कोशिश प्रारम्भ से ही हो रही है। साधक, भक्त, उपासक आदि उसे जानना-पाना चाह रहे हैं; किन्तु 'नेति-नेति' की आवाज ही सुनाई पड़ रही है। रहस्यवाद का सम्बन्ध इसी अव्यक्त अथवा रहस्यमय शक्ति से है। तात्पर्य यह कि रहस्यवाद दर्शन का विषय है। काव्य में रागतत्त्व और भावतत्त्व आवश्यक रूप से होते हैं। अस्तु, काव्य में रहस्य-वाद का अर्थ है—आत्मा और परमात्मा, जीव और ब्रह्म, व्यक्त और अव्यक्त, ज्ञात और अज्ञात की पारस्परिक प्रणयानुभूतियों की रागात्मक व्यंजना। जीवन, जगत् और जगन्नियन्ता के प्रेम और प्रणय की अनुभूतियों की व्यंजना ही यहाँ सर्वस्व है।

रहस्यवाद अपने में जितना ही अधिक सुलझा हुआ है, आलोचकों ने इसे उतना ही अधिक उलझा दिया है। इसके लिए ऐसी-ऐसी परिभाषाएँ गढ़ी-खरादी गयी हैं कि पाठक का कोमल मस्तिष्क चक्कर खाने लगता है और समझने के नाम पर वे खाक-पत्थर बटोरते रह जाते हैं। विश्वास न हो स्वयं आजमा लीजिए—

१. "चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है। × × × रहस्यवाद.............कवि अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है।" —आचार्य शुक्ल।

२. "रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी

अपने ससीम और पार्थिव अस्तित्व से उस असीम एवं अपार्थिव महा-अस्तित्व के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है।" —गंगाप्रसाद पाण्डेय।

३. "रहस्यानुभूति में बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेय हो जाता है।" —महादेवी वर्मा।

४. "काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा का नाम रहस्यवाद है।" —प्रसाद।

५. "जब साधक भावना के सहारे आध्यात्मिक सत्ता की रहस्यमयी अनुभूतियों को वाणी के द्वारा शब्दमय चित्रों में सजाकर रखने लगता है, तभी साहित्य में रहस्यवाद की सृष्टि होती है।" —डॉ० त्रिगुणायत।

६. "रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहता है और वह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में अन्तर नहीं रह जाता है।" —डॉ० रामकुमार वर्मा।

७. "रहस्यवाद शब्द काव्य की एक धाराविशेष को सूचित करता है। वह प्रधानतः उसमें लक्षित होने वाली उस अभिव्यक्ति की ओर संकेत करता है जो विश्वात्मक सत्ता की प्रत्यक्ष, गम्भीर एवं तीव्र अनुभूति के साथ सम्बन्ध रखती है।" —परशुराम चतुर्वेदी।

८. "अपनी अन्तःस्फुरित अपरोक्ष अनुभूति द्वारा सत्य, परमतत्त्व अथवा ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति रहस्यवाद है।"— आत्माराम शाह।

आलोचकों की बात जाने दीजिए, स्वयं रहस्यवादी कवियों ने भी 'कहिबे कूँ शोभा नहीं, देख्याँ ही परमाण', 'देखा है सूँ कत कहूँ', 'अकह कहानी प्रेम की', 'गूँगे का गुड़', 'हे अनन्त रमणीय! कौन तुम? यह मैं कैसे कह सकता!' इत्यादि कहकर इसे उलझाने का प्रयत्न किया है। अस्तु, निष्कर्षस्वरूप सीधी-सादी भाषा में यही कहना चाहिए कि रहस्यवाद का अर्थ है— आत्मा और परमात्मा, जीव और ब्रह्म, व्यक्त और अव्यक्त, ज्ञात और अज्ञात की पारस्परिक प्रणयानुभूतियों की रागात्मक व्यंजना; जीवन, जगत् और जगन्नियन्ता के प्रेम और प्रणय की अनुभूतियों की काव्यात्मक कहानी। काव्य में रहस्यवाद की स्थिति के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—अद्वैतवाद में विश्वास, अव्यक्त अथवा परमात्मसत्ता के साथ भावात्मक सम्बन्धस्थापन और भाषा के माध्यम से सम्बन्ध की रागात्मक अभिव्यक्ति। इन तीनों में से किसी एक के अभाव में रहस्यवाद की कल्पना नहीं की जा सकती। कबीर के 'जल में कुम्भ कुम्भ में जल है' वाले पद में अद्वैत की स्थिति तो है, पर अनुभूति का तारतम्य नहीं है। अस्तु उसमें अद्वैतवाद का तत्त्वकथन तो माना जायगा, किन्तु रहस्यवाद नहीं। 'यह तत्त कथौं ग्यानी' से इसी की

व्यंजना भी है।

यहीं एक और बात विचारणीय है। आचार्य शुक्ल ने रहस्यवाद पर तीखा प्रहार किया है कि "अज्ञेय और अव्यक्त (परमात्मा) के प्रति केवल जिज्ञासा हो सकती है, अभिलाषा या लालसा नहीं।" अर्थात् जो अव्यक्त है, वह परोक्ष भी है। परोक्ष के प्रति अनुमान हो सकता है, राग नहीं। यह राग विश्वसनीय कदापि नहीं हो सकता। निःसन्देह यह प्रहार महत्त्वपूर्ण है; किन्तु यह न भूलना चाहिए कि यह मात्र अव्यक्तविषयक और अज्ञेयविषयक होने के कारण ही त्याज्य है। साथ ही, यह भी कोई पुष्ट तर्क नहीं कि जो वस्तु हमारी नहीं है, वह अच्छी होने पर भी त्याज्य ही है। फिर आज यह भी तो प्रमाणित किया जा चुका है कि रहस्यवाद की धारा विशुद्ध रूप से भारतीय है ही। खैर, यहाँ इतना ही कहा जायगा कि आज की ऐसी भी रहस्यवादी कविताएँ हैं जिनमें रागानुभूति पूर्णतः मिलती है, भले ही उसका कलेवर लौकिक ही क्यों न हो। फिर महादेवी वर्मा का तो स्पष्ट विचार है कि "अलौकिक आत्मसमर्पण को समझने के लिए भी लौकिक सहारा लेना होगा।"

आये दिन लोगों ने रहस्यानुभूति की व्याख्या भी अपने-अपने ढंग से की है। फ्रायड जैसे मनोवैज्ञानिक ने एक ओर इसे दमित वासना का स्वप्निल रसभोग माना है, तो दूसरी ओर गोर्की जैसा समाजवादी विचारक इसे नकली कल्पना के रूप में आत्मपूजन मानता है। एक के लिए यह उन्नयन है तो दूसरे के लिए पलायन। इसी प्रकार एक ओर इसे अद्वैतवाद से सम्बद्ध किया जाता है, किन्तु दूसरी ओर द्वैत कल्पना के आधार पर प्रणयानुभूतियों की अभिव्यक्ति की जाती है। एक बात और। आलोचकों का एक वर्ग अतिवादिता से ग्रस्त होकर काव्य में रहस्यवाद के लिए कोई स्थान ही नहीं स्वीकार करता है। दूसरा वर्ग भी इससे कम अतिवादी नहीं है। वह भी दावा करता है कि जहाँ रहस्यवाद है, वहीं काव्य है, काव्य में रहस्यवाद के अलावा अन्य के लिए कोई स्थान ही नहीं है। पहला पेश करता है तार्किक चिट्ठा, तो दूसरा उठा लाता है अन्यतम रचनाएँ। आखिर किसकी बात मानी जाय? इन वितर्कों पर ध्यान न देते हुए इतना कहना ही हमारा काम्य है कि काव्य में रहस्यवाद का विशिष्ट स्थान है। इसकी परम्परा भारतीय जीवन में वैदिक और औपनिषदिक युग से ही है।

हिन्दी काव्य में रहस्य की अनुभूति तो प्राचीन है, किन्तु रहस्यवाद शब्द लगभग सन् १९२० ई० के आसपास प्रचलित हुआ है। मुकुटधर पाण्डेय, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत की कविताओं की आलोचना के क्रम में ही सर्वप्रथम 'रहस्यवाद' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'गीतांजलि' की कविताओं को आलोचकों ने 'मिस्टिक' अथवा 'रहस्यमय' कहते हुए उसमें निहित भावधारा के लिए 'मिस्टिकल' अथवा 'रहस्यवाद' शब्द चला दिया। सन् १९२७ ई० में 'सुकवि-

किंकर' के नाम से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का निबन्ध 'आजकल के हिन्दी कवि और कविता' शीर्षक से छपा। इसमें 'मिस्टिक' या 'मिस्टिकल' के साथ 'रहस्यवाद' पर विचार करते हुए उन्होंने इसे छायावाद का अनुगामी बताया। उसी वर्ष 'माधुरी' में अवध उपाध्याय की लेखमाला 'रहस्यवाद' के नाम से छपी तथा सन् १९२८ ई० में आचार्य शुक्ल ने 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तिका लिखी। तात्पर्य यह कि इस समय तक आलोचक रहस्यवाद को छायावाद से भिन्न नहीं मान रहे थे। ये छायावाद को विषयवस्तु की दृष्टि से रहस्यवाद ही कह रहे थे। आगे चलकर रहस्यवाद और छायावाद दो स्वतंत्र काव्यधाराएँ स्वीकृत हुईं। प्रसादजी ने 'रहस्यवाद' लेख लिखकर इसकी अखंड परम्परा पुरातन काल से ही दिखाने की चेष्टा की। आचार्य शुक्ल ने रहस्यवाद को 'भारतीय काव्यपरम्परा' से बाहर की वस्तु मानते हुए भी जायसी को प्रथम कोटि का रहस्यवादी कवि घोषित किया। कबीर की पंक्तियों में भी आचार्य शुक्ल ने साधनात्मक रहस्यवाद देखा। डॉ० श्यामसुन्दर दास को कबीर में सुन्दर अद्वैती रहस्यवाद की झलक मिली तथा इन्होंने जायसी के रहस्यवाद को थिगली-सा करार दिया। वैसे आज भी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर में रहस्यानुभूति पाते हैं, पर 'रहस्यवाद' नहीं। ये 'रहस्यवाद' की संज्ञा को कबीर की कविताओं के लिए अनुपयुक्त बतलाते हैं। सारतः कहा जायगा कि आलोचना-जगत् में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ आयीं। इनसे बचते हुए यही कहना समीचीन जँचता है कि रहस्यवाद आधुनिक युग की काव्यप्रवृत्ति ही है, यद्यपि इस प्रवृत्ति का स्फुरण हिन्दी के कतिपय पुराने कवियों में भी मिलता अवश्य है।

छायावाद आदि काव्यधाराओं की तरह रहस्यवाद का स्वतंत्र रूप से सीमा-निर्धारण नहीं किया जा सकता। इतना ही मानना अभिप्रेत है कि इस धारा का अभ्युदय भी छायावादी काव्यधारा के साथ ही हुआ है। छायावाद स्वयं मर गया है, किन्तु इसकी गायिका अभी इसे सँभाले चल रही हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि हिन्दी काव्य में रहस्यवाद की प्रवृत्ति पहले नहीं है। नहीं, यह प्रवृत्ति है तो अवश्य; पर इसी रूप में नहीं। प्राचीन हिन्दी काव्य में इस धारा का जो रूप मिलता है, वह इससे कुछ भिन्न पड़ता है। हाँ, इतना होने पर भी उसे हम रहस्यवाद के अन्तर्गत ही रखेंगे, इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है। श्री जयशंकर प्रसाद और श्रीमती महादेवी वर्मा ने तो इस धारा पर विचार करते हुए इसका सम्बन्ध वैदिक काल से ही जोड़ दिया है। साथ ही, महादेवी वर्मा के अनुसार वर्त्तमान समय के रहस्यवाद ने अपना रूप भी परिष्कृत किया है। उन्हीं के शब्दों में कहना चाहें तो कहेंगे कि "उसने (छायावाद ने) परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन

सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्यभावसूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेहसम्बन्ध की सृष्टि कर डाली, जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्बन दे सका, उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।" इतना सब कह जाने तथा स्वयं प्रथम श्रेणी की रहस्यवादी कवयित्री होने पर भी आज वही कह रही हैं कि "हम यह समझ नहीं सके हैं कि रहस्यवाद आत्मा का गुण है, काव्य का नहीं।"

यहीं एक बात और जान लें कि यद्यपि लोगों ने रहस्यवाद का सम्बन्ध वैदिक काल से जोड़ा है, इसे परम्परा से पल्लवित बताया है; पर यह भी सत्य है कि इसपर पाश्चात्य साहित्य और बँगला की रहस्यवादी काव्यधारा का प्रभाव कम नहीं पड़ा है।

समाजवादी अथवा यथार्थवादी आलोचक रहस्यानुभूति को भले ही काल्पनिक आत्मपूजा अथवा हवाई शीशमहल कह लें; किन्तु रहस्यवादियों के लिए रहस्यानुभूति असन्दिग्ध सत्य है। इसका सत्य स्वतन्त्र है। इसमें किसी दूसरे सम्प्रदाय आदि के खंडन-मंडन की बात नहीं होती। यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय एक ही रहते हैं। ज्ञाता और ज्ञेय में तादात्म्य रहता है। दार्शनिक दृष्टि से इसका क्षेत्र अधिक व्यापक है; पर काव्य में इसकी धारणाएँ अपेक्षाकृत संकीर्ण हो जाती हैं। रहस्यवादी कवि अपनी विधि से प्रायः अनुभववादी और यथार्थवादी ही कहे जायँगे।

रहस्यवाद के विवेचन के क्रम में इसके कतिपय भेद भी गिनाये गये हैं। आचार्य शुक्ल प्रभृति विद्वानों के अनुसार अनुभव के अनुसार रहस्यवाद की तीन कोटियाँ मानी जायँगी—ज्ञानात्मक रहस्यवाद, भावनात्मक रहस्यवाद और साधनात्मक रहस्यवाद। चाहें तो ज्ञानात्मक और साधनात्मक रहस्यवाद को एक ही कोटि में रख सकते हैं। दूसरी ओर स्पर्जन आदि विद्वानों के अनुसार, उपकरण के अनुसार रहस्यवाद के छः भेद माने जायँगे—सौन्दर्य-रहस्यवाद (Beauty mysticism), भक्तिपरक रहस्यवाद (Devotional mysticism), दर्शनपरक रहस्यवाद (Philosophical mysticism), प्रकृति-रहस्यवाद (Nature mysticism), प्रेम-रहस्यवाद (Love mysticism) और शिशु-रहस्यवाद (Child mysticism)। इन भेदों के सम्बन्ध में मुझे इतना ही कहना है कि काव्यधारा चाहे कोई भी हो, वह एक सामान्य प्रवृत्ति को ही लेकर चलती है। उसी सामान्य प्रवृत्ति के आधार पर उसका नामकरण किया जाता है। उदाहरणस्वरूप छायावाद, प्रतीकवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, राष्ट्रीयतावाद इत्यादि पर विचार कर सकते हैं। इन विशेष प्रकार की प्रवृत्तियों की परिचायक विशिष्ट धाराओं के अंगरूप में ही अन्य वस्तुओं के वर्णन हो चलते हैं; पर इनके भेद की कल्पना नहीं की जाती है।

किसी काव्यधारा में जैसे ही भेद होता है, वह एक दूसरी काव्यधारा के रूप में प्रवहमान हो चलता है। उसका नामकरण भी भिन्न हो जाता है। पुनः काव्य का विषय है भाव। भाव के अभाव में काव्य की कल्पना नहीं हो सकती। इस आधार पर कहा जायगा कि रहस्यवाद चाहे कैसा ही हो, उसमें चाहे किसी भी प्रकार की बात कही जाय; उसे काव्य होने के लिए भाव को साथ ले चलना पड़ेगा। अस्तु, रहस्यवाद का यदि कोई रूप होगा तो भावात्मक। अन्य रूप और भेद की कल्पना निराधार है। अस्तु, रहस्यवाद के विभिन्न प्रकार के भेद, जो ऊपर कथित हैं, उनका आधार लचर है। अधिक-से-अधिक उन्हें वर्णन की प्रणालियाँ माना जायगा, रहस्यवाद नहीं। तात्पर्य यह है कि काव्य में रहस्यवाद का केवल भावात्मक रूप ही सम्भव है, अन्य नहीं; शेष इसी के अन्तर्गत हैं।

अनुभूति के आधार पर रहस्यवाद के तो नहीं, पर रहस्यवादी कवियों के दो भेद माने जा सकते हैं—यथार्थ रहस्यवादी और काल्पनिक रहस्यवादी। प्रथम का तात्पर्य वैसे कवियों से है जिन्होंने रहस्य के लिए रहस्य को ग्रहण नहीं किया है, अपितु जिन्होंने साधना के बल पर परमात्म तत्त्व की स्वाभाविक अनुभूति प्राप्त की है। दूसरे वर्ग में वैसे कवियों से तात्पर्य है जिन्होंने पार्थिव प्रेम को आवरण के बल पर अपार्थिव बनाने की कोशिश की है। कबीर, दादू आदि सन्त कवियों का स्थान प्रथम वर्ग में है, जब कि पंत, प्रसाद, निराला आदि का द्वितीय वर्ग में। काल्पनिक रहस्यवादियों में स्वाभाविकता के अभाव के कारण अनुभूतियाँ फीकी और अपेक्षाकृत रंगहीन प्रतीत होती हैं। पंत और निराला की रहस्यवादी अभिव्यक्तियाँ अधिकांशतः ऐसी ही तो हैं।

रहस्यवादी कवियों का अन्तिम लक्ष्य होता है अज्ञेय अथवा अव्यक्त परमात्म-सत्ता का साक्षात्कार अथवा मिलन। इस लक्ष्य की प्राप्ति एकाएक असम्भव है। इसके निमित्त पर्याप्त साधना की आवश्यकता होती है। लक्ष्यप्राप्ति की दृष्टि से रहस्यवाद की कुल पाँच अवस्थाएँ मानी जा सकती हैं—जिज्ञासा, आत्मपरिष्कार, आंशिक अनुभूति, बाधा और साक्षात्कार। अव्यक्त सत्ता के प्रति जिज्ञासा की भावना ही मूलभावना अथवा प्रथम अवस्था है। 'निर्झरेर स्वप्नभंग' शीर्षक कविता में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की यही भावना अभिव्यक्त हुई है—

आजि ए प्रभाते रविर कर
केमनें पेशिलो प्राणेर पर
केमने पशिलो गुहार आँधारे प्रभात पाखिर गान।
ना जानि केनो रे एतदिन परे जागिया उठिलो प्राण॥

पंत ने इसी बालसुलभ जिज्ञासा को 'वीणा' में इस प्रकार प्रकट किया है—

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि, तूने कैसे पहचाना ?

यहाँ रवीन्द्र के समान ओज और पौरुष नहीं है। 'मौन निमन्त्रण' शीर्षक कविता में भी ऐसी ही जिज्ञासा है। परोक्ष और अज्ञात के प्रति इस जिज्ञासा अथवा अभिलाषा के मूल में असन्तोष की ही भावना है। इस असन्तोष की भावना का पल्लवन 'ज्ञात सीमाओं के असन्तोष' से ही हुआ है। भले ही यह परोक्ष जिज्ञासा ही बना रह गया हो, पर इससे काल्पनिक सुख की सृष्टि तो हुई ही है। तभी तो महादेवी कहती हैं—

> जब असीम से हो जायेगा, मेरी लघु सीमा का मेल,
> देखोगे तुम देव, अमरता खेलेगी मिटने का खेल ।।

और जब महादेवी 'आते-जाते मिट जाऊँ, पाऊँ न पंथ की सीमा' कहती हैं तो यही जिज्ञासा आकांक्षा के रूप में व्यक्त हो चलती है। भले ही आचार्य शुक्ल परोक्ष को जिज्ञासा का विषय मानें, अभिलाषा का नहीं; किन्तु रहस्यवादियों की ओर से महादेवी वर्मा जो स्पष्ट रूप में स्वीकार करती हैं कि 'अपनी व्यक्त अपूर्णता को अव्यक्त पूर्णता में मिटा देने की इच्छा' ही रहस्यवाद है, उसका यही रहस्य है।

जिज्ञासा की भावना का ही रूप कबीर और जायसी में जाग्रदवस्था में मिलता है। इसी अवस्था में यहाँ जिज्ञासा मिलती है—

> कबीर जागया हि चाहिए, क्या घर क्या परदेश। —कबीर
> जब भी चेत उठा बैरागी। —जायसी

रहस्यवाद की दूसरी अवस्था है आत्मपरिष्कार अथवा आत्मचिन्तन की। अध्ययन-मनन आदि के द्वारा इसी समय जीव में अद्वैत के प्रति दृढ़ आस्था होती है। कबीर का हठयोगी बाना और जायसी का सूफी विधान ('कल्ब' को शुद्ध कर 'रूह' को विकसित करना) इसी अवस्था के अन्तर्गत हैं। खुदा में खुदी और खुदी में खुदा, जल में कुंभ और कुंभ में जल, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, अनलहक आदि का ज्ञान इसी अवस्था में हो जाता है। इसी के पश्चात् आती है तीसरी अवस्था, जहाँ रहस्यवादियों को परमात्मतत्त्व की आंशिक अनुभूति होने लगती है। यहाँ 'हे अनन्त रमणीय! कौन तुम? यह मैं कैसे कह सकता' की स्थिति मिट जाती है और 'तुम कुछ हो, ऐसा होता भान' की स्थिति हो आती है। इसी से रहस्यवादी विरह की अनुभूति प्राप्त करते हैं और कह उठते हैं—

> १. नैहरवा हमको नहिं भावे।
> साँई की नगरी परम अति सुन्दर जहँ कोई जाइ न आवै ।। —कबीर
> २. जहाँ न रात न दिवस है, जहाँ न पौनि न पानि।
> तेहि बन सुअटा चल बसा, कौन मिलावै आनि ।। —जायसी
> ३. नहीं अब गाया जाता देव, थकी अँगुली, हैं ढीले तार।
> विश्ववीणा में अपनी आज, मिला लो यह अस्फुट झंकार ।। —महादेवी

आंशिक अनुभूति के पश्चात् की अवस्था है विघ्नावस्था। इसी अवस्था में कबीर ने माया, संशयग्रस्त मन, पारिवारिक बन्धन आदि की चर्चा की है। जायसी

ने रतनसेन के मार्ग में आने वाली बाधाओं—समुद्र का तूफान, राघव-चेतन आदि—का वर्णन इसी के क्रम में किया है। विघ्नावस्था के रूप में महादेवी ने संसार के विविध उपादानों को चित्रित किया है। इसी से वे कभी नभ की दीपावलियों को बुझ जाने के लिए, कभी कोयल और पपीहे को अपनी रट बन्द करने के लिए कहती हैं।

रहस्यवाद की अन्तिम और पाँचवी अवस्था मानी जायगी साक्षात्कार अथवा मिलन की अवस्था। इसमें आत्मा और परमात्मा के मिलन के रूप में लौकिकता के धरातल पर नायक-नायिका, पति-पत्नी की मिलन-अनुभूतियों के चित्र मिलते हैं—

१. थरहर कम्पै बाला जीव, ना जानै का करसी पीव।
रैनि गई मत दिन भी जाय, भँवर गए बग बैठे आय॥ —कबीर

२. अनचिन पिउ काँपै मन माँहा, का मैं करब गहब जो बाँहा।
बारि बैस गइ प्रीत न जानी, जुवा भई मैं मंत भुलानी॥—जायसी

महादेवी वर्मा ने मिलन की अनुभूतियों की चर्चा स्वप्नों की स्मृति के रूप में की है। मिलन की अवस्था के समय की क्रियाएँ महादेवी में द्रष्टव्य हैं—

मैं आज चुपा आयी 'चातक', मैं आज सुला आयी 'कोकिल।
कंटकित 'मौलश्री', 'हरसिंगार' रोके हैं अपने श्वास शिथिल!

बात यहीं नहीं रुकती, वे बाद में भी कह उठती हैं—

मेरे नीरव मानस में, वे धीरे-धीरे आये!

किन्तु एक बात सदा याद रहनी चाहिए कि महादेवी ने पीड़ा को ही गले लगाया है। अस्तु, वे मिलनसुख की अपेक्षा पीड़ा से ही अधिक प्यार करती हैं। इसी से इनमें मिलनसुख की अपेक्षा पीड़ा की ही व्यंजना अधिक मिलती है।

रहस्यवाद की विभिन्न अवस्थाओं को जान लेने के पश्चात् इसकी कतिपय प्रमुख प्रवृत्तियों को भी जान लेना उत्तम होगा। प्रवृत्तियाँ मूलतः दो ही रूपों में देखी जाती हैं—भावपक्षगत और कलापक्षगत। रहस्यवादी कविताओं के कलापक्ष में प्राय वे सभी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं जो छायावाद में हैं। इनमें मुख्य प्रवृत्ति हैं दो ही—प्रतीकात्मकता और गेयता। लाक्षणिकता भी गौण रूप से मिलती ही है। रहस्यवादी परमात्मतत्त्व को प्रतीकों के माध्यम से ही बताते हैं। प्रतीक-विधान जब अत्यधिक सांकेतिक हो जाते हैं तो रचना अबूझ रह जाती है। अबूझ की पद्धति आधुनिक कवियों की अपेक्षा कबीर में ही अधिक है। इस कविता के प्रतीक प्रायः 'स्वप्न-मिलन', 'आत्मविस्मृति', 'आवरण', 'अज्ञात आकर्षण', 'उन्मत्त खोज' आदि के होते हैं। आधुनिक रहस्यवादी कविता में प्राचीन भारतीय प्रतीकों के व्यवहार तो चलते ही हैं, नवीन प्रतीक भी काम में लाये जा रहे हैं। गेयता और गीतात्मक शैली इस कविता की दूसरी प्रवृत्ति है। सभी ने इस शैली का

निर्वाह किया है। कलागत प्रवृत्तियों में अन्य सामान्य बातें भी आती हैं—अलंकारविधान, लाक्षणिकता, चित्रात्मकता इत्यादि।

भावगत प्रवृत्तियों में चार प्रमुख प्रवृत्तियाँ मिलती हैं—सार्वभौम भावना, मानवीय अनुभूतियों के लिए प्रेमसम्बन्ध का स्थापन, प्रेम में स्वच्छता-पवित्रता और पीड़ा, दैन्य एवं आत्मसमर्पण की भावना। हिन्दी के प्रत्येक रहस्यवादी कवि में ऊपर की सभी मान्यताएँ मात्रा की कमी-बेशी के साथ अवश्य मिल जाती हैं। सार्वभौम भावना की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। साथ ही, विभिन्न युगों में इसके स्वरूप में भी परिवर्त्तन होता रहा है। सूफियों का सर्वात्मवाद, प्लेटो और प्लोटिनस का प्रतिबिम्बवाद, अँगरेजी कवियों का प्रकृतिवाद और हिन्दी के कवियों का भारतीय अद्वैतवाद—अहं ब्रह्मास्मि, सर्व खल्विदं ब्रह्म—सार्वभौम भावना की ही अभिव्यक्ति है। उपनिषदों का विराट् और सार्वभौम तत्त्व ही कबीर में 'पिण्ड' में व्यक्त होनेवाला 'ब्रह्मांड', जायसी में 'पारसरूप', रवीन्द्र में 'विराट् मानव', प्रसाद में 'विश्वसुन्दरी प्रकृति में चेतना का आरोप' और महादेवी में 'अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व के आरोपण' के रूप में प्रकट हुआ है।

रहस्यानुभूति की दूसरी प्रवृत्ति है परमात्मतत्त्व में मानवीय सम्बन्धों का स्थापन। तथाकथित शिशु-रहस्यवाद, दाम्पत्य-रहस्यवाद आदि का सम्बन्ध इसी से है। इसी से कभी 'हरिजननी मैं बालक तोरा' और कभी 'राम की बहुरिया' की भावना व्यक्त होती है। इन सम्बन्धों में सर्वाधिक प्रिय सम्बन्ध है पति-पत्नी का। प्रायः सभी ने ईश्वर को पतिरूप में देखा है। इसमें अरूप की आराधना हो चली है।

रहस्यवाद की तीसरी प्रवृत्ति है प्रेम के प्रकटीकरण में। दाम्पत्य का चित्रण हो चलने पर भी इसमें लौकिक शृंगार के समान नग्न चित्रण का प्रायः सर्वत्र अभाव मिलता है। शृंगारकालीन कवियों की तरह यहाँ कविता तवायफ नहीं बनायी गयी है। यहाँ विरह और मिलन के चित्र हैं, पर विपरीतरति, जुगुप्सोत्पादक क्रिया-कलाप नहीं; आँसू बहते हैं, पर दिखावे के लिए नहीं; हृदय में प्रेम के बाण लगते हैं, पर हृदय को चीरकर रक्तप्रवाह जारी नहीं करते। सर्वत्र शालीनता और औचित्य का निर्वाह होता चला है।

चौथी प्रवृत्ति है पीड़ा, दैन्य और आत्मसमर्पण की भावना की व्यंजना। इन भावनाओं का उदय और विकास स्वाभाविक है। महादेवी में तो रहस्यानुभूतियाँ उसी दिन से आरम्भ ही हुई हैं, जिस दिन—

> इन ललचायी पलकों पर, पहरा था जब व्रीड़ा का।
> साम्राज्य मुझे दे डाला, उस चितवन ने पीड़ा का॥

इसी से उन्होंने पीड़ा को अपना मान लिया है, उससे समझौता कर लिया है और

अब पीड़ा में ही परमात्मा को खोजने निकली हैं, परमात्मा में भी इन्हें पीड़ा जो खोजनी है—

पर शेष नहीं होगी यह, मेरे प्राणों की क्रीड़ा।
तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा।

इसी से तो ये मिलन की बेला में अभिमानिनी बनकर कह उठती हैं—

सजनि ! मधुर निजत्व दे, कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं ?

दैन्य और आत्मसमर्पण की भावना भी रहस्यवादियों की अपनी है। दूसरों की बात छोड़िए, यहाँ तो कबीर जैसा मस्तमौला, अक्खड़ और फक्कड़ फकीर भी राम की 'मुतिया' बन चुका है—

कबीर कूता राम कूँ, मुतिया मेरा नाँउ।
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाँउ॥

प्रवृत्तिनिरूपण के पश्चात् हिन्दी काव्य में रहस्यवाद की ऐतिहासिक चर्चा भी आवश्यक है। हिन्दी काव्य में रहस्यवाद की चर्चा उस समय तक अधूरी ही रहेगी, जबतक इसकी परम्परा की भी हल्की चर्चा न कर ली जाय।

रहस्यवाद की चर्चा के क्रम में प्रथम प्रसादजी ने तथा पुनः महादेवी वर्मा ने इसकी भारतीय परम्परा वेदों में खोज निकाली है। वस्तुतः भारतीय तत्त्वज्ञान की अपनी परम्परा है। यद्यपि पूर्णरूप में रहस्यवाद का विकास बाद में होता है, पर जिज्ञासा आदि के रूप में इसके कुछ तत्त्व ऋग्वेद में भी मिलते हैं। सौन्दर्य-दृष्टि पर विस्मय, आत्मनिवेदन, अव्यक्त चेतन से तादात्म्य की इच्छा आदि के रूप भी वहाँ प्राप्य हैं—

क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुराचित्। —ऋ० ७-८८-५

(हे वरणीय स्वामी ! हम दोनों का वह पूर्व का अविच्छिन्न सख्यभाव कहाँ गया जिसे मैं व्यर्थ खोज रहा हूँ।)

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षुषो एमि चिकितुषो विपृच्छम्। —ऋ० ७-८६-३

(हे वरणीय ! मैं दर्शनाकांक्षी होकर तुझसे अपना वह दोष पूछता हूँ जिसके कारण यहाँ बँधा हूँ। मैं दर्शन का अभिलाषी जिज्ञासु तेरे समीप आया हूँ।)

और, यहाँ देखिए जिज्ञासा—

क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥
—अथर्व० १०-७-६

(विपरीत रूप वाले, गौर और श्याम दिन-रात कहाँ पहुँचने की अभिलाषा करके जा रहे हैं ? वे सरिताएँ जहाँ पहुँचने की अभिलाषा से चली जा रही हैं उस परम आश्रय को बताओ। वह कौन है ?)

इसके पश्चात् उपनिषदों में अद्वैत का प्रतिपादन हो चलता है। रहस्यवाद के

साररूप यहाँ उपस्थित हैं। उपनिषदों में 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है), 'नेह नानास्ति किंचन' (यहाँ नाना रूप कुछ नहीं है), 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' (वह अन्य है, मैं अन्य हूँ, जो यह जानता है, वह नहीं जानता) आदि के द्वारा आत्मा और परमात्मा की एकता व्यक्त की जाती है। जायसी के 'पिउ हिरदय महँ भेंट न होई' और कबीर के 'लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल' के भावसाम्य यहीं मिलते हैं। इन्हें क्रमशः यों देखिए—

सूक्ष्माच्च सूक्ष्मतरं विभाति दूरात् सुदूरे तदिहन्तिके च। —मु० उप०

(वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर भासमान होता है और दूर से भी दूर; पर इस शरीर में अत्यन्त समीप भी है।)

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

(उसके प्रकाशित होने से सब-कुछ प्रकाशित होता है। सारा संसार उसी से आलोकित है।)

वस्तुतः उपनिषदों में अद्वैत ज्ञान की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गयी है। रहस्यवादियों में इसकी रागात्मक प्रतिष्ठा होती है। उपनिषदों का महत्त्व सर्वोपरि है। जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर ने इसी से विश्वधर्म के रूप में उपनिषदों के प्रतिष्ठित होने की बात कही है—"In the world there is no study so beneficial and so elevating as that of the Upanishads.... They are a product of the highest wisdom ....It is destined sooner or later to become the faith of the people."

इसी रहस्यभावना का विकास नये सिरे से शंकराचार्य द्वारा किया जाता है। बौद्धों और जैनियों पर भी उपनिषद् का प्रभाव क्रमशः 'सर्वभूतहित', 'मा हिंस्यात्', 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' आदि के रूप में पड़ता है। सिद्धों की साधनापद्धति में भी रहस्यवाद का विकास हो चलता है। नाथपंथियों में भी इसका रूप मिलता है। दूसरी ओर वैष्णव भक्तिसम्प्रदाय के माध्यम से भी इसका विकास हो चलता है। आलवार-भक्त अन्दाल और बंगाल के चैतन्य महाप्रभु में इसी के रूप विकसित होते हैं। भारतीय अद्वैतवाद ही सूफियों में सर्वात्मवाद का रूप लेता है। सार यह कि रहस्यवाद का भारत में क्रमिक विकास हो चलता है। वेदान्त की विभिन्न धाराएँ इसी से अनुप्राणित हैं। आधुनिक युग में राजा राममोहन राय, रामकृष्ण, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ आदि औपनिषदिक अद्वैत से ही अपना मत स्थिर करते हैं।

औपनिषदिक अद्वैती ब्रह्मवाद ही चीन में लाओ-त्जे के 'ताओ' में प्रतिफलित होता है। ग्रीक रहस्यवादियों—प्लेटो और प्लोटिनस—के प्रतिबिम्बवाद में यही अद्वैती भाव है। इन्हीं से प्रभावित है ईसाइयों का रहस्यवाद। डायोनिसीयस,

एकहार्ट, दांते आदि भी इसी से प्रभावित होते हैं। यद्यपि ईसाइयों में रहस्यवाद धर्म की परिधि में ही उत्पन्न होता है, फिर भी उनके प्रकृतिवाद और प्रेम के स्वभाव में अद्वैती ब्रह्मवाद की झलक स्पष्ट है। वहाँ प्रेम पर अधिक बल दिया जाता है—"It is nature of love to change a man into which he loves." हमारे तत्त्वदर्शियों के 'यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः' (जिसको ज्ञात नहीं उसको ज्ञात है, जिसको ज्ञात है वह उसे नहीं जानता) विचार की तरह ही परमात्मा के सम्बन्ध में उनका विचार—"If any one sees God and understand what he sees he has not seen God at all."—है। हिन्दी के आधुनिक कवियों के रहस्यवाद पर पश्चिमी रहस्यवाद के प्रभाव भी इसी से दीखते हैं। वस्तुतः यह प्रभाव नहीं, भारतीय विचारधारा का क्रमिक विस्तार है।

हिन्दी कविता में रहस्यवादी प्रवृत्तियों की चर्चा के क्रम में सर्वप्रथम नाम संतों का लिया जाता है। कबीर, दादू आदि ही पहले विचारणीय समझे जाते हैं। हिन्दी के प्रथम रहस्यवादी कवि हैं कबीर। 'निर्गुण ज्ञानाश्रयी' का साइनबोर्ड लगाकर इन्हें ज्ञानमार्गी ही बताने की अधिक चाल रही है; यद्यपि ये प्रेम के ढाई अक्षरों पर ही मरते-मिटते रहे हैं। इनमें रहस्यवादी विरह की सच्ची अनुभूति मिलती है—

> आँखड़ियाँ झाँई पड़्या, पंथ निहारि-निहारि।
> जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि-पुकारि॥

किन्तु यह भी झूठ नहीं है कि इन्होंने 'इला और पिंगला', 'माली और कली' की बात अधिक की है। साथ ही अनावश्यक फटकार के कारण इनके काव्य की सरसता भी उसी में विलीन हो गयी है। इसी फटकार के कारण आचार्य शुक्ल ने इन्हें काव्यानुभूति से रिक्त कहा है और इनमें कविहृदय की अस्वीकृति की है। यह सच है कि हिन्दी साहित्य इनसे प्रभावित नहीं होता है। इनकी खँजड़ी से निर्गुण का जो स्वर निकलता है, वह आगे पंथनिर्माण में लग जाता है और हिन्दी साहित्य सूर के सागर तथा तुलसी के मानस से ही आगे बढ़ चलता है। रहस्यवाद की भी सम्पूर्ण स्थितियों के इनमें दर्शन नहीं होते हैं। प्रकृतिसम्बन्धी रहस्यवाद के प्रति इनमें कोई दिलचस्पी नहीं है।

संत कवियों में दादू, रैदास आदि अनेक लोगों में रहस्यवाद की व्यंजना मिलती है। इन संतों के रहस्यवाद का मूल्यांकन करने पर यौगिक शब्दावली, खण्डन-मण्डन, जटिलता-दुरूहता आदि के दोष भी दिखाये जाते हैं। बहुत हद तक इसमें सत्यता है ही।

संतों के पश्चात् रहस्यवाद की धारा सूफी कवियों में मिलती है। सूफियों ने

अनलहक अथवा सर्वात्मवाद की अभिव्यक्ति लौकिक प्रेमाख्यानों के माध्यम से की है। इनमें जायसी ही एकमात्र ऐसे सच्चे कवि हैं जिनमें रहस्यवाद की यत्र-तत्र स्थिति मिलती है। यों कुछ और सूफी कवियों के भी नाम गिनाये जाते हैं; पर उनमें लौकिक व्यंजना और स्थूलता ही अधिक है। स्थूल विवरणों की कमी जायसी में भी नहीं है। जायसी ने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति के लिए कतिपय संकेतों से काम लिया है। प्रकृति को प्रियतम के बाण से बिंधा देखना, प्रकृति में परोक्ष सत्ता को उद्भासित देखना, परोक्ष सत्ता का हृदय में स्थित होना, परोक्ष सत्ता की प्राप्ति के लिए प्रकृति में व्याकुलता आदि ऐसे ही संकेत हैं। इनके रहस्यवाद पर रसेश्वर-मत और कृष्णभक्ति के माधुर्य का भी पूर्ण प्रभाव दीखता है। 'दशम दुआर', 'घड़ियाल', 'अनहद नाद' आदि की चर्चा यहाँ भी हुई है; पर 'प्रेम की पीर' ही मुख्य है। कबीर और जायसी के रहस्यवाद पर समन्वित रूप में विचार करते हुए डॉ० त्रिगुणायत ने बताया है कि "कबीर और जायसी दोनों ही हिन्दी साहित्य के सुन्दर रहस्यवादी कलाकार हैं। दोनों ने अपनी-अपनी भावनारूपी वधुओं की झाँकी अपने-अपने ढंग से सँवारी है। वे दोनों वधुएँ रहस्यात्मकता की दृष्टि से समान होते हुए भी एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं।" इधर डॉ० गणपतिचन्द्र का विचार है कि "पद्मावतकार को रहस्यवादी बताना भ्रान्तिमात्र है।" ये जायसी में रहस्यवाद की स्थिति मानते ही नहीं हैं।

यों तुलसी, सूर, मीरा आदि की कुछ पंक्तियों में रहस्यवादी अभिव्यक्ति भी खोजने वाले कम नहीं हैं; पर सच बात तो यह है कि इन भक्त कवियों में रहस्यवाद नहीं है। इन्हें रहस्यवादी कहने का भ्रम छोड़ना चाहिए। आश्चर्य तो तब होता है जब 'हिन्दी साहित्यकोश' जैसे अमूल्य ग्रन्थ में भी सूरदास, तुलसीदास और मीराबाई को रहस्यवादी ही नहीं कहा गया है बल्कि ऐसा भी लिखा गया है कि 'अमूल्य कृतियाँ दी हैं'। तात्पर्य यह कि 'रामचरितमानस' और 'सूरसागर' भी रहस्यवादी कृतियाँ ही हैं। इसे भ्रान्तिमूलक विचार न कहा जाय तो क्या कहा जाय ?

आधुनिक युग में प्रथम रहस्यवादी कवि हैं श्री जयशंकर प्रसाद। इसके पश्चात् पंत, निराला आदि के नाम भी रहस्यवाद में लगभग जुटते ही हैं। सब से बाद आती हैं महादेवी, पर टिकती हैं सब से अधिक। आधुनिक रहस्यवाद पर रविबाबू का प्रभाव तो पड़ता ही है, अँगरेजी के रहस्यवादी कवियों का भी कम प्रभाव नहीं पड़ता। 'कामायनी' में रहस्यवाद के प्रायः सभी प्रकार के रूप मिल जाते हैं; पर असल में वहाँ शैव दर्शन के अनुकूल आनन्दवादी रहस्यवाद ही सर्वाधिक विन्यस्त है। निराला के ऊपर रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के विचारों का प्रभाव मिलता है। पंत में रहस्यवाद की प्रथम अवस्था

ही अधिक स्फुट है। महादेवी वर्मा प्रारम्भ में जहाँ थीं, आज भी वहीं हैं। इनका न तो स्थानान्तरण हुआ है और न धर्मपरिवर्त्तन। निश्छल भाव से आज भी पीड़ा के गीत गा रही हैं। आधुनिक युग के कवियों को यथार्थवादी रहस्यवादी नहीं, अपितु काल्पनिक रहस्यवादी ही कहेंगे; चूँकि इनमें निष्ठा और साधना की अपेक्षा कल्पना ही अधिक है।

द्रौपदी के इस चीर को सहेजने के पूर्व भविष्य की सम्भावनाओं और जन-मानस के विचारों से परिचित हो लेना भी आवश्यक है। आज प्रायः ऐसा प्रश्न उठता है कि समाजवादी दृष्टिकोण से इस प्रकार की कविता का मूल्य क्या है? निस्सन्देह यह उपयोगितावादी बाप से उत्पन्न न हो; पर इतने ही से यह उपेक्षित कैसे हो जाय। आखिर यह भी कविता है। कविता की आलोचना करते समय हमें उपयोगितावादी तुला नहीं लेनी चाहिए। हमारे लिए सुन्दर रूप में परीक्षणीय यही है कि कवियों ने अनुभूति की सत्यता को रम्यता की लपेट में किस हद तक अभिव्यक्त किया है। क्या अभिव्यक्तिगत दुर्बलताएँ भी उनमें हैं? कवि तो समाज की इकाई है। समाज की गतिविधियों से प्रभावित होने के कारण उसका काव्य उनसे अछूता कैसे रह सकता है। हाँ, यदि कवि अनुभूति को सही और सबल रूप में अभिव्यक्त न करे, तभी वह दोषी होगा। रही बात भविष्य की। वह तो समाज और व्यक्ति पर निर्भर करता है। यदि आज यह धारा मन्द है, तो पुनः भी यह तीव्र हो सकती है। आखिर इसमें औपनिषदिक तत्त्वज्ञान—विश्वात्मा की सत्ता—ही है न! यदि शोपेनहावर की भविष्यवाणी— "देर या सबेर, यही (उपनिषद्) जनता का धर्म होगा, यह निश्चित है" (It is destined sooner or later to become the faith of the people)—सही है, तो रहस्यवाद का भविष्य भी अन्धकारपूर्ण कदापि नहीं माना जायगा।

३६

प्रगतिवाद

[पूर्वानुषंग—१६३० ई० : व्यक्तिवाद-समष्टिवाद—१६३६ ई० : प्रगतिवाद—प्रगतिशीलता : प्रगतिवाद—प्रगतिवाद : तात्पर्य—साहित्य नहीं : सीमारेखा नहीं—प्रगतिशील लेखक-संघ : छायावाद का ही ह्रास और लाभ—१६३५ ई० : पेरिस प्रगतिशील लेखक-संघ से प्रारम्भ—भारत में प्रारम्भ : पूर्व, भारतेन्दु, द्विवेदी, छायावाद का युग और आचार्य शुक्ल—प्रगतिवाद : अभारतीय—प्रगतिशील उदार : प्रगतिवाद जड़—मार्क्सीय जीवनदर्शन—प्रवृत्ति-परीक्षा : वस्तु, भाव, कला—प्रतीक और व्यंग्य—रसाभास—छन्द—उपलब्धियाँ और भविष्य]

गति ही जीवन है और अगति ही मृत्यु। प्रत्येक सच्चा कलाकार प्रगतिशील होता है। एक नया सन्देश, एक नयी संवेदना प्रत्येक सच्चा कलाकार देना चाहता है। हिन्दी कविता में भी युगानुरूप प्रगतिशीलता सदा रही है। आज अतीत की हिन्दी कविता हमें साम्प्रदायिक अक्षयवट और दरबारी कल्पवृक्ष के रूप में भले ही दिखाई दे, पर उसमें भी युगानुरूप प्रगतिशीलता रही है। ब्रजी बाँसुरी के स्थान पर खड़ी का शंख आया, कमल-पंखुरियों की कोमलता में द्विवेदी-युग की लौह-कठोरता आयी—यहाँ भी प्रगतिशीलता ही है। द्विवेदी-युग के शिलाखंडों के अन्तर से फूटने वाले कोमल निर्झर छायावाद में भी प्रगतिशील सन्देश भरे हैं। भले ही इसने शो-बॉक्स का रूप ले लिया हो, इसके लजीले कपोल खुरदुरे और ठेलेदार हथेलियों के स्पर्शमात्र से कुम्हला जाते हों; पर निराला के मुक्तवृत्त और विषयवस्तु की यथार्थता का रूप यहीं निखरता है। नवीन और दिनकर की राष्ट्रीय कविताओं में भारतीय सामाजिकता का रूप छायावाद में ही निखरता है। छायावादी कविताओं में सन् १६३० ई० के आसपास से ही दो प्रकार के स्वर मिलने लगे थे—व्यक्तिवादी और समष्टिवादी। व्यक्तिवादी स्वर ही बच्चन आदि द्वारा बढ़ता-सँवरता नया रूप ग्रहण करता, बिल्कुल बदल कर उपस्थित होता है अज्ञेय में, जहाँ से विकस उठता है प्रयोगवाद। समष्टिवादी धारा यथार्थ का पल्ला ग्रहण करके बढ़ती है और सन् १६३६ ई० के आसपास यही प्रगतिशीलता बनाम प्रगतिवाद के रूप में अभिहित की जाने लगती है।

ऊपर मैंने कहा है 'प्रगतिशीलता बनाम प्रगतिवाद'। यहाँ थोड़ी विवेचना आवश्यक है। आज ऐसे भी विचारक हैं जो प्रगतिशील साहित्य और प्रगतिवाद को एकार्थक मानते हैं। इनका तर्क है कि "जिस तरह छायावाद और छायावादी कविता भिन्न नहीं हैं, उसी तरह प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य भी भिन्न नहीं

हैं।" वस्तुतः यह तर्क मिथ्या है। जिस समय प्रगतिवादी कविताओं का लेखन प्रारम्भ ही हुआ था, उसी समय लोग भ्रमवश प्रगतिवादी कविता और प्रगतिशील कविता को एक मान बैठे थे। पर, यह भ्रम अधिक दिनों तक रह न सका। प्रगतिवाद अपने असली स्वरूप में ज्यों ही सामने आया, इस भ्रम का पर्दाफाश हो गया। लोगों ने देख लिया कि घोड़े की खाल के नीचे वस्तुतः गदहा ही है, घोड़ा नहीं। प्रगतिवादी साहित्यकारों ने व्याख्या तो की प्रगतिशील साहित्य की, पर व्यवहार-रूप में दिया प्रगतिवादी साहित्य—साहित्य के नाम पर साम्यवादी प्रोपेगेण्डा। तभी तो स्वस्थ प्रगतिशील विचारक शिवदान सिंह चौहान ने स्पष्टरूप से स्वीकार किया कि "प्रगतिशील साहित्य और प्रगतिवाद ये दोनों एकार्थक नहीं हैं, और न प्रगतिशील लेखक का प्रगतिवादी होना जरूरी है।" आज यह स्पष्ट है कि दोनों एक नहीं हैं, यद्यपि इसे एकार्थक मानने वाले रूसी समर्थकों की कमी नहीं है। सच बात तो यह है कि प्रगतिवाद के अन्तर्गत भी प्रगतिशीलता के तत्त्व मिलते हैं; पर मात्र प्रगतिवादी साहित्य ही प्रगतिशील साहित्य नहीं है। प्रगतिशील साहित्य का पेटा बड़ा है, प्रगतिवाद का संकीर्ण। पहला सच्ची मानवता और राष्ट्रीयता, जनतंत्र और सांस्कृतिक विरासत का साहित्य है; पर दूसरा प्रचारात्मक और सामयिक। इसमें मार्क्सवादी दृष्टिकोण ही प्रमुख है। ऐसे अनेक कवियों और लेखकों का हमें पता है जो प्रगतिशील तो रहे हैं पर प्रगतिवादी नहीं। निराला की कविता प्रगतिशील है पर प्रगतिवादी नहीं। भारतेन्दु, आचार्य शुक्ल, प्रेमचन्द, दिनकर, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि का साहित्य प्रगतिशील तो है, पर प्रगतिवादी नहीं।

आखिर प्रगतिवाद है क्या? 'प्रगति' शब्द 'प्रोग्रेस' के आधार पर बना है, जिसका अर्थ है आगे चलना। सामान्य रूप से इसका अर्थ होगा—आगे चलने वाले, आगे बढ़ने वाले अथवा विकसनशील। इस आधार पर प्रगतिवाद का अर्थ होगा विकसनशील सिद्धान्त या आगे बढ़ाने वाला सिद्धान्त। काव्यपरम्परा में प्रगतिवाद का अर्थ होगा वैसी प्रवृत्ति या विचारधारा जो आगे बढ़ाने की कायल हो। शाब्दिक अर्थ के रूप में इस प्रकार का अर्थ भले ही हम दें: पर व्यवहार में दूसरी बात ही मिलती है। वस्तुतः राजनीति के क्षेत्र का मार्क्सवाद या साम्यवाद, सामाजिक क्षेत्र का समाजवाद और दर्शन के क्षेत्र का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवाद के रूप में मान्य हुआ है। हिन्दी विचारकों ने प्रगतिवाद की परिभाषा और व्याख्या कुछ इस प्रकार से की है कि इससे विशिष्ट प्रवृत्ति अथवा विचारधारा का द्योतन होने लगा है—"प्रगतिवाद सामाजिक यथार्थवाद के नाम पर चलाया गया वह साहित्यिक आन्दोलन है, जिसमें जीवन और यथार्थ के वस्तुसत्य को उत्तरछायावादकाल में प्रश्रय मिला और जिसने सर्वप्रथम यथार्थवाद की ओर समस्त साहित्यिक चेतना को अग्रसर होने की प्रेरणा दी।" (—लक्ष्मीकान्त वर्मा)। यहाँ

स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि "प्रगतिवाद साहित्य की धारा नहीं, साहित्य का मार्क्सवादी दृष्टिकोण है; जैसे रससिद्धान्त साहित्य की धारा नहीं, साहित्य का प्राचीन आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। अतः 'प्रगतिवाद' को सौन्दर्यशास्त्रसम्बन्धी मार्क्सीय दृष्टिकोण का हिन्दी नामकरण समझना चाहिए।" (—शिवदानसिंह चौहान)। तात्पर्य यह कि प्रगतिवाद को हिन्दी कविता में प्रवृत्ति या धारा मानने की चाल छोड़ देनी चाहिए। यह मिथ्या ज्ञान पर ही आधारित है। साम्यवादी लक्ष्यों की पूर्त्ति के दृष्टिकोण से लिखा गया साहित्य ही प्रगतिवादी कहे जाने का अधिकारी है। इसकी पद्धति संकीर्ण है। यह एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण है; पर काव्यधारा नहीं। जिस प्रकार जिन्ना के उद्देश्यों की पूर्त्ति करने वाला साहित्य जिन्नावादी, गाँधी-दर्शन से अनुप्राणित साहित्य गाँधीवादी, उसी प्रकार मार्क्स-दर्शन से प्रभावित साहित्य मार्क्सवादी या प्रगतिवादी है। जिस प्रकार गाँधीवादी प्रवृत्तियों का विश्लेषण साहित्य-जगत् के बाहर की वस्तु है, उसी प्रकार मार्क्सवादी या प्रगतिवादी साहित्य की प्रवृत्तियों का विश्लेषण भी। हाँ, आज आलोचना चूँकि नयी चालों और नये वाद में ढली है, अतः इनका मूल्य भी है; फिर चूँकि प्रगतिवाद भी एक विशेष दृष्टिकोण के रूप में ही सही, पनप तो चुका ही है, अस्तु इसकी प्रवृत्तियों के बारे में कुछ कहना असामयिक नहीं है। किन्तु बृहत्तर उद्देश्य से चर्चा का विषय है प्रगतिशील प्रवृत्ति ही।

एक बात और। हिन्दी कविता में जिस प्रकार छायावाद एक युगविशेष के रूप में मान्य हुआ, इसने अपनी निश्चित सीमा बनायी, उसी प्रकार आज आलोचक प्रगतिवाद-युग पर विचार करते देखे जाते हैं; पर छायावाद के समान न तो प्रगतिवाद जैसा कोई युग हिन्दी में रहा है और न इसकी निश्चित सीमारेखा ही तैयार की जा सकती है। इसके सीमानिर्धारण के क्रम में 'प्रगतिशील लेखक-संघ' की चर्चा भी होती है। वस्तुतः यह सत्य है कि उत्तरछायावादयुग अथवा छायावाद के ह्रासोन्मुख समय में ही इस प्रकार की कविताओं की प्रमुखता होती है; पर लोग यह क्यों भूल जाते हैं कि छायावाद उस समय तक पूर्णतः मरा नहीं था, केवल उसका ह्रास हो गया था। पुनः, छायावाद का घोर व्यक्तिवादी रूप भी तो बच्चन आदि में पनप रहा था। हाँ, यह सच है कि नवीन, दिनकर आदि राष्ट्रीयतावादी के रूप में; पंत, केदारनाथ अग्रवाल आदि प्रगतिवादी के रूप में; निराला विशुद्ध सामाजिक के रूप में; बच्चन, नरेन्द्र, अंचल, भगवतीचरण वर्मा आदि व्यक्तिवादी के रूप में प्रगतिशील साहित्य की ही रचना कर रहे थे; पर प्रगतिवादिता तो इनमें से कम ही लोगों में थी। अस्तु उस युग को प्रगतिवाद-युग के नाम से अभिहित करना भी भ्रान्त ज्ञान का परिचय देना है। पुनः जिन्हें लोग प्रगतिवाद-युग का प्रवर्त्तक (पंत) मान रहे हैं, वे छायावाद के अन्यतम गायक हैं।

अस्तु, इन सारी बातों के विमर्श के पश्चात् ऐसा लगता है कि उस युग को सीधे छायावादोत्तरयुग ही कहना चाहिए, प्रगतिवाद-युग नहीं। उस युग के वैतालिक दिनकर— जिन्हें प्रगतिवादी अपने पेटे में ही घसीटना चाहते हैं—भी तो कह रहे हैं—"प्रगतिवाद-काल का कँगूरा अलग दिखाई नहीं देता, न इस युग (प्रगतिवाद-युग) का व्यक्तित्व ही स्पष्ट है। × × × जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, हिन्दी में उल्लेख प्रगतिवाद-युग का नहीं, प्रगतिशील प्रवृत्ति का होना चाहिए।" लगभग इसी प्रकार का मत प्रगतिशील आलोचक शिवदान सिंह चौहान का भी है। वे तो प्रकारान्तर से यह भी स्वीकार करते हैं कि 'प्रगतिवादी काव्य' काव्य है ही नहीं। अस्तु, हिन्दी कविता के इतिहास में किसी भी कालखंड को प्रगतिवाद-युग के नाम से नहीं पुकारना चाहिए। आवश्यकता हो तो 'प्रगतिशील' साहित्य कहा जायगा; यों तो 'छायावादोत्तरयुग' है ही।

हाँ, तो यह स्पष्ट है कि प्रगतिवाद कोई साहित्यिक धारा नहीं, अपितु मार्क्सवादी जीवन-दर्शन का सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण भर है। इसी प्रकार प्रगतिवाद-युग जैसा कोई युग भी नहीं है, यह छायावादोत्तर-युग ही है। हिन्दी में प्रगतिवाद शब्द का किसने प्रारम्भ किया, यह पते की बात नहीं है। इतना ही कहा जायगा कि 'प्रगतिवाद' 'प्रोग्रेसिव लिट्रेचर' का अनुवाद भर है। अँगरेजी साहित्य में इस शब्द का प्रचार भी लगभग इसी समय हुआ था। इस शब्द का विशेष प्रचलन सन् १९३५ ई० से ही हुआ जब ई० एम० फार्स्टर के सभापतित्व में पेरिस में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का प्रथम अधिवेशन सम्पन्न हुआ। इसमें भारतीय प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया था। इसी से प्रेरणा पाकर भारत में 'प्रगतिशील लेखक-संघ' की स्थापना की गयी, जिसका प्रथम अधिवेशन लखनऊ में प्रेमचन्द के सभापतित्व में हुआ। सभापति-पद से उन्होंने भाषण करते हुए सर्वप्रथम इसमें निहित 'प्रगतिशील' शब्द पर ही आपत्ति की थी, साथ ही यह भी स्वीकार किया था कि प्रत्येक साहित्यकार स्वभाव से ही प्रगतिशील होता है। इस संघ के सभापतित्व का पद स्वयं विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी सँभाल चुके थे। इस समय तक छायावाद का भी 'युगान्त' घोषित हो चुका था और 'युगवाणी' आ चुकी थी। 'प्रगतिशील साहित्य' ही जब प्रचारवादी पोशाक धारण कर सामने आया तो प्रगतिवाद के रूप में मान्य हुआ।

हिन्दी में 'प्रगतिवादी' कविता भले ही अचानक आयी हो, यद्यपि ऐसा हुआ नहीं है; पर प्रगतिशील साहित्य एक दिन की उपज नहीं है। यह तो स्वाभाविक विकास का परिणाम है। आवश्यकता के अनुरूप कविता अपना परिष्कार स्वयं करती रही है। इतनी बात अवश्य है कि इस प्रकार की लिखी जाने वाली कविता को पहले हम प्रगतिशील की संज्ञा से विभूषित न कर सके थे। 'प्रगतिशील

साहित्य' शब्द नया है, पर प्रगतिशील साहित्य नहीं। भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता के तत्त्व प्रारम्भ से ही वर्त्तमान रहे हैं। सम्भवतः संस्कृत कवि और नाटककार शूद्रक प्रथम प्रगतिशील साहित्यकार माना जायगा जिसने 'मृच्छकटिकम्' (मिट्टी की गाड़ी) में उपेक्षित वर्ग के प्रति सहानुभूति दिखायी है। चारुदत्त जैसे मध्यवर्गीय को नायक के रूप में स्वीकार करके उसने सर्वप्रथम एक नया मार्ग स्थापित किया था। पुनः 'गाथासप्तशती' आदि में प्रगतिशील साहित्य के तत्त्व पूर्णतः मिलते हैं, जिसमें भौतिकतावादी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है।

हिन्दी कलाकारों में सर्वप्रथम कबीर रूढ़ियों को तोड़ने वाले दीखते हैं। इनमें प्रगतिशीलता दूसरे रूप में उभरती है; किन्तु इनकी प्रगतिशीलता एकांगी ही कही जायगी। भले ही आज के कॉमरेड इन्हें अधिक स्थान दें; पर हिन्दी साहित्य इन्हें कवि की अपेक्षा तत्त्वदर्शी, और वह भी तीसरी कोटि का, ही मानता रहा है। समाज से दूर रहने वाले बाबा तुलसी को जितनी चिन्ता समाज की है, शायद ही आज के कॉमरेड को भी उतनी हो, जिन्होंने तत्कालीन समाज की वस्तुस्थिति का सच्चे रूप में निर्देश किया है—

खेती न किसान को भिखारी को न भीख, बलि, बनिक को बनिग न, चाकर को चाकरी।
जीविकाविहीन लोग, सीधमान सोचबस, कहैं एक-एकन सों 'कहाँ जाइ', 'का करी'॥

केवट को वशिष्ठ की पाँति में बैठाने वाले, शबरी को राम से मिलाने वाले तुलसी को प्रगतिशील न कहा न जाय तो और क्या कहा जाय? इस समय की कविता साम्प्रदायिक अक्षयवट भले ही हो गयी हो, पर तुलसी की कविता प्रगतिशील, समाजवादी, राष्ट्रवादी आदि ही कही जायगी।

शृंगारकालीन तवायफी कविता के युग में भी बिहारी आदि में प्रगतिशीलता के तत्त्व मिलते ही हैं। पर सही अर्थों में प्रगतिशील साहित्य का प्रारम्भ होता है भारतेन्दु-युग में। समाज-सुधार और राष्ट्रीयता की जो धारा चल पड़ती है, वह प्रगतिशीलता की ही धारा है। द्विवेदी-युग में इसे रूप मिलता है। पुनः आता है छायावाद-युग। इसमें प्रगतिशीलता एक दूसरा मोड़ लेती है। कविता में व्यक्ति की चेतना उभरती है। इसी छायावाद-युग के उत्तरार्द्ध में सन् १९३० ई० के आसपास प्रगतिशील साहित्य अधुनातन रूप में प्रकट होने लगता है। छायावादी धारा के ही सुन्दर परिपाक के रूप में यह सामने आता है। नवीन और दिनकर, नेपाली और आरसी, केसरी और पाण्डेय (श्यामनारायण पाण्डेय और रामदयाल पाण्डेय) इसी समय छायावादी धारा को सामाजिकता की ओर मोड़ते हैं। पंत भी 'युगान्त' में इसी रूप में प्रकट होते हैं। निराला की चर्चा में तो देर हो गयी। इन्होंने प्रगतिशील साहित्य के सृजन का दायित्व अपने कन्धों पर पहले से ही सँभाल लिया था। इसी प्रगतिशीलता की लता से एकांगी विकास के रूप में

प्रगतिवाद का पता सन् १९३६ ई० के आसपास मिलता है। इस समय तक प्रगतिशील साहित्य के लिए हिन्दी प्रदेशों में पृष्ठभूमि तो पूर्णतः तैयार हो ही गयी थी, अरस्तू और आचार्य भरत दोनों की प्रतिभा लेकर उत्पन्न आचार्य शुक्ल जैसे सुधी साहित्यचार्य को भी मान्यता मिल चुकी थी। आलोचना में आचार्य शुक्ल 'लोकमंगल की साधनावस्था' की बात पर अधिक बल दे रहे थे। अस्तु, ऐतिहासिक विकास, साहित्यिक पृष्ठभूमि, तत्कालीन परिस्थिति और आलोचना की प्रतिष्ठा के कारण हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य अपने ठीक समय पर अवतरित हुआ। प्रगतिवाद की नयी शाखा ने निश्चय ही यदि इसे एकांगी और दुर्बल बनाने की कोशिश न की होती, तो शायद यह अधिक स्वस्थ रूप में पल्लवित होता।

हिन्दी काव्य में प्रगतिशील प्रवृत्ति विशुद्ध भारतीय प्रवृत्ति है, जबकि प्रगतिवाद पूर्णतः अभारतीय दृष्टिकोण। प्रगतिशीलता भारत की यथार्थता का प्रकटीकरण है, किन्तु प्रगतिवादिता है मार्क्सीय सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण का प्रचार। एक के पीछे है ब्रिटिश पूँजीवाद, अन्ध धार्मिकता और दूसरे के पीछे है लाल सेना और रूसी झण्डा। एक ने आदर्श से जन्म लेकर यथार्थ में प्रवेश किया है, दूसरे ने यथार्थ से जन्म लेकर नग्न यथार्थ और मार्क्सीय दर्शन के गीत गाये हैं। प्रगतिशील साहित्य अस्थिर प्रवृत्ति है, इसमें युगानुरूप परिवर्त्तन होते रहते हैं; प्रगतिवाद एक स्थिर दृष्टिकोण भर है जिसमें परिवर्त्तन नहीं हो सकता। साहित्य समाज का दर्पण है, यह दोनों मानते हैं, साहित्य को जीवन की आलोचना दोनों कहते हैं; पर दोनों के दृष्टिकोण में भिन्नता है। एक सामयिक तत्त्वों को प्रमुखता देकर भी अधिक मानवीय है; पर दूसरा मात्र सामयिकता को ही सब-कुछ मानते हुए वर्ग-संघर्ष और अशान्ति को प्रश्रय देने की कोशिश कर रहा है। इसमें केवल शोषित-वर्ग की चेतना ही होती है। सामान्य रूप से कहेंगे कि प्रगतिशीलता के पैर ही भारत की मिट्टी पर नहीं हैं, अपितु उसकी आत्मा की आवाज भी भारतीय है; जबकि प्रगतिवाद की आत्मा साम्यवाद में है और केवल पैर ही भारत की मिट्टी पर हैं। इसकी दृष्टि रूस की ओर जमी, चीन की ओर जमी है। इसकी प्रेरणा राजनीतिक मन्तव्यों से अनुप्राणित और अनुशासित है। इसकी कल्पना में प्रोलेतेरियत सत्ताशाही ही बैठी हुई है। इसी से प्रगतिवाद का दृष्टिकोण अयथार्थवादी और एकांगी हो गया है। लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार कहना चाहिए कि "वास्तविक सन्दर्भ में देखने से प्रगतिवाद केवल एक अयथार्थवादी भावधारा मात्र रह जाता है। यथार्थ के प्रति उसका कोई दायित्व नहीं है; क्योंकि वह यथार्थ की सीमित और संकुचित परिधि को ही देखना चाहता है, उसको भी अपने रंगीन चश्मे से।" प्रगतिशील साहित्य पर ऐसे आरोप नहीं हैं।

चूँकि प्रगतिवाद मार्क्सीय जीवन-दर्शन का सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण है,

अतः प्रगतिवाद को जानने के लिए मार्क्स-दर्शन को समझना आवश्यक है। इसका दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) के नाम से विख्यात है। इसकी प्रेरणा इसे हीगेल से मिली है। मार्क्स के पूर्व इसकी व्याख्या फायरबाख ने भी की थी। हीगेल ने सृष्टि के मूल में तीन अवस्थाएँ मानीं—वाद, प्रतिवाद और युक्तवाद (Thesis, Antithesis and synthesis)। प्रत्येक वाद का प्रतिवाद होना आवश्यक है। दोनों के सामंजस्य से ही युक्तवाद की स्थापना होती है। भारतीय विचार से इसे क्रमशः ब्रह्म, माया और जगत् कहेंगे। हीगेल के अनुसार सृष्टि के मूल में सत् और असत् दोनों हैं। मार्क्स ने चेतन को अस्वीकार किया और विचार के बदले बाह्य जगत् को मुख्य माना। इस बाह्य जगत् अथवा भौतिकवाद की कल्पना उसे फायरबाख से मिली है। मार्क्स ने स्वीकार किया कि पदार्थ (Matter) ही चेतना का आधार है। इसके लिए धनात्मक (Positive) और ऋणात्मक (Negative) तत्त्वों में संघर्ष आवश्यक है। बिना संघर्ष के चेतना उत्पन्न ही नहीं होती है। यही है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। इसी के आधार पर वर्गसंघर्ष की बात सर्वप्रथम चार्ल्स हाल नामक अँगरेज ने छेड़ी। उसी ने यह बात कही कि सभ्यता के साथ सम्पत्ति तो बढ़ी ही, शोषक और शोषित की भी उत्पत्ति हुई। इसी से ऐसा सुझाया गया कि यदि अर्थनीति और शासन गरीबों के हाथ में आ जाय तो शान्ति स्थापित हो जायगी। इसी के आधार पर सभ्यता के विकास का नया इतिहास तैयार हुआ, जिसके अनुसार आदिम साम्यवाद से दासप्रथा, दासप्रथा से सामन्तयुग और सामन्तयुग को पार कर मनुष्य पूँजीवादी युग में है। इस पूँजीवाद-युग के विनाश के पश्चात् ही साम्यावस्था आयेगी। अस्तु, साम्यवादी अवस्था लाने के लिए वर्गसंघर्ष के द्वारा पूँजीपतियों का नाश ही प्रगतिवादियों का मुख्य लक्ष्य बना है।

प्रगतिवाद की प्रवृत्तियों और विशेषताओं पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्सवाद की जितनी भी प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ हैं, वे सब यहाँ वर्त्तमान हैं। इसके अलावा इसकी कतिपय अन्य विशेषताएँ ऐसी हैं जो वस्तुतः प्रगतिशील साहित्य की हैं। सामान्य रूप से प्रगतिवाद की निम्नांकित प्रवृत्तियाँ मानी जा सकती हैं—

१. धर्म और ईश्वर का विरोध— वर्गसंघर्ष की तैयारी के लिए धर्म और ईश्वर, परलोक और भाग्य पर विश्वास न करना, ईश्वर को असफल और धर्म को अफीम का नशा मानना इनकी पहली विशेषता है। इसे ही पहली प्रवृत्ति कहेंगे। पंत की पंक्तियाँ देखिए—

> ईश्वर को मरने दो हे मरने दो, वह फिर जी उठेगा, ईश्वर को मरने दो।
> वह क्षण-क्षण मरता, जी उठता, ईश्वर को नवस्वरूप धरने दो॥

इनके अनुसार ईश्वर दीनानाथ नहीं, लक्ष्मीनारायण है। इसी से अंचल की घृणा देखिए—

आज भी जन-जन जिसे करबद्ध होकर याद करते।
नाम ले जिसका गुनाहों के लिए फरियाद करते।
किन्तु मैं उसका घृणा की धूल से सत्कार करता॥

२. मार्क्स और रूस आदि का गुणगान— ऐसी कविताओं में मार्क्स तथा रूस का गुणगान किया जाता है। रूस के साथ-साथ अन्य साम्यवादी तत्त्वों के प्रति श्रद्धा की भावना अभिव्यक्त होती है। मार्क्स के प्रति पंतजी की कविता देखिए—

धन्य मार्क्स चिरतमाच्छन्न पृथ्वी के उदय-शिखर पर।
तुम त्रिनेत्र के ज्ञानचक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर॥

श्री नरेन्द्र शर्मा का रूस का गुणगान भी सुनिए—

लाल रूस है ढाल साथियो! सब मजदूर-किसानों का,
वहाँ राज है पंचायत का, वहाँ नहीं है बेकारी।
लाल रूस का दुश्मन साथी, दुश्मन सब इन्सानों का,
दुश्मन है सब मजदूरों का, दुश्मन सभी किसानों का।

और, ये हैं श्री शिवमंगल सिंह सुमन—

चली जा रही बढ़ती लाल सेना,
मास्को अब दूर नहीं है।

वस्तुतः ऐसे लोगों के लिए कौन-सा शब्द उपयुक्त होगा? ये खाते भारत का हैं और गाते रूस का हैं। स्वतंत्र भारत में पाकिस्तान की ओर आँख टिकाने वाले लोग भी ऐसे ही शत्रु हैं।

३. साम्राज्यवाद और पूँजीपतियों का विरोध— है तो इसे इष्ट वर्गविहीन समाजतंत्र। इसी की प्राप्ति के हेतु यह वर्गद्वन्द्व पर बल देता है और पूँजीपतियों का उग्र विरोध कर चलता है। इसी से नरेन्द्र शर्मा लिखते हैं—

पेट काट कर महल बना है दुनिया के मजदूरों का।

और, श्री दिनकर गा उठते हैं—

वैभव की दीवानी दिल्ली, कृषकमेघ की रानी दिल्ली।

कहीं-कहीं तो पूँजीपतियों के प्रति इनका क्रोध उन्मत्त हो गया है और ये गालियाँ तक देने लगे हैं—

लुच्चे टुच्चे उल्लू के बच्चे पूँजीपति।

४. वर्गसंघर्ष का चित्रण और क्रान्ति की भावना— प्रगतिवादियों के अनुसार वर्गसंघर्ष का चित्रण साहित्य में अनिवार्य है। इसके साथ ही सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति को ये आवश्यक मानते रहे हैं। राल्फ फाक्स ने 'नॉवेल एण्ड दी पीपुल', लेनिन ने 'आन आर्ट एण्ड लिट्रेचर' तथा कॉडवेल ने 'एल्यूजन एण्ड

रियलिटी' में प्रायः इस बात पर जोर दिया है कि साहित्य में प्रगतिवादी दृष्टिकोणों का चित्रण अनिवार्य है। वर्गसंघर्ष का चित्र उतारते हुए 'हाहाकार' शीर्षक कविता में दिनकर की भावना सुन्दर बन पड़ी है—

देख कलेजा फाड़ दे रहे कृषक आज शोणित की धारें।
और उठी जातीं उन पर ही वैभव की ऊँची दीवारें॥

और, यह है अंचल का 'सर्वहारा'—

और यही परिवार खड़ा है, भूखे शिशु, अकुलाती माता।
बच्चे से जिसको केवल पैदा कर देने का है नाता॥

इसी 'रोटी के राग' और 'भूखों के गान' का परिवर्त्तित रूप है क्रान्ति की तान। वह समाज का सुधार नहीं, आमूल परिवर्त्तन चाहता है; समस्त प्राचीन रूढ़ि-रीतियों को नष्ट कर देना चाहता है। वह मानता है कि समाज के फोड़े का सही आपरेशन क्रान्ति के तीक्ष्ण नश्तर से ही सम्भव है। इसी से तो पंतजी पुकार कर कह रहे हैं—

गा कोकिल बरसा पावक-कण।
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण-पुरातन॥

अंचल भी यही चाहते हैं—

हो यह समाज चिथड़े-चिथड़े, शोषण पर जिसकी नींव पड़ी।

इसीलिए तो कवि कह रहा है—

फिर आवाज बुलंद करो सब, इन्कलाब फिर, जिन्दाबाद!
हो बरबाद सरमायादारी, इन्कलाब, फिर जिन्दाबाद!

क्रान्ति कब आमंत्रित होती है, दिनकरजी ने इसका सर्वाधिक सशक्त चित्र दिया है—

श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर, जाड़े की रात बिताते हैं,
युवती के लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं,
मालिक जब तेल-फुलेलों पर, पानी-सा द्रव्य बहाते हैं,
पापी महलों का अहंकार, देता मुझको तब आमंत्रण।

५. यथार्थ और शोषितों का चित्रण— प्रगतिवादी और प्रगतिशील साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति है यथार्थ का वर्णन। 'प्रभातफेरी' में नरेन्द्रशर्मा किसानों का चित्र दे चलते हैं—

यहाँ बिलखते लाल देख लो और निरक्षर युवक कुमार।
वंचित व्यथित युवतियाँ देखो कुम्हलाती कलियाँ सुकुमार॥

पंत का 'दो लड़के', निराला के 'भिक्षुक', 'वह तोड़ती पत्थर', 'गर्म पकौड़ी' इत्यादि तथा प्रगतिवादियों की अन्य कविताएँ इसके चित्रण में अधिक समर्थ हैं। एक बात यहाँ अवश्य कही जायगी कि यथार्थवादिता के नाम पर कहीं-कहीं इन्होंने

अभद्रता की हद भी कर दी है। इतना निर्लज्ज चित्र मात्र प्रगतिवादी ही दे सके हैं—

आधा शिशु बाहर था, आधा अन्दर।

अंचल की 'सावन की मदभरी रात' और नरेन्द्र की 'आज न सोने दूँगी बालम' आदि कविताएँ देखी जा सकती हैं। भले ही ये 'बदरि और नबरंगि' को छोड़कर मटर के दानों की चर्चा कर लें; पर इनकी रति भी स्टैण्डर्ड रति नहीं मानी जायगी। यदि मटर के दाने पर हाथ रखने से किसान को ऐसी सनसनी होगी तो वह अपनी गृहस्थी कैसे निभायेगा?—

हाथ मटर के दानों पर जा, जगा देते हैं एक सनसनी
बिजली दौड़ जाती है एक झनझनी।

६. सामयिक समस्या— ये साहित्य को स्थायी मूल्य की वस्तु नहीं मानते हैं और सामयिकता पर ही अधिक बल देते हैं। इसी से सामयिक समस्याओं का चित्रण इनका मूल उद्देश्य होता है। बंगाल के अकाल से प्रेरित होकर श्री केदारनाथ अग्रवाल की ये पंक्तियाँ उसी समय सामने आयी थीं—

बाप बेटा बेचता है।
भूख से बेहाल होकर, धर्म, धीरज प्राण खोकर
हो रही अनरीति बर्बर, राष्ट्र सारा देखता है।

द्वितीय महायुद्ध के समय उसकी प्रेरणा पर अनेक रचनाएँ सामने आयी थीं। 'अजेय खँडहर' जैसा खण्डकाव्य भी उसी समय की कृति है जिसमें रूस की स्थिति का चित्रण है।

७. ग्राम्य संस्कृति और प्रकृति का वर्णन— पंत की 'ग्राम्या' जैसी रचना इसी दृष्टिकोण की उपज है। यहाँ ग्रामीणों और ग्राम के विविध पहलुओं के सुन्दर चित्र आये हैं। प्रातःकालीन ग्रामशोभा देखिए—

मरकत डिब्बे-सा खुला ग्राम, जिस पर नीलम नभ आच्छादन।
निरुपम हिमान्त में स्निग्ध शान्त, निज शोभा से हरता जन-मन॥

खेतों की मेड़ पर केदारनाथ अग्रवाल का देखा हुआ 'स्वयंवर' देखिए—

एक बीते के बराबर, यह हरा ठिंगना चना
बाँधे मुरैठा शीश पर छोटे गुलाबी फूल का,
सज कर खड़ा है। पास ही मिल कर उगी है,
बीच में, अलसी हठीली— देह की पतली, कमर की है लचीली;
नील फूले फूल को सिर पर चढ़ा कर, कह रही है,
जो छुए यह, दूँ हृदय का दान उसको।

प्रगतिवाद में उपर्युक्त वस्तुगत और भावगत प्रवृत्तियों के अलावा मानवता की भावना का प्रसार, शारीरिक और आर्थिक सुख की प्राप्ति आदि की प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं। इसके पश्चात् विचारणीय हो जाती हैं इसकी कलागत प्रवृत्तियाँ। कला-पक्ष पर विचारने से ऐसा लगता है, मानो छायावादोत्तर युग में द्विवेदी-युग की

विशेषताएँ—भाषागत सरलता, अनुभूतियों की सचाई और प्रसाद गुण—ही अधिक महत्त्वपूर्ण रही हैं। इनकी घोषणा है—

> तुम वहन कर सको, जनमन में मेरे विचार।
> वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार॥

इनलोगों ने 'छन्द के बन्ध' और 'प्रास के रजतपाश' खोल दिये हैं। अब 'गीत मुक्त' हो चुका है और 'युगवाणी' अनायास ही बह चली है। यही कारण है कि छायावाद से अधिक पाठक इन्हें मिले हैं। इनलोगों ने प्राचीन प्रतीकों के स्थान पर नये प्रतीक लाये हैं। पहले अधिकांश प्रतीक और उपमान प्रकृतिजगत् से आते थे। अब ये प्राणिजगत् से ही अधिकतर लिये जा रहे हैं। कतिपय उदाहरण यों देखे जा सकते हैं—

> (क) सिनेमा के गीत-सा यह वर्गबद्ध समाज। — रांगेय राघव
> (ख) ठेला-सी बड़ी-बड़ी आँखें लिए,....
> रद्दी की टोकरी का जीवन है। — केदार
> (ग) दो लालटेन-से नयन दीन। —मुक्तिबोध

इसी प्रकार 'मशाल' क्रान्ति की शिखा, 'प्रलय' रूढ़ियों के नाश की कल्पना, 'तांडव' क्रान्ति का खुल कर खेलना, 'रक्त' त्याग और वलिदान, 'जोंक' शोषक और धर्म इत्यादि के लिए नये प्रतीक के रूप में ग्रहण किये गये हैं।

व्यंग्यविधान भी प्रगतिवादी कविता के कलापक्ष की अन्यतम विशेषता है। जितने व्यंग्यकाव्य इस समय लिखे गये हैं, शायद इसकी अन्यत्र कल्पना नहीं की जा सकती है। पंत की 'स्वीट पी के प्रति', 'संध्या के बाद'; निराला की 'कुकुरमुत्ता'; केदार की 'पैत्रिक सम्पत्ति'; नागार्जुन की 'एक मित्र को पत्र' आदि रचनाओं में व्यंग्य का स्वर तीव्र है। 'पैत्रिक सम्पत्ति' से यह अंश देखिए—

> जब बाप मरा तब यह पाया, भूखे किसान के बेटे ने :
> घर का मलवा, टूटी खटिया, कुछ हाथ भूमि— वह भी परती।
> × × × ×
> कंचन-सुमेरु का प्रतियोगी, द्वारे का पर्वत घूरे का,
> बनिया के रुपयों का कर्जा, जो नहीं चुकाने पर चुकता।
> दीमक, गोजर, मच्छर, माटा— ऐसे हजार सब सहवासी
> बस यही नहीं, जो भूख मिली, सौ गुनी बाप से अधिक मिली।

प्रगतिवादी कविताओं में मूलतः तीन प्रकार की शैलियों के दर्शन होते हैं—वर्णनात्मक, उद्बोधनात्मक और विचारात्मक। साथ ही लोकगीतों के स्वर का विकास भी इनके गीतों में मिलता है। असल बात है इनकी भाषा का सीधापन। सरलता और सुबोधता इनकी कविता की मूल बात है।

किन्तु इन गुणों के आधार पर ऐसा निष्कर्ष देना कि इनकी कविता अच्छी

है, एक भ्रामक बात होगी। समग्र रूप से विचारने से यह स्पष्ट है कि गुणों की अपेक्षा दोषों की संख्या कहीं अधिक ही है। इस प्रकार की कविता में कुछ ऐसे दोष हैं जिससे यह कविता पूर्णतः बेकार हो जाती है। प्रथम तो यही कि ये कविताएँ एकांगी होती हैं। जीवन की समग्रता का निर्वाह इसने किया ही नहीं है। दूसरी बात यह कि ये कविताएँ भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल पड़ती हैं। धर्म और ईश्वर का इतना कड़ा विरोध इसके द्वारा किया जाता है कि यही कहना उत्तम लगता है कि अध्यात्म, चेतना और संस्कृति से शून्य तथा विदेशी संस्कृति से अनुप्राणित यह कविता भारत की वस्तु नहीं हो सकती। तीसरी बात यह कि ये साहित्य की चिरंतनता में विश्वास ही नहीं करते हैं। इस पर विश्वास करने से हमें वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसी, सूर इत्यादि सबों को छोड़ना पड़ता है। प्रसादजी को भी किनारे कर देना पड़ता है। चौथी बात यह है कि इसकी आँख मात्र यथार्थ पर लगी है। आदर्श को इसने ताक पर रख दिया है। आदर्श के नाम पर यह नग्नवाद का प्रचार कर रहा है। यह ठीक है हम आदर्श को यथार्थ के द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं, पर केवल यथार्थ और वह नग्नतावाद किस काम का होगा। इन्होंने मनोविज्ञान के नाम पर सेक्स चित्रण के लिए लाइसेंस पा लिया है। भाई-बहन जैसे पवित्र रिश्ते को भी ये कुत्सित कर रहे हैं। जिस भद्दे चित्रण के लिए शृंगार-कालीन कविता बदनाम हुई, वही चित्रण यहाँ भी पनप रहा—

(क) "वही जो जा रही आँचल दबाए
कुएँ के पास
यौवन की बहारों को समेटे
कि जिनकी छातियाँ हैं
अभी उठती उमरती
कच्ची नासपातियाँ हैं
और काठ की कठोरता है जिनमें
अभी तक जिन पर
खरखराते और रुखड़े
कुदारी और हसियाँ के ठेलेदार
हाथ नहीं हैं पड़े।"

(ख) "जिनकी छातियाँ
बन गई वैसाख की जुआर ढली ककड़ियाँ
कठोरता तो दूर
दबाने पर सट जाती हैं—एकदम
पोर दोनों उँगलियों की
और फिर
वह आने से पहले गुजरती हुई जवानी
(ज्यों गोदावरी की बाढ़ का पानी)
कट गई
जमादार, खानसामों, ठाकुरों की गोद में—"

वस्तुतः ऐसी रचनाएँ कुष्ठ के रूप में ही मानी जायँगी।

रस की दृष्टि से विचारने पर यहाँ रसाभास के ही उदाहरण मिलते हैं। पंत, निराला जैसे समर्थ कलाकार में ही थोड़ा रस पर ध्यान दिया गया है, अन्यत्र तो बुरा हाल है। रसानुभूति के अनुसार लम्पट, रसिक, सहृदय और आत्मानन्दी यदि रसानुभवकर्त्ताओं के वर्ग बनाये जायँ तो डॉ० त्रिगुणायत के अनुसार कहा जायगा कि— "प्रगतिवाद में हमें लम्पटों की कोटि की रसानुभूति होती है। इसीलिए

प्रगतिवादी साहित्य अधिक प्रभावोत्पादक और स्थायी नहीं हो सकेगा, ऐसी मेरी धारणा है।"

छन्दों की समस्या भी ऐसी ही है। प्रश्न मुक्त वृत्त और लोकगीतों के धुन का नहीं है, बल्कि डर है दूसरा। अधिकांश प्रगतिवादी गीत फिल्मी धुनों से प्रभावित हो रहे हैं। अस्तु, फिल्मी गीतों की तरह ही ये अस्थायी भी हो जायँगे, डर इसी का है।

आज बीसों वर्ष बीतने को हैं, प्रगतिवाद ने स्थायी मूल्य की कोई रचना न दी है। छायावाद भले ही कई रूपों में तिरस्कृत रहा, इसे अधिक पाठक न मिले, पर 'कामायनी', 'राम की शक्तिपूजा', 'तुलसीदास' जैसी रचनाएँ उसी ने दी हैं। प्रगतिवाद अभी तक कुछ न दे सका है। जिस प्रकार पंत ने छायावाद की कमी को पहचानकर प्रगतिवाद के चरण चूमे, उसी प्रकार इन्होंने प्रगतिवाद से मानववाद की ओर बढ़ते हुए भी ये वाक्य कहे हैं— "नवीन लोक-मानवता की गंभीर सशक्त चेतना के जागरण-गान के स्थान पर उसमें नंगे-भूखे श्रमिक-कृषकों के अस्थि-पंजरों के प्रति मध्यवर्गीय आत्मकुंठित बुद्धिवादियों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का हुँकार भरा क्रन्दन सुनाई पड़ने लगा...... अपने निम्न स्तर पर प्रगतिवाद में सुरुचि, संस्कारिता का स्थान विकृत कुत्सित वीभत्स ने ले लिया।" इन वाक्यों में प्रगतिवाद का स्वरूप स्पष्ट हो उठता है। जब प्रगतिवादी ही ऐसा स्वीकार कर रहे हैं, तो दूसरों की कौन कहे।

प्रगतिवादी बाना केवल काव्य-जगत् तक ही सीमित नहीं रहा। इसने कथा-साहित्य और आलोचना-जगत् में भी पैर फैलाये हैं। कथा-साहित्य में यशपाल और राहुलजी इसके अग्रणी रहे हैं। आलोचकों में श्री रामविलास शर्मा, जैनेन्द्र, शिवदान सिंह चौहान इत्यादि के नाम आते हैं। वस्तुतः शिवदान सिंह चौहान प्रगतिशील आलोचक हैं, प्रगतिवादी नहीं। आज के कथाकारों में प्रगतिशीलता तो लगभग सबों में मिलती है, पर प्रगतिवादिता कुछ ही लोगों में। प्रेमचन्द के जोड़ का प्रगतिशील लेखक शायद ही कोई प्रगतिशील लेखक हो।

अन्त में प्रगतिवाद की उपलब्धियों और भविष्य पर भी विचार कर लेना चाहिए। इसकी चर्चा के क्रम में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने कई खूबियों और खामियों के उल्लेख किये हैं। इसके कतिपय सामाजिक दृष्टिकोणों को उन्होंने महत्त्वपूर्ण माना है। वस्तुत: जिन्हें उन्होंने प्रगतिवाद की खूबियों और देन के रूप में देखा, वे प्रगतिशीलता की देन ही अधिक हैं, प्रगतिवाद की कम। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी ऐसी संभावना की थी— "इसमें (प्रगतिवाद) साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी संभावनाएँ अत्यधिक हैं। भक्ति-आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ़ आदर्श निष्ठा दिखाई पड़ी थी, जो समाज को

नये जीवन-दर्शन से चालित करने का संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रकट हुई थी, उसी प्रकार यह आन्दोलन भी हो सकता है।" पर प्रगतिवाद साम्प्रदायिकता और एकांगिता से बच नहीं सका। इसी से आज प्रगतिवादी काव्य की स्थिति हिन्दी के जैन काव्य, बौद्ध काव्य, सिद्ध काव्य इत्यादि की तरह ही समझनी चाहिए, जिन्हें काव्य होने पर भी 'काव्य' की उचित मर्यादा नहीं मिलती और वे मात्र ऐतिहासिक विचार के योग्य ही समझे जाते हैं। इसके लिए "तरुण प्रगतिशील कवियों का असामर्थ्य और असंवेदनशीलता ही उत्तरदायी है, जो उन्हें सत्य की उपलब्धि नहीं होने देती और संकीर्ण पथों पर भटका देती है।"— शिवदान सिंह चौहान।

विगत पन्द्रह-बीस वर्षों से नरेन्द्रजी, केदारनाथ अग्रवाल, शंकर शैलेन्द्र, नागार्जुन, रामविलाश शर्मा, रांगेय राघव इत्यादि कई छोटे-बड़े कवि प्रगतिवादी पंक्तियाँ जोड़-तोड़ रहे हैं। इनमें सब कुछ अनर्गल और प्रचारात्मक ही नहीं है, किन्तु सब प्रगतिशील भी नहीं हैं। सच्चा प्रगतिशील साहित्य प्रगतिवाद के संकीर्ण घेरे में रहकर ही नहीं लिखा जा सकता; इसमें गाँधीवादी, मार्क्सवादी, द्वैत-अद्वैतवादी—सभी प्रकार के विचार आ सकते हैं। असल बात है—यह हमें मानव-द्रोही नहीं बना सकता, आगे बढ़ने की प्रेरणा दे सकता है। प्रगतिवादी रचना में कुछ रचना सशक्त भी हैं, पर अधिकांश छिछली और सतही ही हैं, वे केवल काव्य के रूप-शिल्प को बनाने-बिगाड़ने में जुटी हैं, प्रगतिवाद के नारे लगा रही हैं। इसी से तो दिनकरजी ने स्वीकार किया है कि— "प्रगतिवाद साहित्यिक आन्दोलन नहीं था।" उदयशंकर भट्ट ने भी 'नया समाज' (१६४६) में स्वीकार किया है कि— "प्रगतिवाद के नाम से जितना भी साहित्य-सृजन हुआ है, वह रूस की प्रेरणा से लाल निशान, हसियाँ-हथौड़े का साहित्य है। कुछ साहित्य जापान के नाश की प्रार्थना तथा उसको गाली देने के लिए भी लिखा गया। × × × मार्क्स का साहित्य पढ़कर साहित्यकार बनने वाले इन महानुभावों की कृति में न रस था, न चमत्कारपूर्ण कृतित्व। साम्यवाद के इन बौद्धिक खिलाड़ियों ने जो कुछ लिखा वह न तो भारत के किसानों का था और न मजदूरों का।" अस्तु,—मार्क्स और रूस-मंगल को छोड़कर जब तक प्रगतिवादी कवि 'लोक-मंगल' की भावभूमि पर नहीं उतरता, तब तक वह काव्य की रचना नहीं कर सकता, तुकवन्दी के नाम पर प्रचारात्मक साहित्य भले ही गढ़ ले।

●

प्रतीकों का मानव-जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानव प्रतीकों से काम लेता है। आदिम युग से मानव प्रतीकों का सहारा लेता आ रहा है। क्षेत्र चाहे धार्मिक हो या सामाजिक, राष्ट्रीय हो या व्यापारिक—प्रतीक सर्वत्र मिलते हैं। मूर्त्तिविशेष में ईश्वर की कल्पना; ट्रेडमार्क, ध्वजा-पताका, रंग इत्यादि में प्रतीक-कल्पना के अतिरिक्त और है क्या? सर्वत्र प्रतीक ही हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि प्रतीक देश, काल, व्यक्ति, संस्कृति, परम्परा, वातावरण इत्यादि के कारण बदलते अवश्य रहते हैं। कुछ ही ऐसे शब्द मिलते हैं, जिनका व्यवहार शाश्वत रूप से एक प्रकार के प्रतीक के रूप में होता चलता है।

विचारने पर पता चलता है कि संसार में कुल पाँच प्रकार के प्रतीक प्रचलित हैं— सार्वदेशिक और सार्वकालिक, परम्परानुगत, देशगत, युगगत और वैयक्तिक। संसार में ऐसे भी प्रतीक प्रचलित हैं जिनका प्रयोग सभी देशों में समान रूप में समान भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए ही होता है। उदाहरण-स्वरूप, राष्ट्रीय शोक की अभिव्यक्ति के लिए राष्ट्रध्वज को अर्द्धोत्तोलित रूप में फहराना; वीरता के लिए सिंह, पवित्रता के लिए धवलिमा, कायरता के लिए स्यार इत्यादि का वर्णन लिये जा सकते हैं। सार्वदेशिक प्रतीकों का निर्माण प्रायः सार्वभौमिक उपयोगिता की दृष्टि से ही होता है। आज वैमानिक उड्डयन, समुद्री सेना आदि के लिए अन्तरराष्ट्रीय प्रतीक स्वीकार कर लिये गये हैं। इन प्रतीकों का महत्त्व सार्वदेशिक के साथ-साथ प्रायः सार्वभौमिक भी होता है।

विभिन्न देशों में प्रचलित परम्परा, संस्कृति आदि की भिन्नता के कारण परम्परारूप में कतिपय प्रतीक मान्य हो जाते हैं। इन्हें रूढ़ि या परम्परानुगत प्रतीक कह सकते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से विचारने पर इस प्रकार के प्रतीकों को भी देशगत प्रतीकों में ही अन्तर्भुक्त कर ले सकते हैं। प्रत्येक देश की परम्परा अपनी होती है। जाति, धर्म आदि की भिन्नता के कारण प्रत्येक देश में कतिपय ऐसे प्रतीक चल पड़ते हैं जिनका राष्ट्रीय अथवा जातीय महत्त्व होता है। ऐसे प्रतीकों की महत्ता एकदेशीय, एकजातीय अथवा वर्गीय ही होती है; पर वस्तुतः ये गौरवपूर्ण स्थिति और विशिष्ट मानविन्दु के द्योतक होते हैं। उदाहरणस्वरूप, कुछ भारतीय प्रतीक लिये जा सकते हैं।

भारतीय प्रकृति पर विचार करते हुए कहा जायगा कि पीपल, आँवला, नीम इत्यादि वृक्ष; तुलसी आदि वनस्पतियाँ; कमल आदि पुष्प; गाय आदि पशु; विभीषण, नारद, जयचन्द इत्यादि नाम ऐसे ही हैं जिन्हें देशगत प्रतीकों में रखा जायगा। पातिव्रत के आदर्श के लिए सीता, सावित्री आदि; सत्यवादी के लिए हरिश्चन्द्र, धर्मराज आदि; दृढ़ प्रतिज्ञा और ब्रह्मचर्य के लिए भीष्म; भाई-बहन के प्रेम के लिए राखी आदि अनेक प्रकार के प्रतीक देशगत प्रतीक ही हैं। देशगत

प्रतीकों पर विचारने से एक बात सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है— प्रत्येक देश में धार्मिक प्रतीकों की संख्या अधिक होती है। विभिन्न प्रकार के धार्मिक संस्कार, प्रतिमाएँ, आदि विभिन्न स्थिति या तत्त्व के प्रतीक होते हैं। निराकार ईश्वर के लिए भी अनेक प्रकार की प्रतिमाएँ, अनेक प्रकार के नाम उसके प्रतीकरूप ही हैं। हिरण्यगर्भ, स्वयंभू, ओंकार, विश्वकर्मा इत्यादि शब्द ईश्वर के शाब्दिक प्रतीक ही तो हैं। इसी प्रकार, शंख, चक्र, गदा, पद्म, गरुड़, शालिग्राम इत्यादि विष्णु के; नन्दी, त्रिशूल, नवल चन्द्र इत्यादि शिव के; हंस ब्रह्मा का; सरस्वती का, नीर-क्षीर विवेक इत्यादि का प्रतीक है। उपनिषदों में आत्मा का प्रतीक पक्षी माना गया है। गणेश के लिए चूहा, कार्तिकेय के लिए मयूर, कामपिपासा और क्षुधा के लिए बकरा, माया के लिए गोपियाँ, माया के आवरण की समाप्ति के लिए चीरहरण इत्यादि प्रतीक धार्मिक रूप में मान्य हैं। ऐसी बात नहीं कि धार्मिक प्रतीक मात्र भारतवर्ष में ही प्रचलित हैं, अपितु ये धर्मगत विभिन्नता के आधार पर अन्य देशों में भी उपलब्ध हैं। रोम की गुफाओं में जो चित्र अंकित हैं, वे भी ऐसे ही प्रतीक हैं।

देशगत प्रतीकों की तरह ही वैयक्तिक और युगगत प्रतीक भी मिलते हैं। कभी-कभी कलाकार अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए किसी विशेष रूप को विशेष अर्थ में ग्रहण कर लेता है। उदाहरणस्वरूप 'माया' की अभिव्यक्ति के लिए पंतजी द्वारा 'छाया' शब्द का प्रयोग, निरालाजी के द्वारा प्रेम के लिए 'मधु' का प्रयोग आदि लिये जा सकते हैं। इन्हें वैयक्तिक प्रतीकों में ही स्थान देना होगा। इसी प्रकार कुछ ऐसे भी प्रतीक होते हैं जो युगविशेष में खूब चल पड़ते हैं, पर दूसरे युग में वे सर्वथा लुप्त हो जाते हैं। भक्तिकालीन हिन्दी-काव्य में अधिकांश प्रतीक ऐसे ही थे। आज उन प्रतीकों का प्रचलन नहीं है। इसी प्रकार छायावाद-युग में 'मधुमास', 'पतझड़' आदि सुख और दुःख के लिए प्रयुक्त हुए हैं। ये भी युगगत प्रतीक ही कहे जायँगे।

प्रतीकवाद के साहित्यिक रूप के ऐतिहासिक विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका आधुनिक रूप में प्रचलन सर्वप्रथम फ्रांस में हुआ है। यद्यपि साहित्य में प्रतीकवाद शब्द का प्रचलन लगभग १८८० ई० के आस-पास फ्रेंच भाषा में हो चला था, पर इसका सैद्धान्तिक निरूपण सन् १८८६ ई० में फ्रेंच कवि जीन मोरेआस द्वारा 'फिगारो' पत्रिका के १८ सितम्बर वाले अंक में हुआ। इस सैद्धान्तिक निरूपण अथवा घोषणापत्र में जीन मोरेआस ने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया कि मात्र प्रतीकवाद ही कला की सर्जनात्मक प्रवृत्ति को पर्याप्त रूप में अभिव्यक्त कर सकता है। पहले प्रतीकवाद एक विशेष वर्ग के कवियों के लिए ही व्यवहृत होता था। इसके स्थान पर कभी-कभी लोग 'डिकेडेण्ट' (क्षयोन्मुख) शब्द भी व्यवहृत करते थे।

साहित्य के क्षेत्र में प्रतीकवादी आन्दोलन प्रतिक्रियावादी आन्दोलन भी कहा जा सकता है। प्रतीकवाद की स्थापना के पूर्व फ्रांस में साहित्य के क्षेत्र में प्राकृतवाद (Naturalism) मान्य था। विज्ञान की उन्नति के कारण साहित्य में यथार्थ की प्रवृत्ति आ चुकी थी। मूलतः भौतिकता, यथार्थ, स्वाभाविकता इत्यादि को ही साहित्य प्रश्रय दे चुका था। इस यथार्थवादी प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया में आदर्शवादी धारा के रूप में सामने आया प्रतीकवाद। प्रख्यात फ्रेंच उपन्यासकार एमिलो जोला प्राकृतवाद की ही उपज हैं। इनके जीवन के उत्तरार्द्ध में ही प्रतीकवाद सामने आया था।

प्रतीकवाद के साथ जीन मोरेआस के पश्चात् दूसरा प्रख्यात नाम आलोचक अलबर्ट ओरिएट का जुटता है। सन् १८६१ ई० में इन्होंने प्रतीकवाद की नयी व्याख्या की। इससे प्रतीकवाद के पनपने को काफी अवसर मिला। प्रतीकवादी दृष्टिकोण से इन्होंने प्रत्येक सफल कलाकृति के लिए पाँच बातें आवश्यक बतायीं— भावात्मकता, प्रतीकात्मकता, संश्लेषणात्मकता, व्यक्तिव्यंजकता और अलंकरणात्मकता।

प्रतीकवाद को पनपाने में रहस्यवादी विचारधारा ने भी पूरा योगदान किया। सच पूछा जाय तो यह कहना अधिक सटीक लगता है कि प्रतीकवाद आदर्शवाद, स्वच्छन्दतावाद और रहस्यवाद से प्रभावित था। यह प्राकृतवाद और पारनेसियनवाद (फ्रेंच कविता का एकवाद) की प्रतिक्रिया में शुद्ध साहित्यिक आन्दोलन के रूप में उठ खड़ा हुआ था। यह 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त का अनुयायी भले ही न हो, पर पोषक अवश्य था। यूरोप में प्रतीकवाद के श्रेष्ठ कवियों में रिम्बो, कोरबिएर और मलार्मे के नाम लिये जाते हैं। इनमें मलार्मे का व्यक्तित्व अधिक गत्वर था। प्रतीकवाद के अन्य साहित्यकारों में रोडेन बॉख, मैटरलिंक, क्लाउडेल, हाउजमैन इत्यादि के नाम लिये जायँगे। इंगलैंड में इलिएट, जेम्स ज्वाएस, आयरलैण्ड में यीट्स इत्यादि प्रमुख कवि प्रतीकवादी ही हैं।

सर्जनात्मक साहित्य में तो प्रतीकवादी विचारधारा यूरोप में पनपी ही, आलोचना में भी इसने प्रभाव डाला जिससे प्रतीकवादी आलोचना-प्रणाली का जन्म हुआ। इस आलोचना-प्रणाली का पोषण प्रतीकवादी साहित्यकारों द्वारा ही हुआ। यों तो कई महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के नाम इस प्रणाली में लिये जाते हैं, पर सबमें महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व वाले हुए मलार्मे।

सामान्यतः प्रतीकवाद का साहित्यिक प्रयोजन है लेखक की अस्पष्ट, धूमिल और अनिर्दिष्ट भावनाओं एवं अनुभूतियों को वैयक्तिक पद्धति पर चित्रित करना। वैयक्तिक पद्धति का अर्थ यह कदापि नहीं लगाया जाय कि वह सामाजिक बिलकुल होता ही नहीं। वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति सामाजिक होकर भी एक-दूसरे

से सर्वथा भिन्न होती है। दूसरे की बात तो छोड़िए, एक ही कवि की विभिन्न समयों में व्यक्त होने वाली वैयक्तिक अनुभूतियों में साम्य होते हुए भी सूक्ष्म अन्तर अवश्य होता है। इसी से अनुभूतियों के चित्रण के लिए प्रतीकों का महत्त्व है। प्रतीकवाद में विचार, भाव, अनुभूति इत्यादि का महत्त्व तो है ही, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म ध्वनि और स्मृति आदि के भी विशेष महत्त्व होते हैं। इसी से शैली में स्वाभाविकता के बदले कृत्रिमता आ जाती है, साथ ही अस्पष्टता प्रतीकवादी काव्य का एक विशेष गुण बन जाती है। यहाँ मलार्मे का कथन ध्यान देने योग्य है— "कविता का आनन्द तभी मिलता है, जब हमें सन्तोष हो जाय कि हम उसकी वस्तु का थोड़ा-थोड़ा करके अनुमान लगा रहे हैं। स्पष्ट रूप में वर्णन कर देने से कविता का तीन-चौथाई आनन्द नष्ट हो जाता है। हमारी मनश्चेतना को वही प्रिय है जो संकेत करता हो, सचेत करता हो।" स्पष्ट है कि प्रतीकवादियों के यहाँ लक्षणा और व्यंजना के स्थान पर दुर्बोधता और अस्पष्टता का महत्त्व अधिक है।

इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि काव्य में प्रतीकों का अन्यतम महत्त्व प्रारम्भ से ही रहा है; पर वाद के रूप में इसे आधुनिक रूप में ही स्वीकार किया गया है। आधुनिक हिन्दी कविता में, जिसे 'नयी कविता' के नाम से अभिहित किया जा रहा है, प्रतीकों का प्रचलन अधिक नवीन रूप में मिलता है। प्रतीकों के प्रचुर प्रयोग छायावाद से ही सामने आये। यहीं से नवीनता भी आयी; पर 'प्रयोगवाद' और 'नयी कविता' में प्रतीकों को विशेष महत्त्व मिला। इसी से कुछ विचारकों ने इसे सीधे प्रतीकवादी कविता ही कहना अधिक पसन्द किया है। हिन्दी की तथाकथित प्रतीकवादी कविता में भी प्रायः वे समस्त विशेषताएँ आ चुकी हैं, जिनका पल्लवन यूरोपीय प्रतीकवादी काव्य में हुआ है। सारे गुण-दोष लगभग उसी रूप में ही यहाँ भी वर्तमान हैं। यूरोपीय प्रतीकवादी कविता को ध्यान में रखते हुए हिन्दी की प्रतीकवादी कविता का विश्लेषण करें, तो निम्नांकित बातें देखने में आती हैं—

जिस प्रकार यूरोपीय प्रतीकवाद प्राकृतवाद की प्रतिक्रिया में पनपा, उसी प्रकार हिन्दी में यथार्थवादी प्रवृत्ति के विरोध में प्रतीकों का आगमन हुआ है। प्रतीकवादियों ने यहाँ भी प्रतीकों को ही अभिव्यक्ति का अन्यतम माध्यम स्वीकार किया है। प्रतीकों के माध्यम से ही सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति पर बल दिया गया है। इससे अभिव्यक्ति-सम्बन्धी नवीन प्रयोग ही नहीं आये, अपितु सौन्दर्य की भी प्रतिष्ठा की गयी है। इसी से इस प्रकार की आलोचना में आचार्य शुक्लजी ने इसे 'चित्रभाषावाद' जैसा नाम दिया। प्रतीक, चित्र, बिम्ब इत्यादि के महत्त्व के कारण ही यह चित्रभाषावाद के नाम से जाना गया है। मूल रूप से प्रतीकवादी कविता में आठ बातें मिलती हैं—

(क) विशुद्ध साहित्यिकता— इसमें किसी प्रकार की राजनीति का समावेश नहीं है, साथ ही धर्म, दर्शन आदि अन्य बातों के लिए भी औचित्य से ही काम लिया गया है।

(ख) शैली की नवीनता— इस धारा की कविता ने सामान्यतः नवीन शैली और अभिव्यंजना-पद्धति ग्रहण की है। रूढ़ियों को तोड़ते हुए प्रगतिशीलता से इसने काम लिया है।

(ग) सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति।

(घ) मुक्त और अतुकान्त वृत्त को महत्त्वपूर्ण मानना।

(ङ) सौन्दर्यवाद और कलावाद पर जोर देना।

(च) प्रतीकात्मकता पर अधिक बल देना— प्रतीक को साधन से हटकर साध्य मानना।

(छ) कविता का संगीत से सामंजस्य स्थापित करना।

(ज) वैयक्तिकता की अधिकता के कारण साधारणीकरण से अधिक विशेषीकरण को महत्त्वपूर्ण मानना।

उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतीकवादी काव्य में कुछ ऐसी भी बातें हैं जिन्हें खटकने वाली बातें कह सकते हैं। दुर्बोधता, अस्पष्टता आदि इसके आवश्यक दोष तो हैं ही; स्वयं प्रतीक भी अलंकारविशेष का ही विकसित और परिवर्द्धित रूप है। अस्तु, प्रतीकवाद वस्तुतः साध्य रूप में नहीं, साधन रूप में ही मान्य होना चाहिए। कविता के शैलीपक्ष से ही इसका सम्बन्ध अधिक जोड़ा जाता, तो उत्तम होता; पर इसे भावपक्ष में भी महत्त्वपूर्ण स्वीकार कर लिया गया है। इसमें अतिवादिता ही अधिक दीखती है। यदि इसके दोषों का परिहार हो जाता अथवा प्रतीकवाद अपनी परिधि शैलीपक्ष तक ही सीमित कर लेता, तो अधिक महत्त्वपूर्ण होता।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, हिन्दी में प्रतीकों का प्रयोग प्रारम्भ से ही हुआ है; पर वाद के रूप में नहीं। इसका रूप अलंकारों का-सा रहा है। इनके प्रयोगों के लक्ष्य भी वही रहे हैं जो अलंकारों के प्रयोग के हैं। जिस प्रकार कतिपय अलंकारों के प्रयोग साम्य अथवा साधर्म्य पर होते हैं, उसी प्रकार प्रतीक भी वस्तु, रूप, क्रिया, प्रभाव इत्यादि के साम्य पर ही प्रयुक्त होते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि अलंकार और प्रतीक एक ही होते हैं। नहीं, दोनों में पर्याप्त अन्तर होता है। हाँ, यह बात मानी जायगी कि निरवयव रूपक, अन्योक्ति, समासोक्ति, रूपकातिशयोक्ति इत्यादि अलंकार प्रतीक के निकट पड़ते हैं। यहाँ ये उदाहरण देखे जा सकते हैं—

(क) माली आवत देखि कै, कलियाँ करैं पुकारि ।
फूले-फूले चुनि लिए, काल्हि हमारी बारि ।। —कबीर

(ख) नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल ।
अली कली ही सौं बंध्यौ, आगे कौन हवाल ।। —बिहारी

प्रथम उदाहरण में 'माली' मृत्यु का और 'फूल' जीव का प्रतीक है। ये प्रतीक क्रियासाम्य के आधार पर हैं। दूसरे उदाहरण में 'पराग', 'मधु' एवं 'कली' अविकसितयौवना बाला के प्रतीक हैं। 'अलि' नायक का प्रतीक है। साथ ही, उपर्युक्त उदाहरणों में क्रमशः अन्योक्ति और विनोक्ति अलंकार भी माने जायँगे। यहाँ ध्यान देने की बात केवल इतनी ही है कि प्रतीक में मात्र अप्रस्तुत अर्थ ही चमत्कारपूर्ण होता है; पर अलंकार में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों। इससे स्पष्ट है प्रतीक का पर्यवसान किसी एक अलंकार में नहीं हो सकता है और न यह किसी एक अलंकार का पर्यायवाची ही माना जा सकता है, पर इसे एक स्वतंत्र अलंकार मान लिया जा सकता है। इसमें उपमान (प्रतीक) का ही उल्लेख होता है, उपमेय का नहीं—मात्र सांकेतिक अर्थ ही महत्त्वपूर्ण होता है, अभिधार्थ नहीं।

भारतीय काव्यपरम्परा में प्रतीकों का प्रयोग अनादि काल से ही होता आया है; पर हमने अतिवादिता से कहीं भी काम न लिया है। वैदिक साहित्य में जीव और ब्रह्म की अधिकांश व्याख्याएँ प्रतीकों के माध्यम से ही की गयी हैं—'दो पक्षी मित्रतापूर्वक एक (जीव) वृक्ष (शरीर) पर रहते हैं। उनमें से एक सुस्वादु पिप्पल का भक्षण करता, दूसरा (परमात्मा) कुछ भी भक्षण नहीं करता।' उपनिषदों की अनेक गाथाएँ पूर्णतः प्रतीकवादी हैं। योगवासिष्ठ के सभी उपाख्यान प्रतीकात्मक ही हैं। लौकिक संस्कृत में भी प्रतीकों के प्रचुर प्रयोग मिलते हैं। कालिदास ने मद-विह्वल नारियों के लिए तरंगायित सरिताओं, पृथ्वीरूपिणि नायिका के उन्नत स्तनों के लिए पर्वतों, प्रेयसी-प्रिय के मिलन के लिए लता-वृक्षों के मिलन आदि को चित्रित कर प्रतीकवादी शैली ही अपनायी है। प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों में भी जैन और बौद्ध कवियों ने प्रतीकों के माध्यम से उपदेशात्मक शैली अपना ली है। यही शैली आगे चलकर सिद्धों, नाथों और सन्त कवियों में मिलती है।

हिन्दी काव्य में प्रतीकयोजना प्रारम्भ से ही तीन बातों पर होती रही है—सादृश्य (रूप या आकार की समता), साधर्म्य (गुण या क्रिया की समता) और शब्द-साम्य। असल बात है प्रभावसाम्य की। प्रतीकों में प्रभावसाम्य पर अधिक बल दिया जाता है। सिद्धों ने सामान्यतः वैसे ही प्रतीक लिये हैं जो प्रभावसाम्य उत्पन्न करने में समर्थ हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार—"सिद्ध कवियों की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतों की ओर जाती है जो प्रस्तुतों के समान ही सौन्दर्य, दीप्ति, कान्ति, कोमलता, प्रचण्डता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता इत्यादि की भावना

जगाते हैं।" प्रतीक प्रभावसाम्य पर ही आधृत तो होते हैं पर उनमें बाह्य साम्य होना आवश्यक नहीं है, अभ्यन्तर साम्य होना चाहिए। सिद्ध आदि में प्रतीकों के बाहुल्य का एकमात्र कारण है—रहस्यभावना। सन्त कवियों ने प्रतीकों का खुलकर उपयोग किया है। ईश्वर से माता, पिता, स्वामी, पति इत्यादि के अनेक सम्बन्धों की स्थापना तो हुई है, इसके अतिरिक्त कतिपय सांकेतिक प्रतीक भी प्रयुक्त हैं। ब्रह्मरन्ध्र के लिए 'गगनमण्डल', सुषुम्ना के लिए 'बंकनाल' आदि एवं हठयोग के अन्य पारिभाषिक शब्द भी प्रतीक ही हैं; और कुछ नहीं। कबीर ने हठयोग में कतिपय संख्यामूलक प्रतीकों से भी काम लिया है—

चौंसठ दीया जोय के, चौदह चन्दा माहि।
तेहि घर किसका चानड़ौ, जेहि घर गोविन्द नाहिं॥

यहाँ 'चौदह' शब्द १४ विधाओं और 'चौंसठ' शब्द ६४ कलाओं के लिए प्रयुक्त है। कबीर में रूपात्मक प्रतीकों की भरमार है। इनके रूपक तो प्रसिद्ध हैं ही, उलटबाँसियों की महत्ता भी अद्भुत प्रतीकों के कारण ही है। सामान्यतः इन्होंने मन के लिए मच्छ, मीन, जुलाहा, सियार, सावंज, रोझ, हस्ती इत्यादि तथा जीवात्मा के लिए जुलाहा, पुत्र, पारथ, दुलहा, सिंघ, मूसा, भौंरा, योगी इत्यादि प्रतीक प्रयुक्त किये हैं। वस्तुतः कबीर के काव्य के प्राण हैं प्रतीक।

सन्त कवियों की तरह सूफी कवियों ने भी प्रतीकों से काम लिया है। यहाँ प्रतीकों का महत्त्व सन्तों से और भी अधिक हो जाता है। डॉ० चन्द्रबली पांडेय ने 'तसव्वुफ अथवा सूफी मत' नामक पुस्तक में लिखा है— "प्रतीक ही सूफी साहित्य के राजा हैं। उनकी अनुमति के बिना सूफियों के क्षेत्र में पदार्पण करना एक सामान्य अपराध है। प्रतीकों के महत्त्व को समझ लेने पर तसव्वुफ एक सरल चीज हो जाती है।" इस कथन से सूफी काव्य में प्रतीकों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। जिस प्रकार कबीर ने 'माली' को मृत्यु का प्रतीक माना है, उसी प्रकार जायसी ने 'रहट' को—

मुहमद जीवन जल मरन, रहट घरी की रीति।
घरी जो आई ज्यों मरी, ठरो जनम गा बीति॥

यहाँ प्रतीक का प्रयोग रूपक के रूप में किया गया है। आगे चलकर 'देखलो यह रहट चलता' में 'रहट' जीवन के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। साधना की क्रिया के लिए जायसी ने प्रतीक रूप में 'चार बसेरे' का प्रयोग किया है—

नवौ खंड नव पौरी, औ तहँ बज्र किवार।
चारि बसेरे सो चढ़ै, सत सों उतरै पार॥

'पद्मावत' में जायसी ने रत्नसेन, पद्मिनी, नागमती, सुग्गा इत्यादि सबका प्रतीकात्मक प्रयोग ही किया है।

शृंगार-काल में प्रतीकपद्धति का प्रयोग कम हुआ है। यहाँ यत्र-तत्र अन्योक्तियों के रूप में प्रतीक की स्थिति मिलती है। शृंगारकालीन प्रतीक कहीं-कहीं क्लिष्ट कल्पना पर आद्धृत हैं। वे साधन नहीं, साध्य हो गये हैं।

प्रतीकों का प्रयोग प्राचीन हिन्दी काव्य की अपेक्षा आधुनिक हिन्दी काव्य में अधिक सुन्दर रूप में हुआ है। छायावादी और प्रयोगवादी काव्यों में प्रतीक अधिक स्पष्ट हैं। इसी से कुछ लोग इन्हें प्रतीकवाद की संज्ञा देना चाहते हैं। छायावादी काव्यों में प्रकृति प्रतीकरूप में ही आयी है। यहाँ प्रसाद का यह उदाहरण देखा जा सकता है—

> झंझा झकोर गर्जन है, बिजली है नीरदमाला।
> पाकर इस शून्य हृदय को, सबने आ घेरा डाला॥

यहाँ 'झंझा झकोर' हृदय के उद्वेग, क्षोभ और आकुलता का; 'गर्जन' वेदना की टीस का; 'बिजली' स्मृति अथवा चमक का; 'नीरदमाला' अन्धकार का; 'शून्य' हृदय और आकाश का प्रतीक है। छायावादी काव्य की प्रतीकात्मकता पर ही विचारते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा था— "हिन्दी में छायावाद शब्द का जो व्यापक अर्थ रहस्यवादी रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं के सम्बन्ध में भी ग्रहण हुआ है, वह इसी प्रतीकशैली के अर्थ में। छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ— प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन।" छायावादी काव्य में प्राचीन प्रतीकों के स्थान पर नये प्रतीक भी लिये गये हैं; साथ ही प्राचीन प्रतीकों में भी अनेक प्रकार के परिवर्तन किये गये हैं। पूर्ववर्त्ती साहित्य में 'दीप' निष्ठुर प्रिय का प्रतीक रहा है, जिस पर शलभ अपने प्राण न्योछावर करते हैं। महादेवी वर्मा ने 'दीप' को सर्वत्र प्रेरक प्रतीक के रूप में ग्रहण किया है। इनके लिए 'दीप' प्रेम-ज्योति का प्रतीक है— "मधुर-मधुर मेरे दीपक जल।" प्रसादजी का 'लहर' जीवन की गति का प्रतीक है।

पाश्चात्य प्रतीकवादियों की तरह छायावादियों ने भी प्रतीक का उपयोग आदर्श, सूक्ष्म, अलौकिक, अप्रत्यक्ष इत्यादि की व्याख्या के लिए किया है। यहाँ रहस्यवृत्ति और अस्पष्टता प्रतीकपद्धति की विशेषता बन गयी है। छन्दों के स्थान पर लयात्मकता ही इन्हें भी काम्य है। साहित्य राजनीति से यहाँ भी दूर है। अस्तु, छायावादी काव्य एक सीमा तक प्रतीकवादी काव्य ही कहा जायगा। इस समय प्रतीकों से पाँच प्रकार के कार्य हुए हैं— विशिष्ट विषय की व्याख्या, विशिष्ट विषय की स्वीकृति, पलायन की भावना उत्पन्न करना, हृदयस्थ भावों की जागृति और अलंकरण। महादेवी वर्मा ने प्रतीकों का उपयोग सर्वजीववाद के रूप में भी किया है—

हे नभ की दीपावलियो, तुम क्षण भर को बुझ जाना।
मेरे प्रियतम को भाता, तम के पर्दे में आना॥

इसी प्रकार रूपक (सखी, नीरवता के कन्धे रखे हाथ, उतर रही सन्ध्या सुन्दरी···), उपमा (बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल) आदि के रूप में भी प्रतीकों के उपयोग हुए हैं। भाव अथवा विचारविशेष भी छायावादी काव्य में प्रतीकों के माध्यम से ही आये हैं। उदाहरणस्वरूप कामायनी, कुरुक्षेत्र, पथिक इत्यादि के नाम लिये जा सकते हैं, जिनमें प्रतीक का निर्वाह प्रारम्भ से अन्त तक हुआ है।

यों आधुनिक काव्य में प्रतीक सभी क्षेत्रों में प्रयुक्त हुए हैं; पर प्रेम, करुणा और राष्ट्रीयता के प्रतीक ही प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। प्रेम के प्रतीक में कमल, भ्रमर, चातक, गुलाब, फूल, कली, किरण, शलभ, दीप, बादल, पंछी, पतझड़, चन्द्रमा, बरसा, उषा इत्यादि महत्त्वपूर्ण रहे हैं। करुणा के प्रतीक में 'आँसू' को लिया जा सकता है। प्रसाद का 'आँसू' काव्य इसी का प्रतीक है।

प्रयोगवादी काव्य में प्रतीकपद्धति छायावाद से ही विरासत के रूप ली गयी है। यहाँ प्रतीकों का थोड़ा और भी परिष्कार होता है। साथ ही, नयी मान्यताएँ भी आ जुटती हैं। इस काव्य में यौन प्रतीकों के प्रति विशेष आग्रह रहा है। अन्य प्रकार के प्रतीक प्रायः दब जाते हैं और यौन प्रतीक अधिक प्रयुक्त हो चलते हैं। प्रतीकों की प्रचुरता के कारण ही श्री शिवदान सिंह चौहान ने प्रयोगवादी कवियों को छद्मवेशी प्रतीकवादी कहना चाहा है। यद्यपि प्रयोगवादी कवियों ने प्रतीकों के माध्यम से अपनी दमित भावनाओं की अभिव्यक्ति की है, पर इसे पाश्चात्य प्रतीकवाद का अन्धानुकरण नहीं कहा जायगा। यह भारतीय जीवन की युगानुरूप परिस्थितिजन्य अभिव्यक्ति है। इनमें पाश्चात्य प्रतीकवादियों की तरह धार्मिकता, संगीतात्मकता, अलौकिकता इत्यादि नहीं हैं। इनलोगों ने इलिएट के प्रभाव के कारण बुद्धिवाद को अधिक मान्यता दी है। प्रयोगवादियों में प्रतीकों के प्रयोग में अज्ञेय का स्थान महत्त्वपूर्ण है। श्री राजनारायणजी के शब्दों में—"प्रतीकवादी कवियों और अज्ञेय में यदि कोई सम्बन्ध है तो वह यह कि दोनों ने नये प्रतीकों की योजना पर बल दिया है, नये उपमान ढूँढने की बात कही है। परन्तु फ्रेंच कवियों के प्रतीकसम्बन्धी सिद्धान्त रहस्यों, अन्तर्विरोधों और अस्पष्टताओं से भरे थे, अज्ञेय में यह बात नहीं है।" इस कथन से अज्ञेय की महत्ता तो स्पष्ट ही है, साथ ही प्रयोगवाद के प्रतीकों का पाश्चात्य प्रतीकवादियों के प्रतीकों से भी अन्तर स्पष्ट है।

हिन्दी में ऐसा भी काव्य मिलता है, जिसमें प्रतीकात्मकता ही सब कुछ है। 'अन्योक्ति' काव्य ऐसा ही है। दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियाँ काफी प्रसिद्ध हैं।

प्रतीकों का उपयोग कविता में ही नहीं, भारत में गद्य में भी हुआ है।

प्रतीकात्मक नाटकों की रचना तो संस्कृत से ही प्रारम्भ हो गयी थी। हिन्दी में 'देवमायाप्रपंच' जैसा प्रतीकात्मक नाटक मध्यकाल में ही लिखा जा चुका था। प्रसादजी का 'कामना' नाटक प्रतीकात्मक ही है। 'नवरस' नाटक भी ऐसा है। आधुनिक युग में 'सागरविजय', 'अम्बा' आदि अनेक प्रतीकात्मक नाटकों की रचना की गयी है। इतना सब होने के बाद भी खुशी की बात यह है कि पाश्चात्य परम्परा की तरह ही यहाँ भी प्रतीकवाद एक साहित्यिक वाद के रूप में कभी भी मान्य नहीं हुआ है। प्रतीकपद्धति का उपयोग होना दूसरी बात है, प्रतीकात्मकता और वस्तु है; पर प्रतीकवाद बिल्कुल भिन्न। जैसे ही कोई विशेष प्रवृत्ति वाद का रूप ले लेती है, उसकी परिधि संकुचित हो जाती है और वह गुण की अपेक्षा दोष के निकट आ जाती है।

हमारे विद्वानों ने प्रतीक को साहित्य में स्वाभाविक प्रयोग के रूप में ही स्वीकार किया है, प्रयत्नरूप में नहीं। जब तब प्रतीक हमारी अनुभूतियों को साकार रूप में अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है, तभी तक वह महत्त्वपूर्ण है, अन्यथा वह भारवत् है। प्रतीकों के प्रयोग में औचित्यनिर्वाह और सामंजस्य-स्थापन आवश्यक है। प्रतीकों के प्रयोग के लिए प्रौढ़ अनुभव की अपेक्षा होती है। यद्यपि प्रतीकशैली वास्तव में सांकेतिक अथवा परोक्षशैली है, फिर भी इसका प्रभाव अधिक पड़ता है। आज हिन्दी कविता में प्रतीकों की नवीनता और रोचकता दोनों वर्त्तमान हैं। आवश्यकता है इसके निर्वाह की। प्रयोगवादी कवि नवीन प्रयोगों को सामने तो ला रहे हैं, पर नवीन प्रयोग ही यदि उनका साध्य होकर रह गया तो यह कलाबाजी भले ही हो जाय, कविता तो कभी हो ही न सकेगी। केवल कलात्मकता के नारे लगाकर, प्राचीनता के ध्वंस की कामना कर पाठक को पथभ्रष्ट करना ही आज मानो 'नयी कविता' चाह रही है। अस्तु, दुराग्रह को छोड़कर ही प्रतीकों का सम्यक् उपयोग हो सकता है तभी काव्य और भी अधिक सटीक रूप में सामने आ सकता है। हमें यह न भूलना चाहिए कि प्रतीक साधन हैं, साध्य नहीं।

●

३८

प्रयोगवाद

[अर्थ और उद्देश्य—लक्ष्मीकान्त वर्मा की चार बातें और एक और बात—अज्ञेय का मत—प्रयोग या वाद—सत्य, अनुभूति या बौद्धिकता—दृष्टिकोण की भिन्नता—प्रयोगवाद के कारण : विरोधी बातें—सही कारण—पाश्चात्य प्रभाव—इमेजिस्ट : प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया—प्रयोग के उपकरण—परीक्षण, अन्वेषण, बौद्धिकता, रूपशिल्प, वैयक्तिकता (शिल्प की), विशेषीकरण—प्रयोगवाद : नयी कविता—प्रपद्यवाद (नकेनवाद) : प्रपद्यदशसूत्री-द्वादशसूत्री—प्रपद्य : प्रयोग का मैनिफेस्टो—प्रयोगवाद के प्रवर्त्तन और उसके काल से सम्बद्ध भ्रान्तियाँ—'नकेन' और 'तारसप्तक' का कालक्रम—तीनों सप्तक—समर्थक पत्रिकाएँ—प्रमुख संकलन—आलोचकों के आरोप—कुछ उत्तर—निराला तक प्रयोग—प्रयोगवाद की विशेषताएँ—प्रयोग के नाम अनौचित्य : विकल्प और स्वेच्छाचार, विरामादिचिह्न और अप्रसंग—मूल्यांकन के मानदण्ड का प्रश्न]

प्रयोगवाद में दो शब्द हैं— प्रयोग और वाद। प्रयोग का सम्बन्ध विज्ञान से है। प्रयोगवाद को समझने के लिए प्रयोग को समझना आवश्यक है। इसके द्वारा किसी वस्तु की पूर्वमान्य प्रकृति का पुनर्ज्ञान प्राप्त किया जाता है। ज्ञान की नवीन उपलब्धि भी हो सकती है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रयोगकर्त्ता की प्रत्येक उपलब्धि ठीक ही हो, वह महत्त्व की भी हो सकती है। किसी भी वस्तु के सत्य का परीक्षण और परीक्षण द्वारा नये सत्य का स्थापन ही इसका मूल उद्देश्य है। प्रयोग-मात्र प्रक्रियाविशेष ही है, लक्ष्य अथवा उद्देश्यविशेष नहीं। इसकी जिज्ञासा है परीक्षण और उपलब्धि-अन्वेषण। सामान्य रूप से प्रयोग एक पद्धतिविशेष है जिसके द्वारा परीक्षण और अन्वेषण किया जाता है। परम्परा की मान्यताओं को छोड़कर बदलते देश-काल और परिवर्तित मानदण्डों के अनुसार नयी दिशाओं की स्थापना ही इसका मूल विषय है। यह जीवन को यथार्थ के पार्श्व में ही देखना चाहता है। जिज्ञासा, दृष्टि और वर्त्तमान का यथार्थ इसके साधन के रूप में माने जायँगे। श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार कहा जायगा कि प्रयोग में चार बातें अपेक्षित हैं—निर्धारित सत्य को अन्तिम सत्य नहीं मानना, स्थापित सत्य को परिवर्तित मानदण्डों के अनुरूप आगे बढ़ाना, सम्भावनाओं द्वारा नयी मर्यादा की स्थापना कर आगे बढ़ाना और चमत्कार पर विश्वास न करना। इनके साथ एक और बात मानी जायगी। प्रयोग सदा अपूर्ण ही होता है। अस्तु, कहा जायगा कि उपर्युक्त मान्यताओं को ले चलने वाली विचारधारा ही प्रयोगवाद के

नाम से जानी जाती है।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया, सत्य अथवा लक्ष्यप्राप्ति के लिए प्रयोग एक साधनमात्र है; पर साहित्य में प्रयोगवाद को 'सत्य साध्य' रूप में स्वीकार कर लिया गया है। स्वयं प्रयोगशील कवियों ने भी इसे पहले वाद के रूप में अस्वीकृत किया था। अज्ञेय ने लिखा था—"प्रयोग का कोई वाद नहीं होता। प्रयोग अपने-आप में इष्ट नहीं है, वह साधन है और दोहरा साधन है, क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है, जिसे कवि प्रेरित करता है; दूसरे, वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का साधन है।" यदि इसे पूर्णतः स्वीकार भी किया जाय तो कहा जायगा कि प्रयोग सत्य का साधन तो है, पर उसका सत्य उससे भिन्न नहीं है, अर्थात् प्रयोगशील कविता का साध्य भी प्रयोग ही है। प्रयोगवाद संज्ञा की अयथार्थता पर विचारते हुए अज्ञेयजी ने और भी लिखा है—"प्रयोग कोई वाद नहीं है, और हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही निरर्थक है जितना हमें कवितावादी कहना। × × × प्रयोगवादी कवि किसी स्कूल के नहीं हैं। अभी राही हैं, राही भी नहीं, राह के अन्वेषी।" इसका उत्तर इतना ही है कि वे कभी राह के अन्वेषी थे, पर आज तो राही बन ही गये हैं; उनकी राह ही है प्रयोग। प्रयोगवाद से अलग उनकी सत्ता नहीं है।

अनेक विचारकों ने प्रयोगवाद की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। कुछ ऐसी भी व्याख्याएँ हैं जिनसे प्रयोगवाद को समझने में अधिक सहायता मिलती है। श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार—"प्रयोगवाद ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ने की बौद्धिक जागरूकता है। यह जागरूकता 'व्यक्तिसत्य' और 'व्यापक सत्य' के स्तरों पर व्यक्ति की अनुभूति की सार्थकता को भी महत्त्वपूर्ण मानती है। प्रयोगवाद व्यक्ति-अनुभूति की शक्ति को मानते हुए समष्टि की सम्पूर्णता तक पहुँचाने का प्रयास है।" डॉ० धर्मवीर भारती का विचार है कि—"प्रयोगवादी कविता में भावना है किन्तु हर भावना के आगे एक प्रश्नचिह्न लगा है। इसी प्रश्नचिह्न को आप बौद्धिकता कह सकते हैं। सांस्कृतिक ढाँचा चरमरा उठी है और यह प्रश्न-चिह्न उसी का ध्वनिमात्र है।" श्री गिरिजा कुमार माथुर के अनुसार कहा जायगा कि—"प्रयोगों का लक्ष्य है व्यापक सामाजिक सत्य के खण्ड अनुभवों का साधारणी-करण करने में कविता को नवानुकूल माध्यम देना जिसमें व्यक्ति द्वारा इस व्यापक सत्य का सर्वबोधगम्य प्रेषण सम्भव हो सके।" डॉ० जगदीश गुप्त के अनुसार—"'नयी कविता' उन प्रबुद्ध विवेकशील आस्वादकों को लक्षित करके लिखी जा रही है जिनकी मानसिक अवस्था और बौद्धिक चेतना कवि के समान है।" उपर्युक्त कथनों पर सम्यक् रूप से विचार करने पर पता चलता है कि सबके दृष्टिकोण में थोड़ी भिन्नता है। सबमें एकमति का अभाव है। सम्यक् रूप से समझने के

गीतात्मक ही स्वीकार किया था, महाकाव्यात्मक नहीं—

थी महाकाव्य रचने की मेरे मन में।
तब कंकण-किंकिणी से सहसा टकराकर,
फट पड़ी कल्पना शत-सहस्र गायन में।
उस दुर्घटना से महाकाव्य कण-कण हो,
चरणों के आगे बिखर पड़ा है क्षण में। —रवीन्द्रनाथ (अनूदित)

अस्तु, यदि रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर अविश्वास न करें तो कह सकते हैं कि महाकाव्य की रचना सभी कवि नहीं, मात्र महाकवि ही करते हैं। समाज में ऐसे कवि सदा नहीं होते; विशिष्ट संघर्षमय स्थिति में ही समाज महाकवियों की अपेक्षा करता है जो अपनी महाकाव्यात्मक गरिमा लेकर समाज में उपस्थित ही नहीं होते, अपितु महाकाव्य में युगजीवन का गत्यात्मक चित्रांकन कर समाज को एक नयी लीक भी प्रदान करते हैं।

भारतीय आचार्यों ने प्रबन्ध की दृष्टि से काव्य के तीन भेद किये हैं— महाकाव्य, काव्य और खण्डकाव्य। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'काव्य' को ही 'एकार्थकाव्य' की संज्ञा दी है। यह लिखा तो जाता है महाकाव्य की ही पद्धति पर; पर इसमें महाकाव्य की विशदता एवं उदात्तता का अभाव-सा रहता है। इसी से आप 'साकेत' और 'कुरुक्षेत्र' जैसे प्रबन्धों को भी एकार्थकाव्य की ही संज्ञा देते हैं। इन्हें महाकाव्योन्मुख प्रबन्धकाव्य भी कहा जा सकता है। खण्डकाव्य के सम्बन्ध में 'साहित्यदर्पण' की मान्यता है— 'खण्डकाव्यं भवेत् काव्यं एकदेशानुसारि च', अर्थात् इसमें महाकाव्य का एकदेशीय रूप ही प्रमुख होता है। जीवन यहाँ एकपक्षीय रूप में ही चित्रित होता है। प्रभावान्विति, वर्णनप्रवाह आदि का समुचित योग तो होता है; पर महाकाव्य की अपेक्षा इसमें आकारगत लघिमा भी आवश्यक है। आज के विचारक मूलतः प्रबन्धकाव्य (महाकाव्य) और खण्डकाव्य को ही मान्यता देते हुए दीखते हैं, एकार्थकाव्य को नहीं। हिन्दीतर साहित्य में प्रबन्धकाव्यों के एक-दो रूप और भी देखने को मिलते हैं— चरितकाव्य और विलासकाव्य। उदाहरणस्वरूप, विमलसूरि के 'पउमचरिउ' का नाम लिया जा सकता है। मध्यकाल में चरितकाव्य, विलासकाव्य, मंगलकाव्य इत्यादि भी हिन्दी में लिखे गये हैं। प्रबन्धता यहाँ भी रहती है, किन्तु ऐसे काव्यों में कलात्मकता का अभाव ही मिलता है। चरितनायकों के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों पर ऐसे काव्यों में कवियों की दृष्टि खूब रमी है। आधुनिक युग की हिन्दी में इस प्रकार के काव्यों का अभाव-सा है।

भारतीय साहित्यशास्त्र में महाकाव्य के लक्षणनिरूपण का सर्वप्रथम श्रेय आचार्य भामह को है। इनके अनुसार महाकाव्य में—

सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थं च सालंकारं सदाश्रयम्॥
मंत्रदूतप्रयाणानि नायकाभ्युदयं च यत्।
पंचभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत्॥ —काव्यालंकार।

भामह के विचार से महाकाव्य में सर्गबद्धता, उदात्त चरित्र, महत् कार्य का वर्णन, उत्कृष्ट और अलंकृत शैली, जीवनवैविध्य की अवतारणा, नाटकीय पंचसन्धियाँ, लम्बे कथानकों का संघटन, सांस्कृतिक सम्बद्धता इत्यादि आवश्यक हैं।

परवर्त्ती आचार्यों में महाकाव्य पर विचार करने वालों में दण्डी, रूद्रट, हेमचन्द्र और पं० विश्वनाथ के नाम ही अधिक प्रमुख हैं। इन सबों द्वारा दिये गये लक्षणों को, भामह के उपर्युक्त लक्षण से तुलना करने पर, ऐसा कहना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि इन्होंने भामह द्वारा दिये गये लक्षण का ही विस्तार किया है। नवीनता आदि की दृष्टि से जितना महत्त्व भामह को मिलेगा उतना किसी को नहीं। आज पं० विश्वनाथ की परिभाषा ही अधिक मान्य है। इनकी परिभाषा की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इन्होंने पूर्ववर्त्ती सभी आचार्यों के मतों का समाहार कर अपनी परिभाषा इस प्रकार निर्धारित की है—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः॥
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा॥
श्रृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः॥
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलम् भवेत्॥
आदौ नमस्क्रियाऽऽशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणवर्णनम्॥
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गाष्टाधिका इह॥
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्॥
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनी प्रदोषध्वान्तवासराः।
प्रातर्मध्याह्नमृगया शैलर्तु वनसागराः।
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः।
रणप्रयाणोभयं मंत्रं मंत्रं पुत्रोदयादयः॥
वर्णनीया यथायोग्यं सांगोपांगा अमी इह।
कवेवृ त्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा॥
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु। —साहित्यदर्पण

आचार्य भामह से पण्डित विश्वनाथ तक की परिभाषाओं पर विचारने से

स्पष्ट है कि इनमें समय-समय पर होनेवाले परिवर्त्तनों की विभिन्न रेखाएँ स्पष्ट हैं; पर ये परिभाषाएँ महाकाव्य के शरीर की ओर ही संकेत करती हैं, आत्मा की ओर नहीं। सर्गबद्धता, आठ सर्ग, नायक का देवत्व या उच्चकुलत्व, वर्णनीय दृश्य, सर्गान्त में छन्दपरिवर्त्तन, शृंगार अथवा वीर का अंगी रस के रूप में निर्वाह इत्यादि महाकाव्य के बाहरी लक्षण ही हैं। प्रायः प्रत्येक महाकाव्यकार ने इनमें से किसी-न-किसी लक्षण की उपेक्षा अवश्य की है। हाँ, वैसे कवियों ने ही इन लक्षणों पर अड़े रहने की कसम खा ली है जिनके महाकाव्यों की महाकाव्यता ही अधिक सन्दिग्ध है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों द्वारा निरूपित महाकाव्य के लक्षणों में बाहरी लक्षण तो मिलते ही हैं, कतिपय लोगों ने महाकाव्य के शाश्वत रूप को भी उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। अरस्तू के अनुसार—"महाकाव्य ऐसे उदात्त व्यापार का काव्यात्मक अनुकरण है जो स्वतः गम्भीर एवं पूर्ण हो, वर्णनात्मक हो, सुन्दर शैली में रचा गया हो, जिसमें आद्यन्त एक छन्द हो, जिसमें एक ही कार्य हो जो पूर्ण हो, जिसमें प्रारम्भ, मध्य और अन्त हो, जिसके आदि और अन्त एक दृष्टि में समा सकें, जिसके चरित्र श्रेष्ठ हों, कथा सम्भावनीय हो और जीवन के किसी एक सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन करती हो।" (—डॉ० शकुन्तला दुबे—'काव्यरूपों के मूल स्रोत और उनका विकास')।

पश्चिम के प्रारम्भिक महाकाव्यों में रोमांसी तत्त्व मिले रहते थे। पुनः रोमांस को महाकाव्य से अलग करके देखा जाने लगा था; किन्तु सर्वप्रथम टैसो ने रोमांसी महाकाव्यों की रचना की तथा एरियास्टो और दांते के रोमांसी शैली में लिखे गये महाकाव्यों का जोरदार समर्थन किया। पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों में डिक्सन, टिलयार्ड, ऐवर क्राम्बी, सी० एम० बावरा इत्यादि की परिभाषाएँ अधिक मान्य हैं। डिक्सन ने वाल्तेयर की परिभाषा को ही सर्वाधिक सटीक परिभाषा माना है, जो इस प्रकार है—"ऐसे काव्यग्रन्थ ही महाकाव्य नाम के अधिकारी हैं जिनमें किसी महत् घटना का वर्णन होता है और जिन्हें समाज व्यवहारतः महाकाव्य मानने लगता है। चाहे उसकी घटना सरल हो या जटिल, चाहे एक स्थान पर घटित होने वाली हो या उसका नायक संसार भर में भटकता फिरे, चाहे उसमें एक नायक हो या अनेक, चाहे उसका नायक अभागा हो या धर्मात्मा, चाहे वह राजा हो या सेनापति या इनमें से कुछ भी न हो, चाहे उसके दृश्य महासागर के हों या धरती के, स्वर्ग के हों या नरक के, इससे कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। इसके बावजूद कोई मान्य महाकाव्य तब तक महाकाव्य कहा जाता रहेगा जब तक आप उसके गुणों के अनुरूप उसका कुछ और नामकरण नहीं कर देते।" डॉ० टिलयार्ड ने महाकाव्यात्मक गरिमा के आगे उसमें छन्दविधान पर भी ध्यान नहीं दिया है।

महाकाव्यात्मक गरिमा के कारण ही वे कतिपय उपन्यासों को भी महाकाव्य मानने के पक्ष में हैं। उनका मत है कि "The first epic requirement is the simple one of high quality and of high seriousness." महत्प्रेरणा, महदुद्देश्य और गाम्भीर्य के कारण ही कोई भी रचना महाकाव्य बनती है; शैली की नाटकीयता और अलंकृति से ही कोई भी रचना महाकाव्य नहीं बनती।

महाकाव्य के भारतीय और पाश्चात्य लक्षणों में स्थूल दृष्टि से साम्य होने पर भी प्रकृतितः गहरा अन्तर है। भारतीय आचार्यों ने मंगलमयत्व, सामंजस्य, सत्यं, शिवं, सुन्दरं, असत् पर सत् की विजय इत्यादि पर अधिक जोर दिया है; जब कि पाश्चात्य विचारकों ने संघर्ष, लौकिकता, यथार्थवादिता इत्यादि पर ही अधिक बल दिया है।

आधुनिक विचारकों में आचार्य शुक्ल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने नवीन मान्यताओं और मुख्यतः रामचरितमानस को ध्यान में रखते हुए महाकाव्य के लिए चार तत्त्वों— इतिवृत्त, वस्तुव्यापारवर्णन, भावव्यंजना (मार्मिक स्थल) और संवाद—को ही स्वीकार किया है। डॉ० शकुन्तला दुबे ने अपने शोधप्रबन्ध में—(१) कथासिद्धि, (२) पारलौकिक तत्त्व, (३) युगसन्देश की नवीनता, (४) वर्णन का वैशिष्ट्य और (५) सर्वविध महत्ता—पाँच तत्त्वों को ही महाकाव्य के लिए आवश्यक रूप में स्वीकार किया है। 'हिन्दी साहित्यकोश' में मोटे तौर पर महाकाव्य के लिए निम्नांकित अवयव स्वीकार किये गये हैं—(१) महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्यप्रतिभा; (२) गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व; (३) महत्कार्य और युगजीवन का समग्र चित्रण; (४) सुसंघटित जीवन्त कथानक; (५) महत्त्वपूर्ण नायक तथा अन्य पात्र; (६) गरिमामयी उदात्त शैली; (७) तीव्र प्रतिभान्विति और गम्भीर रसव्यंजना; (८) अनवरुद्ध जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता।

यह स्पष्ट है कि महाकाव्य-सम्बन्धी धारणाएँ सदा परिवर्त्तित होती रही हैं। जब कभी दो संस्कृतियाँ टकरायी हैं, समाज ने एक नवीन मानदण्ड ग्रहण किया है और उस नवीन मानदण्ड को लेकर एक-न-एक महाकाव्य अवश्य लिखा गया है। आधुनिक युग में 'कामायनी' और 'कुरुक्षेत्र' को छोड़ कर महाकाव्य की परिभाषा नहीं लिखी जा सकती। इनके विश्लेषण से स्पष्ट है कि महाकाव्यों में कथानक का महत्त्वपूर्ण स्थान अब नहीं-सा रह गया है। साथ ही, संघर्ष का भी प्राचीन रूप इनमें अनुपलब्ध है। यहाँ बाह्य संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक संघर्षों पर ध्यान दिया गया है। अस्तु, ऐसा कहना कि शास्त्रीय दृष्टि से आधुनिक महाकाव्यों ने अपने प्राचीन स्वरूप को पूर्णतः बदल डाला है, अत्युक्ति न होगा। आज सामान्य रूप से कह सकते हैं कि **महत्प्रेरणा, महती काव्यप्रतिभा और महदुद्देश्य से सुसंघटित कथानक**

और वर्णनवैशिष्ट्य से युक्त उदात्त शैली में लिखा जाने वाला महाकाव्य एक ऐसी सर्गबद्ध रचना है, जिसमें युगजीवन के जीवन्त चित्रण के साथ प्रभावान्विति, रस-परिपाक और चरित्रचित्रण का सम्यक् योग होता है।

विचारकों ने महाकाव्यों की परम्परा को दो वर्गों में रखा है—मौखिक और लिखित। इन्हें क्रमशः प्राकृत (ऑथेण्टिक एपिक या एपिक ऑफ ग्रोथ) और अनुकृत (इमिटेटिव या लिटरेरी एपिक या एपिक ऑफ आर्ट) महाकाव्य कहा जायगा। दोनों प्रकार के महाकाव्यों के मूल तत्त्व एक होकर भी दोनों धाराएँ एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। भारतीय परम्परा में 'रामायण', 'महाभारत' 'पृथ्वीराज रासो' इत्यादि प्रथम कोटि के महाकाव्य हैं और कालिदास, माघ, स्वयम्भू, तुलसी, प्रसाद इत्यादि के महाकाव्य दूसरी कोटि के। अनुकृत या साहित्यिक महाकाव्यों में शास्त्रीयता का निर्वाह अधिक हो पाता है। संसार की प्रत्येक भाषा में प्रायः दोनों प्रकार के महाकाव्य मिलते ही हैं। प्राकृत महाकाव्यों की रचना सामान्यतः वीरयुग और सामन्ती वीरयुग (हीरोइक एज एण्ड एज ऑफ शिवेलरी) में ही हुई है। इनमें लोकाश्रित धर्म, लोकविश्वास और संकुचित राष्ट्रीयता इत्यादि के चित्रों के साथ सामन्ती प्रथा के प्रति विद्रोह की झलक अवश्य मिलती है। अलंकृत या अनुकृत महाकाव्यों में धीरे-धीरे अनेक शैलियाँ विकसित हो गयी हैं। आज तक मूलतः (१) शास्त्रीय, (२) रोमांसी, (३) ऐतिहासिक, (४) पौराणिक, (५) रूपकथात्मक, (६) नाटकीय, (७) प्रगीतात्मक और (८) मनोविश्लेषणात्मक शैली में अनुकृत महाकाव्य रचे जा चुके हैं। हिन्दी महाकाव्यों में उपर्युक्त शैलियों में से कुछ ही शैलियों में महाकाव्य लिखे गये हैं। यों यदि चाहें तो 'पृथ्वीरास रासो', 'आल्हखंड', 'पद्मावत', 'रामचरितमानस', 'कामायनी', 'रामचन्द्रिका', 'छत्रप्रकाश' को क्रमशः विकसनशील, लोकमहाकाव्य, रोमांसी, पौराणिक, रूपकथात्मक, नाटकीय और ऐतिहासिक शैली का महाकाव्य कह सकते हैं। 'कामायनी' में प्रगीतात्मक और मनोविश्लेषणात्मक शैली का भी सामंजस्य मिलता है।

हिन्दी के महाकाव्यों की विकासकथा जानने के पूर्व पूर्ववर्त्ती महाकाव्यों की सामान्य जानकारी आवश्यक है। संस्कृत के महाकाव्यों से ही भारतीय महाकाव्यों की परम्परा प्रारम्भ हो जाती है। रामायण और महाभारत के पूर्व भी कुछ महाकाव्य लिखे अवश्य गये होंगे; पर वे वर्त्तमान समय में अनुपलब्ध हैं। विवाद में न पड़ते हुए, प्राचीन मनीषियों के अनुसार कहा जायगा कि रामायण ही भारतीय परम्परा का प्रथम महाकाव्य है। सरल किन्तु प्रौढ़ शैली में महर्षि वाल्मीकि ने प्रबन्ध की रचना कर बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। महाभारत रामायण की अपेक्षा अधिक विस्तृत आकार की रचना है। महाभारत में कौरवों और पाण्डवों के बीच मुख्य कथा चलती है; पर प्रासंगिक रूप में इसमें कृष्ण की कथा तथा अन्य अनेक

कथाएँ भी आयी हैं।

आगे चलकर संस्कृत में एक-से-एक महाकाव्य लिखे गये। 'बुद्धचरित', 'कुमारसम्भव', 'रघुवंश', 'किरातार्जुनीयम्', 'शिशुपालवध', 'नैषधीयचरित' इत्यादि संस्कृत के प्रसिद्ध महाकाव्य हैं। इन महाकाव्यों में अलंकृत शैली पर पूरा ध्यान रखा गया है, जिससे कथा का प्राकृत प्रवाह टूट-सा गया है। हाँ, कालिदास का महत्त्व सबों में अधिक है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

समय बदलता है और संस्कृत का स्थानान्तरण प्राकृत और अपभ्रंश के द्वारा किया जाता है। महाकाव्य की परम्परा इन भाषाओं में भी पल्लवित होती है। 'रावणवहो' (रावणवध), 'लीलावई' (लीलावती), 'सिरिचिन्हकव्वं' (श्रीचिह्नकाव्य), 'उसाणिरुद्ध' (उषानिरुद्ध), 'कंसवहो' (कंसवध) इत्यादि प्राकृत के प्रसिद्ध महाकाव्य हैं। जैन कवियों में स्वयम्भू ('पउमचरिउ' और 'रिट्ठणेमिचरिउ') और पुष्पदन्त (महापुराण, नागकुमारचरित, यशोधराचरित) ने महाकाव्यों की रचनाएँ कीं। पद्मकीर्ति, धनपाल, नयनन्दि इत्यादि ने पुष्पदन्त के ही अनुकरण पर रचनाएँ की हैं। प्राकृत और अपभ्रंश के प्रायः सभी महाकाव्य विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से नहीं लिखे गये हैं। इनके पीछे धार्मिक प्रेरणा रही है। इसी से इनमें कथा की रोचकता और पात्रों के औदात्य के साथ साम्प्रदायिक शिक्षा की लहर भी है। ये मात्र विद्वानों द्वारा ही पठनीय नहीं; अपितु सामान्य जनों द्वारा भी रसास्वादन के योग्य हैं।

महाकाव्य किसी जाति की अनवरुद्ध जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता का परिचायक होता है। प्रत्येक युग में जातीय जीवन की इन विकरणशील शक्तियों के समन्वयहेतु एक महाकवि की आवश्यकता होती है और वह ठीक समय पर उपस्थित होकर महाकाव्य में उसे सहेजने का प्रयत्न करता है। भारतीय जीवन-प्रवाह के पाँच युगों में पाँच प्रतिनिधि महाकाव्य—वाल्मीकि की रामायण, कालिदास का रघुवंश, स्वयम्भू का पउमचरिउ, तुलसी का मानस और प्रसाद की कामायनी—लिखे गये हैं। अद्यतन युग में उपन्यास महाकाव्य का स्थान ग्रहण कर रहा है। उपर्युक्त पाँचों महाकाव्यों में जातीय जीवन के आन्तर-बाह्य संघर्षों से उत्पन्न नये मूल्यों का सफल चित्रण हो सका है। आर्य-अनार्य-संघर्ष के कारण उत्पन्न औपनिषदिक तत्त्वज्ञान के युग में वाल्मीकि ने रामायण द्वारा भारतीय जीवन में कर्मठता प्रदान की और बाह्य आक्रमणों को जब शकारि ने बिखेरकर भारतीय जीवन की सभ्यता को समृद्ध बनाने में योग दिया तो कालिदास ने शुष्क-सी प्रतीत होती हुई कर्मठता को रससिक्त बनाया। रससिक्त कर्मठता के अतिरेक के कारण भारतीय जीवन में गौतम बुद्ध और जैनाचार्य महावीर ने वीतराग की स्थिति उत्पन्न की। इसी आन्तरिक संघर्ष से उत्पन्न नयी मूल्यभावना को प्रस्थापित किया 'पउमचरिउ' में स्वयम्भू ने। मध्ययुग में इस्लाम से संघर्ष के समय

रससिक्त किन्तु निराश कर्मठता को तुलसी ने अपने मानस द्वारा अत्यधिक प्रसरण-शील और कार्यकुशल बनाया। आधुनिक युग आते-आते तुलसी का समन्वय बिखरने लगा और पाश्चात्य सम्पर्क के कारण नये मूल्यों के अनुरूप विकसित मानवीय भावनाओं को सहेजने की पुनः आवश्यकता हुई। इसी कार्य को श्री जयशंकरप्रसाद ने इच्छा, क्रिया और ज्ञान के समन्वय द्वारा पूरा करने का व्रत लिया और 'कामायनी' में मानवीय चेतना का सामंजस्य मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किया गया।

हिन्दी महाकाव्यों में तुलसी का मानस और प्रसाद की कामायनी प्रतिनिधि महाकाव्य हैं। मानस के पूर्व हिन्दी में चार प्रबन्धकाव्य विशेष महत्त्व के हैं—स्वयम्भू का 'पउमचरिउ', चन्द का 'पृथ्वीराज रासो', जगनिक का 'आल्हखंड' और जायसी का 'पद्मावत'। चारों में प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा का पल्लवन किसी-न-किसी रूप में अवश्य है। संस्कृत-परम्परा का प्रभाव भी है। इन्हें क्रमशः जैन कथाकाव्य, रासोकाव्य, मौखिक लोकगाथा और सूफी प्रेमाख्यान का चरम विकास मानना अधिक तर्कसंगत है।

जैन न होने पर भी स्वयम्भू ने 'पउमचरिउ' में जैनियों की परम्परा का निर्वाह किया है। इस रामायण का स्वर बौद्ध-सिद्ध-परम्परा के अनुरूप खंडनात्मक ही अधिक है। इसी से यह काव्य से दूर और शास्त्र के निकट प्रतीत होता है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का मत है कि तुलसी ने 'क्वचिदन्यतोऽपि' के द्वारा इसी की ओर संकेत किया है।

रासो का यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य रहा कि इसकी परीक्षा काव्य की दृष्टि से कम और इतिहास की दृष्टि से अधिक की गयी है। हम यहाँ इसकी प्रामाणिकता, स्वाभाविकता और ऐतिहासिकता इत्यादि की चीरफाड़ न करते हुए महाकाव्य की दृष्टि से ही परीक्षा करें तो उत्तम हो। इसके कई रूपान्तर मिलते हैं। उनहत्तर समयों के इस वृहद् महाकाव्य में प्रवाहशैथिल्य, असंधित कथानक, अनावश्यक वर्ण्य दृश्यों की योजना इत्यादि होने के कारण महाकाव्यात्मक गरिमा और उदात्तता का निर्वाह पूर्णतः नहीं हो सका है। उत्कृष्ट कोटि के महाकाव्य के गुण न होने पर भी इसमें विकसनशील महाकाव्यों का प्रारम्भिक रूप मिलता है।

मौखिक रूप में पनपनेवाली लोकगाथाओं का चरम विकास 'आल्हखंड' में मिलता है। यह लोकमहाकाव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। अलंकृत शैली से यह बिल्कुल बचा हुआ है। काव्यात्मक प्रतिभा, काव्यगत रूढ़ियों, उक्तिवैचित्र्य आदि का इसमें अभाव-सा है। इसके चरित्र वीरता से ओतप्रोत हैं। इसमें दरबारी वातावरण का पूर्णतः अभाव है। जनता की चित्तवृत्ति का परिचय देने में यह महाकाव्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

दाऊद, कुतवन, मंझन इत्यादि की परम्परा में विकसित होनेवाले सूफी प्रेमाख्यानों की परम्परा में जायसी का 'पद्मावत' शीर्षस्थानीय है। यह रोमांसी महाकाव्य का उदाहरण माना जायगा। लौकिक प्रेमकथा के माध्यम से अलौकिकता का सन्देश भी इसमें दिया गया है। जायसी ने इस काव्य में प्रकृत प्रेम को मानो सीमित रूप में ही उपस्थित किया है। इसी से इसमें जीवन का पूर्ण गाम्भीर्य नहीं आ सका है। फिर भी रासो की अपेक्षा 'पद्मावत' में कवि ने, कम-से-कम, जीवन की एक ही रूढ़ि (प्रेम) को अत्यधिक महत्त्व अवश्य दिया है। मनुष्य की बात तो छोड़िए, जड़ प्रकृति भी इसके प्रेम की पीर से दग्ध है।

मध्ययुग की सबसे महान उपलब्धि है रामचरितमानस। यदि भारतीय इतिहास और साहित्य की कोई महानतम घटना मानी जायगी तो निश्चय ही 'रामचरितमानस' का प्रणयन ही शीर्षस्थानीय ठहरेगा। यह हिन्दी काव्यग्रन्थ की ही नहीं, समस्त भारतीय काव्यों की नैतिक धुरी है। इसकी लोकप्रियता इसकी शाश्वतता का प्रमाण है। कथायोजना, प्रसंगनिर्वाह, संवादयोजना, शील-निरूपण, मर्यादित शृंगार, उचित मार्मिक स्थलों के चयन, तत्कालीन समाज की जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता के परिचय, भाषा और भावविधान की चुस्ती, समन्वयात्मकता इत्यादि की दृष्टि से यह अपूर्व ग्रन्थ है। यदि हिन्दू संस्कृति—भारतीय संस्कृति के सभी ग्रन्थों का लोप हो जाय और मात्र तुलसी का मानस बच जाय तो भी हिन्दू संस्कृति शतप्रतिशत उसी रूप में अपना निर्माण कर ले सकती है—ऐसी अपूरणीय वस्तुस्थिति लेकर संयोजित है रामचरितमानस। उत्तर भारत का नेतृत्व यदि किसी ने किया है तो एकमात्र तुलसी ने, जिसने मानस के रूप में भारतीयों का मानस ही तैयार कर दिया है। मानस भारतीयों के लिए एक ही साथ इतिहास, पुराण, शास्त्र, महाकाव्य इत्यादि सब-कुछ है।

शास्त्रीयता की दृष्टि से रामायण में कतिपय त्रुटियाँ रह गयी हैं; फिर भी इसने उस कार्य को पूरा किया जिसे उस समय तक पूरा करने में पिछले महाकाव्य अनुपयुक्त थे। जातीय जीवन की जिस संघर्षपूर्ण घड़ी में रामचरितमानस की रचना हुई, वह कला की दृष्टि से संवेदना का काल रहा है। कर्म और ज्ञान उस युग का नेतृत्व नहीं कर सकते थे। एकमात्र श्रद्धा अथवा विश्वास अथवा भाव-नात्मक पद्धति से उसे पूरा किया जा सकता था, जिसकी समाज को अपेक्षा थी। तुलसी ने विपरीत परिस्थितियों के वात्याचक्र में श्रद्धामिश्रित प्रेम (भक्ति) का सहारा लेकर मध्ययुग को देखने की चेष्टा की। इसी से उन्हें आशातीत सफलता भी मिली। तभी तो 'मानस' मात्र भारतीय महाकाव्य का नहीं, अपितु विश्वमहाकाव्य का स्तर प्राप्त कर सका है।

शास्त्रीयता के विचार से 'मानस' की अपेक्षा केशवदास की 'रामचन्द्रिका' का

महत्त्व अधिक है। उनचालीस प्रकाशों के इस विशद् ग्रन्थ में चरितनायक राम का ही जीवन वर्णित हैं। कथा का आधार है वाल्मीकीय रामायण। वस्तुतः यह प्रबन्धकाव्य की अपेक्षा छन्दों का कोश ही अधिक है। श्वेतश्मश्रु आचार्य केशव की वाच्चिक रसिकता नवयुवकों को चुनौती भले ही दे; पर महाकाव्य में जिस रस-सिक्त कविहृदय की आवश्यकता होती है, उससे यह काव्य रससिक्त ही कहा जायगा। अलंकारप्रदर्शन, पांडित्य, छन्दवैविध्य, संवाद इत्यादि की दृष्टि से इसका महत्त्व तो है; पर महाकाव्य के विचार से नहीं। सर्वाधिक प्रशंसनीय हैं इसके संवाद; पर इसकी चर्चा संवादकाव्य में ही अपेक्षित है, महाकाव्य में नहीं। 'रामचन्द्रिका' का महत्त्व एक और दृष्टि से भी है। इसमें उस काव्यधारा का पूर्वसंकेत पूर्णतः मिल जाता है जो समस्त शृंगारकाल में अजस्ररूप से प्रवाहित है।

महाकाव्यरचना के विचार से हिन्दी साहित्य का उत्तरमध्यकाल अनुर्वर-सा है। यह दरबारी मुक्तकों का युग है। यों पौराणिक शैली में रामायण और महाभारत के अनुकरण पर इस समय कई रचनाएँ हुई हैं; पर उनका महत्त्व गौण ही समझिए। 'महाभारत' (सबलसिंह चौहान), 'ब्रजविलास' (ब्रजवासीदास), 'रामाश्वमेध' (मधुसूदनदास), 'रामरसायन' (पद्माकर), 'रामायण' (विश्वनाथसिंह), 'कृष्णचन्द्रिका' (गुमान मिश्र) इत्यादि ऐसी ही रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त ऐतिहासिक इतिवृत्त को लेकर भी कतिपय प्रबन्धों की रचना की गयी है जिनमें कथानकशैथिल्य, महत् उद्देश्य का अभाव, चरित्रचित्रण की त्रुटियाँ इत्यादि कई खटकने वाली बातें मिलती हैं। ऐसी रचनाओं में 'राजविलास' (मान कवि), 'छत्रप्रकाश' (गोरे लाल), 'सुजानचरित' (सूदन), 'हम्मीर रासो' (जोधराज) इत्यादि अधिक प्रशंसनीय हैं।

पौराणिक शैली में लिखे गये प्रबन्धों में मधुसूदनदास के 'रामाश्वामेध' और गुमान की 'कृष्णचन्द्रिका' का विशेष महत्त्व है। कई दृष्टियों से ये दोनों अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम में 'मानस' की शैली का पूर्णतः अनुकरण मिलता है और दूसरे में 'मानस' और 'रामचन्द्रिका' की शैलियों का सामंजस्य। ऐतिहासिक इतिवृत्त को लेकर लिखे गये प्रबन्धों में मान-कृत 'राजविलास' में अपभ्रंश के चरित-काव्यों की शैली का अनुकरण है। अठारह विलासों का यह काव्य अपूर्ण है। इसे प्रशस्तिमूलक चरितकाव्य कहना चाहिए। भाषा, भाव अथवा शैली—किसी भी विचार से इसमें महाकाव्योचित गाम्भीर्य नहीं है। बुन्देलों की कीर्त्ति को लेकर छब्बीस अध्यायों में लिखा गया 'छत्रप्रकाश' भी नीरस ऐतिहासिकता से ही ओत-प्रोत है। 'सुजानचरित' भी बिल्कुल साधारण रचना ही ठहरती है और ९७९ छन्दों में लिखा गया 'हम्मीर रासो' भी विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। फिर भी इन सबकी अपेक्षा 'हम्मीर रासो' में महाकाव्यात्मक गरिमा अधिक है।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में पश्चिम से सम्पर्क बढ़ जाता है। अन्य विषयों की तरह साहित्य भी पश्चिम से प्रभावित होता है। नयी मान्यताओं के कारण हमारी सभ्यता और संस्कृति भी नवीन दिशा में बढ़ चलती है। अस्तु, वर्त्तमान समय में प्रबन्धों की बाढ़-सी आ जाती है। आधुनिक युग के प्रबन्धकाव्यों में—१. 'रामस्वयंवर' (महाराज रघुराजसिंह), २. 'रामचन्द्रोदय' (रामनाथ ज्योतिषि), ३. 'रामचरितचिन्तामणि' (रामचरित उपाध्याय), ४. 'कोशल-किशोर', ५. 'साकेत-संत' (बलदेवप्रसाद मिश्र), ६. 'वैदेहीवनवास' (हरिऔध), ७. 'नूरजहाँ', ८. 'विक्रमादित्य' (गुरुभक्तसिंह), ९. 'दैत्यवंश' (हरदयालुसिंह), १०. 'सिद्धार्थ', ११. 'वर्द्धमान' (अनूप शर्मा), १२. 'शर्वाणी' (अनूप शर्मा), १३. 'जौहर', १४. 'हल्दी घाटी' (श्यामनारायण पांडेय), १५. 'आर्यावर्त्त' (वियोगी), १६. 'गाँधीचरित-मानस' (विद्याधर महाजन), १७. 'पार्वती' (रामानन्द तिवारी), १८. 'अंगराज' (आनन्दकुमार), १९. 'दमयन्ती' (ताराचन्द हारित), २०. 'कृष्णायन' (द्वारिका प्रसाद मिश्र), २१. 'रानी दुर्गावती' (देवीलाल चतुर्वेदी), २२. 'मीरा' (परमेश्वर द्विरेफ), २३. 'जननायक' (रघुवीरशरण मिश्र), २४. 'अम्बपाली', २५. 'राधाकृष्ण' (राजेश्वरप्रसादनारायण सिंह), २६. 'रश्मिरथी', २७. 'कुरुक्षेत्र', २८. 'उर्वशी' (दिनकर), २९. 'यशोधरा', ३०. 'साकेत' (गुप्तजी), ३१. 'कामायनी' (प्रसाद), ३२. 'नलनरेश' (पुरोहित प्रतापनारायण), ३३. 'उर्मिला' (बालकृष्ण शर्मा नवीन), ३४. 'बाणाम्बरी' (पोद्दार रामावतार अरुण), ३५. 'मेधावी' (रांगेय राघव), ३६. 'उर्ध्वरेता' (उमेश मिश्र) इत्यादि अनेक रचनाओं के नाम लिये जाते हैं। उपर्युक्त तालिका में दशाधिक रचनाओं के नाम नहीं दिये गये हैं।

आधुनिक काल ('प्रियप्रवास' से 'उर्वशी' तक) के सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि इतने थोड़े समय में हिन्दी में लगभग पैंतालीस-पचास प्रबन्धकाव्यों की रचना हो चुकी है। इनमें से सभी महाकाव्य कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। अधिकांश रचनाओं में भावों की पुनरावृत्ति, अशक्त भाषा, अक्षम शब्दावलियाँ, अनाकर्षक तुकबन्दियाँ इत्यादि ही हैं। इस प्रकार की रचनाओं की बाढ़ के पीछे कई प्रकार की प्रेरणाएँ काम करती रही हैं। इनके प्रेरणास्रोत को चार रूपों में देखा जा सकता है—(१) पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क के कारण प्राचीन चरित्रों और घटनाओं को नवीनता और बौद्धिक संगति प्रदान करने की इच्छा, (२) राष्ट्रीयता की भावना के पोषणहेतु प्राचीन कथानकों के नवीकरण की भावना, (३) विश्वकवि रवीन्द्र के 'काव्येर उपेक्षिता' निबन्ध के प्रभाव के कारण उपेक्षित पात्रों—मूलतः नारी पात्रों—के उद्धार की भावना और (४) गाँधीवादी दर्शन के प्रभाव की अभिव्यक्ति की इच्छा। इनके अतिरिक्त एक और दृष्टिकोण माना जायगा—वह है 'अर्थकृते' के साथ-साथ 'यशसे' की भावना। आज की अधिकांश रचनाएँ अर्थ की दृष्टि से ही

बाजार में आ रही हैं। महाकाव्यों के स्तर की गिरावट का एक बड़ा कारण यह भी है। ऐसा लगता है, मानो आज का प्रत्येक कवि बिना महाकाव्य लिखे अपनी महत्ता को हीन ही समझता है। इसी से उपर्युक्त रचनाओं में अधिकांश महाकाव्याभास ही होकर रह गयी हैं।

महाकाव्यात्मक गरिमा लेकर इस युग में मूलतः चार रचनाएँ ही सामने आयी हैं—प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी और कुरुक्षेत्र। इनमें 'कामायनी' महाकाव्य ही नहीं, प्रतिनिधि महाकाव्य है। 'प्रियप्रवास' और 'साकेत'—दोनों पर 'काव्येर उपेक्षिता' और आधुनिक बौद्धिकता का प्रभाव है। प्रथम में कृष्णाख्यान का नवीकरण है और द्वितीय में रामाख्यान का। साकेतकार ने माइकेल की प्रबन्धात्मकता और छायावाद की गीतात्मकता के बाह्य और आन्तरिक स्तरों को मिलाने की चेष्टा की है। साकेत गीतिप्रबन्ध की खिचड़ी भले ही हो, पर युग की दुबिधाग्रस्त मनःस्थिति का दर्पण अवश्य है। सामान्यतः साकेत बिखरे गृहजीवन का सुधरा हुआ चित्र है। इस रचना से ऐसा भी संकेत मिल जाता है कि अगला महाकाव्य गीति और प्रबन्ध की धारा को आत्मसात् कर नवीन रूप ग्रहण करेगा।

गीति और प्रबन्ध के समन्वय के रूप में प्रकट होती है 'कामायनी'। प्रसाद ने इसमें आधुनिक मानवीय चेतना का मानो इतिहास ही प्रस्तुत कर डाला है। शतपथब्राह्मण के आख्यान को लेकर प्रसाद ने अतिशय बौद्धिकता का परिणाम चित्रित करने के लिए चार पात्रों के माध्यम से अब तक की मानवपरम्परा को दो पीढ़ियों में अंकित किया है। कवि का संकेत है कि श्रद्धा और मनु की पीढ़ी समाप्त हो गयी है और अब मनुष्य इड़ा और मानव की पीढ़ी में है। इड़ा के साथ मन का सामंजस्य भले ही न हो सका हो, किन्तु मानव का सामंजस्य तो बैठेगा ही। इसी से तो श्रद्धा मानव को यह कहते हुए—'हे सौम्य इड़ा का शुचि दुलार, हर लेगा तेरा व्यथाभार'—इड़ा को सौंप देती है। 'ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा' कह कर तुलसी ने जिस समन्वय का कार्य किया था मध्ययुग में, उसी समन्वय को आधुनिक युग में प्रसाद भी मान्यता देते हैं। आधुनिक युग की सूक्ष्म चेतना—ज्ञान, इच्छा और क्रिया—का समन्वय ही कामायनी का उद्देश्य है। इसमें उद्देश्य की महानता के साथ महाकाव्यात्मक गरिमा, गाम्भीर्य इत्यादि का सम्यक् निर्वाह हो पाया है। इसमें नारी का आधुनिक रूप में जितना सुन्दर चित्रांकन हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है। श्रद्धा यशोधरा और उर्मिला की तरह वियोगिनी तो बनती है, पर इसका आँचल आँसुओं से गीला नहीं होता, बल्कि जीवन की दीप्ति से मुखरित है। तभी तो वह मरणासन्न मनु को नवजीवन ही नहीं देती, पथनिर्देश भी करती है। कथा की विरलता होते हुए भी 'कामायनी' आधुनिक जीवन का गत्यात्मक चित्र है। हाँ, अतिशय दार्शनिकता और मनोवैज्ञानिकता से युक्त होने के कारण

'कामायनी' 'मानस' की तरह कलकण्ठहार नहीं बन सकी है। यों 'कामायनी' काव्यत्व की दृष्टि से प्रौढ़ और युगसन्देश की दृष्टि से सर्वथा नवीन और महान् रचना है।

दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' भी कथानक से हीन किन्तु रोचक और नवीन दर्शन से ओतप्रोत रचना है। 'शान्ति नहीं तबतक, जबतक नर का सुखभाग न सम होगा' ही इसका सन्देश है। शास्त्रीयता की दृष्टि से इसमें कई त्रुटियाँ हैं, फिर भी इसे 'कामायनी' की परम्परा का ही विकास कहा जा सकता है। दिनकर की नवीन रचना 'उर्वशी' की प्रशंसा तो अधिक हुई है; पर वस्तुतः वह 'कुरुक्षेत्र' की सीमा नहीं पार कर सकी है।

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है कि हिन्दी ने महाकाव्यों की एक सुदीर्घ परम्परा स्थापित की है। छोटे-बड़े अनेक महाकाव्यों की परम्परा में 'मानस' और 'कामायनी' के रूप में इसने जब-तब जातीय जीवन की भव्यता और व्यापकता को भी प्रकट किया है। फिर भी डॉ० पारसनाथ तिवारी का कथन है कि "हिन्दी में यद्यपि लम्बे आकार के अनेक सर्गबद्ध काव्यग्रन्थों की रचना हुई, किन्तु उनमें से केवल कुछ को ही महाकाव्य कहा जा सकता है और सच्चे अर्थ में तो महाकाव्य का प्रायः अभाव ही समझना चाहिए। वास्तव में हिन्दी भाषा के सम्पूर्ण विकास-काल में महाकाव्य की रचना के लिए उपयुक्त वातावरण का अभाव रहा है।" (—हिन्दी सहित्यकोश)। वस्तुतः यह कथन कतिपय अन्य धारणाओं और निराशावादी आलोचनाओं का परिणाम ही माना जायगा। क्या मानस, कामायनी और कुरुक्षेत्र की त्रिवेणी हिन्दी ने नहीं किसी और भाषा ने तैयार की है? हिन्दी आलोचना में जो आज निराशावादी दृष्टिकोण इतना बढ़ चला है, उसका एकमात्र कारण है प्रत्येक रचना को त्रुटियों के रंगीन चश्मे से देखना।

आधुनिक भारतीय समाज पश्चिमी देशों की तरह ही वैज्ञानिक आविष्कार और नवीन भौतिकतावादी भावनाओं से अधिक प्रभावित हो रहा है। इसी से ऐसी शंका की जा रही है कि अद्यतन समाज महाकाव्य को छोड़कर उपन्यास के लिए क्षेत्र प्रस्तुत कर रहा है। औरों की बात तो छोड़िए, तीन-तीन महाकाव्य के कर्ता की भी शिकायत है कि "जिन देशों अथवा दिशाओं से आज हिन्दी काव्य की प्रेरणा पार्सल से मोल या उधार मँगाई जा रही है, वहाँ कथाकाव्य की परम्परा निःशेष हो चुकी है और जो काम पहले प्रबन्धकाव्य करते थे वही काम अब बड़े मजे में उपन्यास कर रहे हैं।" वस्तुतः यह शंका निर्मूल नहीं है। यह तो सच है ही कि आज का युग राजतंत्र में नहीं, प्रजातंत्र में विश्वास करता है। अस्तु, आज धीरोदात्त नायकों की कल्पना नहीं की जा सकती। आज का सचेत कलाकार भी जब 'उर्वशी' के रक्तिम कपोलों की चिक्कणता के स्पर्शसुख की प्राप्ति के

हेतु धक्कम-धुक्की कर रहा है, तो उसे समाज का प्रहरी कैसे माना जाय, जब कि दूसरी ओर होरी और गोबर की परम्परा में जित्तिन और ताजमनी, बलचनमा और वरुण के बेटे का निर्माण भी चल रहा है। आज का युग 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' का है, रामायण और महाभारत का नहीं। हाँ, यदि महाकाव्य अपने को आगे भी जीवित रखना चाहता है तो उसे अपनी परिभाषा परिवर्तित करनी होगी—उसे प्रजातांत्रिक रूप ग्रहण करना होगा अथवा वैसे महाकवियों की ही नहीं, अपितु प्रतिनिधि महाकवियों की प्रतीक्षा करनी होगी जो भविष्यद्रष्टा और भविष्यस्रष्टा बनकर नवीन रचना में प्रवृत्त हों। कम-से-कम अभी हमारे बीच न तो कोई तुलसी है और न प्रसाद।

४१

हिन्दी गीतिकाव्य : स्वरूप और विकास

[गीति का सम्बन्ध—हिन्दी में प्रारम्भ—गीति : लिरिक—पाश्चात्य परिभाषाएँ—भारतीय मत—सामान्य विशेषताएँ—गीति और प्रगीत—आंगिक रूपरचना : भावविकास की दृष्टि—वर्गीकरण : मार्ग और देशी, वैयक्तिक और सामूहिक—लोकगीति और साहित्यिक गीति—पाश्चात्य भेद—विषय के आधार पर भेद—आकार के आधार पर भेद—विकासयात्रा : संस्कृत प्रारम्भ, बौद्ध, जैन-सिद्ध-परिष्कार—भागवतकार, क्षेमेन्द्र, गीतगोविन्द—हिन्दी प्रारम्भ : विद्यापति—विद्यापति की पृष्ठिभूमि—प्रेरणा : लोक और शास्त्र—लोक और शास्त्र के कवि—लोक और शास्त्र : स्वकीया और परकीया—विद्यापति की विशेषता—वीरगीत : दरबारी स्थिति, लोकगाथा—वैष्णव गीति—सूर, मीरा, तुलसी—संत कवि : कबीर आदि—खड़ीबोली का उत्थान—भारतेन्दु : आत्मनिवेदन और राष्ट्रीय धारा—द्विवेदी-युग—छायावाद : रवीन्द्र, भातखण्डे, पाश्चात्य प्रभाव—छाया और रहस्य—विधा-प्रकार—प्रसाद : निराला प्रगतिवाद तक—प्रयोगवाद : सम्बोधिगीति।]

कविता जीवन की व्याख्या और आलोचना भले ही न हो, पर भावात्मक दृष्टिकोण की रागात्मक और आवेशपूर्ण अभिव्यक्ति अवश्य है। गीत अथवा गीति भी कविता ही है, पर आवेशपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं, अपितु भावात्मक दृष्टिकोण का रागात्मक गुंजन है। व्यक्ति की अन्तर्व्यथा अथवा आह्लादकता ही गीतों में मुखरित हो उठती है। व्यक्तिपरकता ही इसका शाश्वत तत्त्व अथवा उपादान है। संस्कृत के साहित्यशास्त्री कविता के दो विभाग करते रहे हैं— प्रबन्ध और मुक्तक। मुक्तकों में पूर्वापर का सम्बन्ध नहीं होता है। इसमें प्रबन्धों की तरह रसात्मकता भी नहीं होती। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार— "पूर्वापरनिरपेक्षात् येन रसचर्वणा क्रियते तन्मुक्तकम्"। अग्निपुराण में भी मुक्तक की व्याख्या लगभग इसी प्रकार की है— "मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्"। गीतों का सम्बन्ध मुक्तकों से ही रहा है, प्रबन्धों से नहीं। डॉ० त्रिगुणायत भी ऐसा ही स्वीकारते हैं। गीतकाव्य को उन्होंने मुक्तक का एक रूप भर माना है। यद्यपि आज के कतिपय विचारक गीतों का सम्बन्ध मुक्तकों से जोड़ना भूल मानते हैं, पर वस्तुतः वैसी बात है नहीं।

गीत अथवा गीति को अँगरेजी में लिरिक (Lyric) और गीतिकाव्य को 'लिरिक पोएट्री' कहा जाता है। कतिपय विचारक अज्ञानवश अथवा भ्रमवश ऐसा भी कहते-सुनते देखे जाते हैं कि हिन्दी में गीति शब्द 'लिरिक' के वजन पर चल

पड़ा है। वस्तुतः इसे उलटी गंगा बहाना ही कहेंगे। सच बात तो यह है कि अपने यहाँ गीति शब्द प्राचीनतम है। इसका प्रयोग नाट्यशास्त्र में भी मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र ने 'गीतं शब्दितगानयोः' और अमरकोशकार ने 'गीतं गानमिमे समे' कहकर गीति की व्याख्या की है। हाँ, गीतिकाव्य शब्द 'लिरिक पोयट्री' के अर्थ में आज रूढ़ अवश्य होता दीखता है। हिन्दी में गीतिकाव्य शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सन् १६०६ ई० में श्री लोचनप्रसाद पाण्डेय ने किया था। लिरिक का सम्बन्ध 'लायर' (Lyre) नामक वाद्ययंत्र से है, जिसके सहारे गीतों का गायन होता है। गीति शब्द से भी गाने का बोध तो होता ही है, पर किसी वाद्यविशेष के आश्रय का बोध नहीं होता है। हो सकता है, भारत में भी वाद्ययंत्रों का आश्रय लिया जाता रहा हो; पर यह आवश्यक विधान था नहीं। गीति और लिरिक—दोनों शब्दों पर विचारने से स्पष्ट है कि इन दोनों में समता की अपेक्षा भिन्नता ही अधिक है। वस्तुतः लिरिक के लिए हिन्दी में समानान्तर शब्द मुक्तक ही है, गीति अथवा प्रगीति मुक्तक आदि नहीं। मुक्तक भी वस्तुतः लिरिक के लिए पूर्णतः समानार्थी नहीं माना जा सकता। आज गीत अथवा गीति लिरिक के एक रूप-विशेष का ही समानार्थी माना जा सकता है। यों, बात है चल पड़ने की। आज लिरिक के लिए गीति ही प्रचलित है। आज लिरिक अथवा गीति लायर अथवा दूसरे वाद्ययंत्रों को भले ही छोड़ चुके हों; पर संगीतात्मकता किसी-न-किसी रूप में है ही।

ऐतिहासिक सर्वेक्षण से यह बात स्पष्ट है कि गीतों का सम्बन्ध संगीत से अधिक रहा है। दोनों एक-दूसरे से सम्बद्ध होकर भी पूर्णतः भिन्न रहे हैं। प्रथम में गीतभावना की प्रधानता रही है तो दूसरे में स्वरों के आरोह-अवरोह की। एक पिंगलशास्त्र के नियमों में आवद्ध होकर भी संगीत को साथ लिये चलता है तो दूसरा भी स्वरों की साधना के साथ गीतात्मकता पर बल देता रहा है। इतना होने पर भी गीतिकाव्य मात्र संगीतात्मक ही नहीं है।

पश्चिम और पूर्व के अनेक विद्वानों ने गीतिकाव्य के लक्षण निरूपित किये हैं। पश्चिमी विद्वानों में जाफ्राय, हीगेल, अर्नेस्ट राईस, जॉन ड्रिंक वाटर, गमर, हडसन, रस्किन, ब्रूनेतियर इत्यादि की परिभाषाओं का अधिक महत्त्व है। कुछ विद्वानों द्वारा गीतिकाव्य की दी गयी परिभाषाएँ देखी जा सकती हैं—

१. "गीतिकाव्य में किसी ऐसे व्यापक कार्य का चित्रण नहीं होता जिससे बाह्य संसार के विभिन्न रूपों एवं ऐश्वर्य का उद्‌घाटन हो। उसमें तो कवि की निजी आत्मा के ही किसी रूपविशेष के प्रतिबिम्ब का निदर्शन होता है। उसका एकमात्र उद्देश्य शुद्ध कलात्मक शैली में आन्तरिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं, उसकी आशाओं, उसके आह्लाद की तरंगों और उसकी वेदना के चीत्कारों का

उद्घाटन करना ही है।"—हीगेल।

२. "गीतिकाव्य कवि की निजी भावनाओं का प्रकाश होता है। सहज शुद्ध भाव, स्वच्छन्द कल्पना, तर्कवाद और न्यायमूलकता से मुक्त विचार— ये ही गीतिकाव्य की वास्तविक विशेषताएँ हैं।"—रस्किन।

३. "गीतिकाव्य संगीतात्मक अभिव्यक्ति है जिसमें शब्दों पर भावों का पूर्ण आधिपत्य होता है; पर उसकी प्रभावशालिनी लयात्मकता में सर्वत्र उन्मुक्तता ही होती है।"—अर्नेस्ट राईस।

४. "गीतिकाव्य काव्यात्मक (भावात्मक) प्रेरणा की अभिव्यंजना है। इसमें किसी अन्य प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती है।"—जॉन ड्रिंक वाटर।

५. "गीतिकाव्य वैयक्तिक अनुभूतियों से पोषित अन्तवृत्तिनिरूपक कविता है। इसका सम्बन्ध घटनाओं से नहीं, भावनाओं से होता है। यह समाज की परिष्कृत अवस्था में ही निर्मित होती है।"—प्रो० गमर।

६. "गीतिकाव्य की सर्वोच्च कसौटी है वैयक्तिकता की छाप; पर वह व्यक्तिवैचित्र्य में सीमित न रहकर व्यापक मानवीय भावनाओं पर आधृत होता है, जिससे प्रत्येक पाठक उसमें अभिव्यक्त भावनाओं एवं अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर सके।"—हडसन।

७. "गीतिकाव्य में कवि भावानुकूल लयों में अपनी आत्मनिष्ठ वैयक्तिक भावना व्यक्त करता है।"—ब्रूनेतियर।

कतिपय पाश्चात्य विद्वानों के मतों को जानने के पश्चात् भारतीय विद्वानों के मतों को देख लेना भी आवश्यक है। डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार— "गीतिकाव्य की रचना आत्माभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से ही होती है। उसमें विचारों की एकरूपता रहती है।" डॉ० त्रिगुणायत के अनुसार— "गीतिकाव्य अन्तवृत्तिनिरूपक वह निरपेक्ष रचना है जिसमें शब्द और लय का सामंजस्य, माधुर्य, प्रवाहात्मकता, कोमल भावनाओं का उद्रेक तथा प्रभाव-ऐक्य के साथ-साथ कवि का अन्तर्दर्शन भी शब्दचित्रों में सँजोया रहता है।" महादेवी वर्मा का कथन है कि—"सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्थाविशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वरसाधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।" डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने गीतिकाव्य की परिभाषा देते हुए कहा है कि— "गीतिकाव्य एक ऐसी लघु आकार एवं मुक्तक-शैली में रचित रचना होती है जिसमें कवि निजी अनुभूतियों या किसी एक भावदशा का प्रकाशन संगीत या लयपूर्ण कोमल शब्दावली में करता है।" उपर्युक्त परिभाषाओं पर विचार करने से स्पष्ट है कि प्रायः सभी विचारकों ने थोड़े अन्तर के साथ लगभग एक ही बात कही है। सभी परिभाषाओं को ध्यान में रखकर यदि गीतिकाव्य की सामान्य विशेषताओं को एकत्र करना चाहें तो उन्हें इस प्रकार रखा जायगा—

(१) संगीतात्मकता अथवा लयात्मकता, (२) वैयक्तिकता, (३) भावात्मकता अथवा अन्तवृत्तिनिरूपण, (४) संक्षिप्तता के साथ भावों की पूर्णता, (५) रसात्मकता के साथ रंजकता, (६) शैली की कोमलता और सौकर्य, (७) संवेदना की एकान्तता और (८) समाहित प्रभाव। वस्तुतः लोग कभी-कभी गीतिकाव्य और प्रगीत को एक ही मान लेते हैं और उनके सूक्ष्म भेद को ध्यान से उतार देते हैं। इसी से लक्षण-निर्धारण में घोल-मोल हो जाया करता है। दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। प्रगीत का सम्बन्ध मूलतः स्वरूपविधान से है और गीतिकाव्य का आत्मा से। गीतिकाव्य की प्रत्येक रचना के लिए प्रगीतात्मक होना अनिवार्य है, किन्तु प्रत्येक प्रगीतात्मक रचना अनिवार्यतः गीतिकाव्य नहीं कही जा सकती। उदाहरणस्वरूप 'यशोधरा' और 'कामायनी' दोनों प्रगीतात्मक रचनाएँ हैं, पर इनमें से किसी को भी गीतिकाव्य नहीं कहा जायगा। अस्तु, सारी बातों को ध्यान में रखते हुए गीतिकाव्य की निम्नांकित परिभाषा दी जा सकती है—संवेदनात्मक एकान्तता का समाहित रूप में मार्मिक प्रभाव डालनेवाला, परिस्थितिविशेष में वैयक्तिक अनुभूतियों का पूर्ण किन्तु संक्षिप्त, भावावेशमय, सुकर और लयात्मक चित्रण ही गीतिकाव्य है।

आंगिक रूपरचना की दृष्टि से गीतिकाव्य के लिए किसी प्रकार के कठोर नियम का निर्धारण असम्भव तो नहीं, पर दुष्कर अवश्य है। हाँ, स्वतःपूर्णता, स्वच्छन्दता और भावसंकलन आवश्यक लक्षण भर माने जा सकते हैं। भाव-विकास के विचार से आधुनिक गीतों में तीन अंश देखे जाते हैं—आदि, मध्य और अन्त। भावमूलक इकाई होने के कारण गीतों में भूमिका के लिए स्थान नहीं होता। प्रारम्भिक अंश में भावों का सहजोद्रेक आवश्यक है। आदि अंश की स्थिति संक्षिप्त होने के कारण भावप्रेरक स्थिति की संकेतात्मक अभिव्यक्ति ही प्रायः सम्भव है। बौद्धिकता के लिए तो स्थान बिल्कुल ही नहीं होता है। मध्य में भावविकास की जगह होती है। यहाँ बाधक भावों के लिए स्थान नहीं होता। अन्य भाव संचारी रूप में आकर मूल भाव के विकास में सहायक ही होते हैं। गीतों का अन्तिम अंश ही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। भावों अथवा विचारों की चरम सीमा यहीं होती है। यहाँ आकर भाव अथवा विचार संकल्प में बदल जाते हैं। पुनरुक्ति, वर्णनात्मकता, उपदेशात्मकता इत्यादि के लिए गीतों में स्थान नहीं होता है। इसके एकमात्र कारण हैं—आकार की लघुता और भावों की एकता।

विचारकों ने गीतिकाव्य का अनेक रूपों में वर्गीकरण भी किया है। अपने यहाँ गीतों के दो प्राचीन भेद मिलते हैं—**वैदिक** और **लौकिक**। शास्त्रीयता के आग्रह पर **लौकिक** गीतों के भी दो वर्ण मिलते हैं—**मार्ग** और **देशी**। **मार्ग** में शास्त्रीयता का आग्रह अधिक है और **देशी** में कम। आधुनिक गीतिकाव्य का सम्बन्ध देशी से ही है। साहित्य के गीत लोकगीतों (देशी) के ही विकसित और

व्यवस्थित रूप हैं जिनका प्रचार आज गीतिकाव्य के रूप में है। गीतिकाव्य के दो रूप—वैयक्तिक और सामूहिक—प्राचीन काल से ही प्रचलित रहे हैं। सामूहिक गीतों के रूप नाट्यरासकों, हल्लीस, चर्चरी, बेलि इत्यादि प्राचीन रूपों में देखे जा सकते हैं। गीतों को प्रारम्भिक स्थिति में सामूहिक (कोरिक) रूप ही अधिक प्राप्त था। उनमें समूहगत वैयक्तिकता ही होती थी। सामूहिक रूप से अनुरंजन ही उनका उद्देश्य था। आधुनिक युग में गीत सामूहिकता का घेरा तोड़कर व्यक्ति-परक बन गया है। इसी से आधुनिक गीतों में व्यक्तिवैचित्र्य के साथ-साथ अभि-व्यक्ति-वैलक्षण्य भी मिलता है। सम्प्रति हमें गीतिकाव्य के दो भेद स्पष्ट दीखते हैं—लोकगीति और साहित्यिक गीति। पाश्चात्य साहित्य में सोनेट (Sonnet), ओड (Ode), एलिजी (Elegy), साँग (Song), इपिसिल (Epistle), ईडिल (Idyll) इत्यादि गीतिकाव्य के अनेक भेद किये गये हैं। कतिपय भारतीय विचारकों ने भी इस वर्गीकरण का हिन्दी में अन्धानुकरण कर लिया है; यद्यपि सच बात तो यह है कि हिन्दी में पश्चिमी गीतों के सभी प्रकार उपलब्ध भी नहीं हैं। गीति-काव्य के वर्गीकरण के पूर्व यहाँ एक बात मैं कह देना चाहता हूँ कि मानव-अनु-भूतियों के विस्तार की कोई सीमा नहीं बनायी जा सकती है। गीतों का सम्बन्ध मानवीय अनुभूतियों से ही है। अस्तु, सच पूछा जाय तो यही कहना चाहिए कि गीतों का विषयगत अथवा आकारगत कोई तात्त्विक वर्गीकरण नहीं किया जा सकता है। हाँ, जहाँ तक काम चलाने की बात है, अध्ययन-अध्यापन की सुविधा के हेतु गीतों को भले ही कुछ घेरों में रख लें, पर इससे गीतों के अनेक वर्ग नहीं माने जा सकते। अस्तु, विषय के आधार पर मूलतः (१) भावगीति, (२) विचारगीति, (३) प्रकृति के गीति, (४) समाज के गीति, (५) व्यंग्यगीति और (६) उपालम्भ-गीति जैसे वर्ग बनाये जा सकते हैं। पुनः भावप्रधानगीति को वीरगीति, करुण-गीति, प्रेमगीति, देशप्रेम के गीति, शोकगीति, वात्सल्यगीति, भक्तिप्रधानगीति इत्यादि विभागों में बाँटा जा सकता है। आकारगत वर्गीकरण के अनुसार गीतिनाट्य, रूपक गीति, पत्रगीति, सम्बोधिगीति, चतुर्दशपदी गीति इत्यादि अनेक वर्ग बनाये जा सकते हैं। आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य में प्रायः सभी प्रकार के गीति मिल जाते हैं। उपर्युक्त वर्गीकरण में पाश्चात्य गीतिकाव्य के अनेक रूप स्वीकृत कर लिये गये हैं। इसका कारण स्पष्ट रूप से यही है कि हिन्दी के आधुनिक गीतिकाव्य पर पाश्चात्य गीतिकाव्य का प्रभाव होने के कारण प्रायः पाश्चात्य गीतों की सभी प्रणालियों का अनुकरण हुआ ही है।

सैद्धान्तिक चर्चा के पश्चात् गीतिकाव्य की विकासयात्रा का निरूपण आवश्यक है। इतना तो निर्विवाद सत्य है कि साहित्यिक गीतों का विकास लोक-गीतों से ही हुआ है। लोकगीतों के विभिन्न रूप जनता में सनातन काल से ही रहे

हैं। यहाँ लोकगीत का तात्पर्य लोकविषयक गीत नहीं, अपितु लोक में प्रचलित गीत ही है। ये अस्थायी और स्थायी दोनों प्रकार के हो सकते हैं। लोक में प्रचलित गीत लोकनिर्मित ही होते हैं। यहाँ अभाववादियों के लिए शंका की जगह रह जाती है कि गीत तो मात्र व्यक्ति ही बना सकते हैं, लोक तो कोई ऐसी सत्ता हो ही नहीं सकती जो गीतों का निर्माण कर सके। इस कथन की सत्यता का विरोध तो नहीं किया जा सकता, फिर भी यह सत्य ही है कि लोकगीतों में व्यक्ति-विशेष की नहीं, लोकमानस की अभिव्यक्ति होती है। बदलते मानदण्डों में यह अपना स्वरूप भी परिवर्त्तित कर लेती है। यहाँ लोकगीतों की अधिक चर्चा न करते हुए हमें मात्र इतना ही कहना है कि लोकगीतों का परिष्कृत और व्यवस्थित रूप ही साहित्यिक गीत है। गीतिकाव्य का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना मानव का इतिहास।

प्रारम्भिक अवस्था में गीतों का प्रचलन सामान्य जन में ही अधिक था, इसी से साहित्य में इसकी प्रायः उपेक्षा-सी ही रहती है। भारतीय साहित्य में गीतों का प्रारम्भिक रूप हमें वेदों में ही मिल जाता है? वेदकालीन आर्य प्रकृति के अधिक निकट थे। अस्तु, वेदों में मुक्त प्रकृतिप्रेम की अभिव्यक्ति गीतात्मक ही है। संहिताओं में प्राप्त होने वाले गीतों में हर्ष, उल्लास, विषाद इत्यादि भावों की सामूहिक अभिव्यक्ति मिलती है। वैदिक ऋषियों की भावुकता का पता देने में ऋचाएँ पूर्णतः समर्थ हैं। ऋचाओं का गायन अधानि, तुनव, कन्धवीणा इत्यादि वाद्ययंत्रों के सहारे होता था। वैदिक गीतों के सम्बन्ध में मैक्समूलर की पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—"यदि साहित्य मानव-हृदय की व्यापक अनुभूतियों की मार्मिक व्यंजना का ही नाम है तो उसका इतना शुद्ध स्वरूप प्रकृति के स्वभावानुसार भी इतने व्यक्त रूप में फिर कभी दृष्टिगोचर नहीं हुआ। आर्यों का प्रारम्भिक जीवन इतना स्वस्थ और माधुर्यपूर्ण मालूम पड़ता है कि उन्होंने जीवन के प्रत्येक कार्य-व्यापार को गान का रूप दे डाला है।" सामवेद तो गीतों का संग्रह ही है। वैदिक गीतों को आधुनिक गीतों के समानान्तर रखकर विचार करने पर इतना निष्पक्ष रूप में कहा जायगा कि वेदों में गीतों के सभी तत्त्व नहीं मिलते हैं। वहाँ प्राकृतिक दृश्यों, रूपककथाओं की भावाभिव्यंजना तो है, पर वैयक्तिकता बिल्कुल नहीं। अस्तु, उन्हें रीतिकाव्य का प्राथमिक रूप ही माना जायगा। हाँ, शृंगारकालीन कवित्त-सवैयों को ही आदि गीतिकाव्य मान लिया जाय तो उस रूप में वेदों की संगीतात्मक पंक्तियों को भी गीतिकाव्य कहना ही चाहिए।

वाल्मीकीय रामायण पाठ्य के साथ-साथ गेय भी कही गयी है। भले ही किसी युग में लव-कुश ने उसका गान किया हो और वह रचना गेय रही हो, पर आज उसे गीतिकाव्य नहीं माना जा सकता। शास्त्रीय दृष्टि से संस्कृत साहित्य में

गीतिकाव्य का सफल उदाहरण सर्वप्रथम कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' के द्वितीय अंक में मिलता है जहाँ उसकी नायिका नृत्य-गान-प्रतियोगिता में एक 'चतुष्पदिका' गाती है। यहाँ गीतिकाव्य की प्रायः सभी विशेषताएँ मिल जाती हैं।

निश्चय ही वेदों में उषा के एक-से-एक अनुपम चित्र अंकित किये गये हैं, जिनकी प्रशंसा में मैक्डोनाल्डजी को कहना पड़ा कि— "Usas is the most graceful creation of Vedic poetry and there is no more charming figure in the descriptive religious lyrics of any literature." यहाँ उषा का यह चित्र देखा जा सकता है—

कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती॥

—ऋक्० १।११३।१०

(हे प्रकाशवती उषा, तुम कमनीय कन्या की भाँति अत्यन्त आकर्षणमयी बनकर अभिमत फलदाता सूर्य के निकट जाती हो तथा उसके सम्मुख स्मितवदना युवती की भाँति अपने वक्ष को आवरणरहित करती हो।)

बौद्ध साहित्य में वैयक्तिकता और आत्मनिष्ठता अवश्य अधिक मिलती है; किन्तु धार्मिकता और कटी-कटायी रूढ़ नैतिकता के कारण गीतों को वह रूप न मिल सका जो मिलना चाहिए था। हाँ, थेर या थेरी गाथाओं में वैयक्तिक अभिव्यक्ति और गीतात्मकता अपेक्षाकृत अधिक है। आगे जैन और सिद्ध कवि गीतों का परिष्कार कर चलते हैं। सिद्धों के गीत 'चर्यापद' के नाम से विख्यात हैं। इन चर्यापदों में वैदिक और बौद्ध साहित्य की अपेक्षा गीतितत्त्व अधिक है। सिद्ध कवियों की गीतिशैली ही संस्कृत और अपभ्रंश की दो धाराओं से आम हिन्दी में गीतिकाव्य के रूप में पनप उठती है। प्रथम शैली भागवतकार, क्षेमेन्द्र, जयदेव इत्यादि से होकर हिन्दी को प्रभावित करती है और दूसरी शैली सिद्धों, नाथों से होकर संत कवियों में प्रस्फुटित होती है।

गोपियों के विरह में भागवतकार ने गीतों का उपयोग सफल रूप में किया है। यही परम्परा क्षेमेन्द्र में पनपती है। क्षेमेन्द्र का यह उदाहरण कितना सुन्दर बन पड़ा है—

ललित विलास कला सुख खेलन, ललना-लोभन-शोभन-यौवन, मानित तव बदने।
केशि-किशोर-महासुर-मारण, दारुण-गोकुल-दुरित-विदारण, गोवर्द्धन - धरणे॥

क्षेमेन्द्र की परम्परा ही 'गीतगोविन्द' में चरमोत्कर्ष प्राप्त करती है। जयदेव का 'गीतगोविन्द' संस्कृत गीतिकाव्य का सुमेरु है। वर्णनात्मक आग्रह होने पर भी जयदेव के गीत कितने सुन्दर बन पड़े हैं—

ललित-लवंग-लता-परिशीलन-कोमल-मलय - समीरे।
मधुकर-निकर-करम्बित-कोकिल-कूजित-कुंज-कुटीरे ।।

इतना सब होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि समस्त संस्कृत साहित्य में सफल गीतिकाव्य कम ही हैं। साथ ही, इन पर लोकगीतों का प्रभाव ही अधिक है, शास्त्रीयता का आग्रह कम। इसी से ये हृदय की गहरी अनुभूतियों से अधिक ओत-प्रोत हैं। यहाँ बनावटी बातें नहीं के बराबर हैं। हाँ, 'हरिस्मरण' के साथ 'विलासकला' का सामंजस्य हो जाने से 'गीतगोविन्द' में स्वाभाविकता की अपेक्षा कृत्रिमता अधिक आ गयी है। 'रोदति विलपति वासकसज्जा' के साथ इसमें संगीतात्मकता का सफल योग होने के कारण ही यह अधिक लोकप्रिय और परवर्त्ती गीतों पर प्रभाव डालने वाला बन सका है।

हिन्दी काव्य में गीतात्मक व्यक्तित्व लेकर उपस्थित होते हैं मैथिलकोकिल विद्यापति। ऐसा कहा जाता है कि विद्यापति ने हिन्दी में गीतिकाव्य की जो परम्परा स्थापित की वह जयदेव के 'गीतगोविन्द' की परम्परा थी। वस्तुतः यहाँ नवीन ढंग से विचार करने की आवश्यकता है। चूँकि जयदेव का आविर्भाव विद्यापति से पूर्व ही हुआ था, अतः जयदेव के गीतों का प्रभाव विद्यापति पर पड़ना आवश्यक ही था; किन्तु यह भी सोलहो आने सच नहीं है कि विद्यापति ने मात्र 'गीतगोविन्द' के अनुकरण पर ही गीत लिखे। ऐसा सोचना तो मात्र उलटी चाल चलना है। सच बात तो यह है कि जयदेव ने लोकप्रचलित गीतों को संस्कृत में ढालने का प्रयास किया था और विद्यापति ने लोकप्रचलित गीतों को जनभाषा में उतारा। दोनों की प्रेरणाभूमि एक थी, इसी से दोनों के गीतों में साम्य होना आश्चर्य की बात नहीं है। तात्पर्य यह कि विद्यापति में गीतों की प्रवृत्ति प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक है, किन्तु जयदेव में यह प्रवृत्ति थी कृत्रिम अथवा आरोपित। इस बात की पुष्टि के लिए दोनों के गीतों में अनेक प्रकार के प्रमाण मिलते हैं।

हिन्दी गीतिकाव्य के सर्वेक्षण और विश्लेषण से एक और बात जो सामने आती है, वह यह है कि हिन्दी में मूलतः दो प्रकार के गीति मिलते हैं— लोकगीतों की प्रेरणा से उद्भूत गीति और शास्त्रीय प्रेरणा से उद्भूत गीति। विद्यापति के गीत लोकमानस से प्रेरित हैं। लोकगीतों में स्वकीया के ही वर्णन पाये जाते हैं, परकीया अथवा सामान्या के नहीं। लौकिक गीतों की अधिकांश विरहिणी गृहिणी ही होती है, प्रेयसी नहीं। इसी से उनका विरह प्रिय-अभावजन्य विरह होता है, प्रेमी-अभावजन्य नहीं। साथ ही लौकिक गीतों में सखी का विधान आवश्यक रूप से मिलता है। सखियाँ ही विरह निवेदन के समय श्रोता होती हैं। शास्त्रीय गीतों में विरहिणी के विरह का निवेदन सखियाँ ही करती हैं, स्वयं विरहिणी नहीं। आशावादिता, काक-शकुन-सम्भाषण, बारहमासे इत्यादि का वहाँ विधान तो होता

है, पर षड्ऋतुवर्णन का नहीं। ऋतुवर्णन तो शास्त्रीय व्यवस्था है। उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर विद्यापति के गीतों पर विचारने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये गीत लौकिक प्रवाह से आये हैं, शस्त्रीय व्यवस्था से नहीं। इसी से इनकी विरहिणी विरह-वेदना से इस प्रकार पीड़ित है कि उसे अन्य बातों के लिए तनिक भी अवकाश नहीं है। स्वकीया होने के कारण प्रिय को अधिक उलाहना भी नहीं दे सकती; हाँ, बहुत होता है तो वह 'निर्दय' और 'बोलछड़' आदि कह लेती है; पर सूर, नंद आदि की एवं अन्य शृंगारपरक कवियों की नायिकाएँ विरहावस्था में उपालम्भ देती हैं, हँसती हैं, मजाक करती हैं और कभी-कभी तो गालियाँ तक बकती हैं। छायावादी कवियों की विरहिणियों में कभी-कभी अजीब बेतुकी बातें भी देखने को मिल जाती हैं। विद्यापति की विरहिणी गृहिणी ही है, प्रेयसी नहीं। इसी से यह वाचाल तो है; पर वाचाट नहीं।

विद्यापति के विरहगीतों में छटपटाहट और कचोट का वर्णन तो है, पर ऊहा का नहीं। वस्तुतः उस समय तक ऊहा का बाहुल्य हो ही नहीं सका था। साथ ही, लौकिक गीतों में ऊहा का विधान नहीं के बराबर ही पाया जाता है। यहाँ मनःस्थिति पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है। एक तो स्वकीया, दूसरे यौवन की विरहिणी, आंगिक सुख तो चाहेगी ही। पुनः यदि यौवन बीतने पर ही प्रिय आयगा तो यौवन किसी के काम न आयगा—न प्रिय के और न प्रियतमा के। इसी से उसकी टेक है—"की यौवन पिय दूरे"। काक-शकुन-सम्भाषण के साथ-साथ विद्यापति के गीतों में संगीतात्मकता अनुपमेय है—

सोने चोंच बाँधि देव वायस, जो पिय आउत आज रे।

ऐसा भी आरोप किया जाता है कि इन्होंने बहिरंग-शृंगार पर अधिक ध्यान दिया है; पर लोग अपनी बुद्धि क्यों खो देते हैं कि शृंगार में अवयवों का निरूपण आलम्बन के रूप में भारतीय साहित्य में प्रारम्भ से ही होता आया है। यदि विरह के प्रसंगों में कालिदास ने—'प्रस्थानंते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि, ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः'—कहकर खुली जाँघ की नारियों का उल्लेख किया तो उन्हें किसी ने कुछ न कहा; पर जब विद्यापति ने स्मरणरूप में 'कुच जुग संभु परसि कर बोललन्हि तें परतिति मोंहि भेला' कहा तो लोग 'कुच कवि' उन्हें कहने लगे। यहाँ तो ऐसी छूट ही है कि—'शृंगारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्'। वस्तुतः विद्यापति के गीतों में वर्णन रसात्मक ही हैं, वासनात्मक नहीं। हाँ, दरबारी प्रभाव इसे भले ही कह लें; पर है यह लोकप्रवाहप्रसूत। सामान्य रूप से कहा जायगा कि विद्यापति ने गीतों में सौन्दर्य, कल्पना, शृंगार, संवेदना, भावुकता, संगीतमयता और वैयक्तिकता इत्यादि सभी गुणों का समावेश कर दिया है। वैयक्तिकता और आत्मानुभूतियों की व्यंजना के लिए इन्होंने गीतों में

उत्तमपुरुषवाची सर्वनामों और 'रे' की आवृत्ति से काम लिया है। नादतत्त्व और चित्रतत्त्व की योजना में जितनी सफलता इन्हें मिली है, शायद इतने सफल कम ही कवि हुए हैं।

जिस समय पूर्वांचल में विद्यापति श्रृंगारपरक गीतों में मार्मिक अभिव्यंजना कर रहे थे, उसी समय पश्चिमी भारत में दरबारी वातावरण से प्रभावापन्न वीरगीत भी लिखे जा रहे थे। वहाँ वीरगीत लोकगाथाओं (बैलेड्स) के रूप में पनप रहे थे। रासो के 'कनवज्ज समय', 'बड़ी लड़ाई' आदि में तथा 'वीसलदेव रासो' आदि में यही प्रवृत्ति मिलती है। जगनिक के 'आल्हखंड' में लोकगाथा का रूप आज भी सुरक्षित मिलता है। साथ ही 'ढोलामारू रा दूहा', 'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री' आदि में भी गीत पनप रहे थे। मुर्दे में भी जान फूँक देने वाले वीरगीत इस समय लिखे जा रहे थे जिनके उपक्रम में था—

बरस अठारह छत्री जीवै, आगे जीवन के धिक्कार।

आगे वीरगीतों की परम्परा चलती नहीं, मर जाती है। हाँ सड़ाँध रूप में वीरगीतों की गन्ध श्रृंगारकाल में भी मिलती है; यों भूषण आदि एकाध कवि अपवाद रूप में ही मिलते हैं।

वैष्णव भक्तकवियों ने गीतकाव्य की परम्परा विद्यापति से ही पायी है। कृष्णकाव्य और रामकाव्य में गीतों का सर्वोत्कृष्ट रूप मिलता है। इस गीतिकाव्य की अट्टालिका का निर्माण विद्यापति द्वारा निर्मित नीव पर ही हुआ है। हाँ, मूल भावनाएँ थोड़ी बदल अवश्य गयी हैं। कृष्णकाव्य के कवियों में सूरदास और मीराबाई का महत्त्व ही अधिक है। शेष कवियों में पिष्टपेषण ही अधिक है। सूर के गीतों में संगीत का अद्भुत योग है। यहाँ मात्र लीलाकीर्तन ही नहीं, अपितु यशोदा की लोरी, कृष्ण की झुँझलाहट और बहानेबाजी, गोपियों का विरहनिवेदन और भक्त सूरदास की भक्तिविह्वल आत्मानुभूतियाँ भी हैं। सब-के-सब एक-से-एक हैं। दैन्य, हास्य, सख्य, वात्सल्य, मातृत्व, मैत्री इत्यादि के सहजोद्रेक के साथ संवेदनशीलता, भावुकता आदि सभी आवश्यक गीतितत्त्व यहाँ वर्त्तमान है। तन्मयता, भावशीलता, आत्मीयता और नवीनता तो है ही, गेयता की भाषा का सफल निर्वाह भी है। गोपियों की आँखों में बसनेवाला बरसात ज्ञान के हिमालय को डुबानेवाला ही नहीं, गला देनेवाला भी है—

निसिदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हमपै जब ते स्याम सिधारे।
दृग अंजन लागत नहिं कबहूँ उर कपोल भए कारे।
कंचुकि नहिं सूखत सुनु सजनी उर बिच बहत पनारे।

उपालम्भगीत का जितना सुन्दर नमूना भ्रमरगीतप्रसंग के माध्यम से कृष्णभक्तों ने दिया, अन्यत्र कहीं भी संभव न हो सका है।

कवयित्री मीरा 'विरह की मारी' ही नहीं 'दरद की दिवाणी' भी बनी; मानो वह चिरविरहिणी राधा का ही स्वरूप धारण कर राजस्थान में प्रकट हुई थी। वह अपनी असाधारण अनुभूतियों को सरल और स्वाभाविक ढंग पर गीतों के माध्यम से अभिव्यक्त कर रही थी। उसके गीतों में गजब की व्यंजना मिलती है—

एरी मैं तो दरद दिवाणी, मेरो दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज पिया की, केहि विधि मिलना होय।

उसकी सबसे बड़ी वेदना यही है कि आज तक कोई 'बैद' नहीं मिल सका है—

दरद की मारी बन-बन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोय।
मीरा की प्रभु पीर मिटेगी, जब बैद साँवलिया होय।

रामकाव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसी की प्रतिभा महाकाव्यात्मक थी। इनकी महाकाव्यात्मक प्रतिभा जब गीतात्मक बनती है तो वहाँ भी चार चाँद लग जाता है। 'विनयपत्रिका' के गीतों में दास्य भावना और विनय की पराकाष्ठा ही है। यदि शृंगारपरक गीतों में विद्यापति ने कमाल हासिल किया तो भक्तिविह्वल गीतों की रचना में तुलसी ने अपनी समस्त आत्मानुभूतियाँ उँड़ेल दी हैं। 'गीतावली' पर सूरदास का प्रभाव भी दीखता है। लोकमर्यादा और नैतिकता की तीव्र भावना के कारण तुलसी के गीत शास्त्रीय ही अधिक हुए हैं, उनमें लोकप्रवाह मिट-सा गया है।

हिन्दी गीतिकाव्य का दूसरा रूप संत कवियों में मिलता है। इनके गीतों पर सिद्धों और नाथों का पूर्ण प्रभाव दीखता है। इसके अतिरिक्त इनके रहस्यवादी गीतों में भावना का पूरा-पूरा प्रकाश है। जहाँ इन्होंने अपनी खण्डनात्मक प्रवृत्ति को किनारे कर दिया है, वहाँ इनकी अनुभूतियाँ बड़ी ही सरस हो उठी हैं। इनकी भावुकता, सरसता, वैयक्तिकता इत्यादि पर थेरीगाथा के दुखवादी रूप का प्रभाव भी मिलता है। जहाँ कबीर अपने को राम की बहुरिया मानकर विरहोक्तियों का कथन करते हैं, इनके हृदय की तड़प पाठकों को प्रभावित किये बिना नहीं रहती—

बालम आओ हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे॥

इनके गीतों में काल्पनिक भावुकता और प्रकृति के सस्ते चित्रों का अभाव है। ये अलौकिक प्रिय की विरहवेदना से आहत तो होते हैं, पर उसे अन्तर में पाकर अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त करके मस्त हो जाते हैं और कह उठते हैं—

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।
हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार-बार वाको क्यों खोले॥

कबीर, दादू, सुन्दरदास इत्यादि अनेक संत महत् व्यक्तित्व लेकर उपस्थित हुए थे। वैयक्तिकता और भावों की गहराई इनकी अपनी है। यत्र-तत्र राग-

रागिनियाँ भी मिलती हैं। हाँ, भाषा-सम्बन्धी दोष अवश्य ही खटकनेवाले हैं, पर सब कुछ होते हुए भी इनके गीतों का अपना महत्त्व है।

इस प्रकार समग्र रूप से कहा जायगा कि भक्तिकाल तक आते-आते गीतों ने उच्चतम उन्नति कर ली थी। गीतों में सभी तत्त्व पूर्ण रूप से इस समय मिल रहे थे। वस्तुतः समस्त लोकचेतना की अभिव्यक्ति गीतों में हो उठी थी। दो-चार महाकाव्य तो मानो सुमेरू और विन्ध्याटवी आदि के समान थे।

श्रृंगारकाल में अभिव्यक्ति तो गीतात्मक ही हुई, पर उन्हें गीतिकाव्य नहीं कहा जा सकता। अधिकांश कवि रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध रचनाओं में ही उलझे रहे हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस समय गीतिकाव्य की रचना हुई ही नहीं। नहीं, ऐसी बात नहीं है। सुन्दरदास, मलूकदास, अक्षर-अनन्य, ध्रुवदास इत्यादि ने इसी समय गीतों की रचना की है। असल बात है महत्त्व और नवीनता की। इस दृष्टि से श्रृंगारकालीन गीतिकाव्य का विशेष महत्त्व नहीं है।

गीतिकाव्य की दृष्टि से आधुनिक युग नवीन मोड़ ग्रहण करता है। यह काल व्यक्तिस्वातंत्र्य और राष्ट्रीय जागरण का काल है। खड़ीबोली के उत्थान के साथ ही भारतेन्दु का प्रवेश होता है। भारतेन्दु-युग में मूलतः दो प्रकार के गीत विकसित होते हैं— गीतों की पहली धारा विद्यापति, सूर, तुलसी इत्यादि की परम्परा का निर्वाह करते हुए आत्मनिवेदनात्मक शैली में पनपती है। इसमें ब्रजी का लालित्य साथ रहता है। दूसरी धारा को चाहें तो राष्ट्रीय धारा के नाम से अभिहित कर सकते हैं। यद्यपि इस धारा का प्रारम्भ भारतेन्दु ही कर चलते हैं; पर माखनलाल चतुर्वेदी और श्रीधर पाठक का इस धारा में अनुपम योगदान है। द्विवेदी-युग में यही दो धाराएँ और भी परिष्कृत हो चलती हैं। पाठकजी का 'जय-जय प्यारा भारत देश' राष्ट्रीय गीतों की अमिट कड़ी है।

कविता में छायावाद के पदार्पण-काल तक हिन्दी गीतों पर महाराष्ट्र के भातखण्डे स्कूल, बंगला के रवीन्द्र स्कूल और पश्चिमी गीतों के प्रभाव पड़ने लगे थे। अस्तु, इस समय गीतिकाव्य एक दूसरा मोड़ ग्रहण करता है। छायावाद-युग में रागात्मकता, कल्पनाशीलता, भावुकता, प्रच्छन्न श्रृंगार, व्यक्तिगत नैराश्य, प्रकृति का साहचर्य, भाषा में लाक्षणिकता और छन्दात्मकता, सौन्दर्यप्रियता, कोमलता इत्यादि का पूर्ण प्रस्फुटन होता है। इससे हिन्दी गीतिकाव्य मानो नया जन्म पाता है। अँगरेजी गीतिकाव्य के प्रभाव से अनेक प्रकार के गीति भी विकसित हो चलते हैं। जहाँ द्विवेदीयुगीन गीति मात्र पद्यात्मक निबन्ध होकर रह गये थे, इस युग में गीतिकाव्य अपना शुद्ध स्वरूप पा लेता है। इस युग में गीतों की मूलतः दो प्रवृत्तियाँ हैं— लौकिक आलम्बन को लेकर लिखे जाने वाले गीति और पारलौकिक आलम्बन को लेकर लिखे जाने वाले गीत। इन्हें चाहें तो छायावादी गीति

आ जाते हैं। छायावादविरोधी बातें ही यहाँ अधिक पनपती हैं। इन गीतों का प्राथमिक रूप निराला के गीतों में ही मिलता है। इनमें बौद्धिकता, सामाजिकता, और लगभग बेसुरापन के साथ-साथ कठोर भाषा का प्रचलन होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, अन्तरराष्ट्रीयता, वर्त्तमान समस्याओं का चित्रण, इतिहास की अर्थ-मूलक व्याख्या इत्यादि के प्राबल्य के कारण 'रोटी का राग' ही अलापा जाने लगता है। कतिपय छायावादी कवि भी इसमें सक्रिय योग देते हैं। प्रगतिवादी गीतों में दलितों के प्रति सहानुभूति; रूस, लाल सेना आदि के यशोगान: उन्मुक्त प्रेम के समर्थन इत्यादि ही प्रमुख हो उठते हैं। इस युग के गीतिकारों में पंत, नरेन्द्र, आरसी, सुमन, केशरी, तारा पाण्डेय, सुधीन्द्र इत्यादि के नाम लिये जायँगे।

प्रगतिवादी काव्यप्रवृत्ति के पश्चात् कविता में दूसरा मोड़ प्रयोगवाद के कारण आया। आज की 'नयी कविता' प्रयोगवाद का ही संस्कृत रूप है। इस कविता में भाव और भाषा का पूर्णतः रूपान्तर हो गया है। वैज्ञानिक अनुसंधान आदि के कारण मानव-जीवन जटिलता की ओर उन्मुख है। उपन्यास ने इस जीवन को पहले से ही अभिव्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया था। कविता भी अब वही करना चाह रही है जो उपन्यास कर रहे हैं। अस्तु, प्राचीन रूढ़ियों और आदर्शों की अस्वीकृति, जटिल संवेदनाओं की अभिव्यक्ति, जीवन के नवीन दृष्टिकोण का ग्रहण इत्यादि ही इस काव्यप्रवृत्ति में पूर्णतः मिल रहे हैं। परिणामतः अद्यतन गीति-काव्य में भी ऐसी ही प्रवृत्तियाँ मिल रही हैं। नवीन मानदण्डों को अपनाकर रामविलास शर्मा, अज्ञेय, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त, गिरिजाकुमार माथुर, शमशेर बहादुर सिंह, भारत भूषण इत्यादि गीतों की रचना कर रहे हैं। प्रयोगवाद और 'नई कविता' के गीतों के अनेक संकलन— 'तारसप्तक', 'दूसरा सप्तक', 'तीसरा सप्तक', 'बावरा अहेरी', 'ठण्ढा लोहा', 'हरी घास पर क्षण भर', 'नाव के पाँव' इत्यादि सामने आ चुके हैं। वस्तुतः ये गीत से अधिक प्रयोग भर ही हैं। इनमें चौंकानेवाली बातें अधिक हैं, आस्वादन योग्य वस्तुएँ कम। हाँ, कुछ गीत ऐसे अवश्य बने हैं जिनमें प्रयोग की नवीनता के साथ भावों की विशदता भी है। प्रयोगवादी गीतों में सम्बोधिगीति (Odes) की पद्धति अधिक विकसित हुई है। भावों के साथ तो खिलवाड़ हुआ ही है, बुद्धि का विकास भी प्रयोगवादियों ने कम नहीं किया है और साधारणीकरण की तो कचूमर ही निकल चुकी है। कहीं-कहीं तो गीतों के नाम पर सीधे-उलटे विरामचिह्नों और आड़ी-तिरछी रेखाओं के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं।

हिन्दी गीतिकाव्य के सम्बन्ध में सामान्य रूप से कहा जायगा कि विद्यापति से परम्परा स्थापित कर यह आज तक बढ़ता ही आया है। छायावाद गीतों की दृष्टि से अधिक उन्नत रहा है। आधुनिक युग सतत विकासमान है। अतः गीति-

काव्य भी विकासोन्मुख ही है। इसमें अभी स्थिरता नहीं आ सकी है। चाहें तो हंसकुमार तिवारी के शब्दों में स्वीकार कर सकते हैं कि— "गीतिकविता अपने चरमोत्कर्ष पर अभी नहीं पहुँची है। उसमें जिस सर्वजनसंवेद्य विशेषता की अनिवार्यता है वह गुण अभी इसमें नहीं आ पाया है, न संवेदनशीलता में, न संगीतात्मकता में। अतएव अभी हमें उस दिन की अपेक्षा है, जब गीतिकविता लोकजीवन से मिल जाय और कवियों की वाणी जन-जन के अधरों पर थिरक उठे।"

४२

हिन्दी नीतिकाव्य : स्वरूप और विकास

[नीति : व्युत्पत्ति और तात्पर्य—परिभाषा—नियम और नीति—नीतिकाव्य : विचार आँग्ल और भारतीय—तीन अभिव्यक्तिप्रकार : नीति—आचार्य शुक्ल का मत : काव्य और सूक्ति—शैली के भेद—विषयवस्तु के अनुसार भेद—प्रबोधक और दृष्टान्त—अँगरेजी-हिन्दी काव्यप्रकार—प्रबन्ध, मुक्तक, फुटकर—रूपक, उपदेश, दृष्टान्त—हिन्दी : ऐतिहासिक परम्परापरक, प्रतिपाद्य विषयगत—पूर्ववर्ती साहित्य—युग का प्रभाव—प्राचीन : वीरता और भक्ति—समाज आदि विषयक—शृंगारकाल : तदनन्तर—आधुनिक काल : शैली और प्रकार]

हिन्दी की कविता-गंगा अपने क्रोड़ में प्रवृत्तिपरम्परारूपी सरिताओं और वादरूपी नालों को समेट कर आगे बढ़ रही है। वीर, शृंगार, संत, सूफी इत्यादि काव्यधाराओं की तरह ही हिन्दी में नीतिकाव्य की भी एक विशिष्ट धारा रही है। प्रारम्भ में इसकी धारा अत्यन्त क्षीण थी, किन्तु भक्तिकाल और रीतिकाल में यह धारा पूर्ण विकास कर सकी है। आदिकाल की अपेक्षा आधुनिक काल अधिक उर्वर रहा है। निश्चय ही इस धारा ने समाज में युगानुरूप विधिनिषेधमूलक नियमों का विधान कर बड़ा कल्याण किया है। इसी के कारण आज अपढ़ लोगों के मुँह से भी अनायास तुलसी, कबीर, रहीम और घाघ इत्यादि के पद्य सुनाई पड़ जाते हैं। नीतिकाव्य पर विचार करने के पूर्व हमें नीति पर ही विचार कर लेना चाहिए।

'नीति' शब्द का व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ है 'ले जाना' या 'आगे ले जाना'। यह शब्द संस्कृत के 'नी' धातु से सम्बद्ध है। तात्पर्य यह कि मानवजीवन को आगे की ओर, कल्याण की ओर अथवा उन्नति की ओर ले जाने वाली ही नीति है। यह मार्गदर्शिका का कार्य करती है। वस्तुतः नीति का यह अर्थ अतिव्याप्ति की परिधि में है। इस अर्थ में जीवन के क्षेत्र में नीति के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का स्थान ही नहीं रह जाता है।

आज 'नीति' का प्रयोग संकुचित अर्थ में भी होता है। सामान्यतः 'नीति' शब्द का प्रयोग उस युक्ति, ढंग, उपाय, हिकमत इत्यादि के लिए भी होने लगा है जिससे किसी कार्य में सिद्धि मिल जाय। असल बात है सिद्धि की, साधन अच्छे अथवा बुरे चाहे जैसे भी हों। यहाँ नीति अत्यधिक संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होती है।

प्राचीन ग्रन्थों में अनेक विद्वानों ने नीति और नीतिशास्त्र की व्याख्याएँ की हैं। सभी के मूल अभिप्राय प्रायः समान ही हैं। यहाँ एक प्रमाण ही काफी होगा।

'नीतिमंजरी' में द्विवेद ने "एवं कर्त्तव्यमेवं न कर्त्तव्यमित्यात्मको यो धर्मः सा नीतिः", अर्थात् कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को स्पष्ट करनेवाली ही नीति है, कह कर मानव-कल्याण की ओर ही निर्देश किया है। हिन्दी नीतिकाव्य के शोधकर्त्ता डॉ० भोलानाथ तिवारी ने नीति की इस प्रकार परिभाषा दी है— "समाज को स्वस्थ एवं सन्तुलित पथ पर अग्रसर करने एवं व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति कराने के लिए जिन विधिनिषेधमूलक सामाजिक, व्यावहारिक, आचारिकि, धार्मिक तथा राजनीतिक आदि नियमों का विधान देश, काल और पात्र के सन्दर्भ में किया जाता है, उसे 'नीति' शब्द से अभिहित करते हैं।" उपर्युक्त मान्यता को ही यदि संक्षेप में कहना चाहें तो कहेंगे कि युगानुरूप मानव के परिस्थितिगत आचारों का तत्त्वप्रदर्शन ही नीति है। कोई भी नीति परिस्थिति और युग के मानदंड के अनुसार नैतिक चेतना की सूचिका है। हाँ, ऐसा भी देखने में आया है कि बहुत-सी नीतियाँ सार्वकालिक भी हो गयी हैं।

सार्वदेशिक और सार्वकालिक नीतियों को नीति न कह कर नियम कहना ही अधिक संगत है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। सामाजिक विधान और नैतिकता की दृष्टि से सत्य बोलने (सदा सत्य बोलो) की बात आवश्यक मानी गयी है। इस विधान का प्रत्यक्ष खंडन करने की शक्ति किसी में नहीं है, यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप में इसका खंडन रोज हो रहा है। वस्तुतः 'सदा सत्य बोलो' आज नीति नहीं, नियम के रूप में मान्य है; किन्तु अनेक अनुभवों से यह भी निश्चय हो गया है कि प्रत्येक परिस्थिति में सत्य बोलने से काम नहीं चलता है। कभी-कभी 'सत्य बोलना' अमानवीय और क्लेशकारक ही प्रमाणित हुआ है। इसी से इस नियम का संशोधन इस नीति द्वारा हुआ— "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात सत्यमप्रियम्।" इससे स्पष्ट है कि नियम और नीति में सामान्यतया अन्तर है। नीतिनिर्धारण में अवसर, परिस्थिति, बुद्धिमत्ता, संस्कृति, परम्परा इत्यादि का ध्यान आवश्यक रूप से रखा जाता है। परिस्थिति को किनारे कर किसी प्रकार की नैतिक मान्यताएँ नहीं स्थापित की जा सकती हैं।

भारतीय जीवनपद्धति में नीति का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रारम्भ से ही रहा है। वस्तुतः कोई भी समाज अथवा राष्ट्र नीति को छोड़कर जीवित नहीं रह सकता है। यदि शासन के लिए नहीं तो अनुशासन के लिए नीति आवश्यक तत्त्व है। अस्तु, नीति को जीवन का आवश्यक और उपयोगी तत्त्व ही कहना चाहिए। इसी से इसकी अभिव्यक्ति साहित्य में प्रारम्भ से ही होती रही है। संसार का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ ऋग्वेद भी नीतिशून्य नहीं है। साहित्य अथवा काव्य में नीति की अभिव्यक्ति भारत में ही नहीं, अन्य देशों में भी होती रही है। नीति से युक्त काव्य ही नीतिकाव्य के पेटे में आते हैं। 'नीतिकाव्य' के इस विशद घेरे में

प्रायः समस्त काव्यग्रन्थ सिमट आयँगे; पर वस्तुतः सब को नीतिकाव्य कहना युक्ति-संगत नहीं है। वस्तुतः नीतिकाव्य के अन्तर्गत मात्र वे ही रचनाएँ आयँगी जिनका मूल प्रतिपाद्य ही नीति है। नीति का स्वर यदि मुखर नहीं है तो उसे नीतिकाव्य नहीं कहना चाहिए।

आधुनिक आलोचना में अनेक प्रकार की विचारधाराएँ पनप गयी हैं। कलावादी आलोचकों का वर्ग काव्य में नीति को स्थान नहीं देना चाहता है। क्या नीति की अभिव्यक्ति को काव्य की संज्ञा दी जाय? इस प्रश्न पर अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार से विचार किये हैं। यहाँ प्रत्येक विचार के लिए पर्याप्त स्थान तो नहीं है; पर सामान्य रूप से लोगों ने निष्कर्ष यही दिया है कि यदि नीति, नियम, अनुभव, सिद्धान्त इत्यादि काव्यगुण से ओतप्रोत हों तो उन्हें काव्य के अन्तर्गत स्थान मिलना चाहिए। हाँ, कोरी उक्ति काव्याभास भी नहीं बन सकती। असल बात है काव्यात्मकता की, विषय चाहे जैसे हों। आँग्ल कवि शेली ने भी स्वीकार किया है कि कविता द्वारा नीतिकथन किया जा सकता है— "The basis of morality is laid not by preachers but by poets." मैथ्यू आर्नल्ड ने तो यहाँ तक घोषणा की है कि "A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life; a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life." प्रेमचन्दजी की भी मान्यता थी कि "नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का लक्ष्य एक ही है— केवल उपदेश की विधि में अन्तर है। नीतिशास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करता है। साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है।" बंकिम बाबू भी कहा करते थे— "कवि संसार के शिक्षक हैं, किन्तु नीति की व्याख्या करके शिक्षा नहीं देते। वे सौन्दर्य की चरम सृष्टि करके संसार की चित्तशुद्धि करते हैं। यही चरमोत्कर्षसाधन काव्यसृष्टि का मुख्य उद्देश्य है।"

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि नीति का काव्य में समुचित स्थान है। हाँ, बात इतनी ही है कि कवि द्वारा नीति की व्याख्या मात्र नीरस पद्धति से न की जाय। विचारने से यह विदित है कि वाणी द्वारा तीन प्रकार की अभिव्यक्तियाँ होती हैं— किसी अनुभूति की, किसी विचार की और किसी तथ्य की। कविता में मूलतः कोई-न-कोई अनुभूति ही अभिव्यक्त होती है। विचारों की अभिव्यक्ति निबन्ध, आलोचना आदि द्वारा होती है तथा तथ्य या वस्तु का कथन कथासाहित्य द्वारा हो चलता है। नीति भी एक प्रकार से तथ्यकथन ही है, पर इसका कथासाहित्य की कुतूहलवृत्ति के बदले जिज्ञासा से अधिक सम्बन्ध होता है। नीति का सम्बन्ध मूलतः किसी नियम अथवा सिद्धान्त से होता है। पुनः कविता पर विचारने से पता

चलता है कि भारतीय आचार्यों ने रसोक्ति, वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति-- अनुभूति की रमणीयता, तथ्य की रमणीयता और स्वभाव की रमणीयता—को ही स्थान दिया है। उपर्युक्त तीनों प्रकार की रमणीयता में नीति किसी के अन्तर्गत स्वीकार नहीं की जा सकती। सम्भवतः इसी से आचार्य शुक्ल 'नीति के फुटकल पद्य' कहनेवालों को कवि न कहकर सूक्तिकार ही कहना चाहते हैं। इनके अनुसार, "रीतिकाल के भीतर वृन्द, गिरिधर, घाघ और वैताल अच्छे सूक्तिकार हुए हैं, कवि नहीं।" आचार्य शुक्ल के मत पर ध्यान देने से एक बात स्पष्ट है कि मात्र कोरे नीति के पद्य कहनेवाले कवि नहीं स्वीकार किये जा सकते। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि नीति का काव्य से गठबन्धन नहीं हो सकता। उन्होंने स्वयं नीतिकाव्य के अनेक कर्त्ताओं को कविरूप में स्वीकार किया है। रहीम और दीनदयाल गिरि के सम्बन्ध में उनका कथन दर्शनीय है— "रहीम के दोहे वृन्द और गिरिधर के पद्यों के समान कोरी नीति के पद्य नहीं हैं, उनमें मार्मिकता है, उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झाँक रहा है। जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में होगी वही जनता का प्यारा कवि होगा।" दीनदयाल गिरि के सम्बन्ध में उनका मत है कि "ये एक अत्यन्त सहृदय और भावुक कवि थे। इनकी-सी अन्योक्तियाँ हिन्दी के और किसी कवि की नहीं हुईं।" सूक्ति और कविता में स्पष्ट अन्तर मानने के कारण ही तुलसी की 'दोहावली' पर विचारते समय आचार्य शुक्ल ने लिखा था कि "भक्ति और प्रेम का स्वरूप व्यक्त करनेवाले दोहे तो काव्य के अन्तर्गत लिये जायँगे, पर नीतिपरक दोहे सूक्ति की श्रेणी में स्थान पायँगे।" अस्तु, निष्कर्षरूप से कहा जायगा कि काव्य में नीति के लिए पर्याप्त स्थान तो है, पर नीति की कोरी उक्तियाँ कविता के अन्तर्गत नहीं आयँगी। रसाश्रित नीतिमूलक कविता नीतिकाव्य के अन्तर्गत आयगी तो अवश्य, पर विशुद्ध रस-काव्य की तरह यह उच्चकोटि की नहीं होगी।

नीति को काव्यात्मक रूप दे दिया जाय, इसके लिए कई आवश्यक बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। 'सतसईसप्तक' में डॉ० श्यामसुन्दरदास ने उक्तिभंगिमा, प्रत्युत्पन्नमतित्व, अलंकारयोजना और भाषा की स्वाभाविकता को इसके निमित्त आवश्यक माना है। उपर्युक्त चार बातों के अतिरिक्त कल्पनाशीलता को भी एक आवश्यक उपादान मानना चाहिए। इन्हीं के बल पर कोई भी कवि नीति को काव्य का रूप देकर भी सूक्तिकार नहीं, कवि ही कहा जायगा। हाँ, अनुभूति की सचाई जिसमें जितनी अधिक होगी, उसे उतनी अधिक सफलता मिलेगी।

हिन्दी के उपलब्ध नीतिकाव्य का वर्गीकरण अनेक रूपों में सम्भव है। वर्गीकरण के निमित्त शैली, रूप, विषय इत्यादि को आधार के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। आचार्य शुक्ल ने रूप अथवा काव्यत्व के आधार पर नीतिकाव्य के

तीन प्रकार स्वीकृत किये हैं— काव्य, सूक्ति और पद्य। आचार्य शुक्ल ने वैचित्र्य अथवा चमत्कार से हीन उक्ति को ही काव्य के रूप में स्वीकृत किया है— "किसी उक्ति की तह में उसके प्रवर्त्तक के रूप में यदि कोई भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति छिपी है तो चाहे वैचित्र्य हो या न हो, काव्य की सरसता बराबर पायी जायगी।" सूक्ति का विवेचन करते हुए आपने लिखा है—"ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना में लीन होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्णविन्यास या पदप्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं सूक्ति है।" वस्तुतः जब कथन किसी भाव की जागृति कर मार्मिक अनुभूतियों में लीन कर दे तो वह है काव्य और जब कथन प्रयोगवैचित्र्य, चमत्कार आदि के कारण विचारोन्मुख बनावे तब है सूक्ति। और पद्य? जब वक्ता नीति की बातों को सीधे-सादे ढंग से पद्यात्मक रूप में कहे तो वही है पद्य। पद्य का कार्य मात्र बोधवृत्ति को जगाना है, मनोविकार उत्पन्न करना नहीं।

डॉ० भोलानाथ तिवारी ने सूक्तियाँ दो प्रकार की मानी हैं—काव्य के विधायक तत्त्वों से युक्त और काव्य के विधायक तत्त्वों से हीन। इसी से डॉ० तिवारी ने भी नीतिकाव्य के निम्नांकित तीन रूप माने हैं— पद्यमात्र, चमत्कारप्रधान और काव्यत्वप्रधान। सूक्ष्म रूप से विचारने पर डॉ० तिवारी का मत यहाँ आचार्य शुक्ल के मत के समान ही प्रतीत होता है।

शैली की दृष्टि से भी नीतिकाव्य के तीन ही भेद हो सकते हैं—उपदेश, अन्योक्ति और सूक्ति। उपर्युक्त रूपों में काव्यत्व की दृष्टि से अन्योक्ति सर्वश्रेष्ठ और उपदेशात्मक शैली सबसे निकृष्ट श्रेणी की मानी जायगी। हिन्दी में दीनदयाल गिरि प्रसिद्ध अन्योक्तिकार हैं। यह शैली रहीम, तुलसी, बिहारी इत्यादि में भी यत्रतत्र उपलब्ध है।

उपलब्ध सामग्रियों की दृष्टि से भी ये तीन रूपों में मिलते हैं—प्रबन्धकाव्यों के अंशरूप में, अन्यविषयक मुक्तकों के साथ और स्वतंत्र नीतिमुक्तकों के रूप में। आदिकालीन नीतिकाव्य मूलतः प्रथम दो रूपों में ही उपलब्ध हैं; किन्तु शृंगार-कालीन नीतिकाव्य मूलतः मुक्तकों में हैं।

पुनः विषयवस्तु की दृष्टि से भी नीतिकाव्य के छः मुख्य वर्ग बनाये जा सकते हैं—धर्म और आचार, समाज और व्यवहार, राजनीति, नारी, सामान्य ज्ञान और विश्वास। हिन्दी के नीतिकाव्य में विभिन्न शैलियों के माध्यम से उपर्युक्त विषयों पर ही विचार किये गये हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दी के नीति-काव्य का वर्गीकरण अनेक रूपों में सम्भव है।

नीतिकाव्य के समान ही हिन्दी में दो काव्यरूप और पाये जाते हैं—प्रबोधक

काव्य और दृष्टान्तकाव्य। चाहें तो दोनों को नीतिकाव्य के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है। वस्तुतः नीतिकाव्य भी प्रबोधक का ही कार्य करता है। अस्तु, एक प्रकार से समस्त नीतिकाव्य प्रबोधक काव्य के ही अन्तर्गत है। प्रबोधक काव्य कोई निश्चित काव्यरूप न होते हुए भी विषयवस्तु, शैली आदि की दृष्टि से एक विशेष प्रकार का काव्यप्रकार अवश्य है। इस काव्यप्रकार के लिए अँगरेजी में 'डाइडेक्टिक पोयट्री' शब्द प्रचलित है। डॉ० शम्भुनाथ सिंह के अनुसार—"ऐसा काव्य जिसका उद्देश्य सीधे-सीधे उपदेश देना और पाठकों का सुधार करना हो और जिसका कलात्मक पक्ष उसके नैतिक या उपदेशात्मक पक्ष से बिलकुल दब गया हो, प्रबोधक काव्य कहा जाता है।" श्री मैथिलीशरण गुप्त की रचना 'भारतभारती' प्रबोधक काव्य का हिन्दी में उत्कृष्ट उदाहरण है। द्विवेदी-युग की अधिकांश अभिधात्मक रचनाएँ प्रबोधक काव्य के ही अन्तर्गत आती हैं। उस युग में आर्य-समाज आदि के कारण कविता में सुधारवादी और पुनरुत्थानवादी भावना की प्रबलता मिलती है। इसी से अधिकांश रचनाएँ उपदेशप्रधान होकर प्रबोधक काव्य का उदाहरण बन गयी हैं।

अँगरेजी काव्य में ड्राइडेन और पोप की अधिकांश रचनाएँ प्रबोधक काव्य ही हैं। वर्ड्सवर्थ की उत्तरकालीन कविताएँ भी ऐसी ही हैं। प्रबोधक काव्य का प्राथमिक कार्य उपदेश देना होता है। साहित्य उपदेशात्मक हो या नहीं, इस पर पहले विचार किया जा चुका है। यहाँ मात्र हम मम्मट की उक्ति 'कान्तासम्मित उपदेश' की ओर संकेत कर रहे हैं। स्वयं होरेस भी काव्यगत उपदेश को मधु-वेष्टित कड़वी दवा मानता रहा है। अस्तु, काव्यप्रकारों में प्रबोधक काव्य भी विशिष्ट महत्त्व के भागी अवश्य हैं।

प्रबोधक काव्य की भाँति ही दृष्टान्तकाव्य भी काव्यरूप नहीं, विशिष्ट काव्य-प्रकार ही है। इसे अँगरेजी का 'पैरेबिल' समझिए। अँगरेजी में 'एलीगरी', 'फेबिल' और 'पैरेबिल' प्रायः समानधर्मा काव्यप्रकार हैं। सामान्य रूप से इन्हें 'एलीगरी' में ही स्थान दिया जाता है। उपर्युक्त तीनों को हिन्दी में क्रमशः 'रूपक' (प्रतीककथा), 'उपदेश' और 'दृष्टान्त' कह सकते हैं। तीनों में पर्याप्त अन्तर है। दृष्टान्त में प्रायः मानवीय पात्रों की घटनाओं द्वारा किसी सिद्धान्त, नीति, आचार इत्यादि का प्रतिपादन किया जाता है। घटनाएँ प्रायः दृष्टान्तरूप में नियोजित होती हैं। हिन्दी में यह परम्परा संस्कृत से ही आयी है। 'प्रबोधचन्द्रोदय', 'मोहपराजय' आदि की परम्परा हिन्दी में इसी रूप में पल्लवित हुई है। हिन्दी में यह काव्यप्रकार गद्य-साहित्य (नाटक) में पनपा तो है, पर पद्य-साहित्य में इसका पूर्ण अभाव है। प्रसाद के 'कामना', 'एक घूँट' आदि में इसी परम्परा का निर्वाह है।

नीतिकाव्य के वर्गीकरण के क्रम में ऐसा उल्लेख किया गया था कि यह प्रबन्ध और मुक्तक दोनों रूपों में उपलब्ध है। प्रबन्धकाव्यों में नीतियाँ यत्रतत्र बिखरी हुई मिलती हैं। उदाहरणस्वरूप 'पृथ्वीराज रासो', 'पद्मावत', 'रामचरितमानस', 'रामचन्द्रिका' इत्यादि प्रबन्धकाव्यों में उपलब्ध नीतिविषयक मुक्तक सामग्रियाँ ली जा सकती हैं।

दूसरा वर्ग है मुक्तकों का। मुक्तकों में कुछ तो ऐसे हैं जिनमें मूलतः नीति ही प्रतिपाद्य है। इन्हें नीतिविषयक मुक्तक कहेंगे। नीतिविषयक मुक्तक फुटकर पद्यों के रूप में भी मिलते हैं और स्वतंत्र नीति के संग्रहग्रन्थों के रूप में भी। प्रायः गंग, वीरबल, टोडरमल, रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त, कन्हैयालाल पोद्दार इत्यादि की रचनाओं को फुटकर पद्यों में रखेंगे और नीतिमुक्तकों के स्वतंत्र संग्रहग्रन्थों में 'वृन्दसतसई', 'नीति के दोहे' (भगवानदीन), 'रहीम दोहावली', 'नीतिमंजरी' (छत्रसाल), 'अन्योक्ति-बावनी' (विनयपत्ति), 'दोहावली' (रत्नावली), 'नीतिपच्चीसी' (केवलकृष्ण शर्मा), 'सदाचारसोपान' (शिवशंकर मिश्र), 'सुताप्रबोध' (रामप्रसाद तिवारी) इत्यादि के नाम गिनाये जायँगे।

मुक्तकों का एक तीसरा वर्ग भी है। इन मुक्तकों के प्रतिपाद्य भिन्न हैं, फिर भी यत्रतत्र नीतिविषयक कविताएँ मिल जाती हैं। ऐसे मुक्तकग्रन्थों के उदाहरण में भक्तिविषयक 'तुलसीसतसई', शृंगारविषयक 'बिहारीसतसई', वीररसविषयक 'वीरसतसई', किसानविषयक 'किसानसतसई' इत्यादि के नाम आयँगे। 'रतनहजारा', 'सहस्रदोहावली', 'ज्ञानबावनी', 'दुलारे दोहावली' इत्यादि अन्य विषयों से सम्बद्ध मुक्तकों के संग्रह हैं; किन्तु इनमें भी नीति के पद्य अवश्य मिलते हैं।

हिन्दी नीतिकाव्य का अध्ययन मूलतः दो रूपों में किया जा सकता है—ऐतिहासिक परम्परापरक और प्रतिपाद्य विषयगत। अध्ययन की ये दोनों दृष्टियाँ अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण हैं। ऐतिहासिक और परम्परामूलक अध्ययन के लिए पूर्ववर्ती साहित्य की नीतिविषयक सामग्री का पर्याप्त ज्ञान आवश्यक है, चूँकि हिन्दी का नीतिकाव्य अपनी पूर्ववर्ती सामग्रियों को समेटे चल रहा है। संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की नीतिविषयक सामग्रियों को हिन्दी ने परोक्ष रूप में नहीं, प्रत्यक्षतः ही ग्रहण किया है। कहीं-कहीं तो ये अनुवादमात्र ही हैं। अस्तु, संक्षेप में पूर्ववर्ती साहित्य पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

भारतीय काव्यों में नीति की अभिव्यक्ति प्रारम्भ से ही होती रही है। इसके प्राचीनतम सूत्र आदिग्रन्थ ऋग्वेद में ही प्राप्त होते हैं। वहाँ दान की महत्ता स्पष्ट रूप से घोषित की गयी है। आठवें मण्डल के ३३वें सूक्त में कहा गया है कि "नारी के मन का शासन करना असम्भव है, उसकी बुद्धि छोटी होती है।" इसी

प्रकार अन्यविषयक नीति की सूक्तियाँ भी यहाँ मिलती हैं। वैदिक साहित्य में अथर्ववेदसंहिता, ब्राह्मण एवं उपनिषद् ग्रन्थों में नीति की महत्त्वपूर्ण सूक्तियाँ मिलती हैं। इनमें उद्योग, सत्य, स्त्री, राजा, धर्म, दया, शम, विवेक, लोभ, गुरु इत्यादिविषयक नीतियाँ मिलती हैं। नीतिविषयक ये बातें काव्य की अपेक्षा शास्त्र के अधिक निकट पड़ती हैं।

लौकिक संस्कृत साहित्य में नीति का प्रतिपादन महाकाव्यों, पुराणों आदि में तो हुआ ही है, नीतिविषयक अनेक स्वतंत्र ग्रन्थ भी मिलते हैं। महाभारत में धौम्यनीति, विदुरनीति, भीष्मनीति, विदुलोपाख्यान इत्यादि में नीति का सुन्दर प्रतिपादन मिलता है। इसी प्रकार 'मनुस्मृति', 'वृहस्पतिनीति', 'शौनकीय नीतिसार', 'शुक्रनीति', 'चाणक्यनीति', 'नीतिशतक' (भर्तृहरि), 'नीतिसार' (कामन्दक) इत्यादि अनेक प्रसिद्ध पुस्तकों में नीतिविषयक सामग्री उपलब्ध है। सम्पूर्ण रूप से ऐसा कहा जायगा कि संस्कृत साहित्य नीति की दृष्टि से अधिक उर्वर रहा है।

पालि-साहित्य में नीति की दृष्टि से 'धम्मपद' और 'जातक' महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। प्रथम में नीति की गाथाएँ और द्वितीय में कथाएँ मिलती हैं। डॉ० भोलानाथ तिवारी "जातककथाओं को भारतीय लोक एवं व्यवहारनीति का विश्वकोष" कहते हैं।

नीति की परम्परा संस्कृत और पालि से होती हुई प्राकृत और अपभ्रंश में पल्लवित होती है। प्राकृत साहित्य में नीतिविषयक सामग्री अपेक्षाकृत कम है। प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश-काव्यों में नीति को अधिक स्थान मिला है। प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में नीति के महत्त्व की दृष्टि से 'कथाकोशप्रकरण', 'पद्मचरित्र', 'गाहा सत्तसई', 'बज्जालग्ग', 'पाहुड़ दोहा', 'सावयवधम्म दोहा', 'उपदेशरसायन' इत्यादि के नाम लिए जायँगे। इनमें धर्म और आचार से सम्बद्ध नीतियों का ही कथन अधिक किया गया है, समाज और व्यवहार के सम्बन्ध में बहुत कम बातें मिलती हैं। सम्भवतः इसका कारण रहा है जैन धर्म का प्रभाव। यद्यपि इस साहित्य में नीति की बातें प्रासंगिक ही हैं, पर इनका साहित्यिक महत्त्व पूर्ववर्ती साहित्य में वर्णित नीति की अपेक्षा अधिक है। ये काव्य अधिक हैं, शास्त्र कम।

हिन्दी नीतिकाव्य पर उपर्युक्त साहित्य में वर्णित नीतियों का पूरा-पूरा प्रभाव देखने को मिलता है। यह प्रभाव विषयवस्तु और रूपशिल्प दोनों ही दृष्टियों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। हाँ, यहाँ एक बात सदा स्मरण रखें कि प्रभाव मात्र प्रभाव ही है; हिन्दी ने पूर्ववर्ती साहित्य में वर्णित नीतियों को समग्ररूपेण ग्रहण नहीं किया है। बदलते मानदंड के अनुसार इसने बहुत-सी नीतियों में आवश्यक परिवर्त्तन भी कर लिया है। पूर्ववर्त्ती साहित्य में औपदेशिक कथाओं का बड़ा महत्त्व रहा है। हिन्दी ने इन औपदेशिक कथाओं को बिलकुल ग्रहण ही नहीं किया है।

संसार की अन्य भाषाओं के साहित्यों पर भारतीय औपदेशिक कथाओं का पूरा प्रभाव पड़ा है; पर हिन्दी ने ही उसे नहीं ग्रहण किया, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। सम्भवतः मध्ययुग में गद्य का अभाव ही इसका एकमात्र कारण माना जायगा।

विषयवस्तु को हिन्दी ने प्रत्यक्ष और परोक्ष—दो रूपों में—ग्रहण किया है। अनुवादकार्य तो प्रत्यक्ष प्रभाव के अन्तर्गत ही आयँगे, पर परोक्ष प्रभाव के अन्तर्गत छिटपुट रूपों को ले सकते हैं। यह किसे ज्ञात नहीं है कि 'गाहा सत्तसई' के प्रभाव ने ही 'बिहारीसतसई' को रूप दिया है। नीतिकाव्य की स्थापित सुदृढ़ परम्परा तो हिन्दी को मिली ही, विरासत में शैली भी मिली। शैली, छन्द, अलंकार इत्यादि प्रायः हिन्दी ने वही अपनाये जो पूर्ववर्त्ती साहित्य में प्रचलित थे।

हिन्दी का नीतिकाव्य पूर्ववर्त्ती साहित्य से प्रभावित तो हुआ ही, इस पर युगप्रभाव भी कम नहीं पड़ा है। युग की परिस्थितियाँ साहित्य को सदा से प्रभावित करती रही हैं। अस्तु, नीतिकाव्य भी इससे अछूता नहीं है। युग का प्रभाव भावों और उदाहरणों—दोनों पर स्पष्ट रूप से दीखता है। जिस समय हिन्दी का आदिकालीन साहित्य रचा जा रहा था, उस समय उत्तर भारत में राजनीतिक उथल-पुथल थी। युद्ध और धर्म के स्वर ही प्रधान थे। इस वैयक्तिक वीरता के समय मानो 'आल्हखंड' की पंक्ति —'बरिस अठारह क्षत्री जीवै, आगे जीवन को धिक्कार'—आज भी उस युग की भावना को साकार कर रही है। इस पंक्ति से तत्कालीन युद्धनीति का पूर्ण पता चलता है—'भजै सिपाही को ना मारै, ना औरत पै डारै हाथ'। भक्तिकाल में धार्मिक आडम्बरों के प्रति विद्रोह की भावना का मुखर हो जाना भी युगप्रभाव ही है। हिन्दू धर्म के द्वन्द्व का प्रभाव तत्कालीन नीतिपरक उक्तियों में स्पष्ट है। कबीर की खंडनात्मक वृत्ति में युगगत भावना ही है। 'माला फेरत युग गया, गया न मन का फेर' में युग के साधुओं की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। कलिधर्मनिरूपण में तुलसी ने परम्परित वर्णन को ही स्थान नहीं दिया है, अपितु युग की भावना पर भी गहरा दृष्टिपात किया है। 'सुत मानहिं मातु-पिता तब लौं, अबलापन दीख नहीं जब लौं' में केवल तुलसी ने युग की भावना को ही नहीं, अपितु आज की भावना को भी अभिव्यक्त किया है। शृंगारकाल में परम्परित नीतियाँ ही अधिक हैं; पर गिरिधर आदि कवियों की दृष्टि तत्कालीन युग पर विशेष जमी है। आधुनिक काल में नीतिकाव्य पर धर्म, राजनीति, राष्ट्रीयता, समाजव्यवहार, व्यवसाय इत्यादि का नवीन प्रभाव है। इसी से प्राचीन मान्यताएँ बदल-सी गयी हैं। उदाहरणस्वरूप सर्वधर्मसमन्वय की भावना ले सकते हैं—

इसाई हिन्दू यवन ईसा राम रहीम।
बैबिल बेद कुरान में जगमग एक असीम॥

इस दोहे में आधुनिक युग का प्रभाव ही है। बेकारी की समस्या आज की

वस्तु है। इसका प्रभाव भारतेन्दु के समय से ही दीखने लगा था। अस्तु, भारतेन्दु की यह मुकरी—

तीन बुलावें तेरह आवें, निज-निज बिपदा रोइ सुनावें।
आँखौ फूटी भरा न पेट, को सखि साजन नहिं ग्रेजुएट।।

युग की सबल अभिव्यक्ति है। आज सर्वत्र पैरवी और पहुँच की बात की जाती है। श्री बेढब पैरोडी-काव्य के द्वारा इसे इस प्रकार कह रहे हैं—

तुलसी जैसी सोर्स हो, तैसी मिले सहाय।
बिनु इण्टरव्यू बेधड़क, सुघर पोस्ट मिल जाय।।

इसी प्रकार विज्ञापन की बात भी ली जा सकती है। आज के युग में प्रचार और विज्ञापन के बल से कौन अपरिचित है। विज्ञापनबाजी के सम्बन्ध में बेढबजी की यह उक्ति देखिए—

लीडर प्लीडर भाँड़ कवि, मेम्बर अरु अखबार।
विज्ञापन के बल चलत, ये सब बोलनहार।।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि नीतिकाव्य पर प्रत्येक युग की अपनी छाप रही है। युग ने केवल भावों को ही प्रभावित नहीं किया है, अपितु उदाहरण भी पूर्णतः प्रभावित हुए हैं। यहाँ उदाहरणों के सम्बन्ध में एक उदाहरण पर्याप्त है—

एक ज्योति जग जगमगै, जीव-जीव के जीय।
बिजुरी बिजुरीघर निकसि, ज्यों जारति पुर-दीय।।

श्री दुलारेलाल भार्गव की इस युक्ति में बिजलीघर का उदाहरण आया है। बिजलीघर (पावरहाउस) आज के युग की वस्तु है। ऐसी अभिव्यक्ति आदिकालीन हिन्दी नीतिकाव्य में दीपक लेकर खोजने पर भी न मिलेगी। कारण स्पष्ट है कि उस समय पावरहाउस तो कहीं थे नहीं।

हिन्दी नीतिकाव्य पर साहित्यिक और युगानुकूल प्रभावों की चर्चा के पश्चात् सर्वप्रथम परम्परागत और ऐतिहासिक अध्ययन अपेक्षित है। आदिकालीन हिन्दी-काव्य में नीति की अभिव्यक्ति मूलतः प्रबन्धकाव्यों और अन्यविषयक मुक्तकों में हुई है। उस समय नीति के स्वतंत्र मुक्तकों की रचना नहीं हुई है। प्रबन्धों में 'पृथ्वीराज रासो' और 'आल्हखंड' की प्रधानता है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया, उस युग के मुख्य विषय दो ही थे— युद्ध और धर्म। दोनों में स्थैर्य का अभाव था। अस्तु, उस काल में युद्धनीति और धर्मनीति के ही प्रतिपादन हुए हैं। उस युग में भक्ति अथवा तलवार का धनी होना आवश्यक-सा हो गया था। अस्तु, 'आल्हखंड' की यह नीति—'जननी ऐसा बेटा जनिए कै सूरा कै भक्त कहाय' युग की वाणी के रूप में स्वीकृत होनी चाहिए। 'आल्हखंड' और 'रासो' में युद्धनीति का सुन्दर निरूपण है। भक्ति की नीति का निरूपण मूलतः नाथ-सिद्धों की वाणियों में मिलता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि उस युग में नीतिकाव्य का प्रायः अभाव-सा

है। हिन्दी साहित्य के अन्य कालों की अपेक्षा यह काल नीतिकाव्य की दृष्टि से सर्वाधिक अनुर्वर है। यहाँ आधिकारिक रूप में नहीं, प्रासंगिक रूप में ही नीति की उक्तियाँ मिलती हैं।

हिन्दी में नीतिकाव्य का यथार्थ रूप भक्तिकाल में प्राप्त होता है। इस समय के नीतिकाव्य में धर्म, आचार, समाज, व्यवहार, नारी, राजा, राजनीति इत्यादि सभी बातों को स्थान दिया जाता है। अधिकांश संतों और भक्तों ने धार्मिक नीतियों का प्रतिपादन किया है। इन सब में कबीर का स्वर अधिक विद्रोही है। संतों में कबीर, दादू, मलूकदास, रैदास, नानक इत्यादि की वाणियाँ अधिक प्रसिद्ध हैं। सूफियों ने भी कुछ नीति की उक्तियाँ कही हैं। समाजव्यवहार, नारी आदि के सम्बन्ध में संतों की नीतिपरक उक्तियाँ प्रायः एकांगी ही हैं। धार्मिक उक्तियाँ ही इन्होंने सटीक रूप में व्यक्त की हैं।

धार्मिक भावना के अतिरिक्त दूसरी धारा में समाज, व्यवहार, नारी, राज-नीति इत्यादि की नीतिपरक उक्तियाँ मिलती हैं। इस प्रकार की धारा में देवीदास, नरहरि, वीरबल, गंग, रहीम इत्यादि के नीतिकाव्य उल्लेखनीय हैं। तुलसी का व्यक्तित्व इतना गत्वर है कि इन्होंने धर्म और आचार के साथ समाज पर भी सर्वाधिक ध्यान दिया है। सच कहा जाय तो कहा जायगा कि तुलसी समाज के सच्चे सचेतक बन कर ही आये थे, जिन्होंने समाजव्यवहार के साथ राजनीति, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र इत्यादि का सच्चा रूप सामने दिया है। प्रत्यक्ष कर का निषेध करने वाले तुलसी इस उक्ति—

> बरषत हरषत लोग सब, करषत लखै न कोइ।
> तुलसी प्रजा सुभाग ते, भूप भानु सों होइ॥

के कारण आज के प्रमुख अर्थशास्त्रियों में स्थान पाने योग्य हैं। साथ ही इस दोहे में काव्य की अनुभूति का भी पूरा निर्वाह मिलता है।

तुलसी के पश्चात् नीतिकाव्यकारों में रहीम का नाम लिया जायगा। रहीम की दृष्टि तत्कालीन समाज पर खूब जमी थी। इन्होंने नीति को काव्य का विषय बनाया तो पर काव्यानुभूति के साथ; जीवन की गहराई को काव्यात्मक रूप तो दिया पर कल्पना का मेल कर। इन्होंने मात्र कोरा तथ्यकथन ही नहीं किया है।

इस युग में नारीविषयक नीति की कवयित्री है रत्नावली। इसने अपनी रचना 'दोहावली' में तत्कालीन नारीविषयक नीति का वर्णन तो किया ही है, परम्परित वर्णन को भी इसने ग्रहण किया है। फिर भी नीतिकाव्यकारों में रत्नावली का महत्त्वपूर्ण स्थान अवश्य माना जायगा।

शृंगारकाल अपेक्षाकृत शान्ति का काल रहा है। इस समय नीतिकाव्य के अनेक कवि हुए हैं। इस युग के अधिकांश नीतिकाव्यों पर संस्कृत और फारसी का

ही प्रभाव अधिक है; पर मौलिकता का सर्वथा अभाव है, ऐसा कहना भी आनुषंगिक ही होगा। हाँ, यह बात सही है कि अधिकांश लोगों ने भक्तिकालीन नीतिपरक उक्तियों को ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उड़ा लेने की कोशिश की है; पर यह भी सत्य है कि आज के हिन्दी-प्रदेश की जनता में जिस प्रकार तुलसी, कबीर और रहीम की उक्तियों का प्रचार है, उसी प्रकार शृंगारयुग के घाघ और भड्डरी, बैताल और गिरिधरदास की उक्तियाँ भी पूर्णतः प्रचलित हैं। इस युग की नीतिपरक उक्तियाँ प्रबन्धों में तो हैं ही, अन्यविषयक उक्तियों में भी नीति का समावेश हुआ है। साथ ही, नीति के अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना भी इस युग में हुई है। 'वृन्दसतसई', 'नीतिमंजरी' (छत्रसाल), 'सिवसागर', 'छन्दनामा' (जॉन), बैताल के छप्पय, घाघ और भड्डरी की कहावतें, 'नीतिसारावली', 'नीतिमुक्तावली', 'राजनीतिमंजरी (परमानन्द), 'नीतिमंजरी', 'कृष्णदर्पण', 'सन्तोषछावनी' (सम्मन), 'ध्रुवाष्टक', 'अबाधनीति', 'उत्तम नीतिचन्द्रिका' (विश्वनाथ सिंह), 'सुनीतिरत्नाकर' (निहाल), 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम', 'दृष्टान्ततरंगिणी' (दीनदयाल गिरि), 'नृपनीतिशतक', 'समयनीतिशतक' (लक्ष्मण सिंह) इत्यादि ग्रन्थ मूलतः विशुद्ध नीतिकाव्य के अन्तर्गत आते हैं। इनके अतिरिक्त शृंगार, वीर आदि अनेक प्रकार की रचनाओं में भी नीति के दोहे मिल जाते हैं। उदाहरणस्वरूप बिहारी की 'सतसई' ही ले लीजिए। इसका मुख्य प्रतिपाद्य शृंगार, होने पर भी इसमें नीति के अनेक दोहे हैं। इसी प्रकार और भी अनेक नाम गिनाये जा सकते हैं।

शृंगारकालीन नीतिकाव्य पर एक आरोप लगाया जाता है कि यहाँ हृदय की सचाई नहीं, 'ऊपरीपन' मिलता है। वस्तुतः यह आक्षेप विचारणीय है। वस्तुतः स्वानुभूति की छाप कम हो सकती है; पर यह काव्य तत्कालीन जीवन की उपज नहीं है, ऐसा मानना गलत होगा। हाँ, अन्य विषयों की तरह इस काव्य में भी इस युग की परिगणन की प्रवृत्ति अधिक अवश्य है। सब कुछ होते हुए भी यही कहा जायगा कि यह युग नीति की दृष्टि से अधिक उर्वर है। दैनिक जीवन और व्यवहार की बातें भी यहाँ कम नहीं हैं। तभी तो घाघ और भड्डरी, बैताल और गिरिधर हमारे जीवन-साथी बन गये हैं।

आधुनिक युग का नीतिकाव्य जहाँ प्राचीनता को समेटता है, वहीं नवीनता को भी पूर्ण स्थान देता है। आधुनिक युग में होने वाले अनेक प्रकार के सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक इत्यादि आन्दोलनों के प्रभाव भी इस पर स्पष्ट हैं। इसी से आधुनिक युग में विधवाविवाह, नारी-उत्थान, स्त्रीशिक्षा, जातिवाद का विरोध, राष्ट्रप्रेम, सर्वधर्मसमन्वय, अहिंसा, सत्याग्रह, मानवता, बेकारी इत्यादि नीतिकाव्य के विषय बन गये हैं।

शृंगारकाल के समान ही इस युग में भी प्रबन्धों और अन्यविषयक मुक्तकों के

अतिरिक्त नीति के स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना हुई है। स्वतन्त्र ग्रन्थों में 'राजनीति-चन्द्रिका' (विष्णुदत्त), 'नीतिप्रकाश' (बिहारी प्रसाद), 'शरण्यनीति' (गोविन्द रघुनाथ घत्ती), 'अन्योक्तिमंजूषा' (दीनजी), 'सभाजीत सर्वनीति' (रामदया), 'बुधजन-सतसई' (बुधजन), 'भूधरशतक' (भूधरदास), 'नीतिविलास' (मथुरादास), 'नीति-चन्द्रिका' (मजबूत सिंह), 'नीतिमंजरी' (गुलामराम राव), 'सुताप्रबोध' (राम-प्रसाद तिवारी), 'नीतिशिरोमणि' (चिम्मन लाल), 'लोकोक्तिशतक' (प्रतापनारायण मिश्र), 'नीतिविलास' (जानकीप्रसाद पँवार), 'नीतिसार' (वालकृष्ण चौबे), 'ज्ञान-सरोवर' (पाटन), 'नसीहतनामा' (सरयू प्रसाद), 'नीतिचन्द्रिका', 'नीतिशतक' (शिवसम्पति), 'नीतिसार', 'नीतिशतक' (रमानाथ), 'हरिऔध सतसई', 'दिव्य दोहावली' (हरिऔध), 'सदाचारसोपान' (दयाशंकर मिश्र), 'नीतिदर्पण' (मीर), 'नीतिरत्नमाला', 'नारी-नीति' (रूपनारायण पाण्डेय), 'सिरस नीतिसतसई' (शिव-रत्न शुक्ल 'सिरस'), 'सुविचार सतसई' (रामस्वरूप मिश्र) इत्यादि के नाम गिनाये जायँगे। साथ ही अन्यविषयक रचनाओं—जैसे 'करुण सतसई', 'वीर सतसई', 'किसान सतसई', 'मोहन सतसई', 'दुलारे दोहावली', 'राजेश सतसई', 'टेकचन्द सतसई', 'भारत-भारती' इत्यादि—में नीतिविषयक छन्द काफी मात्रा में आये हैं। इनके अतिरिक्त अनेक कवियों ने फुटकर रूप से नीति के पद्यों की रचनाएँ की हैं। हाँ, छायावादी काव्यधारा के पनपने से नीतिकाव्य की धारा के क्रम में ह्रास आ गया है। प्रत्नाधुनिक धारा में राष्ट्रीयता, विश्वबन्धुत्व, मानवता इत्यादि की बातें नीति के अन्तर्गत ही आयँगी। इस युग के नीतिकाव्य के सर्वेक्षण के पश्चात् कहा जायगा कि यहाँ परम्परागत नीति की उक्तियाँ कम हैं। आज के युग में परिवर्त्तित जीवन के अनुसार नीति के विषयों में पर्याप्त परिवर्त्तन हो चुके हैं। साथ ही, आज का नीतिकाव्य पिछले नीतिकाव्यों से कहीं अधिक काव्योचित भी हो गया है।

हिन्दी नीतिकाव्य का उपर्युक्त संक्षिप्त ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् संक्षेप में इसके प्रतिपाद्य विषयों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। प्रतिपाद्य विषय के अनुसार हम नीतिकाव्य को पीछे छः भागों रख चुके हैं— धर्म और आचार, समाज और व्यवहार, राजनीति, नारी, सामान्य ज्ञान और विश्वास। नीतिकाव्यों में धर्म और आचार के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार मिलते हैं—सार्वकालिक और तात्कालिक। इनमें धर्म, भक्ति, आत्मशुद्धि, खान-पान इत्यादि पर ही अधिक विचार मिलते हैं। इस सम्बन्ध में कबीर और तुलसी की वातें ही अधिक टकसाल समझी जाती हैं। यों दादू, रैदास, नानक इत्यादि की बातें भी चलती हैं। ऐसी उक्तियाँ भक्तिकाल में ही अधिक हैं। शृंगारकाल में सूरदास, चरणदास आदि की वातें ऐसी ही हैं। आधुनिक युग में इस प्रकार की नीतियों की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत कम हुई है।

समाज और व्यवहार का क्षेत्र इतना विशाल है कि इसके अन्तर्गत जाति, परिवार, पड़ोसी, शत्रु, मित्र, जन्म, मृत्यु, जवानी, बुढ़ापा, भूख, श्रम, धन, कृपणता, ऋण, सन्तोष, लोभ, चिन्ता, चुगली, आत्मश्लाघा इत्यादि सभी बातें आ जाती हैं। इस सम्बन्ध में तुलसी, देवीदास, नरहरि, रहीम, गंग, टोडरमल, वृन्द, घाघ, गिरिधर, बिहारी इत्यादि की उक्तियाँ अधिक सटीक हैं।

राजनीतिविषयक नीति का निरूपण सामान्य ही अधिक है, शास्त्रीय और वैज्ञानिक कम। अर्थनीति, युद्धनीति आदि अनेक प्रकार की नीतियाँ इसी के अन्तर्गत आ जाती हैं। राजा, दंड, न्याय, शासन, कर, व्यय, शत्रु, मित्र, मंत्री इत्यादि से ही सम्बद्ध बातें यहाँ मिलती हैं। तुलसी, देवीदास, विश्वनाथ सिंह, घाघ, छत्रसाल, लक्ष्मणदास इत्यादि की उक्तियाँ राजनीति के सम्बन्ध में ही हैं। यहाँ भी तात्कालिक नीति ही अधिक है, सार्वकालिक कम।

नारीविषयक नीतिपरक उक्तियों को दो वर्गों में रख सकते हैं — संतों और भक्तों की उक्तियाँ तथा अन्य लोगों की उक्तियाँ। प्रायः संतों की उक्तियाँ धर्मभावना से ओतप्रोत होने के कारण अधिक एकांगी हैं। सच पूछा जाय तो कहा जायगा कि नारी के सम्बन्ध में आधुनिक युग की उक्तियाँ ही अधिक सटीक हैं, पिछली अधिकांश उक्तियाँ तात्कालिक ही हैं।

सामान्य ज्ञान के अन्तर्गत स्वास्थ्य, कृषि, ऋतु, धन, जवानी, गुण इत्यादि के सम्बन्ध में कही जाने वाली नीतियाँ आयँगी। वस्तुतः इस प्रकार की नीतियाँ कम लोगों ने कही हैं। हाँ, इस सम्बन्ध में घाघ और भड्डरी की उक्तियाँ ही अधिक सार्वकालिक बन सकी हैं।

विश्वास के अन्तर्गत रीति-रिवाज, शकुन आदि से सम्बद्ध नीतियाँ आयँगी। इस क्रम में घाघ और भड्डरी के पश्चात् चरणदास का नाम लिया जायगा। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक कवियों ने भी सामान्य रूप से इस सम्बन्ध में अनेक बातें कही हैं। वस्तुतः इन उक्तियों में शास्त्रीयता और वैज्ञानिकता की अपेक्षा लोकप्रचलित अंधविश्वास का ही आधार अधिक दीखता है; पर कुछ बातें पूर्ण अनुभव के आधार पर भी कही गयी हैं।

हिन्दी नीतिकाव्य के सम्बन्ध में अन्त में दो-एक बात और रह जाती है। वह यह कि इस काव्य ने मूलतः दो प्रकार की शैलियाँ अपनायी हैं— पद्यात्मक और सूक्त्यात्मक। प्रथम शैली की ही प्रधानता हिन्दी में अधिक है। कबीर, तुलसी, देवीदास, घाघ, वृन्द, रहीम इत्यादि की शैली पद्यात्मक ही कही जायगी। सूक्त्यात्मक शैली के अन्तर्गत काव्यात्मकता अपेक्षाकृत अधिक है। दूसरे ढंग से विचारने पर इसकी तीन शैलियाँ— उपदेशात्मक, अन्योक्तिपरक और सूक्त्यात्मक— मानी जायँगी। अन्योक्तिशैली **'सूगर-कोटेड पिल्स'** के समान है।

हिन्दी नीतिकाव्यों में अलंकारों के प्रयोग प्रायः अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिये ही माने जायँगे। सर्वाधिक प्रिय अलंकार रहा है अन्योक्ति। अन्य अलंकारों में उदाहरण, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, लोकोक्ति, विशेषोक्ति, विनोक्ति इत्यादि ही प्रमुख हैं।

भाषा की दृष्टि से विचारने पर पता चलता है कि अधिकांश रचनाएँ ब्रजी में हैं। अवधी, डिंगल और खड़ीबोली के प्रयोग आनुषंगिक ही माने जायँगे। रहीम, टोडरमल, वीरबल, रत्नावली की रचनाएँ ब्रजी में; तुलसी, नरहरि आदि की अवधी में; बाँकीदास की डिंगल में; संत आदि तथा आधुनिक कवियों की रचनाएँ खड़ीबोली में मिलती हैं। इनमें मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रचुर प्रयोग मिलते हैं।

छन्दों की दृष्टि से दोहा और कुण्डलिया हिन्दी नीतिकाव्य के लाड़ले छन्द हैं। सच पूछा जाय तो नीतिकाव्य के लिए अधिक सटीक छन्द दोहा ही है। कुण्डलिया की शोभा अन्योक्ति पर ही अधिक निर्भर करती है। इन दोनों छन्दों के अतिरिक्त छप्पय, सोरठा, कवित्त, सवैया, चौपाई इत्यादि के प्रयोग भी मिलते हैं।

एक बात और। काव्य की सफलता विषय पर कम, अनुभूति की सचाई और मार्मिकता पर अधिक निर्भर करती है। अस्तु, विषय चाहे किसी भी प्रकार का हो, उत्तम-से-उत्तम काव्यों की रचना की जा सकती है। हिन्दी नीतिकाव्य के सर्वेक्षण और विश्लेषण से स्पष्ट है कि इसकी एक सुदीर्घ परम्परा रही है। यों तो कुछ कवियों को नीतिकाव्य की रचना में सफलता मिली है, अधिकांश 'पद्यकार' अथवा 'सूक्तिकार' की ही सीमा में रह गये हैं; पर सम्भवतः हिन्दी का शायद ही कोई ऐसा कवि निकल जाय जिसने अपनी रचना में नीतिपरक उक्तियाँ नहीं कही हों। नीति की कुछ बातें तो ऐसी हैं जो प्रायः सब में समान रूप से पायी जाती हैं। इतना होते हुए भी नीतिकाव्यकारों में महत्त्व वैसे ही लोगों का है जिन्होंने तथ्यकथन से अधिक ध्यान काव्यात्मकता पर दिया है। यहाँ एक बात ध्यान में अवश्य रहे कि विषयवस्तु का चुनाव भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता है। अस्तु, यह भी स्पष्ट है कि रसकाव्य की तरह ही सामान्य रूप से नीतिकाव्य उतना ही रसाश्रित नहीं हो सकता है। नीतिकाव्य में रसकाव्य की ही सरसता और मार्मिकता खोजना भी थोड़ी भूल ही है। फिर भी हम इसके महत्त्व को भुला नहीं सकते। कबीर, रहीम, तुलसी, घाघ, बैताल, भड्डरी, गिरिधरदास इत्यादि के अधिकांश कथन नीतिपरक होने के कारण ही हमारे चिर-साथी बन सके हैं। अस्तु, इस काव्य का भी जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

४३

हिन्दी काव्य में हास्य-व्यंग्य

[हास्य का महत्त्व—हास्य का शास्त्रीय विवेचन—व्यंग्य—हिन्दी में हास्य साहित्य की कमी—हिन्दी में हास्य-व्यंग्य]

हँसना और रोना, सुख और दुःख प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है। जिसने जीवन में खुलकर हँसना नहीं सीखा, उसका जीवन बेकार है। बाबू गुलाबराय के अनुसार कहा जायगा कि "जो मनुष्य अपने जीवन में कभी नहीं हँसा उसके लिये रम्भाशुकसंवाद की शब्दावली में कहना पड़ेगा कि 'वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम्'।" जिस प्रकार लवण भोजन को सुस्वादु बनाता है, उसी प्रकार हँसी भी जीवन को आनन्दमय बनाती है। यह जीवन को जायकेदार बनाने वाली चटनी के समान है। हँसना एक प्रकार का आवश्यक व्यायाम-सा है। वस्तुतः जो पूर्णतः पकठा गया है, जीवन में फैल-सिकुड़ नहीं सकता, उसका जीवन भार ही समझिए। हँसने की क्रिया से श्वासोच्छ्वास में तीव्रता आ जाती है। इससे श्वासोच्छ्वास से सम्बद्ध अवयवों और शरीर के रक्तप्रवाह पर उत्तम प्रभाव पड़ता है। हमें कहना चाहिए कि हास्य जीवन के लिए सबसे बड़ी प्राकृतिक देन है। प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति के लिए हास्यविनोदशीलता आवश्यक गुण भी माना जाता है। विनोदी व्यक्ति शीघ्र ही अपना स्थान लोगों में बना लेते हैं। कभी-कभी हास्य-विनोद बिगड़े व्यक्तियों को सुधारने में 'सूगर-कोटेड पिल्स' का भी काम करता है। यह किसे पता नहीं है कि शेक्सपीयर ने शाइलॉक का निर्माण कर सूदखोरों का हुलिया ही बिगाड़ दिया और मौलियर ने पैके और मरफूरिए के चरित्रों द्वारा तत्त्वज्ञानियों के तत्त्वज्ञान का पोस्टमार्टम ही कर डाला है। आज हमारे बीच से जब विनोदी मित्र दो-चार दिनों के लिए अलग हो जाते हैं, तो उनकी कमी हमें कचोटती रहती है। अस्तु, स्पष्ट है कि हास्य का जीवन में विशिष्ट स्थान है। कार्लाइल ने हास्य-विनोद की महत्ता स्थापित करते हुए ठीक ही कहा है—"No man who has once wholly and heartily, can be altogether irrecli-mably bad. In cheerful souls, there is no evil". निश्चय ही हास्य मानव को स्वभाव से सरल तो बनाता ही है, उसमें कष्ट सहने की क्षमता भी प्रदान करता है। विनोदी व्यक्ति जीवन में गम्भीर समस्या आ जाने पर कम ही घबराते देखे जाते हैं। अब जरा आप ही सोचिए, जो वस्तु जीवन के लिए इतनी

उपयोगी है, भला साहित्य में उसे स्थान क्यों नहीं मिलता !

हास को स्थायीभावों में स्थान देकर भारतीय आचार्यों ने हास्य के महत्त्व का अंकन प्रारम्भ में ही कर लिया था। 'शृंगाराद्भवेद् हासः' के अनुसार हास की उत्पत्ति शृंगार से मान्य है। धनंजय के अनुसार कहा जायगा कि 'विकृताकृति-वाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा' के अनुसार 'असंगति' अथवा 'विकृति' ही हास्य की मूलात्मा है। खुलासे रूप में कहा जायगा कि असंगत वेशभूषा, वचन आदि वाले व्यक्ति (आलम्बनविभाव) को देखने से उद्‌बुद्ध; उसकी असंगत वेशभूषा, वचन आदि के दर्शन, श्रवण आदि से (उद्दीपनविभाव) उद्दीप्त; आलस्य, चपलता, अवहित्था इत्यादि (संचारियों) से परिपुष्ट एवं मुख के फैलने-सिकुड़ने, आँखों के मींचने आदि (अनुभावों) से परिव्यक्त सामाजिक का हास (स्थायीभाव) का ही हास्यरस की पूर्ण-दशा प्राप्त करता है। सामान्य स्थिति में व्यत्यय या व्यतिक्रम का उपस्थित होना ही असंगति है। असंगति अथवा विकृति चाहे किसी भी प्रकार की क्यों न हो, प्रत्येक में गुदगुदी का संचार करती ही है। यह गुदगुदी ही हास्य को जनमाती है। यह स्वस्थ मन का सहज उद्‌गार है। हॉब्स, हरबर्ट, बर्गसाँ, फ्रायड इत्यादि ने हास्य पर मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार किया है। इन लोगों ने सामान्यतः असंगति को ही हास्य का प्रेरक माना है। स्पेन्सर ने तो स्पष्टतः असंगति के निरीक्षण को ही हास्य का आलम्बन स्वीकार किया है। हास्य के आलम्बन में असंगति के साथ विद्रूपता का समुचित सामंजस्य अनिवार्य है।

भारतीय आचार्यों ने हास्य के दो भेद स्वीकार किये—आत्मस्थ और परस्थ। स्वतःप्रस्फुटित हास्य ही आत्मस्थ है और जहाँ अन्यों की हँसी देख हँसी उत्पन्न हो वहाँ परस्थ। आगे चलकर आत्मस्थ और परस्थ के क्रमशः स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित—छह और भेद स्वीकार किये गये हैं। इन भेदों के मूल में हास्य की न्यूनाधिक मात्रा ही निहित है। हँसी की हलकी छाया कपोलों के निचले भाग पर ही रहने पर, कटाक्षसौष्ठवसमन्वित रहने पर, दाँत नहीं दीखने पर स्मित; कपोलों-पर पूर्णतः हँसी बिखर जाने पर, दाँत आदि कुछ-कुछ दीखने पर, मुख-नेत्र अधिक उत्फुल्ल हो जाने पर हसित; मुख पर लालिमा फैल जाने पर, मधुर स्वर निःसृत होने पर, आँख-कपोल आदि के आकुंचित होने पर विहसित; नाक फूल जाने, सिर-कन्धे आदि के सिकुड़ने, दृष्टि में कुटिलता के आने आदि पर उपहसित; असमय हँसने, हँसते हुए आँखों में आँसू आ जाने पर अपहसित और हँसने के कारण तीव्रता से आँसू आ जाने, चिल्लाहट का स्वर होने, हाथों को दबाने, अंगों को झटकार कर हँसने पर अतिहसित हास्य माने गये हैं। आचार्य केशवदास ने चार प्रकार के हास्य—मन्दहास, कलहास, अतिहास और परिहास—का उल्लेख किया है। एक दूसरे प्रकार से हास्य के तीन भेद किये गये हैं—दिव्य,

किन्नरी और विद्याधरी। स्वतः उत्पन्न होकर सब को प्रमुदित करने वाला हास्य दिव्य, कौतुकजन्य हास्य किन्नरी और दूसरों को समझाने-सुधारने वाला हास्य विद्याधरी के नाम से जाना जाता है। ऐसा कहा जायगा कि हास्य के प्रथम छह भेदों की कल्पना मात्रा के आधार पर और द्वितीय तीन भेदों की कल्पना सात्त्विक आधार पर हुई है।

हास्य के अन्तर्गत ही है व्यंग्य। हिन्दी काव्य में हास्य की अपेक्षा व्यंग्य ही अधिक मुखर है। अधिकांश कवियों ने व्यंग्य को ही स्थान दिया है। व्यंग्य के मूल में असंगति नहीं, असन्तोष है। हाँ, चाहें तो असंगति अथवा विकृति को असन्तोष के अन्तर्गत ही रख सकते हैं। इसमें हँसी की सरलता नहीं रहती है। हास्य गुदगुदी उत्पन्न करता है और व्यंग्य काटता-कुरेदता है। कभी व्यंग्य की गति वक्र भी होती है और कभी सरल भी; पर असल में वक्रता ही व्यंग्य की जान है। भारतीय आचार्यों ने व्यंग्य पर प्रायः नहीं के बराबर विचार किया है। पाश्चात्य साहित्यिकों ने गूढ़ (Irony), प्रत्यक्ष (Satire), वैयक्तिक (Sarcasm), आसुरी (Diabolical) दार्शनिक (Sardonism) इत्यादि व्यंग्य के भेदों-प्रभेदों की चर्चा की है। हिन्दी में उपर्युक्त भेद खोजने पर मिल तो जाते हैं; पर वे उदाहरण के लिए ही हैं। यहाँ उनका विस्तार नहीं मिलता है। साथ ही, शास्त्रीय विवेचन भी नहीं मिलता है।

हिन्दी की बात तो जाने दीजिए, प्रायः समस्त भारतीय साहित्य के पर्यालोचन से यह पता लगता है कि यहाँ हास्यरस के उदाहरण शास्त्रीय विवेचनों के क्रम में ही प्रायः मिलते हैं। कवियों ने अलग से हास्यरस की कविताएँ नहीं के बराबर ही लिखी हैं। इस कमी के कारणों पर विचार करने वालों ने भारतीय दर्शन के अद्वैतवाद की ओर निर्देश किया है। डॉ० नगेन्द्र इसी मत को मानते हैं। वस्तुतः अद्वैतवाद शुद्ध हास्य का बाधक अपेक्षाकृत कम है। हाँ, व्यंग्य और वक्रोक्ति (Satire & Irony) के लिए यह अधिक बाधक दीखता है। हास्य और भावुकता दो विरोधी वस्तुएँ हैं। भावुकता भी हास्यसृजन के लिए बाधक ही है। अपेक्षाकृत रूक्ष और व्यावहारिक प्रकृति वाले लोग ही हास्य की सर्जना कर सकते हैं। हमारे यहाँ रागी और विरागी, शृंगारी और शान्त प्रकृति के लोग ही अधिक हो सके हैं। इसी से हास्य को नहीं, हर्ष को ही अधिक स्थान मिला है। प्रसादजी कहा करते थे कि हास्यपरक कविताओं का सम्बन्ध मनोरंजिनी वृत्ति से है। चूँकि भारतीय जाति हजारों वर्षों से पराधीन चली आ रही है, इसी से हँसने-हँसाने की भावना लुप्त-सी हो गयी है। हास्य की कमी का बड़ा महत्त्वपूर्ण कारण माना गया है, परिस्थिति। परिस्थिति के सम्बन्ध में डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा लिखते हैं—"भारत जैसे देश में, जहाँ युद्ध की विभीषिका पश्चिम के देशों जैसी नहीं है, अन्य प्रकार की विकट समस्याएँ हैं जिनके कारण अधिकांश मनुष्यों का

जीवन दिन-रात चिन्ताग्रस्त बना रहता है। जिस समाज में अधिकांश स्त्री-पुरुष अनशन, अर्धाशन, रोग, शोक, महामारी इत्यादि विपदाओं से विपन्न हों, जहाँ शिक्षित कर्मठ युवक काम नहीं मिलने के कारण चोरी, डकैती जैसे दुष्कर्म करने के लिए बाध्य हों, जहाँ माता की आँखों के सामने उसकी सन्तान आहार के अभाव में तिल-तिल कर दम तोड़ दे, युवतियाँ पेट के लिए सतीत्व का विक्रय करें, पिता अपने बच्चों को अनाथावस्था में छोड़कर भाग जायँ, वहाँ के इस निष्ठुर, निष्करुण, रूढ़ वातावरण के बीच हास्य के उपादान कहाँ से जुटाये जा सकते हैं?" उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि हिन्दी में स्वस्थ हास्यसाहित्य के सृजन के लिए अनुकूल वातावतण का अभाव-सा है। अतः, अन्ततः हमें आचार्य शुक्ल की बात माननी पड़ती है कि "शिष्ट और परिष्कृत हास्य का जैसा सुन्दर विकास पाश्चात्य साहित्य में हुआ है, वैसा अपने यहाँ अभी नहीं दिखाई दे रहा है।" पश्चिम में हास्यसाहित्य कई रूपों में उपलब्ध है। वहाँ हास्य की प्रेरक वस्तुओं को आधार मानकर साहित्याचार्यों ने स्मित (Humour), वाक्छल (Wit), व्यंग्य (Satire), वक्रोक्ति (Irony), प्रहसन (Farce) इत्यादि अनेक भेद किये हैं। अँगरेजी साहित्य के प्रभाव के कारण आधुनिक हिन्दी कविता में प्रायः ये सभी रूप उपलब्ध हो जाते हैं।

यद्यपि भारतीय साहित्य में हास्य के लिए विरोधी वातावरण ही प्रमुख रहा है, फिर भी अतिप्राचीन काल से हास्य की उपलब्धि यहाँ मिलती है। मूलतः शृंगार, वीर और करुण रस की अभिव्यक्ति यहाँ सदा से प्रमुख रही है; पर विदूषकों को भोजनभट्ट अथवा भीरु आदि के रूप में नाटकों में बराबर स्थान मिला है। वैदिक साहित्य में वेदपाठियों की तुलना मेढ़कों से की जाती रही है। खाओ, पीओ और मौज करो की भावना का प्रतिपादन चार्वाकदर्शन में हास्य का विषय रहा है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

वाल्मीकीय रामायण एवं महाभारत में भी अनेक स्थलों पर परिस्थितिजन्य हास्य के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। नाटक-साहित्य में विदूषक हास्य की नियोजना के लिए ही रखे गये हैं। भारतीय विदूषकों की तुलना में सम्भवतः कोई दूसरा भोजनभट्ट खोजना मुश्किल ही है। हास्य के ललित उदाहरण सुभाषितों में यत्र-तत्र मिलते हैं। दामाद की दसवें ग्रह के रूप में कल्पना करना हास्य का सुन्दर उदाहरण बन सका है—

सदा वक्रः सदा क्रूरः सदा पूजामपेक्षते।
कन्याराशिस्थितो नित्यं जामाता दशमो ग्रहः॥

यहाँ दामाद को दसवाँ ग्रह कहा गया है, चूँकि वह सदा वक्र और क्रूर रहता है। वह पूजा तो सदा चाहता ही है, कन्याराशि पर भी सदा स्थित रहता है।

संस्कृत में शुद्ध हास्य के इसी प्रकार अनेक उदाहरण खोजे जा सकते हैं। संस्कृत में हास्यरस के आलम्बन में मूर्ख, कंजूस आदि तो रहे ही हैं, देवकोटि में महादेवजी भी अपने स्वरूपवैलक्षण्य और विरोधी मण्डली के कारण प्रधान आलम्बन बनते रहे हैं। इनके पारिवारिक वैलक्षण्य के कारण ऐसी अनेक प्रकार की उक्तियाँ कही गयी हैं, जिनसे हास्य का सृजन होता है—

स्वयं पञ्चमुखः पुत्रौ गजाननषडाननौ।
दिगम्बरः कथं जीवेदन्नपूर्णा न चेद्गृहे ॥

इतना होने पर भी यह कहना ही पड़ेगा कि संस्कृत साहित्य में हास्य की उक्तियाँ प्रासंगिक ही हैं। इसका सम्यक् विकास वहाँ नहीं मिलता है।

हिन्दी में हास्यपरम्परा पर विचार करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने कहा है कि "हिन्दी ने जहाँ संस्कृत-प्राकृत की रीति-नीति उत्तराधिकार में प्राप्त की, वहाँ हास्य की सामग्री भी थोड़ी-बहुत अपनायी। परन्तु धीरे-धीरे सभ्यता और समाज में परिवर्त्तन होते रहने के कारण हिन्दी का हास्य उसके शृंगार की भाँति उसी परम्परा का अन्धानुयायी न रह सका और उसका जो यत्किंचित् विकास हुआ वह स्वतंत्र ही हुआ।" यह सच है कि हास्य के विकास के लिए हिन्दी में प्रारम्भिक समय से ही कम ध्यान दिया गया है। तत्कालीन सामन्तों के आपसी द्वन्द्व, बाहरी आक्रमण, पराजय आदि ने हमें इस योग्य भी रहने न दिया कि हम एक साथ मिल कर बैठ सकते और दिल खोल कर हँस-बोल सकते। आज भी हमारी शिक्षा ही कुछ ऐसी है कि वह रटंत-पढ़ंत पर अधिक ध्यान देती है और खेलों को महत्त्वहीन मानती है। फिर भी-जब कभी वातावरण थोड़ा अनुकूल हुआ है, देवन मिसिर, गोनू झा और बीरबल जैसे व्यक्ति यहीं उत्पन्न होते रहे हैं।

हिन्दी कविता में हास्य की झलक तथाकथित प्रथम कवि चन्द में ही मिलती है। जयचन्द के दरबार में चन्द से पूछे गये इस प्रश्न— 'मुह दरिद्र अरु तुच्छ तन, जंगल राव सुहद्द, बन उजार पशु तन चरन क्यों दूबरो बरद्द'—के उत्तर में चन्द का यह कथन वाक्छल का सुन्दर उदाहरण बन गया है—

चढ़ि तुरंग चहुआन, आन फेरीत परद्धर।
तास जुद्ध मंड्यो, जास जानयौ सबर बर।
केइक तकि गहि पात, केइ गहि डारि मूर तरु।
केइक दंत तुछ तिन्न, गए दस दिसनि भाज डर॥
मुंअ लोकत दिन अचिरज भयौ, मानसबर बर मरद्दिया।
प्रथिराज पलन पद्धौ जु षर, सु यों दुब्बरो बरद्दिया॥

खड़ीबोली काव्य के प्रणेता खुसरो की मुकरियों में हास्य का परिष्कृत रूप मिलता है। इनमें फारसी काव्य के हास्य की सूक्ष्मता और चुलबुलेपन का स्वरूप वर्त्तमान है—

श्याम बरन और दाँत अनेक, लचकत जैसे नारी।
दोनों हाथ से खुसरो खींचे, और कहे तू आरी॥

इसी समय मागधी काव्य के प्रणेता कविकोकिल विद्यापति 'कूटनी नारी' के गीत लिख रहे थे, जिनमें व्यंग्य का सम्भावित रूप स्थिर करने में वे संलग्न थे। 'पिया मोरा बालक हम तरुनी' वाले पद में व्यंग्य उस समय चरम सीमा पर आ जाता है जब नारी कह उठती है—

कहिहुन बाबा के किनए धेनु गाय।
दुधवा पिलाय के पोसतन जमाय॥

इसी प्रकार 'छद्मविलास' में 'जटला' सास को मूर्ख बनाना, महादेवजी की गृहस्थी में हास्य की सामग्री खोज लेना आदि विद्यापति के प्रिय विषय हैं। इसके पश्चात् सफल व्यंग्यकार के रूप में कबीर के दर्शन होते हैं। कबीर की व्यंग्योक्तियाँ चुटीली कम हैं। इनमें तिक्तता ही अधिक है। हिन्दू और मुसलमानों के मध्य प्रचलित बाह्य आडम्बर ही इनके आलम्बन हैं—

१. पाहन पूजे हरि मिलैं तो मैं पूजौं पहार।
२. मन न रँगाए रँगाए जोगी कपड़ा।
३. मस्जिद भीतर मुल्ला पुकारे क्या तेरा साहब बहरा है।

सगुण भक्तों में सूर अपेक्षाकृत अधिक विनोदी प्रकृति के हैं। वात्सल्य और शृंगार के बीच-बीच हास्य का जितना सुन्दर समावेश इन्होंने किया है, शायद अन्यत्र दुर्लभ है। कृष्ण माखन चुरा रहे हैं। घर की मालकिन गोपी आकर पूछती है—'श्याम कहा चाहत से डोलत ?' ऐसे अवसर पर कृष्ण का वाक्छल कितना सुन्दर बन पड़ा है—

मैं जान्यो ये घर अपनो है या धोखे में आयो।
देखत ही गोरस में चींटी काढ़न को कर नायो॥

ऊधो को देखते ही गोपियाँ कह उठती हैं—

आए जोग सिखावन पाँड़े।
परमारथी पुरानन लादे ज्यों बनजारे टाँड़े॥

यहाँ स्मित हास्य (Pure humour) कितना सुन्दर बन पड़ा है। इसी प्रकार 'मैया मैं नाहीं दधि खायो; ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो' और 'काँचो दूध पियावत पचि-पचि देत न माखन-रोटी' में हास्य-विनोद का सरल किन्तु सुन्दर स्फुरण है। व्यंग्य तो सूरदास ने भी लिखे; पर इनके व्यंग्य कबीर की तरह काटते नहीं हैं। इनके व्यंग्य में विनोद की मिठाई मिली रहती है। भोली गोपियों

द्वारा निर्गुण ब्रह्म का पता-ठिकाना पूछना, कृष्ण को आलम्बन बनाकर जली-कटी सुनाना आदि ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ सूर के व्यंग्य दर्शनीय हैं। व्यंग्य में विनोद और हृदय की रागात्मकता के मिश्रण से चुभन की मात्रा बढ़ जाती है—

१. वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे।
तुम कारे सुफलक सुत कारे, कारे मधुप भँवारे॥
२. जो पै भले होत कहुँ कारो तो कत बदलि सुता लै जात।

और, तब आते हैं तुलसी। ये तो लोकनायक ही थे; फिर हास्य जैसे सरस रस को छोड़कर निकल कैसे सकते थे! इन्होंने मानस, कवितावली, विनयपत्रिका इत्यादि में यथास्थल हास्य का सुनियोजन किया है। मानस में खलवन्दना, पार्वतीपरीक्षा, शिवविवाह, नारदमोह, कपटी मुनि, परशुराम-लक्ष्मण-संवाद, केवटप्रसंग इत्यादि अनेक स्थलों पर हास्य की सुन्दर योजना हो सकी है। खलवन्दना और शिवविवाह-प्रसंग में कवि ने जी-भर कर लिखा है। खलवन्दना का प्रारम्भ ही है चिकोटी से—'बहुरि बन्दि खल गण सति भाए'—खलों की वन्दना और वह भी सच्चे भाव से! है न गहरी चुटकी! और, फिर आगे का क्या कहना— मानो तुलसी लँगोट कस कर अखाड़े में आ गये हैं, एक-एक चौपाई में खलों को पटकनिया देते चलते हैं और अन्त में तो, सच मानिए, पूछ ही बैठते हैं—'कहो, कैसा रहा?'

दूसरा अखाड़ा है पार्वती की परीक्षा। परीक्षक हैं सप्त-ऋषि। परीक्षा तो आई॰ ए॰ एस॰ से भी बढ़कर ही समझिए। परीक्षा का विषय भी अजीब है—बौराहे वर का चुनाव। पार्वती पहले से ही तैयार बैठी हैं, पहली ही बार बोल उठती हैं— 'देखहु मुनि अविवेक हमारा, चाहिय सदा शिवहिं भरतारा'। यहाँ 'अविवेक' शब्द सोद्देश्य है। सप्तर्षि 'अविवेक' पर जम जाते हैं—खूब बतकही होती है। नारद द्वारा लगायी गयी आग और पार्वती की मूर्खता की चर्चा भी खूब करते हैं; पर नारद के लिए जब 'मन कपटी तन सज्जन चीन्हा' कहते हैं तो मानो यह पंक्ति सप्त-ऋषियों पर ही सटीक बैठती है और यहाँ पाठक बिना हँसे नहीं रह पाता है।

शिवविवाह की तो मत पूछिए। यहाँ तो तुलसी ने पाठकों को लोटपोट करने का ठीका ही ले लिया है। बौराहे वर की बारात भी वैसी ही है। एक ओर देवताओं की टोली— सुन्दर विमान, वाहन, साज, शकुन इत्यादि हैं; दूसरी ओर दूल्हा—जटाधारी, साँप ही मुकुट, साँप के ही कंगन, राख का उबटन, कमर में बाघम्बर, गले में नरमुण्डों की माला, हाथ में त्रिशूल और सवारी बैल की। भला, ऐसे बौराहे वर को देखकर लोग क्यों न मुस्कुराएँ— 'देखि शिवहिं सुरतिय मुसुकाहीं'। भला, इस वर के साथ कौन चलता? देवताओं ने असहयोग कर दिया, बेचारे शिव ने अपना गण तैयार किया—

नाना वाहन नाना भेषा······ ।
× × × ×
कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू, बिनु पद कर कोउ, बहु पद बाहू ।

भूत-प्रेतों की सेना ही खड़ी हो गयी है । इसे कौन देखना चाहे ?— 'जो जियत रहहिं बरात देखत, पुण्य बड़ तेहि कर सही' ।

'विनयपत्रिका' में 'बावरो रावरो नाह भवानी' वाले पद में भी तुलसी ने शंकर को हास्य का आलम्बन बनाया है । 'कवितावली' में विन्ध्यवासी उदासी तपस्वियों को आलम्बन बनाकर लिखा गया पद भी हास्यरस का उत्तम उदाहरण है । सामान्य रूप से कहा जायगा कि तुलसी की प्रतिभा हास्यरस की ओर खूब जमी है; पर चूँकि ये शीलनिरूपक कवि थे, इनका साध्य कुछ और था, इसी से ये अति से बचकर आगे बढ़ गये हैं । हाँ, इन्होंने जो कुछ लिखा है, वही अन्यतम है अवश्य ।

शृंगारकाल रंगीनियों का काल है । इस समय लोग शृंगार की सरस उक्तियों की तरास-मठार कर रहे थे । हास्य के लिए यहाँ काफी जगह थी, फिर भी इसका विकास रुका ही रहा है । इस काल के प्रस्तावक कवि आचार्य केशवदास पक्वकेश वृद्ध होने पर भी रसिकता का परिचय देते हुए दीखते हैं—

केशव केसनि अस करी, जस रिपुहूँ न कराहिं ।
चन्द्रबदनि मृगलोचनी, बाबा कहि-कहि जाहिं ।।

इसे शृंगार पर हास्य का चकमक गोटा माना जा सकता है; पर इसमें भी मौलिकता की अपेक्षा पिष्टपेषण ही है । केशव की उपर्युक्त उक्ति संस्कृत के इस सुभाषित का अनुवाद ही है—

आपाण्डुराः शिरसिजास्त्रिवली कपोले दन्तावलिर्विगलिता न च मे विषादः ।
एणीदृशो युवतयः पथि मां विलोक्य तातेति भाषणपराः खलु वज्रपातः ।।

यह एक रँगीले वृद्ध की उक्ति है— "क्या करें ? सिर के बाल सफेद हो गये, गालों पर झुर्रियाँ पड़ गयीं, दाँत टूट गये; पर दुख इन बातों का नहीं; जब रास्ते में चलते समय मृगनयनी स्त्रियाँ मुझे पूछतीं हैं— बाबा, किधर चले ? तो उनका यह पूछना ही मेरे सिर पर वज्र की तरह गिरता है ।"

पूर्ववर्त्ती साहित्य की तरह ही शृंगारकाल में हास्य के आलम्बन महादेव ही रहे हैं । हाँ, महादेव के अतिरिक्त कंजूस और नपुंसक भी यहाँ हास्य के आलम्बन बने हैं । कंजस धन का न तो दान करता है और न उसे भोगता ही है । उसका धन सदा नष्ट होता है । अस्तु, कंजूसों की इस काल में खूब खबर ली गयी है । नपुंसकों में भी हास्य की सामग्री मिलती रही है । वैद्यजी को आलम्बन मानकर लिखा गया यह दोहा बिहारी के हास्य का सुन्दर उदाहरण है—

बहु धन लै अहसानु कै, पारो देत सराहि ।
बैद बधू हँसि भेद सौं, रही नाह मुँह चाहि ।।

नपुंसक वैद्यजी यदि दूसरों को पुंसत्व की गोलियाँ दें, तो इससे बढ़कर हँसी का विषय और क्या होगा !

अलंकारों की कचूमर निकालने वाले कवि भूषण ने मुगल शाहजादियों को हास्य का आलम्बन बनाया है—

कंद मूल भोग करैं, कन्द मूल भोग करैं।
तीन बेर खाती थीं, सो तीन बेर खाती हैं।।

इस काल में प्रायः अच्छे कवियों ने हास्य पर लेखनी नहीं उठायी है। लक्षणलक्ष्यनिरूपण में इसके उदाहरण भर ही दिये हैं। सम्भवतः इसका कारण यह रहा है कि ये कवि हास्य को निकृष्ट मानते रहे हैं। अपने को उत्तम कवि बनाये रखने के चक्कर में ही ये भड़ौओं से बचते रहे हैं। बेनी कवि के भड़ौए (Satire) इस युग में खूब प्रसिद्ध हुए हैं जिनमें उन्होंने कंजूस को आलम्बन बनाया है—

चींटी न चाटत मूस न सूँघत, माछी न बास ते आवत नेरे।
आनि धरे जब ते घर में, तब ते रहे हैजा परोसिन घेरे।
माटिहु में कुछ स्वाद मिलै, इन्हें खाय सों ढूँढत हर्र-बहेरे।
चौंकि उठ्यौ पितुलोक में बाप, ये आपके देखि सराध के पेरे।।

यहाँ पिता के श्राद्ध में कृपण द्वारा दुर्गन्धियुक्त पेड़े भेजने पर कवि ने उसकी खूब खबर ली है। इस समय हास्यरस की कविता लिखने में श्री अली मुहीब खाँ 'प्रीतम' का नाम अधिक ऊँचा है। इन्होंने खटमल को आलम्बन मानकर 'खटमल-बाईसी' नामक स्वतंत्र पुस्तक की ही रचना कर डाली है—

बाघन पै गयो, देखि बनन में रहे छपि, साँपन पै गयो, ते पताल ठौरि पाई है।
गजन पै गयो, धूल डारत हैं सीस पर, बैदन पै गयो काहू दारु न बताई है।
जब हहराय हम हरि के निकट गए, हरि मोसों कही तेरी मति भूल छाई है।
कोऊ ना उपाय, भटकत जनि डोलै, सुन, खाट के नगर खटमल की दुहाई है।।

खटमल को आलम्बन मान कर पहले भी कविताएँ लिखी गयी हैं। संस्कृत में भी ये हास्य के आलम्बन रहे हैं—

कमले कमला शेते हरः शेते हिमालये।
क्षीराब्धौ च हरिः शेते मन्ये मत्कुणशंकया।।

श्रृंगारकाल में हास्य के उदाहरण तो लिखे ही गये हैं, स्वतंत्र रूप से हास्य-कविता के कर्त्ता में प्रीतम कवि के अतिरिक्त सूरन कवि और फेरन कवि के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। सूरन कवि ने महादेव को ही आलम्बन बनाया है। फेरन कवि की 'चतुरानन की चूक' हास्यरस की कविता ही है। पद्माकर ने 'गंगालहरी' में जो व्याजोक्तिशैली का विधान किया है, उसमें भी हास्य का परिष्कृत रूप उपलब्ध है।

हास्य की दृष्टि से भारतेन्दु-युग की कविता अधिक उर्वर रही है। इस युग में भारतेन्दु-मंडल के प्रायः सभी कवियों ने हास्यपरक रचनाएँ की हैं। स्वयं

भारतेन्दु ने अपनी मुकरियों में विनोदी और छैला-प्रवृत्ति की सूचना दी है। इनकी मुकरियों में हास्य का स्वस्थ रूप मिलता है—

सब गुरुजन को बुरो बतावैं, अपनी खिचड़ी आप पकावैं।
भीतर तत्त्व न झूठी तेजी, क्यों सखि सज्जन, नहिं अँगरेजी ॥

मुकरियों में प्रसंगनियोजन इस प्रकार का है कि पाठक को प्रतीत होता है मानो इनका उत्तर 'सज्जन' ही होगा, किन्तु 'नहिं' के प्रयोग द्वारा भावों का ऐसा व्यत्यय होता है कि उत्तर ही बदल जाता है। इससे उत्पन्न आनन्दातिरेक का क्या कहना ? यहाँ अँगरेज और अँगरेजी शिक्षा पर किये गये व्यंग्य दर्शनीय हैं—

१. भीतर-भीतर सब रस चूसै, हँसि-हँसि कै तन-मन-धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि सज्जन, नहिं अँगरेज ॥
२. तीन बुलावें तेरह आवैं, निज-निज विपदा रोय सुनावैं।
आँखें फूटें भरा न पेट, क्यों सखि सज्जन, नहिं ग्रेजुएट ॥

ग्रेजुएटों की बेकारी का रूप भारतेन्दु ने जिस प्रकार चित्रित किया है, आज भी उसमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं हुआ है। भारतेन्दु के हास्य का क्षेत्र विस्तृत है। अपने प्रहसनों में इन्होंने व्यंग्य का जो स्वस्थ रूप रखा है, वह अपने ही ढंग का है। सच कहा जाय तो कहना पड़ेगा कि कबीर और सूर के पश्चात् भारतेन्दु ही हिन्दी के सफल व्यंग्यकार रहे हैं। एकतंत्र-शासन को लेकर इन्होंने 'अन्धेर-नगरी' में गहरा मजाक किया है। 'भारतदुर्दशा' तो भारत के सम्पूर्ण अतीत का व्यंग्यचित्र ही है। प्रहसनों के अतिरिक्त इन्होंने 'अँगरेज-स्तोत्र' जैसे निबन्धों में व्यंग्य मुखरित किया है। निश्चय ही भारतेन्दु की प्रतिभा बेजोड़ थी। इनकी-सी पैनी प्रतिभा लेकर आधुनिक काल में मात्र निराला ही आ सके हैं।

भारतेन्दु-युग में हास्यकाव्य के कर्त्ता में भारतेन्दु के अतिरिक्त पं० प्रताप नारायण मिश्र, श्री बालमुकुन्द गुप्त इत्यादि के नाम अधिक उल्लेखनीय हैं। राधाचरण गोस्वामी ने 'इलवर्ट बिल' पर 'स्यापा' लिखा था। इसमें हास्य का स्वस्थ रूप मिलता है। इस युग के व्यंग्यकाव्य के आलम्बन हैं अँगरेज, अँगरेजी शिक्षा, भारत की पराधीनता, भारतदुर्दशा, सामाजिक बुराई इत्यादि। सामान्य रूप से कहा जायगा कि वे सभी तत्कालीन परिस्थितियाँ, जो भारत और भारतीयों के लिए अहितकर थीं, इस युग में हास्य का आलम्बन बनी हैं। यद्यपि इस काल का हास्य-साहित्य आधुनिक हास्य-साहित्य के समान उन्नत नहीं है; फिर भी उसका विशेष महत्त्व है युगानुरूप विषय के चुनाव और साहित्य में एक नवीन विधा के प्रारम्भ को लेकर।

द्विवेदी-युग सुधार का युग था। परिष्कार ही इस समय मूल बात थी ! इस समय भारतेन्दु-युग के हास्यकवि तो लिख ही रहे थे, कतिपय नवीन कवियों ने भी इस ओर रुचि दिखलायी है। इस युग के व्यंग्यलेखकों में पं० शिवनाथ शर्मा,

कल्हू अल्हैत (आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी), नाथूराम शर्मा 'शंकर', ईश्वरी प्रसाद शर्मा, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी इत्यादि प्रमुख हैं। 'कल्हू अल्हैत' के नाम से द्विवेदीजी की लिखी कविताओं में 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' कविता सुन्दर बन सकी है। 'तर्ज खुशामद या वशीकरणविधि' में 'जीहुजूरी' करने वालों की खिल्ली उड़ाते हुए पं० शिवनाथ शर्मा कहते हैं—

देखते साहब को हो जावे खड़ा।
टोपी जूता फेंक के होवे बड़ा।
× × ×
फिर कहे, आदाब करता है गुलाम,
चुप रहे गोया लगी मुँह में लगाम।
फिर अगर साहब कहें, सब चैन है?
तो कहे सब चैन है, सब चैन है॥

घूसखोरी, भूठ, हिन्दी से घृणा, नारी, स्वार्थ, खुशामदी इत्यादि पर इस समय हास्य की कविताएँ लिखी गयी हैं। निश्चय ही अपने समय में पं० शिवनाथ शर्मा उत्तम व्यंग्यलेखक थे। इनके पश्चात् नाथूराम शर्मा 'शंकर' अच्छे व्यंग्य लेखकों में हैं। इन्होंने फैशनपरस्तों की खूब खबर ली है—

ईस गिरिजा को छोड़, ईश गिरजा में जाय,
शंकर सलोने मैन मिस्टर कहावेंगे।
बूट पतलून कोट कम्फर्टर टोपी डाट,
जाकट की पाकट में वाच लटकावेंगे।
घूमेंगे घमंडी बने रंडी का पकड़ हाथ,
पियेंगे बरंडी मीट होटल में खावेंगे।
फारसी की छार-सी उड़ाय अँगरेजी पढ़,
मानो देवनागरी का नाम ही मिटावेंगे॥

शंकर के हास्य में तिक्तता के साथ ही अश्लीलता भी कहीं-कहीं आ गयी है। इसी युग में ईश्वरीप्रसाद शर्मा के व्यंग्य अपने असंयतपन और परुषता के लिए बदनाम रहे हैं। हाँ, 'पढ़ीस' जी के व्यंग्य अधिक मार्मिक अवश्य होते रहे हैं। 'मुरहू चले कचेहरी' अथवा 'हम कनउजिया बाँभन अहिन' आदि कविताएँ व्यंग्य के लिए सदा अपना मूल्य बनाये रहेंगी।

छायावादी कवियों में हास्य-व्यंग्य के कवि के रूप में निराला के ही दर्शन होते हैं। निराला छायावाद-युग के ही नहीं, समस्त हिन्दी काव्य के सबसे बड़े व्यंग्यकार कहे जायँ, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। व्यंग्य के प्रति इनकी रुचि 'परिमल'-काल से ही मिलती है। 'सरोजस्मृति' में व्यंग्य का तीखा रूप उभरा है—

ये कान्यकुब्ज-कुल कुलांगार,
खाकर पत्तल में करें छेद,

इनके वर-कन्या अर्थ खेद।
× × ×
ये जो यमुना के से कछार,
पद फटे बिवाई के उधार।
× × ×
ऐसे शिव से गिरिजा-विवाह,
करने की मुझको नहीं चाह।

कवि के व्यंग्यात्मक रूप का पूर्ण विकास मिलता है 'कुकुरमुत्ता' में। कुकुरमुत्ता' छायावाद-युग की ही नहीं, समस्त हिन्दी व्यंग्यकाव्य की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। पूँजिपतियों के प्रति इसमें तीखा व्यंग्य मिलता है। 'कुकुरमुत्ता' सर्वहारावर्ग का प्रतिनिधि है। नवाब ने कुकुरमुत्ते की बड़ाई सुन माली को बुलाया और—

बोले, चल गुलाब जहाँ थे, उगा,
हम भी सबके साथ चाहते हैं अब कुकुरमुत्ता।
बोला माली—फर्माएँ मुआफ खता,
कुकुरमुत्ता उगाये नहीं उगता।

वस्तुतः यह व्यंग्यकाव्य नहीं, दुधारी तलवार है। इसमें व्यंग्य दुतरफा है। इसमें सांगरूपक और समासोक्ति की छटा आ जाने से और भी अधिक चमत्कार आ गया है।

छायावादी कवियों के पश्चात् पं० हरिशंकर शर्मा की हास्यपरक कविताएँ अधिक सुन्दर बन पड़ी हैं। इनके व्यंग्य मार्मिक अधिक हैं; निरालाजी के व्यंग्य के समान ये चुभनशील नहीं हैं। 'चिड़ियाघर', 'पिंजरापोल' आदि इनकी कविताओं के संग्रह हैं, जिनमें हास्यव्यंग्यपरक कविताएँ संकलित हैं।

आधुनिक युग में हिन्दी में हास्य-व्यंग्य के अनेक कवि हैं। बेढब बनारसी, बेधड़क बनारसी, चोंच, वचनेशजी, कुंजबिहारी पांडे, वंशीधर शुक्ल, श्रीनारायण चतुर्वेदी, डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी इत्यादि हास्यपरक कविताओं की रचना कर हास्यरिक्ता हिन्दी को हास्य से भरपूर बनाने में संलग्न हैं। बेढबजी ने 'बेढब की बहक' में अपनी कविता के सम्बन्ध में लिखा है—"मेरा यह सब-कुछ लक्ष्य नहीं है। जैसे कुछ लोग कला कला के लिए की दुहाई देते हैं, मैं विनोद विनोद के लिए लिखता हूँ।" तात्पर्य यह कि इनकी रचनाएँ मात्र विनोद को ही ध्यान में रख कर लिखी गयी हैं। जहाँ तक शीलत्व का प्रश्न है, बेढबजी कहीं-कहीं अश्लील भी बन गये हैं; किन्तु वैसी बारी कम ही आयी है। अधकचरे साहित्यकारों की जो इन्होंने खबर ली है, वह अच्छी बन पड़ी है—

पढ़ के दर्जा तीन तक वे बन गये साहित्यकार।
और मम्मट से वह अपने को समझते कम नहीं॥

नये युग के फैशनपरस्त लोगों के सम्बन्ध में उनका व्यंग्य जरा देखिए—

नजाकत औरतों-सी, बाल लम्बे, साफ मूँछें हैं।
नये फैशन के लोगों की अजब सूरत निराली है॥
पता मुझको नहीं कुछ इंडिया में भी है लिटरेचर।
मगर है याद सारा मिल्टनो-बेकन जबानी है॥

बेधड़क और चोंच की रचनाएँ सामाजिक कुरीतियों पर ही अधिक हैं। इन लोगों में हास्य की स्वाभाविक सरणि दीखती है। इन लोगों की कविता में अँगरेजी शब्दों के भी प्रयोग धड़ल्ले से मिलते हैं---

देखिए यह सीन कितना ग्रैंड है,
देह है या सायकिल स्टैण्ड है।
हो भले सूरत हमारी इण्डियन,
दिल हमार मेड इन इंगलैण्ड है।

रमई काका ने अपनी अधिकांश रचनाएँ अवधी में की हैं। इन्होंने जो कुछ भी लिखा है, उससे स्पष्ट है कि इनका हास्य उत्तम कोटि का है। बंशीधर शुक्ल, श्रीनारायण चतुर्वेदी आदि के भी हास्यव्यंग्यपरक गीत सामान्यतः स्वस्थ ही कहे जायँगे। आधुनिक युग की खोखली मानवता पर श्री रामधारी सिंह दिनकर ने भी खुल कर व्यंग्य किया है। इन्होंने कुत्ते के माध्यम से अनैतिक एवं खुशामदी व्यक्तियों को खुल कर खरी-खोटी सुनायी है—

राम जो तुम्हारा श्वान है,
कोढ़ी है, अपाहिज है, बड़ा बेईमान है।
अपयश में डालता है तुमको,
बनियों के सामने हिलाता सदा दुम को।
जूठी पत्तलें भी चाट लेता है,
राही जो मिले तो भौंकता है, काट लेता है।

श्री गोपालप्रसाद व्यास की 'कलम खो गई' विरह का हास्यमय रूप लेकर उपस्थित हुआ है। इसमें विनोद का रूप ही है, पर है सरस।

आधुनिक युग में हास्यकाव्य के अनेक रूप विकसित हुए हैं। सभी रूपों में पैरोडी (Parody) का विशेष महत्त्व है। पैरोडी-लेखन भारतेन्दु-काल में प्रारम्भ हुआ था। आज तक अनेक सुन्दर-सुन्दर पैरोडियाँ लिखी जा चुकी हैं। बेढबजी ने 'बीती विभावरी जाग री' की जो पैरोडी लिखी है, वह सुन्दर बन सकी है। चोंचजी ने श्री श्यामनारायण पांडेय की 'हल्दीघाटी' की पैरोडी 'चूनाघाटी' के नाम से लिखी है। यह भी उत्तम रचना है।

आधुनिक युग में हास्यपरक साहित्य का सर्वतोमुखी विकास हुआ है। कविता के अलावा हास्यपरक नाटक, कथा-कहानी, निबन्ध आदि भी लिखे गये हैं। नाटकों में हास्य का प्रचलन तो पहले से भी था, पर हास्यनाटक की रचना सर्वप्रथम भारतेन्दु-युग में ही शुरू हुई। प्रमुख हास्यनाटककारों में बदरीनाथ भट्ट,

भारतेन्दु, जी० पी० श्रीवास्तव, उपेन्द्रनाथ अश्क इत्यादि हैं। कथासाहित्य में हास्य-व्यंग्य के लेखकों में जी० पी० श्रीवास्तव, अन्नपूर्णानन्द वर्मा, बेढब बनारसी, चोंच, निराला, सरयू पंडा गौड़, राधाकृष्ण, बरसानेवाल चतुर्वेदी इत्यादि अग्रणी ठहरते हैं। हास्यपरक निबन्धों की रचना अपेक्षाकृत कम हुई है। इस दृष्टि से भारतेन्दु-काल ही उर्बर रहा है।

उपर्युक्त पर्यालोचन से स्पष्ट है कि हिन्दी में हास्य-साहित्य का सृजन प्रभूत परिमाण में हुआ है और हो रहा है, फिर भी अँगरेजी आदि भाषाओं के साहित्य में हास्य ने जो स्थान प्राप्त किया है, वैसा रूप हिन्दी में लगभग नहीं ही है। आज अनेक कवि हास्य के सृजन में व्यस्त हैं। 'नोकझोंक' आदि पत्रिकाएँ आज भी हास्यपरक साहित्य को बढ़ाने में व्यस्त हैं; पर अँगरेजी के 'पंच' की स्वस्थता यहाँ कहाँ मिलती है। हिन्दी क्षेत्रों में चुनाव के अवसर पर प्रकाशित होने वाले गीत भी हास्य-साहित्य के ही अंग हैं; पर अभी तक इनके संग्रह का प्रयास नहीं के बराबर किया गया है। इतना होने पर भी कहा जायगा कि हिन्दी में हास्यपरक साहित्य के लिए भविष्य उज्ज्वल है।

४४

हिन्दी काव्य में प्रकृतिचित्रण

[प्रकृति: लालित्य के प्रति आकर्षण—प्रकृतिचित्रण के काव्यगत विभिन्न रूप—प्रकृति-चित्रण का पूर्वेतिहास—हिन्दी में प्रारम्भ : रासो, सूफी, संत, भक्त, शृंगारी—भारतेन्दु-युग—द्विवेदी-युग—छायावाद—छायावादोत्तर कविता]

ईश्वरनिर्मित वस्तुएँ प्रकृति हैं और प्रकृति के माध्यम से मानवनिर्मित वस्तुएँ कला। कला के अन्तर्गत ही है कविता। अरस्तू कला को—कविता को—प्रकृति की अनुकृति मानते थे। तात्पर्य यह कि कविता का प्रकृति से गहरा सम्बन्ध है। प्रकृति शाश्वत है। मानव का प्रकृति से सम्बन्ध भी शाश्वत ही है। इसी से कविता भी शाश्वत ही बनती है एवं ब्रह्मानन्द के समकक्ष आनन्द देती है। आचार्य शुक्ल कविता के लिए प्रकृतिचित्रण अनिवार्य मानते थे। कविता मूलतः रागात्मक अनुभूति है। मानव आवेष्टन को अनुभूति की पकड़ में लाता है, उसे रागमय बनाकर अभिव्यक्त करता है। रागात्मिका वृत्ति से प्रकृति का सम्बन्ध होता है। अस्तु, कविता और प्रकृति के सम्बन्ध अक्षुण्ण हैं। भारतीय काव्य की तथाकथित प्रथम पंक्ति—'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः'—का स्वरूप भी रागात्मक ही है। वाणी में रागात्मकता का यह रूप प्रकृति की प्रेरणा और साहचर्य से ही सम्भव हो सका है। संसार की प्रत्येक भाषा में रचित कविताएँ इस बात के लिए यथेष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती हैं कि कविता और प्रकृति का सम्बन्ध अटूट है।

हाँ, मनोविज्ञान और विज्ञानादि के बढ़ते चरण आज थोड़ा भिन्न रूप में हमें सोचने को बाध्य अवश्य कर रहे हैं कि क्या आगे भी कविता और प्रकृति का सम्बन्ध इसी रूप में अटूट रह सकेगा, जिस रूप में यह आज तक निभता चला आया है। प्रकृति के प्रति राग की अतिशयता मनोवैज्ञानिकों के अनुसार स्टेल्जिया नामक रोग है; पर यह अतिवादी रुख ही माना जायगा। विज्ञानप्रभावापन्न लोग यह भी कहते सुने जाते हैं कि आज कल-कारखानों की उपेक्षा कर फूल-पत्तों के गीत गाना अमानवीय कार्य ही है। तात्पर्य यह कि प्रकृति का दामन छोड़ कर कविता स्वतन्त्र हो जाय और मात्र मानव के गीत गाए। यह उपयोगितावादी बाना आज कविता को प्रकृति के क्रोड़ से अलग करने पर उतारू हो रहा है। ऐसे लोग यह मानते हैं कि प्रकृति का प्रयोग नरेतर अभिप्राय में ही होना चाहिए। प्रमाणस्वरूप

ये लोग हिन्दी कवि पंत को टकसाल मानते हैं, जो कभी 'द्रुमों की मृदु छाया' छोड़कर मानव को अपनाना नहीं चाहते थे और फिर वही कुछ दिनों के पश्चात् अपनी भूल अनुभव करते हैं और कह उठते हैं कि संसार में मानव ही सुन्दरतम है। खैर, इसे पूर्ण सत्य के रूप में नहीं माना जा सकता। यहाँ अतिवादिता ही नहीं, अतिवादिता का अतिरेक भी है।

गेहूँ और गुलाब की दौड़ में गुलाब सदा हारता रहा है। पहले लोग गेहूँ की ओर ही झुकते रहे हैं। जैसे ही गेहूँ की—उपयोगिता की—आवश्यकता पूर्ण हुई, लोग दौड़ पड़ते हैं गुलाब की ओर। लालित्य के प्रति आकर्षण सब में रहा है। प्राचीन भारतीय वैदिक वाङ्मय प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में रचा गया था। इसी से उसमें प्रकृति के बहुविध चित्र अंकित हैं। कालिदास ने प्रकृति के साथ इतना गहरा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया कि उनकी अनुभूतियाँ 'मेघदूत' बन कर सामने आयीं। वस्तुतः प्रकृति कविता के लिए साधन ही नहीं जुटाती रही है, अपितु इसने सबल प्रेरक तत्त्व का भी कार्य किया है। विश्वास न हो तो देखिए, पंत क्या कह रहे हैं—"कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृतिनिरीक्षण से मिली है जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचलप्रदेश को है। कविजीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकान्त में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।" हाँ, तो मैं कह रहा था कि प्रकृति कविता के लिए प्रेरक तत्त्व का काम करती है। प्रकृति के सारे तत्त्व—सूर्य, चन्द्र, पुष्प, पादप, सर, गिरि, सरिता, वर्षा, इन्द्रधनुष इत्यादि—मानव के आदिम साथी हैं और रहेंगे। इन्हें छोड़ा नहीं जा सकता। तभी तो महादेवी वर्मा भी कहती हैं—"दृश्य प्रकृति मानवजीवन को अथ से इति तक चक्रवाल की तरह घेरे रही है। प्रकृति के विविध कोमल-परुष, सुन्दर-विरूप, व्यक्त-रहस्यमय रूपों के आकर्षण-विकर्षण ने मानवबुद्धि और हृदय को कितना परिष्कार और विस्तार दिया है, इसका लेखा-जोखा करने पर मनुष्य प्रकृति का सबसे अधिक ऋणी ठहरेगा। वस्तुतः संस्कारक्रम में मानव-जाति का भावजगत् ही नहीं, उसके चिन्तन की दशाएँ भी प्रकृति से विविध रूपात्मक परिचय द्वारा तथा उससे उत्पन्न अनुभूतियों से प्रभावित हैं।" अस्तु, कविता को प्रकृति से हटाकर देखने की बात चाँद से चाँदनी को अलग करने की तरह ही होगी।

कविता में प्रकृति का प्रयोग विविध रूपों में होता रहा है। विवेचन की सुविधा के हेतु कविता में प्रकृतिचित्रण के निम्नांकित रूप स्वीकार किये जाते हैं— १. आलम्बनरूप में, २. मानवीकरणरूप में, ३. पृष्ठभूमिरूप में, ४. उद्दीपनरूप में, ५. प्रतीकात्मक रूप में, ६. बिम्बप्रतिबिम्बरूप में, ७. उपदेशिकारूप में, ८. अलंकार-रूप में, ९. दूतिकारूप में, १०. रहस्यात्मक रूप में और ११. नामपरिगणनरूप में।

वस्तुतः उपर्युक्त रूपों में कई रूपों का एकाधिक रूप में ही समाहार कर सकते हैं; संख्या गिनाने की बात हो तब तो कुछ कहना ही बेकार है। इनके कतिपय मुख्य रूपों को यों समझा जा सकता है—

प्रस्तुत रूप में आलम्बनगत प्रकृतिवर्णन विशेष महत्त्वपूर्ण है। ऐसे वर्णनों की आचार्य शुक्ल सदा दाद देते थे तथा इसे मुख्य भी मानते थे। इस प्रकार के वर्णन में कवि स्वतंत्र रूप से प्रकृति का वर्णन करता है। यहाँ प्रकृति साधन नहीं, साध्य होती है। ऐसे वर्णन हृदय की मुक्तावस्था में ही सम्भव हैं। संस्कृत के कवियों ने प्रकृति के अधिकांश वर्णन इसी रूप में किये हैं। हिन्दी कवियों ने इस प्रकार के वर्णन को महत्त्व तो दिया है; पर सफलता कम को ही मिली है। शृंगारकाल में प्रकृति के इस प्रकार के चित्र नहीं के बराबर ही मिलते हैं। इस दृष्टि से आधुनिक काल अधिक उर्वर रहा है।

उषा सुनहले तीर बरसती, जयलक्ष्मी-सी उदित हुई।
उधर पराजित कालरात्रि भी, जल में अन्तर्निहित हुई॥ —प्रसाद

प्रस्तुत रूप में प्रकृतिचित्रण भी दो रूपों में मिलता है—अर्थग्रहणरूप में और बिम्बग्रहणरूप में। उपर्युक्त चित्र प्रथम प्रकार का ही माना जायगा। बिम्बग्रहण-चित्रण में कवि की तटस्थता की मात्रा घट जाती है। यह चित्रण पृष्ठभूमिरूप में किये गये चित्रण के लगभग समान ही होता है। पृष्ठभूमिरूप में चित्रित प्रकृति सप्रयोजन आती है। 'कामायनी' का प्रारम्भ पूर्वपीठिकारूप में किये गये प्राकृतिक चित्रण से ही होता है। यहाँ मनु की आन्तरिक मनोव्यथा को स्पष्ट करने का प्रयास परिलक्षित होता है—

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर, बैठ शिला की शीतल छाँह।
एक पुरुष भींगे नयनों से, देख रहा था प्रलय-प्रवाह॥
नीचे जल था ऊपर हिम था, एक तरल था एक सघन।
एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन॥
दूर-दूर तक विस्तृत था हिम, स्तब्ध उसी के हृदयसमान।
नीरवता की शिलासन्धि से, टकराता फिरता पवमान॥ —प्रसाद

प्रकृतिचित्रण के अन्य प्रकार भी इसी प्रकार अधिक स्पर्शी हैं, जिनमें मुख्यतः उद्दीपनरूप, मानवीकरणरूप, अलंकाररूप, प्रतीक और अन्योक्ति या व्यंग्योक्तिरूप अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दी-काव्य में प्रकृतिचित्रण पर विचारने के पूर्व पूर्ववर्त्ती साहित्य के प्राकृतिक चित्रों की एक झलक आवश्यक है।

पहले भी उल्लेख किया गया है कि वैदिक साहित्य प्राकृतिक चित्रों से पूर्ण है। भारतीय साहित्य में प्रकृतिचित्रण की परम्परा ऋग्वेद से ही प्रारम्भ होती है। वहाँ उषा, सूर्य, मरुत्, इन्द्रादि के वर्णन मिलते हैं। उषा के जितने सुन्दर और सटीक, प्रतीकात्मक और सूक्ष्म वर्णन वहाँ उपलब्ध होते हैं, अन्यत्र सम्भवतः दीपक

लेकर खोजने पर भी न मिलेंगे। नीचे की पंक्तियों में उषा की कल्पना एक बाला के रूप में करते हुए सूर्य को उसका प्रेमी बताया गया है—

कन्येव तन्वा शाशदा नाँ एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादा विर्वक्षांसि कृणुषे विभाती ॥ —ऋक्० १।१२३।१०

अर्थात्, हे प्रकाशवती उषे! तुम कमनीय कन्या की भाँति अत्यन्त आकर्षणमयी बनकर अपने प्रियतम सूर्य के निकट जाती हो तथा उसके सम्मुख स्मितवदना युवती की भाँति अपने वक्षदेश को निरावृत करती हो।

उषा के ऐसे ही सुन्दर और मनोहारी वर्णनों को देखकर मैक्डोनाल्ड साहब को कहना पड़ा था—"Usas is the most graceful creation of vedic poetry and there is no more charming figure in descriptive religious lyrics of any literature." आदिकवि वाल्मीकि प्रकृति के रोमांचकारी कार्य से ही प्रभावित होकर रामायण की रचना करते हैं, जिसमें कई स्थलों पर प्रकृति के रमणीय चित्र उभरे हैं। रामायण में प्रकृति कई रूपों में चित्रित हुई है। पुनः महाभारत में इसकी शोभा और भी बढ़ती ही है। शाकुन्तलोपाख्यान में कण्व ऋषि के वर्णन में महाभारतकार ने प्रकृति का संश्लिष्ट चित्र दिया है। परवर्त्ती संस्कृत काव्यों में प्रकृति के एक-से-एक चित्र मिलते हैं। प्रकृति का सर्वाधिक चित्रण करते हैं कविशिरोमणि कालिदास। 'मेघदूत' में गम्भीरा नदी को मदविह्वला नारी के रूप में चित्रित करना एक अद्वितीय कल्पना है। वस्तुतः यहाँ प्रकृति को कवि नवीन धड़कन, गति और चेतनासंस्पर्श प्रदान करता है। यह चित्र मानवीकरण का उत्कृष्ट उदाहरण है। 'ऋतुसंहार' में शरद् का चित्रण नववधू के रूप में किया गया है। भारवि, माघ, श्रीहर्ष इत्यादि ने प्राकृतिक चित्रों को खूब सँवारा है। कविता की कौन कहे, 'कादम्बरी' और 'दश-कुमारचरित' जैसे गद्य-ग्रन्थों में भी प्रकृति के सुन्दर चित्र मिलते हैं।

प्राकृत और अपभ्रंश काव्य में भी प्रकृतिवर्णन को पर्याप्त विस्तार मिला है; किन्तु वहाँ संस्कृत साहित्य का पिष्टपेषण ही अधिक हुआ है। कतिपय कवियों में मौलिकता भी मिलती है। उदाहरणस्वरूप अद्दहमान (अब्धिमान या अब्दुर्रहमान) के चित्र लिये जा सकते हैं। यहाँ महाकवि बब्बर का यह चित्र देखा जा सकता है जिसमें ग्रीष्म की दाह से क्षुब्ध हो पतिवियुक्ता शीतल स्पर्श चाह रही है—

तरुण-तरणि तवइ धरणि, पवण बहइ खरा।
लग्ग णाहि जल वड मरूथल, जण-जिअण हरा ॥
दिसइ चलइ हिअअ दुलइ, हम इकलि वहू।
घर णहिं पिअ सुणहि पहिअ, मण इच्छइ कहू ॥

प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों के नीरस, धार्मिक और साधनापरक वर्णनों के

मध्य प्रकृति के सुन्दर और आकर्षक चित्रों का महत्त्व मरुभूमि में घने वृक्ष की छाया-सा है, जहाँ काव्यपथिक अपना श्रमपरिहार करता है। अस्तु, सामान्य रूप से कहा जायगा कि प्रकृतिचित्रण की परम्परा ऋग्वेद से प्रारम्भ होकर निर्बाध रूप से हिन्दी तक आती है। अन्य काव्यरूढ़ियों, उपादानों और परम्पराओं की तरह ही इसने प्रकृतिचित्रण की परम्परा भी अपने पूर्ववर्त्ती साहित्य से ही ग्रहण की है। इसी से हिन्दी में प्रारम्भिक काल से प्रकृति के सुन्दर चित्रों के दर्शन होते हैं, यद्यपि उनमें देशगत एवं कालगत मनोवृत्ति के अनुरूप अनेक परिवर्त्तन भी मिलते हैं।

हिन्दी कविता में प्रकृतिचित्रण का यदि सामान्य सर्वेक्षण किया जाय तो कहा जायगा कि आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक के कवियों ने प्रकृति के प्रति कम ही न्याय किया है। हाँ, आधुनिक काल, विशेषतः छायावाद-काल इस दिशा में सर्वाधिक पुष्ट काल कहा जायगा, जिसने प्रकृति को नये रूप में उपस्थित कर एक बहुत बड़ी कमी को पूरा किया है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि आदिकालीन काव्यों में प्रकृति के चित्र नहीं हैं। नहीं, ऐसा कहना भूल होगा। हाँ, यह सच है कि सिद्धों और नाथों की सधुक्कड़ी भाषा नीति और अध्यात्म में ही अधिक उलझी रही है, प्रकृतिचित्रण के लिए कहीं पृथक् उक्तियाँ नहीं हैं। सूरज और चाँद, आकाश और 'आलोक की झरी' यहाँ यौगिक साधना के सहायक मात्र हैं। रासो-काव्यों में प्रकृति के चित्र उद्दीपक ही अधिक हैं, स्वतन्त्र कम। हिन्दी के तथाकथित प्रथम प्रबन्धकार चन्द प्रकृति के सुन्दर चित्र आँकने में व्यस्त दीखते हैं—

> मोर सोर चहुँ ओर। घटा अषाढ़ बँधि नभ।
> बक दादुर झिंगुरन। रटन चातिग रंजत सुम।
> नील वरन वसुमतिय। पहिर आभ्रन अलंकिय।
> चंद बधू सिर व्याज। धरे वसुमत्ति सु राज्जय।

षड्ऋतु-वर्णन के प्रसंग में इन्होंने एक-से-एक सुन्दर चित्र अंकित किये हैं। 'बीसलदेवरासो' की नायिका की विरहाग्नि भादो की वर्षा से और भी उद्दीप्त हो उठी है—

> भादवउ बरसई छई मगहर गम्भीर। जल थल महीयल सहू भरया नीर।
> जाणे सरवर उलटई। एक अँधारी बीजरवी बाया।
> सूनी सेज विदेस पिया। दोई दुख नाल्ह क्युं सहंणा जाई।

रासोकाव्यों में प्रकृतिचित्रण की विपुलता और वैविध्य तो है, पर गहराई और संवेदना नहीं। शृंगारी और वासनात्मक वातावरण निर्माण के लिए प्रकृति यहाँ चेरी तो बनती है, पर स्वतन्त्र रूप से मर्यादित नहीं होती है। कोमल भावनाओं के कवि विद्यापति से आशा की जाती थी कि कम-से-कम वे अवश्य सहानुभूतिशील बनेंगे, पर कोई नवीन वस्तुस्थिति सामने नहीं आती है। इतना तो विद्यापति ने अवश्य किया है कि प्रकृति को इन्होंने कई रूपों में देख भर लिया है—

उद्दीपनरूप— फुटल कुसुम नव कुंज कुटीर वन, कोकिल पंचम गावे रे।
मलयानिल हिमसिखर सिधारल, पिया निज देस न आवे रे।।

अन्योक्तिरूप— कंटक माझ कुसुम परगास, भमर विकल नहिं पावए पास।
भमरा मेल छुटए सब राम, तोहि बिनु मालति नहिं बिसराम।।

प्रकृति को माया समझने वाले संत और भक्त कवियों ने प्रकृति को कविता में स्थान तो दिया है अवश्य, पर मात्रा और रूप की कमी वैसी ही यहाँ भी बनी रही है। संसार की नश्वरता का प्रतिपादन करने के लिए कबीर अन्योक्ति का सहारा लेते हुए कहते हैं—

माली आवत देखि कै, कलियाँ करी पुकार।
फूले फूले चुनि लियो, कालि हमारी बार।।

'शब्दों का भाग्यविपर्यय' करने वाले कबीर 'गगन का गर्जन' भी सुनते हैं; सुनते ही नहीं, चमत्कृत होकर 'चहुँ दिसि दमकै दामिनी' की रट भी लगाते हैं; गंगा, यमुना, सरस्वती, कमल, सरोवर, आकाश इत्यादि पर कुछ कहते-सुनते भी हैं; पर वस्तुतः प्रकृति का सच्चा अंकन वे कहाँ कर पाते हैं? वे प्रकृति के सौन्दर्य-लोक में उतरते ही नहीं, सिद्धिलोक में ही भ्रमते रह जाते हैं। अन्य संत कवियों का भी यही हाल है।

'प्रेम की पीर' जायसी के काव्य में प्रकृति का अंकन उद्दीपन, अलंकार, प्रतीक इत्यादि रूपों में सुन्दर पद्धति पर हुआ है। पद्मिनी के सौन्दर्यचित्रण में यहाँ उपमानों के प्रयोग देखने योग्य हैं—

भँवर केस वह मालति रानी। बिसहर लुटें लेहिं अरघानी।।
बेनि छोरि झार जो बारा। सरग पताल होय अँधियारा।।

और यहाँ द्रष्टव्य है पावस का मादक चित्र—

रितु पावस बरसै, पिउ पावा। सावन-भादौ अधिक सोहावा।।
कोकिल बैन, पति बग छूटी। धनि निसरि जेऊँ बीरबहूटी।।
चमवकै बिज्जु, बरिस जग सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना।।
रँगराती, पिय संग निसि जागै। गरजै चमकि चौंकि कंठ लागै।।

संत कवियों की अपेक्षा भक्त कवि प्रकृति के प्रति अधिक सहृदय दीखते हैं। यहाँ प्रकृतिचित्रण का धरातल थोड़ा विस्तृत है। यद्यपि रामभक्त तुलसी ने प्रकृति का आलम्बनगत वर्णन नहीं के बरावर किया है, फिर भी उसे निकट से देखकर उसके अनमोल रत्नों को बटोरने का प्रयास अवश्य किया है। शीलनिरूपण पर दृष्टि केन्द्रित होने के कारण प्रकृति के उपदेशात्मक स्वरूप को ही इन्होंने अधिक उद्घाटित किया है—

भूमि परत भा डाबर पानी। जनु जीवहिं माया लपटानी।।

उपदेश में भी तुलसी ने व्यावहारिक सत्यादर्श पर अधिक ध्यान दिया है। वर्षा की बूँदों को उन्होंने कठोर पर्वतों की अभेद्य छाती पर गिरते और बिखरते

देखा और तुरत ही उसे खल और संत का पर्याय मान कर कह उठे—'खल के वचन संत सह जैसे'। यों अन्य रूपों में भी इन्होंने प्रकृति को देखा, पर कम। उपमानरूप में यह चित्र देखिए—

नव कंज लोचन कंज मुख कर कंज पद कंजारूणम्।

तुलसी की प्रतिभा यदि चाहती तो प्रकृति के अनूठे चित्र आँक सकती थी, किन्तु लोकनायक के पास भक्ति, कर्म और ज्ञान के समन्वय के अतिरिक्त अवकाश कहाँ था? सम्भवतः इसी के कारण उन्होंने इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है। तभी तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को लिखना पड़ा कि "यह एक आश्चर्य की बात है कि उन्होंने विश्वप्रकृति को अपने काव्य में कोई स्थान नहीं दिया। इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ कहीं उन्होंने थोड़ी चर्चा की है, वहीं उसमें कमाल किया है; पर असल में वे इससे उदासीन ही रहे। जो भावुक सहृदय पद-पद पर फूल-पत्तियों को देखकर मुग्ध हो जाता है, नदी-पहाड़ को देखकर तन-मन बिसार देता है, वह तुलसीदास के काव्य का लक्ष्यीभूत श्रोता नहीं है।" यों 'घन घमण्ड नभ गरजत घोरा, प्रियाहीन डरपत मन मोरा' जैसे उद्दीपनवर्णनों में एकाध स्थल पर इनकी भावुकता उमड़ी है; पर राम के वियोग में सरिताओं को श्रीहीन दिखलाने से ही इन्हें प्रकृति का सजग कलाकार नहीं कहा जा सकता। और, कृष्णभक्त बाबा सूरदास ने तो मानो अपनी बन्द आँखों से ही प्रकृति का रम्य रूप देखा है। गोपियाँ कृष्ण के वियोग में जल रही हैं। प्राचीन क्रीड़ास्थल उन्हें रह-रह कर कृष्ण की याद दिला रहे हैं—

बिन गोपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भईं बिसम ज्वाल की पुंजैं।
वृथा बहति जमुना खग बोलत वृथा कमल फूलैं अति गुंजैं।
पवन पानि घनसार सजीवन दधिसुत किरन भानु भईं भुंजैं॥

सूर को आदर्श और मर्यादा की अपेक्षा प्रेम, शृंगार और माधुर्य अधिक प्रिय था। इसी से इनकी रचना में तुलसी की अपेक्षा प्रकृति के सुन्दर और सजीव चित्र मिलते हैं। इन्होंने प्रकृति को मानवीकरण के रूप में वर्णित किया है। यहाँ अपेक्षाकृत संवेदना और गतिशीलता अधिक है। इनकी प्रकृति कबीर की तरह न रहस्यगुंफन के द्वार खोलती है और न तुलसी की तरह आदर्श के बोझ से दबी चलती है। कृष्ण के वियोग में यमुना तो काली हो ही गयी है, वृन्दावन के लता-वृक्ष भी वेदना में मौन हैं, पशु-पक्षी भी विकल हैं और गौएँ तो आन्तरिक वेदना के कारण ठीक से रँभा भी नहीं पाती हैं। इतना होने पर भी कहा जायगा कि समस्त भक्तिकाव्य में प्रकृति के जितने भी चित्र आये हैं, उनमें उस सजीवता, स्वस्थता और मांसलता का अभाव ही है, जिनके बिना प्रकृति पाण्डु दीखती है।

हिन्दी का शृंगारकालीन काव्य रंगीनियों का काव्य है। राजदरबारों को 'नागरक गृह' में बदल देने वाले कवि नागर ऐश्वर्य पर ही मुग्ध हैं; प्रकृति की विभूति इन्हें लुभा भी नहीं पाती। प्राकृतिक उपादानों को ये लोग राजमहलों में ही देखने के आदी हो गये हैं। अँगरेजी काव्य में एलिजावेथ के समय में जो परिवर्त्तन हुए उसमें 'प्रकृति की ओर लौटो' की भी पुकार मची थी। शृंगारकालीन कवि यहाँ भी प्रकृति की ओर लौटे तो अवश्य, पर उदासीनता बनी रही। वस्तुतः ये कवि प्राकृतिक विभूति पर मुग्ध तो क्या होते, उलटे नाक-भौं सिकोड़ते दिखलाई पड़ते हैं। बिहारी को 'गँवई गाँव' में गुलाब के इत्र का कोई प्रशंसक ही नहीं मिलता। आचार्य केशव 'सामान्य' और 'विशेष' अलंकारों के अन्तर्गत राज्यश्री भूषण का ही उल्लेख कर रहे थे। प्रकृति की ओर से ये भी पूर्णतः उदास ही हैं। किसी उपवन या वाटिका में शौकिया तौर पर लगाये जाने वाले फूलों, वृक्षों, लताओं आदि के नाम अवश्य गिना जाते हैं; पर जंगलों और ग्रामश्री की ओर लौटने का नाम नहीं लेते हैं—

तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर।
× × × ×
एला लता लवंग संग पुंगीफल सोहे॥

इस प्रकार के नामपरिगणात्मक वर्णनों में ही ये उलझ कर रह जाते हैं। यही कारण है कि शृंगारकालीन कवि वृन्दावन के वर्णनों में भी खिरनी, फालसा, लीची इत्यादि का उल्लेख तो करते हैं, पर उन करील के कुंजों का नाम तक नहीं लेते हैं, जिनकी शोभा पर रसखान 'कलधौत के धाम' भी न्योछावर कर रहे थे। इसी से तो ग्वाल कवि सरसों के खेत में सोने की पलंग की चर्चा कर रहे हैं—मानो पिकनिक पर गये हैं, जहाँ स्वर्ण की पलंग भी साथ है—

सरसों के खेत की बिछायत बनी, तामें खरी चाँदनी बसन्ती रतिकंत की।
सोनें के पलंग पर वसन बसन्ती साज सोनजुहि माला हाले हिया हुलसंत की॥

इस युग में वसन्तवर्णन पर सर्वाधिक ध्यान दिया है पद्माकर ने; किन्तु इनका वर्णन भी पिटी-पिटाई लीक का ही अनुगामी है। इस युग में प्रकृतिवर्णन की दृष्टि से एकमात्र महत्त्वपूर्ण कवि हैं सेनापति। मात्र इन्होंने ही प्रकृतिवर्णन में थोड़ी ईमानदारी से काम लिया है। यदि सेनापति के वर्णनों को हटा दिया जाये तो शृंगारकाल में प्रकृतिवर्णन के सुन्दर चित्र खोजने पर भी शायद ही मिलें। सच पूछिए तो शृंगारकाल 'अलंकृत संगीत' का काल रहा है, मुक्त कविता का काल नहीं। इसी से यहाँ कृत्रिमता की सड़ाँध और वैभव का प्रदर्शन ही अधिक है, प्रकृति का गतिशील सौन्दर्य नहीं। जहाँ नायिकाओं की प्रभा से चाँद भी फीका हो जाता हो, विरहिणी की आँच से शीशी का गुलाबजल सूख जाता हो, वहाँ

प्रकृति के गत्यात्मक चित्र खोजना पत्थर पर दूब जमाना ही है। इस युग के वर्णनों की अपेक्षा तो जायसी के बारहमासे और रासोकाव्यों में ही प्रकृति के सुन्दर चित्र प्राप्त हैं।

और, अब आता है भारतेन्दु-युग। इस समय प्राचीन बन्धन शिथिल हो रहे थे, नवीनता का संचार होने लगा था। स्वयं भारतेन्दु ने प्रकृति के सुन्दर चित्र आँकने का प्रयत्न किया, पर ये भी प्रकृति के नानारूपात्मक जगत् से दूर ही रहे। 'तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए' वाले 'यमुना-वर्णन' में प्रकृति को नवीन रूप में देखने का प्रयास तो मिलता है, पर अलंकृत भाषा के कारण स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। 'गंगा-वर्णन' में—

> नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक-सी सोहति।
> बिच-बिच छहरति बूँद मध्य मुक्तामणि पोहति॥

की प्रशंसा तो अवश्य की जाती है; पर जहाँ यह कविता मनुष्यों के 'विविध मनोरथ' के बनने-मिटने की सूचना देने लगती है, वहीं स्वाभाविकता खो बैठती है। यह सच है कि भारतेन्दु ने सब प्रकार से आधुनिक युग का सूत्रपात किया है; पर प्रकृति को वे भी स्वाभाविक जीवन देने में समर्थ नहीं हो सके हैं।

द्विवेदी-युग परिष्कार का काल रहा है। यहाँ अनुशासन है, उन्मुक्तता नहीं; कसावट है, अल्हड़ता नहीं। भावना के उच्छ्वास यहाँ फूटे तो हैं, पर सरस सरिताएँ उमड़ी नहीं हैं। इसी से इस युग के प्रकृतिवर्णन में भावुकता और सूक्ष्मता की अपेक्षा इतिवृत्तात्मकता और स्थूलता ही अधिक है। पर इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि शुद्ध रूप में प्रकृति के अंकन का—'पल-पल परिवर्तित प्रकृतिवेश' के निरीक्षण का—कार्य यहीं से प्रारम्भ होता है। हरिऔध, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, गुप्तजी इत्यादि की रचनाओं में प्रकृति के एक-से-एक चित्र सँवर चलते हैं। हरिऔधजी के वर्णनों में रीतिकालीन अलंकृति का पूर्ण प्रभाव दीखता है; फिर भी ये निस्सार नहीं हैं, निस्तेज भले ही हों। 'मिलन' और 'पथिक' में रामनरेश त्रिपाठी ने प्रकृतिवर्णन के लिए पूरा अवकाश निकाला है। 'पथिक' का प्रत्येक सर्ग प्रकृतिवर्णन से ही प्रारम्भ होता है। पुस्तक का प्रारम्भ ही हुआ है प्रकृतिवर्णन से—

> राग-रथी रवि-राग-पथी अविराग-विनोद-बसेरा।
> प्रकृति-भवन के सब विभवों से सुन्दर सरस सवेरा।
> एक दिवस अति मुदित उदधि के बीचि-विचुम्बित तीरे।
> सुख की भाँति मिला प्राची से आकर धीरे-धीरे॥

वस्तुतः प्रकृतिवर्णन की जिस स्वच्छन्द परम्परा का श्रीगणेश श्रीधर पाठक 'काश्मीर-सुषमा' आदि कविताओं में कर चलते हैं, उसका परिपक्व रूप ही त्रिपाठीजी में मिलता है। प्रथम बार प्रकृति यहाँ पूर्ण स्वच्छन्दता प्राप्त करती है। चित्रात्मक योजना, गत्यात्मकता, सूक्ष्म भावात्मकता इत्यादि के लिए त्रिपाठीजी का

प्रकृतिवर्णन सदा स्मरणीय रहेगा।

श्री मैथिलीशरण गुप्त का प्रकृतिवर्णन भी अपेक्षाकृत सुधरा हुआ है। 'पंचवटी', 'साकेत' आदि के प्रकृतिवर्णन अधिक सुन्दर बने हैं। 'पंचवटी' में वर्णित चाँदनी रात का यह चित्र देखिए—

चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल-थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बर-तल में।
पुलक प्रकट करती है धरणी, हरित तृणों की नोकों से,
मानो झूम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोकों से।

उपर्युक्त वर्णन में प्रकृति का पूर्ण स्वच्छन्दतावादी रूप यद्यपि स्पष्ट तो नहीं हो सका है, पर उसकी झलक अवश्य है। यह इस बात का संकेत करती है अवश्य कि अब वह समय शीघ्र ही आयगा, जब प्रकृति खुल कर साँस ले सकेगी।

प्रकृतिचित्रण की दृष्टि से हिन्दी कविता में सर्वाधिक उर्वर काल रहा है छायावाद-काल। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी के साथ-साथ दिनकर, डॉ० रामकुमार वर्मा, नरेन्द्र शर्मा इत्यादि कवियों ने इस समय प्रकृति का सुन्दर-से-सुन्दर अंकन किया है। प्रकृति के अंकन में सबमें अग्रणी हैं पंतजी। छायावादी काव्य में प्रकृति मानो दर्शन बन गयी है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"छायावाद के भीतर माने जाने वाले सब कवियों में प्रकृति के साथ सीधा प्रेम-सम्बन्ध पंतजी का ही दिखाई पड़ता है।" एक बात और। इस काव्य में होने वाले प्रकृतिवर्णनों पर अँगरेजी काव्य का भी प्रभाव पड़ा है। बायरन, शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ इत्यादि से भी इस समय के वर्णन कम प्रभावित नहीं है। प्रकृतिवर्णन को ध्यान में रख कर यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं कि पंत प्रकृति के कवि अथवा हिन्दी के वर्ड्-सवर्थ हैं। इन्होंने अपनी काव्यसाधना के प्रेरक तत्त्वों पर विचारते हुए स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि "मैं घंटों एकान्त में बैठा प्रकृति के मनोरम रूपों का पान किया करता था और कोई अज्ञात आकर्षण का जाल मेरे अन्दर आकर मेरी चेतना को तन्मय कर जाता था। × × × प्रकृतिनिरीक्षण और प्रकृतिप्रेम मेरे स्वभाव के अभिन्न अंग ही बन गये हैं, जिनसे मुझे जीवन के अनेक संकट-क्षणों में अमोघ सान्त्वना मिली है।" वस्तुतः प्रकृति ने कविता करने की प्रेरणा ही नहीं दी, अपितु साधन भी जुटाये और यदि आगे कुछ कहा जाय तो कह सकते हैं कि इनकी कविता का प्रथम साध्य प्रकृति ही है। यों तो प्रकृति समस्त छायावादी काव्य की आत्मा है ही, पर पंत ने उसे और भी अधिक सँवारा है। इन्होंने प्रायः प्रत्येक रूप में प्रकृति को चित्रित किया है। हाँ, कोमल रूपों से इन्हें प्रेम अधिक रहा है अवश्य। यहाँ आलम्बनरूप में 'बादल' का यह चित्र देखा जा सकता है—

धूम धुँआरे काजर कारे हमहीं बिकरारे बादर,
मदनराज के वीर बहादर पावस के उड़ते फणिधर,

चमक-झमकमय मंत्र वशीकर छहर-घहरमय विष-सीकर,
स्वर्गसेतु से इन्द्रधनुषधर कामरूप घनश्याम अमर।

बादल को आलम्बन मानकर निराला ने भी कविता लिखी है—

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घनरोर,
राग अमर! अम्बर में भर निज रोर।
झर-झर-झर निर्झर-गिरि-सर में,
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में,
सरित-तड़ित-गति-चकित पवन में,
मन में, विजन-गहन कानन में—
आनन आनन में रव घोर कठोर—
राग अमर! अम्बर में भर निज रोर।

पंत के प्रकृतिप्रेम को स्पष्ट करने के लिए 'मोह' शीर्षक कविता का यह अंश ही अधिक उपयुक्त है—

तज कर तरल तरंगों को, इन्द्रधनुष के रंगों को,
तेरे भ्रू-भंगों में कैसे उलझा दूँ निज मृग-सा मन?

इससे स्पष्ट है कि कवि तरल तरंगों और इन्द्रधनुष के सतरंगे सौन्दर्य को छोड़कर नायिका के बंकिम कटाक्ष से आहत नहीं होना चाहता है। पंत के प्रकृति-चित्रण पर विचारते हुए डॉ० नरेन्द्र निष्कर्ष देते हैं कि "पंत ने प्रकृति का आलम्बनरूप में चित्रण किया, उसमें चेतना का आरोप कर उन्होंने उसे मधुर वाणी प्रदान की है। प्रकृतिप्रेम की अतिशयता के कारण ही उन्होंने प्रकृतिपरक बहुत ज्यादा रचनाएँ की हैं, लेकिन इससे ऐसा न समझना चाहिए कि इसके कारण उनके वर्णन में एकरसता आ गयी है। उन्होंने कल्पना के सहारे विविध रूपों का विविध दृष्टिकोण से अंकन किया है। कोमल प्रकृति के सूक्ष्म स्पंदनों की पंत को दिव्य अनुभूति है।"

छायावाद के जनक प्रसाद ने प्रकृति के माध्यम से मात्र रहस्यात्मक सत्ता का ही उद्घाटन नहीं किया है, अपितु उसे भावात्मक सौन्दर्य भी प्रदान किया है। प्रकृति के साथ आत्मगत सम्बन्ध-स्थापन इनका महत्त्वपूर्ण रहा है। 'झरना', 'आँसू', 'लहर' और 'कामायनी' के साथ-साथ नाटक के बीच-बीच आनेवाले गीतों में प्रकृति के अनूठे चित्रों को अंकित करने में प्रसाद को अपूर्व सफलता मिली है। प्रसाद प्रकृति को मात्र बाह्य रूप से ही नहीं देख रहे थे। इन्होंने उसके अन्तस् का भी उद्घाटन किया है। प्रकृति को जितनी मांसलता 'कामायनी' में प्राप्त हुई है, अन्यत्र दुर्लभ है। मानवीकरण में तो प्रसाद की कला किसी का जोड़ ही नहीं रखती है—

सिन्धु-सेज पर धरा-वधू अब तनिक संकुचित बैठी-सी।
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में मान किए-सी, ऐंठी-सी॥

प्रसाद ने भी प्रायः सभी रूपों में प्रकृति को चित्रित किया है। श्रद्धा के सौन्दर्यवर्णन में अलंकाररूप में वर्णित प्रकृति का यह चित्र कितना सुन्दर बन पड़ा है—

> नील परिधान बीच सुकुमार खिल रहा मृदुल अधखुला अंग।
> खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।।

समर्थ गायक निराला के काव्य में प्रकृति के चित्र दिव्य, समृद्ध और रहस्यात्मक रूप में आये हैं। 'बादल-राग' का उदाहरण ऊपर आ चुका है। प्रकृति को जितने सशक्त रूप में निराला ने यहाँ (बादल-राग में) व्यक्त किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ ही है। 'जूही की कली' का निम्नांकित मधु व्यापार भी अपने गत्यात्मक रूप के लिए अन्य चित्रों को चुनौती दे रहा है—

> विजन-वन-वल्लरी पर
> सोती थी सुहाग भरी— स्नेह-स्वप्न-मग्न—
> अमल—कोमल-तनु-तरुणी— जुही की कली,
> दृग बन्द किए, शिथिल,— पत्रांक में,
> वासन्ती निशा थी;
> विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़
> किसी दूर देश में था पवन
> जिसे कहते हैं मलयानिल।

उपर्युक्त वर्णन में प्रकृति का सजीव चित्र है। वस्तुतः निराला के काव्यालोचन से स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने प्रकृति को काव्य में जिस रूप में उपस्थित करना चाहा है, उस रूप में उपस्थित कर दिया है— बन पड़ा है तो सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। इसी से इनकी प्रकृति कहीं शृंगार की अप्सरा बनती है तो कहीं अट्टहास से गुँजाने वाली चण्डी, कहीं रहस्य के ताने-बाने बुनती है तो कहीं यथार्थ का रूप सँवारती है।

महादेवी वर्मा ने तो प्रकृति को छायावाद का आधारस्तम्भ ही माना है। इसी से इनके गीतों में वर्णित प्रकृति का अंदाज लगा लिया जा सकता है। महादेवी रहस्य की साधिका और अरूप की आराधिका रही हैं। इसी से इन्होंने प्रकृति को मूलतः दूती, सखि, सहायिका आदि के रूप में ही देखा है। कहीं प्रकृति इन्हें प्रियतम के आने की सूचना देती है और कहीं वह इनका शृंगारप्रसाधन जुटाती है। कहीं-कहीं इन्होंने बड़े स्पष्ट, मधुर और रंगीन तथा कहीं रहस्य से संश्लिष्ट चित्रों की योजना भी की है जिससे प्रकृति यहाँ भी नानारूपात्मक ही दीखती है। सरल और आकर्षक चित्र के रूप में इसे देखिए—

> निशा को धो देता राकेश, चाँदनी में जब अलकें खोल।
> कली से कहता था मधुमास, बता दो मधु-मदिरा का मोल।।

प्रतीकपद्धति के उदाहरण भी महादेवी के गीतों में सामान्यतः अधिक मिलते हैं। निम्नांकित चित्र प्रतीकपद्धति पर ही अंकित है—

नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ।
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ।
फूल को उर में छिपाए विकल बुलबुल हूँ।

छायावाद के चार स्तम्भों के अतिरिक्त डॉ० रामकुमार वर्मा, बच्चन, नेपाली, दिनकर इत्यादि ने भी प्रकृति के सजीव और सुन्दर चित्र अंकित किये हैं। दिनकर ने तो 'रसवन्ती' को 'कुरूप पर्वत की बाँसुरी' के साथ 'दाह की कोयल' और 'धूप में उड़ने वाली एक बूँद शबनम' ही कहा है। निस्सन्देह रेणुका, रसवन्ती, हुंकार इत्यादि में प्रकृति के यत्र-तत्र सुन्दर चित्र मिलते हैं। प्रकृतिचित्रण की 'नीलकुसुम' वाली परम्परा का चरम विकास होता है 'उर्वशी' में। 'रेणुका' के इस चित्र से ही—

आज सरित का कल-कल छल-छल, निर्झर का अविरल झर-झर,
पावस की बूँदों की रिमझिम, पीले पत्तों का मर्मर।

—दिनकर के ध्वनिसंयोजन और श्रावणिक गति का अंदाज लगा सकते हैं। अस्तु, सामान्य रूप से कहा जायगा कि छायावाद-युग में चित्रित प्रकृति का अंदाज ऊपर के थोड़े-से चित्रों से ही लगाया जा सकता है। हाँ, जहाँ एक ओर प्रकृति के सुन्दर चित्र गढ़े जा रहे थे, वहीं सत्कविता के नाम पर ऐसी तस्वीरें भी खींची जा रही थीं—

खिड़की से मत झाँकियो, चन्द्रवदनि अभिराम।
नहीं फेल कर जायगा, ब्लैक-आउट प्रोग्राम।।

छायावाद के गर्भ से ही हिन्दी कविता में प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, हालावाद, 'नई कविता' और 'नकेनवाद' इत्यादि अनेक वाद पनपते हैं। छायावादोत्तर कविता में बच्चनजी और नेपालीजी ने प्रकृतिचित्रण में अधिक सतर्कता दिखायी है। बच्चन ने प्रकृति के वासनात्मक छोर को अधिक पकड़ा है। निश्चय ही उनके कुछ गीत सुन्दर बन पड़े हैं। एक ओर इन्होंने— 'प्रिय शेष बहुत है रात, अभी मत जाओ' और 'प्रिय मौन खड़े जलजात, अभी मत जाओ'— की पुकार लगायी है तो दूसरी ओर इन्होंने 'कुदिन लगा सरोजिनी सजान सर' जैसे गीत की भी रचना की है। नेपाली तो रूप और प्रकृति के गायक ही हैं। इन्होंने प्रकृति की गत्यात्मक रमणीयता का अंकन किया है। ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

दो मेघ मिले हौले-हौले, बरसा कर दो-दो फूल चले!
उषा ने मले अबीर-गुलाल कमल के गाल लाल कर दिए।

अथवा—

प्रगतिवादी कवियों की मान्यताएँ सबसे भिन्न हैं। ये कुरूप पक्ष पर ही अधिक जमते हैं—

कूड़ा-कर्कट जो कुछ भू पर, सब कुछ सार्थक सब कुछ सुन्दर।

इनकी मान्यताएँ अपनी हैं। ये पुरातनता का नाश चाहते हैं। इनकी दृष्टि में साहित्य समाज का दर्पण नहीं, हथौड़ा है। ये यथार्थवादी तूलिका से ही चित्रांकन करते हैं। पंत की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में प्रकृति के अधिकांश चित्र प्रगतिवादी भावना से ही ओतप्रोत हैं। नरेन्द्र, अंचल, सुमन इत्यादि के चित्र भी प्रगतिवादी भावना से ही रंजित हैं। नकेनवादी कविता में प्रगतिवादी चित्रण से भी भिन्नता मिलती है। यहाँ दो उदाहरण देखे जा सकते हैं—

१. बालू के ढूह हैं जैसे बिल्लियाँ सोई हुई,
उनके पंजों से लहरें दौड़ भागतीं।
सूरज की खेती चर रहे मेघ-मेमने
विश्रब्ध, अचकित। —नलिनविलोचन शर्मा (सागरसंध्या)

२. नहीं,
साँझ
एक रद्दी स्याहीसोख है
जो काले मूल पर लाल संशोधनों को,
लाल संशोधनों पर काले मूल को,
उलटा लेता है, काकपद समेत
और समन्वय के द्वन्द्व में
स्वयं बेकाम हो जाता है। —केसरीकुमार (साँझ)

प्रकृतिवर्णन के उपर्युक्त उदाहरण अद्यतन हिन्दी काव्य में प्रकृतिवर्णन की विकसित नवीन शैलियों को समझने के लिए काफी हैं। यहाँ जो भी उपमान प्रयुक्त हुए हैं, उनका मानव-जीवन से गहरा सम्बन्ध है।

अन्त में एक बात और। हिन्दी में एकत्र रूप से प्रकृति के उत्तम गीतों के संकलन का अभाव-सा है, जिससे पाठक आनन्द लेना चाह कर भी आनन्द नहीं ले पाता है। अज्ञेयजी की 'रूपाम्बरा' इस दिशा का मार्गस्तम्भ है। भविष्य में हिन्दी कविता से प्रकृति का कैसा सम्बन्ध रहेगा, इसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता; किन्तु कभी-कभी इस बात से निराशा अवश्य होती है कि महानगरों की ऊँची अट्टालिका में बैठकर खिड़की से प्रकृति का दृश्य देखने वाले कवि प्रथम श्रेणी के चित्र कैसे दे सकेंगे। हाँ, यदि अपरागत—सेकेण्ड हैण्ड—से ही काम चलाना हो तो कोई बात नहीं। हमें अपनी सीमा विस्तृत करनी होगी, तभी हम प्रकृति का पूरा आनन्द उठा सकेंगे।

४५

हिन्दी काव्य में नारी-वर्णन

[नारी : मान्यता—वीरगाथा : भक्ति—संत : सूफी—तुलसी—सीता : राधा—विद्यापति : सूर—शृंगारकाल : नायिकाभेद—परिष्कार : भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग : काव्येर उपेक्षिता और सुधारवादी दृष्टि—छायावाद : कामायनी और समवेतस्वभाव—प्रगतिवाद : सामान्य नारियाँ—प्रयोग और नई कविता : नग्न दृष्टि]

कलाकृतियाँ चाहे जैसी भी हों, उनमें एक बात सर्वत्र मिलती है—नारी-रूप का विस्तार। आज चाहे किसी वस्तु की बिक्री का विज्ञापन हो या कैलेण्डर, चाहे वीरता के लिए आह्वान हो या विद्यानुरागिता की प्रेरणा, चाहे शृंगार का आलम्बन हो या करुणा का आश्रय—प्रत्येक जगह नारी के रूप-गुण का ही सहारा लिया जाता है। नारी के इन विविध रूपों का विस्तार पुरुषों द्वारा किया गया है और यह विस्तार किया गया है पुरुषों की मानसिक तृप्ति के लिए। भले ही सृष्टि-विधान के अनुसार ईश्वर के आधे भाग से पुरुष का और आधे भाग से स्त्री का निर्माण हुआ हो, रहे होंगे ये कभी एक-दूसरे के पूरक; किन्तु आज ऐसी बात है नहीं। मिला होगा कभी नारियों को समानाधिकार, नारियों का पूजास्थल बना होगा देवताओं का निवासस्थल कभी; पर आज यह कल्पना तो झूठी ही प्रतीत होती है। यह श्लोक—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः"—भी तो आखिर लिखा गया है पुरुषों द्वारा ही न ! आज तो नारियों की दशा हमें इस श्लोक पर अविश्वास करने को विवश कर रही है। नारी के माता और पत्नी-रूपों में मातृत्व की महत्ता का निर्घोष भी कपोलकल्पित-सा ही लगता है। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' और 'क्वचिदपि कुमाता न भवति' जैसे सूत्र वाक्यों की रट तो हमने लगायी है अवश्य; किन्तु इनकी स्थिति वैसी ही है जैसे रामनामी चादर के नीचे कामशास्त्र की पोथी। हाँ, कहने को भले हम कह लें कि भारत में नारी साधना के अंग के रूप में स्वीकृत है; पर वस्तुस्थिति ऐसी है कि हमने इसे यौन-(Sex) विकृति के रूप में ही स्थान दिया है। नारी के गर्हित रूप—कामिनी-रूप—के शमन हेतु शंकर के तीसरे नेत्र की व्यवस्था तो हमने की, किन्तु यौनतुष्टि ही मुख्य हो गयी। नारी की विमोहिनी शक्ति हमें सदा आकृष्ट करती रही है। जनककन्या हमें स्वयंवर में प्राप्त करने के लिए आमंत्रित कर चुकी है और कर चुकी है पांचाली अपने एक कटु हास्य में

अठारह अक्षौहिणी पुरुषों का नाश। हमने वसन्तसेना, वासवदत्ता, शकुन्तला, मालती, रत्नावली इत्यादि में नारी के रूपलावण्य की शक्ति पायी है। यदि महाश्वेता और कादम्बरी के रूप साधना, पवित्रता और दिव्यता की प्रतिमूर्त्ति हैं तो काममंजरी के रूप में समस्त कुटिलता का आगार। इसी से तो आज हम आश्चर्य-चकित हो प्रसादजी के स्वर में स्वर मिला कर कह रहे हैं—'हे अनन्त ! रमणीय कौन तुम'।

समय बदल जाता है, स्थितियाँ बदल जाती हैं और बदल जाते हैं सारे साज। वैदिक युग के घसकते ही नारियों की स्थिति भी बदल जाती है। हमने वैदिक युग में नारियों को शक्ति का प्रतीक माना, मातृत्व के रूप में उनकी उपासना की, अर्द्धांगिणी और सहचरी के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित किया; किन्तु ये अधिकार अस्थायी थे। निश्चय ही पुरुषों ने स्वार्थ से काम लिया। इसी से रामायण-युग तक आते-आते नारी को 'सहचरी' से 'छायेवानुगता सदा' बनाया गया। राम ने व्रत लिया एकपत्नीत्व का, किन्तु पुरुषों को भला यह कैसे स्वीकार्य होता—भ्रमरवृत्ति के उपासक जो ठहरे ! और फिर, जरा महाभारत के पृष्ठों को पलटिए। यहाँ मिलेंगे शल्य, गान्धारनरेश, भीष्म, पाण्डु, पाण्डव, जरासन्ध इत्यादि। पढ़ जाइए इन लोगों के करतब और विचारिए न नारियों की सामाजिक स्थिति—सब साफ-साफ ही तो है। न समझें तो सुन लीजिए—नारीरूपिणी बहन को दूसरे की अंकशायिनी बनने के लिए विवश कर सकते हैं शल्य, द्रव्यलोभ के कारण अपनी पुत्री को अन्धे के हाथों बेच सकते हैं गान्धारनरेश, भाइयों की कामतृप्तिहेतु नारियों का हरण कर सकते हैं भीष्म, व्यभिचार करने-कराने की आज्ञा दे सकते हैं पुंसत्वहीन पाण्डु, एक ही नारी को सहभोग्या बना सकते हैं पाण्डव, नारी को जुए के दाँव पर लगा सकते हैं स्वयं धर्मराज और चिड़ियों की भाँति संग्रहालयों में नारियों का संग्रह कर सकता है जरासन्ध—यह है नारियों की स्थिति महाभारतकाल में। खैर, विशेष बल न देकर सारांशरूप में यही समझा जा सकता है कि नारियों को पुरुषों ने सामान्य निर्जीव वस्तु के रूप में ही ग्रहण किया है—चाहे इसे वंशवृद्धि और मनोरंजन का यंत्र मानें या कठपुतली, बात एक ही है।

यह तो हुई परम्परा की बात। अब जरा हिन्दी-काव्य में वर्णित नारीरूपों पर भी विचार कीजिए। नारी का रूपचित्रण यहाँ भी अधिकांशतः परम्परित रूप में ही हुआ है। यदि नाम पर विचार न करें तो सर्वत्र प्रायः वर्णनसाम्य ही मिलेगा। हाँ, देशकालगत परिवर्त्तित मान्यताएँ साथ लगी हुई हैं अवश्य। हिन्दी में राधा, पद्मावती, राजमती, नागमती, उर्मिला, यशोधरा एवं अन्य अनेक अज्ञात-नामा नारियाँ अपने संयोगसुख और वियोगदुःख के लिए सदा स्मरणीय रहेंगी। वर्णनबाहुल्य पर विचार किया जाय तो राधा अग्रणी रहेगी।

हिन्दी के आदिकाल में, जिसे प्रवृत्ति की दृष्टि से भक्तिकाल (देखिए निबन्ध-संख्या २-) कहेंगे, नारियों का चित्रण कई रूपों में मिलता है। रूपवैविध्य की दृष्टि से नारीवर्णन में यही काल अग्रणी है, यद्यपि इनका समुचित प्रतिष्ठापन हुआ है छायावादी काव्य में ही। मूँछों की लड़ाई को चित्रित करने वाले तथाकथित वीर-काव्यों में युद्धों का एकमात्र कारण थी नारी, सुन्दर नारी—'जिहि की बिटिया सुन्दर देखि, तिहि पर जाइ धरे हथियार'। चाहे संयोगिता हो या शशिव्रता, पद्मावती हो या राजमती—इनकी सुन्दरता ने युद्धों के लिए प्रेरित किया है। इन वीरकाव्यों में नारी-सौन्दर्य का मनोहर रूप चित्रित है। देखिए शशिव्रता की वयःसन्धि का चित्र।

पत्त पुरानिग झरिय पत्त अंकुरिय उट्ठ तुच्छ।
ज्यों सैसव उत्तरिय चढ़िय वैसव किसोर कुछ।
शीतल मंद सुगन्ध आइ रितिराज अचानं।
रोमराइ सँग कुच नितम्ब तुच्छं सरसानं।
बढ्ढै न सीत कटि छीन ह्वै लज्जमांन ठंकनि फिरै।
ठंकै न पत्त ठंकै कहै बन बसन्त मंत जु करै॥

'बीसलदेवरासो' की राजमती के दिन रोते-रोते कटते हैं। उसका जीवन इतना दूभर है कि वह महेश को उलाहने देती है। इससे उत्तम तो यही होता कि वह वन्य जन्तुओं में ही जन्म पाती—

अस्त्रीय जनम काँइं दीधउ महेस, अवर जनम धारइ घणा रे नरेस।
रानी न सिरजीय रोझड़ी, घणह न सिरजीय धउलीय गाय।
बनषंड काली कोइलो, हउँ बइसती अंबा नई चंपा की डाल।
भषती दाष विजोरडी॥

इसमें 'सन्देसरासक' की परम्परा में ही वियोग का वर्णन मिलता है। हाँ, इन वीरकाव्यों में नारी का एक दूसरा रूप भी चित्रित है। युद्ध में गये पति के बारे में ये सोचती हैं—

बिण मरियाँ बिन जीतियाँ जो धव आवे धाम।
पग पग चूड़ि पाछट्टूँ तो रोवत री जाम॥

किन्तु नारी के इस रूप की व्यंजना कम ही हुई है। तात्पर्य यह कि यहाँ अधिकांश नारियाँ व्यक्तित्वविहीन ही हैं। आश्रयदाताओं की प्रशस्ति में वीरगाथाकारों ने नारियों के व्यक्तित्व की पूर्ण विवृति नहीं की है।

और, संतों की तो पूछिए ही मत। ये विधिनिषेध तक ही अधिक सीमित हैं। कभी-कभी ये भी थोड़ा बढ़ कर कहते हैं अवश्य। 'नारी की झाईं परत, अन्धा होत भुजंग' और 'कबिरा तिनकी कौन गति, नित नारी के संग' की रट लगाने वाले बाबा कबीरदास भी पतिव्रता का मूल्य आँक रहे हैं—

पतिव्रता मैली भली, गले काँच की पोत।
सब सखियन में यों दिपै, ज्यों रवि ससि की जोत॥

भले ही ये पतिव्रता की ओर उदार हैं, किन्तु नारी को ये सदा मायाविनी ही मानते रहे हैं। अस्तु, इनकी रचनाओं में भी नारी के प्रति न्याय नहीं है।

सूफी संतों ने प्रेमाख्यानों में नारी को बँधे-बँधाये रूप में ही चित्रित किया है। पद्मावती, मधुमालती, हंसावती, इन्द्रावती इत्यादि एक ही हैं। इन्होंने नायिका को ब्रह्म का प्रतिरूप माना है। इसी से ये पुरुषों को मात्र सन्देशप्रेषण पर ही प्राप्त नहीं होतीं— इनकी प्राप्ति के लिए पर्याप्त साधना की आवश्यकता होती है।

पर, खटकने वाली बात यहाँ भी है, जिससे इन नायिकाओं को ब्रह्म मानने में शंका होती है। यदि ऐसा कहा जाय कि प्रेमाख्यानों की नायिकाओं में अन्य नायिकाओं की अपेक्षा वासनात्मकता और कामुकता अधिक है, तो अत्युक्ति न होगी। पद्मावती के शब्दों में सुन लीजिए—

सुनु हीरामन कहौं बुझाई, दिन-दिन मदन सतावै आई।
देस-देस के बर मोहिं आवहिं, पिता हमार न आँख लगावहिं।
जोवन मोर भयउ जल गंगा, देह-देह हम्ह लाग अनंगा।
× × × ×
जोवन अस्र मैमन्त न कोई, नवैं हस्ति जो अंकुस होई।

वस्तुतः इन नारियों में हृदय के आवेग की अपेक्षा यौवन का ज्वार, मन की प्यास की अपेक्षा तनताप का आधिक्य है। कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि दया, माया, ममता, लज्जा और शील की देवियाँ भी इतने अश्लील रूप में प्रकट हो सकती हैं। पर उत्तरार्द्ध में इनके त्याग, तपस्या, बलिदान आदि के भी चित्र मिलते हैं। ये आदर्श हिन्दू गृहणियों के रूप में चित्रित हैं। इनकी वियोगावस्था में इनका सच्चा हृदय सामने आता है। नागमती की सुनिए—

पिउ सों कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धन बिरहै जरि मुई, तेहिक धुँआ हम लाग॥

और, अब जरा खबर लीजिए बाबा तुलसी की। इन्होंने सीता को जगदम्बा का स्थान तो दिया, कौशल्या की स्तुति तो की, किन्तु मंथरा और कैकेयी के रूप में त्रियाचरित्र का भी पूर्णतः उद्घाटन किया। नारी को 'सहज अपावनि' तो कहा ही, आठ अवगुणों से भी पूर्ण कह कर तुलसी ने नारी के एक अन्य रूप—गर्हित रूप—का भी उद्घाटन किया। ऐसी ही नारियों के प्रति तुलसी के ये वाक्य— 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी' अथवा 'अधम ते अधम अधम अति नारी'—जनमानस पर छा गये हैं, जिससे तुलसी की नारी-भावना पर लोग आक्षेप करते दीखते हैं। वस्तुतः नारियों के प्रति तुलसी के ये अर्थवाक्य

नहीं हैं। तुलसी ने नारी की सामाजिक मर्यादा पूर्ववर्त्ती साहित्य की अपेक्षा अधिक उन्नत रूप में रखने की चेष्टा की है। इसी से सीता को सतीत्व की रक्षा के निमित्त मात्र अग्निपरीक्षा ही देनी पड़ती है; किंवदन्ती के परिणामस्वरूप अयोध्या से पुनः बहिष्कृत नहीं होना पड़ता है। शृंगारचित्रण में भी तुलसी ने लोकलाज, कुलमर्यादा का गार्हस्थिक रूप भुलाया नहीं है—

प्रभुहिं चितइ पुनि चितव महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज-मीन-जुग, जनु विधुमंडल डोल॥

सम्भवतः इसी से भारतीय आलोचकों की कौन कहे, प्रख्यात रूसी आलोचक विन्टेचीस्की ने भी लिखा है कि "तुलसी की रचनाओं में हमें जितना सुन्दर और आकर्षक नारीरूप देखने को मिलता है, उतना मनोरम रूप अन्यत्र कहीं नहीं मिला।" इसी के समान रूसी लेखिका लियोन्कीस्को के विचार भी हैं—"नारी-जीवन की गहराइयों में जितना यह महान् कवि (तुलसी) प्रवेश कर पाया है, आज तक शायद ही किसी कवि ने किया हो। × × × तुलसी की नारी रूढ़िवादी नारी नहीं। वह नारीत्व की मर्यादा में बद्ध अवश्य है; किन्तु जीवन के विकासक्षेत्र में वह सबसे आगे है। अगर विश्व की नारियों का रूप तुलसीदासजी की नारियों के समान हो जाय तो विश्व की महिलाओं की कायापलट हो जाय और फिर हमें जीवन के सत्यं, शिवं और सुन्दरम् के दर्शन होने लगेंगे।" तो ऐसी है तुलसी की नारी। हाँ, यदि आप रूसी-गुट से अलग हैं, अमेरिकन-गुट के हैं, तो सुन लीजिए अमरीकी विद्वान् श्री फिल्सीडोन के विचार—"भारतीय नारी का जितना पवित्र, उत्कृष्ट एवं प्रगतिशील रूप हमें महान् कवि तुलसी की कृतियों में मिलता है, उतना विश्व में कहीं नहीं।" अब तो हो गया होगा आप को विश्वास। इसी से तो आज के प्रगतिशील बनाम प्रगतिवादी भी तुलसी में ही अपना मूल उत्स खोजते नजर आते हैं।

खैर, छोड़िए इन्हें। थोड़ा देखिए राधा को। हाँ जी, राधा को—उसी को जिसने विद्यापति से लेकर समस्त रीतिकाल तक अपना एकाधिकार कर रखा है। राधा के रूप में विद्यापति ने सौन्दर्य को ही मूर्त्त किया है। विद्यापति की राधा की चर्चा करते हुए लोग प्रायः उसके संयोगसुख की अश्लीलता की चर्चा करते हैं। भाई, ऐसे लोगों से मुझे विरोध नहीं; किन्तु एक निवेदन तो है ही—एक तो शृंगार और दूसरे संयोगवर्णन; अश्लीलता तो आयगी ही, फिर यह नाक क्यों सिकोड़ रहे हैं। संयोगसुख की चर्चा तो सभी करते हैं, किन्तु इसे भी किसी ने आँका कि उसने वियोग में कितने आँसू बहाये। लोग देखें तो क्यों, फुर्सत ही नहीं। वस्तुतः विद्यापति की राधा प्रेयसी नहीं, गृहिणी है। श्रीकृष्ण इसे ब्याह कर लाये हैं। इसी से इसमें जलन की अधिकता है। बेचारी करे तो क्या, अधिक ऊबती है तो थोड़ा उपालम्भ दे लेती है; किन्तु अधिक समय वह संयोगसुख को ही

स्मृत करती है। वाचाल तो है, वाचाट नहीं। शुद्ध स्वकीया ही है, परकीया नहीं। यों एकाध स्थल पर विद्यापति ने भी 'कुलटा' की बात की है अवश्य, पर अधिकांश वर्णन इनका स्वकीयागत ही है।

राधा का समुचित शृंगार करते हैं अन्धी आँख से सूरदास। आँख न होने पर तो यह हाल है, यदि आँखें होतीं तो न जाने क्या करते। यहाँ राधा का प्रेम एकाएक नहीं पनपता, क्रमशः विकसित होता है। कृष्ण के लिए राधा-परिवार अपरिचित नहीं है। अस्तु, सूर की राधा का प्रेम है तो गहराई लिये, किन्तु रूप है विशुद्ध प्रेयसी का ही, गृहिणी का नहीं। वह प्रेयसी होने के कारण ही मानिनी भी है। तभी तो गोकुल में ही रोती-तड़पती रह जाती है, किन्तु यमुना पार कर मथुरा भी नहीं जाना चाहती; जबकि विद्यापति की राधा प्रियतम से मिलने के निमित्त स्वर्ग तक भी दौड़ जाना चाहती है। विद्यापति की राधा सन्तोष में ही सुख मान लेती है, मात्र प्रिय की कल्याणकामना करती है; किन्तु सूर की राधा के नेत्र सदा बरसते ही रहते हैं, कंचुकी भींगती ही रहती है और बना रहता है हृदय बरसात।

सूर के अलावा अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी राधा का सौन्दर्यचित्रण और राधा-कृष्ण के प्रेम का वर्णन किया है; किन्तु वैसी गहराई और तल्लीनता का प्रायः सर्वत्र अभाव ही मिलता है, जिसकी आशा की जाती थी। इसी से आचार्य शुक्ल ने अन्य कवियों की उक्तियों को सूर का जूठन कहना ही श्रेयस्कर समझा है। हाँ, जोड़ में आते हैं नन्ददास। पर तौलनिक रूप से विचारने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर की राधा जहाँ मात्र व्यंग्योक्तियों तक ही सीमित है, वहाँ नन्ददास की राधा 'षट्पद पशु', 'मरत कह बोल' आदि तक भी कहती है। एक है बिलकुल भोली-भाली गाँव की गँवारिन, दूसरी आधुनिका की तरह तर्ककर्कश और पण्डिता। दोनों प्रायः एक-दूसरे के विपरीत ही हैं।

सब कुछ होते हुए भी इसे अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि कृष्णभक्तों ने राधा तथा अन्य गोपियों के रूप में नारी का जो चित्र उतारा है, उसमें शृंगार का बाहुल्य है। यद्यपि आज कतिपय विचारक 'नीवी खोलना', 'चोलीबन्द तोड़ना', 'गोरसहरण' आदि का अध्यात्मपरक अर्थ करते हैं—इन्हें प्रपत्तिवाद से बाँधते हैं; फिर भी इसे कैसे भुलाया जाय कि इसी आधारशिला पर शृंगारकालीन काजल की कोठरी तैयार होती है। भले ही सूर के कृष्ण मायापति हों, मायाग्रस्त गोपियों को मुक्त कर रहे हों, चीरहरण के रूप में माया के परदे को चीरते हों; किन्तु क्या इसने रीतिकालीन विलासिता के लिए पथ प्रशस्त नहीं किया?

समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि भक्तिकालीन काव्य में नारी का चरित्र दो रूपों में है— संतों ने निषेधवृत्ति ही अधिक दिखायी है, किन्तु भक्तों ने गार्हस्थिक रूप पर बल दिया है। प्रेमाख्यानों से कोई प्रेरक तत्त्व सामने

नहीं आता। वीरगाथात्मक रचनाओं में नारी वीररूपों में भी चित्रित है; किन्तु अधिकांशतः वह यंत्रवत् ही चित्रित है।

शृंगारकालीन काव्य में नारी पूर्ववर्ती रूप में—कृष्णभक्ति के क्रोड़ से उत्पन्न विलासिनी-रूप में—चित्रित तो है ही, यहाँ इसका एक और रूप सामने आता है। नायिकाभेद की परम्परा प्रारम्भ होती है। स्वकीया से अधिक वर्णन परकीया और सामान्या का ही हो चलता है। इन दोनों रूपों पर विचारने से निम्नांकित बातें सामने आती हैं।

हिन्दी में शृंगारकालीन काव्य रंगीन काव्य है, रसिकों का काव्य है। इसके प्रेरक तत्त्व, प्रेरणास्रोत और समकालीन वातावरण अपने हैं। मुगलों की आलीशान इमारतें, मकबरे, मस्जिदें तत्कालीन रंगीनी और कला में पच्चीकारिता के आदर्श हैं। इनके अन्तःपुर इन्द्रपुरी को भी मात करने वाले थे। तत्कालीन दरबार आधुनिक 'एयरकंडीशंड चैम्बर्स' को भी मात करने वाले थे। विलासिता के इस साज ने नारी के भी मात्र कामोद्दीपक और विलासी रूप को ही सामने प्रस्तुत करने के लिए साहित्यकारों को बाध्य किया है। इसी से शृंगारकालीन राधा व्रज के कुंजों में विचरने वाली नहीं, वह आगरे और जयपुर की गलियों में विचरने वाले छैलछबीले, मनफेंक कृष्ण की नायिका है। इसमें तीखी नोकझोंक और वाणी का चातुर्य तो है—

गोरस चाहत फिरत हौ, गोरस चाहत नाहिं।

हाव-भाव तो है—

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हँसै, दैन कहै नटि जाय॥

किन्तु आत्मसम्मान का भाव नहीं है। ये कवि नारी को कभी काम की फुलवारी बना देते हैं और कभी शतरंज की मुहरें। इनके संयोग में विपरीत-रति का ही आधिक्य है और वियोग में ऊहा का। इस समय परकीया और सामान्या का वर्णन सर्वाधिक हुआ है। इसके पूर्व हिन्दी-काव्य में सपत्नियों के क्रियाकलापों का अधिक वर्णन होता था। श्रद्धेय आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार, "परकीया की चेष्टाओं, विदग्धता आदि का आधिक्य फारसी साहित्य के सम्पर्क के कारण हुआ है।" यह परकीयाप्रेम है ही सम्भ्रान्त सामाजिकों को चौंकाने वाला।

इस युग में नारी का वर्णन एक और पद्धतिविशेष पर हुआ है। इस समय नायिकाभेद के सिद्धान्त ने नारी के विविध रूपों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये। यह रूढ़िनिर्वाह की परम्परामात्र है। इससे यह स्पष्ट है कि पुरुषों ने नारी को विलासमय उपभोग की सामग्री के अलावा और कुछ नहीं माना है।

एकाधिक नारियों के साथ रतिप्रसंग तो पुरुषों का जन्मसिद्ध अधिकार ही है; किन्तु ऐसी छूट नारियों को नहीं दी गयी है। सोचिए, 'परकीया' का परकीयात्व भी इसी में है कि वह अपने पति को छोड़ केवल एक ही परपुरुष की वासनातृप्ति का साधन बने, भले ही वह पुरुष अनेक स्त्रियों का उपभोक्ता क्यों न हो। नारी 'कुलटा' हो सकती है, किन्तु पुरुष नहीं। दक्षिण, शठ और धृष्ट नायकों के प्रति शास्त्रों ने तिरस्कार नहीं जताये। और की बात क्या, सपत्नियों में भी 'ज्येष्ठा' वही होगी जो अन्य सौतों की अपेक्षा पति से ज्यादा स्नेह प्राप्त करे, भले ही वह अन्य गुणों में या वय में ज्येष्ठा क्यों न हो। 'अज्ञातयौवना' को पुरुष विलास का साधन बना कर काव्य का विषय बना सकता है; किन्तु सांकेतिक चेष्टाशून्य 'अनभिज्ञ' नायक का वर्णन काव्य में रसाभास का ही विषय होगा। आखिर 'अज्ञातयौवना' के यौवन के साथ यह खिलवाड़ क्यों? हाँ, पुरुष को छूट है। वह रात में परनारी के साथ सम्भोगोपरान्त प्रातःकाल रतिचिह्नों को लेकर स्वकीया के सम्मुख ढीठ बन खड़ा हो सकता है; किन्तु 'उत्तमा' को इतनी भी छूट नहीं कि कुछ कहे, अनिष्ट सोचे; अन्यथा वह 'मध्यमा' या 'अधमा' बन जायगी। ऐसी नादिरशाही बरती है पुरुषों ने शृंगारकालीन नारियों पर। यदि नारी 'मानवती' भी बनती है तो 'असाध्यस्तु रसाभासः' के अनुसार उसे मान तोड़ देना ही पड़ता है। आवेशाधिक्य में क्रोधाभिभूत हो नारी यदि पुरुष को निकाल भी देती है, तो उसे 'कलहान्तरिता' बन कर पश्चात्ताप करना पड़ता है। अस्तु, स्पष्ट है कि शृंगारकालीन काव्य की नारी पुरुषों की कठपुतली है, विलास की सामग्री है और है उपभोगमय उपयोग। वस्तुतः इसका दोष साहित्यकारों को नहीं दिया जायगा। साहित्य तो समाज से अनुप्राणित होता है। तत्कालीन समाज ही ऐसा था। श्री एस० के० बनर्जी ने अपनी पुस्तक 'Lures of India' में तत्कालीन नारियों का वर्णन इस प्रकार किया है—"She has to be attractive to her husband as any mistress would be, yet her faithfulness to the lord should never be questioned. She had to be proficient in all the sixtyfour erotic wits." किन्तु इन शृंगारकालीन कवियों में भी स्वच्छन्दतावादी कवियों—मूलतः घनानन्द—ने नारिचित्रण में मनोयोग दिया है और इन्होंने उसे अपनी हृदयेश्वरी के रूप में स्वीकृत कर दर्द की रागिनी दी है।

काव्य में नारिरूपों का परिष्कार भारतेन्दु-युग से ही प्रारम्भ हो जाता है। दृष्टिकोण बदलते हैं। 'नीलदेवी' में नारी वीर, धीर और नीतिनिपुण के रूप में मिलती है। इसके पश्चात् आता है द्विवेदी-युग। यह युग आचारप्रधान और सुधारवादी था। शृंगार की जड़ ही इस समय काट दी गयी थी। साथ ही रवीन्द्रनाथ की 'काव्येर उपेक्षिता' और द्विवेदीजी की 'उर्मिलाविषयक उदासीनता'

जैसी रचनाओं ने नारियों के प्रति साहित्यकारों में नवीन भावनाओं का संचार किया। फलतः 'साकेत', 'यशोधरा' आदि काव्यों में नारी नये रूपों में सामने आयी। उर्मिला और यशोधरा के रूप में गुप्तजी ने भारतीय नारियों का स्वरूप खड़ा किया। गोस्वामीजी की जानकी का ही नवीन रूप गुप्तजी की नारियों में सामने आया। हाँ, इसमें देशकालगत परिवर्तन अवश्य हुआ है। 'साकेत' में उर्मिला भारतीय नारी की त्यागमयी मूर्त्ति, कौशल्या माँ, सुमित्रा क्षत्राणी, कैकेयी महत्त्वाकांक्षा और उसकी व्यर्थता तथा सीता अपेक्षाकृत आधुनिक नारी के रूप में चित्रित हुई हैं। हाँ, गुप्तजी ने यहाँ एक नयी बात और दी है—भाभी-देवर-विनोद। यह 'भाभी-देवर-विनोद' संसार में एकमात्र भारतीय परिवार की अमूल्य वस्तु है।

'यशोधरा' में नवीनीकरण का आदर्श गाँधीवादी अधिक है। यशोधरा के व्यक्तित्व में भी तत्कालीन स्थितियों का चित्रण सफलतापूर्वक किया गया है। वह अपना उत्तरदायित्व जानती है— 'वधू-वंश की लाज दैव ने आज मुझी पर डाली'। यह मुक्ति की बाधिका नहीं, साधिका है, जिसका महत्त्व स्वयं भगवान बुद्ध ने स्वीकार किया है—

दीन न हो गोपे, हीन नहीं नारी कभी,
भूत-दया-मूर्त्ति वह मन से, शरीर से।

जिस प्रकार तुलसी की सीता का परिष्कार ही यशोधरा और उर्मिला के रूप में इस युग में हुआ, उसी प्रकार सूर आदि की राधा का, यशोदा का, गोपी इत्यादि का भी इस युग में नवीनीकरण हुआ है। सत्यनारायण कविरत्न ने यशोदा को भारतमाता के रूप में ही चित्रित किया है। अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने राधा को लोकसेविका का रूप दिया है। तात्पर्य यह कि द्विवेदीयुगीन कविता में भारतीय नारी अपने वास्तविक रूप की ओर उन्मुख होती है, जिसकी परिणति छायावाद-युग में होती है।

छायावादी काव्य में मानववादी चेतना विकसित होती है। अब नारी पुरुष की दासी नहीं रहती। इसे 'देवि ! माँ ! सहचरि ! प्राण !' का संश्लिष्ट सम्बोधन मिलता है। 'कामायनी' में श्रद्धा मनु की पथदर्शिका बनती है। पंतजी नारी को युगों की बर्बर कारा से मुक्त करने की आवाज लगाते हैं—

मुक्त करो नारी को मानव, चिरबन्दिनि नारी को।
युग-युग की बर्बर कारा से, जननि सखि प्यारी को।

और, सचमुच नारी एक बार मुक्ति की साँस लेती है। प्रसाद अपने नाटकों में उसे नया रूप देते हैं। 'कामायनी' में वे नारी की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

नारी, तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पगतल में।
यूँ पीयूष-स्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।

अब हमें नारी में मानवीय चेतना, दीप्ति, बुद्धि, स्फूर्त्ति, हृदय का अनुराग, लावण्य, वात्सल्य इत्यादि का व्यापक रूप देखने को मिलता है। सतीप्रथा और बालविवाह आदि प्रथाओं के बन्द हो जाने से नारी में नयी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। यह 'आँचल में है दूध और आँखों में पानी' लेकर हमारे सामने आती है। नारी के रूप को सँवारने में श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान के नाम और काम महत्त्वपूर्ण हैं। वे 'खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी' के रूप में जहाँ वीररूप का परिचय देती हैं, वहीं वात्सल्यसम्बन्धी कविताओं में स्थायी रमणीयता लाती हैं—

> बीते हुए बालपन की यह क्रीड़ापूर्ण वाटिका है।
> वही मचलना, वही किलकना, हँसती हुई वाटिका है।

ऐसा कहना गलत न होगा कि छायावादी काव्यधारा के केन्द्र में एक नारी ही बैठी है, जिसकी वयःसन्धि का चित्र पंत ने, यौवन का चित्र प्रसाद ने, रतिक्रीड़ा और शक्ति का चित्र निराला ने और वेदना का चित्र महादेवी ने अंकित किया है। छायावाद के क्रोड़ से उत्पन्न प्रगतिवाद ने जब अपना रूप फैलाया तो पंत ने 'युगवाणी', 'ग्राम्या' आदि में प्रगतिवादी रूप में भी नारिसौन्दर्य का अंकन किया। पंत ने नारी का यह रूप भी देखा है—

> सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित।
> भूतयोनि वह मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित।

नारिचित्रण में एक और परिवर्त्तन इस समय लक्षित होता है। पूर्ववर्ती काव्य में मात्र उच्चकुलोद्भव नारियों का ही वर्णन हो रहा था; बुर्जुआ-वर्ग की नारियाँ, सामान्य स्तर की मेहनतकश नारियाँ काव्य का विषय नहीं बन सकी थीं। इस युग में सामान्य और मेहनतकश नारियों के भी चित्र सामने आये। इलाहाबाद के पथ पर पत्थर तोड़ने वाली नारी का चित्र इसी समय काव्य में उभरता है। ऐसा लगता है, मानो युग-युग के ओस इस युग में अंगार का रूप लेकर, चाँदनी धूमकेतु का रूप धारण कर संसार को ललकारने पर तुल उठी है।

पर छायावादियों ने भी, विशेषतः पंत ने ही नारी को शृंगारकालीन रूप में जहाँ-तहाँ उपस्थित करने की चेष्टा की है। हाँ, ऐसे वर्णनों की कमी है अवश्य।

अत्याधुनिक काव्यों में—प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, 'नई कविता' आदि में—नारी के व्यावहारिक रूप पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। इन काव्यों में मेहनतकश नारियों पर ही लोगों का यथार्थवादी ध्यान अधिक रमा है। पर ऐसे कवियों और कविताओं की कमी अवश्य है जो यथार्थ के नाम पर नारी के शरीर का सर्वेक्षण ही प्रस्तुत करते हैं। हाँ, कुछ कवि ऐसे अवश्य हैं जो झोपड़ियों में अर्द्धनग्न शरीर के दर्शन कर रहे हैं। इन वर्णनों में शृंगारकालीन आदर्श ही अधिक है, यथार्थ का

अंकन कम; मानसिक व्यभिचार की सन्तुष्टि का ही प्रयत्न अधिक है, प्रगतिवादी विचारधारा कम। ये उदाहरण पर्याप्त होंगे—

वही जो जा रही आँचल दबाये
कुएँ के पास
यौवन की बहारों को समेटे
कि जिसकी छातियाँ हैं
अभी उठती उभरती
कच्ची नाशपातियाँ हैं
और काठ की कठोरता है जिनमें
अभी तक जिन पर
खरखराते और रुखड़े
कुदाली और हँसिया के ठेलेदार
हाथ नहीं हैं पड़े।

अथवा—

अर्द्धनग्न पड़ी अपने पलंग पर
कर देती समर्पित सोल्लास अपना शरीर
उस मनहूस को, खूसट की ठूँठ को
जो तुम्हारी जाँघ और पिंडलियों पर
मस्त हो कूद बनमानुस-सा जानवर-सा काँपता।

यदि यथार्थवाद के नाम पर ऐसा अतियथार्थ चित्रित होता रहा, अमर्यादित विलासिता के चित्र उतारे जाते रहे तो ये काव्य के कलंक ही कहे जायँगे। अच्छा यही है कि ऐसे वर्णन कम ही हो रहे हैं।

●

४६

हिन्दी काव्य में विरहवर्णन

[तात्पर्य—भारतीय चार रूप : दस कामदशा—वैदिक, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश—हिन्दी : नये आदर्श और वर्गीकरण—आलम्बन : लौकिक और अलौकिक—भारतीय पद्धति : पाश्चात्य प्रभाव—मुक्तक : प्रबन्ध—शास्त्र : लोक—तुल्यविरह : एकपक्षीय—स्वकीया-परकीया : प्रभाव—प्रेमिका : अन्य रूप—वात्सल्य—विरह—बारहमासा—रासोपरम्परा—विद्यापति और संत कवि—मीरा : महादेवी—सूफी प्रेमाख्यान : जायसी—राधा : विद्यापति, सूर, नन्ददास—शृंगारकाल : बिहारी और घनानन्द—रीतिमुक्ति का आधुनिक काल—रत्नाकर : तुल्यानुराग—छायावाद और तदनन्तर]

विज्ञान के बढ़ते युग में अनेक ऐसी वस्तुएँ भी निर्मित हुई हैं जो हमें आश्चर्यित कर देती हैं। विज्ञान के बल पर शारीरिक बुखार को नापने के लिए वैज्ञानिकों ने थर्मामीटर तो बना लिये; किन्तु जरा उनसे पूछिए कि प्रेम की बुखार नापने के लिए उन्होंने कौन-से यंत्र तैयार किये हैं। शायद वे इसका जवाब नहीं दे सकेंगे। जवाब दें तो क्या, कोई यंत्र हो तब तो! अब जरा साहित्यिकों की ओर आइए। इनकी कला वैज्ञानिकों से इस क्षेत्र में सैकड़ों योजन आगे है। इस प्रश्न का उत्तर आपको यहाँ मिल जायगा। हो सकता है कि आप इस बेतुके प्रश्न पर चौंक उठे हों। कोई बात नहीं। आइए, खुलासा कर दूँ। प्रेम भी एक प्रकार का बुखार ही है जिसका तापमापक यंत्र है वियोग। हाँ, वियोग। प्रेम की पहचान विरह में ही होती है। विरहाग्नि तो एक भट्ठी है, जलती हुई भट्ठी; जिसमें प्रेमरूपी स्वर्ण तपकर खरा हो जाता है। यदि त्रिपाठीजी की पंक्तियाँ आपने नहीं सुनी हैं, तो सुन लीजिए, 'विरह प्रेम की जाग्रत गति है और सुषुप्ति मिलन है'। छोड़िए, इस देशी बात को। देशी बात तो देशी माल की तरह जाली और धोखेबाज ही ठहरी। देख लीजिए, विदेशी को भी। लो, यह क्या; यहाँ भी तो वही बात है— "Love is loveliest when emblembed in tears." हाँ, तो अब हो गया होगा आपको विश्वास कि प्रेम का व्यय है मिलन और संचय है वियोग।

प्रेमिद्वय में से 'विरह' कोई नहीं चाहता—न प्रेमी, न प्रेमिका। आखिर क्यों? अभी तो मैं विरह की बड़ाई कर रहा था कि यह प्रेम का संचय है। फिर इसे लोग क्यों नहीं चाहते हैं? इसका उत्तर तो दैव ही दे सकता है; चूँकि 'विरह' शब्द

ही उसकी सृष्टि है। वाह, यह भी खूब है—सभी शब्दों का निर्माण तो मनुष्य ने किया; फिर यह 'विरह' ही दैव के लिए बच गया था ! खैर, मैं नहीं, ऐसा तो गुप्तजी भी कह रहे हैं—

'अहह ! कराहते इस शब्द को, निठुर विधि ने आँसुओं से है लिखा।

हाँ, तो अश्रुमसि से मानव-जीवनपट पर विरह शब्द अंकित हुआ है। मान लीजिए, होगा ही। यदि ऐसा नहीं होता तो यह कविता का कारण क्यों बनता ? ऐसा प्रसिद्ध है कि भारतीय काव्य की तथाकथित प्रथम पंक्ति 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शास्वती समाः' क्रौंची के विरह के कारण ही प्रकट हुई थी। और तो और, भवभूति ने 'एको रसः करुण एव' कहकर प्रकारान्तर से विरह का ही महत्त्वप्रतिपादन किया है, विरह (करुण) को ही रसराजत्व प्रदान किया है। और, पंत भी तो वियोग की महत्ता स्पष्ट शब्दों में स्वीकार कर रहे हैं—

वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान।

अँगरेज आलोचक तो विरहवेष्टित भावों की अभिव्यक्ति में ही सर्वोत्कृष्ट काव्य मानते रहे हैं— "Our sweetest songs are those which tell us the saddest thought."

काव्य— चाहे हिन्दी का हो या संस्कृत का या अन्य किसी भाषा का— उसके अवगाहन से एक बात और स्पष्ट होती है कि प्रत्येक सहृदय कवि ने विरह का वर्णन अवश्य किया है। प्रत्येक महाकवि के साथ एक-न-एक विरहिणी अवश्य है। कालिदास की शकुन्तला; भवभूति की सीता; नरपति नाल्ह की राजमती; जायसी की नागमती; विद्यापति, सूर आदि की राधा; अरूप की मीरा; गुप्तजी की यशोधरा और उर्मिला इत्यादि अनेक नायिकाएँ विरहिणियाँ ही तो हैं। स्वयं रवीन्द्र भी कहा करते थे कि मेरे अन्दर एक विरहिणी नारी बैठी रहती है जो कविता की प्रेरणा देती रहती है। तात्पर्य यह कि काव्य का जीवन है विरह। इसके अभाव में उच्चकोटि की कविता असम्भव है।

मिलन के बाद की स्थिति है विरह। मिलन और विरह—संयोग और वियोग— का सम्बन्ध शृंगार-रस से है। शृंगार का उत्कृष्ट रूप विरहवर्णन में ही स्पष्ट होता है। भारतीय आचार्यों ने सामान्यतः वियोग के चार रूपों की चर्चा की है—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। वस्तुतः पूर्वराग और मान में विरह उत्कृष्ट कोटि का नहीं होता है। इनमें संयोगजन्य मधुर सुख की कल्पना का ही आधिक्य होता है। किन्तु प्रवास और करुण रूपों में विरहवेदना गम्भीर रूप में प्रकट होती है। कतिपय आचार्य वियोग के करुण रूप को शृंगार में स्थान न देकर करुण-रस के अन्तर्गत रखते हैं। विरहवर्णन के उपर्युक्त चार रूपों के अलावा

आचार्यों ने दस कामदशाएँ भी मानी हैं— अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण। काव्य में मरण की मात्र सूचना देने की परिपाटी है। इसका वर्णन निषिद्ध है। सफल विरहवर्णन में प्रायः प्रत्येक कवि उपर्युक्त कामदशाओं का स्वाभाविक निरूपण करता है।

हिन्दी-काव्य में विरहवर्णन पर विचार करने से ऐसा लगता है कि विरह-वर्णन की यह परिपाटी अन्य तत्त्वों की तरह संस्कृत, अपभ्रंश आदि से यहाँ आयी है। विरहवर्णन की परम्परा हमें वेदों से ही मिलती है। विश्व कीप्राचीनतम उपलब्ध रचना ऋग्वेद के दसवें मंडल के अन्तर्गत पुरूरवा-उर्वशी-संवाद में ही हमें विरहवर्णन मिलता है। हाँ, इस विरहवर्णन में नवीनता इतनी ही है कि विरह का प्रलाप प्रेमिका के पक्ष से नहीं, प्रेमी के पक्ष से ही होता है। उर्वशी के रुष्ट होकर चले जाने पर पुरूरवा पागलों की तरह उसे खोजता-ढूँढ़ता मानसरोवर-तट पर आता है। यहीं उर्वशी भी मिलती है। उसे वह 'निष्ठुरा' शब्द से सम्बोधित करता हुआ विरह का प्रलाप कर चलता है—

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः।

पर इससे भी उर्वशी का हृदय पसीजता नहीं है। वस्तुतः इस विरह को मानजन्य विरह ही कहा जायगा।

वैदिक साहित्य के पश्चात् विरहवर्णन रामायण, महाभारत आदि काव्यों से होता हुआ लौकिक संस्कृत-साहित्य में आता है। महाभारत में विरह का उत्कृष्ट रूप राजा संवरण और कुमारी तपती के आख्यान एवं नल-दमयन्ती के आख्यान में मिलता है। वस्तुतः नलोपाख्यान के विरह में शारीरिक चांचल्य और कामुकता के वर्णनों का पूर्णतः अभाव है। यह यहाँ नितान्त विशुद्ध रूप में है।

संस्कृत में तो स्वतन्त्र रूप से विरहकाव्यों की रचनाएँ भी हुई हैं। कालिदास का 'मेघदूत' विरहकाव्य ही है। इसमें वियोगिहृदय का ही सन्देश प्रेषित है। इसमें भी विरहप्रलाप प्रेमी-पक्ष से होता है। वैदिक काव्य का विरह-वर्णन ही मानो इसका प्रेरक तत्त्व रहा है। इसमें कामुकता का मिश्रण अधिक प्राप्त है। वस्तुतः कवि ने 'ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः' कहकर कामलोलुपता को ही प्रकारान्तर से स्वीकृत किया है। 'कुमारसम्भवम्' में पूर्वराग का सफल निरूपण हुआ है। नाटकों में 'मालतीमाधव' का विरहवर्णन भी अपने ढंग का है। मालती में वियोग की दशाओं का बढ़ना कवि ने वृश्चिकदंशदाहवत् चित्रित किया है। 'उत्तररामचरित' में भवभूति ने सीता से जितने आँसू बहवाये, शायद ही किसी कवि ने उतने आँसू बहवाये हों। संस्कृत में विरहवर्णन, काव्यों की कौन कहे, गद्यग्रन्थों— दशकुमारचरित, कादम्बरी—में भी उपलब्ध है।

प्राकृत और अपभ्रंश में भी विरहवर्णन संस्कृत के समान ही उत्कृष्ट रूप में उपलब्ध है। 'गाथासप्तशती' और 'वज्जालग्ग' में ऐसी अनेक गाथाएँ मिलती हैं, जिनमें विरहिणी की मार्मिक दशा का चित्रण है। विरहवर्णन के ऊहात्मक रूप भी यहाँ उपलब्ध होते हैं, पर अधिकांश गाथाओं में विरह का उत्कृष्ट रूप ही देखने को मिलता है। देखिए, यहाँ अभिधा की अपेक्षा व्यंजना ही प्रबल है—

बाआइ किं भणिज्जउ केत्तिअमेत्तं व लिक्खए लेहे।
तुह विरहे ज दुक्खं तस्स तुमं चेअ गहिअत्थो॥ —गाथासप्तशती

अर्थात् "वाणी से क्या कहा जाय? लेख में कितना लिखा जाय? (कथनीय अनन्त है।) तुम्हारे विरह में जितना दुःख है, उसे तुम ही जानते हो।" अपभ्रंश के मुक्तकों में विरह का मार्मिक रूप उपलब्ध है। अद्दहमाण (अब्दुल रहमान या अब्धिमान?) के 'सन्देसरासक' में विरह का उत्कृष्ट रूप उपलब्ध होता है। यह विरहकाव्य ही है। पथिक के हाथ प्रवासी प्रिय के पास सन्देश भेजती हुई नायिका के उपालम्भ, वेदना, अमर्ष आदि का निरूपण सुन्दर ढंग से किया गया है। देखिए कृशता का एक उदाहरण—

संदेसड़उ सवित्थरउ पर मइ कहण न जाइ।
जो काणुंगुलि मूंदड़उ सो बाहड़ी समाइ॥

अर्थात् "मेरा सन्देश कहने में नहीं आता। यह विस्तृत है। जो मुद्रिका कनिष्ठिका में पहनने की थी, वह बाँह में आने लगी है।" सम्पूर्ण काव्य में नायिका के विरह का मार्मिक रूप उपस्थित किया गया है। हिन्दी-काव्य में विरहवर्णन की जो पद्धति है उसे देखने से ऐसा लगता है कि सारी पूर्ववर्ती मान्यताएँ और परम्पराएँ यहाँ एक साथ सिमट गयी हैं।

यद्यपि हिन्दी-काव्य में विरहवर्णन की समस्त पूर्ववर्ती परम्पराओं और मान्यताओं को अपने में समेट लिया गया है किन्तु यहाँ मात्र उनका पिष्टपेषण ही नहीं हुआ है। कतिपय नवीन आदर्शों की प्रतिष्ठा भी इसमें हुई है। पारम्परिक रूप में विरहवर्णन पर विचार करने के पूर्व यहाँ कतिपय इतर बातों पर भी विचार करना आवश्यक है। हिन्दी में विरहवर्णन के निम्नांकित रूप स्थिर किये जा सकते हैं— १. लौकिक विरहवर्णन और अलौकिक विरहवर्णन, २. विशुद्ध भारतीय पद्धति पर विरहवर्णन और विदेशी प्रभावापन्न विरहवर्णन, ३. प्रबन्धकाव्यों में विरहवर्णन और मुक्तकों में विरहवर्णन, ४. शास्त्रीय विरहवर्णन और लोकपरम्परा-जन्य विरहवर्णन तथा ५. एकपक्षीय विरहवर्णन और तुल्य विरहवर्णन। इसी प्रकार स्वकीया का विरहवर्णन, परकीया का विरहवर्णन आदि वर्ग भी हो सकते हैं।

विरहवर्णन का आलम्बन अधिकांश काव्यों में लौकिक ही है। कतिपय ऐसे

भी कवि या कवयित्रियाँ हैं जिन्होंने प्रणय का आलम्बन अलौकिक माना है। अलौकिक आलम्बन के आधार पर हिन्दी में कबीर, मीरा, महादेवी इत्यादि ने वियोगवेदना को अभिव्यक्त किया है। कुछ विचारक कृष्णभक्तों के विरहवर्णन को भी पारलौकिक विरहवर्णन मान सकते हैं; पर वहाँ आलम्बन इतना स्थूल है कि उसे लौकिक विरह के अन्तर्गत ही रखना अधिक श्रेयस्कर है। पारलौकिक विरह-वर्णन में लौकिक विरह की तीव्रता और मांसलता का प्रायः अभाव ही रहता है। यह बात विद्यापति और कबीर के विरहवर्णन के तौलनिक अध्ययन से स्पष्ट है। कबीर की अपेक्षा विद्यापति के विरहवर्णन में मांसलता और तीव्रता अधिक मिलती है, इसका एक सबल कारण यह भी है।

विरहवर्णन की दूसरी पद्धति पर विचारने से स्पष्ट होता है कि भारतीय पद्धति पर किये गये विरहवर्णनों में एक निश्चित शालीनता वर्त्तमान रहती है। यहाँ शील की सीमा कायम रहती है। चित्रण में मानसिक स्थितियों पर ध्यान तो रहता है; पर बेकार की हाय-हाय नहीं मचायी जायी है। इसमें वर्णन का औचित्य तो होता है; पर अत्युक्ति नहीं। विदेशी प्रभावापन्न विरहवर्णन में लोकमर्यादा का अतिक्रमण आवश्यक रूप से मिलता है। ऐसे वर्णनों में ऊहात्मक चित्र ही अधिक होते हैं। आशिक-माशूकों के हृदय पर बात-बात में बरछियाँ चलती रहती हैं। इसमें कवि की प्रौढ़ोक्ति ही अधिक होती है। विरहवर्णन की इस पद्धति का हिन्दी में आयात फारसी साहित्य से हुआ है। मुसलमानों के सम्पर्क के पूर्व रचित काव्यों में प्रायः ऐसे वर्णनों का अभाव-सा है। जायसी, बिहारी तथा रीतिकालीन कतिपय स्वच्छन्दतावादी कवियों में ऐसे वर्णनों का आधिक्य है। 'छाती सों छुवाइ दिया-बाती क्यों न बारि लै' की कल्पना और गुलाबजल को सुखा डालने वाले ताप का वर्णन ऐसा ही है। वस्तुतः वियोगवर्णन की यह रीति स्वस्थ नहीं कही जायगी।

विरहवर्णन का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। हिन्दी में इसका प्रसार मुक्तकों और प्रबन्धकाव्यों— दोनों— में मिलता है। बाहुल्य की दृष्टि से मुक्तक की संख्या ही अधिक है; किन्तु प्रभाव की दृष्टि से शायद ऐसा निष्कर्ष गलत ही होगा। मुक्तक का क्षेत्र परिमित होता है। परिमित रूप में किसी बात की पूर्ण व्याप्ति होने पर ही मुक्तक सफल होते हैं। प्रबन्धों में ऐसा बन्धन नहीं होता। वहाँ रस की धारा रुककर भी चल सकती है। इसी से मुक्तकों में वर्णित विरह हृदय को प्रभावित करने की अपेक्षा चमत्कृत ही अधिक करता है; किन्तु प्रबन्धकाव्यों में वर्णित विरह हृदय पर एक अशेष प्रभाव छोड़ता चलता है। बिहारी आदि के दोहों में— मुक्तकों में— विरह का चामत्कारिक रूप ही अधिक प्रतिफलित है; किन्तु जायसी आदि के प्रबन्धकाव्यों में प्रभावकारी रूप का ही आधिक्य है। कुछ विद्वानों को सूर आदि के मुक्तकों में वर्णित वियोग के प्रभावकारी रूप को देख पर इस बात पर आपत्ति

हो सकती है। इस सम्बन्ध में मेरा सादर निवेदन इतना ही है कि विद्यापति, सूर, नन्द, घनानन्द, रत्नाकर इत्यादि के मुक्तक हैं तो स्वरूपानुसार मुक्तक ही, पर भावात्मक एकता और एकतानता के कारण इनमें प्रबन्धकाव्यों का-सा ही आनन्द आ जाता है। अस्तु, यह कहना ही समीचीन प्रतीत होता है कि प्रबन्धकाव्य में वर्णित विरह हृदय पर अधिक प्रभाव डालने में समर्थ होते हैं और मुक्तकों में वर्णित विरह आकस्मिक रूप में चमत्कार की सृष्टि तो करते हैं, किन्तु उनमें स्थायित्व नहीं होता है।

शास्त्रीय पद्धति पर वर्णित विरह में आत्माभिव्यंजन की मात्रा कम होती है, शास्त्रीयता का निर्वाह ही अधिक होता है। दूसरी ओर, लोकपरम्पराजन्य विरह-वर्णन में हृदय की गहराई, तन्मयता और प्रेषणीयता की मात्रा अधिक होती है। उदाहरणस्वरूप, आप विद्यापति और जायसी को देख सकते हैं। लोकपम्पराप्रसूत विरहवर्णनों के मार्मिक आधार होते हैं लोकगीत। इनमें विरहिणी के साथ सखियों की योजना आवश्यक रूप से होती है। काक-शकुन-सम्भाषण की योजना भी इनमें प्रायः होती है। इनमें लोकप्रवाह दूर से ही झलक उठता है। पर शास्त्रीय पद्धति पर किये गये विरहवर्णनों में अधिकांश बातें जड़ाऊ और गढ़ाऊ होती हैं। न तो वहाँ सखियों का ही विधान होता है और न काक-शकुन-सम्भाषण आदि की योजना ही अनिवार्य रूप से मिलती है। विद्यापति, मैथिलीशरण गुप्त आदि के विरहवर्णनों में लोकप्रवाह का निर्वाह अधिक हुआ है। दूसरी ओर, जायसी और प्रसाद के 'आँसू' को रख सकते हैं। 'आँसू' है तो विरहकाव्य ही, पर इसमें विरह की योजना पूर्णतः शास्त्रीय है।

इसी प्रकार हिन्दी के कतिपय कवियों ने तुल्यविरह की योजना की है, तो किसी ने विरह का एकपक्षीय रूप ही सामने रखा है। शृंगारकालीन कवियों का विरहवर्णन एकपक्षीय ही है। यहाँ केवल प्रेमिकाएँ ही वियोगवेदना का अनुभव करती हैं, पुरुष को ऐसा सौभाग्य नहीं मिला है। किन्तु सूर, जायसी, रत्नाकर आदि ने तुल्यविरह का विधान किया है। कृष्ण के वियोग में सूर और रत्नाकर की राधा जितने आँसू गिराती है, कृष्ण उससे कम आँसू नहीं टपकाते हैं। विरह के एकांगी चित्रण में एकरसता का भय बना रहता है, जिससे पाठक उन भावनाओं को कभी-कभी कृत्रिम मान बैठता है; पर तुल्यविरह में कृत्रिमता नहीं आने पाती है।

पूर्ववर्ती हिन्दी-काव्यों में विरहवर्णन के अन्तर्गत स्वकीया का ही चित्रण अधिक है। यहाँ सपत्नियों के ईर्ष्या-अमर्ष-मान आदि का ही चित्रण है; किन्तु परवर्ती काव्यों में स्वकीया के विरहचित्रों का अभाव-सा हो जाता है। शृंगार-कालीन विरहवर्णनों में तो पूर्णतः परकीयात्व ही मिलता है। इसका स्पष्ट कारण है फारसी साहित्य और मुसलमानों का सम्पर्क। हिन्दी ही नहीं, लगभग सम्पूर्ण

भारतीय वाङ्मय में परकीया आदि का प्रवेश फारसी साहित्य की ही देन है। स्वकीया के विरहोद्गारों में जितने प्रभावकारी तत्त्व होते हैं, उतने परकीया और गणिका के विरहोद्गारों में नहीं होते। इसी से परकीया आदि के विरहचित्र हमारा अनुरंजन और मनोरंजन भर ही कर पाते हैं; पर स्वकीया के विरहविदग्ध वचन हममें एक मार्मिक अनुभूति जगा जाते हैं।

हिन्दी-काव्य में वर्णित विरह पर विचारने के पश्चात् एक और बात सामने आती है। यहाँ केवल पति अथवा पत्नी के वियोग में ही विरह का वर्णन नहीं है, अपितु अन्य रूपों में भी विरह का वर्णन हुआ है। दाम्पत्य-विरह के समान ही हिन्दी में वात्सल्य-विरह का निरूपण कम नहीं हुआ है। कृष्णकाव्य में तो प्रायः सबने यशोदा को रुलाया ही। इसके अलावा भी कवियों ने वात्सल्य-विरह का चित्रण किया है। पुत्र के वियोग में माता अथवा पिता के विरहोद्गार ही वात्सल्य-विरह के अन्तर्गत आयँगे। इस क्रम में तुलसी, सूर, सत्यनारायण कविरत्न और रत्नाकर के नाम गिनाये जायँगे। राम के वियोग में तुलसी ने दशरथ का जो वर्णन किया है, वह वात्सल्य-विरह का अन्यतम उदाहरण है। वात्सल्य-वियोग का निरूपण सूर ने अधिक मार्मिक ढंग से किया है। यशोदा पुत्रवियोग में सदा उदासीन रहती है। उसे अपने पुत्र की सदा चिन्ता है। इसी से वह देवकी के पास इस प्रकार का सन्देश भेजना चाहती है—

> सँदेसो देवकी सों कहियो।
> हौं तो धाय तिहारे सुत, की कृपा करति ही रहियो॥

कभी-कभी वह इतनी अधीर हो जाती है कि ब्रज को ही छोड़ कर चल देना चाहती है। नन्द से कहती है—

> नन्द ! ब्रज लीजै ठोक-बजाय।
> देहु विदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राय॥

वस्तुतः यहाँ बड़ी गहरी व्यंजना है। वात्सल्य-विरह को सत्यनारायण कविरत्न ने इतना विस्तृत रूप दिया कि समस्त 'भ्रमरदूत' इसी का उदाहरण हो गया है। यहाँ यशोदा कृष्ण के पास भ्रमर-रूपी दूत भेजती है। वियोगिनी यशोदा का एक रूप देखिए—

> बिलखाती, सनेह पुलकाती, जसुमति माई।
> स्याम-बिरह अकुलाती, पाती कबहुँ न पाई॥
> जिय प्रिय हरि-दरसन बिना छिन-छिन परम अधीर।
> सोचति मोचति निसि दिना, बिसरतु नैननु नीर॥
> बिकल कल ना हिए॥

वात्सल्य-विरह पर विचार करते हुए तुलसी-चित्रित (रामचरितमानस में) कौशल्या को यदि कुछ देर के लिए हृदयहीन कह दिया जाय, तो शायद भूल न

होगी। राम को वनवास की आज्ञा हो गयी है। वन जाने के पूर्व राम कौशल्या से आज्ञा लेने के लिए जाते हैं। कौशल्या को राम से ही सूचना मिलती है कि उन्हें वन का राज्य मिला है। इसपर कौशल्या में मातृत्व की भावना दब जाती है और उसका कर्त्तव्यपक्ष ही प्रबल हो उठता है। कर्त्तव्य की दुहाई ही नहीं, मैं भी दाद देता हूँ; किन्तु उस परिस्थितिविशेष में कौशल्या के ये वचन हृदयहीन और बनावटी जैसे ही लगते हैं—

राज दीन कँह दीन्ह बन, मोहिं न दुख लवलेस।

कुछ क्षणों के लिए कौशल्या का मातृहृदय भी प्रबल हो उठा था—

नयन सलिल तनु थर-थर काँपी, माँजहि खाइ मीन जनु व्यापी।

पर यह भाव टिकता नहीं, कर्त्तव्य के आगे छूमंतर हो जाता है। तात्पर्य यह कि हिन्दी में वात्सल्य-विरह की दृष्टि से तुलसी शून्य ही हैं; चूँकि दशरथ का विरह भी तो कृत्रिम ही है— शापवश ही है, स्वाभाविक नहीं। हाँ, इस क्षेत्र में सूर और सत्यनारायण के नाम सदा अमर रहेंगे।

हिन्दी-काव्यों में विरहवर्णन के प्रसंग में प्रायः बारहमासे का वर्णन किया जाता रहा है। बारहमासे का वर्णन प्रायः आषाढ़ से प्रारम्भ होता है। बारहमासे के अतिरिक्त कुछ कवियों ने षड्ऋतु का भी इस प्रसंग में वर्णन किया है। तथा-कथित प्रथम कवि चन्द ने वियोगवर्णन के लिए षड्ऋतुप्रसंग को बड़ी चतुराई से चुन लिया है। हिन्दी में जायसी द्वारा वर्णित बारहमासा काफी प्रसिद्ध है। बारहमासे में प्रायः महीनों का वर्णन विरह के उद्दीपनरूप में किया जाता है। इस समय आनन्दविधायिनी वस्तुएँ भी कष्टकारक बन जाती हैं। इसमें प्रायः प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के दिग्दर्शन द्वारा कवि दुःख के विविध रूपों और कारणों की उद्भावना करता चलता है। भावों की मर्मस्पर्शिता दिखाने के लिए कवि साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों पद्धतियों से काम लेता है।

प्राचीनता की दृष्टि से हिन्दी में सर्वप्रथम तथाकथित सिद्धों, नाथों और जैनों की रचनाएँ आती हैं। इन रचनाओं में विरह का जो रूप चित्रित है, वस्तुतः उसका आलम्बन अमूर्त ही है। इसके पश्चात् विरहवर्णन वीरगाथात्मक रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। वीरगाथात्मक रचनाओं में प्रायः युद्ध और प्रेम ही चित्रित हैं। यहाँ प्रेम के संयोगपक्ष पर ही कवियों की दृष्टि अधिक रमी है। वियोग पर कम लोगों का ध्यान है। 'पृथ्वीराज-रासो' के कर्त्ता चन्द ने बियोगवर्णन में यह स्पष्ट रूप से घोषित किया है कि वियोग में संयोग के सभी उपकरण दुखदायी बन जाते हैं—

वही रत्ति पावस्स वही मघवान धनुष्षं।
वही चपल चमकंत वही बगपंत निरष्षं॥

× × × ×

बेई अकास जुग्गनि पुरह, बेई सहचरि मंडलिय।
संजोगि पंचपति कंत बिन, तुहि न कछु लग्गत रलिय॥

चन्द ने केवल नायिकाओं के विरह का ही निरूपण नहीं किया है, अपितु नायक पृथ्वीराज को भी विरहयुक्त दिखाया है। रासो-काव्यों में विरहवर्णन के दृष्टिकोण से सर्वाधिक महत्त्व है 'बीसलदेव-रासो' का। वस्तुतः यह विरहकाव्य है ही। इसमें राजमती का वियोग इतनी गहराई और तन्मयता के साथ वर्णित है कि पाठक का हृदय बरबस पसीज उठता है। वियोगिनी राजमती अपने जीवन से ऊब जाती है और महेश को उलाहना देती है—

अस्त्रीय जनम काहे दीघउ महेस, अवर जनम थारइ घणा रे नरेश।
× × × ×
बनषंड काली कोइली हउँ वैसती अंबा नई चम्पा की डाल॥

विप्रलम्भचित्रण के लिए आगे कवि ने जो बारहमासा दिया है, वह अपनी मर्मस्पर्शिनी अभिव्यक्ति के लिए अन्यतम है। देखिए, चैत्र मास का चित्र—

चैत्र मासई चतुरंगी हे नारि। प्रीय विण जीवई किसइ अधारि।
कंचूयउ भीजइ जण हसइ। सात सहेलीय बइठी छइ आइ।

हिन्दी-काव्य में उत्तम रूप में विरहवर्णन सर्वप्रथम विद्यापति में ही मिलता है। इनकी राधा पूर्णतः मानवी है। इनके विरह का निरूपण सूर आदि के साथ ही देखना आवश्यक है। क्रम के विचार से विद्यापति के पश्चात् विरहवर्णन में स्थान है कबीर का। कबीर निर्गुण संत थे। थे ये रहस्यवादी। अस्तु इनके विरह का आलम्बन पूर्णतः अलौकिक है। कबीर की तरह हिन्दी के अन्य संतों ने भी पूर्ण ब्रह्म (निर्गुण) को आलम्बन मानकर विरह का वर्णन किया है। संत कवियों ने विरह को प्रेम के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। संत दादू का तो मत है कि 'पहिला आगम बिरह का, पीछइ प्रेम विकास' अथवा 'प्रीति न उपजइ बिरह बिन, प्रेम भक्ति क्यों होइ'। इसी से संतों ने विरह को अपने मित्र के रूप में ही स्वीकार किया है। इन संतों ने अपनी आत्मा को नायिका और परमात्मा को नायक के रूप में चित्रित कर दाम्पत्यभावों का आरोप किया है, जिससे विरह की मार्मिकता में लौकिकता का ही आनन्द मिलता है और साधारणीकरण में कहीं बाधा नहीं आती है। कबीर तो बार-बार पुकारते हैं—'बाल्हा आव हमरे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे'। कबीर की आँखें प्रिय-पथ को देखते-देखते थक गयी हैं, प्रिय का नाम जपते-जपते जीभ में छाले पड़ गये हैं—

अंखड़िया झाँई पड़्या, पंथ निहारि-निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, नाम पुकारि-पुकारि॥

बेचारी आत्मा करे तो क्या! वह तो विवश है। उसकी विवशता दर्शनीय है—

आइ सकौं ना तुज्झ पै, सकौं न तुज्झ बुलाइ।
जियरा यों ही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ॥

अन्य संत कवियों का विरहवर्णन भी कबीर की तरह ही है। हाँ, इतनी तन्मयता का उनमें अभाव अवश्य है। वे पिष्टपेषण जैसी वस्तु हो गये हैं।

अलौकिक आलम्बन के आधार पर आगे मीरा और आधुनिक युग में महादेवी ने भी विरह की अभिव्यक्ति की है। यद्यपि मीरा और महादेवी—दोनों—एक ही पथ के पथिक हैं; किन्तु मीरा स्वरूप की साधिका हैं और महादेवी अरूप की आराधिका। मीरा में निर्गुण के पदों का भी बाहुल्य है; पर कृष्ण को आलम्बन मानकर भी उसने असंख्य पदों की रचना की है। कृष्ण की त्रिभंगी मूर्त्ति पर न्योछावर होने वाली मीरा सदा कहती रही—'हेरी, मैं तो दरद दिवाणी, मेरो दरद न जाणे कोय' × × × 'सूली ऊपर सेज पिया की किस विध मिलणा होय'। मीरा के पथ पर ही चलती हुई महादेवी वर्मा ने आधुनिक युग में अपने लिए पीड़ा का साम्राज्य ही खोज लिया है। इन्होंने पीड़ा में ही परमात्मा को प्राप्त किया है और अब उसमें भी पीड़ा खोजना चाह रही हैं— 'तुमको पीड़ा में ढूँढा, तुममें ढूँढूगी पीड़ा'। ये अपना परिचय कभी 'नीर-भरी दुख की बदली' के रूप में देती हैं, तो कभी कह उठती हैं—'रात-सी नीरव व्यथा तम-सी अगम मेरी कहानी'। और, कभी दुनिया को बतलाती हैं कि 'मैं कण-कण में ढाल रही हूँ आँसू के मिस प्यार किसी का; मैं पलकों में पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का'। अपने प्रिय को रिझाने के लिए ये अपना शृंगार प्रकृति के तत्त्वों से करती हैं। इसपर भी जब इन्हें विफलता ही मिलती है तो निराशा के स्वर में पूछ बैठती हैं—'क्यों आज रिझा पाया उसको, मेरा अभिनव शृंगार नहीं'। और, जब इनका प्रिय इनके निकट आता है तो कर बैठती हैं मान—'सजनि मधुर निजत्व दे कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं'।

विरहवर्णन का विदेशी प्रभावापन्न रूप मूलतः उपलब्ध है सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में। सूफी प्रेमाख्यानों में जायसी का विरहवर्णन सर्वाधिक अनूठा है। कतिपय दृष्टियों से तो जायसी का विरहवर्णन समस्त हिन्दी-काव्य के विरहवर्णन से अनूठा बन पड़ा है। यों तो 'पद्मावत' में वियोगवर्णन के लिए जायसी ने कई स्थानों पर अवसर ढूँढ़ लिया है; किन्तु सर्वाधिक सुन्दर बन पड़ा है नागमती का वियोगवर्णन जिसे कवि ने बारहमासे में किया है। इसमें ऊहात्मक वर्णनों का आधिक्य है। खैरियत इतनी है कि ऊहात्मक उक्तियाँ संवेदनात्मक सीमा के भीतर ही रही हैं। नागमती का विरह इतना व्यापक है कि मनुष्यों की कौन कहे, पशु-पक्षी तक उसके दुःख का कारण जानना चाहते हैं—

फिरि फिरि रोव, कोई नही डोला, आधी रात विहंगम बोला।
तू फिरि फिरि दाहै सब पाँखी, केहि दुख रैन न लावसि आँखी।

जायसी ने विरहजन्य कृशता का भी वर्णन किया है, पर 'विस्तर को मांड़ा चाहिए' की स्थिति से बचा लिया है। इसमें पातिव्रत्य का स्पृहणीय रूप भी सामने रखा गया है—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ावँ।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जँह पाँव॥

जायसी ने नागमती द्वारा सभी के प्रति सहानुभूति तो प्रकट करायी ही है, इस रूप में भी उसकी भावना को वाणी दी है—

पिउ सो कहेउ सँदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि विरहै जरि मुई, तेहिक धुवाँ हम लाग॥

सम्पूर्ण बारहमासे में कवि ने नागमती को एक सामान्य विरहिणी के रूप में चित्रित किया है। स्वयं नागमती भी अपना रानीपन भूल गयी है। समग्र रूप से यही कहा जायगा कि जायसी का विरहवर्णन उत्कृष्ट कोटि का है। इनकी तुलना में कम ही कवियों ने इतने सुन्दर ढंग से विरह का वर्णन किया है।

हिन्दी-काव्य की विरहिणी नारियों में राधा का अन्यतम स्थान है। इसका विरहवर्णन प्रायः दो कालों में निरन्तर रूप से होता रहा है। सर्वप्रथम विद्यापति ने राधा को विरहिणी-रूप में चित्रित किया है। विद्यापति के विरहवर्णन में उसासों का आधिक्य नहीं है। मिलनसुख के अतिरेक के कारण इनके विरहवर्णन में भी सुन्दर चित्रों की कमी नहीं है। कृष्ण क्या गये हैं, राधा का सर्वस्व ही चला गया है। उनके लौटने की राह देखते-देखते राधा की आँखें फेनिल हो गयी हैं—

लोचन धाए फेधाएल हरि नहिं आएल रे।
सिव सिव जिवओ न जाए आसे अरुझाएल रे।

इन्होंने बारहमासा और षड्ऋतु—दोनों—का विधान वियोगवर्णन में किया है। षड्ऋतुवर्णन सामान्यतः संयोग में ही होता है। यहाँ इन्होंने ऐसा व्यवधान खत्म कर दिया है। मोर-दादुर, डाक-डाकिनी के शोर से 'फाटि जायत छातिया' वाले 'पावस घन अँधियार' में विद्यापति की विरहिणी की तड़प और भी बढ़ जाती है। प्रिय की याद में उसकी गति 'कीट-भृंग' की हो जाती है—

अनुखन माधव माधव सुमरइत, सुन्दरि भेल मधाइ।
औ निज भाव सुभावह बिसरल, अपने गुण लुबुधाइ॥

अन्य कवियों की तुलना में विद्यापति के विरहवर्णन में कतिपय ऐसी विशेषताएँ मिलती हैं, जिनका अन्य में अभाव-सा ही है। इनकी विरहिणियाँ मूलतः स्वकीया हैं। इनमें गृहिणी का उत्कट रूप मिलता है। इनके विरह-गीतों में लोकगीतों का स्वर है। इसी से इनके अधिकांश गीत मिथिला की नारियों के आज भी कंठहार हैं। यहाँ न तो शास्त्रीयता का आग्रह ही है और न दार्शनिकता

का पुट। इनकी विरहिणी को पीड़ा से कथमपि अवकाश नहीं है। वह अपनी सखियों को अपना विरह सुनातीं हैं। सखियाँ उसे आशान्वित करती रहती हैं। काक-शकुन-सम्भाषण का जितना सुन्दर रूप इनके विरह-गीतों में उपलब्ध है, अन्य किसी कवि में नहीं। इनकी राधा का सबसे बड़ा गुण है— आशावादिता। है तो यह 'दिन रात विरह-कोकिला' ही बनी हुई, पर नन्ददास आदि की विरहिणियों के समान यह अधिक वाचाल नहीं है। वियोग की लगभग सभी अन्तर्दशाओं का निरूपण विद्यापति में मिल जाता है।

राधा को लेकर प्रायः सभी कृष्णभक्त कवियों ने विरह का वर्णन किया है। इन कृष्णभक्तों में सूरदास और नन्ददास के विरह-वर्णन ही अधिक महत्त्व के हैं। विचारकों ने सूर के विरहवर्णन पर विचारते हुए उसके अद्वितीय महत्त्व की ओर सदा निर्देश किया है। सूर का विरहवर्णन वात्सल्य-विरह और दाम्पपत्य-विरह— दोनों रूपों में बेजोड़ है। इनकी राधा न तो विद्यापति की राधा की तरह वाचाल ही है और नन्ददास की राधा की तरह वाचाट। इसकी पुकार अपने ढंग की है। इसकी आँखें बरसात बन रही हैं—

> निसि दिन बरसत नैन हमारे।
> सदा रहत पावस ऋतु हमपै, जबते स्याम सिधारे।
> द्दग अंजन लागत नहिं कबहूँ, उर कपाल भये कारे।
> कंचुकि-नहिं सूखत सुनु सजनी, उर बिच बहत पनारे।

वियोगवर्णन में सूर ने समस्त संचारियों और कामदशाओं का सफल निर्वाह किया है। एक ओर ये स्मृति—'इहि बिरियाँ बन ते ब्रज आवतें'— का चित्र आँकते हैं तो दूसरी ओर 'मधुबन तुम कत रहत हरे' कहकर गोपियों की ईर्ष्या भी अभिव्यक्त करते हैं।

नन्ददास ने विरहवर्णन में सूर की मार्मिकता और मर्मस्पर्शिता को लगभग भुला दिया है। इनकी गोपियाँ तर्ककर्कशा हैं अवश्य, पर सफल विरहिणियों के रूप में नहीं लगतीं। हाँ, 'भँवरगीत' के उत्तरार्द्ध का अंश कुछ अधिक मार्मिक हो सका है।

शृंगारकालीन विरहवर्णन को मूलतः दो रूपों में रखा जा सकता है—रीति-बद्ध और रीतिमुक्त। प्रथम के आदर्श होंगे बिहारी और द्वितीय के घनानन्द। यहाँ विरह में मांसलता और ऊहात्मकता का आतिशय्य ही सर्वत्र उपलब्ध होता है। बिहारी के विरह का ताप इतना तीव्र है कि विरहिणी के आगे जाड़े की रात में भी गीले वस्त्र सूख जाते हैं और गुलाबजल की बोतल उड़ेलने पर सारा गुलाबजल ऊपर ही सूख कर वाष्प में परिणत हो जाता है। कृशता तो इतनी अधिक आ जाती है कि नायिका घड़ी के पेंडुलम की तरह डोलती रहती है। केशव, मतिराम, आलम, पद्माकर इत्यादि की नायिकाएँ भी इसी कोटि की हैं। मतिराम की विरहिणी का

शरीर भी इतना तप्त हो उठा है कि कमलपत्र भी पापड़ बन रहे हैं—

जागत ओज मनोज के परसि तिया के गात।
पापड़ होत पुरैनि के, चन्दन पंकिल पात ।।

रीतिमुक्त कवियों—घनानन्द, बोधा, रसखान इत्यादि—के विरहवर्णन में वैयक्तिकता, अनुभूति, स्वाभाविकता और गम्भीरता इत्यादि अवश्य मिलते हैं। घनानन्द की नायिका प्रातः से संध्या तक अपने प्रियतम का पथ देखती ही रह जाती है—

भोर ते साँझ लौं कानन ओर निहारति बावरी नेकु न हारति।
साँझ ते भोर लौं तारन ताकिबो, तारन सों इक तार न टारति।

विकलता इतनी बढ़ जाती है कि वह असह्य हो उठती है और नायिका कह उठती है—'विलम्ब छाड़ि आइए, किधौं बुलाय लीजिए'; पर आखिर नायक भी तो निष्ठुर ही है। उसने 'मन' लेना तो जाना है, पर देना वह 'छटाक' भी नहीं जानता—'तुम कौन सी पाटी पढ़े हो लला, मन लेहु पै देहु छटाक नहीं'।

आधुनिक काल में भारतेन्दु तथा भारतेन्दु-मण्डल के कवियों द्वारा वर्णित विरह भी रीतिमुक्त कोटि में ही आता है। द्विवेदी-युग में आकर विरह-वर्णन पर देश-काल की पर्याप्त छाप पड़ती है। इससे हरिऔध और रत्नाकर की राधा में नवीनीकरण होता है। 'प्रियप्रवास' की राधा विरह में लोकसेवा का व्रत लेती है। रत्नाकर की राधा में हमें समस्त पूर्ववर्ती परम्पराएँ एक साथ सिमट कर मिलती हैं। हाँ, जिस तुल्यानुराग का विधान रत्नाकर ने किया, वह अपने रूप में अन्य से अद्वितीय हुआ है। विरहवर्णन में तुल्यता अन्य कवियों ने भी दिखायी है; पर जितनी सफलता रत्नाकर को मिली, उतनी शायद ही किसी को मिली हो। हाँ, बाबा तुलसी इनसे कम नहीं हैं। एक ओर जहाँ राम 'हे खग-मृग हे मधुकर-स्रेनी, देखी तुम सीता मृगनैनी' कहकर सीता की खोज कर रहे हैं, वहीं सीता भी राम के विरह में कह रही हैं—

तजउँ देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब सही न जाई।
पावकमय शशि स्रवत न आगी। मानहु मोहि जानि हतभागी।

गुप्तजी ने 'साकेत' और 'यशोधरा' में विरह का पूर्णतः भारतीय पद्धति पर वर्णन किया है। 'साकेत' का नवम सर्ग उर्मिला के विरह से ही परिपूर्ण है। स्वयं उर्मिला कहती है—

मुझे फूल मत मारो।
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।

छायावाद-युग में कविता सूक्ष्म भावानुभूतियों से अधिक अनुप्राणित हुई है। इस युग में वियोगिनी महादेवी वर्मा ने अपने गीतों से करुणा का साम्राज्य ही स्थिर कर लिया है। पंत ने अपनी विरहवेदना को मूलतः 'ग्रन्थि' में व्यंजित किया है।

पंत की अपेक्षा प्रसाद ने विरह का वर्णन अधिक किया है। इनका 'आँसू' विरहकाव्य ही है। कतिपय विद्वान् इसका आलम्बन अरूप को ही मानते हैं; पर इसमें स्थूल आलम्बन के प्रति ही अधिक आग्रह दीखता है। विगत प्रणय की मधुर पीड़ा और सुख की रँगीन कल्पनाएँ आज भी कवि को कँपा रही हैं—

मादक थी मोहमयी थी, मन बहलाने की क्रीड़ा।
अब हृदय हिला देती है वह मधुर प्रेम की पीड़ा॥

प्रसाद ने विरह की व्यंजना 'कामायनी' में भी की है। अतीत की स्मृति से त्रस्त श्रद्धा का चिन्तन भी विरह का ही उदाहरण है—

विस्मृत हों वे बीती बातें, अब जिनमें कुछ सार नहीं।
वह जलती छाती न रही, अब वैसा शीतल प्यार नहीं॥
सब अतीत में लीन हो चलीं, आशा, मधु अभिलाषाएँ।
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं॥

छायावादी कवियों में निराला ने कई उत्कृष्ट कोटि के विरह-गीत लिखे हैं। 'नई कविता' के अनुयायियों ने भी 'विरह के गीत' लिखे हैं। पर, इनका विरहवर्णन गम्भीर नहीं हो सका है। जिसे इन्होंने कभी 'प्राण' कहा था, उसके दूर हो जाने पर कवि अपने सम्बन्ध की सामयिकता को सकार लेते हैं—

कहने को तो मैंने उसको चाहा था प्राणों से बढ़ कर।
था झूठ किन्तु हम मर न सके जब एक-दूसरे से छुट कर।

— पलाशबन, पृ० ४२

अस्तु, उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् ऐसा कहा जायगा कि हिन्दी-काव्य में विरहवर्णन की एक लम्बी परम्परा है। अनेक पद्धतियों से कवियों ने विरह का वर्णन किया है। इसमें कहीं साधना की एकतानता है, तो कहीं संयम का अभाव; पर सर्वत्र ऐसा ही नहीं है। विरह के स्वस्थ काव्यरूपों की कमी हिन्दी में नहीं है।

●

४७

हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयत.

[राष्ट्रीयता : रसदृष्टि—उत्स—हिन्दी : मुस्लिम-अँगरेजी प्रतिक्रिया—वीरगाथा—कबीर : ऐक्यभावना—तुलसी : लोकहित—राष्ट्रीय कविता : साम्प्रदायिक कविता—१८५७ : प्रभाव—भारतेन्दु-मंडल—द्विवेदी-युग—स्वदेशी : गाँधीवाद—छायावाद : तटस्थता का आरोप—१९४७ के बाद : निर्माणवाद : आक्रमणविरोध और राजकीय नीति के विरुद्ध उबाल]

चाहे नेता हों या वक्ता, देशी हों या विदेशी, पुरुष हों या नारी, बूढ़े हों या जवान—सभी राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता की बात कहते-सुनते हैं। यह समय की बात है। आज इन दोनों शब्दों ने अपना सर्वत्र अधिकार-सा कर लिया है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय के पर्यालोचन से यह स्पष्ट है कि वहाँ राष्ट्रीयता जैसी कोई धारा या वाद की चर्चा नहीं है। आज राष्ट्रीयता एक भाव के रूप में मान्य है। इस भाव का आधुनिक रूप में पल्लवन योरोपीय देशों में ही सर्वप्रथम हुआ है। धीरे-धीरे समस्त संसार में इसने अपना प्रसार पाया है। यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से हमारे मन में उठता है कि भारतीय आचार्यों ने रस की सर्वांगीण व्याख्या में इस महत्त्वपूर्ण भाव को स्थान क्यों नहीं दिया। प्रश्न है तो महत्त्वपूर्ण, किन्तु इसका उत्तर उतना टेढ़ा नहीं जितना हम समझ रहे हैं। इतिहास से सिद्ध है कि इस भाव का उदय आधुनिक युग में हुआ है। आज इसके समक्ष वात्सल्य, रति, शोक इत्यादि कई स्थायीभाव गौण हो गये हैं। तभी तो स्वातंत्र्यसमर में भाग लेने के लिए वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन को ठुकराकर भी लोग देशप्रेम के नाम पर बलिदान होते रहे हैं। इस प्रश्न का समाधान जितना ऐतिहासिक रूप से सम्भव है, उससे अधिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस पर विचार करने की आवश्यकता है।

वस्तुतः राष्ट्रीयता एक व्यापक भाव नहीं है। यह विश्वबन्धुत्व की भावना से संकीर्ण है। भारतीय आचार्यों ने रस के स्थायीभावों पर विचारते हुए विस्तृत मानवभावों पर ही ध्यान दिया है। राष्ट्रीयता जैसे संकीर्ण भाव को स्थायीभाव में स्थान न देने का एक कारण यह भी है। एक बात और भी विचारणीय है। राष्ट्रीयता जैसे संकीर्ण भाव का शीघ्र पल्लवन प्रायः छोटे देशों में ही सम्भव है। धर्म, संस्कृति, जाति, भाषा इत्यादि के ऐक्य में ही इस धारा का विकास अधिक सम्भव है। जिन देशों के निवासियों को सामूहिक रूप से किसी विदेशी सत्ता का सामना करना पड़ता है, वहाँ यह भावना शीघ्र विकसित होती है। प्राचीन भारत के लिए

प्रायः उपर्युक्त दोनों बातें लागू नहीं होती हैं। बाद में भारत में मुसलमानी और अँगरेजी शासनकाल में हमने भी सामूहिक रूप से पराधीनता का अनुभव किया और समय-समय पर हममें भी परिस्थितिगत राष्ट्रीय भावों का उदय होता रहा है। जब-जब देश की रक्षा के लिए हमारा आह्वान किया गया है, हम विदेशियों से, आक्रामकों से, क्रूर शासकों से टकराते रहे हैं। भारतीय नारियों का 'जौहर व्रत', प्रताप की प्रतिज्ञा, तेगबहादुर का शीशदान, हकीकतराय का दीवार में चुना जाना इत्यादि राष्ट्रीय भावना के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

रस की दृष्टि से विचार करते हुए राष्ट्रीयता को एक ही साथ कई रसों में अन्तर्भुक्त किया जा सकता है। यदि देशप्रेम को रतिभाव का ही एक रूप मान लिया जाय, तो यह शृंगार के अन्तर्गत होगा। यदि देश की दुर्दशा—करुणा—से इसे सम्बद्ध किया जाय, तो इसे करुणरस के अन्तर्गत मानना पड़ेगा। चूँकि देश-रक्षा-हेतु युद्ध और संघर्ष का भी इसमें महत्त्व है, अस्तु इसे वीररस में भी स्थान दिया जायगा। देश में मातृत्व अथवा पितृत्व की भावना का आरोप कर पूजा करने वाले राष्ट्रभक्तों के हित का ध्यान रखते हुए इसे भक्तिरस के अन्तर्गत भी मान सकते हैं। इसी प्रकार इसे भयानक और रौद्र रस में स्थान दिलाने की बात सोची जा सकती है। पर, इससे तो काम चलेगा नहीं। इस ढुलमुल नीति को त्याग कर स्पष्ट रूप से विचारने से इस भाव को वीररस के अन्तर्गत मानना ही अधिक उचित जँचता है। इसके मूल में आत्मरक्षा, आत्मगौरव की रक्षा और अपने देश एवं जाति की रक्षा के भाव लगे होते हैं। वीररस के सभी संचारियों के विकास और अनुभावों के परिपुष्ट रूप इसमें स्पष्ट दीखते हैं। वस्तुतः वीररस का ही दूसरा रूप आज राष्ट्रीयता में हमें मिल रहा है।

हिन्दी-कविता में राष्ट्रीयता पर विचारने के पूर्व प्राचीन भारतीय वाङ्मय में इस भावधारा की खोज असामयिक चर्चा न होगी। ऊपर मैंने ऐसा निर्देश किया है कि राष्ट्रीयता का भाव आधुनिक युग की वस्तु है। किन्तु, इसका तात्पर्य यह नहीं कि हमारा प्राचीन साहित्य इससे सर्वथा अछूता है। वस्तुतः ऐसा कहना अज्ञान की सूचना देना होगा। पृथ्वी में मातृत्व की भावना का विकास वैदिक युग में ही हो गया था। संसार में वैदिक साहित्य से प्राचीन आज कोई साहित्य नहीं है। इतना ही नहीं, संसार का कोई भी देश गर्व के साथ ऐसी घोषणा नहीं कर सका है—

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। —अथर्ववेद

भारतीयों ने वैदिक युग में ही ऐसी घोषणा की कि 'भूमि माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ'। क्या आज के तथाकथित राष्ट्रीयतावादी, जो फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से राष्ट्रीयता का जन्म मानते हैं, इस ऋचा को अराष्ट्रीय कहेंगे? उस समय

भी हम शक्ति से विरक्ति नहीं चाहते थे। हमारी कामना थी—'अजीतोऽहतो-ऽक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्'। अर्थात्, मैं अपराजित, अक्षत और अमर होकर पृथ्वी पर अधिष्ठित रहूँ। और, हम निर्घोष कर रहे थे—'सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे'। अर्थात्, वह पृथ्वी हमारे सर्वोत्कृष्ट राष्ट्र में ओज और शक्ति उत्पन्न करे। आज जो ऐसा कहते हैं कि हम राष्ट्र और राष्ट्रीयता से अपरिचित थे, वे आँख खोल कर देखें कि यहाँ 'राष्ट्र' शब्द ही प्रयुक्त है न! जब हम राष्ट्र और राष्ट्रीयता से अपरिचित होते तो इस स्मरण द्वारा हम प्रकारान्तर से समग्र भारतवर्ष का क्यों स्मरण करते—

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

क्या यहाँ मात्र नदियों का ही स्मरण है? क्या यह भारतवर्ष की समग्रता और राष्ट्रीयता का सूचक नहीं है? आज के समान ही प्राचीन युग में भी हममें मतभेद हो जाते थे। हम आपस में छोटी-मोटी बातों पर झगड़ पड़ते थे। वैसे समय में आज के समान ही राष्ट्रपुरुष हमें एकता का उपदेश करते थे। ऐसे सामयिक मतभेदों की आशंका करते हुए ही राष्ट्रपुरुष (ऋषि) 'संज्ञानसूक्त' में एक-निर्णय के लिए आवश्यक एकता की कामना करते हैं, चूँकि राष्ट्रीय प्रगति एकता पर ही तो निर्भर है—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ —ऋक्० १०।१९१।४

अर्थात्, 'तुम्हारा कर्म (अध्यवसाय) समान हो, तुम्हारे हृदय और मन भी समान हों, तुम एक मति वाले होकर सब प्रकार से सुसंगठित होओ'। और, इसी प्रेरणा से समवेत स्वर में हम राष्ट्ररक्षा हेतु कह उठते थे— 'बहुमत से रक्षित अपने इस विस्तृत स्वराज्य के हित के लिए हम यत्न करें'— व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये— ऋक्० ५।६६।६।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हमारे वैदिक वाङ्मय में भी राष्ट्र और राष्ट्रीयता के भावों का पूर्ण निदर्शन हुआ है। इसी से जब-जब हम पर सामूहिक-रूपेण आपत्ति आती रही है, हम उसे दूर करने के निमित्त कटिबद्ध होते रहे हैं। लौकिक संस्कृत-साहित्य में भी राष्ट्रीय तत्त्वों की कमी नहीं है। यहाँ इस प्रासंगिक चर्चा को विस्तार न देते हुए हमें हिन्दी-कविता में राष्ट्रीयता के विषय पर ही आ जाना चाहिए।

हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीयता का पल्लवन दो रूपों में ही मूलतः हुआ है—मुस्लिम आक्रामकों तथा उनके क्रूर वंशजों के अत्याचार के विरोध में और अँगरेजी राज्य की प्रतिक्रिया के रूप में। आधुनिक काव्य का सम्बन्ध द्वितीय से है और

प्राचीन काव्य का प्रथम से। राष्ट्रीयता के निमित्त मातृभूमि का स्तवन, देश के प्राचीन गौरव का गान, अतीत के प्रति मोह, वीरप्रशस्ति, संघर्ष की भावना, अत्याचारियों के विरुद्ध घृणा के भाव, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार, पारस्परिक ऐक्य, हरिजन-कल्याण, चर्खा और खादी इत्यादि को कवियों ने काव्य का विषय बनाया है। इनमें कुछ विषय ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध मात्र आधुनिक काल से है।

प्राचीन हिन्दी-काव्य में वीरगाथात्मक काव्यों का बाहुल्य है; पर सर्वत्र सार्वदेशिक राष्ट्रीयता नहीं मिलती है। उस समय की राष्ट्रीयता का अर्थ है क्षेत्र-विशेष की राष्ट्रीयता। भारत कई छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था, एक राजा दूसरे राजा पर आक्रमण करता था, दूसरा अपने राज्य और अपनी भूमि के रक्षार्थ जुट जाता था— यही थी संकुचित राष्ट्रीयता। 'मानो हि महतां धनम्' के आधार पर राजपूती आन और मूछों की ऐंठ ही उस समय अधिकांश युद्धों का कारण थीं। जब-तब विदेशी आक्रामक चढ़ आते थे। उनसे टक्कर लेने के लिए कभी भी सभी राजे एकसूत्र में नहीं गुथे। जिस पर चढ़ाई होती, वही युद्ध में डटता। ऐसे अवसरों पर राजाश्रित कवि की वाणी भी ओजपूर्ण हो जाती थी और वह राष्ट्रीय तत्त्वों का गौरवगान कर चलता था। महाकवि चन्द के काव्य में वीरतापूर्ण वर्णन ऐसी ही राष्ट्रीयता के कायल हैं। चन्द ने जातीय गौरव के रूप में राष्ट्रीयता का गान सर्वत्र किया है—

करतार हथ्थ तलवार दिय, इह सुतत्त रजपूत कर।

जगनिक ने 'आल्हखंड' में तो अपना आदर्श ही इस रूप में स्थापित किया था—

बारह बरिस लै कूकर जीएँ औ तेरह लै जिएँ सियार।
बरिस अठारह छत्री जीएँ, आगे जीवन को धिक्कार॥

हाँ, तो राष्ट्रीयता का यही आदर्श रूप हमें वीरगाथात्मक रचनाओं में मिलता है।

इसके पश्चात् हैं भक्तिपरक रचनाएँ। अपने काल में संत और भक्त लोक की सत्ता भूलकर परलोक बनाने में लगे हैं। लोक के साम्प्रदायिक आचारों और कट्टरपन को दूर करने के लिए तैयार दीखते हैं कबीर। ये दे चलते हैं फटकार हिन्दू और मुसलमान दोनों को। दोनों के बाह्याडम्बरों का उच्छेद करना ही कबीर में राष्ट्रीय भावनाओं के रूप में मिलता है। कागज-लेखनी पर अविश्वास करने वाला कबीर भारतवासियों को आँखिन देखी सुना रहा था। वह जानता था कि यदि हिन्दुओं और मुसलमानों में ऐसी कट्टरता बनी रही तो भारत का कल्याण नहीं होगा। पर, वस्तुतः कबीर की वाणियाँ आज की राष्ट्रीयता के अर्थ में नहीं ली जायँगी। हाँ, सच्चे दिल से भारत और भारतीयों का हितैषी लोकनायक तुलसी इसी

राजनीति में राष्ट्रीयता का क्या अर्थ रहा है ? अँगरेजों को भारत से निकालना, भारत से विदेशी शासन का अन्त कर स्वराज्य की स्थापना करना ही तो राष्ट्रीयता का अर्थ था। अँगरेजों का अत्याचार हो रहा था, हम अँगरेजों से घृणा कर रहे थे। किन्तु उस समय अत्याचार मुसलमानों द्वारा हो रहे थे, लोग मुसलमानों को निकालना चाह रहे थे। उद्देश्य तो एक ही था न ! अस्तु, तात्पर्य यह कि राष्ट्रीयता एक गत्यात्मक भाव है। समयानुसार इसमें परिवर्त्तन होता रहा है। उस समय मुसलमानों और मुस्लिम शासकों के विरोध में लिखी गयी कविताएँ जातीय नहीं, पूर्णतः राष्ट्रीय कही जायँगी। तत्कालीन राष्ट्रीयता का अर्थ ही था हिन्दू-राष्ट्रीयता।

इस हिन्दू-राष्ट्रीयता से प्रेरित होकर राजस्थानी कवियों की वाणी राष्ट्र के प्रहरी प्रताप के यशोगान में फूट पड़ी थी। अकबर का दरबारी होकर भी प्रताप का यशवर्णन पृथ्वीराज की साहसशीलता का सूचक ही है। पृथ्वीराज की ये पंक्तियाँ राष्ट्रीय भावनाओं से पूर्णतः ओतप्रोत हैं—

अइरे अकबरियाह, तेज तुहालो तुरकड़।
नम नम नीसरियाह, राण बिना सह राजवी।
माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राँण प्रताप।
अकबर सूतो ओझ कै, जाण सिराणै साँप।

राजस्थानी कवि दुरासाजी ने प्रताप के यशोगान में कतिपय छन्दों की रचना की है, जिनमें जातीय गौरव— राष्ट्रीयता— के भाव मिलते हैं—

अकबर गरब न आँण, हिन्दू सह चाकर हुवा।
दीठो कोइ दिवाण, करतो लटका कटहडै।
अकबर पत्थर अनेक, कै भूपत भेला किया।
हाथ न लागो हेक, पारस राँण प्रताप सी।
अकबर समन्द अथाह, तिहँ डूबा हिन्दू तुरक।
मेवाड़ो तिण माँह, पोयण फूल प्रताप सी॥

महाराणा प्रताप के पश्चात् हिन्दू-राष्ट्रीयता का भार आता है छत्रपति शिवाजी के कन्धों पर। महाराज छत्रसाल भी इसी समय हुए। औरंगजेब के अमानुषिक अत्याचारों के कारण बहुसंख्यक हिन्दू जनता तथा उसकी संस्कृति खतरे में थी। इस समय शिवाजी और छत्रसाल ने औरंगजेब के विरुद्ध अपनी तलवारें सँभालीं। इसी से इन दोनों को आलम्बन मानकर महाकवि भूषण ने कविताएँ कीं। ध्यान देने की बात तो यह है कि जिस भूषण ने औरंगजेब की निन्दा की है, उसी ने उसके पूर्वजों के लिए कहीं भी गलत शब्द नहीं प्रकट किये हैं। भूषण मात्र अराजोचित और पाशविक कृत्यों के कारण ही औरंगजेब की निन्दा कर रहे थे, अकबर आदि की नहीं—

१. दौलति दिल्ली को पाय कहाय आलमगीर, बव्बर अकव्बर के बिरद बिसारे तैं।
२. बव्बर अकव्बर हिमायु शाह शासन सौं, नेह ते सुधारि हेम हीरक तें सगरौ।
३. बव्बर अकव्बर हिमायु हद बाँधि गए, हिन्दू और तुरुक की कुरान वेद ढवकी।

इससे स्पष्ट है कि भूषण मुसलमानों के विरोधी नहीं थे। दूसरी बात यह कि ये शिवाजी के व्यक्तिरूप की वन्दना नहीं कर रहे थे, अपितु उन्हें राष्ट्र और संस्कृति के रक्षकरूप में चित्रित कर रहे थे—

वेद राखे विदित पुरान परसिद्ध राखे, राम नाम राख्यो अति रसना सुघर में।
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की, काँधे में जनेऊ राख्यौ माला राखी गर में।
मीड़ि राखे मुगल, मरोड़ि राखे पातसाह, बैरि राखे पीसि, वरदान राख्यौ कर में।
राजन की हद राखी तेगबल सिवराज, देव राखे देवल स्वधर्म राख्यौ घर में।

हिन्दुओं की आपसी फूट की ओर भी भूषण ने ध्यान दिया है—

आपस ही की फूट ही ते सारे हिन्दुआन टूटे।

अस्तु, राष्ट्रीयता का यह निर्घोष भूषण द्वारा उस समय हो रहा था, जब सारा भारत जर्जर हो चुका था।

अँगरेजों के आगमन से तो भारत में राष्ट्रीयता की लहर फैली ही, इसका पता हमें सर्वप्रथम बाँकीदास की निम्नांकित पंक्तियों से होता है—

आयो इँगरेज मुलक रे ऊपर।
राखो रे किहिक रजपूती, मरदाँ हिन्दू की मुसलमान।

यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है। हम ऐसा मानते रहे हैं कि हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय चेतना को आधुनिक रूप में प्रारम्भ करने का श्रेय भारतेन्दु को है। वस्तुतः बाँकीदास की उपर्युक्त पंक्तियाँ हमें ऐसा सोचने के लिए बाध्य करती हैं कि भारतेन्दु के पूर्व से ही आधुनिक राष्ट्रीयता का बीजवपन हो गया था। सन् १८५७ ई० में प्रथम स्वातन्त्र्यसमर के समय भी श्री सूर्यमल्ल मिश्रण राष्ट्रीय भाव से ही प्रेरित हो 'वीरसतसई' की रचना प्रारम्भ कर चुके थे। इनकी सतसई का रचनाकाल सन् १८५७ ई० ही है। इसका प्रेरणास्रोत प्रथम भारतीय स्वातन्त्र्यसमर ही है। इसकी पुष्टि श्री सूर्यमल्ल मिश्रण द्वारा उस समय लिखे गये पत्रों तथा 'समय पल्लटि सीस' से भी होती है। श्री सूर्यमल्ल ने यहाँ स्पष्ट रूप से सर्वप्रथम ऐसी घोषणा की कि अपनी पृथ्वी किसी को नहीं देनी चाहिए—

इला न देणी आपणी, हालरिया हुलराय।
पूत सिखावे पालणे, मरण बड़ाई माय॥

यहाँ भारतीय नारी भी स्पष्ट रूप से कहती है कि कायर पति से कहीं वैधव्य ही अच्छा है—

पीव मुवा घर आविया, विधवाँ किसा वणाव।

सच पूछा जाय तो कहा जायगा कि भारतीयों में राष्ट्रीय भावनाओं को आधुनिक रूप में जगाने का काम किया है अँगरेजों के शासन ने। मेकाले की तो

योजना ही थी— "If you want to destroy a nation, destroy his history first. The nation will be abolished of his own accord." इसी योजना के अनुसार अँगरेजों ने यहाँ अपना कार्य प्रारम्भ किया और इसी की प्रतिक्रिया में राष्ट्रीयता के भाव पनपे। हाँ, यह प्रतिक्रिया भारतेन्दु तथा भारतेन्दु-मण्डल के कवियों के कारण ही जनता के समक्ष सर्वप्रथम स्पष्ट हो सकी। इन्होंने तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार ही राष्ट्रीयता को साहित्य के माध्यम से—मूलतः काव्य के माध्यम से—प्रसारित करना प्रारम्भ कर दिया। अँगरेजों की अफगान-विजय के अवसर लिखी गयी 'विजय-वल्लरी' शीर्षक कविता में विदेशी शासन की डटकर आलोचना की गयी है—

> स्ट्रैची डिजरैली लिटन चितय नीति के चाल।
> फँसि भारत जर्जर भयो काबुल-युद्ध अकाल॥

स्पष्ट है कि यहाँ भारतेन्दु ने अँगरेजों की भेदनीति का पोस्टमार्टम किया है। भारतेन्दुकालीन राष्ट्रीय कविताओं में वैसी ललकार और ओज नहीं है, जैसी द्विवेदी-युग और छायावाद-युग में है। इसका कारण स्पष्ट है। उस समय खुल कर अँगरेजों का विरोध करना काल के गाल में ही जाना होता। इसी से प्रायः भारतेन्दु ने एक ओर अँगरेजों की प्रशस्तियाँ भी लिखी हैं, दूसरी ओर राष्ट्रीय कविताएँ भी। इसी से कुछ आलोचक उन्हें राष्ट्रीय कवि के साथ ही राज्यकवि भी कहते हैं। वस्तुतः यह भूल है। इस रूप में उन्होंने जितनी सेवा हिन्दी की की, उतनी सेवा शायद वे न कर पाते। वस्तुतः देशप्रेम अथवा राष्ट्रीयता का मेरी समझ से मात्र यही अर्थ नहीं कि जोश में आकर आत्म-बलिदान कर दें। वस्तुतः देश-सेवा का सही अर्थ है व्यक्तिगत रूप से कष्ट सहन करते हुए देश के ऐहिक और अन्य उत्थानों में योग देना। यदि ऐसी बात न होती तो प्रताप झाला के सिर पर मुकुट रख पानीपत के मैदान से क्यों पीछे हटते? वहीं उन्होंने बलिदान क्यों न दिया? इसीलिए कि अनवरत रूप से कष्ट सहकर भी मातृभूमि का उद्धार किया जाय, जो मर जाने के बाद शायद न हो पाता। हाँ, तो कहने का तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु ने तत्कालीन स्थिति के अनुसार लोगों को केवल अपनी सुषुप्तावस्था का ज्ञान कराया। और, यही कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण था। वे केवल एकत्र होकर अपनी वर्त्तमान स्थिति पर लोगों से रोने के लिए ही कह रहे थे—

> आवहु सब मिलि रोवहु भारत भाई।
> हा! हा! भारत-दुर्दसा न देखी जाई॥

वे एक पंक्ति में अँगरेजों की बड़ाई भी करते थे और तुरत दूसरी पंक्ति में उनके कुकृत्यों का भी आकलन करते चलते थे। वे एक ओर कहते थे— 'अँगरेज राज सुखसाज सज्यो अति भारी', तो दूसरी ओर यह भी कह रहे थे कि 'पै धन विदेस

चलि जात यहै अति ख्वारी'। ऐसी पैनी सूझ थी भारतेन्दु की।

द्विवेदी-युग में 'भारत-भारती' के माध्यम से गुप्तजी ने उसी काम को किया, जिसे भारतेन्दु कर रहे थे। उसकी पंक्ति 'हम कौन थे, क्या हो गये, आओ विचारें हम सभी' से हममें राष्ट्रीयता का संचार हो उठता है। इसके पश्चात् ही राष्ट्रीय कविता लिखने वाले कवियों का ताँता लग जाता है। प्रायः उस युग में राष्ट्रीयता एक प्रमुख काव्यविषय थी। राष्ट्रीय कविताओं के कवि के रूप में श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, रामधारी सिंह दिनकर, सुभद्राकुमारी चौहान इत्यादि के नाम अधिक विख्यात हैं। इस समय राष्ट्रीयता की धारा विभिन्न रूपों में सामने आ जाती है। प्रायः प्रत्येक कवि मातृभूमि का स्तवन कर चलता है। श्रीधर पाठक की कविता 'जय-जय प्यारा भारत देश' तो प्रायः प्रार्थना के रूप में मान्य-सी हो गयी थी। उसका एक अंश देखिए—

जय-जय शुभ्र हिमाचल-शृंगा।
कलरवनिरत कलोलिनि गंगा।
भानु - प्रताप - चमत्कृत - अंगा।
तेजपुंज तपवेश।
जय-जय प्यारा भारत देश।

और, श्री सोहन लाल द्विवेदी की भावना तो भारत-भू की इस प्रकार पूजा करना चाहती है—

वन्दना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो।
बन्दिनी माँ को न भूलो, राग में जब मस्त झूलो।
अर्चना के रत्नकण में, एक कण मेरा मिला लो।
जब हृदय का तार बोले, शृंखला का बन्ध खोले।
हों जहाँ बलि शीश अगणित, एक सिर मेरा मिला लो।

इसी प्रकार स्वदेश का गौरवगान और अतीत का चिन्तन भी हो चलता है। इसी प्रकार वीरप्रशस्ति और चरखा तथा खादी के प्रति कविताएँ हो चलती हैं, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार हो चलता है। खादी की महत्ता से सम्बद्ध गीत भी देखिए—

खादी की गंगा जब सिर से पैरों तक बह लहराती है।
जीवन के कोने-कोने की तब सब कालिख धुल जाती है।

इस समय का कवि जनता को उद्बुद्ध तो करता ही है, राष्ट्र की वेदी पर बलिदान होने के लिए उसका आह्वान तो करता ही है; नवीनजी कवियों से ही आग्रह करते हैं कि वे ऐसी रचना करें—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए।
× × × ×
प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि-त्राहि रव नभ में छाए।

किन्तु जब देश ही पराधीन था तो लेखनी भी तो पराधीन ही थी। बेचारे कवि क्या कर पाते ! ईसी विवशता को सुभद्राकुमारी चौहान इस प्रकार व्यक्त कर पाती हैं—

भूषण अथवा कवि चन्द नहीं, बिजली भर दे वह छन्द नहीं।
है कलम बँधी स्वच्छन्द नहीं, फिर हमें बताए कौन हंत।

पर भला भारतीय जनता अँगरेजों के रोके कैसे रुकती ! वह पहचान चुकी थी अपने देश को। अतः वह 'हिन्दुस्थान हमारा है' के नारे बुलन्द करने लगी। इसी का एक चित्र नवीनजी इस प्रकार देते हैं—

कोटि-कोटि कंठों से निकली आज यही स्वरधारा है।
भारतवर्ष हमारा है, यह हिन्दुस्थान हमारा है।

बात यहीं नहीं रुकती। श्री रामधारी सिंह दिनकर तो स्वर्ग को भी चुनौती देते हैं—

दूध-दूध, ओ वत्स, तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।
हटो व्योम के मेघ, तुम्हारा स्वर्ग लूटने हम आते हैं।

दिनकर आज गाण्डीव और गदा, अर्जुन और भीम को स्वर्ग से लौटा देने के लिए कहते हैं—

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ, जाने दे हमको स्वर्ग धीर।
पर फिरा हमें गाण्डीव-गदा, लौटा दे अर्जुन-भीम वीर।
कह दे शंकर से, आज करें, वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार।
सारे भारत में गूँज उठे 'हर हर बम' का फिर महोच्चार।

और, सचमुच 'हर हर बम' का महोच्चार भारत में हुआ। उस समय प्रत्येक भारतीय कह रहा था—

विजयी विश्व तिरंगा प्यारा, झंडा ऊँचा रहे हमारा।
इसकी शान न जाने पावे, चाहे जान भले ही जावे।।

किन्तु ऐसे समय में भी हिन्दी-काव्य में कतिपय कवि छायावाद के नाम पर अपना रोना रो रहे थे। प्रायः छायावादी कवियों पर यह आक्षेप है कि उन्होंने देश की तत्कालीन राष्ट्रीयता को अपने काव्य में स्थान नहीं दिया है। वस्तुतः इस कथन में आंशिक सत्य ही है। यद्यपि सक्रिय रूप से छायावादी कवि इस राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग नहीं ले रहे थे; किन्तु वे पूर्णतः तटस्थ थे, ऐसा कहना मूर्खता होगी। उस समय प्रसादजी अपने नाटकों में देशप्रेम को पनपा रहे थे। उनके नाटकों के गीतों को पढ़ लीजिए, सारी बात स्पष्ट हो जायगी। प्रसादजी तो देश के गौरव के गायक हैं। जहाँ ये एक ओर—

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक किनारा।

द्वारा वे देश का स्तवन कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर स्वातंत्र्यसमर के पथ पर

बढ़ते हुए सेनानियों के साथ प्रचलनगीत भी गाते चल रहे थे—

हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती।
स्वयं-प्रभा-समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती।
अमर्त्य वीरपुत्र हो दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्यपंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो।

और, निराला भी भारत का इस प्रकार स्तवन कर रहे थे—

भारति, जय, विजय करे।
कनक-शस्य-कमल धरे।
लंका पदतल-शतदल।
गर्जितोर्मि सागर-जल।
धोता शुचि चरण-युगल।
स्तव कर बहु अर्थ-भरे।

अस्तु, ऐसा कहना कि छायावादी कवियों ने राष्ट्रीय चेतना में योगदान नहीं किया है, पूर्णतः गलत ही है। हाँ, इनमें एकमात्र महादेवी वर्मा ही हैं जो वैयक्तिक वेदना में ही उलझी थीं। पंत तो गाँधीवाद और मार्क्सवाद का समन्वय करते दीखते हैं—

मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गाँधीवाद।
सामूहिक जीवन-विकास की साम्य-योजना है अविवाद।

तात्पर्य यह कि हिन्दी का प्रत्येक कवि इस संघर्ष-युग में राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत था। निश्चय ही सन् १९२० से १९४७ ई० तक राष्ट्रीय कविताओं का ही युग रहा है। अन्य विषय पर भी कविताएँ लिखी गयी हैं, काफी महत्त्व-पूर्ण रूप में लिखी गयी हैं; किन्तु राष्ट्रीयता से कोई भी कवि अछूता नहीं रहा है। इस समय कविता ही नहीं, साहित्य की प्रत्येक विधा राष्ट्रीय भावना से रंजित दीखती है।

सन् १९४७ ई० में भारत की आजादी के पश्चात् राष्ट्रीय धारा मर जाती है। यह स्वाभाविक भी था। अब राष्ट्र स्वतन्त्र हो गया था। अब राष्ट्रीयता का अर्थ लगभग पूरा हो चुका था। अँगरेजी शासन का अन्त हो चुका था। तत्कालीन राष्ट्रीय कविताओं का—राष्ट्रीयता का—अर्थ भी यही था। किन्तु वस्तुतः राष्ट्रीयता का अन्त होना देश का मर जाना ही है। यहाँ राष्ट्रीयता के अन्त से केवल इतना ही तात्पर्य है कि सामयिक राष्ट्रीयता का—जो परिस्थितिविशेष में उत्पन्न हुई थी—अन्त हुआ।

आजादी के पश्चात् हिन्दी-कविता के माध्यम से राष्ट्रीयता पुनः नये रूप में—सार्वत्रिक भाव के रूप में, नवनिर्माण के रूप में—प्रस्फुटित होती है। देश का नवनिर्माण ही अब हमारा उद्देश्य था। अस्तु, अब कवि राष्ट्रीय भावों का स्फुरण

कर देश के ऐहिक उत्थान में योगदान देना प्रारम्भ करता है।

अचानक भारत को एक नयी विपत्ति में फँसना पड़ता है। सन् १९६२ ई० के २० अक्टूबर को अचानक चीनियों का आक्रमण भारत के उत्तरी भाग पर हो जाता है। लद्दाख और नेफा में लड़ाइयाँ प्रारम्भ होती हैं और पुनः राष्ट्रीयता का नये रूप में प्रारम्भ होता है। कवि एक बार पुनः नवीन उत्साह भरने के लिए, देश के गौरवगान के साथ वर्त्तमान भयावह स्थिति का चित्रण कर चलता है। इस समय समस्त भारत की जनता एक साथ बौखला उठती है। ऐसी एकता भारत में इसके पूर्व शायद ही हुई थी। जिस समय भारत में अँगरेजों का शासन था, उस समय भी हममें ऐसी एकता का अभाव ही था। इस समय हिन्दी ही नहीं, प्रत्येक भाषा का कवि नये स्वर से राष्ट्रीयता का मन्त्र फूँकना प्रारम्भ कर देता है। नेफा और लद्दाख के चित्र प्रायः सर्वत्र देखने को मिल जाते हैं। हिमालय के कैलास पर सुषुप्त शंकर को कवि जगाना चाहता है। नीरज की भावना ही देखिए—

देहरी है लद्दाख हमारी, नेफा घर का द्वार है।
आँगन है आसाम, हिमालय आँगन की दीवार है।
कंकर-कंकर शिवशंकर है, तीर्थराज कैलास का।
मानसरोवर आमुख है निज भारत के इतिहास का।

और, रामकुमार वर्मा गा उठते हैं—

यह तुंग हिमालय आज हमारी छाती की दृढ़ सीमा है।

हम समवेत रूप में आक्रमणकारी चीनियों को खदेड़ने के निमित्त प्रतिज्ञा करते हैं—

हर हिमालयशृंग पर उठती लहर की ताल होगी,
और बर्फीली सतह बड़वाग्नि पीकर लाल होगी,
काल होगी तारिणी गंगा तरणिजा व्याल होगी;
और शिव होंगे न शंकर कंठगत नरमाल होगी,
कर न पायेगा हमें आश्वस्त जननी का अभय भी।
एक दिन होगा प्रलय भी। —भवानीप्रसाद मिश्र

हम तो पंचशील का मंत्र लेकर निःशस्त्रीकरण की बात कर रहे थे और इधर मित्रवेश में शत्रु चीन पीछे से प्रहार कर देता है। यद्यपि कतिपय परिस्थितियों के कारण हमें पीछे हटना पड़ता है—हमें विश्व के इतिहास में पहली बार पीछे हटना पड़ता है, इससे संसार चकित होकर हमारी ओर देखता है। बालकृष्ण राव कह उठते हैं—

पहली बार
पार्थिव शुभ्रता के वक्ष पर अभिनीत
मानव-मान्यताओं का विवर्त्तन;

सत्य का संहार
शिव के हास की अट्टालिका में !

पर हम पुनः रामानन्द दोषी के शब्दों में चीनियों को चेतावनी दे रहे हैं—

तुम हमारी चोटियों की बर्फ को यों मत कुरेदो।

क्योंकि—

'लास्य भी हमने किये औ' ताण्डव हमने किये हैं,
वंश मीरा और शिव के, विष पिया है औ' जिये हैं,
दूध माँ का, या कि चन्दन या कि केसर जो समझ लो
यह हमारे देश की रज है, कि हम इसके लिए हैं।

एक ओर चीन का भीषण आक्रमण—भारत की रक्षा में भारतीय फौजें कट रही हैं; दूसरी ओर भारत के नेताशिरोमणि पं० नेहरू की शान्ति के लिए अपील—कितना उपहासास्पद है। तभी तो दिनकर की भावना पं० नेहरू का भी विरोध करने से नहीं चूकती। वे कह उठते हैं—

माताओं को शोक, युवतियों को विषाद है;
बेकसूर बच्चे अनाथ होकर रोते हैं!
शान्तिवादियो! यही तुम्हारा शान्तिवाद है?
अब मत लेना नाम शान्ति का, जिह्वा जल जायेगी।

दिनकर को इस बात का खेद है कि 'अब भी पशु मत बनो, कहा है वीर जवाहरलाल ने'। उन्हें यह बात बड़ी अजीब लगती है कि आततायी असुरों से निर्ममता से नहीं, हमें दया, ममता और दुलार से लड़ने को कहा जा रहा है। इसी से वे जवाहर से पूछते हैं—

पर यह सुधा-तरंग कौन पीने देता है?
बिना हुए पशु आज कौन जीने देता है?

कवि यह जानता है कि गाँधीवाद (अहिंसा) अच्छी वस्तु है, पर यह भी तो जानता है कि इस गाँधीवाद और गाँधी की रक्षा केवल भारत से ही सम्भव है। यदि भारत ही नहीं रहेगा, तो क्या गाँधीवाद टिक सकेगा? अस्तु, उसका निर्देश है कि 'गाँधी की रक्षा करने को गाँधी से भागो'। इतने पर भी जब भारतीय शासकों की शान्तिवाद की अपील ही चलती रहती है तो दिनकर स्पष्टतः कह उठते हैं—

सोच-सोच आनन मलीन है,
एक ओर पाकिस्तान, एक ओर चीन है।
समझ न पड़ता चरित्र है,
रूस-अमरीका में से कौन बड़ा मित्र है।
दोस्त ही हैं देख के डरो नहीं,
कम्यूनिस्ट कहते हैं चीन से लड़ो नहीं।
चिन्तन में सोशलिस्ट गर्क हैं,

कम्यूनिस्ट और काँगरेसी में क्या फर्क है ?
जनसंघी भारतीय शुद्ध है ।

तभी तो वे इस अवसर पर सरदार पटेल को पुकारना चाहते हैं, जो हार को भी जीत में बदल देते थे। कवि का विश्वास है कि आज की स्थिति में पं० नेहरू से काम नहीं चल सकता—

भोर में पुकारो सरदार को,
जीत में जो बदल देते थे कभी हार को।
तब कहो, ढोल की य' पोल है,
नेहरू के कारण ही सारा गंडगोल है।

दिनकर यहीं पर रुकते नहीं, कहते ही जाते है—

सरकार से न यदि ऊबेगा,
डूबेगा, अवश्य, यह सारा देश डूबेगा।

कवि को यह अच्छी तरह विदित है कि आज अहिंसा की नहीं, तलवार की आवश्यकता है; त्रिपिटक की नहीं, गीता के कर्मयोग की आवश्यकता है। ऐसी परिस्थिति में वीरों को अहिंसा-धर्म सिखाना पथभ्रान्त करना है—

गीता में जो त्रिपिटक-निकाय पढ़ते हैं,
तलवार गलाकर जो तकली गढ़ते हैं;
शीतल करते हैं अनल प्रबुद्ध प्रजा का,
शेरों को सिखलाते हैं धर्म अजा का।

उसे पता है कि हमें अपने घर में ही मार डालने का उपाय चल रहा है और वह यह भी जानता है कि इसके पीछे कौन है—

घातक है, जो देवता-सदृश दिखता है,
लेकिन कमरे में गलत हुक्म लिखता है।
जिस पापी को गुण नहीं, गोत्र प्यारा है,
समझो, उसने ही हमें यहाँ मारा है।

लेकिन भारतीय जनता ऐसे लोगों के चक्कर में पड़ नहीं सकती। वह अपना रास्ता पहचानती है। वह जानती है कि यह आग मात्र सीमा पर की लपट नहीं, स्वतन्त्रता पर ही भावी संकट की सूचना है। इसी से वह प्रतिज्ञा करती है—

अब जो सिर पर आ पड़े, नहीं डरना है,
जनमें हैं तो दो बार नहीं मरना है।

जब जनता ही ऐसी प्रतिज्ञा कर ले, तो फिर देश पर आपत्ति कैसी ! कवि स्पष्ट रूप से घोषणा करता है—

ताण्डवी तेज फिर से हुंकार उठा है,
लोहित में था जो गिरा, कुठार उठा है।
संसार धर्म की नयी आग देखेगा,
मानव का करतब पुनः नाग देखेगा।

निश्चय ही 'हुंकार' और 'सामधेनी' की आवाज एक बार पुनः हमें 'परशुराम की प्रतीक्षा' में देखने को मिली है। सम्पूर्ण पुस्तक में राष्ट्रीय भावना नये रूप में विकस उठी है। आज की इस भीषण वेला में जाति, धर्म आदि सबको छोड़ कर हमें बाह्य आक्रमण को समाप्त करना है। इसके निमित्त नेपालीजी की भावना कहती है—

मन्दिर से चलो थाम के बन्दूक दुधारी,
मस्जिद से चलो साथ ले तलवार दुधारी,
क्रिस्तान चलो, सिक्ख चलो, जाट चलो रे!

इस अवसर पर रामकुमार चतुर्वेदी की 'हिमालय की पुकार', कमलेशजी की 'ओ हिमालय के सपूतो' आदि कविताएँ ओजभावना से परिपूर्ण होकर लोगों को नवीन चेतना प्रदान कर रही हैं। साहिर लुधियानवी के गीत 'वतन की आबरू खतरे में है, होशियार हो जाओ' ने लोगों को सहज गति प्रदान की है।

सामान्यतः कहा जायगा कि हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय भावना का विकास प्रारम्भ से ही मिलता है। हाँ, जब कभी सामयिक परिस्थितियाँ देश के लिए विकट हुई हैं, कवियों ने अपनी वाणी द्वारा ओज प्रदान कर जनता को नयी लीक प्रदान की है।

४८

नारियों की हिन्दी-सेवा

[साहित्य में योग—प्रारम्भ और मीरा—सन्त कवयित्रियाँ : सहजो, दया—प्रेमार्थिनी ताज—शृंगारी शेख—रीतिकवयित्रियाँ—द्विवेदी-युग : देश और समाज—आधुनिक युग : चौहान और महादेवी—गद्य में अवदान—शोधकर्त्री]

हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें पुरुष साहित्यकार ही अधिक हुए हैं, नारियों का योगदान कम रहा है। यदि आधुनिक युग को ध्यान से हटा दिया जाय, तो ऐसा लगता है कि हिन्दी की सेवा में नारियाँ नगण्य रूप में ही आयी हैं। यद्यपि संख्या की दृष्टि से नारी साहित्यकारों का स्थान गौण है, किन्तु कार्य और उपलब्धि की दृष्टि से वे महत्त्वपूर्ण रही हैं। हिन्दी-साहित्य की वेदी पर पुरुषों का प्रतिनिधित्व यदि सूर करते हैं, तो नारियों की ओर से आगे बढ़ती हैं मीरा। सूर के गीतों से यदि पाठक लालित्य और माधुर्य पाता है, तो मीरा के पदों में तन्मयता और सर्वस्वसमर्पण की भावना। मुसलमानों की ओर से रसखान यदि पुरुषों की भावना का प्रत्यक्षीकरण करते हैं, तो उसी वर्ग से नारिहृदय का आवेग लेकर आती हैं ताज कवयित्री। रही बात आधुनिक युग की। यहाँ भी जोड़ी फिट बैठती है। स्वातंत्र्यसमर का सन्देश यदि माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन और दिनकर की कविताओं में मिलता है, तो सुभद्राकुमारी चौहान की कविताएँ भी इसी क्रम में आती हैं। इनकी कविता में भी वही आह्वान है जो दिनकर की कविता में। एक ओर प्रसादजी यदि छायावादी कविता को जन्म देते हैं, तो महादेवी जीवन। रहस्यवाद का स्फुरण यदि प्रसाद में मिलता है, तो महादेवी में पल्लवन। गद्य-साहित्य में यदि प्रेमचन्द और प्रसाद आगे बढ़ते हैं, तो 'दुलाईवाली' शीर्षक कहानी लेकर उपस्थित होती है बंगमहिला। तात्पर्य यह कि हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि में पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों ने भी सदा अपना हाथ बटाया है। हिन्दी से हम न तो सूर को अलग कर सकते हैं और न मीरा को। हम कबीर की चर्चा के साथ महादेवी की भी चर्चा अवश्य करते हैं। देवकीनन्दन खत्री, प्रेमचन्द, यशपाल और जोशी इत्यादि की उपन्यास-कला की चर्चा में उषादेवी मित्रा और कंचनलता सब्बरवाल की भी चर्चा हम अवश्य करते हैं। अस्तु, ऐसा कहना ही समीचीन होगा कि जीवन के इस क्षेत्र में—हिन्दी-साहित्य की साधना में—नारियों ने पुरुषों का सदा साथ दिया है।

कालक्रम की दृष्टि से हिन्दी-कवयित्रियों में सर्वप्रथम पद्मावती और सुरसुरी का नाम लिया जायगा। ये दोनों रामानन्द की शिष्याएँ थीं। इन दोनों की रचनाओं का पता नहीं चलता। इन्हें नोटिस मात्र समझना चाहिए। इनके पश्चात् आती हैं मीरा। इनकी कई रचनाओं का पता चलता है—नरसीजी का माहरो, गीतगोविन्द की टीका, मीरानी गर्वी, मीरा के पद, राग सोरठ के पद, रामगोविन्द इत्यादि। पुरोहित हरिनारायणजी के अनुसार मीरा के फुटकर पदों की संख्या ५०० के आसपास है। इनके पदों में कृष्ण के प्रति असीम अनुराग दीखता है। प्रवाद है कि ये सन्त रैदास की शिष्या थीं। निर्गुण के पद इस कथन की पुष्टि करते हैं।

मीरा के पदों में आत्मानुभूति और नारिहृदय की भावनाओं का पूर्ण प्रकाशन मिलता है। इनका स्थान विश्वसाहित्य में बेजोड़ है। नारिहृदय का दर्द, वेदना की अनुभूतियाँ आदि इनमें इस रूप में प्रकट हुई हैं, जिनका प्रकाशन अन्यत्र दुर्लभ है। मीरा प्रत्येक साहित्य में सदा नहीं पैदा होती। आँग्ल कवयित्री सेंट थेरेसा से इसकी तुलना की जा सकती है। प्रेम की ऐसी दीवानी थेरेसा भी नहीं बन सकी है। इसने कृष्ण के लिए क्या नहीं किया? घर छोड़ा, पति छोड़ा, राजमहलों के सुख को तिलांजलि दी; पर निष्ठुर कृष्ण न मिल सके। मिला केवल दर्द, विरह का दर्द, जिसका कोई अन्त नहीं होता। इसकी वाणी आज भी गूँज रही है—'हेरी! मैं तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणे कोय'। मीरा निहारती रही पथ और बुहारती रही डगर; पर यह भी आज प्रश्न ही बना रहा कि उसे कृष्ण कब मिलेंगे—

> पंथ निहारूँ डगर बुहारूँ उभीं कारज जोय।
> मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे, तुम मिलिया सुख होय।।

मीरा के मनोद्गारों में कलात्मकता नहीं है, बनाव नहीं है और न है तराश-मठार। हाँ, है केवल सच्ची भावना और लोकगीतों की धुन। मीरा ने कृष्णप्रेम में उत्सर्ग किया है जीवन; किन्तु वही संगीत बनकर प्रस्फुटित हो गया है। वह है स्वरूप की साधिका। वह कृष्णस्वरूप के पीछे पागल हो गयी है। अष्टछाप के कवि भी तो कृष्णोपासक ही थे; किन्तु दोनों में महान् अन्तर है। सूर आदि ने कृष्ण की प्राप्ति के निमित्त माध्यम बनाया है गोपियों को, राधा को; पर मीरा तो स्वयं राधा बन गयी है। मीरा और कृष्ण में कोई छिपाव-दुराव नहीं रह गया है। मीरा के मिलन-औत्सुक्य, आशा और प्रतीक्षा से सम्बद्ध पद अपने ढंग के हैं, अनुपम हैं—

> कोई कहियो रे पिय आवन की, आवन की मनभावन की।
> ये दोउ नैन कह्यौ नहीं मानैं, नदियाँ बहे जैसे सावन की।
> कहा करौ कछु बस नहिं मेरो, पाँख नहीं उड़ि जावन की।

वस्तुतः भक्तियुग में मीरा वह अक्षत तारिका है, जिसके अभाव में समस्त

हुए पीला पड़ जायगा।

मीरा के पश्चात् आती हैं सहजोबाई और दयाबाई। ये दोनों चरणदास की शिष्याएँ थीं। जहाँ मीरा ने भक्तों की विह्वलता और वेदना को काव्य में उड़ेलने का प्रयत्न किया है, वहाँ इन दोनों में संतों की समस्त गम्भीरता एक ही साथ प्रकट हो उठी है। संतों की सभी सामान्य विशेषताएँ यहाँ उपलब्ध हो जाती हैं। इन दोनों ने गुरुमहिमा और आत्मा-परमात्मा की एकता पर विशेष बल दिया है। सहजोबाई का कथन है कि सतगुरु की महिमा अनन्त है, वह असम्भाव्यता में भी सम्भाव्यता ले आता है। ऐसा ही यह कथन देखिए—

> चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, सरसों ना ठहराय।
> सहजो कूँ वा देस में, सतगुरु दई बसाय॥

और, देखिए दयाबाई को। यह आत्मा और परमात्मा की एकता ज्ञापित करती हुई कहती है—

> ज्ञान रूप को भयो प्रकास, भयो अविद्या तम को नास।
> सूझ पर्यौ निज रूप अभेद, सहजै मिट्यौ जीव को खेद।
> × × ×
> जग विवर्त सो न्यारा जान, परमदेव रूप निरवान।
> निराकार निर्गुण निरवासी, आदि निरजन अज अविनासी॥

तात्पर्य यह कि दोनों कवयित्रियों में संतों की समस्त भावनाओं का पूर्ण स्फुरण हुआ है। दोनों ने नामजप पर पूरा बल दिया है। हठयोग और प्राणायाम से सम्बद्ध पद भी दोनों की रचनाओं में पूर्णतः मिलते हैं। भाषा में सधुक्कड़ी रूप का निर्वाह नहीं के बराबर है; सर्वत्र स्पष्टता वर्त्तमान है।

हिन्दी-कवयित्रियों में मीरा जहाँ हिन्दू भक्तिनों का प्रतिनिधित्व करती है, वहाँ ताज मुस्लिम साधिकाओं का अगुआ बन कर आती है। यह थी तो मुसलमान, पर इसे अपनी कृष्णभक्ति पर पूरा भरोसा था। कृष्णभक्ति का इस पर गहरा रंग चढ़ा है। इसका समय वि० १७०० के आसपास था। इसकी एक रचना गोविन्द गिल्लाभाई के पास 'बारहमासा' है। इसमें बारहमासाविषयक छप्पय, कवित्त, कुंडलिया इत्यादि उपलब्ध हैं। भाषा पंजाबी प्रभावापन्न व्रजी है। इसके सम्बन्ध में एक किंवदन्ती है कि एक बार कृष्ण के दर्शनार्थ मन्दिर जाते समय पुजारियों ने मुसलमान होने के कारण इसे बाहर ही रोक दिया। यह वहीं पड़ी रह गयी। रात्रि में एक बालक थाल में भोजन ले आया और इससे उसने कहा "प्रिये, तू दिन भर से भूखी है, भोजन कर ले और यह थाल प्रभात में पुजारी को दे देना। आज से तुझे कोई न रोकेगा"। इसकी सत्यता के प्रति हमारा तर्क नहीं है। तात्पर्य इतना ही है कि यह कृष्ण की अनन्य भक्तिन थी। यह कृष्ण के छैल-छबीले रूप पर मुग्ध अवश्य थी—

छैल जो छबीला सब रंग में रँगीला
बड़ा चित्त में अड़ीला कहूँ देवतों से न्यारा है।
माला गले में सोहै नाक मोती सेत सोहै कान
कुण्डल मन मोहै लाल मुकुट सिर धारा है।
दुष्ट जन मारै सब संत जो उबारै 'ताज'
चित्त में निहारौ प्रन प्रीति करनबारा है।।

इसने मात्र छैल-छबीले रूप का ही स्मरण नहीं किया है, अपितु कृष्ण के लोकरंजनकारी रूप को भी चित्रित किया है। इसने सिद्धिदाता के रूप में गणेश की भी स्तुति की है—

गणपति गण सिरताज हौ, तुम्हें नमाऊँ शीश।
ज्ञान देव पूरण हमें, जानेंगे सुत ईश।।

स्पष्ट है कि यहाँ गणेश की स्तुति परम्पराप्रसूत रूप में ही की गयी है। इससे भी यह बात प्रमाणित होती है कि वह हिन्दू देववाद से पूर्णतः परिचित थी। ताज के श्रीकृष्णप्रेमविषयक सवैये अधिक अनूठे बन सके हैं। उसकी तो घोषणा ही थी—

सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी, तुव दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
× × × ×
नन्द के कुमार कुरबान ताँणीं सूरत पै, ताँण नाल प्यारे हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी मैं।

सम्भवतः ऐसे ही मुस्लिम भक्तों और भक्तिनों को ध्यान में रखते हुए भारतेन्दुजी ने कहा था—'इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दुन बारिए'।

हिन्दी का श्रृंगारकाल साहित्य के इतिहास का एक रंगीन पृष्ठ है। इस समय कवि सर्वत्र से सिमटकर श्रृंगार के साधन में ही तल्लीन थे। ये 'मकरध्वज रस' तैयार कर रहे थे। हिन्दू कवियों के साथ मुबारक, आलम, याकूब खाँ इत्यादि मुसलमान कवि भी इसमें योग दे रहे थे। इस कार्य में मुस्लिम कवयित्री शेख रँगरेजिन ने भी पर्याप्त हाथ बटाया है। यह आलम की पत्नी थी। किंवदन्ती है कि 'कनक छरी सी कामिनी, काहे को कटि छीन' की दूसरी अर्द्धाली—'कटि का कंचन काटि विधि कुचन मध्य धरि दीन'—इसी ने लिखी थी। इसी से प्रभावित हो आलम ने इससे विवाह कर ब्राह्मणत्व छोड़ा और मुसलमान हो गये। कहा जाता है कि 'आलम केलि' में कतिपय ऐसे भी पद हैं जिनकी रचना आलम और शेख दोनों ने मिलकर की है। निम्नांकित छन्द का चौथा चरण शेख का बनाया हुआ कहा जाता है—

प्रेमरंग जगमगे जगे जामिनी के, जोबन की जोति जगि जोर उमगत है।
× × × ×
आलम सो नवल निकाई इन नैनन की × × ×
चाहते हैं उड़िबे को, देखत मयंक मुख, जानत हैं रैनि तातें ताहि में रहत हैं।

यदि वास्तव में बात सत्य है, तो इतनी दूर की 'सूझ' के लिए शेख की बड़ाई

लिखे बिना नहीं रहा जाता। शेख की रचनाएँ पूर्णतः श्रृंगारिक हैं। भाषा का गठन आलम के ही समान है। एक श्रृंगारिक रचना द्रष्टव्य है—

प्यारी परजंक पै निशंक पर सोवत ही, कंचुकी दरकि नेक ऊपर को सरकी।
"अतर गुलाब औ' सुगन्ध की महक पर, देखौ उठि आवति कहाँ ते मधुकर की।
बैठो कुच बीच नीच उड़ि न सकत केहू, रही अवरेख 'सेख' दुति दुपहर की।
मानहु समर में सुमिरि बैर शंकर कौ, मारि शवरारि फाँकि रह गई सर की।

इसकी रचनाओं में घोर श्रृंगार मिलता है। अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का प्रचुर प्रयोग मिलता है। आज ऐसा भी प्रवाद है कि हिन्दी का (अवधी का) प्रसिद्ध छन्द 'बरवै' इसी की देन है। एक बार वियोग की स्थिति में इसने लिखा था—

प्रेम प्रीत को बिरवा, चलेहु लगाय।
सींचन की सुधि लीजौ, मुरझि न जाय।

इसमें 'विरवा' शब्द प्रयुक्त होने के कारण ही यह 'बरवै' छन्द के नाम से प्रचलित हुआ। यह छन्द इतना लोकप्रिय हुआ कि इसी में रहीम ने 'बरवै नायिकाभेद' लिखा तथा स्वयं गोस्वामीजी ने 'बरवै रामायण' की रचना की। पर इस कथन को प्रवाद मात्र ही मानना चाहिए कि यह छन्द शेख द्वारा ही प्रवर्तित है। इतना तो निश्चय ही है कि 'बरवै' का प्रचलन उपर्युक्त पद से ही हुआ है और उस पद की लेखिका भी कोई महिला ही है, पर शेख रँगरेजिन ही उसकी लेखिका है, यह असन्दिग्ध नहीं है। खैर, इतना तो अवश्य है कि शेख की कविताएँ श्रृंगारकालीन पद्धति का पूर्ण रूप उपस्थित करती हैं।

प्रसिद्ध कवि आचार्य केशवदास के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर कहा जायगा कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक ऐसा समय भी अवश्य आया था जब विदग्ध जनों की कौन कहे, वेश्याएँ भी काव्यपटु थीं, वे कविताएँ करती थीं। ऐसा भी प्रचलित है कि स्वयं केशवदास की पुत्रवधू (बिहारी की पत्नी) एक अच्छी कवयित्री थी। 'केशवपुत्रवधू' का समय बिहारी के समय से मिलता-जुलता है। कतिपय विचारकों ने 'केशवपुत्रवधू' का सम्बन्ध प्रसिद्ध आचार्य केशवदास से भिन्न केशवदास से लगाया है। मध्यकाल में, जब कि आज जैसे स्कूल और कालेजों में नारिशिक्षा का प्रबन्ध न था, तब भी गिरिधर कविराय की पत्नी काव्यप्रतिभा में अपने पति से ही टक्कर लेती थी। इस समय की हिन्दी कवयित्रियों में रसिक-बिहारी, प्रतापकुँवर बाई, सुन्दरकुँवर बाई, रतनकुँवर बीबी, चन्द्रकला बाई, युगलप्रिया इत्यादि के नाम महत्त्वपूर्ण हैं।

हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दु-युग जागृति की नयी चेतना लेकर आया। इस समय पुरुषों के साथ अनेक महिला कलाकार भी साहित्य-सेवा में अग्रसर होती हैं;

पर इनका समुचित विकास द्विवेदी-युग में ही होता है। द्विवेदी-युग में मूलतः दो ही विषय साहित्य में पल्लवित हुए—देशप्रेम और सुधार। महिला साहित्यकार भी देशप्रेम एवं सामाजिक सुधार-सम्बन्धी कविताओं से नवीन चेतना देने में पूर्णतः समर्थ हुईं। इस समय की प्रमुख महिला साहित्यकारों में श्रीमती रघुवंशकुमारी, राजारानीदेवी, सरस्वतीदेवी, बुन्देलाबाला, गोपालदेवी, राजदेवी, कीरतिकुमारी का अधिक महत्त्व है। देशप्रेम-सम्बन्धी अधिक कविताएँ श्रीमती तोलदेवी की हैं। इनमें कला का निखार और पाण्डित्यप्रदर्शन भी खूब मिलता है। साथ ही भक्ति और रहस्यवाद की आत्मा भी इनकी कविताओं में उपलब्ध होती है।

आधुनिक युग में काव्यसरिता का प्रवाह तीव्र हो जाता है। इस समय विशेष ख्याति मिलती है श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान और श्रीमती महादेवी वर्मा को। चौहान की कविताओं में देशप्रेम की राष्ट्रीय धारा के साथ हृदय का नारिजन्य निखार भी मिलता है। इनकी वात्सल्य-सम्बन्धी कविताओं में बालसुलभ भावनाओं का नारिहृदय से अंकन हुआ है। 'मेरा बचपन' शीर्षक कविता में तो मानो पूरा हृदय ही इन्होंने उड़ेल दिया है। 'बालिका का परिचय' देते हुए ये कहती हैं—

यह मेरी गोदी की शोभा, सुख-सुहाग की है लाली।
शाही शान भिखारिन की है, मनोकामना मतवाली।
× × × ×
परिचय पूछ रहे हो मुझसे, कैसे परिचय दूँ इसका।
वही जान सकता है इसको, माता का दिल है जिसका।

देशप्रेम एवं वीररस से ओतप्रोत इनकी कविता 'झाँसी की रानी' का भला किसने नहीं अध्ययन किया है। वीरों द्वारा वसन्त किस प्रकार मनाया जाय, इस सम्बन्ध में इनकी कविता 'वीरों का कैसा हो वसन्त' पूरी ख्याति पा चुकी है।

छायावादी कविता के चार स्तम्भों में महादेवी का भी एक स्थान है। कतिपय विचारकों के अनुसार इनकी कविता में छायावाद अपने शुद्ध रूप में मिलता है। इन्होंने छायावाद को जीवन दिया है। इन्होंने छायावाद को पढ़ा नहीं, गढ़ा है। किन्तु कतिपय विचारक इनकी कविताओं में शुद्ध रहस्यवाद की भी खोज करते हैं। खोजने पर लोग अपने अनुकूल उदाहरण पा ही लेते हैं इनकी कविताओं में। वस्तुतः इनकी कविता में वेदनावाद ही स्फुटित है। इन्हें आधुनिक युग की मीरा भी लोग कह रहे हैं। वियोग ही इनका जीवन है और वेदना ही इनका आधार—

काटूँ वियोग पल रीते, संयोग समय छिप जाऊँ।

ये अरूप की आराधिका हैं। मीरा के पथ पर ही चलती हुई इन्होंने आधुनिक युग में अपने लिए पीड़ा का साम्राज्य खोज लिया है। पीड़ा में ही इन्होंने परमात्मा को खोजा है और अब उसमें भी पीड़ा ही खोजना चाहती हैं—

तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुममें ढूँढूँगी पीड़ा।

ये अपना परिचय कभी 'नीर भरी दुख की बदली' के रूप में देती हैं, तो कभी कह उठती हैं—

रात-सी नीरव व्यथा तम-सी अगम मेरी कहानी।

फिर कभी दुनिया को बतलाती हैं—

मैं कण-कण में ढाल रही अलि, आँसू के मिस प्यार किसी का।
मैं पलकों में पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का।

अपने प्रिय को रिझाने के लिए ये अपना श्रृंगार प्रकृति के तत्त्वों से करती हैं। जब इस पर भी इन्हें विफलता मिलती है, तो निराश स्वर में पूछ बैठती हैं—

क्यों आज रिझा पाया उसको मेरा अभिनव श्रृंगार नहीं ?

और, जब इनका प्रिय इनके निकट आता है, तो कर बैठती हैं मान—

सजनि मधुर निजत्व दे, कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं।

ऐसी हैं महादेवी वर्मा। इनकी कविताओं में भाषा का निखार, प्रतीक-विधान आदि सुन्दर बन पड़े हैं। उस दार्शनिकता के कारण कविता बोझिल अवश्य हो गयी है, जो सामान्य पाठकों के लिए आस्वादन में बाधक है। इन्होंने संस्मरण-लेखन में कमाल हासिल किया है।

आधुनिक युग में गद्य-साहित्य का महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है। इस विकास में महिला साहित्यकारों का भी प्रारम्भ से ही योगदान मिलता रहा है। हिन्दी की कहानी के जन्म देने का श्रेय भी लोग 'बंगमहिला' को ही देते हैं। 'बंगमहिला' की कहानी 'दुलाईवाली' तत्कालीन कहानियों में उत्तम है। आधुनिक कहानियों की अभिवृद्धि में सुभद्राकुमारी चौहान, उमा नेहरू, शिवरानीदेवी, तेजरानी पाठक, उषादेवी मित्रा, सत्यवती मल्लिक, कमलादेवी चौधरानी, चन्द्रप्रभा, तारा पाण्डेय, चन्द्रकिरण सौनरिक्शा, रामेश्वरी शर्मा, पुष्पा महाजन, विद्यावती शर्मा इत्यादि के नाम महत्त्वपूर्ण हैं।

इसी प्रकार हिन्दी-उपन्यास लेखिकाओं के रूप में भी कई महिलाओं ने ख्याति प्राप्त की है। जिस समय किशोरीलाल गोस्वामी की धूम थी, उसी समय महिला उपन्यासलेखिका चाँदकरण शारदा ने 'कालेज होस्टल' नामक उपन्यास लिखकर रूपात्मक उपन्यासरचना की नींव डाली। इसमें कालेज-जीवन की समस्याओं का पूरा चित्र मिलता है। आधुनिक उपन्यासकारों में कंचनलता सब्बरवाल और उषादेवी मित्रा के नाम विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। सुश्री अरुणमोहिनी मिश्र 'गिरिजा' की दो रचनाएँ 'मैके की ममता' एवं 'दीदी का प्यार' नारिजीवन, नारिहृदय की ममतापूर्ण सहज-सुन्दर झाँकी प्रस्तुत कर नारी के श्रेय एवं प्रेय रूप के साथ उसके हृदय के कठोर एवं क्रूर स्थलों का भी दिग्दर्शन कराती हैं। ये दोनों उपन्यास सामाजिक उपन्यासों की परम्परा में कथा-साहित्य के वर्त्तमान दर्शक की नयी कड़ी हैं।

निबन्धलेखन में महादेवी वर्मा के संस्मरणात्मक निबन्ध बेजोड़ हैं ही।

नाटककारों में महिलाओं की अभी तक कमी अवश्य दीख रही है। शारदादेवी ने 'विवाह-मण्डप' नामक नाटक लिखकर राष्ट्रीय और प्रेममूलक समस्याओं की ओर निर्देश अवश्य किया है।

आलोचना-जगत् में कई महिलाओं ने विशेष स्थान प्राप्त किये हैं। हिन्दी-साहित्य की नयी विधा 'शोध' की ओर भी कई महिलाओं ने ध्यान दिया है। इस क्रम में डॉ० किरणकुमारी गुप्ता, डॉ० सरला त्रिगुणायत, डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव, डॉ० शीलवती मिश्र, डॉ० शैलकुमारी माथुर, डॉ० रतनकुमारी, डॉ० उषा पाण्डेय, डॉ० शशि अग्रवाल, डॉ० उषा गुप्त, डॉ० शकुन्तला वर्मा, डॉ० चन्द्रकला, डॉ० राजकुमारी शिवपुरी, डॉ० सावित्री सिन्हा, डॉ० शकुन्तला दुबे, डॉ० कार्निका विश्वास इत्यादि के नाम गिनाये जायँगे। इनमें से कतिपय की प्रतिभा बहुमुखी है।

इस प्रकार समस्त हिन्दी-साहित्य के अवगाहन से यह विदित है कि महिलाएँ हिन्दी गद्य एवं पद्य के विभिन्न अंगों को अपनी प्रतिभा से साज-सँवार रही हैं। निश्चय ही, इनकी यह सेवा महत्त्वपूर्ण है; पुरुषों से किसी भी हालत में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

●

४९

मुसलमानों की हिन्दी-सेवा

[साहित्य : व्यक्तिसंस्कार का प्रभाव—हिन्दी पर मुस्लिम प्रतिक्रिया : उचित या अनुचित—भक्तिकाल में देन : कबीर और जायसी—रीतिकाल—शासक—कवि-परम्परा का प्रारम्भ—खुसरो—सूफी शैली : जायसी का महत्त्व—संत-सिद्ध : कबीर को श्रेय—कृष्णभक्त कवि—रहीम—शृंगारकालीन कवि—गद्य का आरम्भ : इंशा अल्ला आदि—पारसी थियेटर—आधुनिक आशंसा]

लोग मानें या न मानें, पर कोई भाषा या किसी भाषा का साहित्य किसी की बपौती या धरोहर नहीं है। हाँ, प्राचीन काल की बात मैं नहीं कहता, जब वर्गविशेष में, जातिविशेष में, देशविशेष में किसी एक विशेष प्रकार की भाषा प्रचलित थी और आज की अपेक्षा लोग एक-दूसरे से अधिक दूर थे। रही होगी भाषा उस समय जातिविशेष की बपौती—संस्कृत होगी सप्तसिन्धुप्रदेश के वासियों की भाषा और अरबी अरब के लोगों की; किन्तु आज ऐसी बात नहीं है। दूसरी ओर यह भी भावना तो मेरी समझ से भूल ही है कि किसी भाषा और उसके साहित्य में किसी जातिविशेष की संस्कृति के इतिहास का आलोड़न न होगा। भले ही सफाचट चेहरे वालों द्वारा रचित साहित्य सफाचट न हो, दाढ़ी-मूँछ वालों द्वारा रचित साहित्य दाढ़ी-मूछों से आवृत न हो; किन्तु यह कैसे भुलाया जायगा कि उनके व्यक्तित्व की छाप प्रत्येक शब्द पर रहेगी। तो, सारांश यह कि साहित्य चाहे किसी प्रकार का हो, उसमें रचयिता के व्यक्तित्व की छाप रहती है अवश्य। लेखक चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, बूढ़ा हो जवान, फिलस्तीनी हो या अँगरेज— वह अपनी रचना में अपना व्यक्तित्व देगा ही।

एक बात और। साहित्य समाज का चित्र होता है न! तो, समय की छाप भी तो इस पर होगी ही। इसी से कभी साहित्य वीरगाथात्मक रचनाओं से ओतप्रोत है और कभी भक्ति की रागिनी से आपूर्ण। जैसी सामाजिक धारा रहेगी, साहित्य में वैसे विचार भी आयँगे अवश्य। यहाँ आप मुझसे पूछ सकते हैं— भाई, यदि साहित्य या भाषा किसी की बपौती नहीं, तो फिर किसी जाति या धर्मविशेष के अनुयायियों के आधार पर इसका निरूपण क्यों किया जाय? बात तो है ठीक, किन्तु मैंने बतलाया न— व्यक्तित्व का उभार मूल बात है। हिन्दी की भक्तिकालीन रचनाओं पर विचार कर जाइए— क्या बिना धार्मिक संस्कार आदि के आप उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं? नहीं। अस्तु, यह जानना भी हमारी

भूल होगा कि अल्पसंख्यकों द्वारा हिन्दी की उन्नति में क्या योगदान मिला है। साथ ही यह बात भी स्पष्ट हो जायगी कि मानवीय भावनाएँ सबमें समान ही होती हैं— चाहे व्यक्ति मुसलमान हो या हिन्दू।

मुसलमानों ने हिन्दी के लिए क्या किया, इसकी उन्नति में इन्होंने कितना योगदान किया, इस पर विचारने के पूर्व सर्वप्रथम यही विचारणीय है कि यदि मुसलमान और मुस्लिम संस्कृति का संयोग हिन्दी संस्कृति और हिन्दी-भाषा से न होता, तो आधुनिक हिन्दी-भाषा इसी रूप में होती, इसका साहित्य इसी रूप में होता या यह कुछ भिन्न रूप में सामने आता। इस पर दो प्रकार के विचार दिये जा सकते हैं। एक प्रकार के विचार से तो यह कहा जाता है कि वास्तविक हिन्दी—भक्तिकालीन हिन्दी—का प्रारम्भ ही मुस्लिम आक्रमण की प्रतिक्रिया के कारण हुआ है। आज इस विचार से लोग प्रायः असहमति प्रकट कर रहे हैं। तो सुनिए, दूसरा विचार भी। इस वर्ग के लोग ऐसा मानते हैं कि यदि मुसलमान भारत में न आते, उनकी संस्कृति से हिन्दी-संस्कृति में आदान-प्रदान न भी होता तो हिन्दी का नब्बे प्रतिशत रूप ऐसा ही होता। हाँ, तो दोनों विचार हैं आपके सामने, आप स्वयं न्याय कर लीजिए और जहाँ तक मेरे विचार की बात है, मैं तो कहूँगा कि यदि मुस्लिम-संस्कृति का हिन्दी-संस्कृति के साथ सामंजस्य न होता तो हिन्दी आज निश्चय ही बिलकुल भिन्न रूप में होती— राजभाषा के पद पर भी सैकड़ों वर्ष पहले से विराजमान होती। रही राष्ट्रभाषा की बात, सो तो सदा से रही ही है। हाँ, तो मेरे कहने का यह अर्थ कदापि न लिया जाय कि मुसलमानों ने हिन्दी के निमित्त मात्र विरोधी तत्त्वों का ही जमाव किया। नहीं— अनेक उदारहृदय मुसलमानों ने हिन्दी के साथ वही सम्बन्ध स्थापित किया जो हिन्दुओं का सदा से है। और, जहाँ तक आज की बात है, आज तो हिन्दू ही हिन्दी के अधिक विरोधी हैं, मुसलमान नहीं।

यदि भक्तिकाल को हटा दिया जाय, तो हिन्दी तो निष्प्राण हो ही जायगी, मुसलमानों की सेवा भी गायब हो जायगी। वस्तुतः हिन्दी-काव्य का भक्तिकाल ही वह सुमेरु है जिसकी एक ढाल पर हिन्दुओं की रचनाएँ हैं तो दूसरी ओर मुसलमानों की। एक ओर यदि सूर और तुलसी हैं, तो दूसरी ओर कबीर और जायसी। एक ओर कृष्णभक्तों की टोली चल पड़ी है वृन्दावन और मथुरा की ओर, तो दूसरी ओर निकल पड़ी है मंडली सूफी फकीरों की। एक के नेता हैं अन्धे सूर, तो दूसरे के अगुआ हैं काने जायसी। अच्छी बनी है मंडली। एक ने गागर में सागर को समेटने की चेष्टा की, तो दूसरे ने 'प्रेम की पीर' ही प्रवाहित कर दिया है। और, जरा देखिए दूसरी ओर। उधर घर फूँककर मस्ती और अक्खड़पन के साथ संसार के चौराहे पर जुलाहा कबीर गला फाड़ रहे हैं, तो इधर शक्ति, शील और सौन्दर्य को

समन्वित करने वाले बाबा तुलसी। दोनों ने रामनाम का जप प्रारम्भ किया है। एक का आधार है निर्गुण, तो दूसरे का सगुण। हाँ, तो अच्छी जोड़ी बनी भक्तिकालीन कवियों की। हिन्दी की सड़क पर थोड़ा और आगे बढ़िए, मिलेंगे बिहारी और देव दायें किनारे पर और घूम कर देखिए पीछे, मिलेंगे रहीम और रसखान। छोड़िए रसखान को, रसलीन को ही साथ कर लीजिए। और, आ जाइए आधुनिक छोर पर। यहाँ भी हैं सैयद अमीर अली 'मीर' और मुंशी अजमेरी। तात्पर्य यह कि जिस तल्लीनता के साथ हिन्दुओं ने हिन्दी की उन्नति में योगदान किया, उसी लगन से कतिपय सहृदय मुसलमानों ने भी हिन्दी-सेवा का व्रत लिया और लगातार हिन्दी की उन्नति में साथ देते रहे।

छोड़िए, इन कवियों की बात। जरा ध्यान दीजिए उन मुसलमान आक्रामकों पर। ये आये थे साथ में नंगी तलवार लेकर, किन्तु यहाँ बस जाने के बाद इनलोगों ने तत्कालीन देशी भाषाओं के माध्यम से ही शासनसूत्र सँभाला। हिन्दी भी उन भाषाओं में से एक रही है। मुगल-सम्राट् अकबर के समय टोडरमल की चाल से हिन्दी को राजभाषा से अपदस्थ होना पड़ा। भले ही टोडरमल की चाल ने 'हिन्दवी' का वह महत्त्व छीन लिया हो; किन्तु क्या सम्राट् अकबर के हृदय से भी उन्होंने इसे निकाला? खैर, समय की बात है। 'सबै दिन होत न एक समान' के सिद्धान्तानुसार हिन्दी के भाग्य ने भी पलटा खाया। सारांश यह कि मुसलमान कवियों ने ही नहीं, साहित्यकारों ने ही नहीं, अपितु अनेक मुसलमान सम्राटों ने भी हिन्दी के उत्तरोत्तर विकास में योगदान किया है। इस योगदान को मूलतः निम्नांकित रूपों में समझा जा सकता है—सूफी कवियों की हिन्दी-सेवा, ज्ञानमार्गी सन्तों की हिन्दी-सेवा, कृष्णभक्तों द्वारा हिन्दी-सेवा, रीति-शृंगार के कवियों द्वारा हिन्दी-सेवा एवं अन्य। राजाओं की बात तो ऊपर की ही गयी है।

ऐतिहासिकता की दृष्टि से विचार करने पर सर्वप्रथम मुसलमान साहित्यकार, जिसने हिन्दी में रचनाएँ कीं, कुतुब अली ठहरते हैं। सम्भवतः इनका समय बारहवीं शताब्दी था। दुर्भाग्य से आज इनकी रचनाएँ अप्राप्य हैं। जहाँ-तहाँ नोटिस के रूप में इनका नाम आता है। इसके बाद खुसरो का नाम लिया जाता है। खुसरो को खड़ीबोली का प्रथम कवि होने का भी सौभाग्य प्राप्त है। इनकी मुकरियाँ आज भी लोगों के मुँह से अनायास सुनी जाती हैं। इनकी कविता मूलतः पहेलियों और मुकरियों तक ही सीमित है—

एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे। (—आकाश)

भले ही इसमें भावों की गहराई न हो; पर इसे अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि चमत्कार यहाँ भी है। हाँ, कविता का अर्थ चमत्कार नहीं है; पर भाषा के

विकास में इन पदों का कितना महान् स्थान है, इसे तो भाषावैज्ञानिक ही आँक सकते हैं। इन्होंने मुसलमानों के हिन्दी सीखने के निमित्त—हिन्दी के प्रचार के निमित्त—पर्यायवाची कोशों का निर्माण किया था। ये पर्यायवाची कोश भी पद्य में ही लिखे गये हैं।

भक्तिकाल में निर्गुण-धारा का विशेष महत्त्व है। इसकी प्रेमाश्रयी शाखा—सूफी-शाखा—हिन्दी के लिए बिल्कुल नवीन है। इसे कभी नहीं भुलाया जा सकता कि जहाँ मुसलमान आक्रामकों ने नंगी तलवार से हिन्दुओं का सफाया किया, वहाँ इन सन्तों ने हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के लिए भावनाओं से काम लिया। 'प्रेम की पीर' की पद्धति से इन्होंने एक ऐसी साहित्य-साधना चलायी, जिसने हिन्दी-साहित्य में अपना एक विशिष्ट महत्त्व स्थापित किया है। आगे की साहित्यिक धारा पर—कृष्णभक्तों पर—इसका पूर्ण प्रभाव दीखता है। इन सूफी साधकों ने विषय और शैली की दृष्टि से भी हिन्दी में एक नवीन स्थापना की। इनके द्वारा फारसी की मसनवी-शैली ही हिन्दी में चल पड़ती है। शैली में फारसीपन—विदेशीपन—होते हुए भी इनकी आत्मा भारतीय ही है। ये स्वदेशी माल ही तैयार करते हैं, तरीका विदेशी है अवश्य। भाषा की दृष्टि से भी इन सूफियों का अपना महत्त्व है। अब तक काव्यभाषा के पद पर ब्रजी का एकाधिकार था। ये अवधी के माध्यम से रचना कर चले। जायसी की अवधी में ग्रामीण रूपों का ही बाहुल्य है। सबसे बड़ा काम इससे यह होता है कि बाबा तुलसी को पथ प्रशस्त करना नहीं पड़ता। हाँ, अवधी को साहित्यिक प्रतिष्ठा वे देते हैं। जहाँ तक शैली की बात है, इसमें यदि नवीनता नहीं तो मात्र पिष्टपेषण भी नहीं है। दोहा-चौपाई की शैली ढलती है सूफी प्रेमाख्यानों में ही, यद्यपि इसके मूलरूप अपभ्रंश में ही प्राप्त हैं। पर इसे कैसे भुलाया जाय कि बाबा तुलसी को मार्ग के झाड़-झंखाड़ों को साफ करने में जो समय नष्ट न करना पड़ा, उसका एकमात्र श्रेय इन सूफी साधकों को ही है।

सूफी साहित्यकारों में सर्वप्रथम हैं मुल्ला दाऊद और सर्वश्रेष्ठ हैं मलिक मुहम्मद जायसी। प्रथम की रचना है 'नूरक-चन्दा' और दूसरे की 'पद्मावत'। सूफी प्रेमाख्यानों से हिन्दी में एक और भ्रम पनपा है कि सूफी कवि ही प्रेमाख्यानों के जनक हैं। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। भारतीय साहित्य में प्रेमाख्यान की परम्परा इससे बहुत पुरानी है। वैदिक और पौराणिक प्रेमाख्यानों के अतिरिक्त यहाँ संस्कृत के काव्य और कथा-साहित्य में प्रेमाख्यानक उपलब्ध हैं। लिखित साहित्य की बात तो जाने दीजिए, यहाँ लोकगाथात्मक प्रेमाख्यान भी प्रचलित थे। लोरिक-चन्दा, सारंगा-सदावृज, ढोला-मारवणी इत्यादि के प्रेमाख्यान लोकगाथात्मक ही तो थे। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि सूफी प्रेमाख्यानों का महत्त्व नहीं है। वस्तुतः सबसे अलग इनका अपना स्थान है। ये सोद्देश्य रचनाएँ हैं। इनमें

सूफी धर्म के सिद्धान्तपक्ष का प्रबल समर्थन है। सूफी धर्म इस्लाम की शरीअत (कर्मकाण्ड) की प्रतिक्रिया है। कुछेक विद्वानों के अनुसार सूफियों की रचनाएँ प्रचारात्मक प्रेमाख्यान के अन्तर्गत ही आती हैं, जिनमें इस्लामी गुह्यविद्या, भारतीय अद्वैत और विशिष्टाद्वैत, नव-अफलातूनी मत एवं विचारस्वातन्त्र्य है।

सूफी प्रेमाख्यानों के कई आधार हैं—वैदिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, अर्द्ध-ऐतिहासिक और काल्पनिक। मूलतः ये हिन्दू आधार पर ही रचित हैं। आचार्य शुक्ल के शब्दों में कहा जायगा कि "वे सब हिन्दुओं के घरों में बहुत दिनों से चली आती हुई कहानियाँ हैं जिनमें आवश्यकतानुसार इन्होंने कुछ हेर-फेर किया है। कहानियों का मार्मिक आधार हिन्दू है।" आचार्य द्विवेदी के अनुसार—"जायसी के रतनसेन और रासो के पृथ्वीराज में इतिहास और कल्पना—फैक्ट्स और फिक्सन्स—का अद्भुत योग है।" सामान्य प्रवृत्तियों पर विचारने से इनकी प्रबन्धात्मकता, भावव्यंजना, चरित्रांकनपद्धति, लोकपक्ष और हिन्दी-संस्कृति का समन्वय, शैतान की व्याप्ति, मण्डनात्मकता, नारिचित्रांकन की विशेष रीति, छन्दविधान और भाषा इत्यादि बातें सामने आती हैं।

सूफी कवियों में जायसी शीर्षस्थानीय हैं। इनकी कला की प्रौढ़ता 'पद्मावत' में दर्शनीय है। सब कुछ भूल जाने पर भी नागमती और पद्मावती जैसी नारियों की छाप मानव-मन पर अपना अमिट प्रभाव डालती है। नागमती के विरह में जायसी ने ऐसी शक्ति भर दी है कि मनुष्य की कौन कहे, आधी रात को पक्षी तक दहल उठते हैं। नागमती की एकमात्र इच्छा है—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाँव।

दूसरी ओर नखशिखवर्णन में कवि की कल्पना और शृंगारिक वृत्ति रमी है। साथ ही पद्मावती में कवि ने सृष्टिव्यापी प्रभाव की लोकोत्तर कल्पना की है—

बेनी छोरि झारि जो बारा, सरग पतार होइ उजियारा।

जायसी के काव्य में लोकपक्ष का रूप कबीर आदि ज्ञानमार्गी सन्तों की अपेक्षा अधिक उन्नत है।

इनके अतिरिक्त कुतुबन शेख (मृगावती), मंझन (मधुमालती), आलम (माधवानलकामकन्दला), उसमान (चित्रावली), शेख नबी (ज्ञानदीपक), कासिमशाह (हंसजवाहिर), नूरमुहम्मद (इन्द्रावती), फाजिलशाह (चन्द्रकला), निसार (युसुफ-जुलेखा), शेख रहीम (प्रेमरस), जान कवि (छीता, रसकोष, कनकावति, कामलता, मधुकर-मालति, रतनावति), ख्वाजा अहमद (नूरजहाँ), नासीर (प्रेमदर्पण) के सूफी प्रेमाख्यान महत्त्वपूर्ण हैं। वस्तुतः इन कवियों ने हिन्दी-मन्दिर के साज-संभार में भाग लेकर हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य में बड़ा योगदान किया। इनकी रचनाएँ

आश्चर्यजनक सामंजस्य का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। यद्यपि इन रचनाओं का मूल उद्देश्य धर्मप्रचार, यशःप्राप्ति इत्यादि ही था, फिर भी तत्कालीन हिन्दू-मुस्लिम-मनमुटाव को मिटाने में इनका बहुत बड़ा हाथ रहा है। इनकी रचनाओं ने न जाने कितने वैष्णव कवियों को प्रभावित किया। वस्तुतः ये कवि हिन्दी-काव्य में अपना एक विशेष महत्त्व रखते हैं।

सूफियों की तरह कबीर आदि निर्गुण संतों में भी मुसलमान संतों का एक वर्ग है, जिसने सब प्रकार की ऐहिक साधना को त्यागकर निस्स्वार्थभाव से उपदेश-ज्ञानामृत की धार हिन्दी के माध्यम से प्रवाहित की है। संतों में कबीरदास, रज्जबजी (?), यारी साहब, दरिया साहब, शेख फरीद, दीन दरवेश, प्रेमी कवि, बुल्ले शाह, नजीर, अब्दुल समद, वजहन कवि इत्यादि महत्त्वपूर्ण हैं। इन सबमें सर्वाधिक गत्वर व्यक्तित्व है कबीर का। सर्वप्रथम कबीर ने ही धार्मिक सम्प्रदायों और मतवादों से ऊपर उठकर नवीन विचारों से समाज को झकझोरना प्रारम्भ किया। एक ही साथ ये हिन्दू और मुसलमान दोनों के आडम्बरों पर कशाघात कर चले। ये राम को मानते थे, पर दशरथसुत को नहीं; रहीम का नाम लेते थे, पर कुरान के रहीम का नहीं। अपनी घरफूँक मस्ती और फक्कड़ वृत्ति के कारण 'आँखिन देखी' तो लोगों को सुनाते ही थे, 'कागज लेखी' का पोस्टमार्टम भी कर चलते थे। डाँट-फटकार और सधुक्कड़ी जबान के कारण ही आचार्य शुक्ल इन्हें कविपद देना नहीं चाहते हैं; किन्तु यह भी भूल ही है। वस्तुतः कबीर की रचनाओं का दूसरा पक्ष भी है, जहाँ इनकी भावना ही मुखरित होती है। जहाँ ये राम की बहुरिया बन जाते हैं, वहाँ इनका कविरूप स्पष्ट झलक उठता है। भला ऐसी मार्मिक पंक्तियों के लेखक को कवि कहने से कौन चूकेगा—

> अंखड़ियाँ झाईं पड़्या, पंथ निहारि निहारि।
> जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि॥

अथवा—

> नयना नीझर लाइया, रहट बसै निस जाम।
> पपिहा ज्यूँ पिव-पिव करै, कब रे मिलहुगे राम।

वस्तुतः व्यक्तित्व की दृष्टि से कबीर उदार, सन्तोषी, स्वतंत्रचेता, निर्भीक, अहिंसा और प्रेम के समर्थक, आडम्बरों के विरोधी और क्रान्तिकारी सुधारक थे। ये मस्तमौला तो थे ही, फक्कड़ फकीर भी थे। वस्तुतः ये वाणी के तानाशाह थे। "जिस बात को उन्होंने (कबीर ने) जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी भाषा से कहलवा लिया है; बन गया है तो सीधे, नहीं तो दरेरा देकर।" आचार्य द्विवेदी के शब्दों में—"कबीर 'ज्ञान' के हाथी पर चढ़े थे पर 'सहज' का दुलीचा डाले बिना नहीं; भक्ति के मन्दिर में प्रविष्ट हुए थे, पर 'खाला का घर' समझकर नहीं;

बाह्याचार का खण्डन किया था, पर निरुद्देश्य आक्रमण की मंशा से नहीं; भगवत-विरह की आँच में तपे थे, पर आँखों में आँसू भरकर नहीं; राम को आग्रहपूर्वक पुकारा था, पर बालकोचित मचलन के साथ नहीं; सर्वत्र उन्होंने समता (Balance) रखी थी।" तभी तो ये अपना घर फूँककर संसार के चौराहे पर हाथों में लुकाठी लेकर खड़े हो गये थे।

कबीरदास को एक और श्रेय दिया जाना चाहिए—रहस्यवाद के प्रवर्त्तन का। संतमत के सर्वस्व तो ये थे ही, हिन्दी में रहस्यवादी भावना के सर्वप्रथम दर्शन इन्हीं में होते हैं। इनका रहस्यवाद साधनात्मक और भावनात्मक दोनों प्रकार का है।

संतों की कोटि में कुछ और नाम भी गिनाये गये हैं। रज्जबजी के सम्बन्ध में असन्दिग्ध बात सामने नहीं है; पर इनके मुस्लिम संत होने की ही सम्भावना अधिक है। यारी साहब की वाणी का स्वर कबीर से अधिक संयत है। सरसता और सरलता भी सर्वत्र है—

हौं तो खेलौं पिया सँग होरी।
दरस परस पतिबरता पिय की, छवि निरखत भई बौरी।

दरिया साहब नाम से दो संत हुए हैं। बिहार वाले दरिया साहब का महत्त्व मारवाड़ वाले दरिया साहब की अपेक्षा अधिक है। इन दोनों के उपदेश भी परम्परित रूप में ही हैं। इसी प्रकार संतों की वाणियों में भी ज्ञान और प्रेम के तत्त्व उपलब्ध होते हैं। इन संतों की रचनाओं ने प्रायः एक सामान्य भक्तिमार्ग के निमित्त पथ प्रशस्त किया था। ये हिन्दू और मुसलमान की आपसी कट्टरता को दूर करने का पूर्ण प्रयत्न कर रहे थे। इससे हिन्दी के उत्थान में भी बल मिला है।

निर्गुण संतों की चर्चा के पश्चात् कृष्णभक्तों की चर्चा भी अपेक्षित है। साहित्यिक दृष्टि से प्रायः इनका महत्त्व अधिक ही समझना चाहिए। ऐसे कवियों में रसखान, कवयित्री ताज और नजीर के नाम लिये जाते हैं। रसखान की कविताओं के मनन-चिन्तन से यह स्पष्ट है कि वे साक्षात् रस की खान ही हैं। ये थे तो मुसलमान, पर थे कृष्ण के दीवाने। रसखान के सवैये का माधुर्य स्वयं देखिए—

मानुष हौं तो वही रसखान, बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को, जो कर्‌यौ करछत्र पुरन्दर कारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।

धन्य था रसखान, जो करील के कुंजों पर कलधौत के धाम न्योछावर कर रहा था। जरा गौर तो फरमाइए, था कोई ऐसा हिन्दू ? निश्चय ही रसखान जैसे कवि आज होते तो देश का विभाजन भी रुक जाता।

कृष्णभक्तिनों में जो स्थान मीरा का है, वही कवयित्री ताज का। इनकी एक

रचना में 'बारहमासा'-विषयक छप्पय, कवित्त और कुण्डलिया उपलब्ध हैं। भक्ति के पदों की भी कमी नहीं है। इन्होंने जहाँ कृष्ण के छैल-छबीले रूप का स्मरण किया है, वहीं गणेश के लोकरंजक रूप का भी—

गणपति गण सिरताज हो, तुम्हे नमाऊँ शीश।
ज्ञान देव पूरण हमें, जानेंगे सुत ईश।

कृष्णभक्तों में ही नज़ीर का नाम भी लिया जाता है। इनकी रचना 'कुल्लियाते नज़ीर' में संकलित है। आपको गोपाल का रूप ही प्रिय था। आपको कृष्ण के बालचरित्र का वर्णन करने में ही आनन्द मिलता था—

यारो सुनो यह ऊधो, कन्हैया का कलपन।
और मधुपुरी नगर, कन्हैया का बलपन।

छोड़िए कृष्णभक्तों की बात। नीतिकार रहीम पर भी एक नज़र डालिए। कोई भी पाठ्यपुस्तक हो, रहीम की नीतियाँ आपको उसमें अवश्य मिलेंगी। रहीम ने नीति के दोहों की रचना कर सफल भारतीय नागरिक होने का परिचय दिया है। अनपढ़ देहातियों के मुँह से एकाध नीतिपरक दोहे ऐसे अवश्य मिलते हैं जो रहीम के होते हैं। हिन्दी में बरवै छन्द के आप जनक ही माने जाते हैं। आपने 'बरवै नायिकाभेद' में संस्कृत की पद्धति पर नायिका के उदाहरण रचे हैं, जो अत्यधिक सरल और सटीक हैं। वहीं से विरहिणी का एक चित्र देखिए—

भोरहिं बोलि कोइलिया, बढ़वति ताप।
घरी एक भरि, अलिया! रहु चुपचाप।

कहा जाता है कि इन्होंने एक सतसई की भी रचना की थी; पर आज उतने दोहे उपलब्ध नहीं हैं।

हिन्दी के शृंगारकालीन कवियों में आलम, शेख रँगरेजिन, मुबारक, अहमद ताहिर, याकूब खाँ, प्रीतम, रसलीन, अहमदुल्लाह, आज़म, हफीजुल्ला खाँ, करीम, हाजी वली इत्यादि के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। आलम जन्म से ब्राह्मण थे, किन्तु शेख की काव्यप्रतिभा से आकृष्ट हो इन्होंने उसी से विवाह कर अपना धर्मपरिवर्तन कर लिया था। प्रसिद्ध दोहा— 'कनकछरी-सी कामिनी, काहे को कटि छीन; कटि को कंचन काटि विधि कुचन मध्य धरि दीन"— आलम और शेख का ही है। आलम की रचनाएँ 'आलम-केलि' में संग्रहीत हैं। ये रीतिमुक्त कवि थे। शेख इन्हीं की पत्नी थी। शेख की रचना द्रष्टव्य है—

प्यारी परजंक पर सोवत निसंक ही
कंचुकी दरकि नेक ऊपर को सरकी।
अतर गुलाब औ सुगन्ध की महक पर
देखि उठि आवति कहाँ ते मधुकर की।

मुबारक का पूरा नाम मुबारक अली बिलग्रामी था। कहा जाता है कि

'दसों अंगों को लेकर इन्होंने एक-एक शतक की रचना की थी। आज 'अलकशतक' और 'तिलशतक' प्राप्य हैं। वर्णन का उत्कर्ष और उत्प्रेक्षा की उड़ान इनमें खूब है—

गोरे मुँह पर तिल लसै, ताहि करौं परनाम।
मानहु चंद बिछाय कै, बैठे शालिग्राम।

अहमद की एक रचना 'रसविनोद' मिलती है। मिश्रबन्धुओं ने इन्हें सूफी कवि माना है। ताहिर आगरे के शृंगारी कवि थे। इनकी रचना है 'कोकसार'। प्रीतम अपने युग में हास्य के एकमात्र कवि ठहरते हैं। इनकी रचना है 'खटमल-बाईसी'। खटमल को आलम्बन मानकर इन्होंने हास्य की सृष्टि की है। मुसलमान कवियों में बिहारी की टक्कर का कवि यदि कोई है तो रसलीन। यह प्रसिद्ध दोहा—'अमिय हलाहल मद भरे स्वेत स्याम रतनार; जियत मरत झुकि-झुकि परत जिहि चितवत इक बार'— इनकी रचना 'अंगदर्पण' का है। इनकी दूसरी पुस्तक है 'रसप्रबोध'। इसमें रस, भाव, नायिका, षडऋतु का वर्णन मिलता है। वस्तुतः इनमें भावपक्ष और कलापक्ष— दोनों की प्रौढ़ता मिलती है; पर प्रधान है कलापक्ष ही।

तत्कालीन बँधी परिपाटी पर चलने वाले अन्य कवियों में आजम का विशेष स्थान है। इन्होंने षड्ऋतु पर दो ग्रन्थ लिखे हैं। अहमदुल्लाह का 'दक्षण-विलास' और हफीजुल्ला खाँ की रचनाएँ— 'प्रेमतरंगिणी', 'मनमोहिनी', 'रसिकसंजीवनी', 'नवीन संग्रह', 'हजारा'— शृंगारकालीन उक्तियों से पूर्ण हैं। इनमें जीवन की नयी सरणि नहीं मिलती। हाँ, ये रसिकजनों के लायक बन पड़ी हैं अवश्य। इनके अलावा भी कई अन्य मुसलमान कवि इस युग में हिन्दी की सेवा में रत थे; पर बिहारी के समान अनुभावों और चेष्टाओं का एकमात्र वर्णन रसलीन ही कर रहे थे—

ध्यान जोरि मुसुकाय अरु, भौंहें दोउ नचाइ।
ओठनि आँठि बनाइ यह, प्राण उमेठत जाइ।

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग में मुसलमान साहित्यकारों के अपेक्षाकृत कम दर्शन होते हैं। इसका कारण चाहे कुछ हो या न हो, पर हिन्दी-उर्दू-संघर्ष और साम्प्रदायिक भाव भी कारण अवश्य रहा है। जिस समय अँगरेजों का भारत में आगमन हुआ और साहित्य-साधना का केन्द्र फोर्ट विलियम कालेज बना, उस समय भी दो-एक साहित्यकार दिखाई पड़ जाते हैं। हिन्दी-गद्य के लेखकचतुष्टय में इंशाअल्ला खाँ का नाम अग्रणी है। इन्होंने 'हिन्दवी की छुट' और 'किसी बोली की पुट' न देते हुए बड़े महत्त्वपूर्ण काम किये 'रानी केतकी की कहानी' लिखकर। यही कहानी हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी ठहरती है। ये अपनी

मुहावरेदार भाषा और चुलबुलेपन के लिए बेजोड़ हैं।

यद्यपि आज 'सिंहासनबतीसी' और 'बैतालपचीसी' के लेखक के रूप में लल्लूलालजी मान्य हैं, किन्तु कम्पनी और कालेज के कागज-पत्रों के अनुसार इनके लेखक प्रायः मुसलमान ही ठहरते हैं। ये हैं क्रमशः मिर्जा काजिम अली जवाँ और मजह अली विला। आगे पारसी थियेटर कम्पनियों की स्थापना होने पर थियेटरों के लिए बख्श इलाही (नामी) और नज़ीरबेग ने नाटकों की रचना की। इन नाटकों में 'नागरसभा', 'नामी सभी', 'आशिक सभा', 'कत्ल हकीकत' और नजीरबेग का लिखा हुआ 'रामलीला' नाटक काफी प्रसिद्ध हुए। हिन्दी का तथाकथित प्रथम नाटक 'इन्दरसभा' भी मुसलमान साहित्यकार अमानत खाँ द्वारा ही सन् १८५३ ई० में लिखा गया था। हिन्दी-उर्दू-संघर्ष के दिनों में मौलवी बाकर अली और मिर्जा साहब की हिन्दी-सेवाएँ भी अमूल्य ही कही जायँगी। निस्सन्देह ये ऐसे व्यक्ति थे जो साम्प्रदायिकता की आड़ न लेकर सच्चे भारतीय की हैसियत से हिन्दी की सेवा कर चले। 'ख्वाबे हस्ती' नामक रोमांचकारी नाटक के लेखक जलाल अहमद शाद का भी अपना महत्त्व है। तात्पर्य यह कि ऐसे संघर्षमय समय में भी कतिपय सहृदय मुसलमान सच्चे दिल से हिन्दी-सेवापथ पर अग्रसर थे।

द्विवेदी-युग में जब सुधारवादी नारा बुलन्द हुआ, तो उस समय भी मुसलमान साहित्यकार रुके नहीं। आधुनिक युग में यद्यपि कबीर और जायसी के पथ पर चलने वाले विरले ही थे, फिर भी इनमें अमीर अली 'मीर', मुंशी अजमेरी और ललितकुमार नटवर (पहले मौलवी लतीफ हुसैन नटवर) आगे निकल ही आये। 'बूढ़े का ब्याह' नामक रचना में मीर ने सुधारवादी रुख ही अपनाया है। कथा के अन्त में उपदेशवृत्ति ही मुखर हो उठी है—

> सार कथा का भाई सीचो यही ध्यान में आता है।
> बिना विचारे और लोमबस जो करता पछताता है।

मुंशी अजमेरी ने वीररस की कविताओं द्वारा स्वातंत्र्यसमर में भी काफी योगदान किया है। सारांश यह कि साहित्य-सेवा जाति, धर्म और सम्प्रदाय के बन्धनों को तोड़ देती है। प्रत्येक की भावना एक होती है। चाहे वह किसी जाति या सम्प्रदाय हो, वह मानवीय भावनाओं के आधार पर भिन्न नहीं होता है। यह रही साहित्यकारों की बात।

किसी भाषा की सेवा, उसी के माध्यम से मात्र साहित्यनिर्माण में ही नहीं है। सेवा के और भी रूप हैं, यथा—उसके प्रचार में सहयोग देना। मुगल-सम्राट् के दरबारी राजा टोडरमल की बेतुकी सूझ के कारण यद्यपि हिन्दी (हिन्दवी) को राज्य-कार्य से च्युत होना पड़ा, फिर भी अकबर ने हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों को बढ़ाने की पूरी कोशिश की थी। 'अकबरनामा' से यह स्पष्ट है कि उसने अनेक विदेशी

वस्तुओं का नामकरण हिन्दी में किया था। जैसे—

सोने के सिक्कों के नाम— रहस्य, विशंति, रवि, पाण्डव आदि।
चाँदी के सिक्कों के नाम— रुपया (रौप्यक), चरण (चवन्नी) आदि।
तोपों के नाम— गजनाल, हथनाल, नरनाल।

इसी प्रकार उसने बन्दूकों, तलवारों आदि का भी 'संग्राम', 'जलधर' आदि नामकरण किया था। निस्सन्देह यदि यही परम्परा पलती तो हिन्दी की आज यह स्थिति नहीं होती। आज तो हिन्दू ही इसके विरोधी नज़र आते हैं। सचमुच यदि ताज के स्वर— 'नन्द के कुमार कुरबाण तांणी सूरत पै, तांणे नाल प्यारे हिन्दुवाणी हो रहूँगी मैं'—में स्वर मिलानेवाले आज भी होते तो भारत में पाकिस्तान की कल्पना न होती। 'खुदा' और 'परमात्मा' की अभिन्नता घोषित हो सकती है तो साहित्य के द्वारा ही। खेद है कि जिस कार्य को कबीर, जायसी, रहीम, रसखान आदि कवियों ने प्रारम्भ किया था, वह बीच में ही अधूरा रह गया और हम अपना लक्ष्य भूलकर रास्ते में ही भटक गये।

५०

हिन्दी की प्रमुख साहित्यिक संस्थाएँ

भारत की आधुनिक भाषाओं में हिन्दी सर्वप्रमुख भाषा है। हिन्दी-भाषा-भाषियों की संख्या सर्वाधिक तो है ही, आज इसे सारे भारत में अँगरेजी का स्थान भी मिल चुका है। भारत-सरकार ने इसे राजभाषा के रूप में मान्यता दी है। हिन्दी-भाषा और देवनागरी लिपि के प्रचार-प्रसार के निमित्त हिन्दी और अहिन्दी क्षेत्रों में अनेक संस्थाएँ कार्यरत हैं। आज प्रायः दो प्रकार की संस्थाएँ देखने में आ रही हैं—सरकारी और गैरसरकारी। संख्या और कार्य दोनों ही दृष्टि से गैरसरकारी संस्थाएँ ही अधिक महत्त्वपूर्ण रहीं हैं। साहित्यिक संस्थाओं में नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी सबसे प्राचीन है और साहित्य अकादमी, दिल्ली सबसे नवीन। प्रथम गैरसरकारी संस्था है और द्वितीय सरकारी। ऐसी ही अनेक महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ हैं जिनमें से कतिपय प्रमुख संस्थाओं की चर्चा नीचे की जाती है—

१. नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी— नागरी-प्रचार के उद्देश्य को लेकर स्थापित होने वाली संस्थाओं में काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा सबसे प्राचीनतम संस्था है। यह गैरसरकारी साहित्यिक संस्था है। इसकी स्थापना १६ जुलाई, १८९३ ई० (२३ आषाढ़, १९५० विक्रमाब्द) को हुई थी। इसके पूर्व इसकी स्थापना के निमित्त क्रमशः १० मार्च, १८९३ ई० और ९ जुलाई, १८९३ ई० को दो बैठकें हो चुकी थीं। इसके संस्थापक थे श्री गोपालप्रसाद खत्री, डॉ० श्यामसुन्दर दास, पं० रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमार सिंह। प्रारम्भ में सभा ने मूलतः निम्नांकित प्रमुख कार्य हाथ में लेने का विचार किया था—(१) हिन्दी की हस्त-लिखित और प्राचीन पुस्तकों की खोज कराना, (२) हिन्दी के वृहद् कोश का निर्माण, (३) हिन्दी साहित्यकारों और पत्रकारों की जीवनियाँ तैयार कराना, (४) हिन्दी की हस्तलिपियों से पाठशोध कराना, (५) हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास का निर्माण कराना, (६) हिन्दी के सामयिक पत्रों का इतिहास लिखवाना, (७) हिन्दी में विज्ञान-सम्बन्धी उत्तम पुस्तकों का प्रणयन कराना, (८) हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन और प्रकाशन इत्यादि।

सच पूछा जाय तो कहना चाहिए कि सभा ने हिन्दी की ठोस सेवा का व्रत प्रारम्भ से ही लिया है। एक के पश्चात् दूसरे कार्य का भार इस सभा पर आता गया। प्रारम्भ से आज तक सभा अनेक प्रकार के कार्यों को करती चली आ रही है।

समस्त भारत के लिए उन्नीसवीं शती का अन्तिम भाग सुधारवादी और

विद्रोहात्मक रहा है। इस स्थिति का सभा पर पूर्ण प्रभाव पड़ा था। सभा भी अपने प्राथमिक रूप में अत्यधिक विद्रोही और पवित्रतावादी दृष्टिकोण अपनाकर चल रही थी। राजभाषा के रूप में अँगरेजी को मान्यता तो मिल रही थी, किन्तु उत्तर-भारत की कचहरियों में उर्दू का प्रचलन था। सभा ने इसका उग्र विरोध किया था। सभा ने हिन्दी-भाषा और राष्ट्रीय संस्कृति (हिन्दू-संस्कृति) के रक्षार्थ क्रान्ति उत्पन्न की। इसी के परिणामस्वरूप सन् १८९८ ई० में सरकारी कचहरियों में नागरी लिपि का प्रवेश हुआ। मूलरूप से उस समय इसकी नीति आत्मरक्षात्मक रही है। नागरी के प्रयोग और नामकरण के मूल में यही भावना काम कर रही थी। आर्य-समाज के सुधारवादी आन्दोलनों से भी सभा कम प्रभावित नहीं हुई थी। इसी की प्रेरणा के कारण नवोदित लेखकों में देश की प्राचीन गौरवगाथा की धारणा और संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के प्रचलन पर बल दिया गया। अगस्त, १८९६ ई० में 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन के समय उसकी परीक्षकसमिति को आदेश दिया गया कि "जो लेख सभा द्वारा प्रकाशित होने के लिए कहीं से आयें, उनमें यदि फारसी-अरबी के शब्द भरे रहें तो परीक्षक-कमिटि उन्हें स्वीकृत न करे।" वस्तुतः ऐसा आदेश भाषा के पवित्रतावादी दृष्टिकोण का ही कायल था। यहाँ सोचने की बात यह है कि सभा जहाँ फारसी-अरबी के शब्दों को बहिष्कृत करने पर तुली थी, वहीं यह 'समिति' के लिए 'कमिटि' लिख रही थी।

धीरे-धीरे सभा का कार्यक्षेत्र बढ़ता गया और बीसवीं शती का प्रारम्भ होते ही सभा तीन भागों में बँट गयी। सभा की राजनीतिक शाखा—'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन'—ने हिन्दी-प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। सभा का दूसरा भाग 'सरस्वती' पत्रिका के रूप में सामयिक साहित्यसर्जन की ओर अग्रसर हुआ और तीसरा भाग काशी में ही रहकर प्राचीन साहित्य के अनुशीलन आदि एवं व्याकरणरचना और कोशनिर्माण आदि की ओर अग्रसर हुआ। वस्तुतः सभा के ये तीनों भाग हिन्दी की सेवा सच्ची लगन से कर चले। हिन्दी ने राजभाषा का पद प्राप्त किया है, इसके निमित्त उपर्युक्त तीनों में किसका प्रयत्न अधिक रहा है, यह कहा नहीं जा सकता—'को बड़ छोट कहत अपराधू'।

सभा के कार्य समुचित रीति से चल सकें, इसके लिए उसका अपना विधान है। आज के संगठन में लगभग तीन हजार सदस्य हैं, जिनमें तेरह वाचस्पत्य, चौवन मान्य, इक्कासी विशिष्ट, छह सौ सात स्थायी और लगभग दो हजार दो सौ साधारण सभासद हैं। हिन्दी-प्रचार का उद्देश्य लेकर चलने वाली भारत भर में इससे सम्बद्ध संस्थाएँ पचासों हैं। वर्त्तमान समय में सभा दस प्रमुख भागों में बँटी हुई है, जिनमें से प्रमुख भागों का विवरण नीचे दिया जाता है—(क) आर्यभाषा-पुस्तकालय— इसमें विभिन्न भाषाओं की लगभग छत्तीस हजार पुस्तकें संग्रहीत

हैं। हस्तलिखित ग्रन्थों की संख्या लगभग चार हजार है। इसके वाचनालय में लगभग ढाई सौ पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं। (ख) हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज— खोज-विभाग का कार्य विक्रमाब्द १९५७ से प्रारम्भ किया गया है। विक्रमाब्द १९७९ से इसे प्रतिवर्ष दो हजार रुपयों का अनुदान भी मिलता रहा है। इस विभाग ने अब तक लगभग चौदह हजार पुस्तकों पर खोज की है, जिनका विवरण सभा ने कई भागों में प्रकाशित भी किया है। (ग) प्रकाशन-विभाग— इस विभाग के अन्तर्गत 'आकर-ग्रन्थमाला', 'नागरी-प्रचारिणी ग्रन्थमाला', 'मनोरंजन पुस्तक-माला', 'शास्त्र-विज्ञान-पुस्तकमाला', 'पाठोपयोगी पुस्तकमाला', 'प्रादेशिक ग्रन्थमाला', 'वैदेशिक ग्रन्थमाला', 'कोशग्रन्थमाला', 'सूर्यकुमारी पुस्तकमाला', 'देवी' प्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला', 'बालाबक्ष राजपूत-चारणमाला', 'रुक्मिणी तिवारी ग्रन्थमाला', 'नवभारत ग्रन्थमाला' इत्यादि प्रकाशन कार्यरत हैं। इसके अतिरिक्त वि० १९५३ से 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' का प्रकाशन हो रहा है। 'हिन्दी रिव्यू' नामक अँगरेजी मासिक भी कई वर्षों तक प्रकाशित हुआ था। इधर तीन-चार वर्षों से 'विधिपत्रिका' भी प्रकाशित हो रही है। 'हिन्दी शब्दसागर' जैसा उपादेय ग्रन्थ यहीं से प्रकाशित हुआ है। स्वातंत्र्योत्तर प्रकाशनों में अनेक अमूल्य ग्रन्थ तो आते ही हैं; पर भाषाविज्ञान और हिन्दी की प्रकृति के अनुसार हिन्दी का व्याकरण 'हिन्दी शब्दानुशासन' का प्रकाशन अद्वितीय है। हिन्दी-साहित्य के वृहद् इतिहास की योजना के अन्तर्गत उसके तीन भागों (१, ६ और १६) का प्रकाशन और 'हिन्दी विश्वकोश' के तीन भागों का प्रकाशन आदि अद्वितीय हैं। (घ) प्रेमचन्द-स्मारक— इस विभाग के अन्तर्गत ही उपन्याससम्राट् प्रेमचन्द के ग्राम लमही में प्रेमचन्द-स्मारक का निर्माण हो रहा है। (ङ) प्रसाद-साहित्यगोष्ठी— इस गोष्ठी की स्थापना सन् १९३० ई० में हुई। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के साहित्यिक आयोजन— जयन्तियाँ, व्याख्यान, अभिनय आदि—होते हैं। (च) संकेतलिपि-विद्यालय— इस विद्यालय के अन्तर्गत हिन्दी आशुलिपि, मुद्रण और टंकन् आदि की शिक्षा का प्रबन्ध है। (छ) कोश-विभाग— इस विभाग में हिन्दी-शब्दों पर शोधकार्य चलता है। यह प्रकाशन-विभाग में ही सम्मिलित माना जा सकता है। 'हिन्दी शब्दसागर' का प्रकाशन यहीं से हुआ है। पर्यायवाची शब्दों से 'राजकीय कोश' भी तैयार किया गया है। (ज) कला-विभाग— इसके अन्तर्गत प्रत्येक कलापूर्ण वस्तु और प्राचीन चीजें संग्रहीत होती हैं। चित्र और संगीत शिक्षालय की भी योजना इसके अन्तर्गत है। इससे राष्ट्रीय कला को विकसित करने का कार्य किया जाता है। सभा में स्थानाभाव और अर्थाभाव के कारण सन् १९५० ई० में इस विभाग को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्थानान्तरित कर दिया गया है। 'कलानिधि' नामक त्रैमासिक पत्रिका यहीं से निकलती रही है।

इसके अन्तर्गत भारतीय पुरातत्त्व और ज्ञान की अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ संग्रहीत हैं। (झ) सत्यज्ञान-निकेतन—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने सन् १९४३ ई० में ज्वालापुर-(हरद्वार) स्थित अपना आश्रम सभा को दे दिया है। सभा ने पन्द्रह हजार रुपये की लागत से वहाँ अपना भवन बना लिया है, जहाँ सभा का प्रचारकेन्द्र है। इसके चार अंग हैं— पुस्तकालय, व्याख्यानमाला, विद्यालय और सामयिक प्रचार। (ञ) पुरस्कार-पदक— सभा की ओर से विभिन्न नियमों के अनुसार राजा बलदेव दास बिड़ला पुरस्कार, बटुकप्रसाद पुरस्कार, रत्नाकर पुरस्कार, डॉ० छुन्नूलाल पुरस्कार, माण्डलिक पुरस्कार, हीरालाल स्वर्णपदक, डॉ० द्विवेदी स्वर्णपदक, सुधाकर पदक, ग्रीव्ज पदक, राधाकृष्णदास पदक, भगवानदेवी बाजोरिया पदक, पुच्छरत पदक, बलदेवदास पदक, गुलेरी पदक, रेडिचे पदक, वसुमति पदक प्रदान किये जाते हैं।

सभा ने अपनी अर्द्धशताब्दी और विक्रम की द्विसहस्राब्दी का आयोजन विक्रमाब्द २००० में किया था। आज तक के कार्य सभा ने बड़े ठोस रूप में किये हैं। सम्प्रति भारत-सरकार ने 'हिन्दी विश्वकोश' की योजना और उसके प्रकाशन का पूर्ण भार सभा को दे दिया है। इसके तीन खण्ड प्रकाशित भी हो चुके हैं। निश्चय ही सभा अपने महत्त्वपूर्ण कार्यों द्वारा हिन्दी की ठोस सेवा कर रही है।

२. **हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग**— सम्मेलन की स्थापना सन् १९१० ई० में नागरी-प्रचारिणी सभा की प्रेरणा से काशी में ही हुई। वस्तुतः यह सभा की राजनीतिक शाखा थी। इसका प्रथम अधिवेशन अक्तूबर, सन् १९१० ई० में महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी के सभापतित्व में सभा में ही हुआ था। इसमें लगभग ३०० प्रतिनिधि और हिन्दी पत्रों के ४२ सम्पादक भी आये थे। इसका दूसरा अधिवेशन प्रयाग की नागरी-प्रवर्द्धिनी सभा की ओर से सन् १९११ ई० में प्रयाग में हुआ। इसी वर्ष इसे स्वतन्त्र संस्था का रूप मिला। इसकी स्थापना का मूल उद्देश्य था हिन्दी का प्रचार और प्रसार। हिन्दी को अन्तरप्रान्तीय रूप देना, नागरी को राष्ट्रलिपि का पद दिलाना, कार्यालयों और कचहरियों में हिन्दी-प्रवेश के लिए आन्दोलन चलाना, शिक्षालयों में हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाये जाने के लिए आन्दोलन आदि चलाना ही इसका मुख्य कार्य था।

आज सम्मेलन के पाँच प्रमुख कार्य हैं— (क) प्रचार— इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रान्तों और जनपदों में सम्मेलन का आयोजन कराना, पुस्तकालय और वाचनालय आदि की स्थापना कराना, परीक्षा-केन्द्रों की व्यवस्था कराना तथा सामाजिक स्तर पर हिन्दी को जनप्रिय बनाना आदि कार्य सम्पन्न होते हैं। अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी के प्रचार तथा फिजी, केनिया आदि विदेशों में हिन्दी के विस्तार का कार्य इसी के अन्तर्गत होता रहा है। (ख) पुस्तकालय— इसमें

लगभग बीस हजार पुस्तकें हैं। लगभग १५० पत्रों की पुरानी फाइलें, साहित्यिकों के पत्र, चित्र आदि के संग्रह भी इसी विभाग में हैं। (ग) साहित्यविभाग—इसके अन्तर्गत प्राचीन पुस्तकों की खोज, विभिन्न प्रकार के ग्रन्थों का प्रकाशन आदि के प्रबन्ध हैं। लगभग दो सौ पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। पारिभाषिक शब्दों का प्रकाशन भी हुआ है। यहीं से 'सम्मेलन-पत्रिका' (त्रैमासिक) प्रकाशित होती है। इससे भारत में लगभग ६० साहित्यिक संस्थाएँ सम्बद्ध हैं। (घ) पुरस्कार और पारितोषिक विभाग—इसके अन्तर्गत विभिन्न नियमों के अनुसार मंगलाप्रसाद पारितोषिक, सेकसरिया महिला पारितोषिक, मुरारका पारितोषिक, नारंग पुरस्कार, गोपाल पुरस्कार, जैन पारितोषिक, राधामोहन गोकुलजी पारितोषिक और रत्न-कुमारी पुरस्कार अलग-अलग विषयों पर दिये जाते हैं। (ङ) परीक्षा-विभाग—यह विभाग सम्मेलन के अन्य विभागों से अधिक क्रियाशील है। देश-विदेश में आज लगभग ४०० परीक्षाकेन्द्र चल रहे हैं। लगभग १०,००० परीक्षार्थी प्रतिवर्ष भाग लेते हैं। ये परीक्षाएँ हिन्दी-विश्वविद्यालय की परीक्षाओं के नाम पर चलती हैं। अहिन्दीभाषी दक्षिण भारत की परीक्षाओं का भार राष्ट्रभाषा-प्रचारसमिति, वर्धा पर है। इन परीक्षाओं की पढ़ाई के लिए 'हिन्दी साहित्य-विद्यालय' की भी स्थापना की गयी है जिसका नामकरण राजर्षि टंडनजी के नाम पर किया गया है।

स्वातन्त्र्योत्तरयुग में हिन्दी तो राजभाषा बन गयी, पर मानो इसी से सम्मेलन का सात्त्विक उद्देश्य भी पूरा हो गया है। सम्भवतः इसी से सम्मेलन राजनीतिक गुटबन्दी और भ्रष्टाचार का अड्डा बन गया है। आज केवल परीक्षा-विभाग ही अधिक सक्रिय दिखता है। भ्रष्टाचार का अखाड़ा भी तो यह परीक्षा-विभाग ही है। विगत दस वर्षों से इसका अधिवेशन भी नहीं हुआ है। मुकदमे-बाजी के समय सरकार की ओर से इसमें ताले भी लगाये गये थे। अब भी इसका कार्य एक सरकारी अफसर ही सँभालता है। इस संस्था के प्रमुख प्रेरक व्यक्ति थे राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन। इन्हीं के त्याग, तपस्या और बलिदान के कारण सम्मेलन इतना कुछ कर सका है।

३. **बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना**— इसकी स्थापना सन् १९१९ ई० में हुई थी। यह हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग से सम्बद्ध होकर भी स्वतन्त्र संस्था है। इसके कार्यों को ऐतिहासिक विचार से दो भागों में रखा जायगा—स्वतन्त्रता-पूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर। स्वातन्त्र्योत्तरयुग में इसने अनेक महत्त्वपूर्ण कदम उठाये हैं, यों हिन्दी के प्रचार और प्रसार में यह प्रारम्भ से ही संलग्न रहा है। आज इसके निम्नांकित प्रमुख भाग हैं—(क) बदरीनाथ सर्वभाषा-महाविद्यालय—आचार्य बदरीनाथ वर्मा के सम्मान में इसकी स्थापना की गयी है। इसका उद्‌घाटन-समारोह तत्कालीन राज्यपाल श्री रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर द्वारा ९ मई, १९५९ ई०

को सम्पन्न हुआ था। इसमें देशी और विदेशी—तेलुगु, रूसी, फ्रेंच, जर्मन इत्यादि—भाषाओं की शिक्षा का प्रबन्ध है। (ख) बच्चनदेवी साहित्यगोष्ठी—आचार्य शिवपूजन सहाय की पत्नी श्रीमती बच्चनदेवी के नाम पर ४ जुलाई, १९५४ ई० को इस गोष्ठी का उद्घाटन राजर्षि टंडनजी ने किया था। इसके अन्तर्गत जयन्तियाँ, व्याख्यान, अभिनय एवं अन्य प्रकार के आयोजन होते हैं। (ग) प्रकाशन—इसी के अन्तर्गत त्रैमासिक पत्रिका 'साहित्य' का प्रकाशन होता है। इसके अलावा 'साहित्य-सम्मेलन का इतिहास', 'बिहार की साहित्यिक प्रगति', 'उर्दू शायरी और बिहार' इत्यादि अन्य अनेक उत्तम पुस्तकों के प्रकाशन हो चुके हैं। (घ) अनुशीलन—इस विभाग के अन्तर्गत प्राचीन पुस्तकों की खोज की जाती है। (ङ) पुस्तकालय—इसमें लगभग बारह हजार पुस्तकें हैं। वाचनालय में साठ से अधिक पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं। (च) कलाकेन्द्र—इसके अन्तर्गत नृत्य, वाद्य, संगीत, नाट्यकला इत्यादि की शिक्षा दी जाती है। सारे बिहार राज्य में एकमात्र यही एक ऐसा केन्द्र है जहाँ इस प्रकार की शिक्षा सुलभ हो रही है। इससे राष्ट्रीय कला और शास्त्रीय संगीत की रक्षा तो हो ही रही है, साथ ही उनकी उन्नति और विकास में भी बल मिल रहा है। (छ) प्रचार-विभाग—इसके अन्तर्गत वे सारे प्रयत्न आ जाते हैं जिनके द्वारा सम्मेलन हिन्दी के प्रचार-प्रसार में सचेष्ट है। हिन्दी-दिवस एवं अन्य साहित्यिक गोष्ठियों का आयोजन भी इसी के अन्तर्गत आता है। जिला-सम्मेलनों का संगठन इसी के अन्तर्गत है। सम्पूर्ण रूप से कहा जायगा कि यह सम्मेलन बिहार राज्य में हिन्दी-प्रचार का ठोस और व्यावहारिक रूप अपना रहा है।

४. **विद्या-विभाग, काँकरोली (मेवाड़)**— इसकी स्थापना विक्रमाब्द १९८५ में हुई थी। मेवाड़ में हिन्दी और संस्कृत के प्रचार के उद्देश्य से स्थापित यह अपने ढंग की संस्था है। इसमें कुल चौदह विभाग हैं। यहाँ हम उसके कतिपय प्रमुख विभागों की ही चर्चा करेंगे— (क) पाठशाला-विभाग—विभिन्न स्थानों पर इसके अन्तर्गत नौ पाठशालाएँ चल रही हैं। इन पाठशालाओं में भारतीय पद्धति पर संस्कृत और हिन्दी की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध है। (ख) पुस्तकालय— पुस्तकालय आठ स्थानों पर हैं। लगभग चार हजार पुस्तकें हैं। (ग) सरस्वती-भण्डार— विद्या-विभाग का यह अमूल्य अंग है। इसके अन्तर्गत संवत् ११०० से लेकर संवत् १९९० तक के हस्तलिखित ग्रन्थों का विशाल संग्रह है। लगभग ७००० पाण्डुलिपियाँ इसमें संग्रहीत हैं। इसके अन्तर्गत शोध आदि पर भी कार्य चलते हैं। यों अन्वेषण-विभाग लगभग अलग ही है। अबतक पचासों प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों का अन्वेषण किया जा चुका है। (घ) प्रकाशन— इसके अन्तर्गत अनेक बहुमूल्य पुस्तकों के प्रकाशन हो चुके हैं। (ङ) परीक्षा-विभाग— इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की परीक्षाओं के आयोजन

का प्रबन्ध है। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, व्रजमण्डल यूनीवर्सिटी, मथुरा और भारतीय विद्वत् परिषद्, अजमेर इत्यादि की परीक्षाओं के केन्द्र भी यहाँ चलते हैं। विद्या-विभाग का दशाब्दी-समारोह चैत्र शुक्ल १, विक्रमाब्द १९९४ को मनाया गया था। इसके अन्तर्गत स्वयंसेवक-मण्डल, श्रीद्वारिकेश कलामण्डल, श्रीद्वारिकेश चित्रावली इत्यादि विभाग भी कार्यरत हैं। सम्मानोपाधिवितरण के लिए भी इसका अलग विभाग है। अब तक इस विभाग से ६० विद्वानों को उपाधियाँ दी जा चुकी हैं।

५. राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा— इस समिति के संस्थापक थे महात्मा गाँधी। इसकी स्थापना अप्रैल, १९३६ ई० में हुई थी। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के नागपुर-अधिवेशन में डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी के सभापतित्व में हिन्दीतर प्रदेशों में राष्ट्रभाषा के प्रचारार्थ इस समिति का जन्म हुआ। इसका मुख्यालय वर्धा में रखा गया, जो अब हिन्दीनगर के नाम से विख्यात हो चुका है। इसके अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष क्रमशः डॉ० राजेन्द्र प्रसाद और श्री जमनालाल बजाज थे तथा मंत्री और संयुक्तमंत्री क्रमशः श्री सत्यनारायण एवं श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल चुने गये। अन्य प्रमुख सदस्यों में महात्मा गाँधी, पं० नेहरू, राजर्षि टंडन, काका कालेलकर, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, आचार्य नरेन्द्रदेव इत्यादि थे। 'एकहृदय हो भारत जननी' ही इसका मूलमंत्र है। भारतीय प्रदेशों के अतिरिक्त लंका, बर्मा, अफ्रीका, श्याम, जावा, सुमात्रा, मारीशस, इंगलैंड इत्यादि देशों में भी इसके केन्द्र हैं। सन् १९४२ ई० में राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर मतभेद होने के कारण महात्मा गाँधी ने इससे त्यागपत्र दे दिया था, फलतः काका कालेलकर, पं० नेहरू आदि लोगों ने भी त्यागपत्र दे दिया था। इसके संगठन के लिए जो कार्यसमिति है उसमें ३५ सदस्यों में से १९ सदस्य हिन्दीतर प्रदेशों के प्रतिनिधि ही रहते हैं।

इसके कुल नौ विभाग हैं, जिनमें प्रकाशन, प्रचार, परीक्षा, पुस्तकालय, अर्थ-व्यवस्था इत्यादि सभी सम्मिलित हैं। राष्ट्रभाषा का प्रचार ही समिति का मुख्य उद्देश्य है। इसकी परीक्षाओं के लिए देश-विदेश में लगभग ढाई सौ केन्द्र, एक हजार शिक्षणसंस्थाएँ, तीस के लगभग राष्ट्रीय विद्यालय और महाविद्यालय एवं प्रचारकार्य-हेतु छह हजार से अधिक प्रमाणित प्रचारक हैं। इसकी विभिन्न परीक्षाओं में अब तक लगभग बाईस लाख परीक्षार्थी सम्मिलित हो चुके हैं। विगत आठ वर्षों से वर्धा में एक राष्ट्रभाषा-महाविद्यालय भी चल रहा है। इसमें अहिन्दी-भाषा-भाषियों के अध्ययन की विशेष सुविधा है। समय-समय पर राष्ट्रभाषा के प्रचार-हेतु देश के विभिन्न स्थानों पर सम्मेलनों का आयोजन भी होता रहता है। राष्ट्रभाषा के प्रति की गयी सेवाओं के लिए १५०१ रुपए का 'महात्मा गाँधी पुरस्कार' भी वितरित किया जाता है। यह पुरस्कार अब तक आचार्य क्षितिमोहन सेन,

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, आचार्य विनोबा भावे, प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल संघवी, संतराम बी० ए० और काका कालेलकर को मिल चुका है। समिति का अपना प्रेस और पुस्तकालय है। 'राष्ट्रभाषा' और 'राष्ट्रभारती' नामक दो मासिक पत्रिकाएँ भी समिति की ओर से प्रकाशित होती हैं। पाठ्यपुस्तकों का प्रकाशन भी यहाँ से होता है

इस समिति के प्रधान अंग दो ही कहे जायँगे—परीक्षा और प्रचार। दोनों एक-दूसरे को बल देते हैं। निश्चय ही इस संस्था ने अहिन्दीभाषी क्षेत्रों में राष्ट्र-भाषा के प्रचार का सर्वाधिक स्तुत्य कार्य किया है।

६. भारतीय हिन्दी-परिषद्, प्रयाग— इस परिषद् की स्थापना के प्रेरक व्यक्ति हैं डॉ० धीरेन्द्र वर्मा। परिषद् की स्थापना ३ अप्रैल, सन् १९४२ ई० को प्रयाग में हुई। परिषद् का मूल उद्देश्य है हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य का सर्वांगीण विकास। भाषा, लिपि, साहित्य, संस्कृति इत्यादि का अध्ययन तथा उनकी खोज को प्रोत्साहित करना एवं प्रगति का समुचित निरीक्षण करना परिषद् ने आवश्यक माना है। इसका संगठन ऐसा है कि इसमें अधिकांश सदस्य भारतीय विश्वविद्यालय के प्राध्यापक तथा हिन्दी के उच्च अध्ययन आदि में रुचि रखने वाले लोग ही हैं। गम्भीर अध्ययन, शोधपरक आलोचना आदि को प्रोत्साहित करना परिषद् का मूल उद्देश्य माना जायगा।

परिषद् में सामान्य ज्ञान रखने वालों और सामान्य रुचि से काम लेने वालों के लिए सम्भवतः कम स्थान है। चूँकि यह संस्था मूलतः विश्वविद्यालयी अध्यापकों, अनुसन्धित्सुओं से सम्बद्ध है, इसीलिए इसने उच्चतर हिन्दी के अध्यापन, अनु-सन्धान, संगठन एवं उच्चतर हिन्दी से सम्बद्ध विषयों के विकास आदि का ही व्रत लिया है। यद्यपि यह संस्था सामान्य जनों की नहीं है, फिर भी है बड़े काम की। परिष्कृत रुचि और पवित्रतावादी दृष्टिकोण से चालित होने के कारण इसने उच्चतर हिन्दी की अधिक सेवा की है।

परिषद् अपने उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए कई प्रकार के कार्यों को करती है। सर्वप्रथम तो यह कि अपने वार्षिक अधिवेशनों को परिषद् किसी विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में आयोजित कराती है, जहाँ विद्वानों के गम्भीर अभिभाषणों के अतिरिक्त हिन्दी-भाषा और साहित्य पर विशेष गोष्ठियाँ होती हैं। साथ ही सामयिक योज-नाएँ बनाना, सामयिक और स्थायी महत्त्व के प्रस्तावों को स्वीकृत करना, शोध-निबन्धों के पाठ और उनपर विचार-विमर्श कराना आदि इसके प्रमुख कार्य हैं। इसके वार्षिक अधिवेशन प्रयाग, लखनऊ, आगरा, पटना, जयपुर, नागपुर, बनारस, रायगढ़ (सागर), दिल्ली इत्यादि अनेक स्थानों पर हो चुके हैं। इसी प्रकार हिन्दी-भाषा और लिपि, राजभाषा हिन्दी, हिन्दी-अध्यापन और पाठ्य-क्रम, हिन्दी में शोधकार्य आदि पर विचारगोष्ठियों के आयोजन भी किये जा चुके हैं। पाठ्य-

किया। भारत-पाक-विभाजन एवं अन्य अनेक कारणों से इसकी वास्तविक स्थापना और कार्यारम्भ जुलाई, सन् १९५० ई० में सिन्हा लाइब्रेरी में हो सकी। वर्त्तमान भवन में आने के पूर्व इसका कार्यालय साहित्य-सम्मेलन-भवन में ही था। इसका विधिवत् उद्घाटन ११ मार्च, १९५१ ई० को तत्कालीन राज्यपाल श्री माधव श्री हरि अणे द्वारा सम्पादित हुआ। परिषद् के प्रथम सभापति आचार्य श्री बदरीनाथ वर्मा के शब्दों में—"बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् राष्ट्रभाषा हिन्दी की आवश्यकताओं की पूर्त्ति की दिशा में बिहार-राज्य-सरकार के संकल्प का मूर्त्त रूप है।" आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं और उनके साहित्यों के गतिवर्द्धन, राजभाषा हिन्दी में कला, विज्ञान एवं अन्य विषयों के मौलिक एवं उपयोगी ग्रन्थों के प्रकाशन और बिहार की बोलियों के शोध, सर्वेक्षण और अनुशीलन की समुचित व्यवस्था इत्यादि को ही परिषद् ने अपना उद्देश्य बनाया। परिषद् के कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए आचार्य श्री शिवपूजनसहाय मन्त्री, डॉक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री अनुशीलन-विभाग के निर्देशक एवं डॉक्टर विश्वनाथप्रसाद लोक-भाषा-अनुसन्धान-विभाग के निर्देशक थे।

अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए परिषद् ने इतने अल्प समय में बड़ी द्रुत-गति से कार्य किया है। परिषद् मूलतः आठ प्रकार के कार्यों को उद्देश्यरूप में करती है— (१) हिन्दी में विभिन्न विषयों पर प्रामाणिक ग्रन्थों के लिए पुरस्कार देना। (२) हिन्दीतर भाषाओं के महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक एवं साहित्यिक ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद करने और प्रकाशन करने की व्यवस्था करना। (३) राष्ट्रभाषा हिन्दी एवं बिहार की विभिन्न बोलियों के मौलिक अथवा अनूदित ग्रन्थों के प्रकाशन इत्यादि के हेतु बिहार एवं कभी-कभी बिहार के अतिरिक्त अन्य राज्यों की साहित्यिक संस्थाओं को आर्थिक सहायता देना। (४) साहित्यिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व के लोकसाहित्य एवं लोकसाहित्य-सम्बन्धी वस्तुओं के संकलन और प्रकाशन की व्यवस्था करना। (५) बिहार की बोलियों के अध्ययन आदि को प्रोत्साहित करना। (६) हिन्दी एवं अन्य विषयों के विशेषज्ञों एवं विद्वानों की भाषणमालाओं का आयोजन कराना एवं व्याख्यानों के समुचित संकलन और प्रकाशन की व्यवस्था कराना। (७) प्राचीन हस्तलिखित पोथियों एवं दुर्लभ पुस्तकों के अन्वेषण और प्रकाशन की समुचित व्यवस्था करना। (८) प्रत्येक वर्ष बिहार के एक वयोवृद्ध साहित्यकार तथा एक नवोदित साहित्यकार को पुरस्कृत कर प्रोत्साहित करना।

परिषद् के कार्य बारह भागों में बँटे हैं; पर सब विभाग समान रूप में सक्रिय नहीं हैं। हाँ, कुछ विभागों ने अवश्य ही बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। इन सब में ग्रन्थप्रकाशन-विभाग, प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थशोध-विभाग, लोकभाषा-अनुसन्धान-विभाग, अनुसन्धान-पुस्तकालय, पुरस्कार-प्रदान-विभाग इत्यादि अधिक

सक्रिय हैं। इस अल्प अवधि में ही प्रकाशन-विभाग से लगभग अस्सी पुस्तकें प्रकाशित की जा चुकी हैं। ये पुस्तकें काफी ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। परिषद् के शोध-विभाग में लगभग चार हजार प्राचीन पाण्डुलिपियाँ, चार सौ के लगभग दुर्लभ मुद्रित पुस्तकें, हजारों पत्र-पत्रिकाएँ और दो सौ के लगभग अप्राप्य पंचांग संगृहीत किये गये हैं। लोकभाषा-अनुसन्धान-विभाग की ओर से बिहारी बोलियों के लगभग सत्तावन हजार शब्द, लगभग चौदह हजार लोकगीत, लगभग तीन सौ लोककथाएँ, दस हजार कहावतें, दो हजार मुहावरे, हजारों पहेलियाँ, पचासों गाथागीत, चार गीतरूपक इत्यादि संग्रहीत हुए हैं। इससे सम्बद्ध सूचना-पुस्तिकाएँ, ग्रामगीत, कृषिकोश इत्यादि का प्रकाशन भी हो चुका है। परिषद् के अनुसन्धान-पुस्तकालय में दस हजार अलभ्य पुस्तकें हैं। पत्रिकाओं आदि की २५०० सचिकाएँ भी रखी गयी हैं। पुरस्कार-वितरण-विभाग ने अब तक बीस विद्वानों एवं कई अन्य पुस्तकों के लेखकों को पुरस्कार देकर सम्मानित और प्रोत्साहित करने का कार्य किया है।

परिषद् एक पत्रिका भी प्रकाशित करती है। सम्मेलन के सहयोग से परिषद् पहले 'साहित्य' का प्रकाशन करती थी। अब 'परिषद्-पत्रिका' नाम से परिषद् ने स्वतन्त्र पत्रिका के प्रकाशन का कार्य लिया है। पत्रिका शोधपरक ही है। परिषद् के प्रकाशित ग्रन्थों पर अकादमी-पुरस्कार तथा उत्तरप्रदेश-सरकार के कई साहित्यिक पुरस्कार भी मिल चुके हैं। आचार्य श्री शिवपूजन सहाय ने परिषद् की बड़ी अमूल्य सेवा की है। उन्हीं की सेवा और उनके सत्प्रयत्नों से परिषद् इतनी तेजी से उन्नति कर सकी है। परिषद् के लिए शिवजी महात्मा गाँधी ही थे। सम्प्रति परिषद् के संचालक डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' हैं। यदि परिषद् राजनीति और भ्रष्टाचार का अखाड़ा बनने से बच सकेगी तो इसका भविष्य उज्ज्वल है, अन्यथा अन्य राजकीय संस्थाओं अथवा राज्यसम्पोषित संस्थाओं की तरह यह भी प्रकाश फैलाने वाली दीपशिखा से कालिमा उगलने लगेगी।

९. **राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, दिल्ली**— यह समिति राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा के ही समान है। इसके सम्पोषण में भारत-सरकार का योग रहा है। अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार-सम्मेलन के फरवरी, सन् १९६० ई० वाले अधिवेशन का नयी दिल्ली में आयोजन होना समिति के इतिहास में महत्त्वपूर्ण घटना है। इस सम्मेलन में देश के विभिन्न भागों से १५०० प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। इसी अवसर पर काका कालेलकर को महात्मा गाँधी पुरस्कार भी दिया गया था। सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष थे गोपाल रेड्डी और अध्यक्ष थे अनन्तशयनम् आयंगर। इसके उद्‌घाटनकर्त्ता थे पण्डित नेहरू और सरदार हुकुम सिंह, वियोगी हरि और के० एल० श्रीमाली क्रमशः प्रमाणपत्र-वितरक, दीक्षान्त-भाषणकर्त्ता और राष्ट्रभाषा-

प्रदर्शनी के उद्घाटनकर्त्ता थे। इस सम्मेलन में लगभग बीस हजार रुपया व्यय हुआ। समिति सम्मेलनों के आयोजन तो करती ही है, इसका दूसरा प्रमुख उद्देश्य है राष्ट्रभाषा के प्रचार के निमित्त हिन्दी-दिवस के अवसर पर साप्ताहिक कार्यक्रम तैयार करना। इसके परीक्षा-विभाग द्वारा भारत-सरकार के गृहमन्त्रालय द्वारा संचालित परीक्षाओं का भार वहन किया जाता है। लगभग ५००० परीक्षार्थी प्रत्येक वर्ष विभिन्न परीक्षाओं में सम्मिलित होते हैं। कार्यालय में एक महाविद्यालय भी समिति की ओर से चल रहा है। रेलवे कर्मचारियों को हिन्दी सिखाने का दायित्व भी इसपर है। यह वर्धा की समिति के पश्चात् देश में दूसरी महत्त्वपूर्ण समिति है जो राष्ट्रभाषा के प्रचार और प्रसार पर ध्यान दे रही है।

१०. हिन्दी विद्यापीठ, देवघर (बिहार)— अभारतीय शिक्षापद्धति के दोषों से मुक्त होने, शिक्षा को पूर्णतः भारतीय जीवन के लायक बनाने, युवकों में आत्मविश्वास आदि की भावना को भरने तथा हिन्दी-भाषा और देवनागरी लिपी का प्रचार करने के उद्देश्य को लेकर इस विद्यापीठ की स्थापना सन् १९२८ ई० में की गयी। प्रारम्भ में इसमें सात ही विद्यार्थी थे। छात्रों की संख्या सन् १९३२ ई० में ५०० हो गयी थी। इसकी स्थापना में देशरत्न डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद का अभूतपूर्व योग था। विद्यापीठ के इतिहास से स्पष्ट है कि सन् १९४२ ई० की क्रान्ति के पूर्व का समय इसके विकास का काल है। सन् १९४२ ई० की क्रान्ति में सभी राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं के जेल चले जाने एवं विद्यापीठ के कार्यालय और पुस्तकालय आदि को जला दिये जाने के कारण इसे काफी क्षति हुई। सन् १९४३ ई० से १९४७ ई० तक का समय विद्यापीठ के पुनर्निर्माण में ही लग गया।

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद इस विद्यापीठ के आजीवन कुलपति रहे। इसके कार्यों और विभागों के बारे में सामान्य रूप से यही कहा जायगा कि साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग की तरह ही इसने भी अपने ऊपर अनेक प्रकार के उत्तरदायित्व लिये हैं। सन् १९३७-३८ ई० में बिहार-सरकार की ओर से ग्राम-सुधार-विभाग की स्थापना होने पर इसने उसमें पूरा योग दिया और इसी समय से लगभग इसे सरकारी सहयोग भी प्राप्त होने लगा था। राष्ट्रभाषा के प्रचार और प्रसार का कार्य तो विद्यापीठ सदा करता ही रहा है।

यों विद्यापीठ के अनेक विभाग हैं, पर यहाँ हम मात्र मुख्य विभागों की ही चर्चा करेंगे। सभी विभागों से अधिक क्रियाशील विभाग है शिक्षा-विभाग। इसके अन्तर्गत एक महाविद्यालय, एक उच्च विद्यालय, एक माध्यमिक विद्यालय तथा महिलाओं के लिए 'बालिका-निकेतन' (प्रारम्भिक), 'मातृ-मन्दिर' (बालिका उच्चविद्यालय) इत्यादि चल रहे हैं। इनके अतिरिक्त एक महिला-शिक्षण-केन्द्र, एक महिला-संगीत-विद्यालय और एक महिला-उद्योग-मन्दिर की भी अलग

व्यवस्था है।

विद्यापीठ के अन्य विभागों में 'चित्र-मूर्त्ति-कला-विभाग', 'संगीत-वाद्य-विद्यालय', 'शीघ्रलिपि और टंकन', 'समाज-शिक्षा-केन्द्र', 'ग्राम-सेवाश्रम', 'कताई-बुनाई तथा सिलाई वर्ग', 'कृषि-बागवानी' और 'प्रेस ट्रेनिंग' इत्यादि आते हैं। यहाँ की शिक्षापद्धति विशुद्ध भारतीय पद्धति पर चलती है।

शिक्षा-विभाग के अतिरिक्त दूसरा अन्य सक्रिय विभाग है परीक्षा-विभाग। निश्चित पाठ्यक्रम के अनुसार विद्यापीठ अनेक प्रकार की परीक्षाओं का आयोजन भी करता है। भारत के सभी प्रसिद्ध स्थानों में इसके केन्द्र चलते हैं। केन्द्रों की संख्या २०० से अधिक है। इन परीक्षाओं के लिए अध्यापन का कार्य कार्यालय से सम्बद्ध कालेज 'गोवर्द्धन साहित्य-महाविद्यालय' में होता है। इसी से लगभग बीसों अन्य संस्थाएँ भी सम्बद्ध हैं, जहाँ इसकी शिक्षा दी जाती है। गोवर्द्धन साहित्य-महाविद्यालय में डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के नाम पर 'हिन्दी-साहित्य, समाजशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र इत्यादि के गम्भीर अध्ययन और अनुसंधान' हेतु 'राजेन्द्र शोधसंस्थान' की स्थापना की गयी है। निश्चय ही विद्यापीठ ने बड़ा महत्त्वपूर्ण कदम उठाया है। विद्यापीठ के पुस्तकालय में शोध-सामग्री के रूप में अनेक महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ हैं। इसके वाचनालय में अनेक प्रकार की पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं। विद्यापीठ का मुद्रण-विभाग एवं प्रकाशन-विभाग भी पूर्णतः स्वतन्त्र है। 'प्रेस-ट्रेनिंग' इसी से सम्बद्ध है।

वर्त्तमान समय में विद्यापीठ २,०६,००० रुपये की लागत से बने अपने नवीन भवन में है। बिहार-सरकार ने विद्यापीठ के छात्रावास का ६३,००० रुपये की लागत से सन् १६५६-५७ ई० में ही निर्माण कराया था। विद्यापीठ को बिहार सरकार से १५०० रुपये की मासिक सहायता भी मिलती है। हिन्दी-प्रचार का कार्य प्रायः अब तो शिथिल हो गया है, पर शिक्षा और शोध पर ध्यान दिया जाने लगा है।

११. साहित्य-अकादमी, दिल्ली— साहित्य-अकादमी की आज दशाब्दी पूरी हो चुकी है। इसकी स्थापना १२ मार्च, १६५४ ई० को भारत-सरकार ने की थी। यह है तो एक स्वायत्त संस्था के समान ही, पर इसका पूर्ण व्यय भारत-सरकार वहन करती है। इस संस्था की स्थापना में भारतीय साहित्य की विशेषताओं और लिपियों की अनेकरूपता को ध्यान में पूरा-पूरा रखा गया था। अनेक प्रकार की विभिन्नताओं के बाद भी भारतीय साहित्य में एकरूपता लाने के निमित्त ही इसकी स्थापना हुई थी। अकादमी द्वारा सम्पन्न होने वाले विभिन्न प्रकार के कार्यों से स्पष्ट है कि यह अपनी उद्देश्यपूर्त्ति के निमित्त मौन रूप में ही सही पर व्यवस्थित ढंग पर कार्य कर रही है। हाँ, यह बात दूसरी है कि इसने अब तक कितनी सफलता प्राप्त की है।

अकादमी का उद्घाटन करते हुए डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने कहा था—"साहित्य-अकादमी रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य में रस लेने वाले सब लोगों की संस्था होगी। इस अकादमी का उद्देश्य है साहित्य-क्षेत्र में विख्यात व्यक्तियों का सम्मान करना, उदीयमान साहित्यकारों को प्रोत्साहन देना, जनता की रुचि को परिष्कृत करना और साहित्य तथा साहित्यालोचन का मानदण्ड ऊँचा करना।" इसी अवसर पर तत्कालीन शिक्षामंत्री मौलाना आजाद ने इस बात पर जोर डाला था कि "इसका लक्ष्य जनरुचि का परिमार्जन तथा साहित्य का विकास है।...... साहित्य-अकादमी अपने उद्देश्य में तभी सफल हो सकती है जब इसका मान अधिक ऊँचा रखा जाय। मान के प्रश्न के सम्बन्ध में हमें चौदहवें लुई द्वारा सन् १६३५ ई० में स्थापित फ्रेंच एकेडमी के उदाहरण से लाभ उठाना चाहिए, जिसमें केवल चालीस सदस्य थे और अब तक इस संख्या में कोई वृद्धि नहीं हुई है।"

अकादमी की तालिका में १६ भाषाएँ रखी गयी हैं। भारतीय संविधान में स्वीकृत चौदह भाषाओं के अतिरिक्त अँगरेजी को भी स्थान मिला है। इसकी आलोचना भी कम न हुई थी, पर आखिर बात थी शिक्षामंत्री की, भला उसमें सुधार कैसा ? अकादमी के नामकरण के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विवाद हुए थे। कई प्रकार के भारतीय शब्द सुझाये जाने के बाद भी मौलाना को इस ग्रीक शब्द की तुलना में दूसरा शब्द पसन्द न आया।

अकादमी की स्थापना के पश्चात् भारतीय पत्र-पत्रिकाओं में इसकी काफी छीछालेदर हुई। 'अवन्तिका' (अप्रैल, १६५४) ने इसे "भारत के गण्यमान्य साहित्यिकों को...... ... मायाजाल में फँसाने का उपक्रम" ही स्वीकार किया था। 'पाटल' (जून, सन् १६५४ ई०) ने इसके सम्बन्ध में लिखा था कि "माफ किया जाय, इस भविष्यवाणी के लिए कि यह अकादमी या एकादमी एक आदमी का तमाशा बनकर ही रहेगी। प्रान्तीयता के बीज उसमें बो दिये गये हैं। हिन्दी-विरोधी धाराएँ बहाकर सिंचाई भी कर दी गयी है। बस, थोड़ी गर्मी या सरगर्मी आने दीजिए।" और, मामा बरेरकर जैसे प्रख्यात नाटककार (मराठी) ने तो इसका 'एक + डमी' जैसा सुन्दर नामकरण ही किया था। आज जब अकादमी की दशाब्दी पूरी हो चुकी है, इसके विगत कार्यों का सर्वेक्षण करें तो उपर्युक्त आलोचनाएँ अतथ्य-हीन नहीं-सी प्रतीत होती हैं। भले ही इसने प्रत्यक्षतः हिन्दी की मूक सेवा ही की है, पर इससे कैसे इनकार किया जायगा कि इसने हिन्दी-विरोधी भाव को भी कम नहीं भड़काया है। आज अकादमी 'एक + डमी' भले ही न हो, पर 'एक आदमी का तमाशा' तो है ही।

अकादमी के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष क्रमशः पं० जवाहरलाल नेहरू और

डॉ० जाकिर हुसैन भी रह चुके हैं। अकादमी की परिषद् में कुल सत्तर सदस्य हैं; जिनमें भारत के विभिन्न प्रदेशों के पन्द्रह प्रतिनिधि, अकादमी द्वारा स्वीकृत सोलह भाषाओं के प्रतिनिधि और भारतीय विश्वविद्यालयों के बीस प्रतिनिधि रखे गये हैं।

इस अल्प अवधि में अकादमी ने तीन सौ से कुछ अधिक ग्रन्थों को विभिन्न भारतीय भाषाओं में प्रकाशित किया है। इनमें से अधिकांश लोकप्रिय ग्रन्थ ही हैं। उपन्यास, कहानीसंग्रह, लोकगीत, काव्य इत्यादि के अतिरिक्त कई विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पुस्तकों का नागराक्षर में रूपान्तर भी किया गया है। बीसवीं शती के भारतीय लेखकों की एक बृहत् सूची भी अकादमी ने प्रकाशित की है, पर इस सूची में सर्वाधिक खटकने वाली बात है इसकी अपूर्णता और अप्रामाणिकता। भारतीय साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को यूरोपीय भाषाओं में अकादमी यूनेस्को द्वारा प्रकाशित कराती है। साथ ही विदेशी ग्रन्थों का भारतीय भाषाओं में रूपान्तर भी अकादमी करती-कराती रही है। 'आज का भारतीय साहित्य' नाम से अकादमी ने भारतीय साहित्य का एक सामान्य सर्वेक्षण भी प्रकाशित किया है। 'इण्डियन लिट्रेचर' नामक अर्द्धवार्षिक पत्रिका का प्रकाशन भी यही करती है। 'भारतीय कविता' नाम से अकादमी प्रत्येक वर्ष भारत की सभी भाषाओं की चुनी हुई कविताओं का संकलन भी प्रकाशित करती है जिसमें मूल रचनाएँ देवनागरी में सानुवाद प्रकाशित होती हैं।

अकादमी के पुरस्कार-विभाग ने भारतीय भाषाओं के सत्तासी गण्यमान्य साहित्यकारों को पुरस्कृत भी किया है। हिन्दी-साहित्यकारों में आचार्य नरेन्द्रदेव और श्री राहुल सांकृत्यायन भी पुरस्कृत हुए थे, जो अब हमारे बीच नहीं हैं। भारत में मिलने वाले साहित्यिक पुरस्कारों में यह पुरस्कार सर्वोच्च माना जाता है।

सन् १९६१ ई० में रवीन्द्र शताब्दी के अवसर पर एक अन्तरराष्ट्रीय साहित्यिक गोष्ठी का आयोजन किया गया था। इसमें उन्नीस देशों के साहित्यकारों ने भाग लिया था। उसी अवसर पर रवीन्द्र के गीतों के दो संग्रह भी प्रकाशित किये गये थे।

आज अकादमी अन्तरराष्ट्रीय अकादमी-संघ की सदस्य संस्था भी है। इसने सन् १९६१ ई० के स्टाकहोम के अधिवेशन में भी भाग लिया था। यूनेस्को द्वारा पूर्व और पश्चिम के सांस्कृतिक मूल्यों की समंजसकरण-योजना में भी अकादमी ने अपना प्रमुख कर्त्तव्य निभाया है।

अभी अकादमी का कार्यालय रवीन्द्र-भवन, दिल्ली में है। इसकी भावी योजना के अन्तर्गत अन्तरभाषिक अनुसन्धान के लिए केन्द्रनिर्माण, भारतीय साहित्य के विश्वकोश का सम्पादन, प्राचीन दुर्लभ और श्रेष्ठ पुस्तकों का पुनर्मुद्रण, इसकी प्रादेशिक शाखाओं की स्थापना इत्यादि हैं।

समग्र रूप से कहा जायगा कि अकादमी सरकारी नीति के अनुसार भारतीय साहित्य की सेवा में तत्पर है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद मिल जाने पर भी अकादमी ने इसे एक प्रादेशिक बोली से अधिक महत्त्व नहीं दिया है। भारत-सरकार का शिक्षा-मंत्रालय इससे अधिक कुछ करने के लिए सम्प्रति तत्पर भी नहीं दीखता है। श्री छागलाजी के शिक्षामंत्री-पद पर आगमन से तो हिन्दी के लिए भविष्य और भी धुँधला ही लग रहा है।

अब तक हिन्दी की दशाधिक संस्थाओं की चर्चा हो चुकी है। इन संस्थाओं के अतिरिक्त भी देश में ऐसी अनेक संस्थाएँ हैं जो हिन्दी के प्रचार-प्रसार में योगदान कर रही हैं। दक्षिण भारत की हिन्दी-प्रचार-सभा का नाम अन्य संस्थाओं में अग्रणी समझना चाहिए। इस सभा के प्रचार के कारण ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त करने में अधिक सहायता मिली है, ऐसा मानना बिलकुल असंगत नहीं कहा जायगा। ऐसी अन्य भी अनेक संस्थाएँ हैं जो हिन्दी के राष्ट्रभाषा-रूप को प्रचारित कर रही हैं, पर हिन्दी की विभिन्न बोलियों के प्रचार-प्रसार में भी अनेक संस्थाएँ संलग्न हैं। आज प्रायः प्रत्येक प्रान्त में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की प्रान्तीय शाखाएँ तो चल ही रही हैं, स्वतन्त्र रूप से भी कई संस्थाएँ चल रही हैं।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की प्रान्तीय शाखाओं में उत्तरप्रदेशीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग; दिल्ली प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन; मध्यप्रदेशीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन इत्यादि के नाम पहले लिये जायँगे। इन सम्मेलनों ने हिन्दी के प्रचार में तो योग दिया ही है, अपने प्रकाशनों द्वारा भी हिन्दी की सेवा की है। 'रेडियो की भाषानीति' जैसे प्रकाशन इन्हीं की देन हैं। यहाँ टीकमगढ़ का 'वीरेन्द्र केशव साहित्य-परिषद्' भी चर्चा के योग्य है। इसकी स्थापना सन् १९३० ई० में ओरछा नरेश वीरेन्द्र जू देव ने प्रसिद्ध कवि आचार्य केशवदास की स्मृति में की थी। इसने बुन्देलखण्ड में हिन्दी-प्रचार का पूर्ण कार्य किया है। २००० रुपये का 'देव-पुरस्कार' यहीं से एक वर्ष खड़ीबोली और दूसरे वर्ष ब्रजभाषा के श्रेष्ठ काव्य पर दिया जाता है। 'मधुकर' पत्रिका भी प्रकाशित होती है। विभिन्न प्रकार की गोष्ठियाँ, जयन्तियाँ आदि भी आयोजित होती रहती हैं। परिषद् हर प्रकार से हिन्दी-सेवा में तत्पर है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया, हिन्दी की विभिन्न बोलियों के प्रचार-प्रसार के लिए आज अलग-अलग गोष्ठियाँ चल रही हैं। राजस्थानी, ब्रजी, अवधी, मैथिली, भोजपुरी, मगही इत्यादि की अलग-अलग संस्थाएँ हैं। यहाँ सबकी चर्चा असम्भव है। इन संस्थाओं में प्रसिद्ध संस्था है—'ब्रज साहित्यमंडल, मथुरा'। इसकी स्थापना २ अक्टूबर, १९४० ई० को हुई थी। ब्रजी भाषा, कला, साहित्य, इतिहास, संस्कृति, सभ्यता इत्यादि का संरक्षण और उन पर अनुसन्धान ही इसका

मूल उद्देश्य है। 'ब्रजभारती' त्रैमासिक यहीं से प्रकाशित होती है। वार्षिक सम्मेलन बुलाना, प्रचारात्मक कार्य करना, ब्रजी के ग्रन्थों का सुन्दर रूप में सम्पादन करना इसका मुख्य कार्य है। 'ब्रज-विद्यापीठ' द्वारा संग्रह, शोध और परीक्षा पर अधिक जोर दिया जा रहा है। 'भारतेन्दु-कलश', 'ताम्रपत्र' और 'श्रीनिवास-पुरस्कार' भी यहीं से दिये जाते हैं। इस प्रकार मण्डल ब्रजी और ब्रज की ही नहीं, बल्कि हिन्दी-संसार की भी सेवा में तत्पर है।

अन्य बोलियों के प्रचारार्थ-रक्षार्थ जो संस्थाएँ चल रही हैं, उनमें यदि सबसे सुस्त संस्था कोई है तो मात्र 'मगही-मण्डल'। वस्तुतः यह मण्डल नाम के लिए ही है, काम के लिए नहीं। जब भी थोड़ी गरमी आती है, तो मण्डल कभी 'मगही' और कभी 'विहान' के दो-चार अंक छपाती है और पुनः सो जाती है। इसी से हिन्दी की जननीवत् होकर भी मगही आज पीछे पड़ रही है। यही तो देखना है कि कितनी प्रतीक्षा के पश्चात् इसे डॉ० श्यामसुन्दर दास (नागरी-प्रचारिणी-सभा के प्राण) अथवा राजर्षि टंडन (साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग के प्राण) मिल पाते हैं!